महागाथा

सीतेश आलोक

महागाथा

(महाभारत की कथा पर आधारित उपन्यास)

महागाथा

सीतेश आलोक
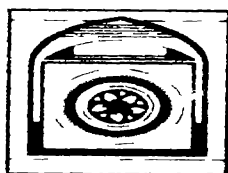
भारतीय ज्ञानपीठ

अनुलाप

वास्तविकता तो यह है कि स्वयं मैंने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि, व्यस्तता के बहाने यदाकदा लघुकथाओं का आश्रय लेनेवाला, मुझ-जैसा दीर्घसूत्री एवं पूर्णरूपेण अनियमित लेखक कभी ऐसा बृहद् उपन्यास लिख पाएगा। किन्तु, जैसा भाई द्रोणवीर कोहली ने एक बार कहा था, लेखक नहीं लिखता–वह तो कथानक की शक्ति होती है जो लिखवा लेती है, लिखने के लिए ऊर्जा देती है... लिखाती चली जाती है।

...और महाभारत की कथा की शक्ति से भला कौन परिचित नहीं है! यह वह कालजयी कृति है जो कई सहस्र वर्षों से, पाठकों एवं समीक्षकों के बीच ही नहीं, बच्चों एवं अनपढ़ व्यक्तियों के मन में भी जीवित रही। जहाँ श्रद्धालु एवं भक्तजन धार्मिक ग्रन्थ मानकर इसका पाठ करते रहे वहीं चिन्तकों, विचारकों, साहित्य-प्रेमियों एवं समीक्षकों को निरन्तर महाभारत में कुछ ऐसा मिलता रहा जो मनोग्राही भी है और विचारोत्तेजक भी। निश्चय ही, कथानक की वह शक्ति ही निरन्तर मुझसे लिखवाती रही। अपनी लेखन-गति पर स्वयं मुझे आश्चर्य हुआ कि मात्र एक वर्ष, दो माह और दस दिन में मैंने यह उपन्यास पूरा कर लिया। हाँ, यह अलग सत्य है कि मूल ग्रन्थ को पढ़कर, मनन चिन्तन एवं लिखने का साहस जुटाने में मेरा लगभग चार-पाँच वर्ष का समय पहले ही लग चुका था।

महाभारत के आकलन को लेकर अनेकानेक दृष्टिकोण समय-समय पर सामने आते रहे हैं। जहाँ एक बहुत बड़ा श्रोता-पाठक वर्ग इसे धर्मग्रन्थ मानता रहा है, कुछ लोगों का स्पष्ट मत है कि यह तत्कालीन समाज के दर्पण-चित्रण के रूप में इतिहास ही है। इसके विपरीत एक वर्ग वह भी है जो इसे मानवीय जीवन-मूल्यों एवं पाशविक प्रवृत्तियों की संघर्ष-कथा प्रस्तुत करने वाली काल्पनिक लेखकीय कृति के रूप में ही स्वीकार करता है। इन दृष्टिकोणों में उलझे बिना भी सहज ही निर्विवाद सत्य यह है कि महाभारत एक कालजयी साहित्यिक कृति है।

महाभारत को इतिहास तथा कपोल-कल्पना मानने के दावे अपनी-अपनी जगह ठीक ही लगते हैं.... कारण यह कि इसमें वर्णित अनेक स्थान, चरित्र, स्थितियाँ आदि इतनी स्वाभाविक हैं कि उन्हें नितान्त कल्पना मान लेना न्याय-संगत नहीं लगता।

इसके विपरीत इसमें समाहित कुछ प्रसंग, विशेषतया इसकी उपकथाएँ, यथार्थ से कहीं कोई मेल नहीं खाते। दोनों ही सम्भावनाओं को समान महत्त्व दें तो अपने वर्तमान रूप में कुछ समीक्षक महाभारत को इतिहास पर आधारित कपोल-कल्पना कह सकते हैं। किन्तु एक बड़ी सम्भावना यह भी है कि कपोल-कल्पना प्रतीत होनेवाले अधिकांश प्रसंग क्षेपक हों, जो कालान्तर में मूलकथा से जुड़ते रहे...

जो भी हो, विवेकपूर्ण दृष्टि महाभारत से सहज ही उन प्रसंगों को पछार निथार कर ऐसी सशक्त कथा पर जा ठहरती है जो स्वाभाविक भी है और भाव-प्रवण भी। यद्यपि शेष कथा में भी कुछ प्रसंग ऐसे बच जाते हैं जो सामान्य पाठक को अप्राकृतिक अथवा काल्पनिक प्रतीत हों। जहाँ धार्मिक भावना से ओत-प्रोत पाठक ऐसे प्रसंगों को ईश्वरीय चमत्कार अथवा माया मानकर अनदेखा कर जाते हैं वहीं साहित्यप्रेमी, लक्षणा-व्यंजना के पार, बहुधा उसका निहित अर्थ ग्रहण कर ही लेते हैं। ऐसे प्रसंगों में प्रमुख हैं—दुर्वासा के मन्त्र द्वारा कुन्ती पुत्रों का जन्म, कर्ण का कवच एवं कुण्डल सहित जन्म, कृष्ण द्वारा, दूर रहते हुए ही, द्रौपदी का चीर बढ़ाना, गान्धारी के गर्भ से सौ पुत्रों का जन्म, अभिमन्यु द्वारा, गर्भ में ही, व्यूह-रचना का ज्ञान प्राप्त करना और एक शापग्रस्त अप्सरा का, गंगा के रूप मे जन्म लेकर, अपने ही सात पुत्रों को जल मे डुबाना।

अन्ध-श्रद्धा के अभाव में, चेत होने की आयु तक पहुँचते-पहुँचते, ये सभी प्रसंग स्वयं मुझे भी असंगत लगने लगे थे... किन्तु मन में निरन्तर यह तर्क-वितर्क भी चलता ही रहता था कि व्यास-जैसा समर्थ एवं सदाशय रचनाकार अकारण ही ऐसे उपहासपूर्ण प्रसंग अपनी कथा में भला क्यों जोड़ेगा! जबकि सत्यवती के गर्भ से विवाह-पूर्व स्वयं अपने जन्म का प्रसग व्यास ने सहज ही वर्णित किया, क्या वे कुन्ती के गर्भ मे कानीन पुत्र के जन्म और उसके त्याग का वर्णन यथार्थरूप मे नहीं कर सकते थे? इसमे कथा में अथवा चरित्र-चित्रण में कही कोई अन्तर नही आता। उस समय, जबकि नियोग प्रथा एक स्वीकृत व्यवस्था थी, कोई कारण नहीं था कि कुन्ती के गर्भ से युधिष्ठिर आदि के जन्म के लिए उन्हें पुन: दुर्वासा के मन्त्र का आश्रय लेना पड़ा। इसी प्रकार द्यूत-भवन में द्रौपदी का चीर बढ़ाने के लिए भी कृष्ण के किसी चमत्कार की आवश्यकता नहीं थी... और यदि वास्तव में वह कोई चमत्कार था तो बाद में उसका कहीं कोई उल्लेख क्यो नहीं हुआ?

कई वर्ष तक मन में यदाकदा चलते तर्क-वितर्क का समाधान, समय के साथ ही, मुझे अंशों में मिलने लगा। इसी बीच कविता की प्रकृति एवं सामर्थ्य से भी परिचय होता रहा और अनेक प्रसंगों के निहित अर्थ इस सन्दर्भ में भी खुलने लगे कि महाभारत एक काव्य कृति है, जिसमें बहुत कुछ अलंकारों के माध्यम से भी कहा जाता है। जहाँ एक ओर आलंकारिक उन्मुक्तता ही कविता की विवशता है, इतिहास

अपने ठोस यथार्थ के कारण धरातल से बँधे रहने के लिए बाध्य है। ऐसे में जब इतिहास की रचना काव्य में हो तो परिणाम वही होता है जो महाभारत का हुआ। सुस्पष्ट ऐतिहासिक घटनाएँ कहीं ऐसे कल्पनातीत प्रसंगों से जा जुड़ती हैं कि कभी सब कुछ मिथक जैसा ही लगने लगता है।

काव्य ही नहीं, वर्तमान गद्य में भी, अलंकार को यथार्थ मान बैठना भ्रामक बन जाता है। स्वयं महाभारत को लेकर भी एक भ्रम प्रचलित है कि घर में महाभारत नहीं होनी चाहिए। वास्तविकता यह है कि शब्द 'महाभारत' कालान्तर में व्यापक हिंसा का पर्याय बन गया। इस अर्थ में 'घर में महाभारत नहीं होनी चाहिए' को अधिकांश लोग यह मानने लगे कि घर में महाभारत ग्रन्थ की प्रति नहीं होनी चाहिए।

कालान्तर में, ऐसी अनेक घटनाएँ देखने-सुनने को मिलीं जो सत्य न होते हुए भी सन्दर्भ-विशेष में सत्य प्रतीत हुईं। कविता में ही नहीं, वर्तमान गद्य में भी अनेक ऐसे मुहावरों से साक्षात्कार हुआ जिनके सम्मुख काव्य की आलंकारिक अभिव्यक्ति भी नितान्त अप्रासंगिक नहीं लगी। जब-जब छोटे बच्चों ने अपने छोटे भाई-बहनों को देखकर माँ से पूछा—'यह कहाँ से आया' अथवा 'मैं कहाँ से आया था?' तो हर मां के मुख से कुछ यही उत्तर सुनने को मिले—'ये भगवान जी के घर से आया है... इसे स्वामी जी दे गये... ये मन्दिर में मिला था..... ये अस्पताल में मिल गया' और ये भी कि— 'यह घूरे पर पड़ा मिला था।' महर्षि व्यास को भी कर्ण के जन्म के सम्बन्ध में कुन्ती के मुख से कुछ ऐसा ही उत्तर दिलवाना उचित लगा होगा।

इसी प्रकार, कवच एवं कुण्डल-सहित कर्ण का जन्म मुझे एक मुहावरे से अधिक कुछ भी प्रतीत नहीं होता, जिसे शब्दशः यथार्थ के रूप में देखने के प्रयास ने उस प्रसंग को चमत्कार अथवा मिथक का रूप दे दिया। जन्मजात उपलब्धि अथवा ज्ञान के लिए वर्तमान गद्य-युग में भी मुहावरों का प्रयोग होता है। कहीं ज्ञान 'माँ के दूध में ही प्राप्त होने' अथवा 'पेट में ही दाढ़ी होने' से लेकर अंग्रेज़ी मुहावरा 'मुँह में चाँदी की चम्मच-सहित जन्म....' तक सभी मिथक लग सकते हैं, यदि उन्हें शब्दशः सत्य मानकर देखना-दिखाना ही व्यवहार बन जाये। इस अभिज्ञान से सहज ही उस रहस्य का अनावरण भी स्वतः हो जाएगा कि अभिमन्यु को 'गर्भ से ही' चक्रव्यूह वेधने का ज्ञान कैसे प्राप्त हो गया था!

इसी क्रम में व्यक्तियों के अध्ययन एवं उनके विश्लेषण ने यह भी बताया कि स्वयं को स्वर्ग की अप्सरा समझने वाली गंगा, जो किसी पूर्वाग्रह के कारण अपने ही पुत्रों को गंगा में प्रवाहित करती रही, मात्र मनोरोगी थी।

ऐसे असामान्य प्रसंग महाभारत की विशेषता भी हैं और उसकी शक्ति भी। जहाँ श्रद्धालु उन्हें दैवी चमत्कार के रूप में हो ग्रहण करते हैं वहीं समान्य पाठक रचना-शैली का अंग मानकर कथा के प्रवाह में बहते रहे हैं। इनको 'मिथक' की संज्ञा

तो अंग्रेज़ी आलोचना एवं वर्चस्व के प्रभाव में कुछ दशक पूर्व ही प्राप्त हुई, जब पश्चिमी आलोचकों ने रामायण-महाभारत जैसे भारतीय ग्रन्थों को बाइबॅल, कुरआन आदि के समकक्ष मानकर हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ के रूप में श्रेणीबद्ध किया। किन्तु वास्तविकता यह है कि उनकी मान्यता के अनुरूप रामायण-महाभारत आदि 'ईश्वर-प्रदत्त' आदेश-ग्रन्थ न होकर मानव-रचित ग्रन्थ मात्र हैं। यदि देश के विशाल जन-समुदाय ने धर्म-ग्रन्थ मानकर इन्हें अपनाया है तो मात्र इसलिए कि इनमें कथा के बहाने अनेक स्थलों पर सत्-सन्देश भी हैं और उन चरित्रों का विशद वर्णन भी है जो, अपने लौकिक सत्कर्म द्वारा जीवन में आदर्श प्रस्तुत करते हुए, अवतार-पद पा गये।

इसके अतिरिक्त, रामायण की भाँति ही, महाभारत यदि धर्मग्रन्थ है तो अपनी साहित्यिक गुणवत्ता के कारण, एक अद्वितीय कृति होने के नाते.... उसी अर्थ में जिसमें 'आदित्यानां अहं विष्णु...' के सदृश ही वृक्षों में पीपल, पशुओं में सिंह, जलाशयों में सागर, पर्वतों मे हिमालय आदि को उत्कृष्टता एवं देवत्व प्राप्त है। इसमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं कि जीवन के सभी पक्षों, स्थितियों, चरित्रों एवं उनकी मानसिकता आदि को एक कथासूत्र में पिरोकर प्रस्तुत करता हुआ महाभारत साहित्य की एक अनुपम कृति है... इतनी विचारोत्तेजक कि इसके पक्ष एवं विपक्ष में चर्चा निरन्तर चलती रही है और आगे भी चलती रह सकती है। इसकी विविधता इतनी सार्वभौमिक है कि इसके लिए उक्ति 'यन्नेहास्ति न कुत्रचित्' अर्थात् जो इसमें नहीं है उसकी चर्चा अन्यत्र कहीं भी नहीं है, कोई अतिशयोक्ति नहीं लगती।

यही कारण है कि महाभारत को अमरत्व भी प्राप्त है और सम्मान भी। महाभारत का देश की समस्त भाषाओं में ही नहीं, अंग्रेज़ी आदि अनेक विदेशी भाषाओ में भी अनुवाद हो चुका है। देश की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में इस पर चित्र भी बनते रहे हैं। और, लगभग एक दशक पूर्व, अंग्रेज़ी फिल्म-निर्देशक पीटर ब्रुक ने विश्वभर के ख्याति-प्राप्त फिल्म-कलाकारों को लेकर महाभारत पर छः घण्टे की फिल्म बनाकर इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी स्थापित किया।

भारतीय फिल्म उद्योग ने कथा-विस्तार एवं चरित्रों की विविधता के कारण सम्पूर्ण कथानक पर तो कोई चलचित्र सम्भवतः नहीं बनाया, किन्तु इसके चरित्रों तथा इसकी स्थितियों को केन्द्र में रखकर समय-समय पर सम्भवतः सैकड़ों चित्र बनाये हों। किसी चित्र के केन्द्र में अर्जुन, तो किसी में कर्ण, किसी मे कुन्ती, तो किसी में अभिमन्यु, भीष्म, कृष्ण आदि को लेकर निरन्तर चल-चित्र बनाते रहे। फिल्म उद्योग में ही नहीं, रंगमंच पर भी महाभारत की कथा एवं चरित्रों का प्रदर्शन होता रहा—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष, दोनों ही रूपों में।

अनुवादों से अलग, साहित्य-सृजन में भी महाभारत का अभूतपूर्व योगदान रहा।

अनेक उपन्यासकारों ने अपनी शैली में इसे उपन्यास का रूप दिया तो कहीं चरित्रों को लेकर कथाकारों ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। कहीं किसी ने अपनी मानसिकता एवं दृष्टिकोण के अनुरूप महाभारत की सम्पूर्ण कथा को कर्ण की दृष्टि से देखा तो किसी ने कुन्ती की दृष्टि से... किसी ने धृतराष्ट्र की आहत मानसिकता से तो किसी ने भीष्म के त्रस्त मन से। अन्य चरित्रों को लेकर भी ऐसे प्रयोग लगभग सभी भारतीय भाषाओं में होते रहे। उपन्यासों एवं कहानियों में ही नहीं, खण्डकाव्य एवं कविताओं ने भी महाभारत की कथा को नित नये आयाम प्रदान किये।

वैसे तो महाभारत पर और महाभारत के चरित्रों को लेकर इतना लिखा गया है कि सम्भवत: उन्हें सूचीबद्ध कर पाना भी एक शोध का विषय प्रतीत हो, किन्तु डॉ. धर्मवीर भारती की काव्य-कृति 'कनुप्रिया' तथा नाटक 'अन्धा युग' सम्भवत: किसी भी साहित्य-प्रेमी की दृष्टि से न बचे हों। वैसे सबसे पहले सम्भवत: डॉ. कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के 'कृष्णावतार' से इस दिशा में उल्लेखनीय लेखन प्रारम्भ हुआ था, फिर शिवाजी सावन्त, प्रमथनाथ बिशी, दुर्गा भागवत, नरेन्द्र कोहली, प्रतिभा राय, भैरप्पा, मनु शर्मा, बुद्धदेव बसु और हरीन्द्र दवे की भी उल्लेखनीय रचनाएँ प्रकाशित हुईं। विद्यानिवास मिश्र, चित्रा चतुर्वेदी आदि ने भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों-चरित्रों आदि का पुनर्लेखन किया।

पुस्तकों से बढ़कर इस महत्त्वपूर्ण कृति को व्यापक लोकप्रियता प्राप्त हुई दूरदर्शन पर प्रसारित धारावाहिक महाभारत से। दर्शकों ने उस रूप में रचना को अधिक सराहा... सम्भवत: कथा और चरित्र-चित्रण के कारण कम और प्रस्तुति की तड़क-भड़क तथा रंगों के आकर्षण के साथ ही युद्ध के दृश्यों के कारण कहीं अधिक। धारावाहिक व्यय-साध्य निर्माण था, अत: व्यापारिक दबाव में निर्माता के लिए यह अधिक आवश्यक था कि जो दिखाया जाये वह रोचक एवं उत्तेजक हो। उनके लिए चमत्कारपूर्ण प्रसंगों को और भी रहस्यमय एवं उत्तेजनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना उनकी व्यापारिक विवशता थी। ऐसे प्रदर्शनों में दोष रह जाता है तो बस यह कि दर्शक रोमांचित होकर एवं भरपूर मनोरंजन पाकर भी किसी सार्थक प्रभाव एवं सन्देश से वंचित रह जाता है।

उपन्यासों में सम्भवत: शिवाजी सावन्त तथा नरेन्द्र कोहली की रचनाएँ सर्वाधिक चर्चा में रहीं। उड़िया में प्रतिभा राय का 'याज्ञसेनी' भी, नारी दृष्टिकोण से महाभारत को प्रस्तुत करके, मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित हो चुका है।

महाभारत की अधिकांश वर्तमान प्रस्तुतियों में एक बात जो स्पष्ट उभरकर आती है वह है लेखकों द्वारा अपने व्यक्तिगत अथवा दलगत दृष्टिकोण को स्थापित करने की ललक। ऐसे लेखन में बहुधा वे लेखक होते हैं जो व्यक्तिगत मानसिकता अथवा दलगत कारणों से महाभारत के किसी पात्र के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके व्यवहार अथवा चरित्र को कोई नया निर्वचन, कोई नयी व्याख्या देते हैं।

इधर, पिछले कुछ दशकों में आधुनिक सामाजिक चेतना के साथ ही लेखकों में महाभारत को भी नयी दृष्टि से देखने की अकुलाहट रही है। उनकी अपनी दृष्टि है, अपने तर्क हैं.... और बहुधा उससे भी बढ़कर पूर्वाग्रह एवं प्रतिबद्धताएँ हैं। इस आधार पर अनेक लेखकों ने अपनी भावना अथवा अपना मत प्रतिस्थापित करने के लिए महाभारत के किसी चरित्र को माध्यम बनाकर आवश्यकतानुसार उसे मनचाहा रंग प्रदान किया। किसी ने त्यक्त बालक की मानसिकता को वाणी देते हुए कर्ण की दृष्टि से महाभारत की कथा का पुनर्लेख किया... उसे युधिष्ठिर से अधिक धर्मनिष्ठ तथा भीष्म एवं अर्जुन से अधिक समर्थ योद्धा बनाकर यह दिखाया कि मात्र जन्म-जात कलंक के कारण उसकी अवहेलना होती रही। यदि ऐसा न हुआ होता तो युद्ध न होता, सब ओर शान्ति होती।

इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था का विरोध करनेवाले अनेक लेखकों ने अपनी प्रतिबद्धता के अनुरूप एकलव्य को महानायक बनाते हुए द्रोणाचार्य को सत्ता के हाथों बिके हुए ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया और पाण्डवों की भी, इन्द्रप्रस्थ बसाकर खाण्डवप्रस्थ की वन-सम्पदा नष्ट करने के लिए, भर्त्सना की। कर्ण को शाप देने के लिए परशुराम को भी कटघरे में खड़ा किया।

कुछ रचनाकारों ने, विशेषतया लेखिकाओं ने, नितान्त नारीवादी दृष्टिकोण से, सम्पूर्ण कथा को कहीं कुन्ती की दृष्टि से तो कहीं द्रौपदी के दृष्टिकोण से देखा है। यह दृष्टिकोण निरन्तर कथाओं, कविताओं, नाटकों, लेखों आदि में प्रस्तुत होते रहें हैं, होते रहेंगे। किसी ने द्रौपदी के दुःख को नया आयाम दिया कि सामाजिक रूढ़ियों के कारण उसे पाँच पतियों का बोझ ढोना पड़ा, द्यूत के दाँव पर लगना पड़ा और भरी सभा में अपमानित होना पड़ा। किसी ने गान्धारी के प्रति संवेदना जतायी कि उसे जन्मान्ध के साथ जीवन बिताने के लिए विवश होना पडा, किसी ने भी उसे अपनी आँखों पर बँधी पट्टी खोलने के लिए नहीं कहा... और कुन्ती का रोना तो सर्वविदित है ही कि समाज के भय के कारण उसे अपनी सन्तान को त्यागना पड़ा। निष्कर्ष यही कि नारी आज भी प्रताड़ित एवं विवश है, जैसे हज़ारों वर्ष पहले थी।

महाभारत के अनेकानेक भाष्य होते हुए भी मुझे यह उपन्यास लिखना आवश्यक क्यों लग रहा है?....यह प्रश्न स्वयं मैंने भी परोक्ष रूप में, अपने आप से किया था। मन ने इस प्रश्न का उत्तर कुछ यही दिया कि बस, यह लिखना है... सम्भवतः महाभारत की विविध दुरूह स्थितियों को, उसके चरित्रों-पात्रों को और उनकी विवशताओं को जानने-समझने के लिए। मुझे बहुधा यह लगा है कि कुछ समझने के लिए उसे लिख डालना ही सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु सर्वोपरि, संगीताचार्य डॉ. वृहस्पति के शब्दों में, यह तर्क तो था ही कि 'कोई पक्षी मात्र इस कारण उड़ान से विमुख नहीं हो जाता कि पहले भी अनेक पक्षी आकाश में उड़ चुके हैं।'

प्रश्न यह भी उठा कि मेरे दृष्टिकोण में नया क्या होगा जो इस रचना को अन्य

कृतियों से कुछ भिन्न बनाये! उत्तर मुझे भी बहुत स्पष्ट नहीं था। किन्तु यह ज्ञात था कि मुझे शिवाजी सावन्त की तरह कर्ण के दृष्टिकोण को लेकर अथवा प्रतिभा राय की भाँति द्रौपदी की व्यथा को व्याख्यायित करने जैसा कोई कार्य नहीं करना है। बिना किसी पूर्वाग्रह के, यथासम्भव वस्तुपरक दृष्टि के साथ, महर्षि व्यास का दृष्टिकोण ही लिपिबद्ध करने का प्रयास करना है। उसमें विवर्त अथवा परिवर्तन करने का मन था तो बस यह कि उसके जो अंश सामान्यतया अप्राकृतिक अथवा तर्क से परे प्रतीत होते हैं, उनका तर्क-सम्मत विश्लेषण प्रस्तुत करना है... जिनके आधार पर कुछ आलोचक महाभारत को इतिहास न मानकर मिथक अथवा कपोल-कल्पना की श्रेणी में रखने का आग्रह करते रहे हैं।

मेरी दृष्टि में जब महाभारत की रचना हुई थी तब तक काल्पनिक कथाओं को रचनाबद्ध करने की प्रथा नहीं थी। उस समय तक रचनाओं का माध्यम कविता ही था, जिसकी कोई गरिमा थी और उसका सम्बन्ध अध्यात्म से था... सृजन कर्म ऋषियों-मुनियों तक ही सीमित था जो किसी आर्थिक अथवा यश-लाभ के लिए नहीं, मात्र अन्तःप्रेरणा से, ईश-उपासना के समकक्ष, तपस्या की भाँति सम्पन्न होता था। ऐसे में यह आशा करना कि महर्षि व्यास ने अपनी रचना में पाठकों पर प्रभाव डालने के उद्देश्य मात्र से अप्राकृतिक मिथकीय प्रसंग जोड़े होंगे तर्क-सम्मत नहीं लगता। लगता यही है कि महाभारत में कहीं काव्य के अलंकार तो कहीं अभिव्यक्ति-सम्बन्धी तत्कालीन सीमाओं ने उन्हें दैवी चमत्कारों का आश्रय लेने पर विवश किया होगा।

जैसे-जैसे तथाकथित मिथकीय प्रसंगों का रहस्य मुझपर खुला, मेरे मन में महाभारत को नये सिरे से लिखने की ललक बढ़ती गयी। किन्तु कभी यह भी लगा कि कुछ अंशों में उसी आधार पर डॉ. नरेन्द्र कोहली ने कार्य पहले ही प्रारम्भ कर दिया है। डॉ. कोहली से मेरी अनेक प्रसंगों को लेकर चर्चाएँ भी हुईं। इस पर भी मुझे यह उपन्यास लिखना आवश्यक लगा तो बस इसलिए कि मैं इस कथा को अपेक्षाकृत लघु आकार में प्रस्तुत करना चाहता था... ऐसे आकार में जो और अधिक पाठकों तक, बहुत कम मूल्य में, पहुँच सके। साथ ही, कुछ प्रसंग ऐसे हैं जिन पर मेरा विश्लेषण भिन्न है। यह निर्णय तो पाठक लेंगे अथवा समय लेगा कि मेरा यह प्रयास कितना सफल रहा।

जो भी हो, इसे लिखकर जहाँ महाभारत को पुनः समझने का अवसर मिला, वहीं लेखन का सुख भी मिला। रामायण तथा महाभारत के उन प्रसंगों का अर्थ, जिनमें योद्धा के हाथों में शस्त्र स्वयं ही पहुँचने का वर्णन है, मुझ पर तब खुला जब मैंने पाया कि बहुधा मनचाहे शब्द मुझे स्वयं ही मिलते जा रहे हैं। लिखने में थकान का नहीं, सुख का अनुभव ही हुआ। महर्षि दुर्वासा द्वारा तपस्या की अवधि में, 'कई दिन, कुछ किये बिना, मन्द मुस्कान अधरों पर लिये मौन समाधि में बैठे रहना... जैसे

धन्यवाद दे रहे हो परम स्रष्टा को, आशा की एक किरण दिखाने के लिए'... अथवा 'एक उपलब्धि पर गद्गद होकर अश्रु बहाते हुए सोचना कि किसी के आँसू पोंछने की अभिलाषा लेकर चलनेवाले को और भी अधिक अश्रु बहाने होते हैं...' लिखते समय, सम्भवत: बहुत कुछ मैंने अपनी मन:स्थिति का वर्णन ही किया होगा।

यह उपन्यास महाभारत के उस संक्षेपण कार्य का संशोधित, परिवर्धित साहित्यिक पुनर्लेख है जो मैंने, मानव संसाधन मन्त्रालय की अधिसदस्यता के अन्तर्गत, 1998-2000 में किया था। इसके अन्तर्गत महाभारत पढ़ने का विशेष अवसर प्रदान कराने के लिए मैं मन्त्रालय का आभारी हूँ। इसी सन्दर्भ में, मैं आभारी हूँ युवा कवि श्री अनिल जोशी का, जिन्होंने रामायण पर मेरा संक्षेपण कार्य देखकर, मुझसे महाभारत पर कुछ वैसा ही कार्य करने का अनुरोध किया... इस सीमा तक कि उन्होंने 'पठान की भाँति' पीछे पड़कर मुझसे न केवल उस कार्य की रूपरेखा लिखवायी, वे उसे स्वयं ही लेकर मन्त्रालय भी गये। मैं गीताप्रेस, गोरखपुर के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके द्वारा प्रकाशित अनुवादों के माध्यम से मेरे लिए महाभारत पढ़ना-समझना सम्भव हुआ।

महाभारत के पुन:पाठ एवं उसे लघु आकार में समेटने के प्रयास में यह कटु सत्य भी मुझ पर उजागर हुआ कि यह एक दुष्कर कार्य है। महाभारत मात्र एक परिवार की कथा नहीं है, बहुत कुछ सत्-सन्देश भी है जो शान्तिपर्व, विदुरनीति, गीता, धर्मव्याध, महर्षि सनत्सुजात, विदुला आदि के सन्देशों में यत्र-तत्र वर्णित है। उन सब को स्वतन्त्र रूप से प्रच्छालित करके सुपाठ्य रूप में प्रस्तुत करने का कार्य आवश्यक तो है किन्तु वह सब, मेरे लिये, इस संक्षिप्त गाथा में समाहित कर पाना सम्भव नहीं था।

सम्भव है कि भक्ति-भाव से महाभारत का पाठ करनेवाले कुछ श्रद्धालुओं को मेरा यह विश्लेषण दुष्प्रयास लगे। मैं क्षमा-याचना सहित उन्हें विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे मन में उनके विश्वास के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। मेरा यह विश्लेषण तो महाभारत का सन्देश उस वर्तमान पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए है जो, चमत्कारों से परे, तर्क-सम्मत प्रसंगों को ही स्वीकार कर पाती है।

–सीतेश आलोक

प्राचार्य आवास, इन्द्रप्रस्थ महाविद्यालय
दिल्ली-110 054

गुरु पूर्णिमा, वि. संवत् 2062

अनुक्रम

महागाथा

समाधि

युधिष्ठिर ने अपनी आँखें मूँद लीं।

किन्तु स्वर्ग...? कैसा होता होगा स्वर्ग? यह कैसे मान लें कि उन्हें स्वर्ग ही मिलेगा! और वहाँ उनके सभी अनुज होंगे... द्रौपदी भी होंगी।

शंका ने अनजाने ही उनकी पलकों के पट खोल दिये... जैसे वे अपने सम्मुख आ खडे प्रश्नों को देखना चाहते हों। वहाँ कोई भी नहीं था... कुछ भी नहीं था। युधिष्ठिर ने पुनः पलकें मूँद लीं।

'यह शंका क्यों?' जीवन भर उन्होंने गुरुजनों, महात्माओं तथा मुनियों के बताये मार्ग का ही तो अनुसरण किया ... अनेक कष्ट सहे... किन्तु धर्म का मार्ग नहीं त्यागा। सदैव गुरुजनों के, ऋषियों महात्माओ के आशीर्वाद पाये... फिर यह शंका क्यों?'

किन्तु वह मिथ्या भाषण!

नहीं, वह मिथ्या-भाषण नहीं था..

मिथ्याचार में सहयोग तो था ही..

वह तो मात्र परिस्थितिवश... धर्मयुद्ध के हित में अधर्म के विनाश के लिए।

अधर्म? अर्थात् दुर्योधन का हठ! किन्तु उसमें वह हठ कहाँ से आया? क्या वह परिस्थितिजन्य नहीं था?

परिस्थितियाँ?

परिस्थितियाँ, जिन्होंने बाल्यकाल में उन्हें पितृ-विहीन ग्रामीण.. और दुर्योधन तथा उसके अनुजों को राजकुमार बनाया। दोनों बन्धु-समूहों के बीच एक खाई उत्पन्न कर दी। क्या वहीं कहीं से प्रारम्भ हुई थी उन दोनों के बीच की कटुता?

अथवा उसका सम्बन्ध धृतराष्ट्र की आहत मानसिकता से था?

किन्तु कर्ण? कर्ण दुर्योधन से क्यों जा मिले? मातृ-सुख से वंचित होकर... अनुजों से बिछुड़ कर। क्या दोष था उनका? क्या दुर्योधन के दुराग्रह में कर्ण की आहत मानसिकता का भी कुछ योगदान था?

और पितामह! वे महापराक्रमी होते हुए भी, अपने ही परिवार में ऐसे अशक्त क्यों थे? उनके कुमार देवव्रत से भीष्म बनने के पीछे क्या विवशता थी?

बहुत कुछ स्वयं ही देखा था युधिष्ठिर ने... बहुत कुछ सुन रखा था...

वह सब कुछ युधिष्ठिर की स्मृति में सजीव हो उठा...

गंगा

वह एक संयोग था... महाराज शान्तनु के जीवन का सबसे सुखद संयोग। वास्तविकता जानकर उन्होंने सन्तोष की साँस ली और विधाता के प्रति मन-ही-मन आभार प्रकट किया।

महाराज प्रतीप जब सन्तान-प्राप्ति के लिए गंगा-तट पर स्थित महर्षि च्यवन के आश्रम में तपस्या कर रहे थे ... उन्हीं दिनों उनका परिचय निकटवर्ती राज्य के एक श्रेष्ठ, निधिपति से हुआ। वंश एवं वर्ण की असमानताएँ नकारते हुए, स्वभाव-वश, उन दोनों के बीच अन्तरंग मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हुआ... और अनायास ही एक दिन, बातों ही बातों में, उन्होंने एक-दूसरे को वचन दिया कि यदि भाग्य ने उनमें से किसी एक को पुत्र दिया और दूसरे को कन्या प्रदान की, तो उन दोनों का विवाह करके वे अपनी मैत्री को निकट सम्बन्ध का रूप प्रदान करेंगे।

यह भी एक संयोग ही था कि प्रतीप की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया... आयु के लगभग अन्तिम पड़ाव में पुत्र-जन्म ने उनके व्याकुल मन को अपूर्व शान्ति प्रदान की... और इसी शान्ति से प्रेरित होकर उन्होंने पुत्र को शान्तनु नाम दिया।

कुछ ही समय पश्चात् उन्हें समाचार प्राप्त हुआ कि उनके मित्र निधिपति को पुत्री-रत्न प्राप्त हुआ है। निधिपति ने प्रसन्नतापूर्वक न केवल यह शुभ समाचार भेजा, साथ ही महाराज प्रतीप को पारस्परिक वचन का स्मरण भी कराया। प्रतीप तो वैसे भी वचन-बद्ध थे... फिर इस संयोग में भी उन्हें विधाता की कोई योजना दिखी, परमात्मा का आदेश परिलक्षित हुआ। उन्होंने प्रसन्नता एवं उत्साह में भरकर अपनी भावी पुत्रवधू के लिए आशीर्वाद-सहित श्रीफल तथा कुछ स्वर्ण आभूषण भेजे।

किन्तु कुछ ही वर्षों में घटनाक्रम ने एक और मोड़ लिया... शान्तनु किशोरावस्था पार कर ही रहे थे कि महाराज प्रतीप ने रोग-ग्रस्त होकर शैया पकड़ ली। सभी उपचारों को निष्फल होता देख उन्होंने राज्य पर शान्तनु का अभिषेक किया और, उन्हीं दिनों, एक बार जब निधिपति उनके दर्शनार्थ आये तो उन्होंने, पुत्र शान्तनु को बुलाकर, उन्हें उनके विवाह के सम्बन्ध में वचन की बात बतायी।

"आप स्वस्थ तो हो लें पिताश्री!" शान्तनु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "फिर आपका जो भी आदेश होगा, मैं उसका पालन करूँगा।"

आज्ञाकारी शान्तनु की बात सुनकर प्रतीप को ही नहीं, श्रेष्ठ निधिपति को भी परम सन्तोष हुआ।

अपनी स्वीकृति देते समय शान्तनु को कहाँ ज्ञात था कि पिता की आज्ञा का पालन उन्हें स्वयं अकेले ही करना होगा... समय पिता के स्वस्थ होने की प्रतीक्षा नहीं

कर पाएगा। पिता की अन्त्येष्टि में सम्मिलित होने, न जाने क्यों, निधिपति नहीं आ पाये थे... और फिर समय ने भी अनायास ही स्मृति के उस अध्याय को धुँधला करना प्रारम्भ कर दिया। युवावस्था में प्रवेश करते शान्तनु के सम्मुख राज्य के प्रशासकीय कार्यों ने व्यक्तिगत सुविधाओं-आकांक्षाओं के लिए कोई समय ही नहीं छोड़ा।

किन्तु यौवन जब जीवन का द्वार खटखटाता है, तब संसार के प्रत्येक प्राणी को व्यस्तता का बड़े-से-बड़ा प्रयोजन भी गौण लगने लगता है। यौवन अनजाने ही शान्तनु के मन पर अपना आधिपत्य जमाने लगा था...

एक दिन, गंगा-तट पर विहार करते समय उन्होंने एक अत्यन्त रूपवती कन्या को देखा। उसका अपार सौन्दर्य देखकर वे मोहित हो गये... और यदा-कदा उसी तट पर जाकर उस कन्या की प्रतीक्षा करना उनकी दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। धीरे-धीरे वह कन्या भी उन्हें पहचानने लगी... और एक बार उन्हें देखकर मुस्करायी भी। शान्तनु ने उसके विषय में जानना चाहा, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि वह सरिता के सुदूर तट पर कहीं रहती है और यदा-कदा इस पार किसी निकटवर्ती आश्रम में आती रहती है।

"तुम्हारा नाम क्या है सुन्दरि?" शान्तनु ने एक बार सामना पड़ने पर उससे पूछ ही लिया।

"गंगा...," कहते हुए उसने मृदु हास्य बिखेर दिया।

शान्तनु के कानों में उसका संगीतमय स्वर देर तक झंकृत होता रहा और स्मृति-पटल पर उसकी मुस्कान अंकित हो गयी। उन्हें लगा कि उस संगीत के बिना उनका जीवन नितान्त सूना रह जाएगा... उस मुस्कान के अभाव में संसार का कोई वैभव उन्हें कभी कोई सुख नहीं दे पाएगा।

उन्हें ज्ञात था कि एक समृद्ध साम्राज्य का शासक होने के नाते मनचाहा जीवन-साथी प्राप्त कर लेने में उन्हें कोई बाधा नहीं आएगी... किन्तु तभी उन्हें मृत्यु-शैया पर पड़े अपने पिता के वचन का स्मरण दुविधा में डालने लगा। दुविधा यह भी थी कि पिताश्री की आकस्मिक मृत्यु के कारण उनके पास पिता द्वारा चुनी हुई कन्या का कोई सम्पर्क सूत्र नहीं था... और कई वर्षों से उस कन्या के पिता का भी कोई समाचार उन्हें नहीं प्राप्त हुआ था। इस दुविधा में शान्तनु को लगा कि उनके मन की उड़ान पर पिताश्री का वचन किसी बड़े अंकुश की भाँति आ बैठा है।

अपने मन के इस भँवर से निकलने का कोई मार्ग तो उन्हे ढूँढ़ना ही था। उन्होंने मन-ही-मन, पिता की स्मृति को प्रणाम करते हुए, यह निर्णय लिया कि वे एक वर्ष तक और प्रतीक्षा करेंगे, कि किसी भी सूत्र से उन्हें पिताश्री द्वारा चुनी हुई कन्या का पता ज्ञात हो जाए... और यदि ऐसा न हुआ, तो वे विधाना का आदेश मानकर गंगा से विवाह का प्रस्ताव करेंगे।

एक वर्ष की वह अवधि बहुत ही लम्बी थी... किन्तु पिता के वचन को ध्यान में रखते हुए, शान्तनु ने बड़े धैर्य के साथ स्वयं अपने द्वारा निर्धारित उस समय सीमा

को पार किया।

एक वर्ष... पता नहीं गंगा इस बीच कहाँ गयी हो! वे पुनः अपना भाग्य परखते हुए उसी गंगा-तट पर पहुँचे ... और सहसा गंगा को नाव से उतरते देखकर आनन्द एवं उल्लास से भर उठे। उन्हें विश्वास हो चला कि भाग्य ने गंगा को उन्हीं के लिए उत्पन्न किया है।

भावातिरेक में, लोक-लाज एवं अपनी राज-प्रतिष्ठा की सारी सीमाएँ तोड़ते हुए, वे उस सुन्दरी के सम्मुख जा खड़े हुए। "गंगा... पहचानती तो हो मुझे!"

"अरे आप...!" अधरों पर मादक मुस्कान बिखेरते हुए उसका स्वर वीणा की तरह बज उठा, "कहाँ रहे इतने दिन?"

"इतने दिन...!" शान्तनु को आश्चर्य हुआ, "तो तुम्हें स्मरण है मेरा?"

"मेरी स्मरण-शक्ति इतनी क्षीण नहीं है..." हास्य बिखेरते हुए उसने अपनी लहराती केशराशि समेटी। "मुझे तो अपने पिछले जन्म का भी सारा वृत्तान्त ज्ञात है।"

"पिछले जन्म का भी...!" इस बार शान्तनु भी मुस्कराये बिना नहीं रह सके।

"और क्या..." गंगा ने बड़े विश्वास भरे स्वर में कहा, "मैं अप्सरा थी पिछले जन्म में अप्सरा... माँ कहती हैं, इस जन्म में भी मैं किसी अप्सरा से कम नहीं हूँ। ठीक कहती हैं न...!"

"इसमें भला कौन सन्देह करेगा!" शान्तनु के पास उसे अप्सरा से अधिक कहने के लिए शब्द नहीं थे। "तो कहाँ रहती है यह अप्सरा... क्या मैं जान सकता हूँ?"

"वहाँ... बहुत दूर... इस सरिता के उस पार।" गंगा ने तर्जनी के साथ ही अपनी ग्रीवा को भी जल-धारा के दूसरे तट की ओर तानते हुए कहा।

"और इस सुन्दरी के पिताश्री..." शान्तनु ने पूछा, "कहाँ हैं? क्या करते हैं?"

"वहाँ..." गंगा ने बड़े प्रयास से ऊपर आकाश की ओर दृष्टि उठाते हुए अपनी तर्जनी ऊपर उठा दी। "माँ कहती हैं, वे सभी कष्टों से मुक्त हो गये।"

शान्तनु की जिज्ञासा बढ़ी। "क्यों...? क्या कष्ट था उन्हें?"

"सभी कष्ट..." गंगा ने कहा, "जो मर्त्यलोक के प्राणियों को होते हैं। सुखी तो बस वह है जो यहाँ से मुक्ति पा जाए।"

शान्तनु को लगा... कन्या सुसंस्कृत है, और अकेली भी। उन्होंने कहा, "मुझे ले चलोगी अपनी माँ के पास?"

"माँ के पास...!" उसने बड़ी सरलता के साथ पूछा, "तुम चलोगे?"

शान्तनु की आँखों में स्वीकृति की मुस्कान झलकती देख उसने कहा, "तो चलो, अभी चलो।"

इतनी भोली, इतनी समझदार, इतनी सरल ! शान्तनु को लगा जैसे उसके सौन्दर्य को विधाता ने अनेक अलंकारों से सजा रखा है।

वे गंगा की माँ से मिले... और बड़ी शालीनता के साथ उन्होंने अपना मन्तव्य कह सुनाया।

असमय वृद्धावस्था को प्राप्त उस महिला ने कहा, "मेरी बेटी ही मेरा सब कुछ है। मैं उसे अपने से दूर भेज भी नहीं सकती... और उसके विवाह के लिए दिन-रात चिन्तित भी रहती हूँ।"

बातों ही बातों में उन्होंने बताया कि वास्तव में गंगा का विवाह तो उसके जन्म के पूर्व ही निश्चित हो चुका था... महाराज प्रतीप के पुत्र के साथ...

सुनते ही शान्तनु के आश्चर्य एवं सुख की सीमा न रही। कैसा विचित्र संयोग! और उससे मिलते हुए भी, वे दिन-रात उसके लिए चिन्तित होते रहे। शान्तनु ने जिज्ञासा की कि फिर क्या कारण था कि उन्होंने विवाह के लिए महाराज प्रतीप के पास सन्देश नहीं भेजा। उत्तर में उन्हें ज्ञात हुआ कि आयु के साथ ही गंगा के पिता की संसार से विरक्ति हो चली थी... न जाने क्यों उन्हें लगने लगा था कि गंगा राज-परिवार के योग्य नहीं है... बेटी का भोलापन उन्हें चिन्तित एवं व्यथित करता रहता था। फिर उनके निधन के पश्चात् गंगा की माँ का स्वास्थ्य भी गिरता चला गया... आर्थिक संकट ने भी आ घेरा। अपनी स्थिति देखकर स्वयं उनका भी साहस नहीं हुआ कि वे महाराज तक पहुँचकर उन्हें गंगा के पिता के वचन का स्मरण कराएँ।

शान्तनु का परिचय पाकर गंगा की माँ को सन्तोष हुआ... वे प्रसन्न भी हुईं, किन्तु उन्हें सावधान करती हुई बोलीं, "मेरी बेटी अभी बच्ची है... बड़ी भोली है। मन की अच्छी है, किन्तु उसे कभी कोई टोके, तो धैर्य खो बैठती है... कुछ भी कर सकती है। उसे समझकर, प्रेम-सहित समझाकर सुखी रख सको तो अवश्य उसका पाणिग्रहण करो।"

शान्तनु को जैसे मनचाहा वरदान मिल गया। वे विधि-पूर्वक विवाह कर, गंगा को राज-भवन ले आये। एक वर्ष बीतते-बीतते गंगा ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया तो वे अपने भाग्य पर झूम उठे। किन्तु कुछ ही दिनों में उन्हें एक भीषण आघात लगा। एक आखेट से लौटते ही उन्हें अपने पुत्र के सहसा विलुप्त हो जाने का समाचार मिला तो वे विक्षिप्त हो उठे। राजप्रासाद के सेवकों, सैनिकों, दासियों आदि सभी से पूछताछ करने पर भी रहस्य का कोई हल नहीं मिला। किन्तु उससे भी बड़ा आश्चर्य यह कि गंगा को उन्होंने दुःख में व्याकुल नहीं देखा। उल्टे वही उन्हें रह-रहकर धैर्य बँधाती रही, "जो भाग्य में होता है... उसे कौन मिटा सकता है। माँ कहती थीं... हर स्थिति में धैर्य धारण करना चाहिए।"

कुछ ही माह में, पत्नी के गर्भ से पुनः सुखद संकेत पाकर शान्तनु अपनी पीड़ा भूल गये... मन में नयी आशाओं का संचार होने लगा। नियत समय पर गंगा ने पुनः एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया तो वे पुनः सुख में झूम उठे।

तभी उन्हें राज्य पर आक्रमण की सूचना पाकर युद्ध के लिए जाना पड़ा। किन्तु उस युद्ध में विजय के उन्माद पर सहसा पानी फिर गया, जब उन्हें राजप्रासाद लौटते ही पुनः अपने पुत्र के विलुप्त हो जाने का समाचार मिला। सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए... वह रहस्य, रहस्य ही बना रहा। पत्नी की सान्त्वना उन्हें कभी उसके धैर्य पर आश्चर्यचकित करती, तो कभी उलझन में डाल देती।

यह दुर्भाग्यपूर्ण क्रम छः बार चला। वे दुःख एवं चिन्ता में विक्षिप्त हो चले थे। वे समझ नहीं पाते थे कि भाग्य उन्हें किस अपराध का दण्ड दे रहा है! कौन जाने, अनजाने में ही, किसी पूर्व जन्म में उनसे कोई पाप हुआ हो... अन्यथा ऐसा दारुण दुःख! यदि पत्नी उन्हें धैर्य न बँधा रही होती तो वे सम्भवतः पूर्णतया विक्षिप्त हो चुके होते... जाने कब के!

उन्हीं दिनों उन्हें पुनः संकेत प्राप्त हुआ कि गंगा ने गर्भ धारण किया है। किन्तु यह समाचार पाकर प्रसन्नता के स्थान पर उन्हें चिन्ता ने घेर लिया। उन्होंने निश्चय किया कि, जैसे भी हो, उन्हें भाग्य से टक्कर लेनी है... पुत्र के जीवन की रक्षा स्वयं करनी है। रहस्य का उद्घाटन करना है... चाहे जैसे भी हो। और, समय आने पर, पुत्र-जन्म का समाचार पाकर वे, प्रसन्न होने के स्थान पर, उसकी जीवन-रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये। कोई युद्ध नहीं, कोई आखेट नहीं... अपनी प्रशासकीय व्यस्तता का भी न्यूनतम निर्वाह करते हुए वे अपने नवजात पुत्र की रक्षा स्वयं ही करने लगे।

छः माह बीत चले थे। पुत्र को स्वस्थ एवं चैतन्य देखकर वे धीरे-धीरे चिन्ता-मुक्त होने लगे थे... तभी एक दिन उन्होंने पत्नी को गंगा-तट की ओर जाते देखा। नवजात शिशु भी उसकी बाँहों में खेल रहा था। माँ की भुजाओं से बढ़कर और क्या सुरक्षा हो सकती है शिशु के लिए! वे उस समय एक निकटवर्ती उपवन में भ्रमण कर रहे थे, पुष्पों-लताओं का सौन्दर्य निहार रहे थे... किन्तु उनकी एक दृष्टि पत्नी की ओर भी थी। उन्होंने पत्नी को सरिता तट पर जल की तरंगों के पास झुकते हुए देखा... जैसे वह शिशु को पावन गंगा का स्पर्श करा रही हो... किन्तु जब वह उठकर मुड़ी तो शान्तनु ने देखा, उसके दोनों हाथ मुक्त थे.. वस्त्र सँभालते हुए, केश सँवारते हुए। देखकर शान्तनु की हृदय-गति लड़खड़ाने लगी... नेत्र आश्चर्य में विस्फारित रह गये।

"कुमार...! कुमार कहाँ है?" वे गंगा की ओर दौड़ते हुए लगभग चीख़कर बोले।

"कुमार..." गंगा ने पति की ओर मुस्कराते हुए देखा, जैसे कुछ भी न हुआ हो।

"कहाँ है...?" भयाक्रान्त स्वर में शान्तनु ने कहा, "कहाँ गया?"

"गया... सो गया..." गंगा ने उन्हें आश्वस्त करते स्वर में कहा, "अपनी माँ की गोद में..."

"माँ की गोद...?" शान्तनु ने गंगा के कन्धे झकझोरते हुए पूछा "क्या... क्या कह रही हो?"

"हाँ सो गया... अपनी गंगा माँ की गोद में।" गंगा ने कुछ आश्चर्य में झुँझलाकर कहा, "यह क्या कर रहे हो, छोड़ो मुझे..."

"मेरा पुत्र..." शान्तनु विक्षिप्त होते हुए बोले, "क्या हुआ उसे?"

"कुछ नहीं हुआ उसे..." गंगा ने शान्तनु को बड़े ज्ञानी की भाँति समझाते हुए कहा, "सो गया मेरी गोद में, स्वामी... मैं ही तो गंगा हूँ।"

"तुमने... तुमने प्रवाहित किया उसे!" शान्तनु विक्षिप्तता के प्रवेग में दौड़कर गंगा की धारा में कूद पड़े। किन्तु तब तक बहुत विलम्ब हो चुका था। बहुत देर तक हाथ-पाँव फेंकने के बाद उन्हें अपने शिशु का शव ही प्राप्त हुआ। वे बिलखते हुए गिर पड़े भूमि पर, "यह क्या किया तूने... हत्या कर दी मेरे शिशु की!"

और पास खड़ी गंगा आश्चर्य में उन्हें समझाने का प्रयास कर रही थी, "नहीं... नहीं, हत्या नहीं... मैंने तो मुक्त कर दिया उसे..."

"मुक्त...। कैसी मुक्ति?" इतने बड़े आघात से जड़वत्, रोते हुए ही शान्तनु ने पूछा।

"जीवन से... संसार के सारे दुःखों से..." गंगा के स्वर में न कोई दुःख था न पश्चात्ताप। "माँ कहती थीं कि यह मर्त्यलोक दुःख का महावन है। कोई जीवित प्राणी कभी सुखी नहीं रह सकता यहाँ..."

"आह! निर्मम हत्यारिन..." शान्तनु बिखरते हुए स्वर में बोले, "कैसी अभागी माँ है तू?"

"कैसी हत्या? मैं.. पुत्र को स्नेह करने वाली माँ..." गंगा भुजाएँ फैलाते हुए आकाश की ओर निहारकर बोली, "कैसे सहती अपने पुत्र का दुःख इस मर्त्यलोक में! मुक्त कर दिया मैंने सब दुःखों से उसे।"

शान्तनु को विश्वास हो चला कि वह विक्षिप्त है... किन्तु कैसे नहीं पहचान पाये वे उसे! उन्हें पत्नी की कही हुई अनेक बातों का स्मरण होता चला गया... वे सब, जिन्हें वे उसका भोलापन मानकर उस पर न्योछावर होते रहते थे। उन्होंने अविश्वास में गम्भीर होते हुए पूछा, "और वे सब... पहले छः पुत्र.. ?"

"उन्हें भी मुक्त किया था... मैंने ही..." गंगा ने बड़े निर्भय स्वर में, गम्भीरता के साथ कहा, "वे सब निश्चिन्त होकर सो गये... गंगा माँ की गोद में।"

"आह..." शान्तनु के कण्ठ से बड़ी भयावह चीत्कार फूटी। उन्हें लगा जैसे अतीत की वह सारी छः बार की पीड़ा, एक साथ उनके हृदय पर आघात करने को लौट आयी है।

"यह क्या हुआ आपको...?" गंगा के स्वर में बड़ा निश्छल आश्चर्य था, "आप सकुशल तो हैं स्वामी!"

शान्तनु व्याकुल थे... उन्हें न दिन को चैन था, न रात को। अपने कक्ष के एकान्त में,

दीवारों से सिर टकराते उन्हें दो दिन बीत गये, पर अन्न-जल भी उनके कण्ठ से नहीं उतरा। 'यह क्या हो गया...!' वे समझ नहीं पाते थे कि कैसे मात्र सुन्दर काया पर रीझकर वे एक नागिन को घर ले आये।

तभी प्रतिहारियों को क्रोध-पूर्वक ढकेलती हुई महारानी गंगा उनके कक्ष में पहुँचीं।

"यह क्या हुआ है आपको?" उन्होंने आते ही समझाते हुए कहा, "आप क्यों दुःखी हैं...! समझते क्यों नहीं?"

"मुझे कुछ नहीं सुनना है, नागिन..." शान्तनु ने क्रोध में भरकर कहा, "दूर हो जा मेरी दृष्टि से।"

"आपने मुझे नागिन कहा! मुझे?" आश्चर्य में गंगा के नेत्र फटे पड़ रहे थे। "मेरा अपमान किया... पावन गंगा का अपमान? स्वर्ग की अप्सरा का अपमान किया? अब मैं एक क्षण भी नहीं रह सकती यहाँ। माँ कहती थीं, जहाँ सम्मान न मिले वहाँ पल भर भी नहीं रहना चाहिए।"

वाक्य पूरा होते-होते गंगा का स्वर क्षीण होता चला गया। वह स्वयं ही कक्ष के बाहर चली गयी। कुछ ही समय में दासियों ने चिन्तित स्वर में दौड़ते हुए आकर शान्तनु को सूचना दी कि महारानी राज-भवन छोड़कर जा रही हैं। कुछ क्षण मौन रहते हुए, शान्तनु ने अपने एक मन्त्री को बुलवाकर आदेश दिया कि वह रथ लेकर जाए और महारानी को, उनके आभूषणों आदि के साथ, गंगा पार उनकी माँ के घर छोड़ आये। उनकी दृष्टि में सात पुत्रों की हत्यारी गंगा के लिए मृत्युदण्ड भी कम था, किन्तु वह विक्षिप्त लगती थी... विक्षिप्तता में किये अपराध के लिए वे उसे क्या दण्ड देते! वास्तविक दण्ड तो वे स्वयं पा रहे थे।

दुःख के महासागर में डूबते-उतराते शान्तनु ने अपने जीवन को भाग्य की कृपा पर छोड़ दिया...

मन की चिन्ताओं से मुक्ति पाने का एक साधन यह भी है कि चिन्ता के लिए कोई समय ही न छोड़ा जाए। व्यक्ति यदि व्यस्त हो तो, मन के द्वार पर खटखटाकर, अपनी उपेक्षा पर रोती-बिसूरती, अनेक चिन्ताएँ रूठकर लौट जाती हैं। शान्तनु ने भी कुछ यही मार्ग अपनाया। उन्होंने राज-व्यवस्था में अपने को झोंक दिया। राज्य की सीमाओं का विस्तार, शत्रुओं से युद्ध, राजकोष में वृद्धि. जन-सुविधाओं में सुधार, प्रजा के दुःख-सुख में भागीदार बनकर उनका मन जीतना और स्वयं अपने एकाकीपन पर विजय पाना... यही सब उनके जीवन के उद्देश्य बन गये।

किन्तु जीवन के आग्रह बहुत समय तक अपना मार्ग नहीं भूलते... व्याकुल मन

को क्षण, दो-क्षण बहला लेना भले ही कठिन न हो, उसे निरन्तर बहलाये रखना असम्भव हो जाता है। दिनचर्या के एकाकी क्षणों में, कभी न कभी सेंध मारकर कुछ प्रश्न शान्तनु को घेर ही लेते थे। कुछ था जो सारी सुविधाओं के बीच भी चैन नहीं लेने दे रहा था...? कल क्या होगा, जब वृद्धावस्था शरीर को जर्जर करने लगेगी? क्या होगा इस राज्य का? क्या यह सिंहासन रिक्त पड़ा रह जाएगा? सात पुत्रों के इस अभागे पिता को कौन तिलांजलि देगा? मेरी आत्मा मुक्ति के लिए क्या युगों-युगों तक प्यासी भटकती रहेगी?

इन प्रश्नों के उत्तर के लिए भटकते मन को शान्तनु के पाँव बिना सोचे-समझे अनेक जाने-अनजाने तीर्थों, मठों आदि में ले जाते थे... तो कभी ज्ञानियों, महात्माओं तथा भविष्य-वेत्ताओं की शरण में पहुँचा देते थे। इस मन:स्थिति में शान्तनु कभी आखेट में हिंस्र पशुओं के साथ खेलते हुए अपना जीवन दाँव पर लगा देते थे, तो कभी नदी तट पर दार्शनिकों की भाँति विचरते हुए उत्ताल तरंगों में अपने प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ते थे। ऐसे ही में एक दिन...

गंगा तट पर विचरते हुए उनका ध्यान सरिता के जल स्तर पर गया... जो धीरे-धीरे घटता जा रहा था।

असमय...! शान्तनु ने सोचा। क्या कारण हो सकता है इसका? उन्होंने आगे बढ़कर जिज्ञासा की तो उन्हें ज्ञात हुआ कि धारा में, ऊपर की ओर, कोई है जो जल को बाँध रहा है। यह सुनकर उनका कौतूहल बढ़ा... और वे प्रवाह की विरुद्ध दिशा में अपना अश्व दौड़ाते हुए लगभग एक कोस गये। वहाँ उन्होंने देखा... एक किशोर, हाथों में धनुष-बाण लिए, बाणों से सरिता पर झुके वृक्षों की डालियाँ काट-काटकर ऐसे आड़ी-तिरछी उलंझाकर गिरा रहा है कि सरिता के जल-प्रवाह में बाधा उत्पन्न हो रही थी। वे उस किशोर के शर-सन्धान से बड़े प्रभावित हुए। जब उन्होंने उस किशोर से इसका कारण पूछा तो उसने बताया कि निकट ही, महात्मा अश्विनी के आश्रम में जन-रोग-निवारण के लिए एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ चल रहा है, जहाँ सहस्रों ऋषिगण, नागरिक आदि एकत्रित हुए हैं। उस यज्ञ के निमित्त नहर द्वारा जल उधर ले जाने के लिए सरिता के जल का स्तर ऊँचा करना ही एकमात्र उपाय था।

उस किशोर को साधुवाद देते हुए, शान्तनु महात्मा अश्विनी के दर्शनार्थ उनके आश्रम में पहुँचे... और वहाँ सहसा उनकी दृष्टि गंगा पर पड़ी। लगभग सत्रह-अठारह वर्ष के बाद अपनी परित्यक्ता पत्नी को देखकर उनके नेत्र क्रोध में जलने लगे। तभी अवाक्, विस्फारित नयनों से देखकर उनकी ओर बढ़ते हुए, गंगा ने आकर शान्तनु की चरण-रज ली और आँखों में अश्रु भरे हुए उनकी ओर बड़ी करुण दृष्टि से निहारा।

"तुम...? यहाँ?" शान्तनु के स्वर में ही नहीं, दृष्टि में भी आश्चर्य था।

"आज मैं धन्य हुई स्वामी..." गंगा ने रुँधे कण्ठ से कहा, "मैं आज तक आपके दर्शनों के लिए ही जीवित थी।"

"बन्द करो यह मिथ्या प्रलाप..." शान्तनु ने क्रोधित स्वर में कहा, "तुम्हारे जैसी पुत्र-घातिनी को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं।"

"मैं जानती हूँ स्वामी... किन्तु..." गंगा का स्वर रुदन में डूब गया। उसका वाक्य पूरा नहीं हो पाया। तभी एक भगवा वस्त्र-धारी वयोवद्ध महात्मा ने पास आते हुए शान्तनु को सम्बोधित करते हुए कहा, "किन्तु जो तुमने देखा, वत्स! वह पूर्ण सत्य नहीं था।"

शान्तनु ने सहसा उनकी ओर मुड़ते हुए अपने भावावेग को नियन्त्रित किया। किन्तु उनकी आँखों में आश्चर्य था... जिज्ञासा थी।

"महाराज! कुछ वर्ष पूर्व जो दारुण दुःख आपने झेला, वह निःसन्देह दुर्भाग्यपूर्ण था... और गंगा उसका हेतु बनी, जिसके लिए वह आज भी लज्जित है। किन्तु उसका चिकित्सक होने के नाते मैं तुम्हें इस सत्य से अवगत कराना चाहता हूँ कि जो कुछ उसने किया, वह अनजाने में... अचेतन अवस्था में किया।"

अनजाने में?" आश्चर्य एवं अविश्वास में शान्तनु की भृकुटि में बल पड़ गये।

"हाँ, वत्स..." वृद्ध महात्मा ने कहा, "इसे भी नहीं ज्ञात था कि यह एक मनोरोगी है। कभी तो यह स्वस्थ एवं सामान्य रहती थी और कभी अपने रोग के प्रवेग में कुछ ऐसा विचित्र व्यवहार करती थी जो अकल्पनीय था। विवाह-पूर्व जब यह अपनी माँ के लिए औषध लेने यहाँ आती थी, तब भी यदा-कदा मैंने इसमें मनोरोग के कुछ लक्षण देखे थे... किन्तु वह रोग कभी इस सीमा तक विनाश करेगा, स्वयं मैंने भी कल्पना नहीं की थी।"

"ऐसा भयंकर रोग!... अकारण?" शान्तनु की स्मृति में पत्नी के साथ अनुभव के कुछ क्षण जीवन्त होते चले गये... जब गंगा का मधुर व्यवहार उन्हें मोहपाश में बाँधता था... जब उनका कोई विचित्र उत्तर, भोलेपन का परिचायक लगता था... वह स्वयं गंगा होने का अथवा पूर्व-जन्म का वृत्तान्त जानने का दम्भ! और सम्भवतः यही कारण रहा हो कि निधिपति ने उसे राज-परिवार के योग्य नहीं समझा... और कभी विवाह का प्रस्ताव ही नहीं भेजा।

"अकारण नहीं महाराज..." उस आश्रम के प्रमुख, महात्मा अश्विनी, शान्तनु को शान्त करते हुए आसन देकर बैठा चुके थे। "इस सृष्टि में अकारण तो कुछ भी नहीं होता। तुम्हारा क्रोध भी अकारण नहीं है। किन्तु बहुधा होता यह है कि स्थिति का अपूर्ण ज्ञान हमें वास्तविक कारण तक पहुँचने नहीं देता। स्वयं मैं भी इस दुखिया के विषय में, बहुत कुछ जानते हुए भी, सब कुछ जानने का उद्घोष नहीं कर सकता।"

"किन्तु शिशुओं की हत्या..." शान्तनु के मुख पर घृणा की रेखाएँ स्पष्ट उभर आयी थीं, "माँ के हाथों!"

"अकल्पनीय है..." अश्विनी ने शान्त रहते हुए कहा, "नितान्त अकल्पनीय... भयंकर। किन्तु उस समय न तो ये माँ होती थी और न वे शिशु इसके लिए कोई साधारण शिशु। उस समय यह किसी स्वनिर्मित संसार में जी रही होती थी... जहाँ के सम्बन्ध, जहाँ के नियम, जहाँ की भावनाएँ किसी चिकित्सक के लिए भी मात्र अनुमान का विषय हो सकती हैं।"

"तो यह सब आपको..." शान्तनु ने कुछ अविश्वास के साथ प्रश्न किया।

"इसके व्यवहार से व्यथित होकर इसकी माँ लायी थी इसे... मेरे पास। जब तुमने इसका परित्याग किया था तब यह व्यथित नहीं... आक्रोश की स्थिति में थी। इन्द्र से तुम्हारे विरुद्ध परिवाद करना चाहती थी। तभी इसकी माँ को इसके गर्भ का ज्ञान हुआ..."

"गर्भ...?" शान्तनु सहसा चौंके।

"हाँ, वत्स..." अश्विनी ने मुस्कराते हुए कहा, "तीन माह का गर्भ था इसे। इसकी माँ को चिन्ता हुई, उस शिशु के जन्म की ही नहीं... उसकी सुरक्षा की भी। तभी वह लायी थी गंगा को मेरे पास।"

"तो क्या हुआ, उस गर्भ का...?" शान्तनु ने कुछ व्यग्र होते हुए पूछा।

"आपका पुत्र सकुशल है, प्राणनाथ..." उत्तर अब तक सिर झुकाये मौन बैठी गंगा ने दिया।

"कहाँ...! कहाँ है वह?" व्यग्रता में शान्तनु की दृष्टि चारों ओर घूमकर पुनः गंगा पर टिक गयी।

उत्तर में गंगा ने दृष्टि उठाकर पुकारते हुए कहा, "इधर आओ, वत्स देवव्रत... प्रणाम करो अपने पिता को।"

शान्तनु की दृष्टि सहचर की भाँति गंगा की दृष्टि का अनुसरण करती हुई उस नव-युवक पर जा टिकी, जिसे कुछ ही समय पूर्व उन्होंने धनुर्विद्या का अलौकिक कौशल दिखाते हुए देखा था... उज्ज्वल मुख, उन्नत ललाट, विशाल वक्षःस्थल और तेज से सम्पन्न नेत्र। उसके रूप में कहीं उन्हें अपने अतीत की छवि भी दिखाई दी। 'मेरा... निःसन्देह मेरा पुत्र ...' अपने मन का उल्लसित स्वर उन्हें स्पष्ट सुनाई दिया और अपनी ओर बढ़ते हुए उस नव-युवक को उठकर, लगभग दौड़ते हुए, उन्होंने अपने वक्ष से लगा लिया। उनका कण्ठ अवरुद्ध था और आँखों से अश्रुओं की झड़ी लगी थी।

पिता-पुत्र के उस भावपूर्ण मिलन को देखकर सभी आश्रमवासी, अतिथि आदि अभिभूत थे और निर्वाक् भी...

जाने कितनी देर बाद शान्तनु का भावावेग कुछ थमा, तो घूमकर उन्होंने एक कृतज्ञता भरी दृष्टि महात्मा अश्विनी पर डाली। वे मौन खड़े मुस्करा रहे थे। फिर उनकी दृष्टि घूमकर गंगा की ओर गयी। शान्तनु ने देखा... उनकी आँखों से भी अश्रुओं की झड़ी लगी थी।

"आपने मुझ पर यह जो उपकार किया है, महात्मन्!" शान्तनु ने अश्विनी की ओर अंजलि बाँधकर बढ़ते हुए कहा, "उसे मैं आजीवन नहीं भूलूँगा। मात्र मुझ पर नहीं... यह हमारे कुल पर उपकार है आपका।"

"नहीं वत्स, नहीं..." अश्विनी ने सहसा किसी महाज्ञानी की गम्भीर वाणी में कहा, "कोई किसी पर उपकार नहीं करता। मैं तो अधिक-से-अधिक यह कह सकता हूँ कि मैंने पालन किया अपने कर्तव्य का। मैं तो बस विधाता की योजना का एक हेतु बना... मात्र संयोग से।"

शान्तनु गंगा से वार्तालाप के लिए भी व्यग्र हो रहे थे... आभार प्रकट करना चाहते थे उसका भी, एक स्वस्थ सुन्दर पुत्र-रत्न की अनमोल भेंट के लिए। किन्तु बीच में आ खड़ी होती थी... एक नहीं, दो नहीं... सात निरीह शिशुओं की आकृति। 'किन्तु अनजाने में...!' अनजाने ही सही, थी तो वह नृशंस हत्या! उनके आत्मजों की।

"गंगा..." अपने अन्तर्द्वद्व से उबरते हुए शान्तनु ने गम्भीर स्वर में कहा, "चलो गंगा... चलो, घर चलें।"

"घर ..?" गंगा ने अश्रु बहाते हुए कहा, "घर मेरे भाग्य में कहाँ, स्वामी! मैं तो जीवित थी आज तक मात्र इस आशा में कि आपकी धरोहर आपको सौंप सकूँ एक दिन। सौभाग्य मेरा कि महात्मा अश्विनी ने मुझे जीवित रखकर, देवव्रत के जीवन की रक्षा करते हुए, उसके शास्त्र एवं शस्त्र-ज्ञान का भी प्रबन्ध किया..."

अपना कथन पूरा करते हुए, गंगा ने उठकर देवव्रत का हाथ शान्तनु के हाथ में दे दिया, "जाओ पुत्र... जाओ। क्षमा करना अपनी अभागिन माँ को। अपनी दो भुजाओं से, आठ पुत्र बनकर सच्चे मन से अपने पिता की सेवा करोगे तो तुम्हारी यह माँ, जहाँ भी होगी, अपने आशीर्वाद की वर्षा तुम पर करती रहेगी।"

"किन्तु गंगा..." शान्तनु ने मन के ऊहापोह को नकारते हुए गंगा से कहा, "तुम भी..." अपना वाक्य अधूरा छोड़ते हुए शान्तनु ने अपनी असहाय दृष्टि महात्मा अश्विनी की ओर घुमायी।

उनकी आँखों में एक मौन संकेत था। वे शान्तनु को अपने साथ लेकर अपने कक्ष में गये। "महाराज! अभी गंगा का तुम्हारे साथ जाना उचित नहीं होगा। वास्तविकता यह है कि अब भी वह पूर्णतया सामान्य नहीं है। बहुधा मैंने पाया है कि मनोरोगी कभी पूर्णतया स्वस्थ एवं सामान्य नहीं हो पाते।"

"उसकी बातों से तो..."

"उसकी बातों से तो सम्भवत: कभी तुम्हें भी कुछ ज्ञात नहीं हुआ था... तब, जब वह तुम्हारे साथ थी।" महात्मा अश्विनी ने कहा, "सम्भवत: वह उस रोग से पूर्णतया मुक्त हो चुकी है, जिसके प्रभाव में उसने अपने पुत्रों की हत्या की थी... किन्तु अब उस दुर्घटना का अपराध-बोध उसे रह-रहकर विक्षिप्त कर देता है। तब बहुत दुष्कर हो जाता है उसे सँभालना। यह भी एक बहुत बड़ा कारण है कि अब तक हम लोग इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाये थे कि तुम्हें तुम्हारे पुत्र के विषय में बताकर, उसे तुम्हारे पास भेजें। किन्तु विधाता ने जब वह संयोग स्वयं ही ला खड़ा किया तो मेरा चिकित्सा-शास्त्र पिता-पुत्र के इस मिलन में बाधक भी तो नहीं बन सकता!"

महात्मा अश्विनी रुके तो शान्तनु के मानसिक द्वन्द्व ने क्षण भर के लिए कक्ष को भयावह मौन से भर दिया।

"तो महात्मन्..." सोच-विचारकर शान्तनु ने मौन तोड़ा, "यह चिकित्सा कितने समय तक चलने की सम्भावना है?"

"सच पूछो तो... अभी मैं कुछ नहीं कह सकता। प्रारम्भ में मेरा अनुमान था कि चिकित्सा के साथ पुत्र का सान्निध्य उसे कुछ वर्षों में पूर्णतया रोग-मुक्त कर देगा, किन्तु एक आयाम मेरी कल्पना के बाहर रहा... वह यह कि पुत्र का स्नेह उसे अपने खोये हुए पुत्रों का स्मरण करा के उसमें अपराध-बोध को जन्म देगा... उसे अपनी ही दृष्टि में गिरा देगा... और वही हुआ। आज तुम्हारे आगमन से एक नयी स्थिति उत्पन्न हुई है... गंगा ने स्वयं ही तुम्हें पहचानकर क्षमा माँगी, और पुत्र को स्वयं ही तुम्हारे साथ जाने का आदेश दिया है। स्वयं ही तुम्हारे साथ न जाने का निर्णय भी लिया है। लगता है जैसे वह स्वस्थ है... शान्त होकर स्वयं ही अपना निर्णय लेने में सक्षम है। तो कुछ समय ऐसे ही सही। विरोध करने से उसके मन में दबे रोग के भड़क उठने का भी तो भय है।"

शान्तनु ने देवव्रत को साथ लेकर आश्रम से विदा ली तो गंगा ने झुक उनकी चरण-रज ली और आँखों में अश्रु भरकर पुत्र के सिर पर स्नेह से हाथ फेरा, "माँ का आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ रहेगा पुत्र... परमात्मा तुम्हें लम्बी आयु दे... तुम्हें मनचाही आयु मिले। जब तक तुम स्वयं न चाहो, मृत्यु की छाया भी तुम्हें न छू पाये। अपने पिता की तन-मन से सेवा करोगे तो तुम्हारी माँ के पापों का भी कुछ शमन होगा।"

"तुम भी शीघ्र ही महात्मा अश्विनी की आज्ञा लेकर राज-प्रासाद आ जाना, गंगा..." शान्तनु ने कहा, तो बड़ी गम्भीर मुद्रा में उनकी ओर देखते हुए गंगा ने आकाश की ओर तर्जनी उठा दी, "माँ कहती थीं... उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता।"

वह संकेत शान्तनु को सहसा अतीत में खींच ले गया... और वे एक अनाम भय से काँप उठे।

हस्तिनापुर लौटकर, पुत्र देवव्रत के साथ वे जीवन का नवीन सुखद अध्याय प्रारम्भ कर ही रहे थे... कि दो दिन बाद उन्हें महात्मा अश्विनी की ओर से सूचना मिली, गंगा ने जल समाधि ले ली।

गंगा, गंगा में विलीन हो चुकी थी।

सत्यवती

शान्तनु को लगा जैसे ये सब कल की घटनाएँ हैं...

जीवन में वसन्त ऋतु लेकर, मुस्कान बिखेरती गंगा उन्हें पत्नी के रूप में मिलीं ...और दूसरे ही क्षण पुत्र-जन्म तथा पुत्र शोक का दुश्चक्र उन्हें विचलित करने लगा। फिर पत्नी का परित्याग करके पता नहीं कितने दीर्घ वर्ष उन्होंने आत्म विस्मृति में बिताये... पुनः गंगा को देखा और उससे एक युवा पुत्र का वरदान पाया... जिसके साथ ही आ जुड़ा अभिशाप, पत्नी के निधन का। और वह सब, समय की एक छोटी-सी अवधि में...

पाने-खोने की उथल-पुथल वाला जीवन इतनी निर्मम गति से सुख देकर प्रताड़ित भी करता रहता है, यह उन्होंने पहले कभी नहीं जाना था।

गंगा की मृत्यु पर दुःख करें... अथवा नहीं, यह शान्तनु नहीं समझ पा रहे थे। जीवन के खट्टे मीठे अनुभव व्यक्ति को जीवन के प्रति कभी कभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचने देते.. इस अटल सत्य के चलते भी, कि कोई कभी स्वेच्छा से जीवन नहीं त्यागना चाहता। शान्तनु अपने जीवन में गंगा द्वारा प्रदत्त सुख दुःख का लेखा-जोखा करने बैठते तो... दुःखों का पलडा ही भारी दिखाई देता। बारम्बार. .. यह ज्ञात हो जाने पर भी कि वह मनोरोगी थी, और अब क्षमा भी माँग चुकी थी .. और, उस सब से बढ़कर, उन्हें देवव्रत जैसा अनमोल उपहार प्रदान कर गयी थी।

अपने अनिश्चय में डूबते उतराते शान्तनु यह कभी नहीं भूले थे कि गंगा का निधन पुत्र देवव्रत के लिए जीवन की सर्वाधिक दुःखद घटना है.. एक ऐसा दुःख जिसकी पूर्ति न तो पिता का वरद हस्त कर सकता है और न हस्तिनापुर का वैभव। युवा देवव्रत के सिर से ममता की छाया हटी ही थी कि मातृ शोक का पर्वत उसके कोमल हृदय पर आ गिरा... किन्तु उसने, पिता के अतीत का आभास होने के कारण, वह आघात ऐसे झेल लिया जैसे शूरवीर क्षत्रिय अपने वक्षःस्थल पर शत्रुओ की बाण-वर्षा झेलते हैं।

शान्तनु अपने दुःख से कहीं अधिक, पुत्र का दुःख देखकर व्याकुल थे। वे देवव्रत को लेकर, पुत्र द्वारा माँ को जलांजलि दिलाने, महात्मा अश्विनी के आश्रम गये। उन्होंने पुत्र को गंगा-तट के उस घाट पर कुछ देर एकाकी छोड़ दिया जहाँ, ज्ञात हुआ था कि गंगा ने जल-समाधि ली थी। देवव्रत बड़ी देर तक उस तट पर मौन खोये-खोये से बैठे रहे।

कुछ कहने में असमर्थ, शान्तनु ने धीरे से पुत्र के पास जाकर सिर पर हाथ फेरते

हुए उसे उसकी तन्द्रा से जगाया और उठाकर अपने हृदय से लगा लिया। हृदय ने हृदय से भले ही कुछ कहा हो... वे निःशब्द उसे बाँहों में भरे रथ की ओर बढ़ चले।

देवव्रत के लिए राज-प्रासाद का वातावरण जितना परकीय था उतना ही उनके शास्त्रीय ज्ञान से भिन्न था राज-काज। अपने आपको नयी जीवन-शैली में ढालते हुए, राज्य-संचालन की व्यावहारिकता समझने में उन्हें कुछ समय लगा... और उसी अवधि ने मातृ-वियोग की पीड़ा पर कुछ शामक लेप भी लगाये होंगे। देवव्रत के मन से माँ के निधन की पीड़ा का दंश कुछ कम तो हुआ था किन्तु वे ममता की छाँव में बिताये क्षणों की स्मृति से मुक्त नहीं हो पाते थे। राज-प्रासाद में उपलब्ध सारे सुख उन्हें माँ के सान्निध्य के सुख से बढ़कर कभी नहीं लगे... और नयी समस्याओं से उलझते हुए भी, बीच-बीच में, अनजाने ही, ऐसे क्षण आ ही जाते थे जब माँ का स्मरण उन्हे उद्वेलित कर देता था। तब... अन्य कहीं आश्रय न पाकर, विवश होकर वे गंगा के उस तट पर जा बैठते थे जहाँ उनकी माँ ने जल-समधि ली थी। यहाँ लहरों से उठकर आता हुआ पवन का प्रत्येक झोंका उन्हे माँ के स्पर्श जैसा ही प्रतीत होता था। माँ का दिया हुआ अन्तिम सन्देश रह-रहकर उनके कानों में गूँजता रहता था–'जाओ पुत्र... जाओ। क्षमा करना अपनी अभागिन माँ को। अपनी दो भुजाओं से, आठ पुत्र बनकर सच्चे मन से अपने पिता की सेवा करोगे तो तुम्हारी माँ, जहाँ भी होगी, अपने आशीर्वाद की वर्षा तुम पर करती रहेगी...'

और वे मन-ही-मन प्रतीक्षा करते उस क्षण की जब वे, उस आदेश का पालन करते हुए, पिताश्री को आठ पुत्रों के सम-तुल्य सुख पहुँचाएँगे... चाहे उन्हें दाँव पर अपने प्राण ही क्यों न लगाने पड़ जाएँ।

उधर शान्तनु, पुत्र देवव्रत को पाकर न केवल प्रसन्न थे, उसकी सेवा से हर प्रकार से सन्तुष्ट भी थे। दिन-प्रति-दिन उसके ज्ञान एवं योग

यताओं से परिचित होकर वे उससे और भी प्रभावित होते रहते थे... और स्वप्न देखते थे उस दिन का, जब देवव्रत का राज्य पर अभिषेक करके वे वानप्रस्थ ग्रहण करेंगे... और उसके शासनकाल में हस्तिनापुर समृद्धि एवं गौरव के नये कीर्तिमान स्थापित करेगा।

राज्य के अनेक दायित्व देवव्रत को सौंपकर शान्तनु ने कार्याधिक्य से थके मन एवं शरीर को कुछ विश्राम देना प्रारम्भ किया। विश्राम जहाँ थके तन को कोमल शैया के हिंडोले से उड़ाकर स्वप्न-लोक ले जाता था, वहीं थका मन कोई उपवन अथवा नदी तट खोजने लगता था। बहुत दिन बाद, शान्तनु को लगा, जैसे प्रकृति से उनका पुनः परिचय हो रहा है। उन्होंने नये सिरे से पवन में डोलते वृक्ष देखे... वे पुष्प देखे

जिनके नाम वे वर्षों पहले भूल चुके थे... वृक्षों से लिपटी हुई लताएँ देखीं... पुष्पों पर मँडराते भँवरों का गुंजन सुना और रंग-बिरंगी तितलियाँ देखीं। इतने रंग होते हैं प्रकृति में! इतने सुन्दर और ऐसे अनगिनत प्रकार के रूपांकन होते हैं तितलियों के पंखों पर...! पहले भी होते ही होंगे... कौन जाने पहले भी देखे हों उन्होंने...! किन्तु वे भूल कैसे गये? बीच के दो दशकों में कैसे नहीं देखे?

प्रकृति में इतना कुछ है... सुन्दर भी और मनोहारी भी! किन्तु सबकी दृष्टि सब कुछ कभी नहीं देख पाती। कैसी विचित्र बात है! और एक ही दृश्य दो दर्शकों के मन पर एक-सा प्रभाव डाले, यह भी आवश्यक नहीं होता। और दो क्या ... एक ही व्यक्ति को, वही दृश्य कभी मनोहारी लगता है और कभी दु:खदायी। विस्तृत नीलाकाश में खिले पूर्ण चन्द्र को देखकर आश्चर्य में शान्तनु दार्शनिक होने लगते थे। कभी कोयल की कूक उन्हें नये सिरे से आकर्षित करती, तो कभी सरिता की तरंगों से उठती कल-कल ध्वनि।

उन्ही दिनों...

नौका से सरिता पार करते समय, तट पर बैठी एक सुन्दर कन्या पर शान्तनु की दृष्टि पड़ी। सुन्दर, आभूषण-हीन, तन पर एक स्वच्छ परिधान और सिर पर एक वेणी में बँधी घनी, श्यामल केशराशि। बिना हिले-डुले लहरों की ओर निहारती वह जैसे किसी गहन चिन्तन में लीन थी। वह छवि शान्तनु की स्मृति में अंकित हो गयी... और, अकारण ही, अनेक बार उनकी स्मृति में उभरती रही।

संयोग... कि जब शान्तनु सरिता पार जाकर लौटे तो उन्हें, दूर से ही, वह मन पर अंकित दृश्य दिखाई दिया। वह कन्या उसी स्थान पर, उसी मुद्रा मे बैठी थी... जैसे लहरें गिन रही हो। उन्हे आश्चर्य हुआ... और कौतूहल भी, कि कहीं वह कोई मूर्ति तो नहीं!

संयोग भी तो सम्भव है... उनके मन में तर्क उठा। कौन जाने, उनके जाते समय उनकी नौका दृष्टि से ओझल होते ही वह उठी हो और गृह-काज निपटाकर, सखियों के साथ जीभर खेलकर एवं उनसे वार्तालाप करने के बाद, किसी कारणवश पुन: वहाँ आ बैठी हो... मात्र संयोगवश... ठीक उस समय जब वे नौका पर लौट रहे थे।

कौतूहलवश, नौका से उतरकर वे उस कन्या की ओर बढ़े... किन्तु संकोचवश, उससे कुछ दूर ही, एक वृक्ष के निकट ठिठक गये। इतने बड़े राज्य का शासक अकारण किसी कन्या के निकट जाकर क्या कहेगा... क्या देखेगा? उल्टे सम्भवत: अन्य सभी उनकी ओर देखने लगें और... कौन जाने क्या-क्या कहने लगें! किन्तु, दूर पर खड़े ही, उनकी दृष्टि उस कन्या के सौन्दर्य को सराहती रही। उन्हें लगा सौन्दर्य में कितना आकर्षण होता है... यह जाने कितने वर्षों से वे भूल ही गये थे। पिछले दशक में, कौन जाने उससे भी अधिक में... क्या उन्होंने कोई सुन्दर कन्या नहीं देखी!

कहाँ जा छिपा था सारा सौन्दर्य...?

पता नहीं, कितनी देर वहाँ खड़े वे मुग्ध भाव से उस सौन्दर्य का रस लेते रहे थे... किन्तु उनकी एकाग्रता सहमा तब भंग हुई जब उनके सारथि ने आकर प्रणाम किया और प्रतीक्षारत रथ के विषय में सूचना दी।

अपने विचारों में डूबे हुए ही शान्तनु मार्ग भर मौन धारण किये रहे। राज-प्रासाद पहुँचकर जब सारथि ने उनके उतरने की प्रतीक्षा में सामने पहुँचकर अंजलि बाँधी, तब उन्हें सहसा विस्मय हुआ कि, मार्ग में कोई दृष्य देखे बिना, वे इतनी शीघ्रतापूर्वक राज-प्रासाद तक कैसे आ पहुँचे। कैसे .. मार्ग के दृश्यों के स्थान पर आँखों के मम्मुख मात्र एक सुन्दर छवि छायी रही!

जाने वह कौतूहल था... अथवा सम्मोहन, जो शान्तनु को बारम्बार सरिता के उस सुदूर तट पर ले जाता था। सारथि की जिज्ञासा से बचने के लिए वे बहुधा अपना रथ स्वयं ही चलाकर लाते थे... और अश्वों को रथ से मुक्त कर, चरने के लिए छोड़कर, उसी तट के आस-पास, किसी न किसी निमित्त, भ्रमण करते थे। दूसरी बार उस कन्या को वहाँ बैठे न पाकर शान्तनु को हर्ष हुआ कि वह मूर्ति तो नहीं ही है। किन्तु कहाँ गयी...? शीघ्र ही उन्होने उसे एक निकटवर्ती कुटी से निकलते देखा। वह गायों को चारा दे रही थी... और कुछ ही देर में पुन: कुटी में ही ओझल हो गयी।

लौटते समय अकस्मात् शान्तनु को लगा कि... कुछ ऐसा ही सम्मोहन उन पर हुआ था, वर्षो पूर्व. . तब, जब उन्होंने पहली बार गंगा को देखा था। तो क्या... पुन: उनके हृदय में प्रेम का ज्वार उठा है! अब... जीवन के तृतीय काल-खंड में प्रवेश करते समय! और वह भी एक युवती के प्रति, जो आयु मे उनसे आधी .. अथवा उससे भी कम होगी। यह जाने बूझे बिना कि वह क्या है, कौन है? जो भी हो... उनकी बुद्धि उन्हें आश्वस्त करती, वह विवाहित नहीं है... ऐसा कोई लक्षण नहीं है उसके मुख अथवा तन पर। वह चाहे कुमारी हो अथवा विधवा ..

अनेक बार उस तट पर पहुँचकर शान्तनु की व्यग्र दृष्टि ने उसे खोजा... कभी वह गृहकाज करती दिखी तो कभी, पहले की ही भाँति, सरिता की लहरें गिनती हुई सी। शान्तनु को शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि वह, सम्भवत: कर्तव्यवश कुछ गृह-कार्य जैसे तैसे पूरा करके, अवसर मिलते ही सरिता तट पर मूर्तिवत् बैठने के लिए जा पहुँचती है। क्या है वहाँ! क्यों वह, अपनी आयु के विपरीत, इतनी गम्भीर एवं शान्त है?

प्रासाद में, अपने एकान्त क्षणों में वे उस कन्या के विषय में सोचते-सोचने गंगा के विषय में भी सोचने लगते थे। कभी तुलना करते उन दोनों की, तो कभी कल्पना में ही गंगा के स्थान पर उसे पाकर प्रमुदित हो उठते।

जाने कितनी बार वे उस कन्या को सरिता तट पर, एकाकी, सरिता की तरंगों

में खोया हुआ देख चुके थे। अनेक बार उनके मन में प्रश्न उठा था कि वह इतनी गम्भीर मुद्रा में क्यों बैठी रहती है? क्या चिन्ता है उसे? इस आयु में तो इसे परिवार क
बीच... अथवा सहेलियों के बीच हँसते-खेलते दिखना चाहिए..

एक दिन दैव-वश, अपने सारे संकोच भुलाकर, वे उसके सम्मुख जा खड़े हुए और बिना किसी भूमिका के प्रश्न कर बैठे, "देवि! क्या कोई कष्ट है तुम्हें? मैंने तुम्हें यहाँ अनेक बार गम्भीर मुद्रा में बैठे देखा है।"

"मान्यवर..." सहसा अपनी तन्द्रा त्यागते हुए उसने उत्तर दिया, "कष्ट किसे नहीं है इस संसार में? और कष्टों तथा चिन्ताओं में ही जीवन बिताना तो व्यक्ति की नियति है।"

"इतनी गम्भीरता.. तुम्हारी आयु से मेल नहीं खाती, सुन्दरि!" शान्तनु ने मुस्कराते हुए कहा, "यदि तुम्हें कोई कष्ट हो तो निःसंकोच कहो, मैं उसे दूर करने का प्रयत्न करूँगा।"

"आपका आभार, मान्यवर.." उस कन्या ने कहा, "किन्तु कुछ कष्ट नितान्त अपने होते हैं.. जो जीवन का अभिन्न अंग बन जाते हैं। जीव उन्हें भोगने के लिए विवश होता है।"

"इतना दार्शनिक हुए बिना... देवि, यदि बता सको " शान्तनु ने कहा, "तो तुम्हारा कष्ट दूर करने में मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

"क्या क्या गिनाऊँ...!" उसने कुछ सोचते हुए कहा, "कुल मिलाकर बस यही समझ लें कि मैं माता-पिता के लिए अनन्त दुःख एवं दुभाग्य का कारण हूँ.. लगता है कि मैं नितान्त अकेली हूँ, मेरा कोई नहीं है।"

"अकेला तो मैं भी हूँ, देवि ." अनजाने ही जन्मी सहानुभूति शान्तनु की वाणी बनकर प्रकट हुई होगी, "तुम मुझे स्वीकार करो.. तो मैं तुम्हारा एकाकीपन बाँटकर अपने आप को धन्य मानूँगा।"

उस कन्या के मुख पर आश्चर्य का कोई चिह्न नहीं उभरा लगा जैसे वह दुःख-सुख से उबरकर परम ज्ञान के कई सोपान चढ़ चुकी है।

"क्या इतना सरल होता है, मान्यवर.. किसी की पीडा हर लेना?" कन्या ने बड़े स्पष्ट शब्दों में पूछा।

"नहीं देवि..." शान्तनु ने भी अपने मन की बात स्पष्ट शब्दों में सुना दी, "यह तुम्हारी पीड़ा हरने का दम्भ नहीं है, यह तो प्रयास है मात्र अपने मन की पीडा बाँटने का। मेरा साथ स्वीकार करोगी सुन्दरि?"

कन्या की गम्भीर दृष्टि शान्तनु के मुख से हटकर ठोस धरती पर जा टिकी। लगा जैसे सरिता की तरंगों पर उठते गिरते, थक हारकर कहीं किनारा ढूँढ रही हो।

"तुमने उत्तर नहीं दिया...!" शान्तनु ने उसे मौन पाकर उसे कुछ निर्णय सुनाने के लिए प्रेरित किया।

"आप किसी उच्च कुल के प्रतीत होते हैं..." उसने दृष्टि उठाकर दूर देखते हुए कहा, "धनी भी और विद्वान भी... और मैं एक साधारण निषाद कुल की जार्या, अशिक्षित एवं संस्कारहीन। आप कुछ जानते भी तो नहीं मेरे विषय में..."

"मैं कुछ जानना भी नहीं चाहता." भावावेश मे शान्तनु बीच की हर भीत गिराने के लिए कटिबद्ध थे।

"जब आपको ज्ञात होगा कि..."

उसका वाक्य अधूरा ही छूट गया। शान्तनु ने लगभग उसे रोकते हुए कहा, "तब भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मैं तुम्हें तुम्हारे अतीत मे मुक्त कराके, नया भविष्य रचने के लिए आमन्त्रित कर रहा हूँ, देवि!"

कन्या की दृष्टि क्षणभर के लिए पुन: ठोस धरती पर जा टिकी। उन दोनों के संवाद के बीच सहसा उपजा हुआ मौन, शान्तनु के प्रश्न को दुहरा रहा था। कुछ ही क्षणो मे उसकी दृष्टि उठी और शान्तनु के नेत्रो पर जा टिकी... वहाँ उसे उत्तर के लिए प्रतीक्षारत, वही प्रश्न दिखाई दिया।

"तो आप मेरे पिता से मिलें.." मुख पर बिना कोई हर्ष अथवा विषाद लाए उसने कहा, "मै पिता की अवहेलना करके, उनका दु:ख और नहीं बढ़ाना चाहती।"

उस उत्तर से आश्वस्त होकर शान्तनु उस कन्या के साथ उसकी कुटिया की ओर चल दिये।

कुटिया का छोटा सा अग्रभाग देखकर यह अनुमान नहीं होता था कि उसके पीछे इतना फैला हुआ प्रांगण होगा... जिसमे कई वृक्ष होंगे और अनेक पशु भी।

वही एक वृक्ष के नीचे बाँस निर्मित, बान से बुनी शायिका पर बैठे व्यक्ति के सम्मुख शान्तनु को पहुँचाकर उस कन्या ने कहा, "बाबा, ये तुमसे मिलना चाहते हैं।"

अपने पिता के सम्मुख एक काष्ठासन पर शान्तनु को बिठाकर वह कहीं पार्श्व भाग मे ओझल हो गयी।

शान्तनु ने देखा.. वह व्यक्ति लगभग उन्हीं की आयु का होगा, किन्तु बहुत अन्तर आ जाता है मात्र जीवन-शैली से। वह देखने में शान्तनु से पन्द्रह-बीस वर्ष बडा दिखाता होगा... सम्भवत: इस कारण भी कि शान्तनु स्वयं अपनी आयु से दस पन्द्रह वर्ष कम दिखते थे।

शान्तनु उस व्यक्ति की आँखों मे पड़े लाल डोरे देखते ही भाँप गये कि वह

मद्य-पान किए हुए है। वह कुछ क्षण शान्तनु की ओर देखकर बोला, "कहो भाई, क्या काम है?" अपना वाक्य समाप्त करते-करते उसने मुड़कर, पास रखी हँडिया उठाकर एक मिट्टी के पात्र में कुछ उँड़ेला और हँडिया वहीं रख दी। पात्र को अपने होंठों के पास ले जाते हुए वह ठिठका... "पियोगे?"

उत्तर में शान्तनु ने हाथ जोड़ दिये... तो उसने एक बड़ा घूँट भरकर उनकी ओर पुनः देखा, प्रश्न दुहराने वाली दृष्टि से।

शान्तनु क्षण भर ठिठके... 'क्या यह समय संवाद के लिए उचित होगा!' किन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें लगा, बात तो करनी ही होगी। उन्हें भय लगा कि इस समय उसकी चेतना लुप्त नहीं हुई है... वह मदोन्मत्त नहीं है... फिर कभी आने पर पता नहीं किस स्थिति में हो! उन्होंने स्पष्ट ही अपना प्रस्ताव कह सुनाया।

"इससे...?" उस व्यक्ति ने कुछ आश्चर्य में पीछे मुड़कर पुत्री को खोजती-सी दृष्टि से पूछा, "सत्यवती से?"

"जी हाँ..." शान्तनु ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"हूँ..." उस व्यक्ति ने एक और घूँट भरा और दृष्टि उनके मुख पर टिका दी। "देखो भाई, तुम तो बड़े घर के दिखते हो... और मैं ठहरा मछुआरा। छोटे मे, सौ-सवा सौ निषाद परिवारों का मुखिया। तुम्हारी तो आयु भी कोई कम नहीं दिखती. . फिर. .."

"फिर बस यह..." शान्तनु को स्पष्ट शब्दों में संक्षिप्त उत्तर देना ही उचित लगा, "कि मैं सत्यवती से विवाह करना चाहता हूँ... उसे भी कोई आपत्ति नहीं है।"

"कब से जानते हो उसे?"

"क्या अन्तर पड़ता है!" शान्तनु ने मुस्कराते हुए कहा, "दो दिन अथवा दो वर्ष... मैं उसका विधिवत् पाणिग्रहण करना चाहता हूँ।"

निषाद ने उन पर पैनी दृष्टि डाली... भरपूर दृष्टि, जो मन की थाह लेने का मनोरथ लेकर चली थी। 'दृढ़ है अपने निश्चय पर। टलेगा नही...'

"क्या करते हो...?" उसी पैनी दृष्टि से देखते हुए निषाद ने पूछा।

"मैं... मैं तो..." शान्तनु लड़खड़ाए, किन्तु उन्हें लगा, बताना तो होगा ही... आज नहीं तो कल, "मैं हस्तिनापुर का शासक हूँ।" उन्होंने सहज स्वर में ही कह दिया।

"क्या...?" पहली बार में निषाद को स्पष्ट नहीं हुआ। समझने में उसे दो क्षण लगे... और उसकी आँखें आश्चर्य में फैल गयीं। "हस्तिनापुर के... कौन, महाराज?"

"जी..." शान्तनु ने सहज भाव से कहा, "मैं शान्तनु हूँ, मान्यवर।"

"महाराज शान्तनु!" निषाद ने तुरन्त ही मुड़ते हुए हाथ का मदिरा पात्र नीचे रखा, "अहो भाग्य हमारे। कुछ लग तो रहा था... पहचाना-सा, आपका रूप। पर क्षमा करें, मैंने सोचा भी नहीं था... इसलिए..." उसने उठने का प्रयास करते हुए कहा।

"नहीं आप कष्ट न करें..." शान्तनु ने निषाद को सहज बनाये रखने का प्रयत्न करते हुए कहा, "सौभाग्य तो मेरा जो आपके दर्शन हुए, सत्यवती के माध्यम से। अब हमारे जीवन को सुखमय बनाना आपके हाथ।"

"अरे हमारे हाथ क्या...!" निषाद ने उठकर शान्तनु की ओर बढ़ते हुए कहा और सिर झुकाये हुए हाथ उनके पैरों की ओर बढ़ाये। "आप तो बस आदेश दें।"

"अरे यह क्या करते हैं आप?" शान्तनु ने तत्परता से निषाद के हाथ अपने हाथों में थामते हुए कहा।

"प्रजा के नाते न सही..." निषाद ने उनके मुख की ओर मुस्कान बिखेरती दृष्टि डाली, "कन्यादान करने वाले पिता के नाते तो ये चरण छूने का अधिकार है मुझे।"

"यह आपका उपकार होगा मुझ पर..." शान्तनु ने मुस्कराते हुए निषाद के दोनों हाथ अपनी आँखों से लगा लिये। "मैं धन्य हुआ।"

"अरे जोधा...! अरे जलपत! कहाँ हो तुम सब..." निषाद ने मुड़कर पुकारते हुए कहा, "देखो तो कौन आये हैं... भाग जाग गये हमारे.."

शान्तनु ने निषाद से आग्रह करके शान्त रहने की प्रार्थना की, "अभी किसी से कुछ न कहें। मेरे जाने के पश्चात् तो आप सबको बताएँगे ही... बताना ही उचित होगा। किन्तु इस समय..." उनकी दृष्टि में भी विनती थी।

निषाद ने शान्तनु का आदेश स्वीकार किया और उनका संकेत समझते हुए वह उन्हें अपनी कुटिया के एक कक्ष में ले गया . जहाँ वे दोनों स्वस्थ चित्त होकर बैठे। निषाद के आग्रह पर शान्तनु ने थोड़ा नारंग-रस ग्रहण किया।

औपचारिक संवाद के बाद सहसा उन दोनों के बीच मौन उपजा, तो कुछ ही क्षणों में अपनी सहज वाक्पटुता से उसे तोड़ते हुए निषाद ने कहा, "सच पूछें तो महाराज ...मैं तो आपकी प्रतीक्षा कर ही रहा था..."

"मेरी प्रतीक्षा?" शान्तनु ने किंचित् विस्मय के साथ पूछा, "वह क्यों मान्यवर?"

"बात ही कुछ ऐसी थी..." निषाद ने अपनी बात को नाटकीय मोड़ देते हुए कहा, "सत्यवती की कुण्डली में ही योग है कि..."

"कैसा योग?" शान्तनु को उत्कण्ठा हुई।

"वो ऐसा है कि..." निषादराज को अपनी योजना के लिए रूपरेखा प्राप्त हो चुकी थी, "बचपन में ही ज्ञानियों ने बता दिया था कि यह कन्या बड़े राज-परिवार में जाएगी। अब कहाँ निर्धन निषाद, और कहाँ राज-परिवार! पर देख लें... और कहीं विवाह का योग ही नहीं बना। अटल होती है नक्षत्रों की बात... मैं सोच ही रहा था कि कौन-सा राजा आएगा, कहाँ से आएगा कब आएगा? कि आप आ गये।" चौड़ी मुस्कान के बीच से दाँतों ने प्रकट होकर विजय घोष किया।

शान्तनु से कुछ कहते नहीं बना। वे एक सलज्ज मुस्कान के साथ भूमि की ओर

देखते हुए, गम्भीर बने रहे... और धीरे से बोले, "भाग्य ही होगा... अन्यथा मैंने तो कल्पना भी नहीं की थी कि मैं पुनः विवाह के बन्धन में पड़ूँगा।"

"पुनः...!" निषादराज की आँखें आश्चर्य में संकुचित हो गईं, "अर्थात् आपकी पहले भी कोई पत्नी है?"

"नहीं..." शान्तनु ने शान्त रहते हुए कहा, "पहले थी... अब नहीं है। उसका देहान्त हो चुका।"

"ओहो..." निषादराज ने खेद ज्ञापन किया।

शान्तनु क्या कहते, मौन बैठे रहे?

"कोई सन्तान! पहली पत्नी से...?" निषादराज ने कुछ ठहरकर पूछा।

"एक पुत्र है..." उन्होंने सहज भाव से कहा, "लगभग अठारह वर्ष का।"

"अरे..." निषादराज के नेत्र अविश्वास में विस्फारित रह गये। "यह तो गड़बड़ हो गया।"

"क्या मान्यवर?" शान्तनु ने सहसा असहज होते हुए पूछा।

"यही..." निषादराज ने अत्यन्त गम्भीर होते हुए कहा, "कि आपके पुत्र है... युवा पुत्र!"

"इससे क्या...?" शान्तनु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "उसमे कोई दोष नहीं, बड़ा होनहार है वह।" अपना वाक्य पूरा करके वे निषाद के मुख का भाव पढ़ने का प्रयास करने लगे... जहाँ कोई विचित्र सी चिन्ता आ विराजी थी।

कुछ क्षण बाद निषादराज ने अपनी दृष्टि उनके मुख पर टिकाते हुए चिन्तित स्वर में कहा, "यह बात तो ज्ञानियों की भविष्यवाणी से मेल नही खाती।"

"क्या बात?" शान्तनु के स्वर में विस्मय था।

"सत्यवती के नक्षत्र तो कहते हैं कि इसका बेटा राजा बनेगा," निषादराज ने दो-टूक शब्दों में कह सुनाया।

शान्तनु क्षण भर के लिए अवाक् रह गये। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि उस बात का क्या उत्तर दें! उनके सामने आश्चर्य एव दुविधा की मूर्ति बने निषादराज बैठे थे और उनकी आँखें शान्तनु की ओर ही तनी थीं।

"मान्यवर..." शान्तनु ने अपने स्वर का सन्तुलन बनाये रखते हुए धीरे से कहा, "मेरा पुत्र तो पहले ही साम्राज्य का युवराज-पद प्राप्त कर चुका है। वह योग्य भी है और हर प्रकार समर्थ भी... सम्भवतः सत्यवती के विषय में की हुई भविष्यवाणी में कहीं कोई त्रुटि हो! किन्तु... उससे अन्तर भी क्या पड़ता है। भविष्य में जो होना है, वही होगा।"

"पड़ता है, अन्तर पड़ता है..." निषादराज ने किसी बड़े अनुभवी वृद्ध की भाँति गम्भीर स्वर में कहा और पीछे मुड़कर खोजते हुए अपना मदिरा-पात्र उठाया। कुछ

चिन्तित मुद्रा में सोचते हुए उसने अपनी बात बढ़ायी, "वह यह कि कोई दूसरा राजा इसके भाग में लिखा होगा... जो, आज नहीं तो कल, इसे ढूँढ़ता हुआ आ पहुँचेगा... कोई ऐसा जो सत्यवती से जन्मे पुत्र को ही अपना राज-पाट सौंपेगा।"

शान्तनु ने इस सम्भावना की कल्पना भी नहीं की थी। उन्हें लगा कि सहसा आकाश में उड़ान भरते समय किसी ने उन्हें भूमि पर ला पटका है। वे सोचते हुए बोले, "क्या आपको इतना विश्वास है... उन ज्ञानियों की भविष्यवाणी पर...?"

"अब विश्वास न करने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?" निषादराज ने कहते हुए अपनी आँखें ऐसे फैलायीं जैसे उन्हें प्रश्न करने वाले की बुद्धि पर आश्चर्य हो रहा हो। "अब तो उनकी बात भी सिद्ध हो चुकी... आप भी इत्ते बड़े महाराजा हैं, आप आये कि नहीं!"

शान्तनु को इस तर्क का कोई काट नहीं मिल रहा था। तभी निषादराज ने मौन तोड़ा, "या फिर..."

"फिर क्या...?" शान्तनु को लगा जैसे प्रकाश की कोई किरण अब भी शेष है।

'या फिर ये..." निषादराज ने अपनी लाल-डोरे वाली आँखें फिर उनके मुख पर गड़ा दीं, "ये कि आप अपने बेटे को समझा दें कि... पहले जो हुआ, उसे वह भूल जाए। अगला राजा नयी पत्नी का बेटा ही बनेगा।"

"ये... ये कैसे हो सकता है?" शान्तनु का मुख तमतमा उठा... और स्वर भी कुछ तीखा हो गया।

"हो सकता है... हो सकता है..." निषादराज ने अभय मुद्रा में हाथ उनकी ओर उठाकर शान्त रहने का संकेत करते हुए कहा, "क्यों नहीं हो सकता! आप कहें तो बेटा मानेगा आपकी बात। बेटे को पिता की बात माननी ही चाहिए।"

"नहीं... यह सम्भव नहीं है।" शान्तनु ने उठते हुए स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय सुना दिया, "यह कदापि नहीं हो सकता।"

"तब तो..." उसने अपने दाहिने हाथ से घुटना थपकते हुए धीरे से कहा, "लगता है मेरी बेटी के भाग में कोई और ही राज-परिवार लिखा है।"

शान्तनु ने मौन रहते हुए, गम्भीरतापूर्वक हाथ जोड़ दिये... और भारी मन से वे लौट पड़े। चलते-चलते एक बार उनका मन हुआ कि पीछे मुड़कर देखें... कौन जाने वह उन्हें पुकारना चाहता हो, अथवा समझौते के लिए किसी और विकल्प का प्रस्ताव करना चाहता हो। किन्तु पीछे मुड़कर देखना उन्हें अपनी गरिमा के अनुकूल नहीं लगा। उन्हें लगा, 'मैं इतना विक्षिप्त भी नहीं हूँ... कि...'

शान्तनु की धारणा के विपरीत समय ने जो स्थिति उत्पन्न की उससे यही सिद्ध हुआ कि वे वास्तव में विक्षिप्त ही थे... सत्यवती को लेकर। यह विक्षिप्तता सारे अंकुशों को नकारती हुई अनेक रूपों में प्रकट होती जा रही थी। मुख पर गम्भीरता, एकान्त-प्रियता, भूख एवं निद्रा का अभाव, संवाद के प्रति अनिच्छा, आदि... ऐसे लक्षण थे जो किसी से भी छिपे नहीं रहे, विशेषकर देवव्रत से। अनेक राज-संचालन सम्बन्धी विषयों पर देवव्रत ने उनका मत जानना चाहा... पर हर बार, कभी बात सुनकर, तो कभी सुने बिना ही उनका संक्षिप्त उत्तर कुछ यही होता कि, "तुम्हीं जो उचित समझो, निर्णय ले लो... अब कुछ ही समय में सब कुछ तुम्हीं को तो सँभालना है।"

ये परिवर्तन अचानक इस प्रकार उत्पन्न हुए थे कि कोई भी उन्हें अकारण अथवा स्वाभाविक समझने की भूल नहीं कर सकता था। देवव्रत ने हर प्रकार प्रयत्न करके अपने पिता से उनकी चिन्ता का कारण जानना चाहा, किन्तु हर बार मुस्कराने का प्रयास करते हुए उन्होंने, 'कोई विशेष बात नहीं...' जैसे वक्तव्यों द्वारा पुत्र को निश्चिन्त रहने का परामर्श दिया। किन्तु देवव्रत की चिन्ता इतनी सरलता से शान्त होने वाली नहीं थी। पिता के प्रति समर्पण उनके लिए मात्र धर्म नहीं, माता का आदेश भी था। उन्होंने राज-वैद्य से भी इस विषय पर चर्चा की... किन्तु उनको भी शान्तनु में किसी शारीरिक रोग का कोई लक्षण नहीं मिला।

उधर, शान्तनु का संसार सिमटकर उनके कक्ष तक सीमित हो गया था... बस कभी-कभी वे सारथि को लेकर कुछ समय के लिए बाहर जाते थे और, लौटकर, बिना किसी से कुछ कहे-सुने, अपने कक्ष में गुम-सुम होकर बैठ जाते थे। वे क्यों जाते हैं... यह वे स्वयं भी नहीं समझ पाते थे... किन्तु मन था, जो उनके वश में नहीं था। एक बार, दूर से ही सही, सत्यवती की झलक पा लेने का लोभ यदा-कदा उन्हें सरिता तट के उस सुदूर घाट पर ले जाता था, जहाँ से निराश होकर उन्हें लौटना पड़ा था। प्रारम्भ में उन्होंने सत्यवती से भी इस विषय पर चर्चा की थी... पता नहीं क्या सोच कर! किन्तु सत्यवती ने स्पष्ट शब्दों में अपनी विवशता उन्हें बता दी, "लगता है आपकी सेवा मेरे भाग्य में नहीं है... अभागी मैं, पिता को पहले ही बहुत दुःख दे चुकी हूँ... अब उन्हें और दुःख दूँ, इतना साहस नहीं है मुझमें..."

सहसा शान्तनु को विश्वास नहीं हुआ कि जीवन इतना क्रूर कैसे हो सकता है! और वह भी केवल उनके लिए! पुत्र के रूप में सुख की अपार सम्पत्ति पाकर जो शान्ति उनके मन को मिली थी, वह कामाग्नि ने देखते-ही-देखते राख कर दी। व्यर्थ था उनका राज-पद, व्यर्थ था उनका वैभव... जो एक साधारण से मछुआरे ने उन्हें अस्वीकार कर दिया! वे चाहते तो अपने राज-बल से...! किन्तु कैसे चाहते? वे न तो अपने संस्कार के विरुद्ध किसी निर्दोष पर बल-प्रयोग कर सकते थे, और न अपने

प्रिय पुत्र का अहित ही कर सकते थे। किन्तु इस विवशता में जो पीड़ा मन को मिली, उसे सह पाना भी तो उनके वश में नहीं था। सारे वैभव के बीच, मन वीतरागी होता जा रहा था।

देवव्रत ने पिता में सहसा उत्पन्न हुए परिवर्तन का गम्भीरता से अध्ययन किया। उन्हें लगा, ये परिवर्तन अकारण नहीं हो सकते। जब शारीरिक रोग नहीं हैं, तब हो-न-हो कोई मानसिक क्लेश है... कोई गम्भीर चिन्ता, जो तन को खा रही है। उन्होंने पिता के सम्मुख कहीं आखेट पर चलने का प्रस्ताव रखा... किन्तु शान्तनु ने मुस्कराकर उसे अस्वीकार कर दिया, "तुम जाओ पुत्र... अब मेरी आयु नहीं रही, आखेट की।"

इस अस्वीकार से बढ़कर पिता के नेत्रों तथा मुख-मण्डल पर जो मलिनता दिखी, उससे देवव्रत चिन्तित हो उठे। भला क्या हो सकता है इस अवसाद, इस शिथिलता का कारण! उन्होंने समस्या की जड़ तक पहुँचने का निश्चय किया।

देवव्रत ने पिता की दिनचर्या का अध्ययन करने पर पाया कि शान्तनु के अपने कक्ष तक सीमित एकान्तवास में केवल एक ही व्यवधान आता है... और वह है उनका रथ पर बैठकर कहीं गमन। देवव्रत ने यह भी पाया कि रथ पर जाते समय ही नहीं, आते समय भी उनकी मुद्रा गम्भीर ही बनी रहती है। क्या कारण हो सकता है? कहाँ जाते होंगे? किससे मिलते होंगे? कहीं किसी चिकित्सक से तो नहीं? अथवा किसी साधु-सन्त से? कहीं कोई व्याधि तो नहीं, जो राजवैद्य न समझ पाये हों... अथवा कहीं संन्यास लेने की योजना तो नहीं बना रहे हैं? देवव्रत चिन्तित हो उठे।

एक बार शान्तनु को रथ पर आरूढ़ होते देख वे पिता के पास पहुँचे और विनम्रतापूर्वक बोले, "पिताश्री! सम्भवत: आप भ्रमण के लिए जा रहे हैं... यदि आज्ञा दें तो मैं भी साथ चलूँ।"

"तुम.. ?" पुत्र का प्रस्ताव सुनकर वे सहसा असहज हो उठे... यह बात देवव्रत की प्रतिलब्धा दृष्टि से बच नहीं पायी। "कहीं नहीं पुत्र... मैं तो बस ऐसे ही जा रहा था, कुछ समय के लिए।"

"यदि आप आज्ञा दें तो..."

पुत्र को आग्रह करते देख, ऊहापोह में, वे क्षण भर मौन रहे... फिर एक बुझी-सी मुस्कान के साथ संकेत करते हुए बोले, "अच्छा, आ जाओ।"

सारथि के पूछने पर शान्तनु फिर दुविधा में दिखे... और बोले, "आज तुम ही ले चलो... जहाँ तुम्हारा मन चाहे। अथवा तुम..." उन्होंने देवव्रत की ओर सहसा मुड़ते हुए कहा, "तुम ही बताओ न! आज वहीं चले, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो।"

किन्तु मार्ग में निरन्तर उनका निस्तेज मुख और मौन देवव्रत के सन्देह की पुष्टि करता रहा। उन्हें विश्वास हो गया कि इस प्रकार पिताश्री के गन्तव्य का पता पा लेना

सम्भव नहीं होगा। अपनी खोज के लिए एक और मार्ग पर उनका ध्यान गया...

उन्होंने एकान्त में पिता के सारथि से स्पष्ट शब्दों में पूछा, "पिताश्री रथ पर कहाँ जाते हैं? किससे मिलते हैं?"

सारथि को कुछ संकोच तो था... अपने कर्तव्य की दृष्टि से, जिसमें बिना स्वामी की आज्ञा के कुछ भी बताना अधर्म था। किन्तु युवराज की आज्ञा भी अपनी जगह कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। फिर स्वामी की मनोदशा उससे भी छिपी नहीं थी। वह न तो कुछ पूछने की स्थिति में था... और न किसी को कुछ बताने की स्थिति में। ऐसे में युवराज का प्रश्न उसे अपनी उलझन से मुक्ति का मार्ग दिखा। उसने सारी बात देवव्रत को बता दी, "...और जिस दिन, महाराज मयूर घाट के निषाद के घर होकर लौटे थे... उस दिन बड़े म्लान दिखे थे। उस दिन के बाद से मैंने उन्हें प्रसन्न अथवा उल्लसित नहीं देखा।"

मयूर घाट का निषाद! क्या हो सकता है वहाँ? ऐसा क्या हो सकता है एक साम्राज्य के शासक तथा एक साधारण निषाद के बीच, जो चिन्ता का विषय बन जाए एक सर्व-सम्पन्न शासक के लिए? देवव्रत का मस्तिष्क सम्भावनाओं की आँख मिचौली में भटकने लगा।

"किन्तु पता नहीं ऐसा क्या है वहाँ..." सारथि की बात अभी शेष थी, "जो महाराज अब भी यदा कदा वहाँ जाते रहते हैं। घाट के निकट ही एक उपवन है... वहीं लता-कुंजों के बीच घण्टों बैठे हुए शून्य में न जाने क्या निहारते रहते हैं! मैं तो रथ लिये दूर खड़ा रहता हूँ, इस कारण इससे अधिक और कुछ नहीं जानता।"

पिताश्री की मनोव्यथा का सूत्र कहीं मयूर घाट के निषाद के हाथ में हो सकता है... देवव्रत ने इस सम्भावना से प्रेरित होकर स्वयं निषादराज से मिलने का निश्चय किया, अकेले ही... पिताश्री को बताये बिना। यह कहीं महाराज के प्रति अवज्ञा तो नहीं! पिता के कार्य-कलाप में झाँकने की अनधिकार चेष्टा तो नहीं! देवव्रत के मन में कुछ ऐसे प्रश्न भी उठे, किन्तु उनके पास अन्य विकल्प भी तो नहीं था।

उन्होंने भी अपना रथ घाट से कुछ दूर पर ही छोड़ दिया और अकेले, पैदल ही, निषादराज की कुटिया के सम्मुख जा पहुँचे। श्री सम्पन्न न होते हुए भी, वह कुटी उन्हें सुरुचिपूर्ण एवं व्यवस्थित लगी। वे कल्पना कर ही रहे थे कि उस कुटी का स्वामी कौन होगा, कैसा होगा... कि कुछ ही समय में वह हाथ जोडे हुए उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ। किसी ने उसे सूचना दे दी थी कि कोई राज अधिकारी उसे खोजता हुआ, उसके घर की ओर ही आ रहा है।

"आज्ञा करें स्वामी..." निषादराज के स्वर में विनम्रता थी, "कैसे कष्ट किया आपने? मुझे बुला लेते..."

उसके मन में यह भय भी था कि कहीं उसके द्वार से निराश लौटकर महाराज कोई बल-प्रयोग न करें। इस स्थिति के लिए कई विकल्प सोच रखे थे उसने... प्रजाजनों को साथ लेकर महाराज के बल-प्रयोग के विरुद्ध गुहार करके उन्हें लज्जित करेगा, या कन्या-दान के बदले निषाद-समाज के लिए आर्थिक सहायता माँगेगा... या अपने पुत्रों के लिए प्रशासन-तन्त्र में ऊँचे पद। किन्तु यदि पुत्री के बेटे को राज-पद मिलने वाला शुल्क-बन्ध स्वीकार हो जाए... तो क्या बात है! उसे पता था कि महाराज उसकी पुत्री के मोह-जाल में उलझ चुके हैं... कुछ मूल्य चुकाने के लिए तो तत्पर हो ही जाएँगे। कौन जाने यह राज-अधिकारी उसी सम्बन्ध में कुछ बात करने आया हो!

"आपके पास महाराज शान्तनु कुछ दिन पूर्व आये थे?" बैठकर व्यवस्थित होते हुए, प्रारम्भिक औपचारिकता के बाद, देवव्रत ने सीधे ही प्रश्न किया।

"आये तो थे..." कहते हुए निषादराज की आँखों में चमक आ गयी। उसे लगा महाराज ने सम्भवत: अपनी स्वीकृति भेजी है। या कम-से-कम वह मार्ग बन्द नहीं है... अब देखना यह है कि बात कहाँ बनती है! उसने उल्लसित होते हुए पूछा, "उन्होंने भेजा है आपको...?"

"नहीं... उन्होंने नहीं..." देवव्रत ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया, "उन्हें ज्ञात भी नहीं कि मैं आपके पास आया हूँ। ज्ञात होना भी नहीं चाहिए..."

"तो...?" निषादराज के मुख पर संशय मँडराने लगा था।

"वे यहाँ क्यों आये थे? क्या चर्चा हुई थी आप दोनों के बीच?" देवव्रत के स्वर में गम्भीरता ही नहीं, अधिकार का संकेत भी था।

"कुछ बड़ी व्यक्तिगत बात थी.." उसने सावधान होते हुए, संकोच के साथ कहा, "यदि मैंने बताया तो सम्भवत: महाराज क्रोध करें मुझ पर।"

"वह क्रोध नहीं करेंगे.." देवव्रत ने विश्वास भरे स्वर मे उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "आप निर्भय होकर बता सकते हैं।"

"किन्तु आप...?" निषादराज के मुख पर दयनीयता झलकने लगी थी।

"मैं..." देवव्रत ने क्षण भर मे निर्णय लेते हुए अपनी बात प्रारम्भ की, "मैं उनका पुत्र देवव्रत हूँ।"

"ओह... तो तुम्हीं हो वह पुत्र..." निषादराज ने दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कुछ व्यंग्य के साथ कहा, "जिसके लिए वे अपनी सारी इच्छाओं का... सारे सुखों का बलिदान करने पर तुले हैं।"

सुनकर देवव्रत के मुख का रंग उड़ गया। मैं... मैं हूँ अपने पिताश्री की चिन्ता का करण? उनके सुखों के मार्ग में बाधक? यह कैसे हो सकता है? उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

"यह क्या कह रहे हैं आप?" उनका स्वर कातर हो आया था।

"सच कह रहा हूँ... और क्या!" निषादराज ने जैसे विजय-मद में झूमते हुए कहा। उसे लगा कि भाग्य की बिसात पर बिखरे सारे पाँसे उसके हाथ आ लगे हैं।

"क्या... सच क्या है?" देवव्रत के नेत्र सीधे उसके मुख पर जा टिके और स्वर में आधिकारिक गमक लौट आयी थी।

"अब अपने पिता से ही पूछो, कुमार..." देवव्रत ने देखा निषादराज के मुख पर कुछ व्यंग्य का भाव था... या वह कुटिलता थी! "पिता के विषय में पुत्र के सामने वह सब कहना... ठीक नहीं लगता।"

"जो भी हो... जैसे भी..." देवव्रत के पास विकल्प भी नहीं था और, स्वयं अपना सन्दर्भ आ जाने के कारण भी, उनकी जिज्ञासा बढ़ चुकी थी, "वह तो आपको बताना ही होगा... मुझे ही... स्पष्ट शब्दों में।"

निषादराज को लगा कि अब तो बताना ही होगा... यद्यपि मन में कहीं भय भी था कि राजमद में चूर, यह नवयुवक, अपना अधिकार छिनते देख कहीं उग्र न हो उठे! किन्तु यदि ऐसा हुआ तो बदले में वह कुछ न कुछ तो दे ही देगा। उसने सारी घटना कह सुनायी।

देवव्रत, निषादराज के मुख पर दृष्टि जमाये, वह सारा वृत्तान्त सुनते हुए निरन्तर तर्कों से जूझते रहे... पिताश्री क्यों कर रहे हैं ऐसा? क्या यह उचित है... इस आयु में? तो क्या वे माताश्री को बिल्कुल भुला देंगे... उनकी स्मृति को भी? वैसे भी भुलाये ही रहे थे उन्हें... लगभग बीस वर्ष। उनकी कटु स्मृतियों को लेकर एकाकी जीवन बिताते रहे। किन्तु यह नयी स्त्री! सहसा कहाँ से आ गयी? किन्तु जो भी हो, उन्हें स्नेह है मुझ पर... वे चिन्तित हैं, व्यथित हैं... फिर भी उन्होंने इस नये सम्बन्ध के लिए मुझे अधिकार'से वंचित करने की बात स्वीकार नहीं की। तो मैं क्या करूँ?. .. मैं, जिसे माँ का आदेश है... पिता की सेवा करने का, पिता को सुख देने का... एक, अकेले ही, आठ पुत्र बनकर उनकी सेवा करने का!

"अब दैव के विधान को कौन बदल सकता है?" निषादराज ने अपना कथन समाप्त करते हुए कहा, "ज्ञानियों ने बता रखा है कि मेरी बेटी का पुत्र किसी बड़े राज्य का स्वामी बनेगा।"

"और जो ज्ञानियों ने नहीं बताया मान्यवर..." देवव्रत ने दृष्टि स्थिर रखते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा, "वह यह है, कि आपकी पुत्री का विवाह महाराज शान्तनु से ही होगा।"

"वह तो मैंने भी सोचा था... किन्तु तुम्हारे पिता तो कहते हैं कि उन्होंने तुम्हें युवराज बनाया है... और राज्य भी तुम्हीं को देंगे। इसी चिन्ता में तो वे दुःखी हैं।"

'पिता चिन्तित हैं, मेरे लिए... मेरे प्रति अगाध प्रेम के कारण वे अपने जीवन में

आये वसन्त को ठुकरा रहे हैं... अपने सुख का बलिदान दे रहे हैं...' देवव्रत ने सोचा, 'ऐसे स्नेही पिता के प्रति मेरा भी तो कुछ कर्तव्य है... क्या मैं छोटा-सा राज-पद नहीं त्याग सकता!'

"जो आपने सोचा था, वही होगा..." उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा, "समय आने पर आपकी पुत्री का पुत्र ही हस्तिनापुर का शासक बनेगा।"

"किन्तु तुम...!" निषादराज के नेत्रों में चमक तो आयी किन्तु तुरन्त ही संशय के बादलों में छिप गयी।

"मैं स्वेच्छा से युवराज-पद का त्याग करता हूँ..." देवव्रत ने शान्त रहते हुए कहा, "आप निश्चिन्त होकर विवाह का प्रबन्ध करें।"

निषादराज के नेत्रों में चमक लौट आयी... "धन्य हो तुम... धन्य हैं महाराज तुम्हारे जैसा पुत्र पाकर।" उसने उल्लसित होते हुए कहा, "जाओ... जाकर महाराज को शुभ समाचार सुनाओ।"

देवव्रत ने अपने आसन से उठते हुए प्रणाम किया और वे लौटने के लिए मुड़े ही थे... कि उनके कानों में व्यग्र-सा स्वर पड़ा, "किन्तु... सुनो तो!"

उन्होंने मुड़कर देखा तो निषादराज का चिन्तित मुख दिखाई दिया।

"क्या मान्यवर?" उन्होंने शान्त रहते हुए ही पूछा।

"नहीं, नहीं... अरे तुमने तो वचन दे दिया, किन्तु..." निषादराज के स्वर में चिन्ता ही नहीं आक्रोश भी था।

"किन्तु क्या?"

"किन्तु ये कि... कल तुम्हारा विवाह होगा, और तुम्हारे पुत्र राज्य पाने के लिए अड़ गये तो... तब क्या होगा?"

"यदि आपको यह भी भय है तो..." देवव्रत को उत्तर देने में विलम्ब नहीं हुआ, "तो मैं वचन देता हूँ कि मेरे पुत्र ऐसा नही करेंगे। मैं उन्हें ऐसा कदापि नहीं करने दूँगा।"

निषादराज इस पर भी सन्तुष्ट नहीं दिखे, "नहीं राजकुमार, कोई अपने लिए प्रण भले ही कर ले, किन्तु सन्तान पर सबका वश नही चलता। यदि कोई पुत्र न माना तो?"

"अब मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ..." देवव्रत ने अधीर होते हुए कहा, "आप जो कहें, मैं वह वचन देने को तैयार हूँ... कहिए तो मैं विवाह ही न करूँ!"

"ठीक तो यही होगा..." निषादराज ने अविश्वास में खीसें निपोरते हुए कहा, "किन्तु बिना विवाह किये रह पाना क्या कोई सरल बात है!"

"यदि वही ठीक है आपकी दृष्टि में तो मैं वचन देता हूँ कि..." देवव्रत ने उद्विग्न होते हुए कहा, "मैं विवाह नहीं करूँगा।"

"और यह वचन टूटा तो..." निषादराज ने अविश्वास में कहा।

"वचन नहीं टूट सकता... कदापि नहीं," देवव्रत ने तमतमाये मुख से स्वर ऊँचा करते हुए कहा, "क्योंकि यह मेरा वचन है... गंगा पुत्र देवव्रत का वचन। और यदि अब भी विश्वास नहीं है... तो मँगाइए गंगाजल, बुलाइए अपने ग्रामवासी बन्धुओं को... मैं सारे समाज के सामने प्रतिज्ञा करूँगा।"

"नहीं... नहीं कुमार..." निषादराज ने स्वर बदलते हुए कहा। "आपका वचन ही बहुत है... फिर भी आप चाहें तो..." उसने मुड़कर धीमे स्वर में अपने बेटे से कहा, "जा दौड़ के, तनिक गंगा-जल तो ले आ... हाँ... समझ गया न!"

देवव्रत ने देखा निषादराज के मुख पर काइयाँपन स्पष्ट उभर आया था। उनके ऊँचे स्वर से पास खड़े चार-पाँच व्यक्ति कुछ सहमे हुए दिखाई दे रहे थे। उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि सार्वजनिक रूप से उनकी परीक्षा की घड़ी आ रही है। तभी उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति पात्र में जल लिये आ रहा है... उसके पीछे दस बारह लोगों का एक समूह भी है।

"वैसे तो आपका वचन ही बहुत है," निषादराज ने अति-विनम्र होते हुए जल-पात्र हाथ में लेकर उनकी ओर बढ़ाया, "किन्तु आप कहते ही हैं तो..."

देवव्रत ने वह पात्र लेकर, जल अपनी दाहिनी अंजलि में भरा और वह भुजा ऊपर उठाते हुए ऊँचे स्वर में कहा, "मैं गंगा-पुत्र देवव्रत, धरती, आकाश, पवन, जल तथा अग्नि को साक्षी बनाकर... सम्पूर्ण समाज के सम्मुख, माँ गंगा की पवित्र स्मृति तथा पिताश्री शान्तनु की सौगन्ध लेकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि.."

वहाँ उपस्थित सभी जनों के लिए वह दृश्य अकल्पनीय था। वे सब चित्र लिखे से अवाक् होकर देख रहे थे... बिना पूरी तरह जाने समझे कि वहाँ क्या हो रहा है, उसका क्या अर्थ है। तभी उन सबके सम्मुख अंजलि से जल गिराते हुए देवव्रत ने अपना वाक्य पूरा किया, "मैं हस्तिनापुर के राज्य से अपना अधिकार स्वेच्छा से छोड़ रहा हूँ... और मैं आजीवन अविवाहित रहूँगा।"

क्षण भर के लिए तो निषादराज को भी लगा कि यह क्या हो गया.. क्या यह आवश्यक था? क्या उसने यह ठीक किया?

"अब तो आप सन्तुष्ट हैं, मान्यवर?" देवव्रत ने स्वयं ही कुछ क्षण बाद वहाँ उपजे मौन को भंग किया, "यदि और कोई अन्य शुल्क-बन्ध हो तो वह भी बता दें।"

निषादराज ने धीरे से उठते हुए आगे बढ़कर उनका हाथ अपने हाथों में लेकर आँखों से लगा लिया, "तुम धन्य हो कुमार... तुम्हारी पिता भक्ति धन्य है। महाराज धन्य हैं... तुम्हारे जैसा बेटा पाकर। बस और कुछ नहीं... और कुछ नहीं।"

यह क्षण भर पहले वाला वही काइयाँ व्यक्ति कह रहा था। वह स्तम्भित एवं

यह क्षण भर पहले वाला वही काइयाँ व्यक्ति कह रहा था। वह स्तम्भित एवं अवाक्-सा, देवव्रत को उनके रथ तक पहुँचाने आया। उसके पीछे वहाँ उपस्थित सभी व्यक्तियों का समूह था... वे सभी मौन थे... आक्षोभ की स्थिति में।

देवव्रत उन सबको प्रणाम करके रथ पर आरूढ़ हुए। चलते-चलते उन्होंने कहा, "आप अपनी ओर से प्रबन्ध करके रखिएगा... वह शुभ दिन शीघ्र ही आएगा।"

देवव्रत

देवव्रत का रथ आँखों से ओझल हुआ तो मयूर घाट के वासियों को सहसा चेत हुआ। उन्होंने जो कुछ देखा, जो सुना, उस पर उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। पता नहीं, वे आतंकित थे अथवा मन्त्र-मुग्ध...! उन्होंने एक-दूसरे की ओर बड़ी निरीह दृष्टि से देखा, जैसे पूछ रहे हों... 'यह क्या हो गया! ऐसी भीषण प्रतिज्ञा! एक पुत्र द्वारा... अपने पिता के लिए! ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा! धन्य है...'

अपने मन्तव्य में सफल होकर भी निषादराज के मन पर भार था। उसमें साहस नहीं था कि वह प्रसन्न मुद्रा में दौड़कर अपनी पत्नी को, बेटी को यह सुखद समाचार सुनाए। रह-रहकर उसका मन कहता था, 'यह अच्छा नहीं हुआ... क्या मैंने जो किया, ठीक किया!'

उधर कुमार देवव्रत के रथ की गति को पछाड़ता हुआ, उनकी प्रतिज्ञा का समाचार उनके राज-प्रासाद पहुँचने के पूर्व ही महाराज शान्तनु तक जा पहुँचा था। देवव्रत का रथ राज-प्रासाद के परिसर में पहुँचा ही था कि उन्होंने पिताश्री को अपने सम्मुख उद्विग्न खड़ा पाया।

"यह क्या किया तुमने, कुमार?" देवव्रत रथ से उतरकर प्रणाम करें, उसके पूर्व ही शान्तनु ने अशान्त स्वर में पूछा।

"क्या पिताश्री?"

"तुम मयूर घाट गये थे?" बिना किसी भूमिका के उन्होंने स्पष्ट शब्दों में प्रश्न किया, "किसने बताया तुम्हें निषाद-कन्या के विषय में...? और क्या प्रतिज्ञा करके आये हो तुम?"

देवव्रत को सारी स्थिति स्पष्ट हो गयी। मन-ही-मन उन्होंने प्रशासन के कुशल सूचना-तंत्र की सराहना की... किन्तु सम्मुख खड़े प्रश्न उन्हें यथार्थ की ओर खींच रहे थे।

"पिताश्री..." उन्होंने अतिरिक्त विनम्रता के साथ कहा, "मेरा अविनय क्षमा करें, आपकी अवज्ञा अथवा अवहेलना की कोई इच्छा नहीं थी मेरे मन में। बस आपकी चिन्ता एवं आपके स्वास्थ्य के प्रति जिज्ञासा मुझे मयूर घाट तक ले गयी थी। वहाँ जो कुछ हुआ वह सहज पुत्र-धर्म के पालन..."

"नहीं कुमार, नहीं..." शान्तनु अशान्त हो उठे, "वंश-बेल को काटने वाला कर्म पुत्र-धर्म नहीं हो सकता, कदापि नहीं..."

"नहीं पिताश्री... आप उद्विग्न न हों," देवव्रत ने पिता का हाथ अपने हाथों में लेकर, नेत्रों से लगाते हुए, मनुहारती वाणी में कहा, "ऐसा कुछ नहीं किया मैंने। परमात्मा वंश-बेल के विस्तार हेतु नयी शाखाएँ प्रदान करेगा... हम सबके लिए सुख एवं शान्ति के नये द्वार खुलेंगे।"

"नहीं कुमार..." शान्तनु का स्वर उत्तेजना में ऊँचा हो गया था, "तुमने मुझे इतना स्वार्थी मान लिया कि अपने थोड़े-से सुख के लिए मैं पुत्र का... अपने पुत्र का जीवन नष्ट कर दूँगा।"

"नहीं पिताश्री..." देवव्रत ने पिता को समझाते हुए कहा, "पिता की चिन्ता दूर करके तो पुत्र का जीवन बस सार्थक होता है, धन्य होता है।"

"मेरी चिन्ता..." शान्तनु अधीर हो उठे थे, "मुझे यदि कोई चिन्ता थी भी तो मात्र क्षणिक थी... दो-चार दिन की थी, निरर्थक थी... इस आयु में कोई महत्त्व नहीं रखती। किन्तु तुम्हारा जीवन तो प्रारम्भ ही हुआ है अभी..."

"मेरे लिए बड़े गौरव की बात है, पिताश्री..." देवव्रत ने मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "कि जीवन का प्रारम्भ मैं, पिता के चरणों में, उनका मनचाहा पुष्प अर्पित करके कर रहा हूँ।"

"नहीं कुमार...! कान खोलकर सुन लो," शान्तनु ने स्पष्ट स्वर में निर्णय सुनाते हुए कहा, "ऐसा भीषण मूल्य चुकाकर यह भेंट मुझे स्वीकार्य नहीं है।"

तमतमाये मुख से अपना वाक्य समाप्त करते शान्तनु, पाँव पटकते हुए, अपने भवन की ओर लौट गये।

रात्रि के दूसरे प्रहर में देवव्रत ने जब पिता के कक्ष में प्रवेश किया तो उन्हें सिर झुकाये कक्ष की दो भीतों के बीच, उद्विग्न घूमते हुए पाया। कक्ष का मद्धिम प्रकाश उनकी मन:स्थिति की ओर संकेत कर रहा था। देवव्रत को ज्ञात हुआ था कि पिताश्री ने भोजन अस्वीकार कर दिया है...

"पिताश्री..." उन्होंने धीरे से पास जाकर कहा, "भोजन आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

शान्तनु ने रुकते हुए पुत्र की ओर देखा... जैसे वे समझ न पा रहे हों कि अपना असन्तोष किन शब्दों में व्यक्त करें। "तुम जानते हो कुमार... जब तक मेरा मन अशान्त है, मैं भोजन नहीं कर सकता।"

उपयुक्त शब्दों की खोज देवव्रत की भी समस्या थी। किन्तु कुछ तो कहना ही

था उन्हें। उन्होंने कहा, "आपने भोजन नहीं किया... तो मैं कैसे करता! और हम दोनों को भूखा देखकर, भवन के सारे कर्मचारी अन्न-जल त्याग बैठे हैं, पिताश्री।"

"इस समस्या का निवारण तो तुम्हीं कर सकते हो कुमार..." शान्तनु ने गम्भीर होकर कहते हुए सहसा अपना स्वर बदला, जैसे पुत्र से विनती कर रहे हों, "अपना हठ छोड़ दो... भूल जाओ अपनी प्रतिज्ञा... बचा लो मुझे आत्म-ग्लानि से... अन्यथा मैं किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रह जाऊँगा, कुमार! स्वयं अपनी ही दृष्टि में गिर जाऊँगा।"

"इतनी छोटी-सी घटना के कारण अपना मन न दुःखाएँ, पिताश्री!" देवव्रत ने उन्हें स्नेह-सहित एक भद्रासन पर बैठाया और वे उनके पास ही भूमि पर बैठ गये, "मैंने जो कुछ कहा... जो किया, वह स्वयं अपनी चिन्ता दूर करने के लिए किया... अपने पिता के सुख के लिए किया, पुत्र धर्म के नाते। यदि आप दुःखी होंगे तो मेरा किया-धरा सब व्यर्थ हो जाएगा।"

"नहीं पुत्र, नहीं..." शान्तनु ने रुआँसे स्वर में पुत्र के सिर पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहा, "तुम्हारा किया-धरा तो तुम्हें अमर कर देगा... तुम्हें संसार का सर्वाधिक पितृभक्त होने का गौरव प्रदान करेगा... किन्तु मेरे जीवन की सारी उपलब्धियों पर पानी फेर देगा... मुझे, स्वार्थी एवं कामी की छाप देकर, महाराज ययाति की श्रेणी में खड़ा कर देगा। मेरी प्रार्थना मान लो पुत्र... मेरी विनती मान लो। भूल जाओ अपनी वह भीषण ...भीष्म-प्रतिज्ञा।"

"ऐसी छोटी-छोटी प्रतिज्ञाएँ भूलने लगा पिताश्री, तो मैं जीवन मे क्या करूँगा! किसे मुँह दिखाऊँगा?"

"तुम्हें किसने अधिकार दिया था, देवव्रत!" शान्तनु को सहसा रोष हो आया, "किसने अधिकार दिया, मेरे पुत्र के जीवन से खेलने का?"

उस रोषपूर्ण स्वर के बाद कक्ष में सन्नाटा घिर आया। उसके बीच पुत्र के मुख पर तने पिता के नेत्र परिदृश्य को और भी भयावह बना रहे थे। देवव्रत को स्थिति पर नियन्त्रण पाना दुष्कर प्रतीत हो रहा था। उनके तूणीर में शत्रुओं को परास्त करने वाले बाण भले ही भरे हों, आहत स्नेह का उपचार करने वाला कोई भी लेप नहीं था। वे कातर स्वर में बोले, "पिताश्री! मुझमें ऐसा साहस कहाँ कि आपको दुःख पहुँचाऊँ! मुझसे अज्ञानतावश अथवा बाल-क्रिया में कोई अपराध हो गया हो तो, जो हो चुका उसे बिसराकर, मुझे क्षमा प्रदान करें।"

"उसे बिसराना क्या सरल है, कुमार!" शान्तनु अधीर स्वर में ही बोले, "कैसे भूल जाऊँ कि तुमने मेरी वंश-बेल पर कुठाराघात किया है। भविष्य का प्रत्येक दिन... प्रत्येक दिन, तुम्हें एकाकी जीवन बिताते देखकर मुझे स्वयं अपना जीवन अभिशाप लगेगा... यह भला तुम कैसे समझोगे? तब समझोगे एक अभागे पिता की

पीड़ा, जब तुम स्वयं पिता बनोगें... किन्तु परमात्मा न करे, तुम्हें ऐसा दिन देखना पड़े, देवव्रत! अब तो बस एक ही मार्ग है मेरा दुःख हरने का..."

"आप आज्ञा तो करें पिताश्री..." देवव्रत ने पिता का वाक्य काटते हुए तत्परता से कहा।

शान्तनु सहसा शान्त हो गये। उनकी दृष्टि पुत्र के मुख पर जड़ गयी। वे देवव्रत का हाथ अपने हाथों में लेते हुए उनकी आँखों में झाँकते हुए बोले, "कि भूल जाओ मयूर घाट के उस लोभी निषाद को... भूल जाओ अपनी प्रतिज्ञा और ..."

"नहीं पिताश्री..." देवव्रत ने झटके में अपना हाथ खींचते हुए धरती पर पटक दिया, "नहीं . ऐसा न कहें। आपके सुख के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ... सब कुछ करने को तत्पर हूँ... प्राण भी दे सकता हूँ, किन्तु प्रण नहीं तोड़ सकता।"

"क्यों नहीं .। क्यों नहीं? मेरे सुख के लिए..." शान्तनु और भी अधीर होते जा रहे थे।

"क्योंकि आपके सुख के लिए ही तो मैंने वह प्रतिज्ञा की थी।"

"मेरा सुख ..?" शान्तनु ने, कुछ व्यंग्य में, प्रताड़ित करते हुए कहा, "तुम क्या जानो कि मेरा सुख किसमें है। मेरे क्षणिक मोह को तुम मेरा सुख कैसे मान बैठे? वह सुख नहीं, छलावा था। मैं भटक गया था कुछ काल के लिए। मेरी आयु में वह इच्छा अनावश्यक ही नहीं अव्यावहारिक भी थी। मैं कुमार्ग पर भटक गया था कुमार .. तुम सुख देने के बहाने मुझे जीवन का सबसे बड़ा दुःख नहीं दे सकते पुत्र! मैं अपने अस्थि-पंजर अनुप्राणित करने के लिए तुम्हें अपने किशोर-जीवन की बलि नहीं देने दूँगा पुत्र... कदापि नहीं..."

"किन्तु पिताश्री..." देवव्रत ने परास्त स्वर में कहा, "जो हो चुका... गतासून अगतासूनश्च. ."

"जो हो चुका... उसी का तो परिशोधन करना है तुम्हें।"

"वह मेरे वश में नहीं है पिताश्री।"

"क्यों नहीं है?" शान्तनु ने अपने प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कहा, "क्या कारण है कि पुत्र पिता की आज्ञा मानने में. . प्रार्थना स्वीकार करने में विलम्ब कर रहा है?"

"नहीं पिताश्री .." देवव्रत ने हाथ जोड़कर अश्रुपूरित नयनों से पिता की ओर देखते हुए, "ऐसी आज्ञा न दें, जो मैं प्राण देकर भी पूरी न कर पाऊँ. ."

"क्या बाधा है पुत्र?" शान्तनु ने उनके अश्रु पोंछते हुए, समझाते हुए कहा, "भूल जाओ वह वचन..."

"कैसे भूल जाऊँ वह वचन।" देवव्रत ने और भी अधीर होते हुए कहा, "बचपन से पढ़े पाठ पर आधारित वचन, कि क्षत्रिय के लिए प्रण प्राणों से बढ़कर होता है... और.. "

शान्तनु ने उनका वाक्य पूरा नहीं होने दिया और बोले, "अज्ञानतावश किया हुआ प्रण कोई महत्त्व नहीं रखता पुत्र... और फिर पिता की आज्ञा से तोड़ा हुआ वचन तुम्हें कदापि पाप का भागी नहीं बनने देगा।"

"किन्तु पिताश्री..." देवव्रत गम्भीर स्वर में बोले, "वह वचन अज्ञानतावश नहीं था... और कैसे तोड़ दूँ वह प्रतिज्ञा जो माँ की पावन स्मृति को और पिता के चरणों को आधार बनाकर की थी मैंने...? कैसे कलंकित कर दूँ अपनी उस माँ का नाम जिसने मुझे अकेले ही, आठ पुत्र बनकर, पिता को सुख देने की एक मात्र आज्ञा दी थी? कैसे कलंकित कर दूँ उस पिता का नाम, जिसने मेरे अधिकार की रक्षा के लिए अपने स्वप्नों का बलिदान कर दिया?"

यह सुनकर शान्तनु स्तम्भित रह गये... माँ की पावन स्मृति! गंगा के लिए स्वयं उनके मन में चाहे कैसी भी असम्मान की भावना हो... किन्तु उसने तो अपने इस एक पुत्र को, सात पुत्र खोने के पश्चात्, बड़ी ममता एवं लगन से पाला होगा। इस किशोर के लिए तो अपनी माँ के प्रति सम्मान ही सम्मान होगा... जिसके साथ इसने शैशव, बाल्यकाल, कैशोर्य... अठारह वर्ष तक का समय बिताया।

इस तर्क के बाद, शान्तनु को लगा वे अशक्त हो गये हैं... उनके तृणीर में पुत्र को परास्त करने वाला कोई बाण नहीं था। वे चुपचाप, निढाल होकर अपनी शैया पर पसर गये।

"ठीक है पुत्र," उन्होंने परास्त स्वर में कहा, "तुम विवश हो .. और मैं भी विवश हूँ... तो जाओ, समय को ही सुझाने दो कोई मार्ग।"

"पिताश्री..." देवव्रत ने कोमल स्वर में उन्हें पुकारा, किन्तु शान्तनु बिना सुने ही, दीर्घ श्वास छोड़ते हुए करवट बदलकर दूसरी ओर मुँह करके लेट गये।

उस रात हस्तिनापुर के राज-प्रासाद में किसी का भी अन्न जल ग्रहण करने का मन नहीं हुआ। कक्षों एवं अन्तरिकाओ के दीप स्वयं ही निष्प्राण होकर उस प्रासाद को भयावह बनाते रहे।

जब शान्तनु की आँख खुली तो सूर्य की किरणें वातायन पार कर उनकी शैया तक पहुँच चुकी थीं। रात्रि को बड़ी देर से उनकी आँख लगी होगी... कौन जाने तीसरे प्रहर का अन्त ही रहा हो। निद्रा का बोझ पलकों मे उठकर मस्तक में जा समाया था।

उन्होंने उठकर हाथ जोड़ते हुए सूर्य को प्रणाम किया... और मुड़कर पीछे देखा तो कक्ष के उस पार, द्वार से पीठ टिकाये, देवव्रत को वहाँ बैठे पाया। उनका सिर एक ओर लटककर कन्धे पर जा टिका था।

'यह क्या...!' वे स्तम्भित-से, तीव्र गति से कक्ष पार करते हुए पुत्र के पास पहुँचे और वहीं भूमि पर ही बैठते हुए उन्होंने उसका सिर अपने वक्ष से लगा लिया। उन्हें सहसा अपने किये पर, अपने कहे पर, पश्चात्ताप हो रहा था। किन्तु ऐसा क्या अनुचित कह दिया था उन्होंने!

सहसा स्नेह की ऊष्मा पाकर देवव्रत की आँख खुली, तो पिता को इस स्थिति में देखकर वे रोमांचित हो उठे।

"अरे पिताश्री, आप?" उन्हें रात्रि में पिता के साथ का सारा संवाद स्मरण हो आया। "क्षमा करें, पता नहीं कब निद्रा ने आ घेरा।"

"पुत्र, तुम रात भर...।" देवव्रत ने देखा पिता का कण्ठ भर आया था और नेत्रों में अश्रुकण झिलमिला रहे थे। वे सम्भवतः कुछ कहना चाहते थे, किन्तु भावातिरेक में बारम्बार उनका मस्तक अपने वक्ष से लगाकर मौन हो जाते थे।

"पिताश्री..." देवव्रत ने कोमल स्वर में कहा, "पहले स्नानादि के पश्चात् थोड़ा जलपान कर लें... राज-प्रासाद के समस्त भृत्य-वर्ग के उपवास का पारायण भी तो आवश्यक है।"

कुछ सोचते हुए शान्तनु ने, भुजपाश शिथिल करके, अपने अश्रु पोंछे, "तुम भी शीघ्र स्वस्थ-चित्त हो लो। जलपान हम साथ ही करेंगे।"

जलपान के पश्चात् पिता-पुत्र के बीच रात्रि के अन्धकार द्वारा टाले हुए प्रश्न, महामौन के बीच, पुनः आ खडे हुए। दोनो ही की दृष्टि में, एक-दूसरे से कतराते हुए ही, किसी निर्णय पर पहुँच पाने की इच्छा स्पष्ट झलक रही थी। किन्तु पिछला संवाद एक ऐसे दुर्गम बिन्दु पर पहुँचकर टूटा था कि उसका कोई छोर पकड पाना दोनों को ही असम्भव लग रहा था।

"पिताश्री.." मौन के उस पर्वत पर, दृढ़ निश्चय के साथ, देवव्रत ने ही अपनी कोमल वाणी से प्रहार किया। "पिताश्री... जीवन ने मुझे अठारह वर्ष की दीर्घ प्रतीक्षा के बाद जो आपकी छत्र-छाया प्रदान की, वह इसलिए तो नहीं कि हमारे बीच संवाद हीनता आ बैठे। यदि मेरा दोष है, तो मुझे दण्डित करें... भविष्य के लिए मेरा मार्ग-दर्शन करें.. ऐसा मौन धारण करके मुझे अवहेलना की पीड़ा न दें।"

"तुम्हारी अवहेलना मैं कैसे कर सकता हूँ वत्स!" शान्तनु ने आहत स्वर में कहा, "तुम भला कैसे समझोगे उस पिता का दुःख जिससे उसका सब कुछ छिन रहा हो... सात बार प्राणान्तक पीड़ा भुगत कर प्राप्त किया हुआ स्वर्ग छिन रहा हो..."

"आपका स्नेह मेरे जीवन का अवलम्ब है पिताश्री..." देवव्रत ने सहज रहते हुए कहा, "आप मेरे विषय में चिन्ता न करें।'

"कैसे न करूँ वत्स! कैसे... कैसे न करूँ?" शान्तनु फिर अशान्त हो रहे थे, "मैं

तुम्हारे सम्मुख आ पड़ी दुविधा को समझ रहा हूँ... किन्तु तुम मेरी दुविधा नहीं समझ सकते... समझने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? मेरे क्षणिक सम्मोहन को तुमने इतनी गम्भीरता से क्यों लिया वत्स?"

"सम्भव है तात..." देवव्रत ने अपना पक्ष स्पष्ट किया, "कि मुझसे विवशता में अथवा मनोवेग में कुछ भूल हो गयी हो... किन्तु पिताश्री! आपको चिन्तित एवं दु:खी देखकर मैं व्याकुल हो उठा था। मुझे अपना जीवन व्यर्थ लगने लगा था... और आप कुछ बताते भी तो नहीं थे।"

"कुमार!" शान्तनु ने शून्य में दृष्टि-टिकाये ही कुछ सोचते हुए कहा, "कुछ विषय होते हैं, जिन पर पिता अपने पुत्र से चर्चा नहीं कर सकता... और फिर मैं स्वयं भी तो बहुत स्पष्ट नहीं था कि मेरी अभिलाषा कितनी वास्तविक है... और कितना छलावा! और कितनी भी वास्तविक क्यों न हो वत्स! पुत्र के सुख से बढ़कर तो नहीं हो सकती..."

कक्ष में मौन घिरा तो अधीर होते हुए स्वयं शान्तनु ने ही उसे तोड़ा, "अब तुम्हीं कोई मार्ग सुझाओ पुत्र... कोई मार्ग निकालो।"

"अब तो एक ही मार्ग बचा है तात!" देवव्रत ने दृष्टि नीची रखते हुए कहा, "राज-प्रासाद में मंगलोत्सव हो ... और माताश्री घर आएँ।"

"नहीं कुमार, नहीं..." शान्तनु ने शान्त रहते हुए ही अत्यन्त गम्भीर स्वर मे कहा, "जहाँ तुम्हारी भीष्म प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती, वहीं मेरे लिए भी यह असम्भव है।"

"आप यह क्या कह रहे हैं पिताश्री!" देवव्रत ने आश्चर्य में कहा, "तब तो सचमुच मेरी प्रतिज्ञा व्यर्थ हो जाएगी।"

"जब सभी कुछ व्यर्थ हो रहा हो कुमार... तो यह भी सही।"

"ऐसा न कहें तात!" देवव्रत ने अधीर होते हुए कहा, "आप वंश-बेल पर कुठाराघात नहीं कर सकते... अब तो यह वंश-बेल आप ही पर निर्भर है।"

सुनकर शान्तनु अवाक् रह गये। उन्होंने इस पक्ष पर तो सोचा ही नहीं था। 'यह कैसे जाल में आ फँसा मैं...! युवा पुत्र के रहते हुए वंश-बेल बढ़ाने का उत्तरदायित्व मुझ पर है... स्वयं मुझ पर?'

"यह किस उलझन में डाल दिया तुमने, पुत्र!" शान्तनु ऐसे कराहते हुए बोले जैसे अभी रो पड़ेंगे, "स्वयं अपनी दृष्टि में गिर जाऊँगा मैं... संसार का सबसे लम्पट, सबसे स्वार्थी, सबसे दुराचारी व्यक्ति बनकर रह जाऊँगा। मैं विवश होकर उस अभागी निषाद-कन्या को लाया भी तो उसके साथ न्याय नहीं कर पाऊँगा... अरे अभागे शान्तनु! सबके साथ अन्याय करते रहना ही तेरी नियति है... यह कैसा अभिशप्त जीवन लेकर आया है तू!" कहते-कहते उनका स्वर धीमा होकर टूटने लगा और वे बिलखकर रो पड़े।

देवव्रत ने उठकर उन्हें सान्त्वना दी...
एक नितान्त अनौपचारिक ढंग से, निकट सम्बन्धियों की उपस्थिति में महाराज शान्तनु का, वैदिक विधि से, विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह संस्कार के समय शान्तनु के आदेश पर न तो राज प्रासाद की कोई भव्य सज्जा हुई, और न ही मंगल-वाद्य ही बजे। वधू को विदा करा के राजगृह तक लाते समय देवव्रत अकेले ही निरन्तर रथ के सम्मुख दौड़ते हुए शंख बजाते रहे।

विवाह के समय निषाद समाज के बीच प्रमुख आकर्षण एवं चर्चा का केन्द्र देवव्रत ही रहे... अपनी भीष्म प्रतिज्ञा के कारण। न तो किसी को सत्यवती के भाग्य से ईर्ष्या करने की सुध रही, कि वह साधारण कुटिया से निकलकर सीधे महल में जा रही है और न किसी ने उसके भाग्य पर दुःख किया कि उसे ऐसा अधेड़ आयु का पति मिल रहा है। सब, भीड़ को चीरते हुए, जैसे भी हो, कुमार देवव्रत की झलक पाना चाहते थे, कौन है ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करने वाला! कुछ लोग आपस में कहते कि ऐसा पितृ-भक्त... द्वापर में! धन्य है ऐसा बेटा, और बड़ा भाग्यवान है वह पिता। कोई फुसफुसाकर कहते कि कामुक एवं स्वार्थी है शान्तनु, जो पुत्र का घर बसाने की आयु में अपना विवाह करने आया है और वह भी बेटे के सुख को दाँव पर लगा कर। कुछ अस्फुट वाक्य शान्तनु के कानों में भी पड़ते थे... किन्तु उन्हें ज्ञात था, कि उनके लिए मुक्ति का मार्ग कहीं भी नहीं है। यदि इस समय वे प्राण भी दे दें.. तब भी उनका प्रण-वीर पुत्र विवाह नहीं करेगा...

विवाह के उपरान्त, सत्यवती से प्रथम मिलन के समय ही, शान्तनु ने अपने मन की व्यथा... अपनी दुविधा, पत्नी से कह सुनाई।

वह सारा वृत्तान्त सुनकर सत्यवती को कोई आश्चर्य नहीं हुआ... इसकी कुछ कल्पना तो उन्हें पहले ही थी... और कुछ, विवाह के समय, अतिथियों की बातें भी उनके कानों में पड़ी थीं। किन्तु शान्तनु के पुत्र के प्रति अन्याय का तर्क उन्हें अपने अतीत की ओर खींच ले जाता था। किसने पुत्र के प्रति अधिक अन्याय किया! शान्तनु ने अथवा स्वयं उन्होंने? कहाँ होगा उनका शिशु... मातृहीन शिशु! किस दशा में होगा?

अपने विवाह के समय, पिता का दुराग्रह उनसे छिपा नहीं था... वे सहमत भी नहीं थीं अपने पिता से, किन्तु पिता से संवाद का, उनकी अवज्ञा का, साहस एवं अधिकार वे पहले ही खो चुकी थीं। बाद में, जब शान्तनु ने उनसे मिलकर उनके पिता के दुराग्रहपूर्ण शुल्क बन्ध की चर्चा की, तब भी वे तटस्थ बनी रही थीं... पिता के समर्थन में नहीं, कुछ इस सम्भावना में भी, कि पुत्र के प्रति अन्याय के भय से यदि शान्तनु लौट गये... तो वे भी एक अनैतिक वैवाहिक बन्धन से बच जाएँगी।

उधर, शान्तनु का मन कभी-कभी उनसे प्रश्न कर बैठता था, 'देवव्रत का आग्रह

तुमने मात्र वंश-बेल के लिए स्वीकार किया... अथवा कामासक्ति के वशीभूत होकर?' वे घबराकर स्वयं अपने से ही दृष्टि चुराने लगते थे।

"अब जो भी हो..." शान्तनु ने प्रथम मिलन को और भी बोझिल बनाते हुए कहा, "हम-तुम विवाह के बन्धन में बँध चुके हैं। किन्तु मुझे पता नहीं, मैं तुम्हें कितना सुख दे पाऊँगा! यद्यपि मूल रूप से मैंने वंश-विस्तार के लिए विवाह किया है... मैं अपराधी हूँ अपने प्रिय पुत्र देवव्रत का, जिसकी अटल भीष्म-प्रतिज्ञा पर टिका है हमारा दाम्पत्य जीवन, सत्यवती! परमात्मा हमें सन्तान दे, न दे... तुम उसे कभी अपने गर्भ-जाये पुत्र से कम न समझना... अन्यथा मैं जीवित नहीं रह पाऊँगा।"

सत्यवती को सहसा स्वयं अपने गर्भ-जाये पुत्र की स्मृति ने घेर लिया। वह सुन्दर, छोटा-सा, गोल-मटोल... पता नहीं अब कैसा दिखता होगा। कितना बड़ा हो गया होगा? भीष्म जितना तो कदापि नहीं... उन्होंने देवव्रत भीष्म के रूप में अपने गोल-मटोल शिशु को खोजने का प्रयत्न किया। कितना शीघ्र रूप बदल लेते हैं शिशु! देखते-ही-देखते कैसा रूप धारण कर लेते हैं?

"आप चिन्ता न करें.." सत्यवती ने पति को आश्वस्त करते हुए कहा, "मेरी ममता पर भीष्म का अधिकार पहले रहेगा... सदैव..."

"भीष्म...!" शान्तनु ने कुछ आश्चर्य में पूछा।

"हाँ स्वामी, देवव्रत भीष्म," सत्यवती ने स्पष्ट किया, "मेरे पितृगृह में उन्हें सब लोग भीष्म नाम से ही जानते हैं... ऐसी भीषण, ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा करने वाले को... उन्होंने भीष्म ही नाम दे दिया।"

"ऐसी भीष्म-प्रतिज्ञा करके उसने तो इतिहास में अपना नाम अमर कर लिया..." शान्तनु, भावुकता में बहते हुए, रुँधे कण्ठ से बोले, "जब तक सूर्य है, चन्द्र है, हिमालय है... वह पितृ-भक्ति का पर्याय बनकर अमर रहेगा। और मैं अन्यायी एवं स्वार्थी पिता के रूप में... जिसने अपने काम-हठ में अपने पुत्र का बलिदान सहर्ष स्वीकार कर लिया।"

अपनी बात पूरी करते-करते शान्तनु शिथिल होकर शैया पर गिर चुके थे। सत्यवती ने धीरे से आगे बढ़कर उनका सिर अपनी गोद में ले लिया।

शान्तनु बड़ी देर निःशब्द उनकी गोद में पड़े रहे... बिना हिले-डुले। फिर उन्होंने ही मौन तोड़ा, "सत्यवती! मुझे तुमसे एक भिक्षा माँगनी है... मुझे एक पुत्र दे दो... दोगी न! पुत्र... जो अब मेरे इस विवश जीवन का प्रयोजन है, प्रमुख उद्देश्य है।"

सत्यवती की आँखें भर आयीं। शान्तनु उन्हें अश्रु बहाते न देखें, इस कारण उन्होंने शैया के निकट झिलमिलाते दीप को धीरे से, लौ पर अपनी हथेली रखकर, बुझा दिया। वे सोच रही थीं, 'पुत्र की कामना तो मुझे भी है... और कौन जाने, उसी लोभ में मैंने स्वीकार किया हो आपका प्रस्ताव। अपने खोये हुए शिशु को, अपने उस

सुन्दर-सलोने शिशु को, पुनः अपनी बाँहों में भर लेने का लोभ, उसे जी भर बाँहों में झुलाने का लोभ, उसे बारम्बार भूख लगने पर दुग्ध-पान कराने का लोभ, उसे लोरी गाकर सुलाने और दुलार-मनुहार द्वारा जगाने का लोभ...'
सूर्योदय के पूर्व ही शैया त्यागकर सत्यवती ने स्नानादि से निवृत्त होकर कुलदेवी के मन्दिर में पुष्प चढ़ाते हुए मस्तक नवाया। मन-ही-मन उन्होंने प्रार्थना की, 'देवि! मैं एक नया जीवन प्रारम्भ कर रही हूँ... वास्तविक अर्थ में नया जीवन। मेरे अतीत की छाया भी मेरे जीवन को प्रभावित न करने पाए। बल देना मुझे कि पतिगृह में, अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए, पूरे मन से अपने पति की सेवा में जीवन बिता सकूँ।'

वे मन्दिर से निकलीं तो उन्होंने सामने ही हाथ जोड़े देवव्रत को खड़ा पाया। देवव्रत ने आगे बढ़कर उनका चरण-स्पर्श किया, तो उनके मन में स्वतः ही ममता का सागर उमड़ पड़ा, "परमात्मा तुम्हें दीर्घ आयु प्रदान करे... मनचाही आयु मिले तुम्हें।"

देवव्रत को अनायास ही अपनी माँ का आशीर्वचन स्मरण हो आया। कुछ ऐसे ही स्नेह से अभिभूत होकर असीसा था उन्होंने भी। माँ का दूसरा रूप...! देवव्रत सोचे बिना न रह पाये...

और दूसरी ओर, अनायास ही सत्यवती को अपने परित्यक्त पुत्र की सुध हो आई। कहाँ होगा! कितना बड़ा होगा अब! क्या इतना ही बड़ा? पुत्र कैसे क्षण-क्षण रूप बदलते हैं.. आँखों के सामने ही! गोद से उतरकर घुटने-घुटने चलते, उँगली पकड़कर खड़े होते, उठते गिरते, पंख लगाकर उड़ते हुए समय के साथ हृष्ट-पुष्ट होते चले जाते हैं ... किन्तु उनकी आँखों में तो बस अपने स्वस्थ, गोल-मटोल, साँवले, किलकारते शिशु की छवि ही थी। बहुत चाहने पर भी उनके मन के नेत्र वह छवि नहीं भुला पाये थे... यह समझते हुए भी, कि समय ने उसे भी किसी नये रूप में ढाल दिया होगा... और आज उनके सम्मुख एक स्वस्थ युवक खड़ा उन्हें माँ कहकर पुकार रहा है। अनायास ही उसके मुख पर सत्यवती को अपने शिशु की मुस्कान दिखाई दी... जो उसकी मुस्कान में ही घुल-मिल गयी.

सत्यवती ने आगे बढ़कर स्नेहपूर्वक देवव्रत के सिर पर हाथ फेरते हुए उन्हें पूजा के फूल दिये। वे अपने कक्ष की ओर बढ़ीं तो देवव्रत भी उन्हें राज-प्रासाद की रचना से परिचित कराते हुए उनके पीछे चले।

शान्तनु सोकर उठे तो अनुत्तरित प्रश्नों ने उन्हें फिर घेर लिया... यह क्या हो गया? क्या जो हुआ, वह ठीक था? क्या वे इस स्थिति से बच सकते थे? परिस्थितियों के सम्मुख विवश हो जाने के पीछे, कहीं उनके मन में दबी हुई काम-भावना तो नहीं थी? सत्यवती को किसी भी मूल्य पर प्राप्त कर पाने की इच्छा...?

उनको ज्ञात था कि वे इन प्रश्नों का उत्तर नहीं पा सकते। कितनी ही बार आकर उन्हें घेर चुके थे ये प्रश्न! वे जाने-पहचाने, पीड़ा-दायक प्रश्न, सम्भवतः दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण, उन पर कृपालु होने लगे थे... उतनी पीड़ा, उतनी चुभन नहीं देते थे... यद्यपि उन्हें मुस्कराने भी नहीं देते थे।

शान्तनु शैया त्यागकर उठे ही थे कि सत्यवती ने आकर उनका चरण स्पर्श किया और पूजा की थाली से पुष्प उठाकर दिये। उनके पीछे ही खड़े पुत्र देवव्रत ने भी बढ़कर चरण-स्पर्श किया तो उनका मन तो हुआ कि बढ़कर उसे हृदय से लगा लें और मुस्कराकर उस पर आशीर्वादों की वर्षा करें... किन्तु कुछ था, जो उन्हें गम्भीर बने रहने के लिए विवश कर रहा था! सत्यवती की उपस्थिति...! विवाह में उनकी भूमिका...! अथवा स्वयं अपने ही मन में उत्साह का अभाव!

"आयुष्मान् भव...!" उन्होंने गम्भीर स्वर में फीकी-सी मुस्कान के साथ कहा।

एक और लम्बी आयु का आशीर्वाद! देवव्रत के अधरों पर अनायास ही मुस्कान आ बैठी। "यह आशीर्वाद और दीजिए पिताश्री, कि वह दीर्घ आयु आपकी सेवा में सार्थक हो।"

"मेरी सेवा!" शान्तनु ने कहा, "और कितनी सेवा करोगे मेरी पुत्र? मेरी सेवा करते-करते तो तुम देवव्रत से भीष्म बन गये।"

"भीष्म!" देवव्रत कुछ समझ नहीं पाये।

शान्तनु को सत्यवती की सुनायी हुई लोक-चर्या स्मरण हो आयी। उन्होंने विवश मुस्कान के साथ पत्नी की ओर देखते हुए कहा, "वह तो तुम प्रजाजनों से पूछना कि उन्होंने क्यों यह नाम दिया तुम्हें। वास्तव में यह नाम तो मुझे मिलना उचित था, तुम्हारे प्रति ऐसा भीषण अन्याय करने के लिए।"

नव-वधू के सम्मुख इस चर्चा से देवव्रत असहज हो उठे। किन्तु उनमें न तो पिता को रोकने की सामर्थ्य थी और न कथ्य को स्वीकार करने की। उन्होंने विषय-परिवर्तन के लिए क्षण भर में ही कक्ष में उपजे असहज मौन को तोड़ते हुए कहा, "पिताश्री, आज मेरा मन माताश्री के हाथ का बना भोजन करने का है... आपकी..."

किन्तु उनका वाक्य अधूरा ही छूट गया। वाक्य का सूत्र तुरन्त पकड़ते हुए सत्यवती बोल पड़ीं, "तुमने मेरे मन की बात कह दी, पुत्र! मैं सोच ही रही थी कि स्वामी एवं पुत्र की सेवा का यह अधिकार कैसे प्राप्त करूँ! बस, मन में भय यही था कि कहीं हमारे दास-दासी आदि अपने आपको निरर्थक न मान बैठें... अथवा अपनी अवहेलना मानकर दुःखी न हों।"

"नहीं... माताश्री!" देवव्रत ने उन्हें रोका, "एक दिन की रसोई आप को सौंपकर भला कौन मानेगा अपने आपको निरर्थक! आप चिन्ता न करें।"

"मैं एक दिन की बात नहीं कह रही हूँ पुत्र!" सत्यवती ने धीमे स्वर में, मुस्कराते हुए कहा, "यह अधिकार तो मैं तब तक अपने पास रखना चाहूँगी, जब तक तुम दोनों को सिद्ध-हस्त रसोइयों के भोजन का स्वाद मुझे रसोई से निकालने पर विवश न कर दे।"

"नहीं माते..." देवव्रत ने हाथ जोड़कर कहा, "माँ के स्नेह में पगे भोजन जैसा सुस्वादु भोजन संसार में भला और कौन दे पाएगा... किन्तु..."

सत्यवती ने कुछ विस्मय में उनकी बात काटी, "किन्तु क्या पुत्र?"

"किन्तु हस्तिनापुर की महारानी को यह कार्य शोभा नहीं देगा," देवव्रत ने विनम्र स्वर में कहा।

"महारानी तो मैं तभी तक हूँ पुत्र..." सत्यवती ने हँसते हुए कहा, "जब तक महाराज के चरणों में मुझे स्थान मिला है।"

"किन्तु महारानी को रसोईघर में.." देवव्रत का वाक्य अधूरा ही रह गया।

"महारानी मैं जहाँ हूँ, बस वहाँ हूँ... किन्तु मैं यह कैसे भूल जाऊँ कि मैं निषाद पुत्री भी हूँ, जिसने रसोईघर का सारा कार्य बचपन से ही सीख रखा है।"

देवव्रत निर्वाक् थे.. और शान्तनु निस्पृह भाव से दूर कहीं शून्य में देखे जा रहे थे।

रसोईघर में पहुँचते ही वहाँ के सभी दास-दासियों ने तत्काल हाथ बाँधकर और सिर झुकाकर सत्यवती का स्वागत किया।

प्रत्युत्तर में महारानी को हाथ जोड़कर मुस्कराते देख वे सभी आश्चर्यचकित रह गये। उन सबने सिर झुकाये हुए ही, कनखियों से एक दूसरे की ओर देखा। तभी उन्होंने सत्यवती को कहते सुना, "अभी मैं आप लोगों के बीच नयी हूँ... आप सब का परिचय पूछूँ उससे पूर्व ही अपना परिचय दे दूँ.. मेरा नाम तो आपने सुना ही होगा, सत्यवती है। मैं एक निषाद-कन्या हूँ। सौभाग्य मुझे आप सबके बीच ले आया है। वैसे रसोई बनाना तो थोडा-बहुत मैं भी जानती हूँ... आप सबके व्यजनों की बड़ी प्रशंसा की है, महाराज तथा कुमार ने। यदि कुछ व्यंजन आप मुझे भी सिखाएँ..."

"महारानी क्षमा करें..." एक वयोवृद्ध दासी ने उन्हें टोकते हुए कहा, "आप बस आज्ञा करती रहें, हम सब जी भर आपकी सेवा करेंगे।"

"नहीं... मैं यहाँ आज्ञा देने नहीं, आपसे कुछ सीखने और कुछ माँगने आयी हूँ..." सत्यवती ने पुनः हाथ जोड़कर मुस्कराते हुए कहा। "आपका बनाया हुआ भोजन करने का लोभ तो मुझे है ही, किन्तु आपसे यह अधिकार माँगने भी आयी हूँ मैं कि अपने पति तथा पुत्र के लिए भोजन स्वयं ही बनाऊँ।"

"महारानी, आप?"

"नहीं, महारानी नहीं..." सत्यवती ने वैसे ही हँसते हुए कहा, "अपने पति की सेविका और पुत्र की माँ। मुझे यह अधिकार देंगी न, आप सब!"

महारानी की इच्छा ही दास-दासियों के लिए आदेश से कम नहीं थी। वे सब झुकी-झुकी दृष्टि से एक-दूसरे की ओर, सिर झुकाये, देखती रह गयीं। कुछ क्षण पहले तक, जिस नयी महारानी के प्रति उनके मन में, अपने कुमार का अहित करने के लिए, जो रोष था वह न जाने कहाँ चला गया। ऐसी महारानी की तो किसी ने कल्पना भी नहीं की थी जो दास-दासियों के बीच, रसोईघर में आकर, पति तथा पुत्र के लिए भोजन पकाने की बात करे...! अपना राज-मद भुलाकर, दास-दासियों के बीच आ खड़ी हो!

एक ओर सत्यवती अपने नये जीवन में रमती जा रही थीं, तो दूसरी ओर शान्तनु की मानसिकता वीतराग की ओर बढ़ रही थी... उनका अधिकाधिक समय देव-आराधना, ध्यान, सत्संग आदि में बीतने लगा। राज-काज भी उन्होंने धीरे धीरे देवव्रत के कन्धों पर डाल दिया था। जब देवव्रत उनका ध्यान किसी समस्या की ओर आकर्षित करते तो उसके निदान के लिए शान्तनु उन्हीं से परामर्श लेते... और 'जो उचित लगे' वह करने को कहते।

दूसरी ओर सत्यवती की जीवन-शैली में कोई विशेष अन्तर नहीं आया... न तो परिधान एवं वेश-भूषा में और न व्यवहार में। शरीर पर न तो कौशेय वस्त्र और न रत्न-जड़े आभूषण। उनका हर बार यही कहना था कि उनके आभूषण तो उनके स्वामी हैं, और साधारण वस्त्रों की वे शैशव काल से ही अभ्यस्त हैं। दास-दासियों से उनका सम्बन्ध पारस्परिक स्नेह एवं सम्मान का बनता चला गया... और पूरे मन से वे हस्तिनापुर की हो गयीं।

पति के साथ उनका सम्बन्ध एक समर्पित सेविका जैसा था। वे हर क्षण, हर पल, पति की सुविधा एवं सहायता के लिए उपस्थित रहती थीं और बदले में कभी कुछ नहीं माँगती थीं। वे कभी-कभी सोचती थीं, कि क्या इससे अनजाने में ही उनके प्रति किये हुए अन्याय का परिशोधन हो जाएगा! इस प्रश्न का उत्तर उन्हें यदि कहीं मिलता था तो पति-सेवा में, पति के प्रति समर्पण में..

किन्तु एक उत्तर जो उन्हें नहीं मिलता था, वह था देवव्रत के प्रति हुए भीष्म अपराध का। ऐसी भीष्म प्रतिज्ञा जिसका कोई निराकरण नहीं था। ऐसी पितृ-भक्ति जिसका कहीं कोई पुरस्कार नहीं था। देवालय में आँखें बन्द करके कभी-कभी वे

प्रार्थना करने लगती थीं, 'प्रभु! कहीं तो, कोई तो मार्ग दिखाओ... ज्योति की कोई किरण तो दिखाओ...'

सत्यवती जानती थीं कि देवव्रत अपनी प्रतिज्ञा से नहीं टलेंगे... कदापि नहीं, फिर भी कभी उनका मन होता था कि एक स्नेहपूर्ण अनुरोध करके देखें... पिता की मनोदशा का हेतु बनाकर बात उठाएँ...

एक बार उन्होंने कहा, "पुत्र भीष्म!" देवव्रत अपने इस उपनाम के अभ्यस्त हो चले थे, "तुम्हारे पिताश्री सब सुखों के बीच एक चिन्ता के कारण व्याकुल रहते हैं... उन्हें पुत्र-वधू के हाथ के बने भोजन की लालसा में, मेरे हाथ का भोजन भी नहीं रुचता..."

बारम्बार टकराये इस एक प्रश्न से आहत देवव्रत इस उल्लेख से पुनः असहज हो उठे। कैसे दें इस प्रश्न का उत्तर...! कितनी बार दें...?

"माताश्री... क्या आप बताएँगी," आहत स्वर में देवव्रत ने कहा, "कि माता-पिता की इच्छा का सम्मान न करने वाले पुत्र के लिए क्या दण्ड उचित है?"

"कुमार!" आश्चर्य में सत्यवती का मुख खुला रह गया।

"यदि एक बार बता दें माते, तो इस अभागे को वह दण्ड दे ही दूँ... जिससे आपको बारम्बार पुत्र की अवेहलना का भीष्म दुःख न झेलना पड़े।"

इन शब्दों के साथ देवव्रत के मुख पर उभरी भीष्म-पीड़ा ने उत्तर में बहुत कुछ कह दिया। सत्यवती ने चुपचाप बढ़कर पुत्र के सिर पर हाथ फेरा और विचलित स्वर में कहा, "ऐसे स्नेही एवं आज्ञाकारी पुत्र को भला कौन दण्ड दे सकता है कुमार? मैं तो बस, मातृधर्म के लोभ में, घर में पुत्रवधू लाने का स्वप्न देख गयी थी..."

"किन्तु माते..." देवव्रत ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा, "प्रतिज्ञा तोड़ना मेरे लिए महान अधर्म होगा। मैं विवश हूँ।"

"कारण यह भी है कुमार कि मैंने धर्म-शास्त्र नहीं पढ़े..." सवाद को सहज मोड़ देते हुए उन्होने कहा, "मैं ठहरी एक निरक्षर निषाद कन्या। सम्भव हो तो ऐसा प्रबन्ध करो कि मैं भी कुछ नीति, धर्म आदि का ज्ञान पा जाऊँ... क्या कोई ऐसी व्यवस्था कर सकोगे मेरे लिए?"

"अवश्य माताश्री..." देवव्रत ने उत्साहित होते हुए उत्तर दिया, "वैसे तो आप स्वधर्म में कुशल हैं, किन्तु यदि आप कुछ शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो वह प्रबन्ध भी हो जाएगा।"

देवव्रत ने राजगुरु से इस विषय में चर्चा की तो उन्होंने अपने एक शिष्य को इस कार्य के लिए नियुक्त कर दिया। सत्यवती कुशाग्र-बुद्धि की धनी सिद्ध हुईं और अपनी लगन से शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने लगीं।

काल-चक्र ने अचानक एक दिन हस्तिनापुर को शुभ संकेत दिये...

समय आने पर सत्यवती ने एक सुन्दर, स्वस्थ बालक को जन्म दिया। राज्य भर में मंगलोत्सव हुए... दिन में पुष्प-गुच्छों से तथा रात्रि में दीप-मालिकाओं से राज-प्रासाद को सजाया गया। किन्तु सुख का वह एक सूत्र सब के मन में नितान्त भिन्न भावनाओं को जन्म दे रहा था...

सत्यवती उस शिशु में रह-रहकर अपने परित्यक्त शिशु की झलक देखतीं तो वे घबराकर अपनी आँखें मूँद लेती थीं... 'कहाँ होगा! कैसा होगा... मेरा वह अभागा पुत्र!' उन्हें भय होता कि उनका दुर्भाग्य कहीं इसको भी तो उनसे नहीं छीन लेगा! उनकी आँखों में भय की छाया स्पष्ट उभरने लगती थी।

सबके अनुरोध पर शान्तनु ने उसे गोद में उठाया तो एक विवश मुसकान के साथ अनायास ही कह उठे, "पौत्र को गोद में उठाने की वेला में.. पुत्र पाकर, समझ नहीं आता प्रसन्न होऊँ अथवा व्यंग्य करूँ... अपने आप पर!"

देवव्रत उसे गोद में उठाकर प्रसन्न थे... उन्हें लगता था जैसे उनका मनोरथ सिद्ध हुआ। पहले, कभी-कभी उन्हें भय लगने लगता था कि यदि कहीं माता सत्यवती के सन्तान न हुई... वे घबरा उठते थे इस सम्भावना से। तब क्या होगा? उनकी सारी प्रतिज्ञा व्यर्थ हो जाएगी... फिर क्या होगा हस्तिनापुर का! कुरु वंश का! किन्तु असमंजस के उस अन्धकार में आशा की किरण चमकी तो उन्हें लगा कि भाग्य कुरुवंश पर फिर कृपालु हो उठा है।

अपने उत्साह में देवव्रत जब पिता के सम्मुख पहुँचे तो उन्हें आँख मूँदे ध्यान में मग्न पाया। उनकी मुँदी हुई पलकों से अश्रु प्रवाहित थे। किन्तु शान्तनु की मुखाकृति कह रही थी कि वे सुख एवं उल्लास के अश्रु नहीं हैं... देवव्रत को लगा, पिता के मन में जो अवसाद है वही पलकों को विदीर्ण करके बह निकला है।

उन्होंने कोमल स्वर में पुकारा, "पिताश्री...!"

आँख खुलने के साथ ही शान्तनु के मुख पर स्नेह भरी मुस्कान उभर आयी... अवसाद एवं मुस्कान का वह विचित्र संगम देखकर देवव्रत उद्विग्न हो उठे।

"तुम्हारे ऊपर एक और उत्तरदायित्व डाल दिया मैंने.."

"उत्तरदायित्व नहीं, पिताश्री..." देवव्रत ने अपनी पुलक से पिता के अवसाद को धो डालने का प्रयास किया, "आपने तो मुझ अपंग को बायीं भुजा प्रदान कर दी। मैं तो सक्षम हो गया, सकलांग हो गया मैं, पिताश्री..."

"चलो... ऐसे ही कह लो," शान्तनु ने परास्त स्वर में कहा, "तुम्हारा मनोरथ भी पूरा हुआ। हस्तिनापुर के भविष्य के प्रति भी तुम्हारी चिन्ता को विराम मिला. और

मैं भी कुल-ऋण से मुक्त हुआ।"

"नहीं पिताश्री, अभी नहीं..." देवव्रत की वाणी में एक नटखट पुत्र उभर आया था, "सात अग्रजों से वंचित इस अभागे को..." बोलते-ही-बोलते उनका स्वर करुण रुदन में बदलता चला गया, "विधाता सात अनुज न दें... तीन-चार अनुज तो दे ही दें।"

उनके करुण रुदन से कक्ष गूँज उठा था और शान्तनु का हृदय उस नटखटपन एवं रुदन के अकल्पनीय मिश्रण से विदीर्ण हुआ जा रहा था। उन्होंने सिद्धासन में बैठे हुए ही अपनी भुजाएँ फैला दीं, जिसमें अनायास ही बँधकर देवव्रत पिता के वक्ष से लगकर बिलख उठे।

हस्तिनापुर के नवजात सुन्दर राजकुमार को देखकर सभी चित्रलिखे-से देखते रह जाते थे... सम्भवतः इसी आधार पर उसे नाम मिला होगा—चित्रांगद।

चित्रांगद को पाकर और जिसे जो भी मिला हो... देवव्रत को जैसे स्वयं अपना बचपन मिल गया। दिन-रात शस्त्रों एवं शास्त्रों में रमा रहने वाला व्यक्ति सहसा एक दिन सब कुछ भूलकर शिशु बन जाएगा, यह किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। माँ की बाँहों से उतरा तो देवव्रत ने ही उसे उँगली पकड़कर चलना सिखाया, उसके साथ स्वयं तोतली बोली सीखी, उसके साथ लुका-छिपी का खेल खेला और दौड़कर उसे पकड़ने में परास्त होकर बारम्बार उससे हार मानी... और समय आया... तब छोटा-सा धनुष उसके हाथों में पकडाकर उसे शर-सन्धान की शिक्षा दी।

"भीष्म भैया..." एक दिन सहसा देवव्रत ने उसे पुकारते सुना तो वे आश्चर्य में खिलखिलाकर हँस पड़े, "अरे नटखट, तुझे किसने सिखाया यह सम्बोधन? तू तो बस भैया कहाकर मुझे..."

"नईं... मैं तो भीष्म भैया कहूँगा।" पता नहीं खेल ही-खेल में किसने उसे यह पाठ पढ़ा दिया था, "मुझे येई अच्छा लगता है।"

"तो मैं तुझे चित्तू कहूँगा.." देवव्रत ने मुँह बनाते हुए, उसे चिढ़ाने के भाव से कहा।

"ठीक है भीष्म भैया..." वह अपनी बात पर अटल था।

"अरे नटखट... अभी बताता हूँ तुझे।" देवव्रत हँसते हुए उसके पीछे दौड़े तो वह किलकारता हुआ भागकर एक पौधे के पीछे छिप गया और वहाँ से झाँकते हुए बोला, "भीष्म भैया...!"

देवव्रत भीष्म भी हँसे बिना नहीं रह पाये।

अपने नन्हे-से अनुज के साथ समय बिताते हुए, देवव्रत को कभी-कभी लगता कि वास्तव में उसका साथ देने के लिए एक और शिशु होना चाहिए था। उन्हें स्मरण हुआ कि पाँच वर्ष हो चुके और हस्तिनापुर में पुनः कोई मंगल-उत्सव नहीं हुआ...!

किन्तु अपने मन की यह चिन्ता वे किसी से कहने की स्थिति में भी नहीं थे। उनकी इच्छा थी कि चित्रांगद जैसे तीन-चार शिशु तो हों, जो आपस में एक-दूसरे का साथ भी दें और राज-प्रासाद को अपनी किलकारियों से निरन्तर गुँजाते रहें। किन्तु मात्र इच्छा से क्या होता है... दैव कृपा भी तो होनी चाहिए। देवव्रत ने अपनी दिनचर्या में एक प्रार्थना और जोड़ ली।

विलम्ब से ही सही... लगभग आठ वर्ष के अन्तराल पर देवव्रत की प्रार्थना फलीभूत हुई। महारानी सत्यवती ने एक और सुन्दर एवं स्वस्थ बालक को जन्म दिया। भविष्य-वक्ताओं ने बड़ी विचित्र बात कही, कि बालक बड़ा शूरवीर होगा... किन्तु युद्ध कभी नहीं करेगा। 'यह कैसा वीर है!' सबने विस्मय किया और उसे विचित्रवीर्य नाम दे दिया।

हस्तिनापुर में फिर मंगलगान हुए और देखते-ही-देखते वह नवजात शिशु भी देवव्रत की बाँहों में आ गया। जहाँ अन्य सभी बड़े कुमार के अनुज-प्रेम से अभिभूत थे, चित्रांगद अपने एकाधिकार में इस व्यवधान से रूठ जाते थे... और रूठकर उन्हें अग्रज को चिढ़ाना आवश्यक लगता था, "भीष्म भैया..."

अनुज के रूठने पर हँसते-मनुहारते देवव्रत, धीरे-धीरे अपने इस सम्बोधन के अभ्यस्त हो चले। यह सम्बोधन धीरे-धीरे सेवक-सेविकाओं के बीच भी प्रमोद का विषय बनता हुआ प्रचलित होता चला गया।

दो नन्हे अनुजों पर पुत्रवत् स्नेह लुटाते हुए, देवव्रत भीष्म हस्तिनापुर के उज्ज्वल भविष्य के स्वप्न देखने लगे। चित्रांगद से उन्हें विशेष आशाएँ थीं। वह जिस मनोयोग से शस्त्र संचालन की शिक्षा लेता था, उसे देखकर उन्हें विश्वास हो चला था कि वह एक दिन कुरु-वंश की गौरव-पताका दूर-दूर तक फहराएगा... एक दिन वह शस्त्र-ज्ञान एवं संचालन में स्वयं उन्हें भी बहुत पीछे छोड़ता हुआ कोई नया कीर्तिमान रचेगा।

दूसरी ओर... नन्हा विचित्रवीर्य उनका दुलारा नयन-धन बनता चला गया। उसका जहाँ तक वश चलता वह अपने भीष्म भैया की गोद में ही चढ़ा रहता... और दूसरी ओर भीष्म को भी यह भय सालता था कि कहीं उस नन्हे-से शिशु के पाँव में कोई काँटा न गड़ जाए, कहीं भूमि का कोई कठोर भाग उसे आहत न कर

दे... अथवा अकेले भटकता हुआ वह धूप में न निकल जाए!

इसके विपरीत महाराज शान्तनु का मन शान्ति के लिए भटक रहा था। वे जान चुके थे कि जो कुछ वास्तव में उन्हें सुख दे सकता है, वह असम्भव है... इस कारण वे सांसारिकता से दिन-प्रति-दिन विमुख होते जा रहे थे। राजकीय सुविधाओं एवं परिवार के बीच भी उनका मन वीतरागी था। प्रशासन सम्बन्धी सारे निर्णय उन्होंने पुत्र देवव्रत पर छोड़ रखे थे.. और परिवार सम्बन्धी सारी व्यवस्था पत्नी सत्यवती पर। पत्नी को शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करते देख और समय-समय पर नीति-कथाओं की चर्चा करते सुनकर उन्हें सुख प्राप्त होता था।

फिर भी, सब सुख-सुविधाओं के बीच भी, वे घर में रहते हुए ही वानप्रस्थी हो चुके थे। उनकी मनोदशा देखते हुए कई बार सत्यवती ने तीर्थाटन का प्रस्ताव भी रखा, किन्तु शान्तनु के वीतरागवश वह हर बार टलता ही रहा।

बीतते हुए समय ने महाराज शान्तनु के तन को निरन्तर शिथिल ही किया.. इतना, कि युवा होते हुए अपने शस्त्र एवं शास्त्र विशारद पुत्र चित्रांगद को देखकर भी उनका मन कभी उल्लसित नहीं हो पाया।

एक दिन, सभी उपचारो को नकारते हुए, अपने पार्थिव शरीर का बोझ तीन पुत्रों के असमान कन्धो पर डालकर, वे काल धर्म को प्राप्त हुए।

वंश-बेल

कुरुवंश पर एक बार फिर संकट के काले बादल घिर आये थे...

महाराज विचित्रवीर्य के निधन ने वंश के सम्मुख अस्तित्व की समस्या खड़ी कर दी थी...

"ऐसा क्या अपराध हो गया मुझसे, प्रभु!" राजमाता सत्यवती हृदय-विदारक चीत्कार के साथ, रह-रहकर अचेत हो जाती थीं।

देवव्रत, आँखों में आँसू भरे, कभी माँ को सँभालते तो कभी कुल देवी के समक्ष अपना सिर पटकते। विचित्रवीर्य मात्र उनका अनुज नहीं, पुत्रवत् था उनके लिए... जिसे उन्होंने अपनी गोद में भी खिलाया था और दास-दासियों के सम्मुख, उपहास का पात्र बनते हुए भी, अपनी पीठ पर बैठाकर घुमाया था। कितनी आशाएँ थीं उन्हें विचित्रवीर्य को लेकर! कैसे-कैसे स्वप्न देखे थे उन्होंने अपने उस पुत्रवत् अनुज के लिए ही नहीं, उसके जीवनकाल में हस्तिनापुर की उन्नति को लेकर भी।

और चित्रांगद के आकस्मिक निधन के बाद तो उनका सारा ध्यान, सारा स्नेह विचित्रवीर्य पर ही केन्द्रित हो गया था। चित्रांगद की पराजय तथा मृत्यु के अपराध-बोध से दबे देवव्रत, विचित्रवीर्य को सुखी एवं समृद्ध देखकर, अपने सारे दुःख भुलाना चाहते थे।

'कैसे हो जाती हैं... ये अप्रत्याशित दुर्घटनाएँ? हे प्रभु, कैसे आ पड़ते हैं ऐसे अनदेखे संकट? और सब... एक-के-बाद-एक, निरन्तर मुझ पर... चुन-चुनकर हमारे ही कुल पर!'

वे उद्विग्न... व्याकुल... अशान्त... रात-रात भर जागते थे, तो कभी शैया त्यागकर घण्टों-घण्टों आकाश की ओर निहारते रहते थे।

कुछ ऐसी ही स्थिति हुई थी उनकी, तब... जब चित्रांगद की युद्ध-भूमि में मृत्यु हुई थी। वे विश्वास नहीं कर पाये थे अपने कानों पर। उनका वीर अनुज, महाबली अनुज, अतिरथी अनुज... शत्रु द्वारा मारा गया। वे वर्षों धिक्कारते रहे थे अपने-आप को, अपने युद्ध कौशल को, कि युद्ध-भूमि में अपने अनुज की रक्षा भी नहीं कर पाये...! उस हस्तिनापुर के नरेश की जिसकी रक्षा एवं समृद्धि को ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा था।

कैसा विचित्र संयोग कि चित्रांगद को चित्रांगद नाम के ही एक शत्रु के हाथों मृत्यु मिली... गन्धर्वराज चित्रांगद के हाथों, जिसके साथ उनका सरस्वती नदी के तट

पर, कुरुक्षेत्र में, निरन्तर तीन वर्ष तक युद्ध चला था।

क्यों... क्यों चले आये थे वे, उस निर्णायक दिन, अनुज चित्रांगद के आग्रह पर हस्तिनापुर... कुछ प्रशासनिक कार्य निपटाने? क्यों नहीं सोच पाये थे वे, कि शस्त्र-ज्ञान के साथ ही, अनुज को मायावी शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के उपाय भी बताएँ...! मायावी शत्रुओं के प्रति सचेत रहने का विशेष मन्त्र दें...

इतना बड़ा छल! ऐसा विश्वासघात! मायावी गन्धर्वराज ने तीन वर्ष के दीर्घकालीन युद्ध के बाद, पराजय की स्थिति आ जाने पर, सन्धि का प्रस्ताव रखा... और मुस्कराते हुए, सामने आते ही, चित्रांगद पर घातक प्रहार कर दिया।

वह घातक प्रहार हस्तिनापुर पर था... कुरुवंश पर था... स्वयं उनकी पीठ पर था। भीष्म निरन्तर यह सोच-सोचकर पश्चात्ताप करते रहते थे। समझ नहीं पाते थे कि माँ सत्यवती की सूनी आँखों की चिन्ता करें अथवा हस्तिनापुर के सूने पड़े सिंहासन की! तब कुमार विचित्रवीर्य अल्पायु थे... नितान्त अनुभवहीन भी। किशोर अवस्था में अभी प्रवेश ही किया था उन्होंने।

"वत्स..." अन्न-जल त्यागकर गुमसुम बैठी सत्यवती ने, तीन दिन बाद, उनके आग्रह पर दो घूँट जल पीने के लिए एक शुल्क-बन्ध रखा था। "तुम चाहते हो कि मैं जल ग्रहण करूँ...! तुम चाहते हो कि मैं जीवित रहूँ! तो वचन दो पहले, कि तुम मेरा अनुरोध मानोगे।"

"आप जल तो ग्रहण करें माताश्री..." भीष्म ने आग्रह करते हुए कहा था, "और फिर आदेश दें। मैंने कभी आपका आदेश टाला है, क्या?"

"नहीं वत्स! पहले वचन दो..." सत्यवती का आग्रह किसी सम्भावित दुविधा की ओर संकेत कर रहा था। वे गम्भीर होते हुए बोले, "मैं वचन देता हूँ, माँ... किन्तु..."

"अब किन्तु क्या वत्स!" व्यग्र होकर सत्यवती ने पूछा।

"मेरे वचन की लाज तुम्हारे हाथ है माँ। मेरा वचन किसी अन्य वचन से टकराने न पाए। एक वचन का निर्वाह मुझे कोई अन्य वचन भंग करने का अपराधी न बना दे। यदि ऐसा हुआ तो मैं कहीं का न रहूँगा। माँ, यदि विवश होकर जीवित रह भी लिया तो मात्र निर्जीव शरीर बनकर रह जाऊँगा..."

"यह कैसी दुविधा में डाल दिया वत्स?" सत्यवती अपना अमोघ शस्त्र निष्फल होता देखकर चिन्तित हो उठीं... "और इस दुविधा के लिए दोष दूँ भी तो किसे? मुझ अभागिन के लिए ही तो यह व्रत लेना पड़ा था तुम्हें..."

"नहीं माँ, नहीं... मत दोष दो अपने आप को..." भीष्म अधीर होते हुए बोले थे,

"ज्ञानीजन कहते हैं कि व्यक्ति तो बस प्रारब्ध का निमित्त होता है... । जो मैंने किया वह न तुम्हारे लिए किया, और न स्वर्गीय पिताश्री के लिए... मैंने तो बस पालन किया प्रारब्ध की योजना का, उसके अनुशासन का।"

सत्यवती मौन, करुण एवं असहाय दृष्टि से देखती रहीं भीष्म की ओर, और अश्रु-गद्गद कण्ठ से बोलीं, "सब जानती हूँ... मैं भी यह सब सुन चुकी हूँ। किन्तु प्रारब्ध जब कभी अंगारों की शैया पर शयन करने का आदेश देता है तो... वत्स! प्रारब्ध के आदेश पर भले ही कोई अंगारों पर लेट जाए, किन्तु क्या कोई सो सकता है कभी... चैन से, उन अंगारों पर?"

भीष्म, सत्यवती की दुविधा समझते थे। वे यह भी जानते थे कि सत्यवती उनकी दुविधा से अपरिचित नहीं हैं। किन्तु कोई यह नहीं जानता था कि जब दो दुविधाएँ टकराती हैं तब परिणाम क्या होता है? जब दो परस्पर विरोधी दिशाओं से भविष्य पुकारने लगे तो वर्तमान पर क्या बीत सकती है!

भविष्य तो स्वयं ही आ जाएगा, अपना मार्ग बनाते हुए... भीष्म की समस्या वर्तमान को झेलने की थी। उस समय उनके सम्मुख तीन दिन से अन्न-जल का परित्याग किये माँ निढाल पड़ी थीं। वे विचित्रवीर्य को साथ लेकर सत्यवती के सम्मुख पहुँचे और उन्होंने जल-पात्र पुनः उनकी ओर बढ़ाकर अपना अनुरोध दुहराया, "माताश्री! मेरी विनती स्वीकार करें। एक बार देखें तो.. विचित्रवीर्य कैसा सहमा हुआ है! इसे आपकी आवश्यकता है। इसके मन पर आतंक की छाया आ पड़ी है। अपने स्नेह से उस दुष्छाया का निवारण करें।"

विचित्रवीर्य का कुम्हलाया मुख देखकर सत्यवती बरबस रो पड़ीं। उन्होंने खींचकर उसे अपने हृदय से लगा लिया और अश्रुओं से बड़ी देर तक उसका मस्तक भिगोती रहीं।

"वत्स देवव्रत..." उन्होंने भीष्म से कहा, "तुमने कुछ तो सोचा होगा हस्तिनापुर के विषय में!"

"माताश्री!" भीष्म ने करुण स्वर में कहा, "हस्तिनापुर तथा अपने वंश के अतिरिक्त मेरे पास सोचने के लिए है ही क्या! मेरी प्रतिज्ञा कुरुवंश के लिए है... मेरी निष्ठा हस्तिनापुर के प्रति है... और सदैव रहेगी।"

"तो बताओ न...! हस्तिनापुर का सिंहासन कब तक सूना पड़ा रहेगा? राजा के बिना राज्य का प्रशासन कब तक चलेगा! कैसे चलेगा?"

"वह चिन्ता त्याग दें माँ...! हमारे वंश में अभी भी एक दीपक है..." भीष्म ने स्नेह-सहित विचित्रवीर्य को अपनी ओर खींचकर, उसके सिर पर हाथ फेरते हुए सीने से लगा लिया, "आपके हर प्रश्न का उत्तर है, हमारा यह कुल दीपक।"

"यह बालक...?" सत्यवती की आँखों में विस्मय झलक आया। "अभी इसकी

आयु ही क्या है! क्या समझ पाएगा यह? क्या कर पाएगा?"

"माताश्री!" भीष्म ने रहस्य उद्घाटित करते-से स्वर में कुछ मुस्कराते हुए उन्हें आश्वस्त किया, "प्रजा को राजा चाहिए न! वह स्थान हमारा विचित्रवीर्य ग्रहण करेगा... और जब तक यह कुछ समझे, कुछ सीखे, तब तक आपके आदेश से राज्य का प्रबन्ध मैं करूँगा।"

"मेरा आदेश!" सत्यवती ने विवश मुस्कान के साथ कहा, "मैं भला क्या जानूँ, राजकाज क्या होता है ! मेरा आदेश उपहास होगा उस गौरवशाली वंश का, जिसका मान समय-समय पर पुरूरवा, नहुष, ययाति, पुरु, जनमेजय, जयत्सेन, अक्रोधन, दुष्यन्त जैसे महाराजाओं ने बढ़ाया। फिर महाराज भरत ने नयी कीर्ति प्रदान की हमारे वंश को, जिसकी समृद्ध परम्परा को महाराज अजमीढ, संवरण, कुरु, परीक्षित तथा प्रतीप जैसे महारथियों ने नया आयाम दिया। उस गौरवशाली परम्परा के वास्तविक अधिकारी तो तुम हो, देवव्रत! मेरा आदेश तो तुम पर भी नहीं चल पाता, वत्स।"

"ऐसा न कहें, माँ।" भीष्म ने आहत स्वर में कहा, "आप जो भी चाहें आदेश देकर देखें .. किन्तु विनती बस यही है कि आपका आदेश मेरी किसी प्रतिज्ञा पर आघात न करे।"

"तो फिर जो उचित समझो वही करो, वत्स," सत्यवती ने पराजित स्वर में कहा।

सत्यवती ने अन्न जल ग्रहण किया तो भीष्म को लगा जैसे उन्होंने कोई बडा युद्ध जीत लिया हो।

किन्तु रह-रहकर उन्हे एक पीड़ा टीसती रहती थी.. वे वह युद्ध क्यों नहीं जीत पाये, जिसमें उनका पराक्रमी अनुज धराशायी हो गया। उस पीड़ा के साथ ही अब एक नया संग्राम उनके सम्मुख था. हस्तिनापुर के वर्तमान के साथ प्राणपण से जूझना। कुमार विचित्रवीर्य का शासन स्थापित करना था.. बिगडती व्यवस्था को सँभालते हुए, उसे सुचारु रूप प्रदान करना था और, उस सबसे बढकर, प्रजा के गिरते हुए मनोबल को बढाना था।

प्रशासनिक व्यवस्था सँभालने तथा सेना का नये सिरे से संगठन करने के साथ ही उन्होंने अपना सारा स्नेह अनुज विचित्रवीर्य पर उँडेल दिया. पिता शान्तनु का अन्तिम प्रतीक, माँ सत्यवती का एकमेव पुत्र और हस्तिनापुर का सम्राट, विचित्रवीर्य।

अभी आयु ही क्या है इसकी। खेलने स्वच्छन्द घूमने के दिनों में राज-मर्यादा के बन्धन और राजसी जीवन शैली के अनुशासन... भीष्म, जितना विचित्रवीर्य के विषय में सोचते, उनके प्रति करुणा के भाव से भर उठते।

लम्बे प्रशासनिक कर्तव्यों के बाद जो थोड़ा-बहुत समय उन्हें मिलता उसमें से वे समय निकालकर कुछ समय विचित्रवीर्य की शिक्षा-दीक्षा पर लगाते और कुछ उसके साथ खेल-ही-खेल में उसकी बाल-सुलभ शंकाओं का समाधान करने में। चिन्ता रहती थी उन्हें तो बस यह कि उनके अनुज को कभी कोई दुःख न व्यापे... चिन्ता की छाया भी उस पर न पड़ पाए।

कभी-कभी उन्हें लगता, और भला क्या होता है पुत्र...? नहीं... विवाह न करके उन्होंने कुछ भी तो नहीं खोया।

उनका अत्यधिक दुलार, विचित्रवीर्य पर कोई अनुचित प्रभाव तो नहीं डाल रहा है, कभी सोचा भी नहीं उन्होंने। खेले, वह जी भरकर खेले और आमोद-प्रमोद में समय बिताए... यही देख सुख मिलता था भीष्म को। सत्यवती कभी परिवाद करें भी, तो वे हँसकर ही उड़ा देते थे, "बालक है अभी, माँ... अबोध है। कुछ दिन तो खेल लेने दो उसे। फिर कुछ समय बाद तो सभी कुछ झेलना है उसे... अकेले ही।"

अपने अनुज को युवा होते देख भीष्म उसके विवाह के स्वप्न देखने लगे... कि घर में कोई सुन्दर, सुशील कुल-वधू आये और सुन्दर-स्वस्थ शिशुओं को जन्म देकर सूखती हुई वंश-बेल को नव-जीवन देकर पल्लवित करे, पुरखों की चिन्ता मिटाये।

और यही स्वप्न तो ले गया था उन्हें काशी...

जहाँ औपचारिक संवाद ने अचानक रूप ले लिया व्यग्य एवं आक्रोश का... हस्तिनापुर के सम्मान का... और क्षणांश में ही खड्ग निकल आये थे दोनों ओर।

फिर उसी आवेश में, ललकारते हुए काशी नरेश को, बलात् साथ ले आये थे वे उनकी तीनों कन्याओं को। सोचा था भीष्म ने कि उनमें से मनचाही कन्या से विवाह करेगा विचित्रवीर्य। किन्तु सारा परिदृश्य ही बदल गया.. एक अम्बा की प्रार्थना तथा उसके आक्रोश से। सयोग कि अम्बिका एवं अम्बालिका दोनों ही भा गयीं माँ सत्यवती को... और, दूसरी ओर, उन दोनों ने ही अपना लिया विचित्रवीर्य को।

विचित्रवीर्य के विवाह के बाद भीष्म को लगा जैसे कुरुकुल पर छाए काले बादलों की पंक्ति तिरोहित हो चली है। दीर्घ काली रात के बाद वंश के लिए नव-जीवन का सुखद संदेश लेकर तम-निवारक सूर्यदेव का उदय होने ही वाला है।

विचित्रवीर्य अपनी दो सुन्दर पत्नियों के साथ सुख-स्वप्नों के हिंडोले चढ़ पींगें बढ़ा रहे थे। सत्यवती कभी आपत्ति करतीं कि कुछ समय उसे शिक्षा-दीक्षा के लिए भी निकालना चाहिए... मन्त्रिगण कभी संकेत करते कि महाराज को कुछ क्षण राज-काज भी देखना चाहिए... प्रजा चिन्तन के लिए भी रखना चाहिए... पर भीष्म हँसकर टाल जाते उन सब के उलाहने, "अभी उसकी आयु ही क्या है...! और हाँ, मैं हूँ तो सब कुछ देखने-सँभालने के लिए! मुझसे कहो, जो करना है।"

भीष्म को अन्तर्मन में कहीं यह लगता था कि विचित्रवीर्य द्वारा, सारे उत्तरदायित्व

...सारी चिन्ताएँ भुलाकर, पत्नी के साथ बिताया हुआ समय वंश-बेल को सींच रहा है। किन्तु उड़ते हुए समय ने सहसा एक दिन उन्हें चिन्ता में डाल दिया।

सुख में समय इतना स्वच्छन्द कैसे हो जाता है! उड़ता ही चला जाता है... कोई सूचना अथवा संकेत दिये बिना।

अब तो बहुत समय पड़ चुका... वंश-बेल की जड़ों में। किन्तु किसी अंकुर का, किसी कोंपल का, कहीं कोई संकेत नहीं। यह चिन्ता उन्हें, निवारण की खोज में, वैद्यराज के पास ले गयी... भविष्य वक्ताओं के पास ले गयी। किन्तु जब वे लौटे तो माथे पर कुछ और अधिक गहरी रेखाएँ लेकर ही लौटे...

विचित्रवीर्य अस्वस्थ थे। क्षय रोग उनके शरीर को आक्रान्त कर चुका था। भविष्य-वक्ताओं को भी निकट भविष्य के पार कुछ देख पाना कठिन लग रहा था। भविष्य के गर्भ में वर्तमान की पगडण्डियाँ ओझल होती लगती थीं।

अपने मस्तक पर खिंची चिन्ता की रेखाएँ वे बहुत दिनों तक अपने तक सीमित नहीं रख पाये। अपने चारो ओर तनी जिज्ञासु एवं शंकाकुल दृष्टियों से विवश होकर, उन्हें अपनी चिन्ता सबके साथ बाँटनी पड़ी। देखते-ही-देखते, राजभवन का उल्लास मे डूबा वातावरण अनिश्चय के सागर में डूबने-उतराने लगा, जैसे सुदूर यात्रा पर निकले जल-पोत के तल में कहीं विशाल छिद्र हो गया हो.. भरी पूरी कृषि पर तुषार-पात हुआ हो...

वैद्यराज के उपचार के साथ माँ सत्यवती की अश्रु-पूरित प्रार्थनाएँ और पत्नियों की अहर्निश सेवा-शुश्रूषा... चलती रही, वर्षों चली। भीष्म सबको साहस बँधाते हुए, एकान्त में अश्रु बहाकर छटपटाते रहते थे कि कहीं कोई तो होता जिसके काँधे पर मस्तक टिकाकर वे रो लेते! कोई तो होता जो उन्हें धीरज बँधाता! एकान्त में सान्त्वना के लिए अपने पूर्वजों को पुकारते, कुलदेवी से दया की भिक्षा माँगते कि किसी का आशीर्वाद उन्हें निर्वंशी होने से बचा ले... कुरु-कुल के एकमात्र दीप को बुझने से बचा ले...

किन्तु समय के निष्ठुर झंझावात ने किसी की प्रार्थना नहीं सुनी, किसी का हित नहीं देखा... कुरुवंश का वह टिमटिमाता दीप अन्धकार में विलीन हो गया।

हस्तिनापुर पर संकट के घने बादल बस अन्धकार ही बरसा रहे थे।

वैसे तो प्रत्येक दुःख अतीत के सभी दुःखों से अधिक भयावह लगता है... किन्तु इस बार सम्भवतः वास्तविकता भी यही थी। चित्रांगद के निधन के समय वंश के साथ, विचित्रवीर्य के रूप में, आशा की जो क्षीण किरण थी... इस बार वह भी अस्त हो चुकी थी। स्पष्ट लग रहा था कि शीघ्र ही कुरुवंश का कोई नाम लेने वाला भी नहीं

रहेगा... कोई पुरखों को जल देने वाला भी नहीं होगा। इतिहास बन जाएगा गौरवशाली कुरुवंश...!

इतिहास बन जाने का भय भी तभी तक तो व्यापता है, जब तक हृदय में स्पन्दन हो... और वह स्पन्दन शेष था सत्यवती के हृदय में, देवव्रत भीष्म के हृदय में। मृतप्राय होते हुए भी न तो स्पन्दन ने उनके हृदय से नाता तोड़ा था और न स्थिति से उबर पाने की जिजीविषा ने।

वंश का अन्त...! वंश का अन्त...? पुत्र देवव्रत के जीते जी...? सत्यवती की तिनके भर का अवलम्ब ढूँढ़ती दृष्टि, घूम-फिरकर, भीष्म पर जा टिकती थी... सब कुछ जानते-बूझते, अतीत की असफलता को नकारते हुए।

अपने कन्धे पर स्नेह-भरा स्पर्श पाकर भीष्म ने अपनी अश्रु-पूरित दृष्टि उठायी। सामने निषादराज खड़े थे... माँ सत्यवती के पिता।

"अरे... पूज्यवर आप!" आँसुओं की मोटी पर्त के पीछे से झाँकता हुआ आश्चर्य, भीष्म के मुख को और भी म्लान बना रहा था। उन्होंने धीरे से उठकर निषादराज के चरण छुए और उन्हें एक आसन पर बैठाकर स्वयं भी उनके सामने बैठ गये। दु:ख एवं चिन्ता के भार से उनका मस्तक झुका हुआ था।

"कुमार...!" निषादराज ने कक्ष का भयावह मौन तोड़ते हुए कहा, "मैं वह सब कहने नहीं आया हूँ जो ऐसे दु:ख के अवसरों पर कहा जाता है वत्स! दैव का यह क्रूर निर्णय जब स्वयं मैं सहने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ, तो तुमसे किस मुँह से कहूँ कि उसे, ईश्वर की इच्छा मानते हुए, सिर झुकाकर स्वीकार कर लो..."

उनका गला रुँधा था, आँखें भी भर आयी थीं। वे कुछ रुककर बोले, "मैं तो यहाँ आया था तुम्हारे साथ मिलकर अपनी बेटी के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने, पर उसकी सूनी गोद एवं अन्धकार में डूबी आँखें देखकर तो लगता है कि मैं अपनी आँखों से समूची गंगा-जमुना जितना नीर भी बहा लूँ... तो भी मेरे मन का भार कम नहीं होने का..."

"वत्स.." वे कुछ क्षण शब्दों को तौलते हुए फिर बोले, "यही तो थे न! मेरी बेटी के जाये दो बेटे... चित्रांगद और विचित्रवीर्य, जिन्हें राज्य दिलाने के लोभ में अन्याय... नहीं, अन्याय नहीं... पाप, महापाप किया था मैंने...!' निषादराज भीष्म के कन्धे पर अपना हाथ टिकाकर, अपने कन्धे में आँखें छिपाते हुए वे सिसक पड़े।

भीष्म के पास तो पहले ही आँसुओं का अकाल आ पड़ा था, शब्दों का भी। कुछ भी कहने-करने में असमर्थ, वे और भी घुटन का अनुभव कर रहे थे।

"वत्स..." निषादराज फिर बोले, "वत्स, मैं अपना दुःख देखूँ या तुम्हारा... या अपनी बेटी का! कौन तौलेगा उन्हें... कौन बता सकेगा कि किसकी पीड़ा अधिक शोचनीय है? कौन किसको धीरज बँधाए?

"अब जो भी हो, वत्स! इस महादुःख को झेलना तो हमीं को है, मिलकर... वैसे, मेरा दुःख भी क्या! मैं तो जी लिया... बहुत जी लिया, लोभ एवं पाप से भरा अपना जीवन। जो दो-चार वर्ष और बचे होंगे, रो-धोकर काट लूँगा। किन्तु वत्स, तुम्हारा तो जीवन पड़ा है। दुःख तो वास्तव में तुम्हारा है। तुम्हें अपना दुःख भुलाकर अपनी माँ को सँभालना है, उसकी चिन्ता दूर करनी है। तुम्हें तो इस साम्राज्य पर मँडराते संकट का सामना करना है। अकेले... नितान्त अकेले। और कौन है जो मँझधार में पड़ी कुरुवंश की नैया को किनारे लगाएगा? अब है ही कौन, तुम्हारे अतिरिक्त! अब तो तुम्हीं को सब कुछ देखना है... जो कुछ करना है, तुम्हीं को करना है।"

निषादराज का स्वर अपने वाक्य के अन्तिम चरण पर पहुँचते-पहुँचते शिथिल होकर डूबने लगा था। भीष्म को उनका विस्तृत एकालाप किसी सुनिश्चित योजना की भूमिका जैसा लगा। पिताश्री शान्तनु के स्वर्गवास के पश्चात्, सहसा एक दीर्घ अवधि के बाद वे दिखाई दिये थे.. तन से शिथिल, मन से जर्जर। भीष्म को याद आया, वे चित्रांगद के देहावसान के अवसर पर भी नहीं आये थे।

सन्ध्या घिर रही थी .. कक्ष में अन्धकार पसरने के साथ ही मौन गहराता जा रहा था। कक्ष में दीपक लेकर एक दास आया तो, एक अतिथि की उपस्थिति देखते हुए, भीष्म उसे मना नहीं कर पाये। दीपों के मद्धिम प्रकाश में उन्होंने निषादराज के मस्तक पर दीर्घ अनुभव की रेखाएँ देखीं... मुख पर चिन्ता के साथ दुविधा का भाव भी था। उन्होंने पूछा, "आपका स्वास्थ्य तो ठीक है... कुटुम्ब में सब सुखी तो हैं...?"

"मेरे स्वास्थ्य की. मेरे कुटुम्ब की चिन्ता छोड़ो कुमार।" उन्होंने कुछ अधीर होते हुए कहा, "मेरा दुःख दूर करना है तो मेरी बेटी की चिन्ता दूर करो... हस्तिनापुर को संकट से उबारो..."

"जिस विधाता ने हमें इस संकट में डाला है... उससे तो मैं पूछ-पूछकर हार गया पूज्यवर! उसका मौन मुझे क्षण-प्रतिक्षण और भी सकट की ओर ढकेलता जा रहा है।"

"उस समस्या का उत्तर देने के लिए ही भेजा है मुझे, विधाता ने..." निषादराज ने बड़ी तत्परता से कहा, जैसे इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहे हों। "उसकी प्रेरणा ही मुझे यहाँ लेकर आयी है, कुमार!"

भीष्म की प्रश्नवाचक दृष्टि उनकी ओर उठ गयी... सीधे उनकी आँखों में झाँकती हुई।

"वैसे तो मैं तुमसे बहुत छोटा हूँ... हर प्रकार से... पद में भी, बल में भी और

विद्या में भी..." निषादराज ने एक अर्थपूर्ण भूमिका रचते हुए कहा, "किन्तु आयु ने मुझे अनुभव की सम्पत्ति दी है। मैं कहते डरता तो हूँ, कुमार! किन्तु कहे बिना रह भी तो नहीं सकता। बस, प्रार्थना है मेरी कि... ठुकरा न देना मेरा निवेदन, मान रख लेना मेरा।" उन्होंने भीष्म के आगे दोनों हाथ जोड़ दिये।

"आप तो ज्येष्ठ हैं मेरे, सम्माननीय हैं मेरे लिए..." भीष्म ने उनके जुड़े हुए दोनों हाथ अपनी हथेलियों के बीच थामते हुए कहा, "किन्तु एक विनती मेरी भी सुन लें। ऐसी कोई बात न कहें जो मेरे वश में न हो... जिसे स्वीकार करने की अपेक्षा, आत्मघात कर लेना मुझे अधिक श्रेयस्कर लगे... धर्म-संगत लगे।"

सुनकर निषादराज का मस्तक निराशा में झुक गया। ऐसी स्पष्ट विनती के बाद भला कहने को रह भी क्या गया था। उन्होंने शस्त्र-त्याग करते हुए आत्म-समर्पण करते-से स्वर में कहा, "कुमार! तुम तो मन की भाषा भी पढ़ लेते हो ..."

वे दोनों, मौन... धरती की ओर निहारते हुए, कक्ष के सन्नाटे को और भी असहनीय बनाते रहे। कुछ समय बाद, निषादराज ने सिर उठाते हुए हाथ जोड़कर कहा, "तो आज्ञा दो कुमार... हस्तिनापुर तथा तुम्हारी सुख शान्ति के लिए मैं प्रार्थना करता रहूँगा।"

भीष्म ने बिना कुछ कहे, विदा में हाथ जोड़ दिये।

"वत्स..." भीष्म दूसरे दिन प्रातःकाल जब सत्यवती के पास पहुँचे तो सत्यवती ने कहा, "अब तो तुम बिना सन्देश भेजे माँ की सुध लेने भी नहीं आते। डरते हो न...!"

भीष्म सहसा कुछ बोल नहीं पाये। वास्तविकता तो यह थी कि वे स्वयं ही उनसे मिलने के लिए निकल रहे थे, यह सुनकर कि राजमाता ने कल रात भोजन को हाथ भी नहीं लगाया... जल भी नहीं ग्रहण किया। तभी दासी उनका सन्देश लेकर पहुँची।

"किन्तु भय त्याग दो, वत्स!" सत्यवती अपना वाक्य पूरा करते हुए बोल रही थीं, "मैं तुमसे उस विषय में एक शब्द भी नहीं कहूँगी, जिस पर तुमसे बहुत कुछ कहना चाहती हूँ... तुमसे हाथ जोड़कर विनती करना चाहती हूँ।"

"विनती नहीं माताश्री... आप को तो अधिकार है आदेश देने का," भीष्म ने हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक कहा।

"ऐसा आदेश का अधिकार लेकर भला कोई क्या करे... जिसका पालन असम्भव हो..."

"किस दुविधा में डाल रही हैं माँ मुझे.. !" भीष्म ने रुँधे हुए कण्ठ से, विचलित स्वर में कहा।

"दुविधा में नहीं डालना चाहती वत्स... मैं तो मुक्त कर रही हूँ तुम्हें उस शुल्क-बन्ध से, जिसके कारण तुम्हें वह घोर प्रतिज्ञा करनी पड़ी। मूर्खता थी मेरी... लोभ था मेरे पिता का, जिसने तुम्हारे जीवन के सारे सुख हर लिये... और जो आज हस्तिनापुर के लिए संकट बनकर आ खड़ा हुआ है।"

"नहीं माँ, नहीं..." भीष्म उसी विचलित स्वर में बोले, "जो तुमने किया वह स्वाभाविक था, और जो मैंने किया वह मेरा धर्म था। किसे पता था तब, कि विधाता ऐसी विपदा लेकर टूट पड़ेगा हमारे ऊपर! किन्तु माँ, प्रतिज्ञा भी खेल में बना कोई बालू का घरौंदा तो नहीं होता जो जब चाहे बना लिया और... जब चाहा गिरा दिया।"

"किन्तु वत्स...! वचनबद्ध तो तुम हस्तिनापुर की रक्षा के लिए भी हो..." सत्यवती ने भीष्म पर एक और दुविधा उद्घाटित करते हुए कहा, "इस समय कुरुवंश की रक्षा का भला और क्या उपाय हो सकता है... इसके अतिरिक्त कि तुम विवाह करो, वंश-बेल को बढ़ाओ और हस्तिनापुर का शासन-भार ग्रहण करो।"

"यह दुविधा कहीं मेरे प्राण ही न ले ले, माताश्री...!" भीष्म ने करुण स्वर में कहा, "मुझे मृत्यु का नहीं... मुक्ति का कोई मार्ग दिखाओ माँ।"

मृत्यु का नाम सुनकर सत्यवती भी आतंकित रह गयीं। कुछ सोचकर उन्होंने एक और प्रस्ताव रखा, "मैं क्या कहने जा रही हूँ वत्स, मैं स्वयं नहीं जानती... दुःखी मन तो वैसे भी सन्तुलन खो बैठता है। तिनका पकड़कर भी भँवर से मुक्ति पाने का प्रयास करता है। मेरी मानसिक स्थिति भी बहुत भिन्न नहीं है। क्षमा करना यदि मैं कुछ अनुचित कह जाऊँ तो..."

इस विस्तृत भूमिका के उत्तर में भीष्म अपनी दृष्टि उठाकर सत्यवती की ओर एकाग्र हो गये।

"अम्बिका तथा अम्बालिका अभी अल्पायु हैं... निःसन्तान भी हैं। यदि नियोग द्वारा उन्हें सन्तान प्राप्त हो, तो वह भी विचित्रवीर्य की ही सन्तान होगी। मेरा अनुरोध है कि तुम उन्हें नियोग द्वारा..."

"माँ...?" सत्यवती की बात काटते हुए भीष्म की दाहिनी भुजा निषेध-संकेत में उनकी ओर उठ चुकी थी, और मुख मुड़कर बाएँ कन्धे से जा लगा था, जैसे वे और एक शब्द भी सुनने के लिए तैयार नहीं थे। "यह क्या कह रही हैं आप? प्रतिज्ञा तोड़ना ही हो, तो मैं भी अनेक बहाने ढूँढ़ सकता हूँ... किन्तु यह मार्ग! नहीं माताश्री, नहीं। अम्बिका और अम्बालिका तो मेरी अनुज-वधू हैं... पुत्रियों जैसी हैं।"

"तो मैं क्या करूँ...?" सत्यवती की आँखों से अश्रुधार के साथ ही कण्ठ से रुदन भी फूट पड़ा था, "कोई मार्ग तो बताओ तुम्हीं कोई राह सुझाओ। इस वंश-बेल को नष्ट होते मैं नहीं देख सकती... विशेषकर यह जानते हुए कि इस वर्तमान विकल्प-हीनता का कारण मैं हूँ.. स्वार्थी और लोभी, मैं।"

"माँ...?" भीष्म ने कुछ क्षण बाद गम्भीर वाणी में कहा, "यदि नियोग ही एकमात्र विकल्प हो, तो यही सही। आप यदि कहीं सुयोग्य पात्र पाएँ तो उसे आमन्त्रित करें।"

दुःख एवं निराशा में भटकता सत्यवती का मन उन्हें अतीत की भूली-बिसरी डगर पर खींचता चला गया...

सत्यवती का यौवन उनके तन-मन पर मादकता का मन्त्र फूँकता हुआ आ बैठा था। वे पिता निषादराज के साथ, खेल-ही-खेल में नाव चलाना सीख चुकी थीं और, स्वेच्छा से ही, ऋषि-मुनियों का आशीर्वाद पाने के लोभ में यमुना के दोनों तटों के बीच नाव खेने लगी थीं। बिना किसी शुल्क के ही, नौका पर यमुना पार करते समय वे ऋषिगण सत्यवती को भाँति-भाँति की सुन्दर कथाएँ सुनाते, ज्ञान की बातें बताते और उनकी परोपकारी प्रवृत्ति की सराहना करते। सत्यवती को लगता, उन्हें कई गुना पारिश्रमिक मिल गया... और समय का सदुपयोग भी हो गया।

उन्हीं दिनों...

एक बार पराशर ऋषि यमुना पार करने के लिए पधारे। वे अकेले ही थे... विशाल मस्तक, गौर वर्ण, मुख पर ज्ञान एवं यौवन का तेज, स्वस्थ-विशाल भुजाएँ और शरीर पर स्वच्छ गेरुआ वस्त्र... उनकी दृष्टि में वह कामदेव-सी छवि ऐसे आ समायी कि किसी अज्ञात लज्जा से उनका मस्तक झुक गया। नौका खेते हुए, कुछ देर बाद, धीरे से दृष्टि उठाकर उन्होंने पराशर मुनि को देखा तो दृष्टि उनके विशाल नेत्रों में ही उलझकर रह गयी। वे भी उन्हीं की ओर देखे जा रहे थे ...

सहसा सत्यवती को स्मरण हुआ कि वे भी सुन्दर हैं... उनकी सखियाँ, उनकी माँ और सबसे बढ़कर उनका दर्पण जो कुछ कहता रहा है, वह अतिशयोक्ति नहीं है। उन्होंने देखा, सामने बैठे कामदेव अपनी आँखों से ही उनके रूप का रस पी रहे हैं।

कुछ क्षणों में नयनों ने नयनों की भाषा पढ़ ली और... तब जाने क्या हो चला था उन्हें! हाथ शिथिल होने लगे, तन-मन पर संयम नहीं रहा। पता नहीं क्या कहा था मुनि पराशर ने कि उनकी आँखों के आगे ही नहीं, सारी नौका पर... सारी यमुना पर अन्धकार-अन्धकार सा घिर आया...

कुछ ही माह में समय ने उनके कानों में गर्भ का संकेत सुनाया... तो उनका सन्देश पाकर पराशर आये, आकर निषादराज से मिले और एक अनुष्ठान के लिए कुछ समय के लिए उन्हें माँगकर ले गये। संन्यासियों के तपोवन में रहकर, सत्यवती ने एक पुत्र को जन्म दिया... और कुछ ही मास में, उसे पराशर को सौंपकर वे

निषादराज के पास लौट आयीं। विदा होते समय पराशर ने उन्हें पुनर्नवा औषधियाँ दीं, जिनके सेवन से वे तन-मन से पूर्ववत् स्वस्थ एवं सुन्दर हो गयीं।

चाहे-अनचाहे... यदा-कदा उन्हें पराशर मुनि तथा उनके पुत्र के विषय में समाचार मिल जाते थे। उनका साँवला-सलोना पुत्र कहीं कृष्ण कहलाया, तो कहीं द्वैपायन। पिता तथा गुरुओं से ज्ञान पाकर, अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण, वह अल्पायु में ही वेदों का अध्ययन करके प्रकाण्ड पण्डित बना और ज्ञानियों के बीच व्यास कहलाया।

वह कहाँ होगा...? कहाँ होगा मेरा वह ज्ञानी-ध्यानी, मातृ-विहीन पुत्र...? क्या वह इस संकट की घड़ी में मेरा अवलम्ब बनेगा?

कृष्ण द्वैपायन जब सत्यवती के सम्मुख पहुँचे तो उनका तापस रूप देखकर वे अवाक् रह गयीं... इस अल्प आयु में ही ऐसा त्यागी-वैरागी जैसा कलेवर! ऐसी अलौकिक छवि!

उनका पहला पुत्र...! जिसके मस्तक पर कभी ममता की छाया नहीं रही और आज उन्होंने उसे पुकारा भी तो नितान्त स्वार्थवश!

अपने परित्यक्त अतीत को दौडकर वक्ष से लगाने वाली ममता भी, इस बीच, समय के अन्तराल के कारण पलायन कर चुकी थी। सत्यवती को लगा, इस समय उनके सम्मुख उनका बिछुड़ा शिशु नहीं, एक प्रकाण्ड पण्डित खड़ा है... उनके वंश की डूबती हुई नैया को पार लगाने का एकमात्र साधन।

"महात्मन्!" भीष्म का परिचय देते हुए सत्यवती ने द्वैपायन से कहा, "यह आपका अनुज है, भीष्म। कुरुवंश का एकमेव उत्तरजीवी।"

"और देवव्रत...!" वे अपने मन पर कर्तव्य का पर्वत रखते हुए भीष्म की ओर मुड़ीं, "महात्मा द्वैपायन को मेरा पुत्र ही जानो... अपने अग्रज को प्रणाम करो वत्स।"

द्वैपायन का अर्घ्य-पाद्य से स्वागत करके भीष्म ने विदा ली, तो एक अत्यल्प भूमिका के साथ सत्यवती ने उन्हें अपनी समस्या बतायी... उन्हें अपना मन्तव्य कह सुनाया।

महात्मा व्यास को निर्णय लेने में बहुत समय नहीं लगा... कोई राग, कोई निषेध, कोई संकट नहीं व्यापा। कर्तव्य-पालन... और फिर माँ का आदेश! वे बोले, "माँ! यह शरीर तो तुम्हारी ही रचना है। इसका उपयोग तुम्हारा वंश बढ़ाने के लिए हो सके, तो इस शरीर को भी सार्थकता प्राप्त होगी।"

इस उत्तर से आश्वस्त होकर भी सत्यवती की समस्या का अन्त नहीं हुआ था। उन्हें अम्बिका तथा अम्बालिका को समझाना था, अपने मर्मान्तक दुःख को भुलाकर उन्हें इस आकस्मिक मानसिकता के लिए तैयार करना था...

कुछ स्नेह, कुछ अश्रु, कुछ नीति-अनीति, कुछ कुलधर्म और कुछ कर्तव्यनिष्ठा, कभी उपदेश, कभी निहोरा, कभी आदेश... मात्र अपने हाथों को पतवार बनाते हुए, सागर पार करने जैसा उपक्रम लगा था सत्यवती को। किन्तु उस सबके अन्त में, अम्बिका तथा अम्बालिका की सहमी हुई-सी मौन-स्वीकृति ने उन्हें न जाने कितनी लम्बी मानसिक यातना के बाद मुक्ति की साँस लेने का अवसर प्रदान किया था।

किन्तु फिर भी... प्रसन्न होने की घड़ी अभी दूर थी, बहुत दूर। नियोग के सन्तोषजनक परिणाम के लिए उन्हें न जाने कितनी और रातें प्रार्थना करते, करवटें बदलते बितानी थीं!

यथार्थ के धरातल पर आकर बहुतेरों के मनोबल घुटने टेक देते हैं। सत्यवती को स्वीकार का संकेत देने के बाद से ही अम्बिका तथा अम्बालिका के मन में संशय के साँप प्रश्न-चिह्नों की तरह तनने लगे थे। एक ओर कुल के प्रति दायित्व और राजमाता की आज्ञा... तथा दूसरी ओर किसी स्वप्न-शिशु की ललक और कहीं दिवंगत पति की स्मृति का दंश...

घोर अन्धकार में, एक नितान्त अपरिचित, काँटों भरी, पथरीली राह पर चलने का निमन्त्रण उनके मनोबल को खण्डित कर रहा था।

अपने लिए सारे आयोजन की सूचना पाकर अम्बिका का हृदय अपना नियम, अपना सन्तुलन भूल गया। कभी तुमुल धक्-धक् तो कभी कई-कई क्षण तक अकारण ही मौन। उसके पाँव काँपने लगे, कण्ठ सूख गया...

"मैं... मैं नहीं जाती..." अम्बिका ने लगभग हाथ जोड़ निहोरा करते हुए अपनी दासी से कहा, "कह दो, माताश्री से... तुम समझा दो उन्हें। मैं नहीं... नहीं होगा मुझसे।"

"नहीं कहने से मुक्ति नहीं मिलेगी..." दासी ने स्नेहपूर्वक अम्बिका को समझाते हुए कहा, "आदेश है राजमाता का... कुल की रक्षा के लिए। अब पाँव पीछे हटाने का समय नहीं है।" वर्षों के साहचर्य में वह, दासी रहते हुए भी, अम्बिका की सहेली बन चुकी थी।

किन्तु हर-क्षण अम्बिका की मनोदशा किसी विक्षिप्त-सी होती जा रही थी। उसे खींचकर ले जाना दासी के लिए न तो उचित था, और न सम्भव। अपनी विक्षिप्तता में अम्बिका अपनी दासी से निहोरा कर रही थी, "तू चली जा मेरे स्थान पर... बचा ले मुझे। बस आज बचा ले मुझे। मैं तेरे पाँव..."

"ये क्या..." दासी ने उन्हें उठाकर समझाया, जितना भी उसके लिए सम्भव था। किन्तु, दूसरी ओर अपनी स्वामिनी, सखी का वह विचित्र प्रस्ताव... वह निहोरा, उसके मन को रौंद कर, किसी नये साँचें में ढालने लगा था। इस मन की हलचल को भला कौन शब्द दे पाएगा... कौन व्याख्यायित करेगा!

भोर की उजली किरणों में, अपने कुल के भविष्य की कल्पना करती हुई, सत्यवती जब अम्बालिका के कक्ष के सम्मुख पहुँचीं तो वहाँ उन्होंने, अम्बालिका के साथ, अम्बिका को सोते हुए पाया।

अपनी उलझन में एक-दूसरे की व्यथा-कथा कहते-सुनते, एक-दूसरे में अवलम्ब ढूँढ़ते, अम्बिका-अम्बालिका की आँख रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही लगी थी।

अम्बिका...! और यहाँ...? सत्यवती अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर पायीं। कुल का भविष्य भुलाकर...

अम्बिका ने आँख खुलते ही सामने खड़ी सत्यवती को आग्नेय नेत्रों से घूरते हुए पाया। वह पलकें झुकाये, शैया पर बैठी थर-थर काँपती रहीं। किन्तु अम्बिका की प्रत्याशा के विपरीत, दूसरे ही क्षण, सत्यवती ने स्नेह-सहित आगे बढ़कर उसे अपनी बाँहों में भर लिया और कुछ देर बाद फिर प्रारम्भ हुआ उनका उपदेश... कभी आदेश की तरह कड़कता और कभी भिक्षुणी की करुण पुकार बनकर अम्बिका के हृदय को पिघलाता हुआ।

दिन भर, जहाँ एक ओर अम्बिका का समय कुल देवी के चरणों पर अपनी बलि देने का साहस जुटाने मे बीता, वहीं सत्यवती का... विघ्न विनायक की देहरी पर, सफलता के लिए प्रार्थना करते हुए।

रात्रि का दूसरा प्रहर प्रारम्भ होते-होते, सत्यवती स्वयं ही अम्बिका को महात्मा व्यास के कक्ष तक पहुँचाने गयीं। चलते-चलते वे मधुर वाणी में उसे समझाती रहीं, "सब चिन्ता त्याग दो... स्वस्थ मन से, प्रसन्न होकर जाओ। तुम्हें पता है न... नारी की मानसिक स्थिति का प्रभाव शिशु पर भी पड़ता है।"

अपने काँपते शिथिल पावों को खींचते हुए वहाँ जाकर, जब अम्बिका ने एक वनवासी तपस्वी को सामने पाया तो उसकी आँखों के सम्मुख फैला अन्धकार सहसा और भी गहरा उठा। उन्होंने अनजाने में ही आँखे मूँदकर स्वय को भवितव्य की भुजाओं में सौंप दिया।

अपने उद्देश्य से बँधी सत्यवती को पता नहीं था, वह क्या कर रही हैं... क्यों कर रही हैं! किसका हित, किसका अहित कर रही हैं! किसके प्रति न्याय, किसके प्रति अन्यायकर रही हैं! कोई उन्हें देखता और समझने का प्रयत्न करता तो अवश्य ही मान जाता कि व्यक्ति, यदि कुछ है तो बस... किसी अदृश्य उँगलियों द्वारा संचालित कठपुतली है।

सत्यवती ने अम्बिका को जी भर असीसा... और मन-ही मन अम्बालिका के लिए योजना बनायी। उधर, कौन जाने किस अनुभव के आधार पर, व्यास ने सत्यवती से कुछ समय माँगा। जिसमें वे, अम्बालिका से मिलने के पूर्व, अपने आपको नागरी वातावरण के अनुकूल ढाल सकें।

समय सत्यवती को खण्डित जलपात्र से बहती धार की भाँति चिन्तित कर रहा था पर व्यास को बाध्य करना भी तो उनके वश में नहीं था। इस विलम्ब का उपयोग वे अम्बालिका को मानसिक रूप से समझाने के लिए कर रही थीं... किन्तु अम्बिका का अनुभव अम्बालिका को दिन-प्रतिदिन और भी भयभीत करता रहता था... और उस पर, राजमाता का विरोध न कर पाने की विवशता...!

कई माह बाद सत्यवती के लिए वह चिर-प्रतीक्षित दिन आया, जब वह अम्बालिका को लेकर व्यास के कक्ष की ओर चलीं। अम्बिका के गर्भ में फैलती अपनी वंश-बेल का संकेत उन्हें प्राप्त हो चुका था... किन्तु मात्र एक पौत्र के हाथों वे अपने पूर्वजों की परम्परा नहीं सौंपना चाहती थीं। वंश-वृक्ष को छतनार बनाने के लिए तो सौ शाखाएँ भी कम हैं ...यदि सौ नहीं तो जितनी भी सम्भव हों। और उन्हें लग रहा था कि बीजारोपण के लिए अभी उनके पास एक और क्षेत्र तो है ही।

व्यास ने मधुर संवाद से अम्बालिका के चित्त को निर्विकार एवं स्वस्थ करने का बड़ा प्रयास किया... किन्तु उनके शब्दों में घूम-फिरकर कहीं ज्ञान की चर्चा आ जाती थी, तो कहीं धर्म की। नारी के मन को जीतने वाली सुमधुर कनबतियों का न तो उन्हें ज्ञान था और न कोई अनुभव।

माँ के आदेश का पालन करके, व्यास ने हाथ जोड़कर सत्यवती से विदा माँगी। अपनी नयी भूमिका में व्यस्त माँ को यह ध्यान भी नहीं आया कि ममता से वंचित अपने पुत्र का वे मात्र एक वस्तु की भाँति उपयोग करती रही हैं, एक उपजाऊ यन्त्र की भाँति, वह यन्त्र जो अपनी सेवाओं के बदले किसी शुल्क की अपेक्षा भी नहीं रखता... और आभार...! आभार क्या कोई माँ कभी अपने बेटे का मानती है? किस बात का आभार...?

व्यास राजप्रासाद के सम्मान्य अतिथि का जीवन त्यागकर पुन: यमुना तट पर, रेत के बीच बसे, अपने आश्रम की ओर लौट गये... और राजमाता सत्यवती, समर्थ समय को उसकी रेंगती हुई चाल पर धिक्कारती-सी, हस्तिनापुर के आँगन में पौत्रों की किलकारी सुनने के लिए व्यग्रता के साथ दिन काटने लगीं।

किन्तु ढीठ समय किसी की ताड़ना-प्रताड़ना नहीं सुनता, किसी की मनुहार–प्रार्थना नहीं मानता... बस, अपनी ही गति से चलता है।

अपने निश्चित समय पर अम्बिका ने एक स्वस्थ नेत्र-हीन पुत्र को जन्म दिया, जिसे सुनकर सत्यवती दो दिन अचेत पड़ी रहीं। चेत होते ही उन्हें एक और आघात प्रतीक्षा करता हुआ मिला – अम्बिका की दासी के गर्भ से जन्मे एक और स्वस्थ व्यास-पुत्र के जन्म-समाचार के रूप में।

"कैसे हुआ यह...?" वे तमतमा उठी थीं।

उनके प्रश्न के उत्तर में सभी मौन थे... सबकी दृष्टि झुकी थी। उधर सत्यवती

का क्रोध बढ़ता जा रहा था, यद्यपि वे समझ नहीं पा रही थीं कि किस पर! उस दासी पर... अथवा स्वयं अपने आप पर? राज-भवन में इतना कुछ हो गया... और इतने माह तक उनसे छिपा रहा! हताशा में उनकी आँखों से आँसू ढुलक पड़े और दैव के सम्मुख उन्होंने अपने समस्त शस्त्र त्याग दिये। उनकी समझ से परे था कि वे दोष दें भी तो भला किसे! अपने दुर्भाग्य की जड़ में उन्हें, अपने अतिरिक्त, दूर-दूर तक कोई दिखाई नहीं देता था।

फिर भी... एक आशा की किरण अभी शेष थी। वे भाग्य को सर्वोपरि मानते हुए भी प्रार्थना करती रहती थीं कि अम्बालिका के गर्भ में पलता हुआ उनका पौत्र हर प्रकार सामान्य एवं स्वस्थ हो।

कुछ ही माह बाद, नियत समय पर, अम्बालिका ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। सत्यवती की दृष्टि सबसे पहले उसकी आँखों की ओर गयी... और सन्तोष की साँस छोड़ता हुआ उनका मुख मण्डल खिल उठा। किन्तु बालक की त्वचा का रंग पाण्डुर था... हल्का पीला। "क्यों है ऐसा...? कहीं कोई रोग तो नहीं...।" वे चिन्तित स्वर में वैद्यराज से पूछ बैठीं।

"नहीं राजमाता!" राजवैद्य ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "कोई चिन्ता की बात नहीं। कुछ रक्त की कमी सम्भव है, जिसके लिए हमारे पास अनेक औषधियाँ हैं।"

सभी जात-कर्मो के पश्चात्, नामकरण संस्कार में, अम्बिका के नेत्रहीन पुत्र को नाम मिला, धृतराष्ट्र... और अम्बालिका के पुत्र को, पाण्डु।

कुछ समय बाद, अवसर पाकर, भीष्म ने सत्यवती के सम्मुख हाथ जोड़कर निवेदन किया, "माताश्री, हमारे कुल को दो वंशधर प्राप्त हुए... अब आप इनमें से, जिसे भी उचित समझें, राज्य का उत्तराधिकारी घोषित करें... और मुझे इस दायित्व से मुक्ति दें।"

"कैसी बात करते हो कुमार!" सत्यवती के स्वर में उलाहना था। "ये शिशु साम्राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त करेंगे? क्या समझ है इनकी? और क्या है तुम्हारी? वैसे भी... इनके शिक्षित-दीक्षित होने तक, राज्य-संचालन की समझ आने तक तो तुम्हीं को शासन-व्यवस्था देखनी है।"

"वह कार्य तो मैं प्राण-पण से करता ही रहूँगा, किन्तु..." भीष्म औचित्य-अनौचित्य के निर्णय के लिए कुछ क्षण रुके। "किन्तु प्रजा सम्भवतः यह जानना चाहे कि उनका वास्तविक शासक कौन है... और मैं कब तक, उसके प्रतिनिधि-स्वरूप कार्य कर रहा हूँ!"

"प्रजा के लिए इतना जानना पर्याप्त है कुमार, कि तुम हस्तिनापुर के हित में कार्य कर रहे हो... और मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारी प्रजा तुम्हारे प्रति पूर्णतया आश्वस्त है..." कहते-कहते सत्यवती का स्वर बदला और उनकी दृष्टि पालनों में झूलते नन्हें शिशुओं की ओर घूम गयी, "अब तुम्हारे ऊपर एक और उत्तरदायित्व है... अपने इन शिशुओं की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध।"

"आपकी हर आज्ञा शिरोधार्य है, माताश्री..." भीष्म ने अंजलि बाँधकर माथे से छुआते हुए कहा, "समय आने पर अपना कार्य मैं करूँगा। पर अभी तो आवश्यकता है आपके आँचल की छाँव तले इनके लालन-पालन की।"

मस्तक से अंजलि हटाते ही सहसा भीष्म की दृष्टि सत्यवती के मुख पर पसरती एक छाया की ओर गयी। सत्यवती ने गम्भीर स्वर में कहा, "कुमार... धृतराष्ट्र को प्रकृति ने दृष्टि-दोष दिया है। पता नहीं यह उसके किसी पिछले जन्म के पाप का फल है, अथवा मेरे... किन्तु दैव के इस अभिशाप को हमें झेलना ही है। इतना ही नहीं कुमार! आवश्यक यह भी हं कि इस बालक को अपने इस अभिशाप की अनुभूति न हो... यथा-सम्भव न हो। इसकी शिक्षा-दीक्षा, इसकी सामर्थ्य एवं सम्भावनाओं के अनुकूल हो।"

"आप में दूरदृष्टि है, माताश्री!" भीष्म ने सहमत होते हुए कहा, "जो असम्भव है, उस पर अश्रुपात करने से अधिक प्रासंगिक यह होगा कि इसमें अन्य उपलब्ध क्षमताओं का विकास किया जाए। मैं कुलगुरु से मन्त्रणा करके इस विषय पर अभी से विचार प्रारम्भ करूँगा।"

भीष्म विदा होने लगे तो सत्यवती का ध्यान सहसा दासी-पुत्र की ओर गया, जो विदुर नाम पा चुका था... 'तीनों एक ही पिता की सन्तान, किन्तु जहाँ दो, स्वर्णिम पालनों में झूल रहे हैं, वहीं तीसरा राजसी सुख सुविधाओं से वंचित एक दासी के कक्ष में पल रहा है। यह विभेद, यह अन्याय क्यों! क्या मात्र इस कारण कि वह भाग्यवश एक दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ?

'किन्तु नहीं... मात्र यह नहीं। मात्र द्वैपायन की सन्तान होने से वह कुरुकुल का वंशधर तो नहीं बन जाता। विचित्रवीर्य की विधवाओं को ही नियोग द्वारा वंशधर उत्पन्न करने का अधिकार था... और विदुर! वह मेरे आत्मज की सन्तान भले ही हो, मेरा जैविक पौत्र भले ही हो... कुरुकुल का वंशज कैसे हो सकता है?'

फिर भी, अपने जैविक पौत्र के प्रति स्वयं अपनी ही अवहेलना उन्हें व्यथित कर गयी। उन्होंने निश्चय किया कि विदुर को भी वे सारी सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी, जो धृतराष्ट्र तथा पाण्डु को उपलब्ध हैं। विदुर का पालना भी राजप्रासाद के कक्ष में ही लगेगा।

"और हाँ, कुमार...!" जाते हुए भीष्म को पुकारते हुए उन्होंने कहा, "अपनी योजना में विदुर को न भूलना। सहोदर न सही... है तो उन दोनों का सहजात ही।"

भीष्म ने कुछ खोजती-सी दृष्टि से सत्यवती की ओर देखा... और दूसरे ही क्षण हाथ जोड़ते हुए कहा, "जो आज्ञा माताश्री!"

विवाह

राजमाता सत्यवती का मनोरथ था कि कुरुकुल के तीनों नक्षत्र शास्त्र एवं शस्त्र विद्या के अनुपम ज्ञाता बनें... और, दूसरी ओर, भीष्म उत्सुक थे कि समय अपनी मन्थर गति त्यागकर राजकुमारों का यौवन लेकर यथा-शीघ्र आये, जिससे उन्हें राज्य-संचालन के उत्तरदायित्व से मुक्ति मिले।

किन्तु समय तो सब की प्रार्थनाएँ नकारते हुए स्वयं अपनी ही गति से चलता है। खेल ही खेल में, स्वयं भीष्म के सान्निध्य में प्रारम्भिक शिक्षा पाकर, बाल्यकाल त्यागते ही वे तीनों दीक्षा के लिए गुरुओं के पास भेज दिये गये। सभी गुरुओं से भीष्म ने स्वयं ही कर-बद्ध अनुरोध किया था कि धृतराष्ट्र को अपनी विकलांगता का भान, जहाँ तक सम्भव हो, न होने दिया जाए। उन्हें उनकी रुचि एवं सम्भावनाओं के अनुरूप ही शिक्षा दी जाए।

इस सनातन मान्यता में सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं है कि, गुरु भले ही लोहे को सोना बनाने की क्षमता रखता हो, प्रारब्ध तथा जन्मजात प्रवृत्तियों का अपना स्थान होता है। प्रारब्ध ही रहा होगा कि जहाँ धृतराष्ट्र तथा पाण्डु की मूल रूप से अभिरुचि व्यायाम तथा शस्त्र-विद्या में थी, वहीं विदुर की शास्त्रों के अध्ययन में।

धृतराष्ट्र को एक दिन अपनी दृष्टिहीनता का ज्ञान तो होना ही था, वह होता चला गया... किन्तु अभिशाप के रूप में नहीं, सम्भवतः इसलिए भी कि कभी किसी ने उनकी विकलांगता का उपहास करने का साहस नहीं किया था। फिर भी, शैशव का वह आश्चर्यभरा अनुभव कि छिपने-ढूँढ़ने का खेल क्या होता है..! उनके सखा उन्हें इस खेल में क्यों सहभागी नहीं बनाते, जिसमें किसी को पकड़ लेने पर अन्य सभी बालकों का सामूहिक उल्लास-अट्टहास उन्हें उलझन में डाल देता था, 'क्या हो रहा है यह! बड़े प्रसन्न लगते हैं सब...'

अपनी सीमाएँ समझते हुए, धृतराष्ट्र ने अनजाने में ही मध्यम मार्ग अपनाया। एक ओर तो वे विदुर से स्पर्धा करते हुए शास्त्र के अध्ययन में अधिक समय बिताते वहीं, दूसरी ओर, अपनी शक्ति एवं शास्त्र ज्ञान द्वारा पाण्डु से आगे बढ़ जाने का प्रयास करते, और कभी वह विदुर का उपहास करते हुए कहते, "मैं यह पूरा अध्याय दो दिन में कण्ठस्थ कर सकता हूँ, शब्दशः... तुम कर सकते हो? दस दिन में भी नहीं कर पाओगे..."

कभी वे पाण्डु का हाथ अपने एक हाथ से पकड़कर कहते, "छुड़ा के दिखाओ ...चाहे दोनों हाथों का बल लगा लो। छुड़ा लो, तो लोहा मान लूँ तुम्हारा।"

शस्त्र-विद्या में जहाँ पाण्डु अपना सारा ध्यान धनुष-बाण पर केन्द्रित करते थे, वहीं धृतराष्ट्र अपना समय मल्ल युद्ध अथवा गदा-प्रहार के अभ्यास में लगाते थे। उनका लक्ष्य था कि उनके गदा-प्रहार से ठोस लौह भी टूट गिरे... पर्वत-शिखर भी खण्डों में बिखर जाएँ।

दृष्टि-हीनता से विचलित हुए बिना उन्होंने धनुष-बाण उठाने का भी आग्रह किया और शर-सन्धान...! दृष्टि के अभाव में उन्होंने शब्द-वेध का अभ्यास किया। कुछ सफलता भी मिली... किन्तु अपनी सीमाएँ भी उन्होंने पहचानीं। शब्द करके शत्रु यदि बैठ जाए, अथवा एक पग इधर उधर हट जाए तो वह उनके उपक्रम पर पानी फेर सकता है। फिर भी वे कभी पाण्डु को ललकार बैठते, "नेत्र मूँदे हुए लक्ष्य को वेधकर दिखाओ, तो मानूँ..."

वंश-परम्परा की चर्चा में अथवा नीति-अनीति के प्रसंगों में उनका ध्यान ज्येष्ठ पुत्र के उत्तरदायित्व पर अटक जाता था, परिवार में उसके विशेष स्थान को लेकर वे सोच में पड़ जाते थे।

एक बार वे भीष्म से पूछ बैठे, "तातश्री! राजा को क्या करना होता है...?"

भीष्म ने किशोरावस्था की जिज्ञासा को अधिक महत्त्व न देते हुए, हँसकर कहा, "राजा क्या करेगा वत्स! वह तो निश्चिन्त होकर राज करता है... सब कार्य तो उसके मन्त्री, सेनापति आदि करते हैं।"

किन्तु धृतराष्ट्र गम्भीर थे। "फिर भी राजा में क्या गुण होने चाहिए?"

भीष्म को इस प्रश्न के पीछे किसी गम्भीर मन्तव्य का आभास हुआ। वे बोले, "राजा में... राजा में वे सभी गुण होने चाहिए जो एक अच्छे व्यक्ति में होते हैं, जैसे विद्या, ज्ञान, विनम्रता, उदारता, दूर..." वे दूर के साथ 'दर्शिता' जोड़ते-जोड़ते सतर्क हो गये। यह शब्द बालक को दुविधा में डाल सकता है।

"किन्तु तुम यह सब क्यों पूछ रहे हो?" उन्होंने धृतराष्ट्र के मुख पर आते-जाते भाव पढ़ते हुए पूछा।

"कुछ नहीं, तात... बस यों ही," धृतराष्ट्र के मुख पर कुछ लज्जा, कुछ संकोच का भाव था। "ज्ञान तो जितना मिले उतना ही अच्छा..."

कुछ दिन पश्चात् धृतराष्ट्र ने एकान्त पाकर गुरु आंगिरस से प्रश्न किया, "यदि किसी शासक के नेत्र न हों... तो क्या शासन कार्य में कोई बाधा आ सकती है?"

"नेत्र न हों तो...!" आंगिरस, भीष्म के अनुरोध का ध्यान करके ठिठके। "आ भी सकती है... और नहीं भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके मन्त्री-सेनापति आदि कितने सक्षम हैं, कितने विश्वसनीय हैं और राज्य के प्रति कितने समर्पित हैं... किन्तु यह प्रश्न क्यों कुमार?"

"बस जिज्ञासावश..." धृतराष्ट्र ने कुछ लजाते हुए कहा, "वैसे मैं इस योग्य तो

नहीं हूँ, किन्तु वंश की परम्परा के लिए यदि यह उत्तरदायित्व मुझे मिला तो? किन्तु यदि कोई अन्तर नहीं पड़ता तो कोई बात नहीं।"

आंगिरस मौन उनकी ओर देखते हुए यह सोचते रहे कि परम्पराएँ कैसे जड़ पकड़ लेती हैं... और उनके पालन में यथार्थ की अवहेलना कैसे आड़े आ जाती है...!

शस्त्र तथा शास्त्र-विद्या में दीक्षित होकर, राजकुल के तीनों विद्यार्थियों ने गुरुओं का आशीर्वाद प्राप्त किया और उनसे विदा लेकर राजमाता सत्यवती के चरणों में प्रणाम किया।

कुछ समय बाद, सत्यवती ने भीष्म को बुलाकर उन तीनों के विवाह के विषय में चर्चा की। भीष्म ने कहा, "यह तो समयानुकूल विचार है, माताश्री! ये तीनों ही युवावस्था में प्रवेश कर चुके हैं। किन्तु माते, इसी समय की प्रतीक्षा तो हस्तिनापुर का सिंहासन भी कर रहा है। आप पहले शासन के उत्तरदायित्व के लिए निर्णय ले लें... फिर उस मांगलिक कार्य के निमित्त भी विचार किया जाएगा।"

"नहीं कुमार, नहीं..." यह निर्णय तो कुछ समय और प्रतीक्षा कर सकता है। वैसे उसमें सोचना भी क्या है...! किन्तु बालकों की आयु देखते हुए विवाह कार्य में अब और अधिक विलम्ब अनुचित होगा। वैसे भी तुम्हारे पर्यवेक्षण में सूना सिंहासन भी सुरक्षित ही है... किन्तु वंश-बेल की चिन्ता अब मुझे और प्रतीक्षा नहीं करने दे रही है।"

भीष्म के अभ्यस्थ हाथों ने, सदा-सर्वदा की भाँति, प्रणाम की मुद्रा में उठकर उनके परामर्श का अनुमोदन किया, "जैसी आपकी आज्ञा, माताश्री।"

समय के साथ ही हस्तिनापुर में कई राज-परिवारों से राजकुमारियों के स्वयंवर की सूचनाएँ भी आती रहती थीं। किन्तु भीष्म तथा सत्यवती ने धृतराष्ट्र को किसी स्वयंवर के लिए उपयुक्त पात्र न समझते हुए, उनके लिए स्वयं ही कोई सुयोग्य कन्या खोजने का निर्णय लिया। इस पर भी, धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में 'सुयोग्य' का ध्यान आते ही वे चिन्ता में पड़ जाते थे। सच्चे मन से इस विषय पर सोचने में भी उन्हें भय लगता था... क्या होगी, क्या हो सकती है इस सुयोग्य की परिभाषा? यही कि कन्या भी नेत्र-हीन हो... भले ही विदुषी एवं सुरूप! अन्यथा कौन राज-परिवार होगा जो जानते-बूझते एक नेत्र-हीन राजकुमार के लिए अपनी कन्या का प्रस्ताव भेजेगा? और कौन ऐसी कन्या होगी, जो जानते-बूझते अपनी जीवन-नैया को किसी जन्मान्ध नाविक के हाथों सौंप दे! उन्हें राज-परिवार का भी, इस सम्बन्ध में, कोई आग्रह नहीं था... बस कोई सुन्दर-सुशील-सुसंस्कृत कन्या चाहिए थी उन्हें। और उन्हें यह भी

ज्ञात था कि यदि किसी निम्न परिवार की कन्या धृतराष्ट्र को स्वीकार करती है, तो वह किसी दबाव में करेगी अथवा राज-पद के लोभ में। उस स्थिति में, ऐसे परिवार के साथ सम्बन्ध जोड़ना क्या संकटपूर्ण नहीं होगा!

दिन-रात, इस सुयोग्य की परिभाषा उन्हें उलझाये रहती थी। किससे कहें... कैसे कहें, धृतराष्ट्र के लिए कोई सुयोग्य कन्या ढूँढ़ने के लिए? कभी-कभी एक सैद्धान्तिक प्रश्न उन्हें मथने लगता था... वह यह, कि यदि उनकी अपनी कन्या होती, कैसी भी कुरूप अथवा विकलांग... क्या वे उसे किसी नेत्रहीन वर को सौंप देते...?

किन्तु यदि कोई छोटा मोटा दोष हो, जिसके कारण किसी कुलीन कन्या का अन्य कहीं विवाह न हो रहा हो...! किन्तु कैसी हो सकती है वह छोटी-मोटी विकलांगता ...इसका भी कोई स्पष्ट उत्तर उनके पास नहीं था। वे किसी एक आँख अथवा एक पैर वाली कन्या की कल्पना भी नही कर सकते थे, जो प्रजाजनों के बीच उपहास का कारण बने। किन्तु धृतराष्ट्र आजीवन अविवाहित रह जाएँ, यह बात भी उन्हें स्वीकार्य नही थी... और उनके विवाह के बिना पाण्डु के विवाह पर भी प्रश्नचिह्न लग जाता था। बिना अग्रज के विवाह के अनुज का विवाह? वह भी परिवेद· होगा...

जो भी हो, धृतराष्ट्र का विवाह आवश्यक था, स्वय धृतराष्ट्र के लिए ही नही, परिवार के लिए भी... और कुरु-कुल की वंश-बेल के लिए भी।

किन्तु संयोग भी होते ही हैं... विधाता सम्भवत: सोच-विचारकर सबकी जोड़ी कहीं न कही बनाये रखता है। हस्तिनापुर से सम्बन्ध जोड़ने को इच्छुक कुछ छोटे-छोटे राज-परिवारो से धृतराष्ट्र के लिए भी प्रस्ताव आये, जिनकी कन्याओं का किसी-न-किसी दोष के कारण अन्यत्र विवाह नहीं हो पा रहा था।

तभी उन्हें सुदूरवर्ती गान्धार-नरेश सुबल की कन्या के विषय में पता चला, जो सुशील एवं सुसंस्कृत है... कुल मिलाकर सुरूप भी, किन्तु बचपन में मुख पर किंचित जल जाने के कारण उसके विवाह में बाधा आती रही है। भीष्म ने उस कन्या के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त करके तुरन्त सुबल के पास सन्देश भेजा। सुबल कन्यादान करने के विचार से प्रसन्न हुए ही थे कि उन्हें ज्ञात हुआ कि भीष्म का प्रस्ताव हस्तिनापुर के ज्येष्ठ राजकुमार के लिए है... और, साथ ही, यह भी कि धृतराष्ट्र जन्मान्ध है।

वे सहसा क्रोधित हो उठे, "क्यों! अन्धे से क्यों? स्वस्थ, सुनैन पाण्डु से क्यों नहीं? मेरी बेटी ने क्या किसी अन्धे के लिए जन्म लिया है..?" किन्तु अपने मन में घुमड़ती विवशता को भी वे नकार नही पा रहे थे, 'कुछ तो है ही, जो तुम्हारी पुत्री अब तक अविवाहित बैठी है... जो तुम उस॰ स्वयंवर का साहस नहीं कर पा रहे हो।'

उधर राजगुरु तथा मन्त्रियों ने उनका क्रोध शान्त करते हुए उन्हें एक अन्य, व्यावहारिक दृष्टिकोण दिया। "वह स्वस्थ है, सदाचारी एवं विद्वान है... हस्तिनापुर एक समृद्ध राज्य है, और हस्तिनापुर की परम्परा को देखते हुए, सम्भावना यह भी है कि वह नेत्र-हीन राजकुमार ही वहाँ का शासक बने..."

उन सबसे बढ़कर प्रभावशाली अनुमोदन था, सुबल के अपने ही पुत्र शकुनि का, "पिताश्री, आँखों को लेकर क्या करना है! व्यक्ति अच्छा होना चाहिए। मैं तो मिल चुका हूँ उससे। बड़े ही स्नेही स्वभाव का है... लगा जैसे बरसों से परिचित हो, ऐसे घुल-मिल गया मुझसे दो ही दिनों में।"

किन्तु आँखें? आँखें तो होनी ही चाहिए, सुगन्धा के कानों में रह-रहकर उनकी एक सखी के शब्द गूँज उठते थे, "अरे, आँखें ही न हुईं तो तेरा शृंगार कौन देखेगा? और शृंगार भी न किया तो... बेकार है, सब बेकार है।"

"अरे राजा बन गया तो..." शकुनि बोले जा रहा था, "तो तेरी आँखों मे देखेगा, बस तेरी आँखों से, जी-जान छिड़केगा तुझ पर। वर्ना राजाओं की तो सौ रखैलें हों तो वह भी कम... अरे यह भी तो सोच।"

किन्तु ये तर्क एक किशोरी को अन्धकारमय भविष्य चुनने के लिए प्रेरित कर पाने के लिए अपर्याप्त थे। वह सोच-सोचकर टूटती जा रही थी कि उसके माता-पिता, प्रारम्भिक विरोध के बाद, ऐसे विकृत सम्बन्ध के लिए सहमत होते जा रहे हैं... और क्रोधित थी अग्रज शकुनि पर कि वे उसे ऐसा उपहासपूर्ण सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए तर्क देते रहते हैं...

सुगन्धा ने एकान्त में दर्पण के सम्मुख खड़े होकर अपना मुख देखा.. यह चिह्न...! ठीक पलक पर... भौंह को मिटाता हुआ! ऐसा बुरा तो नहीं, कि..

किन्तु यथार्थ से भी वह अनभिज्ञ नहीं थी। उसके लिए कहीं कोई प्रस्ताव नहीं आ रहा था। वह जानती थी कि उसके पिता इस विषय में चिन्तित हैं।

वह बहुत रोयी और अपने कक्ष में, सबसे मुँह छिपाये, कक्ष का द्वार बन्द किये पड़ी रोती रही। जाने कब उसकी सिसकियों ने थककर उसका साथ छोड़ा और जाने कब आँसुओं के भण्डार की अन्तिम बूँद ने बहकर असहयोग की घोषणा की... और जाने कब दुःख के श्रम से टूटी उसकी चेतना पर निद्रा ने आकर अपनी चादर उढ़ा दी।

पता नहीं, रात के किस प्रहर में उसकी तन्द्रा टूटी और उसने अपने मस्तक में असह्य वेदना अनुभव की। आँखों में कक्ष के जलते दीपक का प्रकाश बाण की भाँति चुभता प्रतीत हुआ। आहत होकर उसने अपनी पलकें मूँद लीं... किन्तु पलकों को वेधकर भी प्रकाश की किरणें आँखों के आगे लालिमा बिखेरे जा रही थीं। वह लालिमा भी उसे असह्य लगी... जैसे उसके अपने आहत स्वप्नों का बहता हुआ रक्त

हो। घबराकर उसने पास पड़ी चुनरी उठाकर अपने मस्तक तथा नेत्रों पर बाँध ली... कसकर।

आँखों के सम्मुख अन्धकार पसर गया...

घबराकर अपनी आँखों से वह पट्टी हटाने के लिए उसने हाथ बढ़ाया किन्तु... प्रकाश-किरणों के आक्रमण के भय तथा तीव्र शिरोवेदना ने उसे बीच ही में रोक दिया। कैसी विडम्बना थी! न तो उसे अन्धकार स्वीकार था और न उसमें साहस था निर्मम प्रकाश की किरणों का प्रहार झेल पाने का। उसने अपने को विवश पाया... इतना, जितना सम्भवतः पहले कभी नहीं पाया था। तो क्या यथा-स्थिति ही उसकी नियति है? जो है... जैसा है... वह है और वही रहेगा। जो है, वह चुपचाप उसे होने दे... जो हो रहा है, उसे नियति मानकर स्वीकार करती चली जाए!

सुगन्धा ने सोचा... बहुत सोचा... कई दिनों तक। यह जानने का भी प्रयास किया कि क्या होता है नेत्रों का अभाव। अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर चली वह... कभी ठोकर खाकर आहत हुई, तो कभी मुँह के बल गिरते-गिरते बची। उसे दया आयी धृतराष्ट्र पर, 'कैसे रहता होगा वह...! बेचारा...'

'किन्तु रहता ही है, सारा बचपन बिताकर, किशोरावस्था बिताकर युवावस्था मे आ पहुँचा है। हस्तिनापुर का सम्राट बनने वाला है। सुना, बहुत ही शक्तिशाली है... अखाड़े में उतरता है तो बड़े-बड़े आँख वाले भी उसकी पकड़ से छूट नहीं पाते... चित हो जाते हैं। वेद-शास्त्रों का अध्ययन भीकर रखा है उसने... स्मरण-शक्ति का धनी है।

'तो कोई बहुत बडी बाधा नहीं होती होगी दृष्टिहीनता! अभ्यास हो जाता होगा कुछ समय में...'

तो क्या मात्र इस अभ्यास के तर्क पर वह स्वीकार कर ले जीवन भर के लिए एक अपाहिज नेत्रहीन का साथ!

नहीं, मात्र इस तर्क के लिए नहीं ..राज-साम्राज्य के लिए भी। भइया शकुनि कहते हैं कि वह हस्तिनापुर का सम्राट बन सकता है... फिर मेरी ही आँखों से संसार देखेगा, मेरी दिखाई राह पर ही चलेगा... मात्र मेरा बनकर रहेगा। और वैसे भी, विकल्प कहाँ है? कई वर्ष हो गये... सब मेरे लिए सुयोग्य वर ढूँढ़-ढूँढ़कर हारे बैठे हैं। सभी की आँखें न जाने कैसे मेरी उस जली हुई पलक तथा कनपटी पर टिक जाती हैं!

किन्तु वह... वह भी तो ठीक कहती थी, 'आँखें ही नहीं हैं तो तू शृंगार किसके लिए करेगी? कोई शृंगार देखने वाला ही न हआ... सुन्दर कहने वाला ही न हुआ तो व्यर्थ है जीवन... सब कुछ व्यर्थ है।'

"अरे ये देख इसके लक्षण...!" मौसी की हँसी की फुहार उसके कानों में पड़ी

थी, "अभी से ही पति की राह पकड़ ली इसने..."

सहसा लजाते हुए उसने आँखों से पट्टी खींची... किन्तु प्रकाश की तीखी चमक ने ऐसा प्रहार किया कि घबराकर उसने वापस आँखों पर पट्टी चढ़ा ली। लजाकर अपने कक्ष की ओर दौड़ते हुए उसके कानों में फिर एक वाक्य पड़ा, "है सच्ची पतिव्रता, संसार में नाम करेगी अपना।"

... और भैया शकुनि की टिप्पणी भी, "चतुर है हमारी बहना। अब किसे दिखेगा इसकी पलकों का दोष! और पतिव्रता का सम्मान अलग से..."

सुनकर सुगन्धा के होंठों पर एक सलज्ज मुस्कान दौड़ गयी... उसका मन ही नहीं हो रहा था अपनी आँखों से पट्टी हटाने का।

विधाता का चमत्कार... पट्टी के पीछे बँधी-घिरी आँखों ने उस अन्धकार में ही एक कल्पना के मधुर संसार का सृजन प्रारम्भ कर दिया। एक सजीला राजकुमार... महाशक्तिशाली विद्वान, जो उसके अतिरिक्त और किसी की भी ओर नहीं देखता... लोग उसकी जय-जयकार कर रहे हैं... और उस पतिव्रता महारानी पर पुष्प-वर्षा करते हुए उसकी चरण-रज लेने को दौड़े चले आ रहे हैं...

सोते-जागते, सुगन्धा को ऐसे स्वप्न किसी न किसी रूप में दिखाई देने लगे... ऐसे स्वप्न जिसमें उस सजीले, सुन्दर राजकुमार के नेत्रों का कोई उल्लेख नहीं होता था, और अपनी आँखों की पट्टी का आभार मानने लगता था उसका मन, ऐसे सुखद दृश्य दिखाने के लिए... तथा वह अनमोल क्षण प्रदान करने के लिए, जिनमें वह सजीला शक्तिशाली युवक उसका, मात्र उसका हो जाता था।

विवाह सम्बन्ध की स्वीकृति प्राप्त होते ही, राजा सुबल ने आशीर्वाद देकर पुत्र शकुनि, मित्रों-सम्बन्धियों तथा पुरोहित-सहित अपनी कन्या सुगन्धा को हस्तिनापुर के लिए विदा किया। हस्तिनापुर में शुभ मुहूर्त विचारकर धृतराष्ट्र के साथ राजसी धूमधाम से सुगन्धा का विवाह हुआ। कन्या की आँखों पर बँधी पट्टी देखकर... और यह ज्ञात करके कि वह पट्टी स्वयं उसने, धृतराष्ट्र के नेत्रों के सम्बन्ध में सुनकर, अपनी आँखों पर बाँधी है, लोग चमत्कृत रह गये और धन्य धन्य कह उठे। पातिव्रत्य की ऐसी अभूतपूर्व उपमा उन्हें अकल्पनीय लगी।

सत्यवती प्रसन्न थीं...

...और धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न।

सत्यवती को विदुर के विवाह की भी चिन्ता थी... जो भीष्म की सजग दृष्टि से छिपी नहीं रही। अतः उन्होंने स्वयं ही सत्यवती के पास आकर कहा, "माताश्री, अब प्रिय विदुर का विवाह भी हो जाना चाहिए... किन्तु मुझे चिन्ता यह है कि सम्भवतः किसी स्वयंवर में उसे यथोचित स्वागत सम्मान प्राप्त नहीं होगा और

उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल किसी अन्य परिवार में उसे कोई विद्वान कन्या नहीं मिलेगी। फिर भी मैं निरन्तर प्रयास कर रहा हूँ... आप धैर्य रखें।"

कुछ ही समय में भीष्म की खोज सार्थक हुई। उन्हें ज्ञात हुआ कि राजा देवक के यहाँ एक दासी-पुत्री है, जो सुन्दर ही नहीं विद्वान एवं बुद्धिमान भी है। ब्राह्मण पिता की वह सन्तान, भीष्म को, विदुर के लिए सर्वथा उपयुक्त लगी। उनके प्रस्ताव को, देवक के अनुमोदन पर, कन्या के माता-पिता ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की.. और विधिवत् विदुर का विवाह भी सम्पन्न हुआ।

महाराज कुन्तिभोज के यहाँ, उनकी कन्या पृथा का स्वयंवर हो रहा था..

पृथा ने माँ कालिन्दी से बड़े आग्रह के साथ अनुरोध किया कि उसका विवाह न किया जाए, "माँ, मैं यहाँ बहुत सुखी हूँ... मैं कैसे जा सकती हूँ, यहाँ तुम दोनों को नितान्त अकेला छोड़कर! और पिताश्री तो कहते थे कि मैं उनका पुत्र हूँ... अब क्यों निकाल रही हो मुझे?"

किन्तु कालिन्दी उन्हें स्नेह से झिड़ककर समझाती रहती थीं, "अरी पगली! भला यह भी कभी हुआ है? पुत्री को तो पिता का घर छोड़कर जाना ही होता है, एक दिन... यही अटल सत्य है। मै भी तो आयी थी एक दिन, अपना सारा अतीत पीछे छोड़ कर..."

और वे अपनी डबडबायी आँखे पोंछते हुए मन ही मन मुस्कराती थीं... अरे, ऐसा तो सभी कन्याएँ कहती हैं... प्रारम्भ में' फिर एक दिन तो सभी कुछ विस्मृत हो जाना है... पिता का घर-आँगन भी और अपना यह विरोध भी।

कुन्तिभोज के निमन्त्रण पर दूर-दूर से अनेक राजा, राजकुमार तथा बलशाली योद्धा आये थे। विशेष अनुरोध पर पृथा को आशीर्वाद देने के लिए महात्मा दुर्वासा भी पधारे थे। कुन्तिभोज ने पत्नी तथा पुत्री-सहित खाद्य-पाद्य से उनका स्वागत-सत्कार किया।

"क्या यह उचित होगा, मुनिवर?" पृथा ने एकान्त पाते ही बिना किसी भूमिका के उनसे प्रश्न किया था।

"समय, अतीत को त्यागकर ही गति पाता है..." दुर्वासा जैसे इस प्रश्न के लिए तत्पर थे, "अतीत को भुलाकर, भविष्य का आवाहन स्वीकार करने की क्षमता उत्पन्न करो, पृथा। अभी तो बड़ी लम्बी, बड़ी बीहड़ यात्रा करनी है तुम्हें..."

न तो अतीत को भूल पाना पृथा के वश में था, और न ही भविष्य को रोक पाना। भविष्य को, जब... जिस भी रूप में वह आये, स्वीकार करने के अतिरिक्त न तो विकल्प कभी किसी के पास हुआ है और न कभी होगा। पृथा को लगा जैसे भविष्य उसे किसी लम्बी... अनजानी डगर पर साथ ले चलने के लिए विवश कर रहा है... उसे चलना ही होगा।

स्वयंवर में उपस्थित अनेक राजकुमारों एवं राजप्रमुखों की पंक्ति में बैठे राजकुमार पाण्डु के गले में पृथा ने जयमाला डाल दी। क्यों... उसके ही गले में क्यों...! पृथा स्वयं ही कभी समझ नहीं पायी... कौन जाने दैव के निर्देश पर ही!

नयी-नवेली बहुओं की पायल-ध्वनि से हस्तिनापुर का राज-प्रासाद तरंगित हो उठा। परिचय, शृंगार, ठिठोली, मधुर कटाक्ष... ये सब मिलकर न जाने कैसे वर्तमान को नया एवं आकर्षक रूप प्रदान कराते हैं!

"अरे सुगन्धा! यह तो बड़ा धुला-पोंछा-सा नाम लगता है... जैसे पुकारने से ही कहीं मैला न हो जाए..." किसी ने कहा।

"तो क्या नाम भी बदल दोगी इसका?" सत्यवती ने स्नेहपूर्वक उलाहना दिया।

"हम तो गान्धारवाली बहू कहेंगे... हमारे यहाँ तो ऐसे ही बुलाते हैं..." अम्बिका ने कहा।

"तो फिर गान्धारवाली नहीं... गान्धारी नाम रख दो इसका," प्रमुदित होते हुए सत्यवती ने प्रस्ताव किया।

यह नाम सर्व-सम्मति पा गया।

"तो छोटी बहू का नाम क्या पृथा ही रहेगा?"

"हाँ, कठिन तो लगता है... जैसे व्याकरण का पाठ हो।"

"किन्तु कुन्तिभोजवाली कहना भी तो विचित्र लगेगा..."

"वह तो है... तो कुन्ती कैसा रहेगा?" सबने मुस्कराते हुए नामकरण का अनुमोदन किया। इस समस्त मंगल-कार्य के बीच सत्यवती की नारी-सुलभ प्रत्याशा उनमें मातृत्त्व की सम्भावनाएँ ढूँढ़ने लगी। वे प्रार्थना करने लगीं परमात्मा से और आशीर्वाद की वर्षा करने लगीं उन पर कि वे पुत्रवती हों और कुल का गौरव बढ़ाने वाली सन्तानों से राज प्रासाद भर दें।

किन्तु विधि का अपना विधान होता है... जो किसी की प्रार्थनाओं अथवा आशीर्वादों से कभी परिवर्तित अथवा प्रभावित नहीं होता।

दूसरी ओर, परिवार के दायित्वों से मुक्त होकर, भीष्म उस घड़ी की प्रतीक्षा करने लगे जब उन्हें सूने सिंहासन की सुरक्षा के दायित्व से भी मुक्ति मिलेगी। धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर का, पुत्रों के समान लालन-पालन कर, वे उन तीनों को शस्त्र तथा शास्त्र विद्या प्राप्त करने में सक्रिय योगदान दे चुके थे। अब उनकी इच्छा थी कि हस्तिनापुर को ऐसा सुयोग्य शासक प्राप्त हो जो कुल की कीर्ति में वृद्धि करे और प्रजा को सम्पन्न एवं सुखी बनाए।

उन्होंने सत्यवती के सम्मुख जाकर इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया। सत्यवती इस स्थिति का सामना करने के लिए तैयार थीं। उन्हें ज्ञात था कि औपचारिक राज-प्रमुख की घोषणा, जिसे वे भीष्म के आग्रह को नकारते हुए कई वर्षों से टालती रही हैं, अब और नहीं टाली जा सकती।

ऐसा नहीं कि स्वयं उन्हें इस सम्बन्ध में कोई चिन्ता नहीं थी। औपचारिक ही सही, किन्तु कोई निश्चित निर्णय आवश्यक था... प्रजा के लिए भी और हस्तिनापुर के लिए भी। ऐसा नहीं कि इस विषय में उन्होंने स्वयं कभी कुछ सोचा न हो... बहुत सोचा था, किन्तु किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाना उन्हें कभी सम्भव नहीं लगा। ऐसा भी नहीं कि इस विषय में उनका निर्णय ही सर्वमान्य होना था... अथवा उन्हें हस्तिनापुर का सम्राट मनोनीत करने का कोई अधिकार प्राप्त था, फिर भी वे जानती थीं कि उनकी रुचि को महत्त्व दिया जाएगा... कोई उनके निर्णय को नकारने का साहस भी नहीं करेगा। किन्तु वे ऐसा महत्त्वपूर्ण निर्णय अकेले, अपनी रुचि के आधार पर नहीं लेना चाहती थीं, क्योंकि वे चाहती थीं निर्णय नीति-सगत हो और सभी को स्वीकार्य हो।

बार-बार न जाने कितनी बार, हताश-निराश होकर उन्होंने सोचा था कि कितना अच्छा होता यदि भीष्म ही हस्तिनापुर का राज्य स्वीकार करते। किन्तु इस असम्भव को सम्भव बना पाना उनके वश में नहीं था... एक उनके क्या, किसी के भी वश में नहीं था। इस दिशा में किया हुआ हर प्रयास स्वयं उन्हें अतीत की ओर खीचता चला जाता था... जहाँ वे स्वयं अपने आप को प्रमुख अभियुक्त के रूप में, हाथ बाँधे, खड़ा देखती थीं... एक लोभी एवं स्वार्थी अभियुक्त के रूप में। एक पितृ-भक्त किशोर पर यह कैसा अन्याय कर डाला उन्होंने! अपनी ममता को महिमा-मण्डित करने की उत्कण्ठा में कैसा निर्मम व्यवहार किया, एक युवक के भविष्य के साथ... ऐसा निर्ममता भरा व्यवहार, जिसकी उपमा सम्भवतः संसार भर में कहीं न मिले।

"यह प्रश्न क्या कुछ समय के लिए टाला नहीं जा सकता, कुमार?" सत्यवती अपने प्रश्न की निरर्थकता से भली-भाँति परिचित थीं, किन्तु तुरन्त ही उस समस्या से पार पाना भी उन्हें सम्भव नहीं लग रहा था।

"प्रश्नों को टालने की भी एक सीमा होती है, माताश्री..." भीष्म ने हाथ जोड़े हुए, विनम्रतापूर्वक कहा, "समय के साथ प्रश्नों का आकार भी बढ़ता रहता है। आज का टाला हुआ प्रश्न, कल और भी विकृत एवं तीखा स्वर लेकर हमारे सम्मुख आ खड़ा होता है। और फिर माताश्री, आपने स्वयं ही तो कहा था कि इन कुमारों के विवाह के बाद आप इस सम्बन्ध में निर्णय लेंगी।"

"कुमार...! कहा तो था मैंने..." सत्यवती हताश स्वर में बोलीं, "मुझे स्मरण है... सब कुछ स्मरण है। अपना और अपने पिताश्री का वह शुल्क-बन्ध भी कभी

विस्मृत नहीं हुआ है, जिसने बड़ी निर्ममता के साथ तुम्हारे भविष्य पर कुठाराघात किया ...जिसके कारण आज के ये प्रश्न बड़े भयावह रूप में मेरे सामने आ खड़े होते हैं।"

"नहीं, माते नहीं..." भीष्म ने अधीर होते हुए कहा, "आप अपने आप को दोष देकर मुझे प्रताड़ित न करें। मेरा जीवन तो अपने कुल की सेवा तथा हस्तिनापुर की रक्षा का अवसर पाकर धन्य हो रहा है। जो कुछ हुआ, वह प्रारब्ध था... उसमें आपका दोष कहाँ!"

"उस प्रारब्ध का निमित्त तो मैं ही बनी..." सत्यवती ने असहाय-से स्वर में कहा, "क्यों कुमार! क्या कुछ अपराध ऐसे भी होते हैं जिनका परिमार्जन असम्भव हो? मेरे मन पर जो आत्म-ग्लानि का बोझ है, उससे मुक्ति दिलाने में क्या तुम मेरी सहायता कर सकते हो?"

भीष्म इस भूमिका का संकेत समझ रहे थे। अतीत में सैकड़ों बार उठे इस प्रश्न का उत्तर न तो उनके पास था और न उनके लिए सम्भव ही था। उन्होंने बड़ी वेदना के साथ कहा, "माताश्री! आपका निरर्थक अपराध-बोध मुझे अपने आपको धिक्कारने पर विवश तो कर सकता है, किन्तु मुक्ति की कोई राह नहीं दिखा सकता... प्राण देने के लिए प्रेरित भले ही कर ले, प्रण तोड़ने की शक्ति मुझे कभी नहीं दे सकता। माते, मैं पहले भी अनेक बार आपसे विनम्रतापूर्वक अपनी विवशता बता चुका हूँ... आप व्यर्थ ही अपने को दोष न दें।"

"नहीं कुमार, नहीं..." सत्यवती ने कहा, "मैं अपने को दोष न भी दूँ तो क्या! जो मैंने किया उसके लिए तो सारा संसार मुझे दोष देगा... मुझे कभी क्षमा नहीं करेगा। उसके लिए तो तुम भी मुझे क्षमा नहीं कर सकते। यदि यह सम्भव होता तो न जाने कब... कितनी बार मैं तुम्हारे पैरों पड़कर क्षमा माँग चुकी होती तुमसे। मेरी सूझ तो बस बारम्बार इस असम्भावना पर आकर टिक जाती है कि कहीं मेरी भयंकर भूल का रंच-मात्र परितोष हो पाए। किन्तु मैं तुम्हारे प्रण से टकराने जैसी एक और भयंकर भूल करने का साहस भी तो नहीं कर सकती।"

"उसका एक और साधन है माते..." भीष्म ने इस अन्तहीन विडम्बना को व्यावहारिक मोड़ देते हुए कहा, "वह यह कि हम एक और भूल न करें। समय पहले भी कई बार हस्तिनापुर का द्वार खटखटाकर लौट चुका है... यह जानने के लिए, कि इस साम्राज्य का शासक कौन है! राज-परिवार में भी यह प्रश्न किसी विकृति का रूप ले, उससे पहले ही हमें एक निर्णय लेकर सबकी जिज्ञासा को सुनिश्चित दिशा प्रदान करनी चाहिए।"

"वह दिशा देने में सक्षम तो बस तुम्हीं हो, कुमार!" सत्यवती ने कहा, "हस्तिनापुर के भविष्य को यदि स्वयं तुम दिशा देने का भार ग्रहण नहीं करते, तो

यह निर्णय तुम्हीं लो कि हस्तिनापुर की बागडोर किसके हाथों में सौंपी जाए।"

"यह तो बहुत बड़ी दुविधा में डाल रही हैं माँ..." भीष्म ने चिन्तित होते हुए कहा, "परम्परा तो लगभग ज्येष्ठ पुत्र को ही मान्यता देती रही है। किन्तु धृतराष्ट्र की शारीरिक सीमाएँ देखते हुए इस विषय में विचार करने का प्रश्न उठा है, कि हम परम्परा का पालन कहाँ तक करें... अथवा उसका उल्लंघन करें। इस सम्बन्ध में यदि किसी एक व्यक्ति को निर्णय लेने का अधिकार है तो परिवार के ज्येष्ठ को... अर्थात आपको माते।"

"ज्येष्ठ..." सत्यवती कुछ ठहरकर विवश मुस्कान के साथ बोलीं, "शब्द भी बहुरूपिये की भाँति अनेक रूप, अनेक अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। तनिक इस ज्येष्ठ को परिभाषित करके तो देखो... मैं भला कहाँ ठहरती हूँ? तुम मुझसे हर प्रकार ज्येष्ठ हो, विद्या में, बुद्धि में, अनुभव में... किन्तु जीवन भर मैं सम्मान एवं आदर ही पाती रही हूँ तुमसे, जीवन भर तुम्हारा अहित करते हुए भी।"

"नहीं माते नहीं..." भीष्म ने विनम्रतापूर्वक कहा, "आपने सदैव स्नेह एवं सम्मान ही दिया है मुझे। यह आपका स्नेह एवं विश्वास ही है मुझमें, जो ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय में निर्णय लेने का एकाधिकार मुझे प्रदान कर रही हैं। किन्तु माते... मुझे भय है कि कहीं मेरे द्वारा लिया हुआ निर्णय, पक्षपात की संज्ञा पाकर, किसी के क्षोभ अथवा पारस्परिक वैमनस्य का कारण न बन जाए! यदि आप ही यह निर्णय लें तो..."

"उस पक्षपात का आरोप तो मुझ पर भी लग सकता है..." सत्यवती ने कहा, "किन्तु आरोपों के भय से हम अनिर्णय की स्थिति को मान्यता भी तो नहीं प्रदान कर सकते।"

"तो यदि आप उचित समझें तो..." भीष्म ने कुछ संकोच के साथ कहा, "मेरा परामर्श है कि यह निर्णय क्यों न राजगुरु पर छोड दिया जाए।"

"यह परामर्श भी विचारणीय है... एक दृष्टि से ठीक भी है..." सत्यवती ने कहा, "उनका निर्णय नीति-संगत होगा... सम्भवत: व्यक्तिगत रुचि-अरुचि से प्रभावित नहीं होगा। फिर भी, वह निर्णय भी एक व्यक्तिगत निर्णय ही होगा। सोच लो, वह तुम्हारे व्यक्तिगत निर्णय से किस प्रकार, एवं कितना श्रेष्ठ होगा?"

समस्या घूम-फिरकर वहीं आ लौटी थी। परम्परा को महत्त्व देना कहाँ तक उचित होगा, इसका निर्णय कौन करे... निर्णय लेने में पक्षपात न करे... और परिवार में विषम स्थिति उत्पन्न करने का भागी न बने।

इस विषय पर राजगुरु से चर्चा करने के बाद विचार यह उत्पन्न हुआ कि वे तीनों मिलकर इस विषय में निर्णय लें... किन्तु अन्तिम निर्णय लेने से पूर्व राजकुमारों से भी इस विषय में चर्चा करें।

सत्यवती को यह बात स्पष्ट नहीं हो पा रही थी कि राजकुमारों से उनका तात्पर्य

क्या है। यह चयन किनमें होना है? जिनमें होना है, उनमें विदुर भी सम्मिलित है, अथवा नहीं? सत्यवती के लिए यह विषय महत्त्व का था, किन्तु यह प्रश्न करने का साहस उन्हें नहीं हो रहा था। उन्हें भय था कि उनका प्रश्न सुनकर कोई यह न कह बैठे कि 'विदुर का प्रश्न ही कहाँ आता है...?'

सत्यवती की दृष्टि में विदुर तथा धृतराष्ट्र एवं पाण्डु, जैविक दृष्टि से, एक ही पिता की सन्तान थे... माताएँ भले ही उनकी अलग हों। वे भाई थे... सगे भाई। उन्हें सन्देह था, पूरा-पूरा सन्देह था कि यह पक्ष सम्भवतः भीष्म की दृष्टि में नहीं आएगा। किन्तु उनकी दृष्टि में वे तीनों एक ही बीज से उपजी शाखाएँ थीं... उनके, अपने-जाये, द्वैपायन के अंगज।

भीष्म की दृष्टि रह-रहकर विदुर पर जा ठहरती थी, किन्तु एक अनुत्तरित प्रश्न चिह्न के साथ। धृतराष्ट्र, विचित्रवीर्य एवं विदुर एक ही समान थे, तो उन्होंने विदुर को किसी राजकुमारी के स्वयंवर में क्यों नहीं भेजा? किसी राज-घराने की कन्या के लिए विदुर का प्रस्ताव क्यों नहीं भेजा? एक कुलीन दासी-पुत्री ही क्यों उन्हें विदुर के लिए सर्वथा उपयुक्त लगी? वे एक दासी के गर्भ से उत्पन्न हुए थे... मात्र इसीलिए न!

राजगुरु के मन में भी अनेक प्रश्न थे। वे प्रश्न गम्भीर न होते तो मिल-जुलकर निर्णय लेने की स्थिति ही क्यों उत्पन्न होती!

सत्यवती, भीष्म एवं राजगुरु आंगिरस से मिलकर इस विषय पर चर्चा करें, उससे पहले ही यह समाचार रिसता हुआ राजकुमारों तक जा पहुँचा कि गुरुजन इस प्रश्न पर विचार-विमर्श कर रहे हैं कि हस्तिनापुर का भावी सम्राट कौन हो!

धृतराष्ट्र के माथे पर कुछ बल पड़े और चक्षु-कोटरों में कम्पन होने लगा, "क्यों? यह प्रश्न क्यों उठ रहा है... जब कि हमारे कुल की परम्परा स्पष्ट है कि ज्येष्ठ पुत्र का ही अभिषेक हो..."

"नहीं भ्राताश्री..." विदुर ने उनकी बात तत्परता से काटते हुए कहा, "ऐसी कोई परम्परा नहीं है। इस परम्परा का निषेध तो सर्वप्रथम हमारे कुल-श्रेष्ठ महाराज भरत ने, अपने सभी पुत्रों को अयोग्य पाकर, उत्तराधिकार में हस्तिनापुर का साम्राज्य एक सुयोग्य सेनापति को सौंपा था।"

"किन्तु अयोग्य पाकर न...!" धृतराष्ट्र ने विदुर का तर्क खण्डित करते हुए अपनी बात बढ़ायी, "किन्तु मेरी योग्यता में क्या किसी को कोई सन्देह है? गुरुवर कहते हैं कि मेरे जैसी कुशाग्र बुद्धि एवं स्मरण-शक्ति विरले ही किसी को प्राप्त होती है... और शारीरिक बल में तो तुम दो-चार मिलकर भी मेरी बराबरी नहीं कर पाते?"

"किन्तु भ्राताश्री...!" विदुर की बात अधूरी ही रह गयी।

"किन्तु क्या..." धृतराष्ट्र की त्यौरियाँ चढ़ गयीं। "स्पष्ट कहो न...! कि मैं

दृष्टिहीन हूँ... अन्धा हूँ।"

सहसा कुछ क्षणों तक धृतराष्ट्र के कम्पित नेत्र-गोलकों तथा अवाक् विदुर के बीच सन्नाटा तैरता रहा। तभी पाण्डु को कुछ बोलना आवश्यक लगा, "भैया विदुर का यह तात्पर्य नहीं था, भ्राताश्री..."

"तो क्या तात्पर्य था! तुम्हीं बताओ..." धृतराष्ट्र के स्वर में रोष था।

"भ्राताश्री! आप ज्येष्ठ हैं..." विदुर ने विनम्रतापूर्वक कहा, "आप निःसन्देह ज्येष्ठ हैं, किन्तु नीति-शास्त्र के अनुसार यह स्वयं शासक के हित में होता है कि वह शरीर, बुद्धि, विद्या आदि सभी दृष्टियों से समर्थ हो।"

"तो क्या तुम्हारा शास्त्र निरपराध को दण्ड देने का परामर्श देता है? शरीर, बुद्धि, विद्या! क्या नहीं है मेरे पास, इन दो नेत्रों को छोड़कर? क्या हो जाता है नेत्रों से... बस यही न! कि देख लो, सामने खड़ा व्यक्ति गौर है अथवा श्याम वर्ण का? वह नीले वस्त्र पहने है अथवा श्वेत...! यह तो शासक को उसका कोई भी सेवक बता सकता है। फिर क्या अन्तर पड़ जाता है दो... दो..."

धृतराष्ट्र का स्वर कण्ठ से बिखरकर उनके नेत्र-कोटरों में छलकने लगा था। पाण्डु तथा विदुर असहाय से एक-दूसरे की ओर देखने लगे। अपने बीच उपजे अवसाद को भंग करते हुए विदुर ने विनम्र वाणी में कहा, "भ्राताश्री! अविनय क्षमा करें... मेरा तात्पर्य आपका मन दुःखाने का नहीं था। यदि कुछ था तो मात्र आपको स्थिति से अवगत कराना था... कि जब हमारे गुरुजन इस विषय में निर्णय लें तब आपको कोई आघात न लगे। आपका मन यथार्थ को स्वीकार करने के लिए तैयार रहे।"

"तो क्या तुमको नहीं लगता कि..." धृतराष्ट्र अपने हित में तर्क ढूँढ़ते हुए बोले, "कि यदि ऐसा कुछ हुआ तो वह वास्तव में अन्याय होगा... एक सुपात्र के प्रति दण्ड होगा... एक ऐसे अपराध के लिए जो उसने किया ही नहीं। अरे, यदि मेरे नेत्र नहीं हैं, तो इसमें मेरा क्या दोष?"

"नीति का तर्क बड़ा दुधारू होता है भ्राताश्री..." विदुर फिर भूल चले थे कि वे एक विकलांग से तर्क कर रहे हैं, "यदि आप शासक के पद को पुरस्कार मानते हैं... और नेत्र न होने में अपना कोई दोष नहीं मानते, तो ज्येष्ठ होने में ही आपका अपना क्या योगदान है? यह भी तो मात्र एक संयोग है कि आप ज्येष्ठ हैं। इस संयोग के लिए आपको..."

"विदुर...!" खीझ में धृतराष्ट्र का स्वर कुछ ऊँचा हो गया था। वे विदुर का वाक्य काटते हुए बोले, "तुमको क्या वैमनस्य है मुझसे? तुम्हारा हर तर्क मेरे विरोध में ही क्यों होता है?"

"आपका विरोध नहीं भ्राताश्री..." विदुर ने फिर विनम्रतापूर्वक कहा, "मैं तो नीति की बात कह रहा था।"

"तुम्हारा तो सारा नीति-शास्त्र ही मेरे विरोध में है..." धृतराष्ट्र ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा, "तो तुम क्या चाहते हो... कि राजपद तुम्हें प्राप्त हो?"

"मेरा तो प्रश्न ही नहीं उठता भ्राताश्री..." विदुर ने तत्परतापूर्वक कहा, "मैं न तो कुरुवंश की सन्तान हूँ... और न ही राज-वंशी। यह तो मात्र संयोग है कि मैं आप दोनों के बीच जन्मा... आपका भाई होते हुए भी, आपका दास हूँ।"

"तो तुम..." धृतराष्ट्र के नेत्र-गोलकों में कम्पन होता रहा, "तो तुम..."

धृतराष्ट्र उलझन में पड़ गये। उन्होंने भी ऐसा ही कुछ सुन रखा था, किन्तु विस्तार में यह जानने का अवसर कभी नहीं मिला कि यह सब कैसे हुआ, इसका अर्थ क्या है!

उस रात धृतराष्ट्र को भोजन रुचिकर नहीं लगा। उन्हें मौन एवं दुःखी देख अम्बिका ने स्नेहपूर्वक अपने हाथों उन्हें भोजन खिलाने का प्रयास किया... उनके मन की पीड़ा जानने का आग्रह किया, तो वे माँ की गोद में सिर रखकर रो पड़े।

अम्बिका धृतराष्ट्र की मनोदशा से परिचित थीं। उन पर अवसाद एवं निराशा का संक्रमण होता ही रहता था, किन्तु आकाश से तारे तोड़कर पुत्र का भविष्य सँवारने की इच्छुक माँ के हाथ, अपनी सीमाओं में, केवल उसके मस्तक को सहलाकर रह जाते थे।

"माँ..." धृतराष्ट्र ने अम्बिका की गोद में सिर छिपाकर सिसकते हुए ही पूछा, "मेरे नेत्र क्यों नहीं हैं?"

उत्तर के अभाव में अम्बिका को स्थिति से कतराने का कोई नया मार्ग ढूँढ़ना पड़ा, "और बहुत कुछ तो है, पुत्र... सब कुछ भला किसे मिला है!"

"किन्तु नेत्र..." धृतराष्ट्र किसी भी प्रकार बहलने के लिए तैयार नहीं थे। "नेत्र तो परम आवश्यक हैं, सम्पूर्ण जीवन के लिए... मेरे नेत्र क्यों नहीं हैं? और सब कुछ लेकर मैं क्या करूँ, जब नेत्र ही नहीं हैं!"

"नेत्र बहुत कुछ होते हैं पुत्र..." अम्बिका ने समझाते हुए कहा, "किन्तु सब कुछ नहीं होते। परमात्मा जिनको नेत्र नहीं देता, उन्हें मन के नेत्र देता है... एक नितान्त विलक्षण दृष्टि देता है, जिसे साधारण नेत्रवाले संसारी कभी नहीं पा सकते..."

"ऐसा कुछ नहीं होता माताश्री..." धृतराष्ट्र ने मचलते हुए कहा, "पहले भी कई बार मुझे बहलाया है आपने, इसी प्रकार... किन्तु नेत्रों के बदले ऐसा कुछ भी नहीं मिला है मुझे। मुझे नेत्र चाहिए... मेरे नेत्र क्यों नहीं हैं?"

"सम्भवतः मेरे ही किसी अपराध के कारण..." अम्बिका ने स्मृतियों के सागर में डूबते हुए कहा, "प्रिय पुत्र! ज्ञानी जनों का कहना है कि माता-पिता के पुण्य ही सन्तान को सुखी एवं समर्थ जीवन प्रदान करते हैं।"

धृतराष्ट्र सम्भवतः उनकी बातों में अपने दुःखों से पार पाने का कोई मार्ग ढूँढ़ रहे थे। "किन्तु पुत्र, मैंने कुछ पुण्य भी किये होंगे जो तुम जैसा प्यारा पुत्र प्राप्त हुआ मुझे।"

"नेत्र-हीन..." सहसा धृतराष्ट्र ने उन्हें टोका।

"मेरे नेत्रों की ज्योति..." अम्बिका ने दुलार से धृतराष्ट्र की केशराशि सँवारते हुए कहा।

"किन्तु माते..." धृतराष्ट्र ने कहा, "पता है आपको! दादीश्री हस्तिनापुर के भावी शासक के विषय में विचार-विमर्श कर रही हैं।"

अम्बिका धृतराष्ट्र की इस चिन्ता का संकेत पा चुकी थीं। उन्होंने कहा, "तो करने दो उन्हें... वह कुल की ज्येष्ठ हैं। यह उनका अधिकार भी है और कर्तव्य भी।"

"किन्तु जब परम्परा ज्येष्ठ पुत्र का ही अभिषेक करने की है... तो..."

"परम्परा की भी कुछ सीमाएँ होती हैं, पुत्र..." अम्बिका ने स्नेह-भरे स्वर में उन्हें समझाते हुए कहा, "विश्वास रखो, जो वे करेंगी कुरुवंश के हित में ही करेंगी, हस्तिनापुर के हित में करेंगी।"

"आपको उन पर इतना विश्वास क्यों है माते?" धृतराष्ट्र ने कुछ आश्चर्य में प्रश्न किया।

"मैंने उन्हें अनेक अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ते देखा है पुत्र!" अम्बिका ने पुनः स्मृतियों में डूबते-उतराते हुए कहा, "कुरुवंश के प्रति उनका समर्पण देखा है। उनकी दूरदृष्टि एवं दृढ़ता न होती तो कौन जाने मैं कहाँ होती! मेरा यह प्यारा-सा पुत्र मुझे कहाँ मिलता?"

"किन्तु वह मेरा अधिकार क्यों छीन रही हैं? नेत्र-हीन होने में भला मेरा क्या अपराध है?"

"पुत्र...!" अम्बिका ने सोचते हुए, गम्भीर स्वर में कहा, "भाग्य बहुत कुछ देता है पुत्र... और बहुत कुछ लेता भी है। तुम्हें नेत्रों का अभाव भी उसी भाग्य ने दिया, जिसने ज्येष्ठ होने का अवसर दिया। जिस अधिकार से तुम अपने ज्येष्ठ पद को स्वीकारते हो, उसी गरिमा से अपने अभाव भी स्वीकार करो..."

धृतराष्ट्र को सहसा लगा कि मातश्री भी विदुर की वाणी में बोल रही हैं... सम्भवतः इन्होंने भी नीति-शास्त्र कण्ठस्थ कर रखा हो। "क्या स्वीकार करूँ माते!" उन्होंने निराश-से स्वर में कहा, "भाग्य ने मुझे ठोकरों के अतिरिक्त दिया ही क्या है?"

अम्बिका के मन को गहरा आघात लगा। पुत्र की निराश मनःस्थिति पर अपने स्नेह का लेप लगाते हुए उन्होंने कहा, "क्यों पुत्र! क्या तुम्हें स्नेह देने वाली माँ नहीं मिली? जीवन-यापन के लिए ये राजसी सुख नहीं मिले? पाण्डु-सा आज्ञाकारी

अनुज नहीं मिला? और गान्धारी-सी समर्पिता, पतिव्रता जीवन-संगिनी नहीं मिली?"

धृतराष्ट्र के मुख पर मुस्कान लौट आयी थी। अम्बिका ने उनके केश सहलाते हुए कहा, "अच्छा पुत्र, जाओ... अपने भवन में जाओ। गान्धारी तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठी चिन्ता कर रही होगी।"

धृतराष्ट्र माँ को प्रणाम करके चल दिये।

"राजकुमार आ रहे हैं देवि..." शीबा ने गाँधारी की केशराशि में बेले का गजरा बाँधते हुए कहा, "मुझे आज्ञा दें।" उसके होंठों पर अनजाने ही एक शरारत भरी मुस्कान उभर आयी थी, यह जानते हुए भी कि उस मुस्कान को देखने वाला अथवा उसका अर्थ समझने वाला वहाँ कोई नहीं है।

और कोई अवसर होता तो गान्धारी कहतीं, 'हाँ, हाँ... पता है मुझे, क्या मैं उनकी पदचाप नहीं पहचानती!' किन्तु उस समय वे मात्र एक मन्द मुस्कान के साथ, हवा में अपने दाहिने हाथ की उँगलियाँ लहराकर रह गयीं। उस संकेत से शीबा ही क्या, उनकी हर दासी परिचित थी।

गान्धारी ने शैया से उठकर धृतराष्ट्र को अपनी भुजाओं में थाम लिया। धृतराष्ट्र उनके वक्ष:स्थल में सिर छिपाकर बैठे तो न जाने कितनी देर मौन बैठे रहे। गान्धारी भी मौन, उनकी केशराशि में अपनी उँगलियाँ फिराती रहीं, जैसे कोई शिशु उनके वक्ष:स्थल पर पड़ा सो रहा हो।

कुछ देर बाद गान्धारी ने धीमे स्वर में प्रश्न किया, "क्या कहा माताश्री ने?"

धृतराष्ट्र सहसा अपना मस्तक उठाते-उठाते रह गये, 'अरे! सब समाचार ज्ञात रहता है इसे!'

उन दोनों के बीच मौन फिर आ बैठा। किन्तु धृतराष्ट्र को कुछ उत्तर देना भी आवश्यक लग रहा था। "वही जो हर नीति-निपुण मां कहती है..." उन्होंने अपना सिर उठाते हुए कहा, जैसे गान्धारी की आँखों में झाँकते हुए कह रहे हों, "भाग्य बहुत कुछ देता है, तो कुछ लेता भी है... यही कि प्रारब्ध को गरिमापूर्वक स्वीकार करने में ही सबका हित है... और यह कि दादीश्री जो भी निर्णय लेंगी वह हमारे कुल की मर्यादा के अनुकूल होगा और राज्य के हित में होगा।"

पत्नी की ओर से कोई प्रतिक्रिया न पाकर उन्होंने कहा, "तुम चुप क्यों हो गान्धारी! सुन रही हो न...?"

"हँ, स्वामी!" गान्धारी ने विवश स्वर में कहा, "सुन भी रही हूँ... और..."

"और...?"

"और सहने का प्रयास भी कर रही हूँ..."

"सहने के अतिरिक्त क्या हम कुछ भी नहीं कर सकते? क्यों नहीं कर सकते?" धृतराष्ट्र ने अधीर होते हुए कहा, "जानती हो गान्धारी, मुझे यदा-कदा जीवन भर लगता रहा है कि मेरा जन्म ही सहने के लिए हुआ है... सहने के लिए और चुप रहने के लिए।"

"चुप न रहें स्वामी..." गान्धारी ने दार्शनिक की भाँति शान्त स्वर में कहा, "मौन, चिन्ता को और भी मर्मान्तक बना देता है। मन की व्यथा को शब्दों के माध्यम से निष्कासित करना ही हितकर है और... मैं हूँ न, आपकी हर बात सुनने के लिए... और आप मौन रहे तो मैं आपको देखूँगी कैसे!"

"यही तो... यही तो गान्धारी..." धृतराष्ट्र ने और भी अधीर होते हुए कहा, "यह तुम्हारी आत्मारोपित नेत्र-हीनता मेरे मार्ग को और भी दुष्कर बना रही है... अन्यथा मैं तुम्हारी दृष्टि से देखता और... और फिर देखता कि भला कौन मेरे अधिकार से वंचित करता है मुझे?"

गान्धारी को अन्धकार में क्षण भर को एक उजली किरण दिखी... जो दूसरे ही क्षण लुप्त हो गयी। धृतराष्ट्र के उप-नयन भला कहाँ तक साथ देंगे? कैसे उनके साथ दौड़ेंगे? कहाँ तक मित्र और शत्रु में भेद करेंगे? क्या कभी युद्ध भूमि में शत्रु के वक्ष:स्थल का सन्धान भी कर पाएँगे?

धृतराष्ट्र ने पुन: अपना आग्रह दुहराया, "त्याग दो... हटा दो गान्धारी, इस पट्टी को अपने नेत्रों से..." सम्भवत: अपने आग्रह की व्यर्थता जानते हुए भी।

और प्रत्युत्तर में चुपचाप उन्होंने धृतराष्ट्र का मस्तक प्रेम-पूर्वक अपनी हथेलियों के बीच समेटकर अपने वक्ष:स्थल पर टिका लिया। कुछ ही क्षण में अपने कंगन झनकारती हुई उनकी दाहिनी भुजा हिली और संलग्न कक्ष में बैठी शीबा ने संकेत समझते हुए उनके शयन-कक्ष का दीपक बुझा दिया।

गान्धारी की पट्टी बँधी आँखें जले हुए दीपक एवं बुझे दीप का अन्तर भली-भाँति पहचानती थीं... नहीं जानती थीं तो बस यह कि संलग्न कक्ष में बैठी शीबा ने बीच की भीत में एक ऐसी गुप्त झिरी बना रखी है, जो उनकी अन्तरंग रतिक्रिया को नितान्त गोपनीय नहीं रहने देती।

शीबा की समस्या थी तो उसकी असमर्थता... कि वह, जो कुछ धुँधलके में देखती, उसे और स्पष्ट देखने के लिए, और निकट जाने का साहस नहीं जुटा पाती थी। वह जानती थी कि वह कितने भी दबे-पाँव क्यों न जाए... पकड़ी जाएगी, क्योंकि स्वामिनी उसकी गन्ध भी पहचानती हैं। वह धुँधला दृश्य... वे अस्फुट स्वर... वह धृतराष्ट्र की बलिष्ठ भुजाओं की स्वच्छन्द हलचल... उत्तेजना देकर, उसे दिन-प्रतिदिन अनिद्रा का रोगी बनाती जा रही थीं।

और शीघ्र ही वह दिन भी आ पहुँचा जिसकी भीष्म को अनेक वर्षों से प्रतीक्षा थी, जिसकी हस्तिनापुर को आवश्यकता थी... जो सत्यवती की विवशता था और जिसकी धृतराष्ट्र को आशंका थी।

राजसभा का विशाल कक्ष मन्त्रियों, सेनाध्यक्षों, नगरश्रेष्ठों, विद्वानों एवं कुलपतियों से भरा था। सभी के नेत्रों में उत्कण्ठा झलक रही थी।

रिक्त सिंहासन के एक ओर, राजगुरु आंगिरस के निकट, भीष्म बैठे थे... और दूसरी ओर धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर।

पाण्डु

प्रारम्भिक औपचारिकताओं के पश्चात्, राजगुरु ने उठकर राजसभा में उपस्थित सभी वर्गों को सम्बोधित करते हुए कहा, "हस्तिनापुर का सिंहासन जो गत पच्चीस वर्षों से रिक्त पड़ा था, आज उसे पुनर्प्राणित करने के लिए हम सब यहाँ एकत्रित हुए हैं। इस बीच जिस जागरूकता एवं समर्पण के साथ गंगापुत्र देवव्रत ने, कार्यवाहक शासक के रूप में इस राज्य की सेवा की वह, दुर्भाग्यवश, उनकी भीष्म-प्रतिज्ञा के कारण, कोई स्थायी रूप नही पा सकती। अब, सौभाग्य से, स्वर्गीय महाराज विचित्रवीर्य के पुत्र युवावस्था को प्राप्त हो चुके है. और, शस्त्र एवं शास्त्र विद्याओं में पारंगत होकर, स्वतन्त्र रूप से राज्य का शासन भार सँभालने में समर्थ है।

"किन्तु राजमाता के सम्मुख समस्या आ खडी हुई थी कि इस राज्य पर किसका अभिषेक हो। परम्परा, यथार्थ तथा सीमाओं के परिप्रेक्ष्य मे शासक के चयन का उत्तरदायित्व, संयुक्त रूप मे, राजमाता सत्यवती, गंगापुत्र देवव्रत तथा कुलगुरु होने के नाते, स्वयं मुझ पर आया। हम तीनों अपनी बुद्धि एवं विवेक के अनुरूप कई बार विचार-विमर्श करके, एकमत से इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि..."

सभा कक्ष में नीरवता असह्य हो चली थी... लोगो की साँसों का स्वर भी सहसा थम गया। धृतराष्ट्र केवल अपने हृदय का स्पन्दन सुन रहे थे और उनके नेत्र-गोलक सहसा उछल-उछलकर राजगुरु के शब्द लपकने के लिए आतुर प्रतीत हो रहे थे।

तभी राजगुरु ने सहज स्वर मे ही अपना वाक्य पूरा किया कि, "हस्तिनापुर के सिंहासन पर कुमार पाण्डु का अभिषेक हो... और कुमार धृतराष्ट्र को युवराज पद दिया जाए। इस नयी व्यवस्था में एक सुयोग्य महामन्त्री की आवश्यकता भी होगी... इस उत्तरदायित्व के लिए नीति-निष्णात विदुर को नियुक्त किया जा रहा है।

"हमें विश्वास है कि इस नयी व्यवस्था को आप समस्त नागरिकों का अनुमोदन प्राप्त होगा।"

मंगल-ध्वनि एवं जय जयकार में राजगुरु के अन्तिम शब्द किसी को स्पष्ट नहीं सुन पड़े... किन्तु वह औपचारिकता तो सर्वविदित भी थी और सर्व-सम्मत भी। धृतराष्ट्र के कानों में तो कुमार पाण्डु के उल्लेख के बाद का कोई शब्द वैसे भी नहीं पड़ा था। वे आक्षोभ की अवस्था में मौन बैठे यदि कुछ सोच रहे थे तो बस यह कि कोई उन्हें करुणा की... दया की दृष्टि से तो नहीं देख रहा है...! और देख रहा है तो वे कहाँ जा छिपें... कैसे छिपें!

कुछ ही क्षणों में धृतराष्ट्र को आभास हुआ कि अनेक लोग आकर उनके पास बैठे पाण्डु को मंगल ध्वनि करते हुए अपने साथ लिवा ले गये।

मन्त्रोच्चार के बीच पाण्डु का राजतिलक हुआ। सिंहासन पर बैठ पाण्डु ने प्रजा की रक्षा एवं हस्तिनापुर की उन्नति के प्रति अपने कर्तव्य निर्वाह की शपथ ली। वह मांगलिक कार्यक्रम बड़ी देर तक चलता रहा। धृतराष्ट्र को उस बीच रह-रहकर यह लगता रहा कि कितना अच्छा है जो उनके नेत्र नहीं हैं... अन्यथा उनके लिए अपने प्रति अन्याय का यह उत्सव देखना दूभर हो जाता। किन्तु रह-रहकर उन्हें यह भी लगता कि यह क्या हो गया, मात्र नयनों के अभाव के कारण! कानों में पड़ती वह सारी मंगलध्वनि उनका, उनकी विकलांगता का... उपहास करने के लिए पर्याप्त थी।

साथ ही धृतराष्ट्र को यह लगा कि माँ की गोद में सिर रखकर यदि उस दिन वे रो न लिये होते... गान्धारी से अपनी पीड़ा कहकर मन हल्का न कर चुके होते... माँ उन्हें स्नेहपूर्वक प्रारब्ध की महिमा न समझा चुकी होतीं, स्थिति को गरिमा के साथ झेलने का पाठ न पढ़ा चुकी होतीं... तो इस सभा में बैठे रह पाना उनके लिए सम्भव न हो पाता।

धृतराष्ट्र की विचार शृंखला सहसा टूटी, जब पाण्डु ने उनके सम्मुख पहुँचकर उनका चरणस्पर्श किया। "भ्राताश्री ..." पाण्डु ने विनम्र स्वर में कहा, "परम्परा के अनुसार यह राज्य आप ही का है... मैं गुरुजनों के आदेशानुसार आपकी ओर से इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करूँगा..."

पाण्डु की बात सुनकर क्षण-भर को तो उनका मन भर आया... जी हुआ कि उन्हें खींचकर गले से लगा लें... किन्तु दूसरे ही क्षण कटुता से भरा उनका हृदय शब्दों में छलक ही पड़ा, "यह क्या करते हैं महाराज... प्रणाम तो मुझे करना चाहिए... राज्य के युवराज को, अपने महाराज के चरणों में।"

पाण्डु क्षण-भर के लिए तो अवाक् खड़े रह गये... किन्तु, दूसरे ही क्षण, विदुर का संकेत पाकर, शान्त होकर धृतराष्ट्र के सामने से हट गये। स्थिति को सँभालने की दृष्टि से विदुर ने ही संवाद को नया मोड़ दिया,

"भ्राताश्री, आशीर्वाद पाना तो अनुज का अधिकार है... और पाण्डु महाराज तो मात्र तब तक हैं जब तक कि वह सिंहासन पर हैं, अन्यत्र तो वह अनुज है... हम दोनों का।"

"तो यह भी तुम्हारी नीति कह रही है विदुर...!" धृतराष्ट्र के हास्य में भी कटुता की ध्वनि थी, "अब महामन्त्री तो प्रसन्न हैं कि जो कुछ हुआ वह नीति शास्त्र के अनुरूप ही हुआ।"

अपनी आवेशपूर्ण मनःस्थिति में बोलते हुए धृतराष्ट्र को यह भान नहीं हुआ कि पाण्डु के पीछे मन्द-मन्द मुस्काते हुए भीष्म भी खड़े हैं।

अभिषेक होने के पश्चात्, पाण्डु सीधे अपनी माँ अम्बालिका के कक्ष में गये... जहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वे राजमाता सत्यवती के पास गयी हुई हैं। समाचार पाकर पाण्डु भी सत्यवती के भवन में पहुँचे। अम्बिका भी वहीं थीं। माँ तथा मौसी का चरण-स्पर्श कर, उन्होंने दादी के चरणों में प्रणाम किया और कहा, "दादीश्री, आप सब गुरुजनों के आदेशानुसार मैंने राज्य का शासनभार स्वीकार तो कर लिया... किन्तु उस उत्तरदायित्व के निर्वाह के लिए मुझे हर क्षण आपके आशीर्वाद तथा तातश्री के मार्गदर्शन की आवश्यकता रहेगी।"

सत्यवती ने उन्हें हृदय से लगाकर उन पर आशीर्वादों की वर्षा की, "वत्स, हस्तिनापुर को नहीं, हमारे वंश को भी तुमसे बड़ी अपेक्षाएँ हैं... परमात्मा करे कि तुम राज्य को सम्मान दिलाते हुए वंश का मान बढ़ाओ और वंश-बेल को बढ़ाकर अपने पूर्वजों की आत्मा को शान्ति प्रदान करो। साथ ही एक बात और..."

सत्यवती अपने उद्‌गार को समुपयुक्त शब्द देने के लिए क्षण भर ठिठकीं। "धृतराष्ट्र तुम्हारा अग्रज है। महाराज का अग्रज, समाज में कभी महाराज से कम सम्मान न पाए... धृतराष्ट्र के मन को समझना। प्रयत्न करना कि वह कभी भी स्वयं को अपमानित अथवा उपेक्षित न समझे। तुम्हारी यह भावना रही.. तुम्हारा यह प्रयास रहा, तो परिवार कभी निर्बल नहीं होगा। राज्य दिन प्रतिदिन शक्तिशाली बनेगा।"

"आपका परामर्श मेरे मन में सर्वोपरि रहेगा दादीश्री.." पाण्डु ने उनके चरणों की ओर झुकते हुए विनम्रतापूर्वक कहा।

"और अम्बिका तुम्हारी ज्येष्ठ माता हैं.." सत्यवती ने पाण्डु की आँखों में देखते हुए पुनः कहा, "अब से राजमाता का पद, अम्बिका तथा अम्बालिका, दोनों को ही प्राप्त हो रहा है। समान रूप से दोनो का आशीर्वाद प्राप्त करके राज्य का संचालन करना।"

"ऐसा ही होगा, दादीश्री..." पाण्डु ने पुनः उनके चरणो में मस्तक नवाया।

धृतराष्ट्र राजसभा से, भारी मन, अपने भवन में गये। उनका संतप्त हृदय आत्मीयता की छाया ढूँढ़ रहा था.. कोई शीतल, कोमल स्पर्श चाहता था.. सान्त्वना के दो शब्द सुनने के लिए लालायित था।

किन्तु गान्धारी उस समय अपने भवन में नहीं थीं। उनके भवन में प्रधान दासी शीबा ने उनका स्वागत करते हुए शीतल जल प्रस्तुत किया, "देवी गान्धारी इस समय महारानी कुन्ती के भवन की ओर गयी हैं, स्वामी।"

"महारानी कुन्ती...!" धृतराष्ट्र ने सहसा आश्चर्य में उसके शब्द दुहराये। कुन्ती

के लिए महारानी का उपसर्ग उन्हें क्षण भर के लिए चकित कर गया। "हाँ... महारानी कुन्ती..." उन्होंने कुछ शिथिल होते हुए व्यंग्य से मुस्कराकर कहा, "तुमने बड़ी सरलता से अपना पाठ कण्ठस्थ कर लिया शीबा! नयी महारानी के चरणों में प्रणाम करके पुरस्कार भी प्राप्त किया, अथवा नहीं?"

"युवराज..." शीबा ने वाणी को सहज रखते हुए कहा, "आपकी सेवा ही मेरा सबसे बड़ा पुरस्कार है। आप सेवा का अवसर प्रदान करते रहें... तो मुझे अन्य किसी पुरस्कार की क्या आवश्यकता!"

धृतराष्ट्र को लगा दासी वाक्-पटु है। उन्हें स्मरण नहीं हुआ कि कभी उसने उन्हें असन्तोष का अवसर दिया हो। तभी तो... उन्होंने सोचा, गान्धारी ने उसे अपने इतने निकट रख छोड़ा है।

शीबा देख रही थी कि धृतराष्ट्र निढाल हैं... थके-थके भी। कारण भी उसकी समझ से परे नहीं था। एक बार तो उसका मन हुआ कि वह उनकी केशराशि सहलाते हुए उन्हें अपने वक्ष:स्थल से लगा...

सहसा उसकी विचार शृंखला को झटका लगा। अरे! यह क्या सोचे जा रही थी वह? स्वामी को सहानुभूति की प्यास है, किन्तु... किन्तु सेवा की भी एक सीमा होती है। वह अपनी सीमाओं के प्रति जागरूक थी। वह जानती थी कि स्वामी, मनचाहा खिलौना न प्राप्त कर पाने वाले अबोध बालक की तरह, दु:खी हैं... खिन्न हैं... टूटे हुए हैं... किन्तु उनके मन पर ऐसा शीतल लेप लगाने का अधिकार केवल उनकी जीवन-संगिनी को है। उसको नहीं...

वह पंखा उठाकर धृतराष्ट्र पर झलने लगी।

"शीबा..." धृतराष्ट्र ने बहकते से स्वर में कहा, जैसे स्वयं अपने-आपको ही सम्बोधित कर रहे हों, "शीबा, तुम मन की भाषा समझती हो... किन्तु दुर्भाग्य यह है कि ये पवन के झोंके तपते हुए मन तक नहीं पहुँच सकते..."

धृतराष्ट्र ने कहते-कहते, भद्रासन पर पसरते हुए आँखें मूँद लीं।

गान्धारी को, दासियों-सहित अपने कक्ष की ओर आते देख कुन्ती ने आगे बढ़कर उनका चरण-स्पर्श किया।

"अरे यह क्या, महारानी!" गान्धारी ने सहसा अचकचाकर उनके हाथ थाम लिये, "यह अनर्थ करके मुझे पाप का भागी न बनाएँ।"

"अनर्थ कैसा जीजीश्री!" कुन्ती ने विनम्रतापूर्वक कहा, "बड़ों का चरण-स्पर्श करके आशीर्वाद पाना तो छोटों का अधिकार है!"

"नहीं बहन... अब वह पहले वाली बात तो रही नहीं," गान्धारी ने कहा,

"महारानी को समुचित सम्मान देना तो अब मेरा कर्तव्य है। आप मेरे चरण छूकर मुझे पाप एवं अभद्रता का भागी न बनाएँ। राजपद की भी एक गरिमा होती है। सम्भव है कि नये समीकरण को हृदयंगम करने में मुझसे कभी कोई अपराध हो जाए... तो मुझे क्षमा करें। मुझे राजपद का समुचित सम्मान करने दें, इसमें बाधक न बनें महारानी।"

"जीजीश्री..." कुन्ती ने पुनः आग्रह करते हुए कहा, "जो राजा होगा, वह होगा, जहाँ होगा, वहाँ होगा। इससे हमारे सम्बन्ध में भला कोई अन्तर कैसे आ सकता है! मैं तो आपसे छोटी थी और छोटी ही रहूँगी। राजसभा के निर्णय को आधार बनाकर आप मुझे अपने स्नेह से वंचित न करें।"

"कुन्ती ठीक कह रही है भाभीश्री..." तभी अपने कक्ष में प्रवेश करते हुए पाण्डु ने कहा, और बढ़कर गान्धारी का चरण-स्पर्श किया। "शासन तन्त्र ने हम भाइयों को जो उत्तरदायित्व दिये, वे हमारे जन्म-जात सम्बन्धों को कैसे बदल सकते हैं? जो अग्रज है वह तो अग्रज ही रहेगा।"

"किन्तु भइया पाण्डु..." गान्धारी ने पुनः एक तर्क ढूँढ़ निकाला, "अग्रज भले ही अग्रज रहे, किन्तु वह महाराज की अवहेलना करने का अथवा उसका समुचित सम्मान न करने का अधिकार तो नहीं पा जाता।"

"नहीं भाभीश्री...! ये सारे तर्क मात्र सैद्धान्तिक हैं," पाण्डु ने सरलता से कहा, "अग्रज तो वैसे भी कभी अनुज की अवहेलना नहीं कर सकता। अग्रज तो सदैव अनुज पर स्नेह लुटाता रहता है... और सम्मान तो मन से ही होता है, उसमें न तो औपचारिकता होती है और न अनिवार्यता। मेरे लिए तो आप दोनों का स्नेह ही किसी सम्मान से कम नहीं है।"

"और देखिए न..." सहसा तर्क में उलझते हुए इस संवाद को बीच में वाणी के माधुर्य से काटते हुए कुन्ती ने कहा, "देवर-भाभी के इस आत्मीय संवाद में मैं तो अपना वर्तमान ही भूल गयी... मैं तो, लगा सतयुग में बैठी कोई मधुर संवाद सुन रही हूँ..."

"बहन कुन्ती..." गान्धारी ने पुनः संवाद को ठोस धरती पर ला पटका। "सतयुग हो या द्वापर... कुछ अभागे ऐसे भी होते हैं जिन्हें किसी युग से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मेरे और तुम्हारे भ्राताश्री के लिए तो दिन और रात भी एक ही रंग लेकर आते हैं। हम दोनों के लिए तो पहले भी अन्धकार युग था और भविष्य में भी वही रहेगा।"

पाण्डु का कण्ठ निराशा में सूख चला था। वे धृतराष्ट्र को ही नहीं, गान्धारी को भी अपने मधुर अभिभाषण से आश्वस्त करना चाहते थे कि राजपद के निर्णायकों का निर्णय जो भी रहा हो, वह पूर्णतया शारीरिक क्षमता एवं सम्भावना पर आधारित था, उससे धृतराष्ट्र के प्रति उनके व्यवहार में कभी कोई अन्तर नहीं आएगा। किन्तु

उन दोनों की ही मानसिकता ऐसी हताश एवं आहत लग रही थी कि पाण्डु के किसी आश्वासन का उन पर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ रहा था। उन्होंने देखा, कुन्ती भी, कुछ हताश-सी उनकी ओर देखे जा रही थीं।

"भाभीश्री! मैंने सुना है..." पाण्डु जानते थे कि उन्होंने ऐसा कुछ नहीं सुना, "दादीश्री ने यह प्रबन्ध इस आशय से किया है कि जब कोई युद्ध हो... अथवा ऐसी ही कोई आपात्-काल की स्थिति हो, तो राज्य का संचालन मेरे हाथों में हो... और जब स्थितियाँ सामान्य हों, सुकाल हो, तब भ्राताश्री का शासन हो... वे राजपद ग्रहण करें..."

"यह कैसे... किसने कहा?" गान्धारी ने कुछ रुककर अटकते हुए पूछा।

"क्यों भाभीश्री, इसमें किसी के कहने का प्रश्न ही कहाँ आता है।" पाण्डु ने कुछ हँसते-मुस्कराते हुए कहा, "सब को ज्ञात है कि पाण्डु जैसा निर्बल-दुर्बल और दीर्घसूत्री युद्ध आदि के पश्चात् जब थक जाएगा तो दीर्घकालीन विश्राम के लिए कहीं न कहीं भागेगा और इस अवधि में शासन की बागडोर युवराज के... अर्थात् भ्राताश्री के हाथों में रहेगी। इस प्रकार हम दोनों भाई स्थिति-जन्य आवश्यकताओं को देखते हुए राजकार्य करेंगे।"

"मैंने तो..." गान्धारी ने उलझन में पड़ते हुए कहा, "मैंने तो ऐसा कुछ नहीं सुना।"

"अरे भाभीश्री!" पाण्डु ने विनोद-मिश्रित आश्चर्य में कहा, "अभी-अभी मैंने, इतने स्पष्ट शब्दों में, इतने विस्तार से सब कुछ कहा... और आप अब भी कहती हैं कि आपने कुछ नहीं सुना।"

"तुमने तो कहा, भइया! किन्तु..."

"अरे, मेरे शब्दों का कोई महत्त्व ही नहीं?" पाण्डु ने कृत्रिम रोष से कहा, "यह मेरा अभिषेक क्या हुआ, मेरी सारी विश्वसनीयता पर पानी फिर गया।"

"नहीं भइया..." गान्धारी के अधरों पर मुस्कान उभर आयी थी, "तुम्हारी विश्वसनीयता पर भला कौन उँगली उठा सकता है! किन्तु बड़ी विचित्र है यह व्यवस्था! एक राज्य के दो शासक...?"

"क्यों भाभीश्री...?" पाण्डु ने स्वर में नाटकीयता का समावेश करते हुए कहा, "दो भाई जब एक ही फल को बाँटकर खा सकते हैं, तो क्या मिल-जुलकर राज्य का उत्तरदायित्व नहीं वहन कर सकते?"

गान्धारी के मुख पर सन्तोष झलक रहा था... उन्हें पाण्डु के शब्दों पर विश्वास हो चला था। तभी पाण्डु ने कुन्ती से कहा, "जाओ कुन्ती...! भाभीश्री को उनके भवन तक पहुँचाकर आओ। भ्राताश्री अपने कक्ष में भाभीश्री की प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"नहीं भइया..." गान्धारी ने उठते हुए कहा, "मैं मार्ग से परिचित हूँ... साथ में दासियाँ भी हैं।"

"किन्तु कुन्ती को भ्राताश्री का चरण-स्पर्श करके आशीर्वाद भी तो प्राप्त करना

है," पाण्डु ने कुन्ती की ओर संकेतपूर्ण दृष्टि से देखा।

प्रस्थान करते समय गान्धारी ने कुन्ती का हाथ थाम लिया।

पाण्डु उनके जाते ही सोच में डूब गये... 'क्या भ्राताश्री कभी स्नेह-पूर्वक मेरा हाथ थाम पाएँगे!'

गान्धारी को विदा करके पाण्डु सहसा अपनी योजना का स्मरण करके मुस्करा उठे, यह क्या कह दिया उन्होंने? कैसे कह दिया...? किस आधार पर कह दिया?

किन्तु क्या हानि है, यदि यह योजना यथार्थ का रूप ले ले... राजसिंहासन पर कभी वे बैठें, तो कभी भ्राताश्री। उन्हें धृतराष्ट्र की सम्राट बनने की प्रबल उत्कण्ठा का आभास था... साथ ही ज्ञात थीं उनकी सीमाएँ। कभी-कभी विधि का विधान, अनजाने-अनचाहे ही, अवचेतना के क्षणों में अपनी योजनाएँ प्रकट कर देता है। पाण्डु को लगभग अनायास ही कही हुई अपनी योजना पारिवारिक शान्ति के हित में लगी। वैसे भी, कभी न कभी दुर्बोध राजकार्य से ऊबकर, शान्ति-काल में, यदि वे कुछ समय राजकाज से अवकाश लेकर आमोद-प्रमोद में बिताएँ.. स्वच्छन्द होकर, नीले आकाश के तले... कुन्ती के साथ किसी नदी तट पर भ्रमण करते हुए...

कुन्ती लौटकर आ गयी थीं।

"अरे कुन्ती, तुम...!" पाण्डु ने उन्हें देखते ही उल्लास में लगभग चौंकते हुए कहा, "तुम्हारी बड़ी ही दीर्घ आयु है। अभी-अभी... बिल्कुल अभी, मैं तुम्हारे ही विषय में सोच रहा था।"

"मेरे विषय में स्वामी?" कुन्ती ने कृत्रिम आश्चर्य में मुस्कान बिखेरते हुए कहा, "मुझे गये तो अभी घड़ी भर भी समय नही बीता! अब यह न कहिएगा कि आप हर समय मेरे ही विषय में सोचते रहते हैं।"

"और कहूँ तो!" पाण्डु के स्वर एवं नयनों में ही नहीं, मुख पर भी मृदु हास्य था जो कुन्ती को भीतर तक आह्लादित कर गया।

"तो मैं नहीं मानूँगी.."

"भला क्यों नहीं मानोगी?"

"क्योंकि..." कुछ कहते कहते स्वयं कुन्ती की आँखों में एक काली छाया तिर गयी, जिसे उन्होंने बरबस किसी दूसरी ओर दृष्टि घुमाकर छिपाया, "अच्छा यह बताइए, क्या सोच रहे थे, मेरे विषय में...?"

"यही कि मैं राजकाज से अवकाश लेकर कभी नीले आकाश तले... किसी नदी किनारे... तुम्हारे साथ..."

"जाने भी दीजिए..." कुन्ती ने उलाहना देते से स्वर में कहा, "मैं क्या जानती नहीं आपको। ऐसा कोई उन्मुक्त क्षण कभी मिला भी आपको... तो आपके साथ मैं नहीं, आपके धनुष बाण होंगे.. और दृष्टि किसी वन्य पशु पर।"

"पशु पर...!" पाण्डु ने कृत्रिम रोष से पूछा, "और तुम पर क्यों नहीं?"

"मेरा आखेट तो आप पहले ही कर चुके..." कुन्ती ने सलज्ज मुस्कान बिखेरते हुए कहा।

"अच्छा..." पाण्डु ने नाटकीय क्रोध में कहा, "अरे धनुष-बाण तो सब तुम्हारे पास थे। मैं भला आखेट कहाँ से करता...? मैं तो तुम्हारे हाथों मारा गया।"

"मेरे हाथों में तो जयमाला थी..." कुन्ती ने इठलाते हुए कहा, "धनुष-बाण की बात कहाँ से आयी?"

"हाथों में न!" पाण्डु ने अपनी वाक्-पटुता दिखाते हुए कहा, "तुम जैसों को धनुष-बाण हाथों में लेने की आवश्यकता नहीं होती। नयन बाण तो बिना हाथों के ही चलते रहते हैं।"

"मैं...!" कुन्ती की लज्जा में भी विजयोल्लास था। "अरे मैं तो स्वयं ही डरी-डरी-सी इधर-उधर घूम रही थी। मैं भला क्या बाण चलाती!"

"अच्छा... तो बताओ, क्या देखा था तुमने, जो माला मेरे गले में डाल दी?" पाण्डु ने सहसा बात ही बात में विषय बदल दिया।

कुन्ती मौन अन्यत्र कहीं देखती रहीं। पाण्डु के अनुरोध पर एक सलज्ज मुस्कान के साथ उनकी ओर आँखों में झाँकते हुए कहा, "पता नहीं... किन्तु आपको सहसा अपनी आँखों में झाँकते हुए पाया... तो लगा आपकी आँखें कुछ कह रही हैं। वह मन की भाषा मन ने पढ़ ली होगी... मन ने ही हाथों को प्रेरित किया होगा। मुझे तो पता ही नहीं चला कि कब मेरे हाथ जयमाला पहनाकर मुक्त हो गये।"

"अच्छा...! इतना बिना सोचे-समझे?" पाण्डु ने कुन्ती को छेडते हुए प्रश्न किया, "तो फिर चेत होने पर अपनी भूल पर प्रायश्चित् करने का मन तो नहीं हुआ?"

"प्रायश्चित् का नहीं..." कुन्ती की आँखें चंचल हो उठी थीं, "ऐसी सुहानी भूलें तो बार-बार करने का मन होता है..." कहते-कहते पाण्डु की बाँहों से स्वयं को मुक्त करके वह भाग चलीं।

"अच्छा सुनो तो..." पाण्डु ने उन्हें पुन: पकड़ने की चेष्टा करते हुए टेरा।

"अब क्या...!"

"ये तो बताओ... भ्राताश्री ने क्या कहा, जब तुमने उनका चरण-स्पर्श किया?"

"कुछ विशेष नहीं..." कुन्ती सहसा किसी सोच में डूब गयी थीं। "उनका हाथ तो उठा था, हौले से, आशीष-जैसी मुद्रा में... जैसे उठा करता है।" जान बूझकर उन्होंने पाण्डु को यह बताना उचित नहीं समझा कि धृतराष्ट्र ने व्यंग्य से मुस्कराते हुए यह भी कहा था कि, 'ओहो.. हस्तिनापुर की महारानी आयी हैं।"

"बस... कुछ कहा नहीं!" पाण्डु ने आश्चर्य में जिज्ञासा की, "और भाभीश्री ने कुछ नहीं कहा उनसे!"

"कुछ देर बाद... कुछ भूमिका बनाते हुए, उन्होंने आपकी योजना बतायी थी उन्हें। सुनकर ज्येष्ठश्री को सम्भवतः अच्छा लगा। वे मुस्कराते हुए बोले थे, 'तो क्या पाण्डु को विश्वास है कि मैं राज्य का शासन चला सकता हूँ? कुछ समय के लिए ही सही और यदि कुछ समय के लिए चला सकता हूँ, तो अधिक समय के लिए क्यों नहीं...? यह छोटी सी बात, तातश्री की समझ में क्यों नहीं आती? विदुर की समझ में क्यों नहीं आती?"

"भाभीश्री ने उन्हें शान्त करने का प्रयास किया था, कि अब जब निर्णय हो चुका है तो व्यर्थ उस पर सोच विचार से क्या लाभ! उन्होंने तो आपके दृष्टिकोण की भी सराहना की थी कि राज्य के उत्तरदायित्व का दोनों भाई मिलकर निर्वाह करेंगे। किन्तु ज्येष्ठश्री चुप थे.."

"चुप.. अर्थात्.." पाण्डु ने सोचते हुए कहा, "अप्रसन्न?"

"नहीं, सम्भवतः अप्रसन्न तो नहीं." कुन्ती ने भी अपनी समझ के अनुसार विश्लेषण किया, "किन्तु प्रसन्नता क्या वे मेरे सम्मुख दिखाते... खिलखिलाकर?"

"खिलखिलाते तो वे वैसे भी कभी नहीं " पाण्डु ने स्मरण करते हुए कहा, "मुझे तो स्मरण नहीं कि पिछले दस वर्ष मे. अथवा पन्द्रह वर्ष में मैंने उन्हें कभी मुक्त होकर हँसते हुए देखा हो।"

"हँसेगे कैसे?" कुन्ती ने करुण स्वर मे कहा, "ऐसा दारुण दु:ख पाकर कौन होगा जो मन से प्रसन्न रह सके?"

सारा वातावरण करुणा से भर उठा था। उस करुणा में पाण्डु कुछ कह नहीं पाए किन्तु उनका मन अन्य अनेक आयामों में विचर रहा था। वे परिचित थे अपने अग्रज की व्यथा से। उनकी नेत्र हीनता अपने आप मे परिपूर्ण दु:ख ही नहीं, प्रणेता थी अन्य अनेक दारुण स्थितियों की... इसी नेत्रहीनता के कारण तो परम्परा के विपरीत राज पद से वंचित रहना पड़ा उन्हे। इसी नेत्रहीनता के कारण अपने अनुज का युवराज-पद प्राप्त हुआ उन्हें। इसी नेत्रहीनता के कारण बिना किसी स्वयंवर में भाग लिए विवाह करना पड़ा उन्हें। इसी के कारण वे राजप्रासाद की चहार-दीवारी में बँधे रहने के लिए विवश है। क्यों हुआ यह . कैसे हुआ? क्या केवल भाग्य के कारण? तो क्या भाग्य ही सर्वोपरि है? तब हम सब शिक्षा एवं अभ्यास में क्यों दिन-रात मरते-खपते रहते हैं? क्यों बड़ी बड़ी योजनाएँ बनाते हैं... पराक्रम दिखाकर, बड़े-बड़े झण्डे गाड़ने के स्वप्न क्यो देखते रहते हैं.. ?

अपने आप को स्वयं अपने ही प्रश्न-जाल मे बँधा पाकर, पाण्डु ने मुक्ति के लिए कुन्ती की आँखों में झाँका। कुन्ती को सम्भवतः इसी दृष्टि की प्रतीक्षा थी। उनके अधरों पर मुस्कान थिरक उठी।

दादी सत्यवती तथा दोनों माताओं का आशीर्वाद लेकर पाण्डु ने हस्तिनापुर का शासन-भार सँभाला। सत्यवती का परामर्श था कि इस कार्य में वे निरन्तर भीष्म से मार्गदर्शन प्राप्त करते रहें। वे कुल के ज्येष्ठ ही नहीं, पराक्रमी एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ भी थे। साथ ही, यह परामर्श भी दिया कि वे अपने अग्रज धृतराष्ट्र की भावनाओं को सम्मान देते हुए सदैव इस प्रकार कार्य करें कि उनका प्रकृति-जन्य दुर्भाग्य उन्हें अकारण ही टीसता न रहे।

पाण्डु ने सभा-भवन में बैठने की व्यवस्था ऐसी करायी कि मध्य भाग में स्थित सिंहासन के दोनों ओर दो भव्य भद्रासन रखे गये, जिन पर उनके दक्षिण भाग में भीष्म बैठते थे और वाम भाग में धृतराष्ट्र। यद्यपि भीष्म ने आग्रह भी किया कि राज-सभा में उनकी उपस्थिति अनिवार्य न रहे, किन्तु पाण्डु ने उनसे प्रार्थना करके यह अनुरोध किया कि वे सदैव उनके साथ रहें, अन्यथा इतने बड़े राज्य का संचालन उनके लिए असम्भव होगा। पाण्डु तथा सत्यवती की इच्छा के सम्मुख भीष्म को नयी व्यवस्था स्वीकार ही करनी पड़ी।

हस्तिनापुर के शासक होने के नाते पाण्डु की प्राथमिकताओं में प्रजा की सम्पन्नता तथा राज्य की व्यवस्था सर्वोपरि थी। इसके लिए जहाँ उन्होंने प्रशासन सम्बन्धी सभी विभागों का पुनर्गठन करके, सुचारु रूप से कार्य सम्पादन के लिए अलग-अलग विभागों का उत्तरदायित्व विभिन्न मन्त्रियों को सौंपा, वहीं राज्य के कोष तथा सीमाओं में वृद्धि करने की योजनाएँ भी बनायीं। उन्हें ज्ञात हुआ था कि गत दो दशकों में उनके करद राज्यों में अनुशासन-हीनता की वृद्धि होती रही है। हस्तिनापुर द्वारा शासित कुछ मित्र राज्य शत्रुओं से सन्धियाँ कर रहे हैं... और कुछ उदासीन होकर अपने कर का भाग प्रेषित नहीं कर रहे हैं। उनमें से कुछ में, प्रशासकीय दुर्व्यवस्था के कारण, प्रजा दुःखी एवं असन्तुष्ट है और कहीं शत्रु-राज्य दीमक की भाँति धीरे-धीरे फैलकर हस्तिनापुर को निर्बल बनाये जा रहे हैं।

आन्तरिक समस्याओं के सम्बन्ध में उनका आदेश था कि सभी विभागों के मन्त्री, महामन्त्री विदुर तथा युवराज धृतराष्ट्र से परामर्श प्राप्त करें तथा साप्ताहिक प्रगति से उन्हें अवगत कराते रहें। दूसरी ओर, राज्य की सीमाओं तथा कोष-वृद्धि का कार्य उन्होंने स्वयं अपने ऊपर लिया, जिसे वे प्रत्यक्ष तातश्री भीष्म के परामर्श से कर रहे थे। वर्षों से निष्क्रिय पड़ी सेना में पुनः प्राण-प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने सेनापति को सशक्तीकरण एवं नियमित अभ्यास का मार्ग सुझाया।

देखते-ही-देखते कुछ ही मास की अवधि में हस्तिनापुर में नये जीवन एवं नयी स्फूर्ति के लक्षण प्रकट होने लगे। पाण्डु में भी छोटे राजकुमार वाली आज्ञाकारिता एवं शालीनता के स्थान पर एक आत्मविश्वास भरे शासक का व्यक्तित्व उभरकर सामने आने लगा। शासन कार्य से समय निकालकर, कभी दो दिन और कभी दो सप्ताह

के लिए, वे आखेट पर भी जाने लगे। अपनी अनुपस्थिति के लिए कभी कुन्ती से उपालम्भ पाकर उनके पास बहुधा यही उत्तर होता था, "एक क्षत्रिय शासक की अर्धांगिनी हो, मेरे लिए शस्त्र-प्रयोग का अभ्यास आवश्यक है... और तुम्हारे लिए अकेले समय बिताने का। यह तो प्रारम्भ है, पता नहीं भविष्य में मुझे कितने लम्बे युद्धों के लिए जाना पड़े... तब तुम्हें राज-प्रासाद में अकेले ही तो रहना पड़ेगा।"

अपने मित्र तथा शत्रु राज्यों की स्थिति, उनका सैन्य-बल तथा उनके प्रशासकीय महत्त्व की सूक्ष्मता समझने में पाण्डु को भीष्म के अनुभव से बड़ी सहायता मिली। भीष्म का परामर्श था कि स्थिति को भली-भाँति समझे बिना आवेश में कभी कुछ नहीं करना चाहिए।

पाण्डु ने सबसे पहले दशार्ण-नरेश पर आक्रमण किया। वह कई वर्षों से हस्तिनापुर के कुछ राज्यो पर अपना प्रभाव बढ़ा रहा था और उन्हें हस्तिनापुर का विरोध करने की प्रेरणा दे रहा था। आक्रमण से पहले पाण्डु ने दशार्ण-नरेश के पास सन्देश भेजा था कि वे हस्तिनापुर आकर सभी मतभेदों के विषय पर वार्ता करें... किन्तु शक्ति के मद में, दशार्ण-नरेश ने उनके दूत को अपमानित करके लौटा दिया।

दशार्ण पर आक्रमण पाण्डु के लिए आत्म-परीक्षण की प्रारम्भिक कड़ी था। भीष्म द्वारा निर्धारित रणनीति के अनुसार स्वय उन्होंने अपनी सेना का संचालन किया... और दो सप्ताह में ही वहाँ के उद्दण्ड शासक को घुटने टेकने पर विवश कर दिया।

उनकी प्रथम विजय से हस्तिनापुर में उत्सव जैसा वातावरण व्याप्त हो गया। प्रजाजनों मे उल्लास एवं आत्म-विश्वास का संचार हुआ तथा अपने नरेश के प्रति उनके मन में सम्मान की भावना प्रबल हुई।

दादी, तातश्री तथा माताओं के चरणों में शीश नवाकर, ढेरों आशीर्वाद पाकर, जब वे कुन्ती के समक्ष पहुँचे तो जयमाल के अतिरिक्त अपनी भुजाओ की माला पहनाकर कुन्ती ने मुस्कराते हुए उनका स्वागत किया।

"पता है आपको. . कि कितनी प्रतीक्षा करायी आपने...?"

"दो सप्ताह.." पाण्डु भी प्रत्युत्तर में मुस्कराये।

"जी नहीं..." कुन्ती ने कुछ रूठते हुए कहा, "दो वर्ष... आप घर से निकलें, तो कभी समय का ज्ञान रहा भी है आपको!"

"समय का ज्ञान तो रहता है, किन्तु बस, समय का यह गणित नहीं आता..." पाण्डु ने मनुहारते हुए कहा, "वह तुम सिखा दो न!"

"यह गणित उनको नहीं आता.." कुन्ती ने दुःखी स्वर में कहा, "जो सैनिकों-सेनापतियों से घिरे व्यस्त रहते हैं। यह तो बस उन पर बीतता है जो एकाकी पड़े प्रतीक्षा करते रहते हैं।"

"एकाकी...?" पाण्डु ने छेड़ते हुए कहा, "तो यह समस्या है! इसके तो बस दो ही उपाय हैं। एक तो यह कि तुम मुझे शीघ्र ही एक प्यारा-सा पुत्र प्रदान करो... जो तुम्हें कभी अकेला न रहने दे..."

पुत्र का सन्दर्भ कुन्ती को आमूल हिला गया। आँखों के आगे बरबस अन्धकार घिरता प्रतीत हुआ और कण्ठ में शब्द चुभते हुए लगे। जैसे तैसे अपनी शून्य-सी दृष्टि उठाकर उन्होंने पति की ओर देखा, "और दूसरा?"

"दूसरा यह कि मैं तुम्हारे लिए एक अनुजा ले आऊँ..." पाण्डु ने छेड़ती हुई चंचल दृष्टि उनके मुख पर डाली।"

इस छेड़ में कुन्ती को दु:खद प्रसंग से उबरने का मार्ग मिला। सहसा एक सरल मुस्कान उनके अधरों पर ही नहीं फैली, नेत्रों में भी झिलमिलाने लगी।

"तो ले आइए न..."

कुन्ती की आँखों में वह सलज्ज मुस्कान पाण्डु को अच्छी लगी। उन्हें लगा जैसे पत्नी के नेत्र तथा शब्द मिलकर अपने आत्म-विश्वास के आधार पर उन्हें चुनौती दे रहे हैं... जैसे कह रहे हों कि 'देखें, कैसे लाते हैं दूसरी पत्नी! कर पाएँगे ऐसा अन्याय मुझ पर? साहस है, मुझे ऐसा दु:ख देने का?'

दूसरी ओर कुन्ती के मुख से मुस्कान तिरोहित होती जा रही थी और आँखों में अपराध-बोध के काले बादल घिरते आ रहे थे। यह क्या किया उन्होंने? क्या उन्हें ऐसा करने का अधिकार था? अपने पिछले जीवन को अपने जीवन साथी से भी गोपनीय बनाये रखा... क्या यह छल नहीं है? इतना ही नहीं, कुन्ती को एक चिन्ता और सताती रहती थी... अप्राकृतिक रूप से, प्रकृति एवं धर्म के विरुद्ध... एक सन्तान को जन्म देकर त्याग देने का दण्ड तो प्रकृति उन्हें देगी ही, अवश्य देगी। कौन जाने, वह दण्ड इस रूप में हो, कि वह भविष्य में कभी माँ न बन सकें। नैसर्गिक नियमों का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध इससे अधिक उपयुक्त और क्या दण्ड हो सकता है, कि उन्हें पुन: कभी वह सुखद अवसर प्राप्त ही न हो...

"तो ऐसा ही कीजिए न..." कुन्ती ने पति को मौन, मुस्कराते देखकर कहा, "मेरे कभी कोई अनुजा नहीं थी, बड़ा अच्छा रहेगा।"

"अच्छा रहेगा?" पाण्डु के मुख पर मुस्कान का स्थान आश्चर्य ने ले लिया, "फिर रोना जीवन भर... कि हाय! सौत लाकर बिठा दी मेरी छाती पर।"

सौत? किन्तु सम्भवत: वह कुरुवंश की बेल बढ़ा सके... हस्तिनापुर को उत्तराधिकार की चिन्ता से मुक्त कर सके।

"नहीं... भला कोई रोता है, छोटी बहन पाकर।" कुन्ती ने अपने मुख पर सायास मुस्कान लाते हुए कहा, "अगली यात्रा पर निकलने से पहले ही ला दीजिए न!"

"पागल हो गयी हो?" पाण्डु को आश्चर्य भी हुआ और अविश्वास भी... अपने कानों पर। "जानती नहीं कि सौत क्या होती है? हमारे ही कुल में, देवयानी तथा

शर्मिष्ठा की कथा नहीं सुनी क्या? जीवन नरक बन गया था, उन दोनों का ही नहीं... महाराज ययाति का भी।"

"किन्तु सुखमय भी तो बन सकता है..." कुन्ती ने तर्क प्रस्तुत किया, "जैसे हमारी माताश्री का। देखिए न दोनों में कितना प्रेम है!"

प्रेम उन दोनों में...? पाण्डु की विचारधारा अनचाहे ही उन्हें दूसरी ही दिशा में खीच ले गयी। उन दोनों को सौत के रूप में रहने का समय ही कहाँ मिला! फिर, कौन जाने, उन्हें बहन वाले जन्मजात सम्बन्ध ने बाँधे रखा, अथवा वैधव्य के दुःख ने...!

सहसा उन्होंने भटकते हुए विचारों को झटककर वर्तमान का सूत्र पकड़ा। समय दौड़ा चला जा रहा था... दो ही दिन बाद उन्हें, सुदूर पूर्व दिशा की ओर, मगध पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करना था। समय का सदुपयोग उन्हें आवश्यक लगा।

मगध की यात्रा छः दिनो मे पूरी हुई। वहाँ स्वागत की सम्भावना तो पहले भी नहीं थी, कि.तु पाण्डु को आशा थी कि समस्या उनकी उपस्थिति मात्र से सुलझ जाएगी, यद्यपि ऐसा भी नहीं हुआ..

मगध की ओर से भीष्म ने पाण्डु को विशेष रूप से सावधान किया था, और सतर्क रहने का परामर्श दिया था। उनके परामर्श के आधार पर, दशार्ण जाने के पूर्व ही, उन्होंने मगधराज को पारस्परिक समस्याओं की ओर ध्यानाकर्षण के लिए पत्र लिखा था.. किन्तु किसी उत्तर के अभाव में पाण्डु को स्वय सेना सहित मगध जाना ही उचित लगा। स्पष्ट है कि उनके पहुँचने के पूर्व ही, ससैन्य उनके वहाँ आगमन की सूचना मगध पहुँच चुकी थी। उद्दण्ड मगधराज की विशाल सेना पूर्ण टकराव की मनःस्थिति में उन्हे सीमाओं पर ही खड़ी मिली। उनके सैन्य प्रदर्शन से भी बढ़कर तीखा था मगधराज के सेनापति का सम्भाषण, जिसमें प्रक्षेपास्त्रों जैसी गड़गड़ाहट भी थी और अहंकार का अविनय भी।

पाण्डु ने मगधराज से मिलकर बात करने का प्रस्ताव भेजा, जिसे सेनापति ने यह कहते हुए अस्वीकार कर दिया कि संवाद केवल शस्त्र ही करेंगे... उसे मगधराज का यही आदेश है।

युद्ध छिड़ गया। तीन दिन के घमासान युद्ध में ही मगध की सेना के पैर उखड़ गये, किन्तु उन्होंने हथियार नहीं डाले, कुछ पीछे हटकर नया प्रहार-केन्द्र बनाया। पाण्डु के सम्मुख शत्रु की भूमि पर लड़ने की समस्या तो थी ही, यह इच्छा भी थी कि रक्तपात न्यूनतम हो, क्योंकि विजय की स्थिति में भी उन्हें मगधवासियों की सद्भावना प्राप्त करनी थी। उन्हें सदैव यह स्मरण रहता था कि उनका युद्ध मगधराज से है, मगध की प्रजा से नहीं।

मगध की सेना अनेक प्रहार-केन्द्रों पर पराजित होकर पीछे हटती रही... मगधराज अपनी राजधानी से पलायन करके राजगृह में जा छिपा, किन्तु उसने अपनी आक्रामक नीति नहीं छोड़ी। अन्तिम केन्द्र पर उसकी सेना को पराजित करने के पश्चात् पाण्डु ने मगधराज को उसकी गुफ़ा से खोज निकाला। किन्तु वहाँ भी अपनी हठ पर अड़े मगधराज को, पाण्डु को मृत्युदण्ड ही देना पड़ा।

मगध में अराजकता की स्थिति पर नियन्त्रण के लिए पाण्डु को दो सप्ताह वहाँ रुकना पड़ा। सेना को विश्राम तथा उसके पुनर्गठन के लिए समय भी चाहिए था। इस बीच एक सुयोग्य मन्त्री को चुनकर पाण्डु ने मगध पर उसका अभिषेक किया और वहाँ से प्रस्थान किया।

उनका अगला पड़ाव निकट वर्ती विदेह का राज्य था। विदेह पर आक्रमण के समय उनकी सेना के साथ कुछ मगध के सैनिक भी थे। जहाँ मगध विजय से पाण्डु की सेना का मनोबल बढा था, वहीं विदेह की सेना में अविश्वास एवं संशय उत्पन्न हो रहा था। फिर भी विदेहराज ने बिना टक्कर दिये आत्म-समर्पण न करने का मन बना रखा था। वह युद्ध एक ही दिन में समाप्त हो गया और विदेहराज ने पराजय स्वीकार करते हुए पूर्ववत् हस्तिनापुर का सहयोगी राज्य बन जाना स्वीकार कर लिया।

विदेह से लौटते समय मार्ग में काशी का राज्य था। पाण्डु की इच्छा काशी में गंगा-स्नान की तो थी ही, अपने नाना के राज्य से सम्बन्ध सुधारने की भी थी, जो पूर्वकाल में तात भीष्म के क्रोध एवं आवेश के कारण वैमनस्यपूर्ण हो गये थे... पूर्वकाल की यह कथा उन्होंने बाल्यकाल में ही माँ अम्बालिका के मुख से सुनी थी। अम्बालिका को किसी के प्रति कोई परिवाद नहीं था, न अपने पिता काशी नरेश के प्रति, न ही तातश्री भीष्म के प्रति – किन्तु काशी का सन्दर्भ सदैव ही उनकी आँखों में जल भर देता था।

पाण्डु ने काशी-नरेश के पास सन्देश भेजा... काशीनरेश को हस्तिनापुर नरेश के संदेश के रूप में नहीं, मामाश्री के नाम विनम्र भगनिजा की पाती के रूप में।

पत्र के उत्तर में काशीनरेश अपनी सेना के साथ निकलकर युद्धभूमि में पाण्डु से मिले और व्यंग्य भरे स्वर में पूछने लगे, "यह अचानक मातुल का स्मरण कैसे हो आया पाण्डु?"

पाण्डु ने अपनी सेना को पीछे छोड़ते हुए, अकेले ही आगे बढ़कर उनसे भेंट की और प्रणाम करते हुए विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "मामाश्री, सम्बन्ध की डोर एक बार टूट जाए तो उसे जोड़ने में समय तो लगता ही है। यह कार्य तातश्री स्वयं नहीं

कर पाये क्योंकि पिताश्री के दु:खद निधन ने उन पर विपदाओं एवं उत्तरदायित्वों के पर्वत लाद दिये थे। माताश्री का जीवन अन्धकारमय था... उन्हें तो नानाश्री के निधन के विषय में भी बहुत विलम्ब से सूचना प्राप्त हुई, और यह दु:ख उन्हें सदैव ही सालता रहता है। अब आप यही समझें कि मेरी माताओं ने, प्रिय भाई के नाम अपनी राखी के रूप में, स्वयं मुझे भेजा है।"

काशीराज पाण्डु की वाक्पटुता से प्रभावित हुए... किन्तु वह अपमानजनक अतीत, जिससे उनके पिताश्री आजीवन दग्ध रहे, उनके तथा पाण्डु के बीच कँटीली बाड़ की भाँति अब भी तना था।

उनकी शंका सुनकर पाण्डु ने विनम्र वाणी में कहा, "अतीत को पीछे ढकेलता हुआ समय बहुत आगे निकल चुका है, मामाश्री! उसे पुन: बीच में आकर जीवन को पुन: विषाक्त न करने दें, इसी में भविष्य का हित है।"

"क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारा यह मैत्री-प्रस्ताव तुम्हारे तातश्री भीष्म को भी स्वीकार्य होगा?" काशीराज ने स्पष्ट प्रश्न किया।

"अब मैं इतना अबोध नहीं रहा मामाश्री कि अपने तातश्री का मन्तव्य भी न समझ सकूँ..." पाण्डु ने मुस्कराते हुए कहा, "मुझे तो यह भी विश्वास है कि यदि एक बार आप मुझे गले से लगा लें, तो मेरी माताएँ समझेंगी कि आपने उनकी राखी स्वीकार कर ली।"

काशिराज की आँखों में जल छलक उठा.. और उन्होंने आगे बढ़कर पाण्डु को हृदय से लगा लिया।

काशी में अपनी मनोवांछित सफलता के बाद पाण्डु का मनोबल आकाश छू रहा था और सेना भी अपूर्व उत्साह से सम्पन्न थी। कुछ ही समय में उन्होंने शुम्भ तथा पुण्ड्र पर भी आक्रमण करके वहाँ अपनी विजय पताका फहरायी। वहाँ के शासकों ने भी हस्तिनापुर के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्वीकार करते हुए, भेंट स्वरूप, पाण्डु को अनेक बहुमूल्य रत्न तथा हाथी, घोड़े, रथ आदि प्रदान किये।

लगभग दो माह के प्रवास के बाद अपनी राजधानी लौटकर पाण्डु ने वह सब सम्पदा दादीश्री सत्यवती तथा तातश्री भीष्म को अर्पित कर दी। उन्होंने राज्य के लिए वह सम्पदा स्वीकार करते हुए पाण्डु को हृदय से लगा लिया।

जब पाण्डु ने अपने काशी प्रवास एवं मामाश्री के साथ पुनर्स्थापित सम्बन्ध के विषय में सविस्तार बताया तब, जहाँ सत्यवती एवं भीष्म ने प्रसन्न मन से उन्हें साधुवाद एवं आशीर्वाद दिया, उन्होंने देखा प्रेमातिरेक में अम्बिका तथा अम्बालिका के नेत्रों से अश्रु बरसने लगे। युवा पाण्डु को अपने जीवन में पहली बार यह प्रत्यक्ष

आभास हुआ कि राज्य, रत्न, धन, सम्पदा आदि पर विजय पाने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है हृदयों पर विजय पाना... सम्बन्धों में पड़ने वाली दरारों को भरना और आत्मीयता के नये सेतु स्थापित करना।

पाण्डु सभी गुरुजनों से मिलकर जब अपने भवन में पहुँचे तो वहाँ एक नितान्त व्यक्तिगत एवं आत्मीयताभरा स्वागत उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। कुन्ती ने जहाँ उन्हें दीर्घ-कालीन एकान्त क्षणों की वेदना का विवरण दिया, वहीं अवचेतन में मचलती उनकी आकांक्षाओं ने सुख स्वप्नों के कानन में विचरने के लिए उन्हें मुक्त कर दिया।

अपने प्रवासकाल के विस्तृत विवरण में जब भीषण युद्धों की चर्चा कुन्ती के मुख पर चिन्ता एवं भय की रेखाएँ उकेरती और विजय का उल्लेख उनके नयनों में उल्लास की चमक उत्पन्न करता, तब पाण्डु को लगता कि कितने अनमोल होते हैं आत्मीयता के सम्बन्ध... जो भले ही कभी दूरी का भी दुःख दें, जीवन को अर्थ देते हैं... पूर्णता प्रदान करते हैं।

"और आप..." सहसा एक दिन ऐसे ही अन्तरंग क्षणों में कुन्ती ने पूछा, "आप मेरे लिए अनुजा लाने की बात कह रहे थे!"

"अनुजा?" पाण्डु ने चौंकते हुए पूछा, "अरे हाँ... सौत!"

"सौत नहीं..." कुन्ती ने कुछ सोचते हुए कहा, "वह मेरी छोटी बहन होगी। मैं कभी कोई दुःख नहीं होने दूँगी उसे।"

"और उसने तुम्हें दुःख दिया तो?" पाण्डु को लगा कि मात्र उनके मन की थाह पाने के लिए पत्नी ने वह प्रसंग उठाया है।

"अरे...! भला कोई अपनी बड़ी बहन को सताता है?" कुन्ती ने बड़े भोलेपन से प्रश्न किया, "बड़ी बहन का तो सम्मान करती हैं छोटी बहनें.. सुख देती हैं उन्हें।"

"तो क्या तुमने सौतों के पारस्परिक क्लेश की घटनाएँ कभी नहीं सुनीं?" पाण्डु ने सहसा कौतूहल भरे स्वर में पूछा।

"सुनीं क्यों नहीं!" कुन्ती की आँखों में अबोध आत्म-विश्वास झलक रहा था। "किन्तु सुनी हुई हर बात सत्य तो नहीं होती। क्लेश तो तब होगा जब मैं होने दूँगी। मेरा स्नेह पाकर उसे अपने पितृगृह का स्मरण भी नहीं रहेगा।"

"इतना विश्वास है तुम्हें अपने आप पर!" पाण्डु ने कुन्ती को बाहुपाश में कसते हुए पूछा, "फिर दोष न देना मुझे किसी पक्षपात का, अथवा तुम्हारे एकाधिकार को खण्डित करने का।"

"दोष क्यों...? मैं तो आभार मानूँगी..."

"अच्छा एक बात पूछूँ...?" पाण्डु ने कुन्ती के नेत्रों में खोजती हुई दृष्टि डालते हुए कहा।

"अरे... क्या आपको आज्ञा लेनी होगी, मुझसे... कुछ पूछने के लिए?" कुन्ती

की दृष्टि में विनोद और स्वर में उपालम्भ था।

"तुम अपना एकाकीपन भाभीश्री के साथ क्यों नहीं बाँट पातीं?"

कुन्ती कुछ सोच में पड़ गयीं... उनकी दृष्टि में बहुत कुछ था जो अनुभव तो किया जा सकता था, किन्तु शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता था। फिर भी, जब एक प्रत्यक्ष प्रश्न उत्तर के लिए सम्मुख आ खड़ा हुआ था, तब वे मौन भी तो नहीं रह सकती थीं। उन्होंने कहा, "उनकी सम्भवत: अपनी सीमाएँ हैं .. जो उन्हें एक अलग संसार में सीमित रखती हैं। पता नहीं यह कैसे हो जाता है... किन्तु सम्भवत: हो ही जाता है कि यदि हम पलकें मूँद लें तो संसार की परिधि कुछ छोटी हो जाती है। भाभीश्री का अपना संसार है... अपनी चिन्ताएँ हैं... अपने सपने हैं। उनसे संवाद घूम फिरकर ज्येष्ठश्री की विवशता तथा उनके प्रति होने वाले अन्याय पर आ जाता है। फिर सम्भवत: वे मेरी ओर से अनुमोदन की अपेक्षा भी रखती हैं... मेरा मौन उन्हें मेरे प्रति सशय में डाल देता है।"

कुन्ती की ओर से ऐसा सहज विश्लेषण सुनकर पाण्डु के मन में उनके प्रति प्रशंसा का भाव उत्पन्न हुआ। किन्तु वातावरण उस निर्मम यथार्थ के कारण बोझिल हो रहा था।

कुछ ही देर में पाण्डु को लगा कि वातावरण उनकी पलकों को भी बोझिल बनाता चला जा रहा है

प्रात: काल सभा भवन के लिए प्रस्थान करने के पूर्व पाण्डु ने धृतराष्ट्र के भवन में पहुँचकर उन्हें तथा गान्धारी को सादर अभिवादन किया। अपने युद्धों तथा राज्यगत सन्धियों का विवरण देते हुए उन्होंने धृतराष्ट्र तथा विदुर से अपने साम्राज्य की स्थिति तथा गतिविधियों के विषय में चर्चा की। राज्य में स्थिति सामान्य है, प्रजा सुखी है तथा जन जीवन सुचारु रूप से चल रहा है यह जानकर पाण्डु ने कुछ अवधि के लिए अवकाश लेने का प्रस्ताव रखा।

हरिद्वार की यात्रा पर निकले तो राह में पाण्डु ने देखा कुन्ती के मुख पर प्रसन्नता झिलमिला रही थी .. उनके स्वर में भी कुछ अतिरिक्त उल्लास था।

"अब तो प्रसन्न हो!" पाण्डु ने जैसे उनके नेत्रों से ही प्रश्न किया।

"मैं प्रसन्न कब नहीं थी. आप के साथ रहकर?" कहते-कहते कुन्ती को लगा, कहीं वह पाण्डु से छल तो नहीं कर रही है रह-रहकर उनका मन होता था कि एक बार पति को सब कुछ बताकर मन पर गहराते बोझ से मुक्त हो लें .. किन्तु कब कहें?

कैसे कहें? और फिर कह डालना ही तो सब कुछ नहीं था... उन्हें परिणाम के लिए भी तो प्रस्तुत रहना होगा। परिणाम स्वयं उनके ऊपर जो भी हो, एक बार हो ले... उसकी उन्हें इतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी इस बात की कि पाण्डु पर क्या बीतेगी! पता नहीं वे कैसे लें अपने मन पर इस घटना को!

वैसे अपनी ओर से कुन्ती को पति के प्रति अपने समर्पण में कहीं कोई सन्देह नहीं था। उन दोनों के बीच न तो कभी कोई था... और न होगा। किन्तु कैसे, किन शब्दों में कहें पति से कि वे एक माँ भी हैं... एक अभोग्या, सम्भोग-रहिता माँ...

"किस सोच में पड़ गयीं... मेरे साथ रहकर?" पाण्डु ने उनकी आँखों में तिरती छाया देखकर पूछा।

"आपके साथ रहकर मुझे सोच कैसा!" कुन्ती ने पुनः मुस्कराते हुए कहा, "सोच तो आपका साथ नहीं छोड़ता... राज-काज का सोच। सोच रहे हैं न! सच बताइएगा कि हस्तिनापुर में क्या हो रहा होगा, कैसे हो रहा होगा... और अगला युद्ध किससे, किस क्षेत्र में करना है?"

"यदि वही सब चिन्ता करनी होती, तो भला तुम्हें क्यों लाता अपने साथ?" पाण्डु ने वातावरण को और भी विनोदपूर्ण बनाते हुए कहा।

"वह तो इसलिए... कि मैंने आग्रह किया था।"

"तुम्हारा आग्रह था, इसमें तो सन्देह नहीं..." पाण्डु ने मुस्कराकर कहा, "किन्तु तुम्हारे आग्रह ने तो बहाना दे दिया मुझे... मनमानी करने का। सच कुन्ती! युद्ध तो कर्तव्यपालन के लिए होता है, अनिवार्य बन जाता है कभी-कभी... किन्तु सुख तो तुम जानती हो कहाँ मिलता है।"

"कहाँ?" प्रश्न कुन्ती के स्वर से अधिक उनकी रसभरी दृष्टि से छलक रहा था।

पाण्डु ने उन्हें खींचकर अपनी बाँहों में भर लिया।

अवकाश का निर्णय लेने से पूर्व पाण्डु ने भीष्म से आज्ञा ले ली थी। यद्यपि पाण्डु ने किसी से कुछ कहा तो नहीं किन्तु अवकाश लेने में उनका एक प्रच्छन्न उद्देश्य यह भी था कि कुछ समय भ्राता धृतराष्ट्र भी सिर पर मुकुट धारण करके सिंहासन पर बैठें, इससे पूर्व कि धृतराष्ट्र को अभिषेक के समय कही हुई उनकी बातें मिथ्या लगने लगें।

प्रारम्भ में उनकी इच्छा कुछ दिन वन में रहकर आखेट करने की थी... किन्तु कुन्ती का अनुरोध था कि वे उनके साथ ही रहें। फिर कुन्ती को साथ लेकर आखेट की बात मेल नहीं खा रही थी। तो आखेट फिर कभी... पाण्डु ने समझौता किया,

और कुन्ती की पर्वत-शृंखलाएँ देखने तथा गंगा-स्नान की इच्छा को देखते हुए, हरिद्वार को चुना। उनका राजसी वैभव कहीं उस तीर्थ के सामान्य जीवन को अस्त-व्यस्त न करे और उनके तथा अन्य यात्रियों के बीच कोई औपचारिकता की भीत न खड़ी करे... इस दृष्टि से पाण्डु ने अपने रथ, मन्त्री, सेवकों आदि को हरिद्वार से तीन-चार कोस पहले ही छोड़ दिया।

कुछ दूरी पर विशाल भीत की तरह फैली पर्वत माला के तले, निर्मल-शीतल गंगा का प्रवाह और मन्थर गति से प्रवाहित पवन का सुखद स्पर्श पाण्डु तथा कुन्ती को नये उल्लास से भर गया। प्रतिदिन गंगा-स्नान, अन्य यात्रियों के बीच सामान्य भोजन, निकटवर्ती वनों-उपवनों में भ्रमण और एक-दूसरे के साथ प्रत्यक्ष संवाद.. समय पंख लगाकर उड़ता चला गया। उन्हें पता ही नहीं चला कि कैसे तीन सप्ताह बीत गये।

इस बीच... फिर, कई बार, अतीत अपनी समस्त पीड़ा के साथ कुन्ती के मन में घुमड़ा, कई बार उनका मन हुआ कि एक बार अपनी बात कहकर मन हलका कर लें, किन्तु उपयुक्त अवसर सदैव की भाँति बारम्बार हाथ से फिसलता रहा। वे समझ नहीं पाती थीं कि अपनी पीड़ा कैसे कहें..? कैसे ला खड़ी करें, अपने तथा अपने पति के बीच, वह निर्मम सम्भावना, जो कौन जाने कब दुर्भेद्य भीत का रूप ले ले! वह पति को यह विश्वास दिला सकती थीं कि उन दोनों के बीच कभी कोई तीसरा नहीं था... किन्तु पहले क्यों नहीं बताया? स्वयंवर का छल क्यों किया? अथवा शिशु के साथ ऐसा अमानुषिक व्यवहार कैसे कर डाला...? इन प्रश्नों के उत्तर स्वयं कुन्ती के पास नहीं थे...

यदा-कदा, रातों को चिन्ताएँ उन्हें जगाकर कुछ नये प्रश्नों के वन में भटकने के लिए छोड़ जाती थीं। वे व्यग्र हो उठतीं कि विवाह को तीन वर्ष होने जा रहे हैं। उन्हें ज्ञात था कि कुरुकुल को उनसे एक सुनिश्चित अपेक्षा है... कई बार उन्होंने दादीश्री तथा माताओं की जिज्ञासु दृष्टि को अपनी कुक्षि टटोलते देखा था। उनका मन होता था कि कहें... उन्हें ज्ञात है कि वे वन्ध्या नहीं हैं, एक पुत्र को जन्म दे चुकी हैं... किन्तु... वह विकल्प उन्हें अन्य शंकाओं की ओर ढकेलता था। हो न हो, विधाता दण्ड दे रहे हैं उन्हें... एक अबोध शिशु के प्रति किये हुए जघन्य अपराध का दण्ड। कौन जाने क्या अवधि हो इस दण्ड की! कौन जाने, प्रकृति ने उन्हें शाप दे दिया हो... आजीवन सन्तान-हीन बने रहने का! प्रत्येक बीतते हुए दिन के साथ अपने दुर्भाग्य के प्रति कुन्ती की शंका, विश्वास में बदलती जा रही थी।

एक मर्मान्तक पीड़ा... रात्रि की निद्रा के बदले अकेले झेलते हुए, वे विवश थीं अपना दुःख मात्र अपने तक सीमित रखने के लिए।

हस्तिनापुर लौटकर पाण्डु ने राज-काज सँभाला। अन्य समाचारों के साथ-ही उन्हें मद्र में अशान्ति के संकेत भी प्राप्त हुए। मद्र का शासक, शल्य, अपने राज्य की सीमाओं को शत्रुओं की लोलुप दृष्टि से बचा पाने में अपने को असमर्थ पा रहा था। मद्र की उपजाऊ भूमि पर निकटवर्ती बाह्लीक, सौवीर आदि की ही नहीं सिन्धुराज की भी दृष्टि थी। सीमाओं पर आये दिन उपद्रव होते रहते थे, और प्रजा अपने महाराज शल्य से दुःखड़ा सुना-सुनाकर हार चुकी थी।

पाण्डु ने शल्य के पास सन्देश भेजा और उन्हें हस्तिनापुर से पुराने मैत्री-सम्बन्धों का स्मरण कराया।

उत्तर में शल्य की ओर से मद्र की चिन्ताजनक स्थिति के विवरण के साथ ही हस्तिनापुर के साथ और भी प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा का संकेत था। शल्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि उनका स्वप्न तो इस मैत्री को पारिवारिक सम्बन्ध में परिणत करने का था... किन्तु अनुजा मन्दिरा का स्वयंवर रचाने के पूर्व ही राजकुमार पाण्डु ने विवाह रचा लिया। उनकी अनुजा अब भी किसी सुयोग्य वर की प्रतीक्षा में बैठी है... और सिन्धु नरेश की उस पर कुदृष्टि के कारण, मद्र की सीमाओं पर दिन-प्रति-दिन सिंधुवासी उपद्रवकारियो द्वारा अप्रिय घटनाएँ होती रहती हैं। कुछ विशेष कारणवश उन्हें अपनी बहन के लिए सिंधुराज का सम्बन्ध स्वीकार नहीं है। अंत में स्पष्ट संकेत यह भी था कि यदि, अब भी, हस्तिनापुर को स्वीकार हो तो, शल्य दोनों राज्यों के मैत्री सम्बन्ध को पारिवारिक सम्बन्ध का रूप देने में गौरव का अनुभव करेंगे।

पत्र का संदेश, भीष्म तथा सत्यवती के बीच गम्भीर मंत्रणा का विषय बना। दोनों ने इस प्रस्ताव के विभिन्न पक्षों तथा सभी सम्बन्धित सम्भावनाओं पर विचारकर के निर्णय पाण्डु तथा कुन्ती पर छोड़ दिया।

पाण्डु ने शल्य का वह पूरा पत्र ही कुन्ती के हाथों में थमा दिया..

"तो फिर विलम्ब क्या है, स्वामी?" कुन्ती ने कहा, किन्तु उसकी दृष्टि अपने पैरों की ओर निहार रही थी।

"मेरी ओर देखकर पूछो, कुन्ती..." पाण्डु ने कहा।

बहुत धीरे... भयाक्रान्त-सी, कुन्ती की दृष्टि उठी, "मुझे क्या पूछना है, स्वामी! मैं तो पहले ही अनुरोध करती रही हूँ।"

"किन्तु पहले कभी तुम्हारा स्वर इतना बुझा हुआ तो नही था..." पाण्डु ने पूछा, "और न दृष्टि पर कभी ऐसी काली छाया घिरी थी।"

"वह आपका भ्रम भी तो हो सकता है..." कुन्ती ने सहमा चहकते हुए कहा। उनके होंठों पर मायास एक मुस्कान भी दौड़ आयी थी।

"मेरे भ्रम तक तो ठीक है कुन्ती..." पाण्डु ने कहा, "किन्तु कहीं तुम्हारा एक स्नेहमयी अनुजा-वाला विश्वास भ्रम न सिद्ध हो।"

"नहीं.. नहीं स्वामी," कुन्ती ने वैसे ही मुस्कराते हुए कहा, "मुझे पूरा विश्वास है कि सच्चा स्नेह पाकर मेरी अनुजा मुझे सुख ही देगी . केवल सुख।"

परस्पर सभी सम्भावनाओं पर विचार-विमर्श के पश्चात् भीष्म को यह लगा कि एक बार इस विषय में मद्रराज से पुन: गम्भीरतापूर्वक संवाद हितकर होगा... अच्छा यह भी होगा कि इस सम्बन्ध में कन्या की इच्छा भी स्पष्ट रूप से जान ली जाए।

पाण्डु के दूसरे विवाह को लेकर जहाँ भीष्म का दृष्टिकोण पूर्णतया राजनीतिक था, वहीं सत्यवती का वंश परक। दूसरी ओर, जहाँ कुन्ती को अपना अतीतजन्य अपराध बोध अपने एकाधिकार को संकट में डालने की प्रेरणा दे रहा था, वहीं पाण्डु का मन उन सभी दृष्टिकोणों के बीच हिचकोले खाता हुआ डावाँडोल था . अनिश्चय की अवस्था में, अन्तिम निर्णय उन्होंने घटना क्रम पर छोड दिया।

भीष्म अपनी सेना का संचालन करते हुए, पाण्डु-सहित मद्र पहुँचे। वे हर स्थिति के लिए तैयार थे। इस आशंका के लिए भी, कि हस्तिनापुर से मैत्री-सम्बन्ध पुनर्गठित होने की गन्ध पाकर, कहीं सिन्धु, सौवीर, बाह्लीक आदि अकेले, अथवा परस्पर संगठित होकर, मद्र पर आक्रमण न कर दे। शल्य की सूचना के आधार पर, सम्भावना यह भी थी कि सिन्धुराज, मद्र राजकुमारी तथा पाण्डु के विवाह मे बाधा उत्पन्न करने का प्रयास करे।

मद्र पहुँचने पर शल्य ने भीष्म तथा पाण्डु का प्रभावशाली स्वागत किया। आवश्यक विश्राम तथा राज्य सम्बन्धी विचार विमर्श के उपरान्त उन्होंने अपनी अनुजा, मन्दिरा को बुलाकर उनका परिचय कराया। मन्दिरा के रूप एव व्यवहार से सभी प्रभावित हुए।

एकान्त में शल्य ने भीष्म के सम्मुख अपना प्रस्ताव पुन: रखा, "मान्यवर, यदि यह सम्बन्ध हो जाए तो मैं अपना सौभाग्य समझूँगा... तथा बहन की सुरक्षा एवं संस्कार का जो दायित्व मुझ पर है उससे स्वयं को मुक्त मानूँगा।"

भीष्म ने पाण्डु की ओर देखा... वहाँ किसी प्रकार की आपत्ति अथवा विरोध का चिह्न नहीं दिखा उन्हें। फिर भी उन्होंने शल्य से कहा, "वत्स, तुम्हें तो ज्ञात ही है... सम्भवत: मन्दिरा को भी ज्ञात होगा कि पाण्डु पहले ही विवाहित हैं। इस स्थिति में नव-वधू का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है... स्वयं अपने सुख के लिए ही नहीं, परिवार की सुख शान्ति के लिए भी ऐसे में एक बार... एक बार ही क्यों, बारम्बार, अपनी अनुजा से इस विषय में स्पष्ट चर्चा करके उसका मन जान लो।"

"वह आप मुझ पर छोड़ दें तात.." शल्य ने तत्परतापूर्वक कहा, "उसका मन

टोहने के पश्चात् ही मैंने इस विषय में उल्लेख किया था। मैं उसके स्वभाव से भी परिचित हूँ। वह पूर्णतया सुलझी हुई है। बिगड़ती स्थितियों को सुधारने में पारंगत है, अशान्ति का सदैव निवारण ही करेगी, अशांति का कारण तो कभी बन ही नहीं सकती। आप देखिएगा... अपनी सेवा एवं सरल स्वभाव से वह अपनी सह-पत्नी को अग्रजा बना लेगी।"

पाण्डु को सहसा लगा जैसे कुन्ती का मनोरथ मन्दिरा के मन तक पहले ही पहुँच चुका हो। जहाँ कुन्ती को अनुजा की अभिलाषा है, वहीं मन्दिरा में उसे अग्रजा बना लेने का आत्म-विश्वास है। उन्हें अकस्मात् ध्यान हुआ... मन्दिरा सुन्दर भी है।

शल्य के अनुरोध पर उसी आतिथ्य-काल में पाण्डु तथा मन्दिरा का विवाह होना निश्चित हुआ। अकारण, इस कार्य के लिए वर पक्ष को पुनः एक दीर्घ यात्रा के लिए विवश करना उन्हें अनावश्यक लगा। शल्य की दृष्टि में यह संयोग एवं सौभाग्य था कि वर-पक्ष के सम्माननीय वरिष्ठ आशीर्वाद देने के लिए वहीं विद्यमान थे।

पाँच दिन के प्रबन्ध के पश्चात्, बड़े उत्साह एवं उत्सव के वातावरण में, शल्य ने विधिपूर्वक अपनी अनुजा पाण्डु को सौंप दी।

विवाह के उपरान्त, कुछ दिन सत्कार में बिताकर, भीष्म ने शल्य से हस्तिनापुर लौटने की अनुमति माँगी। बड़े सम्मान के साथ, धन-धान्य भेंट में देकर, शल्य ने अनुजा-सहित वर पक्ष को विदा किया। कुछ ही दिनों में, हस्तिनापुर से मद्र के लिए प्रस्थान करने वाली सेना, बारात का रूप लेकर घर लौटी।

राह में पाण्डु पर रह-रहकर चिन्ता की छाया फैलकर उन्हें मौन कर जाती थी। कुन्ती की छवि रह-रहकर उनकी आँखों के आगे तैर जाती थी। उनका मन उनसे प्रश्नकर बैठता था – क्या तुमने ठीक किया! बारम्बार मन-ही मन वे एक ही प्रार्थना दुहराते थे, 'हे प्रभु, सुख-शान्ति बनाये रखना। हम तीनो के बीच कटुता कभी न आये।'

उनके हस्तिनापुर पहुँचने से पहले ही नव-वधू के आगमन का समाचार वहाँ पहुँच चुका था। स्वागत-उत्सव की पूरी तैयारी थी... नगाड़ों की ध्वनि एवं तूर्यनाद, शंखनाद के साथ पुष्प वर्षा के बीच पाण्डु ने मन्दिरा-सहित राज-भवन में प्रवेश किया। राजमाताओं के साथ ही कुन्ती ने भी आरती उतारकर उन दोनों का स्वागत किया। परिवार की महिलाओं ने नव-वधू पर आशीर्वाद लुटाते हुए ही, कुल-परम्परा के अनुरूप, उसे एक नया नाम भी दे डाला – माद्री।

पाण्डु की दृष्टि कुछ खोजती-सी रह-रहकर कुन्ती के मुख पर जा टिकती थी। वहाँ एक ऐसी गम्भीर मुस्कान थी जिसका विश्लेषण पाण्डु को अपने वश के बाहर लगा।

माद्री ने जब कुन्ती की ओर बढ़कर चरण-स्पर्श करने का प्रयास किया तो कुन्ती ने बीच में ही उन्हें उठाकर अपने वक्ष से लगा लिया, "मैंने कभी छोटी बहन का सुख नहीं जाना मन्दिरा... मेरे जीवन की यह रिक्तता पूर्ण करोगी न!"

"दीदी..." माद्री ने पुन: कुन्ती के वक्ष में सिमटते हुए कहा, "न तो मुझे अपनी माँ का स्मरण है और न ही परमात्मा ने मुझे कोई बहन ही दी... मेरे तो सभी स्थान रिक्त हैं। मुझसे कभी अज्ञानतावश कोई भूल हो तो चाहे अग्रजा की भाँति तरज लें अथवा माँ की भाँति दण्ड दे लें... मुझे आपके सान्निध्य में सुख ही मिलेगा। मैं तो आपके स्नेह की भूखी हूँ, दीदी।"

कुन्ती के मन में घुमड़ते अपराध बोध ने पूछना चाहा, 'मुझे अपने शिशु को बाँहों में झुलाने का अधिकार तो दोगी, माद्री।" किन्तु वह प्रश्न भी उनके वक्ष में घुमड़कर ही रह गया।

अर्ध रात्रि होते होते मगलगान थमने के बाद, कुन्ती ने शेष रात तारों-भरे आकाश के तले काटी... नितान्त अकेले। बहुत दिन पूर्व सुने हुए . तारे गिनने वाले मुहावरे का अर्थ उन पर खुलता रहा। बहुत समय के बाद, उन्हे एकान्त में काटी हुई, दुर्वासा मुनि के आश्रम में बितायी वे रातें याद आती रहीं, जब वे गर्भावस्था मे चिन्ता एवं भय भरा जीवन बिता रही थीं।

कैसे होते है जीवन के प्रसग..! एक-दूसरे से जुडे हुए.. एक-दूसरे पर आधारित! वह एक दुर्भाग्यपूर्ण क्षण न आया होता उनके जीवन में तो कौन जाने जीवन ने क्या डगर पकड़ी होती! किन्तु किस क्षण को कहें...? किस घटना की व्याख्या करें...? क्या न हुआ होता तो जीवन आज भिन्न होता... महर्षि दुर्वासा के आगमन को! उनकी सहायता के लिए, पिता द्वारा, उनकी नियुक्ति को! अथवा उस रात . महर्षि दुर्वासा के प्रयोग भवन मे अन्य किसी की अनुपस्थिति वाले संयोग को..

और फिर जो हुआ... जैसे हुआ और होता चला गया, उस पर क्या कभी उनका वश था? सब कुछ ऐसे होता चला गया जैसे अन्य कोई विकल्प ही न हो। किन्तु शिशु का त्याग? क्या उसका भी कोई विकल्प नहीं था? कुन्ती का भटकता हुआ मन फिर अनुत्तरित प्रश्नों के जाल में उलझने लगा। एक बार सम्भवत: वे संसार के लांछन झेलने के लिए कटिबद्ध हो भी जातीं... किन्तु शिशु का भविष्य...? उसके जीवन को कलुषित होने से कैसे बचातीं? और फिर उस कलषु के छींटे उनके माता पिता की उज्ज्वल छवि पर भी तो पड़ते

किन्तु... क्या वास्तव में कोई विकल्प नहीं था? कुन्ती अपनी शैया पर व्याकुल होकर बिखरने लगीं। किन्तु क्या लाभ अब, अतीत पर चिन्तन से? जो हो चुका...

वह हो चुका। उसे न तो पुनः जिया जा सकता है, न उसमें कोई परिवर्तन ही सम्भव है।

कुन्ती को लगा, अतीत से भविष्य तक की सभी घटनाएँ एक-दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध हैं... अपरिवर्तनीय एवं अनिवार्य। हो न हो, उस दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने ही उनके उर्वरा गर्भ पर उल्कापात किया। उनके कानों में फिर गूँज उठे मुनि दुर्वासा के शब्द, "अरे, मैं क्या शाप दूँ तुझे... शाप तो स्वयं दे लिया तूने अपने आपको।" अब उस शाप को आजीवन ढोते रहना ही उनकी नियति है... न जाने किस-किस रूप में उदय होता रहेगा वह शाप!

रात आँखों में ही काटकर, पूर्व दिशा में लालिमा के संकेत के साथ, पक्षियों का कलरव सुनते ही कुन्ती ने शैया त्यागी, तो मन्दिरा को अपने सम्मुख खड़ा पाया। उसने झुककर उनके चरण छुए और बरबस कुन्ती ने उन्हें अपने गले लगा लिया। उनके कन्धे से सिर उठाकर मन्दिरा ने जब कुन्ती की ओर देखा, तब तक उनके मुख पर स्नेह भरी मुस्कान प्रकट हो चुकी थी।

जीवन कितनी सहजता के साथ मुख पर स्थिति के अनुरूप मुखौटे बदलना सिखाता रहता है, इसका रहस्य क्या कभी कोई जान पाएगा!

बड़े विचित्र होते हैं मानव सम्बन्ध.. जीवन के संयोग उन्हें अवसर प्रदान करते हैं, स्थितियाँ उन्हें रूपाकार प्रदान करती हैं और मानव मन उनमें रंग भरते हैं। पता नहीं कौन, कब, कहाँ आ मिले और किन परिस्थितियों में, व्यक्तियों की रुचि अथवा अरुचि के अनुसार, कहीं मैत्री-भाव उत्पन्न हो... तो कहीं घृणा और वैमनस्य।

मन में उदारता हो, पारस्परिक स्नेह हो और थोडी सी इच्छा-शक्ति.. तो सम्बन्ध मधुर होते ही चले जाते हैं।

ऐसा ही कुछ हुआ पाण्डु तथा उनकी दोनों पत्नियों के बीच सभी शंकाओं तथा कटु अनुभवों के विपरीत, समय उन तीनों को स्नेह के एक सूत्र में बाँधता चला गया। कुछ अन्तरंग क्षणों को छोड़कर वे तीनों एक साथ ही रहते और सदैव एक दूसरे के हित-चिन्तन में लगे रहते थे। कुन्ती तथा माद्री के बीच दो स्नेही सखियों जैसा सम्बन्ध स्थापित हुआ... ऐसी सखियाँ जो आयु का उत्तरदायित्व एवं सम्मान कभी नहीं भूलती थीं।

पाण्डु, राज-काज की व्यस्तता का निर्वाह करते हुए, न तो भीष्म के चरणों में शिष्य की भाँति बैठकर अपना पाठ दुहराना भूलते थे और न भ्राताश्री धृतराष्ट्र के पास बैठकर एक स्नेही अनुज का कर्तव्य-निर्वाह। अग्रज विदुर से नीति चर्चा में उन्हें सर्वदा अपनी स्वार्थपूर्ति ही दिखाई देती थी... उनका मन होता था कि इसका जितना

भी लाभ उठा सकें, उठाते रहें। दादीश्री तथा माताओं के लिए भी उन्हें समय मिल ही जाता था ...कि कहीं उन्हें यह न लगे कि बालकों का यौवन आकर उन्हें, और कुछ सिखाए न सिखाए, पूर्वजों की अवहेलना तो सिखा ही देता है।

... और यदि समय को कहीं अव्यवस्था न दिखाई दे, मन को क्लेश न मिले, निराशा-हताशा के दर्शन न हों तो वह भी उल्लास में भर जाता है... उसको भी पंख लग जाते हैं।

पाण्डु को पता ही नहीं लगा कि कब, कैसे... लगभग एक वर्ष बीत गया।

"स्वामी..." एक दिन माद्री ने उन्हें टोका, "व्यस्तता में कहीं भूल तो नहीं गये आप कि आपने कभी-कभी राज-काज से अवकाश लेने की योजना बनायी थी। जीजी कहती हैं कि आप एक बार उन्हें भी तीर्थयात्रा पर ले गये थे।"

"अवकाश...!" पाण्डु ने कुछ याद करते हुए कहा, "अरे, अवकाश ही तो है, जब युद्ध नहीं... तो अवकाश ही तो है।"

"नहीं स्वामी, माद्री ठीक कह रही है.." कुन्ती ने सहमति में अपना स्वर जोड़ा, "युद्ध से अवकाश नहीं, राज काज से अवकाश... वह भी तो आवश्यक है।"

"यह तो है... किन्तु अभी..."

"एक वर्ष हो गया, माद्री को आये.." कुन्ती ने कहा, "उसने संकोच में आग्रह नहीं किया तो आप भी भूल गये उसे। एक वर्ष होने को है, उसने हस्तिनापुर के बाहर पाँव भी नहीं रखा।"

"न तो मैं तुम्हें भूला हूँ कुन्ती.." पाण्डु ने विनोद का आश्रय लेते हुए मुस्कराकर बात को मोड दिया, "और न माद्री को। वास्तविकता है तो बस यह कि तुम दोनों में मैं स्वयं अपने आप को भूल गया हूँ"

"अब जाने भी दीजिए यह शब्दों का खेल." माद्री ने लजाते हुए कहा, "वास्तविकता है बस यह कि आपको हम दोनों के अतिरिक्त सभी कुछ याद है।"

"देवि! यह मिथ्या आरोप है.. मैं तुमको क्या कभी भूला?" उन्होंने माद्री की ओर देखकर विनम्र नाटकीयता से कहा.. और फिर कुन्ती की ओर मुड़ते हुए जोड़ा, "और तुम तो मेरी श्वासों में बसी हो... मेरा स्पन्दन बन चुकी हो।"

इस बार लजाने की बारी कुन्ती की थी।

पारस्परिक हास-परिहास ने समय की उडान को कुछ और गति प्रदान की। किन्तु समय के साथ, प्रतिदिन मन में दबी अवकाश की आवश्यकता का आभास पाण्डु को भी होने लगा. मात्र अपने लिए नहीं, धृतराष्ट्र के लिए भी। कौन जाने वे अपने अनुज का वचन याद करके कभी उद्विग्न हो उठते हों... दिन गिन रहे हों!

उन्होंने एक दिन विश्राम के क्षणों मे पत्नियों के सम्मुख अवकाश की बात उठाई। उन्होंने देखा माद्री के मुख पर उल्लास की आभा तैर गयी।

"तो कहाँ चलना है... यह निर्णय तुम दोनों पर," पाण्डु ने कहा।

"दोनों पर नहीं... केवल माद्री पर," कुन्ती ने गम्भीर होते हुए कहा।

"मुझ पर क्यों जीजी...?" माद्री ने आश्चर्य में पूछा।

"क्योंकि तुम छोटी हो," पाण्डु ने तत्परतापूर्वक कहा।

"मात्र इसलिए नहीं..." कुन्ती ने शालीनता से कहा, "इसलिए भी कि इस बार आपके साथ माद्री जाएगी।"

"मैं... अकेले?" माद्री का आश्चर्य उनके नेत्रों में भी फैल गया था।

"और तुम क्यों नहीं...?" लगभग माद्री के साथ ही पाण्डु ने पूछा।

"क्योंकि मैं एक बार अवकाश पर आपके साथ जा चुकी हूँ..." कुन्ती ने निर्णायक स्वर में कहा।

"यह तो कोई तर्क नहीं हुआ..." पाण्डु ने उन्हें समझाते हुए कहा, "तब तुम मेरे साथ गयी थीं, क्योंकि तब माद्री थी ही नहीं।"

"नहीं जीजीश्री..." माद्री ने कुछ मचलते हुए कहा, "आप भी चलेंगी... या तो हम तीनों जाएँगे.. साथ-साथ अथवा कोई नहीं।"

"माद्री ठीक कह रही है..." पाण्डु ने अपना निर्णय सुना दिया।

कुन्ती ने कुछ तर्क दिये.. जैसे किसी को घर पर भी रहना चाहिए, दादीश्री तथा माताओं की सेवा के लिए, और भाभीश्री को अपनी असमर्थता का भान उनके मन को कटुता प्रदान करेगा... और किसी को यह लग सकता है कि हम तीनों अलग परिवार हैं, अपना कार्यक्रम हम अलग बनाते हैं.. अन्य सबसे कटकर। किन्तु उनका वास्तविक मन्तव्य था कि कुछ दिन पाण्डु एवं माद्री एक साथ रहें, नितान्त एक दूसरे के साथ ...एक-दूसरे के होकर।

तात भीष्म तथा दादीश्री सत्यवती से आज्ञा लेकर, राज-सभा में अपने अवकाश की घोषणा करते हुए पाण्डु ने राजमुकुट धृतराष्ट्र के मस्तक पर पहनाया और उन्हे सिंहासन तक पहुँचाया। उस समय पाण्डु के मुख पर जहाँ कर्तव्य-निर्वाह अथवा ऋण-मुक्त होने जैसा भाव था, वहीं धृतराष्ट्र का मुख निर्विकार था... बिल्कुल मौन। कौन जाने कब धृतराष्ट्र अपने मनोभावो पर नियन्त्रण रखना सीख गये थे। बस उनके नेत्र-कोटरों में छोटी-छोटी मांसपेशियां चंचल हो उठी थीं... किन्तु उनकी संकेत भाषा कोई नहीं जानता था।

जब पाण्डु ने उनसे प्रस्थान की आज्ञा माँगी तो धृतराष्ट्र ने उठकर उन्हें गले लगाते हुए कहा, "अनुज! तुम्हारी अवकाश-यात्रा सुखमय हो.. तुम शीघ्र लौटना। तुम्हारी अनुपस्थिति में हस्तिनापुर मेरे जैसा ही दिशाहीन तथा अपंग रहेगा।"

अपनी बात पूरी करते-करते उन्हें लगा... शीघ्रता, विलम्ब... यह सब तो सापेक्ष होता है। यदि पाण्डु का अवकाश-काल सुखद रहा, तो सम्भवतः एक वर्ष भी उसे शीघ्र ही लगे। और फिर राज-सिंहासन पर बैठकर तो वैसे भी समय सामने से दौड़ता हुआ निकलने लगता है।

धृतराष्ट्र सुन नहीं पाये कि उत्तर में पाण्डु ने क्या कहा... सम्भवतः कुछ कहा तो था। किन्तु उनको वह कथन गौण लगा। उन्होंने एक बार मुस्कराते हुए पुनः कहा, "तुम्हारा अवकाश सुखद हो।" अपनी शुभकामना के अर्थ का स्मरण करके वे मुस्करा उठे।

कुछ समय बाद, राज-सभा विसर्जित होने पर, जब केवल विदुर धृतराष्ट्र के सम्मुख बचे थे, उन्होंने पूछा, "क्यों विदुर! क्या कहता है तुम्हारा नीति-शास्त्र? एक अग-भंग विकलांग क्या अवकाशकालीन शासक बन सकता है?"

"महाराज..." विदुर ने विनम्रतापूर्वक कहा, "आप शासक के पद पर पहली बार तो विराजमान नहीं हुए हैं... आज सहसा यह प्रश्न क्यों?"

"सहसा नही विदुर.." धृतराष्ट्र ने गम्भीरतापूर्वक अपने तर्क को धार दी। "पिछली बार तो मुझे लगा था कि उसे अपवाद मानकर तुम मौन थे.. अथवा अपनी नीति को व्यवहार की कसौटी पर परख रहे थे... किन्तु अब तो सब कुछ सोच-विचार चुके होगे।"

"जिस घटनाक्रम ने आपको युवराज बनाया था भ्राताश्री..." विदुर ने उसी विनम्रता से उत्तर दिया, "वही आज युवराज को महाराज के पद पर विराजने का अवसर प्रदान कर रहा है। युवराज को आवश्यकता पड़ने पर राज-व्यवस्था देखने का विरोध भला कौन-सी नीति करेगी!"

"विदुर... तुम शब्दो से खेलना जानते हो," धृतराष्ट्र ने कुछ व्यंग्य भरे स्वर में कहा "पहले भी, बहुधा मुझे लगता रहा है कि तुम्हारा नीति शास्त्र शब्दों का खिलवाड़ ही है, और कुछ नहीं।"

पाण्डु का रथ तीव्र गति से नदियाँ, ग्राम, वन, नगर, जनपद आदि लाँघता हुआ उत्तर की ओर बढ़ा चला जा रहा था। राह में रथ के हिचकोलो के साथ हिलती-डुलती, उछलती, उनकी पत्नियाँ थीं, जो कभी एक दूसरे की ओर देखकर मुस्करातीं तो कभी परस्पर वार्ता में व्यस्त हो जाती थीं।

पाण्डु की सजग दृष्टि प्रतिक्षण बदलते परिदृश्य को निहारती चली जा रही थी, जैसे कोई राजा अपनी प्रजा अथवा अपनी सम्पदा का अवलोकन-आकलन कर रहा हो। पत्नियों की व्यस्तता की ओर ध्यान जाते ही उन्होंने कहा, "यदि कभी तुम दोनों

की मधुर वार्ता में विराम आये तो प्रकृति की छटा पर भी एक दृष्टि डाल लेना।"

कुन्ती तथा माद्री को सहसा लगा, यह भी तो एक कार्य है। पति की बात में निहित व्यंग्य उनसे छिपा नहीं रह सका। एक-दूसरे की ओर सलज्ज मुस्कान के साथ देखते हुए वे उठीं और पति की भुजा थामकर स्थिर होने का प्रयास करने लगीं। दूर-दूर तक फैला वन-प्रान्त कुछ ही क्षणों में उन्हें भी आकर्षित करने लगा... कहीं रंग-बिरंगे पक्षी, कहीं झुण्डों में अथवा एकाकी विचरते हुए मृग उन्हें कौतूहल प्रदान करते, तो कहीं ऋषि-मुनियों के आश्रम...

आश्रमों पर दृष्टि पड़ते ही कुन्ती का मन अनायास ही अतीत के यातना-काल की ओर खिचने लगता था, जिसे वे सायास भुलाने का प्रयास करती रही थीं। उन्होंने पाण्डु का ध्यान खींचकर, व्यस्त होने के लिए, उनसे पूछा, "कहाँ चलेंगे...? कोई स्थान निर्धारित किया आपने, अथवा सारा अवकाश-काल रथ यात्रा में ही बिताकर लौटेंगे हम लोग?"

"तुम दोनों साथ हो तो यह रथ-यात्रा ही क्या बुरी है..?" पाण्डु ने मुस्कराते हुए उन्हें छेड़ा, "सुन्दर वातावरण, सुखदायी साथ और सारी चिन्ताओं का अभाव... और क्या चाहेगा मन?"

कुन्ती को अनुत्तरित होते देख माद्री ने कहा, "किन्तु हमारी सुखद यात्रा का दड हमारे अश्वों पर तो नहीं पड़ना चाहिए। बहुत समय हो गया उन्हें हमारी सुखद यात्रा का भार ढोते... किंचित विश्राम का सुख उन्हें भी मिलता चले, तो क्या हितकर न होगा?"

पाण्डु माद्री की वाक्पटुता से प्रभावित हुए। उन्होने कहा, "अश्वों के विश्राम के बहाने कहीं यह स्वयं अपने विश्राम के लिए अनुरोध तो नहीं है?"

उन्होंने सारथि को आदेश दिया कि जल, फल आदि का सुपास देखकर कहीं विश्राम के लिए रुकने की व्यवस्था की जाए।

मार्ग में सुविधानुसार रुककर वे कहीं किसी सरिता में स्नान करते, कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य निहारते और कहीं रात्रि व्यतीत करते। पाँच दिन की यात्रा के पश्चात् वे एक मनोरम वन में पहुँचे... जहाँ अपने सैनिकों, सेवकों से परामर्श करके उन्होंने कुछ दिन व्यतीत करने का निर्णय लिया।

देखते-ही-देखते उनके सेवकों ने अपने महाराज के निवास के लिए एक सुविधा-सम्पन्न कक्ष खड़ा कर दिया, जहाँ सेवकों की उपस्थिति में उन्हें जल, भोजन, पवन, प्रकाश, सुरक्षा आदि का कहीं कोई अभाव नहीं था। राज भवन के दीर्घ स्फटिक के गलियारों एवं कक्षों की अपेक्षा, वन में निर्मित इस अवकाश भवन की

सज्जा, विशेषकर कुन्ती एवं माद्री को, अपनी कल्पनाशीलता एवं सुचारु शिल्प के कारण, उत्तेजित कर रही थी। कक्ष के बाहर का परिदृश्य भी राज-भवन के चिर-परिचित बहुमूल्य स्फटिक की भीतों, सुसज्जित स्तम्भों एवं तोरणों से भिन्न था... यहाँ स्तम्भों के स्थान पर प्रकृति-जन्य वृक्षों के तने थे तो तोरणों के स्थान पर मनचाहे आकारों में फैली डालियाँ, जिन पर न तो फूल अंकित थे और न पक्षी। उन पर विभिन्न रूप, आकार, रंग एवं गन्ध वाले वास्तविक फूल थे जो पवन के झोंकों के साथ लहराते भी थे और सुगन्ध बिखेरते थे... और थे जीवन्त पक्षी, पंख फड़फड़ाने वाले और कण्ठ से भाँति भाँति के मधुर स्वर उत्पन्न करने वाले...

कुछ ही दिनों में सेवकों ने उनके कक्ष से मिलाकर तीन कक्ष और बना दिये, जिनका उपयोग आमोद-प्रमोद, अस्त्र शस्त्र आदि के भण्डारण तथा सेवकों, मन्त्रियों आदि के साथ मन्त्रणा के लिए हो सकता था। उस राजसी अवकाश-भवन के सम्मुख सुसज्जित स्तम्भों-सहित तोरण द्वार भी शीघ्र ही बनकर तैयार हो गया।

वन में, राज भवन..! उसे देखकर जहाँ कुन्ती तथा माद्री को सुखद आश्चर्य हुआ पाण्डु का मन कुशल सेवकों की सूझ एवं उनके शिल्प को सराहे बिना न रह सका।

पाण्डु के साथ कुन्ती तथा माद्री के दिन सुविधा पूर्वक वन्य जीवन के सौन्दर्य को आत्मसात करने मे कटने लगे। वहाँ हर ओर कुछ न कुछ ऐसा था जिसे जानने का कौतूहल उन्हें निरन्तर उत्साह से भरता रहता था। कभी माद्री दौड़ी हुई कुन्ती के पास पहुँचतीं, "जीजी, यह सुनिए. यह, चिडिया का स्वर, मधुर है न!" और कभी कुन्ती ढूँढ़ती हुई पहुँचतीं माद्री को बुलाने, "चलो.. तुम्हें एक सुन्दर पक्षी दिखाऊँ.. ऐसा, जैसा पहले न देखा होगा तुमने।"

कभी वे दोनों मिलकर उठाती पाण्डु को, "बहुत हो चुका विश्राम... देखिए न! बाहर कैसा शीतल पवन प्रवाहित हो रहा है।"

पाण्डु का मन आखेट में रमता था.. वे कभी अश्व पर आरूढ़ होकर, तो कभी एकल रथ पर... निकल जाते थे आखेट के लिए.. कभी सेवकों के साथ, तो कभी अकेले ही। कभी वे आग्रह करते पत्नियों से.. आखेट पर, साथ चलने के लिए। किन्तु कुन्ती का मन आखेट के नाम से ही उचट जाता था। उनका वश चलता तो वे पाण्डु को भी न जाने देतीं। दो तीन बार माद्री गयीं पाण्डु के साथ... किन्तु निरन्तर कुन्ती का ध्यान उन्हें विचलित करता रहा, 'अकेली पडी क्या कर रही होंगी... मन नहीं लग रहा होगा उनका।'

पाण्डु न तो आखेट छोड़ना चाहते थे, और अपनी अर्धांगिनियों का साथ। कौन जाने मन में दबी कहीं यह इच्छा भी हो कि उनका अचूक शर-सन्धान देखकर कोई तो उनकी प्रशंसा करे। वे कहते थे कभी कभी... प्रेम से झिड़कते हुए, "कैसी क्षत्राणी

हो तुम दोनों! आखेट में भी रुचि नहीं है तुम्हारी! अरे तुम्हें तो धनुष लेकर शर-सन्धान का भी अभ्यास करना चाहिए था।"

"अच्छा है जो नहीं हुआ..." कुन्ती के स्वर में उपालम्भ था। इस वन के निरीह पशु-पक्षियों में आधे तो आप ही समाप्त कर देंगे... यदि हम दोनों भी आखेट पर निकलते तो..."

"इस निर्जन वन को निर्जीव ही करके लौटते हमलोग," माद्री ने हास्य बिखेरते हुए कुन्ती का वाक्य पूरा किया।

"किन्तु आवश्यकता ही क्या है, आखेट की?" कुन्ती ने सीधा प्रश्न किया, "क्या आपको हमारे साथ रहना अच्छा नहीं लगता?"

"यदि तुम्हारा साथ प्रिय न होता तो मैं लाता ही क्यों तुम दोनों को!" पाण्डु ने हँसते हुए कहा, "और रही बात आखेट की... तो यह तो अभ्यास है। युद्ध के लिए अपने हस्त-लाघव को, अपनी सन्धान-क्षमता को परखने का... उसे बचाये रखने का तथा उसमें सुधार करने का। पता नहीं तुम दोनों को... पता भी कैसे हो! युद्ध कोई खेल नहीं होता। आक्रमण करने वाला शत्रु, किसी भयंकर, हिंसक पशु से कम नहीं होता... जब वह हाथों में शस्त्र, आँखों में रक्त और मन में घृणा भरकर टूट पड़ता है।"

कुन्ती को पाण्डु का तर्क सार्थक प्रतीत हुआ, किन्तु उनका मन सन्तुष्ट नही हो पा रहा था।

तभी माद्री ने उनके विरोध को एक नया आयाम दिया, "तो यह क्षमता का परीक्षण एवं अभ्यास निरीह, वाणी-रहित पशु-पक्षियों पर क्यों? क्रीड़ा-स्थल मे कृत्रिम शत्रु खड़े करके भी तो हो सकता है।"

"नहीं हो सकता है सुन्दरी..." पाण्डु ने व्यग्य से कहा, "क्योंकि युद्ध मे आक्रामक शत्रु किसी पुतले की भाँति स्थायी भाव में खडा नहीं रहता, हिंसक पशु की भाँति दौड़ता है, छलाँग लगाता है... आघात से बचकर, उछलकर प्रत्याघात करता है। छकाता भी है और थकाता भी है, ठीक किसी हिंसक पशु की भाँति..."

तर्क की अपनी सीमाएँ होती हैं और मन एव मान्यताओं की अपनी... पाण्डु के तर्कों ने कुन्ती तथा माद्री को निरुत्तर तो किया किन्तु वे उन्हें सहमत नहीं कर पाये।

पाण्डु कभी पत्नियों के आग्रह पर उनके साथ ही अवकाश-शिविर में रहते, कभी धनुष-बाण पीछे छोड़कर उन दोनों को वन का भ्रमण कराने ले जाते और कभी किसी निकटवर्ती सरिता में नौका विहार का सुख प्राप्त करते...

किन्तु बीच-बीच में, किसी दिन आग्रह करने पर, उन्हें आखेट पर जाने के लिए पत्नियों की अनुमति भी मिल जाती थी... किन्तु अकेले...

पाण्डु सोकर उठे तो प्रसन्न थे... शीतल पवन का स्पर्श शरीर को सुख दे रहा था। कानों में पक्षियों का समवेत स्वर पड़ा तो मन और भी प्रफुल्लित हो उठा। वातायन के बाहर वृक्षों की डाल पर झूलते पुष्प-गुच्छ भी कोई सुखद संकेत देते हुए लगे।

सहसा उन्हें स्मरण हुआ अपने स्वप्न का... उनके होठों पर मुस्कान फैल गयी। उन्होंने देखा था कुन्ती तथा माद्री, दोनों को, सन्तान प्राप्त हुई है... दोनों की भुजाओं में शिशु हैं, एक नहीं, एक से अधिक। उन्होंने सोचा कि वे दोनों इस स्वप्न की बात सुनकर अवश्य प्रसन्न होंगी। पाण्डु के सम्मुख उन दोनों के लज्जा भरे, मुस्कान बिखेरते मुख घूम गये...

किन्तु कहाँ हैं दोनों! पाण्डु ने शैया पर पड़े, अधलेटे ही, अपनी दृष्टि दौड़ायी... कहीं कोई आहट नहीं थी। पुष्प चुनने गयी होंगी... दोनों। कौन जाने किसी नये पक्षी को देखकर उल्लसित हो रही हों, अथवा... कहीं छिपकर मृगों के झुण्ड देख रही हों।

पाण्डु अपने स्वप्न का स्मरण करके फिर मुस्करा उठे। कैसे बताएँगे...? पहले कुन्ती को... अथवा पहले माद्री को! अथवा दोनों को एक साथ? कुन्ती को अवश्य प्रसन्नता होगी, चार वर्ष हो चले हैं.. कौन जाने दादीश्री सबसे अधिक प्रसन्न हों...

किन्तु क्या स्वप्न की बात पर हाँ .! पहले स्वप्न के साकार होने का समय तो आये।

तभी कुन्ती तथा माद्री ने एक साथ कक्ष में प्रवेश किया... उनके दोनों हाथ पुष्प गुच्छों से भरे थे। हँसते खिलखिलाते आते हुए उन दोनों ने एक साथ ही वे पुष्प पाण्डु पर बरसा दिये।

पाण्डु को अकारण ही लगा सकेत शुभ है...

किन्तु स्वप्न की बात! कैसे प्रारम्भ करें... किससे कहें पहले! अथवा दोनों को अपने पास बिठाकर!

किन्तु वे दोनों अपने उल्लास में इतनी व्यस्त एवं उत्तेजित थीं कि बहुत कुछ था उनके पास सुनाने को... पुष्पों-लताओं का वर्णन, तितलियों के पंखों की सज्जा, उनके विचित्र रंग, पक्षियों के रूप एवं आकार, वृक्षों के तनों में प्रकृति द्वारा रचे विभिन्न रूप एवं आकार के कोटर और...

"आप सुन नहीं रहे हैं .." सहसा पाण्डु के अधरों पर मुस्कान देखकर गम्भीर, मचलते-से स्वर में माद्री ने कहा, "अच्छा बताइए, मैंने क्या कहा था?"

"तो हम दोनों व्यर्थ ही बोले चले जा रहे हैं..." कुन्ती ने कुछ रूठते हुए कहा।

"चलिए जीजी..." माद्री ने भी रूठते हुए कहा, "चलें हम दोनों... इनका ध्यान

तो आखेट में लगा प्रतीत होता है... सोच रहे होंगे किसी दौड़ती हुई हिरनी के विषय में।"

पाण्डु को लगा ये मुस्कान बिखेरती सुन्दर हिरनियाँ... भाग्य ने अनायास ही मेरी झोली में डाल दीं। किसके प्रति आभार व्यक्त करें इस सौभाग्य के लिए! बस अब तो वह सपना सच हो जाए...

कुन्ती एवं माद्री रूठते हुए हाथ छुड़ाकर जा चुकी थीं... वे मनाने के लिए उन्हें पुकारते ही रह गये... अधरों पर सन्तुष्ट मुस्कान के साथ।

पाण्डु अपनी पत्नियों के साथ दिन बिताने की योजना बना ही रहे थे कि उनके प्रमुख अंग-रक्षक ने अभिवादन करते हुए सूचना दी, "महाराज! सैनिकों ने दो तीन तेंदुए देखे हैं, उत्तर दिशा की ओर। सम्भवतः उधर ही कहीं गुफ़ा है उनकी।"

"कब देखे थे...?" पाण्डु की आँखों में चमक आ गयी।

"लगभग दो घड़ी पूर्व, महाराज।"

पाण्डु झटके के साथ उठ खड़े हुए... जैसे राज्य की सीमा पर आक्रमण का समाचार सुना हो। उन्होंने पत्नियों की ओर देखकर कहा, "चलो... खेल दिखाएँ तुम्हें।"

"खेल...?" कुन्ती ने आश्चर्य भरे स्वर में कहा, "अर्थात् आखेट... है न!"

"स्वयं ही देख लो चलकर.."

"नहीं... मैं तो..."

"मैं तो नौका विहार की योजना बना रही थी.." माद्री ने कुन्ती का वाक्य काटते हुए कहा।

"नौका विहार तो बाद में भी हो सकता है," पाण्डु ने कुछ झिड़कते स्वर में कहा, "पर बाद में ये पशु मिलें, न मिलें।"

कुन्ती ने असहाय दृष्टि से माद्री की ओर देखा, "तुम जाओगी?"

माद्री को कुन्ती का संकेत मिल गया। उन्होंने पाण्डु की ओर दृष्टि घुमायी, "आपको भी क्या आवश्यक है आखेट पर जाना... चलिए न, हमारे साथ..."

"अच्छा तुम दोनों प्रतीक्षा करो..." पाण्डु ने अपने धनुष की ओर बढ़ते हुए कहा, "बस, मैं दो घड़ी में आया, तब चलेंगे नौका विहार के लिए।"

पाण्डु ने निर्णय सुना दिया... पत्नियों के पास कोई विकल्प नहीं बचा था।

पाण्डु ने अंग-रक्षक से कहा, "अश्व तैयार करो... दो तीन सैनिक भी ले लो..."

"बस, मैं अभी आया..." पाण्डु ने चलते-चलते, मुड़कर पत्नियों की ओर देखकर कहा और सोचा, सपने की बात तो रह ही गयी... अच्छा, वह लौटकर।

निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर उन्होंने अपना अश्व पीछे छोड़ दिया। छोटे-छोटे पथरीले टीलों से घिरे वन में वे कुछ दूर निकल आये थे। उनकी चपल दृष्टि किसी हिंसक पशु की खोज में इधर-उधर भटक रही थी... कान आतुर थे किसी हिंसक पशु अथवा व्याघ्र का स्वर सुनने के लिए... कि तभी वृक्षों के झुरमुट के बीच, दूर पर, उन्हें किसी हिंसक पशु का आभास हुआ... नहीं, एक नहीं... दो... आपस में खेलते से। वहाँ कभी एक दिखता, तो कभी दो का भ्रम होता। पाण्डु ने दूरी का अनुमान लगाया। बाण वहाँ तक जाकर लक्ष्य वेध सकता है... निःसन्देह। फिर भी... कुछ और आगे बढ़ सकें तो सम्भवतः दोनों ही मृगों को एक ही बाण से वेध सकें।

अपने साथ आये हुए सैनिकों को उन्होंने दाहिनी एवं बायीं दिशा में जाकर, लक्ष्य से दूर रहते हुए, विपरीत दिशा में पहुँचने का आदेश दिया... कि कहीं आहत होकर कोई पशु भागे तो वे सैनिक उसे भगाकर पुनः उनकी ओर भेज दें।

वे दबे-पाँव लक्ष्य की ओर बढ़े... ऐसे, कि कहीं सूखी पत्तियाँ भी दबकर ध्वनि न करें। किन्तु वहाँ से मृगों को स्पष्ट देख पाना सम्भव नहीं था.. फिर भी झाड़ियों एवं लताओं के पीछे हलचल के स्पष्ट संकेत थे। सहसा पवन के एक झोंके में कुछ पत्तों ने क्षण भर झूलते हुए उनके अनुमान की पुष्टि की। और अधिक स्पष्ट सन्धान के लिए कहीं जाने का समय नहीं था... उन्हें भय था कि आहट पाकर कहीं वे मृग भाग न खड़े हों। धनुष पर एक पैना बाण चढ़ाकर उन्होंने श्वास रोकते हुए प्रत्यंचा कान तक खींची और.. पवन के झोंके में पत्तों के हिलते ही, लक्ष्य की झलक पाते ही छोड़ दी।

किन्तु क्षणांश में.. आशा के विपरीत, किसी पशु के उछलकर गिरने की ध्वनि के स्थान पर, उन्हें मर्मभेदी चीत्कार सुनाई दी... किसी मानव की चीत्कार। उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वे अपने आखेट की ओर दौड़े। 'कौन जाने, पशु के साथ कोई व्यक्ति हो... व्यक्तिगत पाले हुए पशु के साथ! कहीं वही तो आहत नहीं हो गया?'

आगे पहुँचकर जो उन्होंने देखा, वह सर्वथा अकल्पनीय था। उनके तीखे बाण में बिंधे दो मुनि वेष धारी प्राणी पड़े थे... नर और नारी... आलिंगनबद्ध, जिनके तन पर बँधा मृगचर्म सम्भवतः उन्हें भ्रमित कर गया। नारी का मस्तक एक ओर निर्जीव सा लटक रहा था... और पुरुष पीड़ा में कराहता हुआ हाँफ रहा था, "ये.. ये क्या किया तुमने?"

"क्षमा... क्षमा करें मुझे..." व्याकुल स्वर में पाण्डु ने कहा, "आपके तन पर बँधे मृगचर्म से मुझे भ्रम हुआ... मैंने समझा... समझा कोई..."

"कोई पशु होगा..." पुरुष ने पीड़ा से ऐंठते हुए कहा, "कैसी माया है!... लम्बी

तपस्या के बदले पशु... पशु की संज्ञा प्राप्त हुई हमें..."

"मुनिवर क्षमा... क्षमा..." पाण्डु को वक्ष में भूकम्प-जैसे आघात का अनुभव हुआ। वे दौड़कर उनके पाँव पर सिर पटकने लगे, "क्षमा करें मुझे... इस अभागे को... हत्यारे को।"

"क्षमा...माँग सको तो..." पुरुष ने डूबते स्वर में कहा, "तो इससे माँगो... आज ही तो इस अभागी ने बताया था मुझे कि... गर्भ धारण किया है इसने... यह प्रसन्न थी... बहुत... प्रसन्न..."

"क्षमा करें... मैंने पशु के भ्रम में..." पाण्डु को पता नहीं था कि यह कैसे हो गया और वे क्या कहें!

"किन्तु... पशु पर भी... ऐसा कोप क्यों... यह हिंसा क्यों...?"

"मैं मूर्ख हूँ... अभागा, अपराधी हूँ आपका। शाप दें मुझे... शाप," पाण्डु बिलखते हुए बोले।

"शाप... क्षमा..." पुरुष ने पीड़ा में भीगी मुस्कान के साथ कहा, "तो वह.. बस वह..." बोलते-बोलते उसकी भुजा धीरे से उठी और तर्जनी आकाश की ओर उठी रह गयी। दूसरे ही क्षण एक हिचकी के साथ उनके शरीर में कुछ ऐंठन हुई और उठा हुआ हाथ गिरकर पत्नी के कन्धे पर टिक गया। आँखें चढ़कर स्थिर हो चुकी थीं और सिर एक ओर लुढ़क चुका था।

पाण्डु की आँखें विस्फारित रह गयीं। सहसा उन्हें हृदय के आसपास फिर भूकम्प जैसे आघात का अनुभव हुआ और वे विक्षिप्त की भाँति उठे और पास ही खड़े एक विशाल वृक्ष के तने के निकट पहुँचकर अपना सिर टकराने लगे, "यह क्या कर डाला तूने... यह क्या किया...?"

जाने कितनी बार सिर टकराकर, लहू लुहान, वे अपने घुटनों पर गिरकर अचेत हो गये।

बड़ी देर बाद... उनके सैनिकों ने ढूँढ़ते हुए आकर उन्हें अचेत अवस्था में वहाँ पड़ा पाया। तब तक कुछ वनवासी वहाँ एकत्रित होकर, आतंकित मुद्रा में, शवों तथा पास पड़े धनुर्धर को देखकर घटना-क्रम का अनुमान लगा रहे थे। उन्होंने बताया कि वे शव, मुनिवर किन्दम तथा उनकी पत्नी के थे। किन्दम उन लोगों के बीच लगभग बीस वर्ष से रहते हुए वनवासियों को धर्मोपदेश देने के साथ ही उन सबके रोगों का उपचार भी करते थे।

पति को रक्त में लथपथ, अचेत अवस्था में आया देख कुन्ती एवं माद्री हतप्रभ रह गयीं। उनके मुख से आश्चर्य में एक चीख़ निकली और वेणी के लिए चुने हुए पुष्प हाथ से छूट गिरे। सदैव किसी उपलब्धि की मुस्कान के साथ लौटने वाले पति को इस अवस्था में देखने की उन्होंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

"ये क्या हुआ...? कैसे हुआ?" माद्री का स्वर चीत्कार एवं रुदन के बीच अस्पष्ट था।

"बोलते क्यों नहीं, स्वामी...?" कुन्ती को स्वयं पता नहीं था कि वे किससे प्रश्न कर रही हैं, "शीघ्र... शीघ्र किसी वैद्य को बुलाओ... दौड़ो... तुम सब खड़े क्यों हो?"

उनके बिना माँगे ही पात्र में जल आ गया था... और वे अपना आँचल भिगोकर पति के मस्तक से, ग्रीवा तथा वक्षस्थल तक जमा रक्त पोंछने में व्यस्त हो गयीं। बीच-बीच में वे कभी पति के मुख पर जल के छींटे डालतीं तो कभी बिलखते हुए उन्हें पुकारतीं, "स्वामी... ये क्या हो गया...? नेत्र तो खोलिए स्वामी।"

निकटवर्ती ग्राम से वैद्य ने आकर पाण्डु का परीक्षण किया, और कुन्ती तथा माद्री को आश्वस्त कराया कि जीवन को कोई संकट नहीं है... किन्तु...

"किन्तु क्या वैद्यराज?" कुन्ती के स्वर मे उसी चिन्ता के चिह्न थे जो माद्री की आँखों से झाँक रहे थे।

"किन्तु नाड़ी अव्यवस्थित है... मानसिक सन्ताप के लक्षण हैं," उन्होंने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया।

मानसिक सन्ताप! कुन्ती तथा माद्री के लिए वे लक्षण निर्मूल थे... हमारे रहते मानसिक सन्ताप! एक विजेता सम्राट को मानसिक सन्ताप! यह कैसे सम्भव है?

कुछ ही समय में सेवकों तथा सैनिको से उन दोनो को सारी घटना का संकेत मिला। महाराज जहाँ अचेत मिले थे वहीं, निकट ही, एक मुनि तथा मुनि-पत्नी के शव थे.. आलिंगन बद्ध... महाराज के बाण से बिधे हुए। वहाँ अन्य कोई नहीं था। महाराज ने अपने सिर पर आघात सम्भवत: स्वयं ही किया होगा... दु:ख एवं अपराध बोध के कारण।

कुन्ती ने मुनि तथा उनकी पत्नी के दाह-संस्कार की व्यवस्था का आदेश तो दिया, किन्तु बहुत इच्छा रहते हुए भी वे स्वयं वहाँ नहीं जा सकीं। पति को अचेत अवस्था में छोड़कर वे जातीं भी तो कैसे.. किससे क्षमा माँगतीं किसके सम्मुख शोक प्रकट करने? यह सब कुछ उनकी समझ से परे था।

दो दिनों की निरन्तर सेवा शुश्रूषा के बाद, वैद्य की औषधियों ने कुछ प्रभाव दिखाया। पाण्डु के होठों में कुछ कम्पन हुआ.. और अस्पष्ट-से कुछ शब्द निकले। पत्नियो के पुकारने पर पलकों में भी कुछ कम्पन हुआ, जैसे वे नेत्र खोलने का प्रयत्न कर रहे हों। कुछ ही समय में बन्द पलकों की कोर वेधकर अश्रु की कुछ बूँदें ढुलककर उनकी कनपटी भिगोने लगीं।

यह देख वैद्य के मुख पर मुस्कान उभरी.. जैसी संग्राम जीतकर किसी विजेता के अधरों पर उभरती है। भावातिरेक में कुन्ती तथा माद्री के नेत्रों से भी चिन्ता-काल में एकत्रित हुए सारे अश्रु फूट पड़े... और वे बड़ी व्यग्रता के साथ पति को पुकारने लगीं।

"समय के साथ बड़े-बड़े घाव भर जाते हैं..." व्याकुल पत्नियों के हर प्रश्न का वैद्यराज के पास एक यही संक्षिप्त उत्तर था। "धैर्य रखें महारानी... और प्रार्थना करें परमात्मा से..."

'किन्तु क्या सभी...?' वैद्यराज स्वयं अपने आप से कभी-कभी यह प्रश्न कर बैठते थे, विशेष रूप से तब, जब उन्हें पाण्डु की नाड़ी में कोई सुधार नहीं मिलता था।

पाँच-छ: दिन की मूर्च्छा-अर्धमूर्च्छा के पश्चात् पाण्डु लगभग पूर्णतया सचेत थे... नेत्र खोलते थे, भोजन तथा जल ग्रहण करते थे, प्रश्नों के संक्षिप्त उत्तर देते थे, किन्तु क्या हो गया था उन्हें...? यह प्रश्न उन्हें उद्वेलित कर देता था। दो क्षण शून्य में निहारते-से, जैसे कुछ स्मरण करने का प्रयास कर रहे हों, वे हाँफने लगते थे... और उनकी नाड़ी और भी अव्यवस्थित होने लगती थी, वक्ष:स्थल भूकम्प के झटकों की भाँति अस्थिर हो उठता था तथा नेत्रों से अश्रु झरने लगते थे। वैद्य ने अपनी औषधियों में कुछ परिवर्तन के साथ परामर्श दिया कि वे सब, विशेषतया कुन्ती तथा माद्री, अपने प्रश्नों को विराम दें... अपनी जिज्ञासा को विराम देकर महाराज को वह घटना भुलाने में सहायता करें और...

"धैर्य रखें..." वे अपना अनुभव यदा कदा दुहराते रहते थे, "समय बड़े बड़े घाव भर देता है।"

'किन्तु क्या सब...?' और हर बार परामर्श देकर वे स्वयं अपने प्रश्न से दृष्टि चुराते हुए बच निकलने का मार्ग ढूँढ़ने लगते थे।

धीरे-धीरे समय ने अपना प्रभाव दिखाया और वैद्यराज के कथन का अनुमोदन किया। पाण्डु का जीवन लगभग सामान्य हो चला था... वे शैया पर उठकर बैठते भी थे और कभी-कभी अपने हाथ से भी भोजन करते थे। निद्रा भी सामान्य हो चली थी... किन्तु कुछ था जो उन्हें असामान्य बनाये हुए था। उस असामान्यता में एक था उनका मौन... और दूसरी उनकी पर-निर्भरता। वे घण्टों बिना बोले चुप बैठे रहते थे और एकाकी होने पर व्यग्र होने लगते थे। उनकी इच्छा होती थी कि कुन्ती तथा माद्री, दोनों ही निरन्तर उनके पास बैठी रहें... अथवा कम से कम दृष्टि-सीमा में रहें... कुछ बोलती रहें, किन्तु उनसे कुछ न पूछें।

कुन्ती तथा माद्री को वैद्यराज का आदेश पूर्णतया ज्ञात था... कि उन्हें पति से उस घटना-विशेष के सम्बन्ध में कुछ नहीं पूछना है। किन्तु जब वे अन्य कोई प्रश्न भी करतीं तो पाण्डु खोयी-खोयी-सी दृष्टि से देखते रह जाते, जैसे प्रश्न समझने में उन्हें कुछ बाधा हो रही हो... अथवा प्रश्न की ध्वनि दूर किसी अज्ञात स्रोत से आ रही हो।

वैद्य के परामर्श पर कुन्ती ने पाण्डु को शैया त्यागकर कुछ चलाने का प्रयास किया कि सम्भवतः खुले वातावरण में वृक्ष, पुष्प, पक्षियों आदि को देखकर उनका मन कुछ स्वस्थ हो। पत्नियों के आग्रह पर उनका सहारा लेकर पाण्डु उठे.. किन्तु दूसरे कक्ष में पहुँचते ही... भयभीत स्वर में लगभग रोते हुए, "नहीं... नहीं..." कहकर पीछे गिरने लगे। जैसे विक्षिप्तता का कोई प्रवेग हो। पत्नियों को उन्हें लौटाकर शैया पर लिटाना ही श्रेयस्कर लगा।

धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि पाण्डु का मन धनुष-बाण देखकर व्याकुल हो उठता है। स्पष्ट था कि बाण ने मुनि-युगल के प्राण लिये थे.. और वह घटना तब भी उनके मन को मथ रही थी। किन्तु एक क्षत्रिय धनुष बाण मे आँखें चुराकर भला कैसे रह सकता है! कब तक जी सकता है?

वैद्य के सम्मुख यह विषय प्रमुख समस्या बनकर खड़ा हो गया। इसके लिए यह आवश्यक था कि रोगी अपने मन की व्यथा मन में न रखे... कह डाले। जैसे भी हो मन का बोझ उतार फेंके, किन्तु... दूसरी ओर, स्वयं उन्ही का यह परामर्श भी था कि कोई पाण्डु से उस दुर्घटना का उल्लेख न करे... क्योकि उस घटना का स्मरण पाण्डु को व्याकुल कर देता था उनके हृदय को फट पड़ने की सीमा तक उद्वेलित कर देता था और औषधियाँ ? औषध विज्ञान तो अधिक से अधिक शारीरिक रोगो के उपचार तक पहुँचकर अशक्त हो जाता है। मनोव्यथा के लिए तो बस.. समय बचता है, अथवा प्रार्थना। वे अपनी शक्ति भर महारानियो को यदा-कदा यह सत्य समझाने का प्रयास करते रहते थे।

"स्वामी. " एक बार कुन्ती ने पति को कुछ सामान्य मनोदशा मे देखकर कहा, "आपका मन हो तो अब हस्तिनापुर चले हम लोगों को आये अब एक माह से अधिक हो चुका।"

प्रश्न पाण्डु के कानों तक सम्भवतः विलम्ब से पहुँचा। दूर शून्य में देखते हुए उन्होंने अस्फुट शब्दों में कहा, "हस्तिनापुर!" और पुनः वे जैसे उत्तर के लिए शब्द ढूँढते हुए बोले, "तुम लौट जाओ हस्तिनापुर... माद्री को लेकर।"

उत्तर सुनकर आश्चर्य मे कुन्ती के नेत्र विस्फारित रह गये, "और आप. ?"

"मैं...?" पाण्डु ने अपना ही उपहास करते स्वर में कहा, "मै क्या करूँगा जाकर? निरपराध तपस्वियो का हत्यारा पाण्डु किसे अपना मुख दिखाएगा... कैसे दिखाएगा?" कहते-कहते उनकी आँखें छलकने लगीं।

"नहीं प्राणनाथ, नहीं..." कुन्ती ने द्रवित होते हुए कहा, "अनजाने में की हुई भूल अपराध नहीं होती। आपने कोई अपराध नहीं किया स्वामी।"

"अनजाने में नहीं..." पाण्डु ने अपने अश्रु पोंछते हुए कहा, "अहंकार में, कुन्ती ..अहंकार में। मुझे कोई अधिकार नहीं जीवित रहने का.. न राज-सुख भोगने का।"

कुन्ती ने पाण्डु का मुख अपने दोनों हाथों में सहेजकर वक्ष से लगा लिया। पाण्डु फफककर रो उठे... और उनका सिर सहलाते हुए कुन्ती की आँखें भी बरसने लगीं।

रात्रि का द्वितीय प्रहर था... पाण्डु कुन्ती की गोद में सिर रखे लेटे थे और माद्री का मस्तक उनके वक्ष पर टिका था। बड़ी देर से वे तीनों मौन थे, जैसे उनके पास कहने अथवा सुनने के लिए कुछ भी न बचा हो।

"तुम्हें पता है..." पाण्डु ने धीरे-धीरे कहा, "वह गर्भावस्था में थी..."

"कौन स्वामी?" माद्री ने सिर उठाकर पति की ओर देखा।

"वही... तपस्वी की पत्नी..." पाण्डु इस उद्घाटन द्वारा कक्ष के मौन को और भी गहराकर मौन हो गये।

कुन्ती तथा माद्री ने एक-दूसरे पर विवश दृष्टि डाली। क्या कहें... क्या करें कि इनके मन से यह क्लेश मिटे! संवाद का सूत्र किसी के हाथ नहीं आ रहा था।

"ओषध का समय हो गया..." कुन्ती ने कक्ष में व्यापे मौन से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ते हुए कहा, "माद्री उठो तो..."

"अब कुछ नहीं होगा ओषध से..." पाण्डु ने माद्री को रोकते हुए कहा, "मुझे शाप लगा है... जिसका कोई उपचार नहीं।"

"किसका शाप, स्वामी?" माद्री ने व्याकुल होते हुए पूछा।

"उसी तपस्वी का..."

"क्या कहा था उन्होंने?" कुन्ती ने जिज्ञासा की।

"कहा तो कुछ नहीं... बस..." पाण्डु ने स्मरण करते हुए कहा, "बस आकाश की ओर संकेत किया था... अब विधाता ही दण्ड दे रहा है मुझे।"

"नहीं आपको कुछ नहीं होगा स्वामी..." कुन्ती ने रोते हुए कहा।

"शाप तो लग चुका मुझे..." पाण्डु रुँधे कण्ठ से बोले, "अब वह तुम्हें भी डसे, उसके पूर्व ही तुम चली जाओ... तुम दोनों, मुझे त्यागकर।"

"यह कैसी बात कर रहे हैं प्राणनाथ!" माद्री ने बिलखते हुए कहा, "आपके साथ ही चलेंगे हम।"

"मैं तो नहीं लौटूँगा..." पाण्डु ने दृढ़ स्वर में कहा, "विधाता का शाप स्वीकार करते हुए यह निश्चय किया है... मैंने..." पाण्डु का कण्ठ भावातिरेक में अवरुद्ध हो चला था।

"भावुक होकर कोई निर्णय न लें स्वामी..." कुन्ती ने निहोरा करते हुए कहा।

"भावुक नहीं... बहुत सोच-विचारकर निर्णय लिया है, कुन्ती..." पाण्डु ने रुँधे कण्ठ से ही साग्रह कहा, "मैं... कि मैं..."

"क्या स्वामी?" माद्री का कौतूहल उन्हें आशंकाओं में ढकेल रहा था।

"कि मैं संन्यास ले लूँगा..." पाण्डु ने शक्ति लगाकर अपना वाक्य पूरा किया।

सुनकर माद्री तथा कुन्ती की आश्चर्य-चकित दृष्टि एक-दूसरे से टकरायीं और पति पर जा टिकीं।

"राज्य... सम्पत्ति... परिवार... सब त्यागकर..." पाण्डु बोले जा रहे थे।

"नहीं स्वामी, नहीं..." माद्री ने व्याकुल होते हुए उनके मुख पर अपना हाथ रखा।

"नहीं माद्री..." पाण्डु ने गम्भीर स्वर में कहा, "लौट जाओ तुम दोनों... हस्तिनापुर लौटकर, सबको मेरा सादर अभिवादन पहुँचाकर कह देना, कि पाण्डु संन्यासी हो गया ...लौट जाओ नहीं तो मेरा अभिशप्त जीवन, नरक बना देगा तुम्हारे जीवन को भी।"

"नरक नहीं स्वामी..." कुन्ती ने अपने अश्रु दबाते हुए निर्णायक शब्दों में कहा, "हमारा स्वर्ग तो यहीं है... आपके साथ, आपके चरणों में..."

"आप संन्यास लेंगे... तो हम भी संन्यास ले लेंगे..." माद्री ने अश्रु बहाते हुए कहा, "सब कुछ त्याग कर... आपने हमें त्यागा तो... तो..." कहते-कहते माद्री की उँगलियाँ पाण्डु की भुजाओं पर कस गयीं।

"भावुक न बनो.." पाण्डु ने दोनों पत्नियों को अपने वक्ष की ओर खींचते हुए कहा, "मैं शापग्रस्त .. अभागा.. किन शब्दों में कहूँ! कैसे कहूँ! मैं पति कहलाने योग्य नही रहा। कोई अधिकार नहीं मुझे गृहस्थ आश्रम के निर्वाह का..."

कक्ष में क्षण प्रतिक्षण गहराते मौन के बीच शून्य में निहारते हुए पाण्डु ने अपने शारीरिक स्वास्थ्य की स्थिति पत्नियों से कह सुनायी... कह सुनाया वैद्य का निदान कि मस्तक पर आघात के परिणामस्वरूप वे कभी सन्तान नहीं पा सकेंगे।

सुनकर कुन्ती तथा माद्री को कक्ष का मद्धिम प्रकाश सहसा नितान्त निस्तेज होता लगा, वक्ष से कुछ दरककर गिरा और कुक्षि तक का मार्ग सुलगाता हुआ बिखर गया।

"भाग्य में जो भी होगा स्वामी..." कुन्ती ने पाण्डु का मस्तक अपने वक्ष पर बाँधकर अश्रुजल से भिगोते हुए कहा, "वह साथ मिलकर स्वीकार करेंगे... आप दुःख न करें..."

"दुःख नहीं कुन्ती, अभिशाप...।" पाण्डु ने निराश स्वर में कहा, "मेरे पाप का फल, मुझे ढोने दो, अकेले। तुम्हारा जीवन व्यर्थ करने का कोई अधिकार नहीं मुझे।"

किसका पाप! कुन्ती की स्मृतियाँ उन्हें अतीत में, कई वर्ष पूर्व खींचे लिये जा रही थीं। उनके कानों में दुर्वासा के शब्द गूँज उठे, 'शाप तो तूने दे लिया... स्वयं अपने आप को। उसका फल जीवन भर ढोएगी तू।'

कुछ देर बाद, पीड़ा का उत्ताप वक्ष में समेटे, आँसू बहाते, मौन अन्धकार में भटकते, वे तीनों बेसुध होकर सो गये... अथवा कौन जाने... अचेत हो गये!

पाण्डु ने अपनी सुरक्षा-वाहिनी के प्रमुख को बुला भेजा...

पत्नियों के साथ, आँसू बहाते हुए, लम्बे तर्क-वितर्क के बाद पाण्डु एक नये विकल्प पर पहुँच चुके थे। कुन्ती तथा माद्री का आग्रह था कि वे संन्यास न लेकर वानप्रस्थ ग्रहण करें... और पत्नियों का त्याग न करें। पति से अलग होने की अपेक्षा, प्राण त्यागना उन्हें अभीष्ट था।

बिना किसी भूमिका के, उन्होंने वाहिनी प्रमुख को, सभी सैनिकों एवं रथ सहित, हस्तिनापुर लौटने का आदेश दिया। आदेश सुनकर वह हत्प्रभ रह गया।

"और सभी गुरुजनों, माताओं आदि को हम तीनों का सादर प्रणाम पहुँचाकर कहना, पाण्डु ने राज्य, सम्पत्ति, परिवार आदि त्यागकर वानप्रस्थ ग्रहण किया है।"

दुःखी एवं हत्प्रभ सैनिकों का मौन अस्वीकार पाण्डु के आग्रह एवं आदेश के सम्मुख बहुत समय नहीं ठहर पाया। नेत्रों में अविश्वास एवं अश्रु भरे वे, भारी मन से, अपने महाराज को प्रणाम करके लौट गये।

पाण्डु को कुछ आभास था हस्तिनापुर में अपने सन्देश पर अपने गुरुजनों की प्रतिक्रिया का। माँ, दादीश्री आदि विह्वल होंगी और तातश्री तथा विदुर भी चुप नही बैठेंगे। अवश्य भेजेंगे किसी को। कौन जाने, स्वयं ही अपना अनुरोध लेकर दौड़े चले आएँ!

पाण्डु ने वह स्थान त्यागने का निश्चय किया...

भीष्म का सन्देश लेकर जब विदुर वहाँ पहुँचे तो निकटवर्ती ग्राम के वनवासियों से उन्हें ज्ञात हुआ कि वे, पत्नियों सहित, कई दिन पूर्व किसी व्यापारी की बैलगाड़ी में बैठकर किसी अज्ञात दिशा में जा चुके हैं। अपनी खोज में असफल होकर निराश विदुर हस्तिनापुर लौट गये।

राज-प्रासाद में कई दिन भयावह शान्ति व्याप्त रही। सत्यवती तथा अम्बिका अम्बालिका के अश्रु-प्रवाह के बीच उनकी हृदय विदारक सिसकियाँ ही उस मौन को तोड़ने का साहस कर पाती थीं।

सत्यवती तथा भीष्म के आग्रह पर, विदुर ने अनेक दूत पाण्डु का पता लगाने के लिए भेजे... किन्तु वे सभी निराश होकर लौट आये। समय के साथ ही, हस्तिनापुर पाण्डु की अनुपस्थिति का अभ्यस्त हो चला।

कुठाराघात

आँखों पर बँधी हुई पट्टी प्रकाश की किरणों को भले ही रोक ले, यथार्थ दर्शन पर कितना ही अकुश लगा ले, सपनों के मार्ग में बाधा नहीं खड़ी कर पाती। वास्तविकता तो यह है कि सपने अधिकतर, अवचेतन अवस्था में, आँखें बन्द रहने पर ही आते हैं।

किन्तु गान्धारी का यथार्थ नितान्त विलक्षण था। उनकी आँखें तो बन्द ही रहती थीं, जाग्रत अवस्था में भी, खुले रहते थे तो बस उनके अनुमान चक्षु और कल्पना चक्षु, जो पट्टी के पीछे बन्द उनके विवश चक्षुओ से नितान्त भिन्न थे। वास्तविकता कुछ यह भी थी कि चक्षुओं की विवशता ने उनके आन्तरिक चक्षुओं को सीमाहीनता की स्थिति तक सक्रिय कर दिया था।

दिवा-स्वप्नों को गान्धारी के जीवन में एक विशेष स्थान मिल गया था। और दिवा स्वप्नों मे आ जुडी थी पति धृतराष्ट्र के जीवन की निराशा. उनकी महत्त्वाकांक्षा।

गान्धारी प्रसन्न थी। उनकी महत्त्वाकांक्षा फलीभूत होने का क्षण निकट आ रहा था, प्रतिदिन और निकट आता जा रहा था। जाने-अनजाने, चाहे-अनचाहे, उनका हाथ अपनी कुक्षि पर चला जाता था। वहाँ की हलचल उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षा का ही नहीं, अपने जीवित होने का... अपने जीवन की सार्थकता का बोध भी कराती रहती थी, वैसे ही, जैसे अनुकूल वर्षा सुखद भविष्य के प्रति आश्वस्त करती है। तब उनके दिवा स्वप्न और भी सक्रिय हो उठते थे। उनका मन आने वाले शिशु के साथ संवाद करने लगता था... और धीरे धीरे वे अपने गर्भ में पलते हुए शिशु की भाषा समझने लगी थी।

'कैसे हो पुत्र...!' उनकी पट्टी-बँधी आँखें शिशु को साकार देखने लगती थीं .अपनी ममता भरी दृष्टि से उसे दुलारते हुए। वे जानती थीं... पूर्णतया आश्वस्त थीं कि आने वाला शिशु पुत्र ही होगा। 'बहुत प्रतीक्षा करा ली पुत्र! अब तो तुम्हें गोद मे लेकर हृदय से लगाने के लिए व्याकुल हो रही हैं मेरी भुजाएँ। और कितनी प्रतीक्षा कराओगे?'

दूसरे ही क्षण उनका मन पुत्र की पीड़ा से द्रवित हो उठता था, 'कैसे घने अन्धकार में घिरे, बेड़ियों से बँधे, पड़े हो तुम! कैसे सहते हो इतनी यन्त्रणा? दोष मेरा ही है मेरे लाल! कितनी विवश हूँ मैं... कि जानते-समझते हुए भी तुम्हारी पीड़ा,

चुपचाप मात्र प्रतीक्षा कर रही हूँ। कुछ भी तो नहीं करती मैं... कुछ कर भी तो नहीं सकती। कितनी असहाय, कितनी निष्ठुर हूँ मैं कि पुत्र की यन्त्रणा पर कभी आँसू भी तो नहीं बहाती...' और उनका मन सचमुच ही आँसू बहाने के लिए उद्यत हो उठता था।

'प्रकृति के नियमों में तो हम सभी बँधे हैं...' वे समझ नहीं पाती थीं कि अपने शिशु को समझा रही हैं अथवा स्वयं अपने आपको, 'प्रकृति नौ मास की प्रतीक्षा तो कराती ही है... और पुत्र! तुम क्या जानो कि इस आशा भरी प्रतीक्षा से पहले भी मैंने कितनी लम्बी प्रतीक्षा की है! ... कितनी लम्बी, आशा-निराशा से भरी, प्रार्थनाओं में डूबी प्रतीक्षा! तुम्हारे लिए...' उनके होठों पर एक मुस्कान फैल जाती थी, जैसे वे अपने पुत्र को हथेलियों पर झुलाते हुए, उसकी मुस्कान देखकर मुग्ध हो रही हों।

'मेरे वश में होता तो क्या मैं अपना जीवन देकर भी तुम्हें मुक्त न कराती...! स्वयं अपनी प्रतीक्षा का अन्त करने के लिए भी...!' सहसा उन्हें लगता कि कहीं कोई भूल हो गयी उनसे, 'नहीं... जीवन देकर नहीं। मेरा जीवन ही न रहा तो उस अन्धकारपूर्ण गर्भ में तेरा पोषण कौन करेगा मेरे लाल? कैसा कठोर विधान है दैव का कि ऐसे समय में माँ अपने प्राण देकर भी अपने शिशु को मुक्त नहीं करा सकती...'

"क्या सोच रही हो गान्धारी...?" धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए उनका कन्धा छूकर पूछा तो सहसा उनकी तन्द्रा टूटी।

"कुछ भी तो नहीं स्वामी..." वे अभ्यस्त से स्वर मे बोल गयीं।

"कुछ भी नहीं...?"

"नहीं... ऐसा नहीं। ऐसे ही कुछ..."

"ऐसे ही?" धृतराष्ट्र ने मुस्कराते हुए कहा, "इतने दीर्घ सहवास के बाद भी, क्या तुम समझती हो कि तुम मुझसे कुछ छिपा सकती हो।"

"आपसे क्या छिपा है स्वामी...!" गान्धारी ने आत्म-समर्पण जैसी वाणी में कहा, "किन्तु सब कुछ जानते-बूझते हुए, प्रश्न क्यों कर रहे हैं?"

"तुम्हारी वाणी सुनने के लिए प्रिये? जानती हो न कि तुम्हारा स्वर ही तो है जिसके माध्यम से मैं देखता हूँ तुम्हें। जब तुम विचारों में खो जाती हो, अथवा किसी अन्य कारण से मौन हो जाती हो तो लगता है जैसे तुम कहीं दूर चली गयी हो... खो गयी हो।"

"स्वर तो हम दोनों के लिए ही सेतु है, स्वामी..." गान्धारी ने अपना हाथ बढ़ाकर पति का हाथ थाम लिया। "प्रकाश की किरणें बनकर मुझे आपके दर्शन कराता है।"

"यह प्रकाश क्या होता है, मैं क्या जानूँ...!' धृतराष्ट्र ने पराजित-से स्वर में कहा, "सुना तो बहुत है प्रकाश के विषय में। हाँ, तुम्हें तो पता होगा। यह प्रकाश क्या आँखों

पर बँधी पट्टी से भी दिखाई देता है?"

यह पहली बार नहीं था... न जाने कितनी बार पति के ऐसे बोध-प्रश्न गान्धारी को विचलित करते रहते थे। किन्तु अनजाने में, असावधानी से, कभी न-कभी उनसे कोई ऐसा शब्द निकल ही जाता था, जो धृतराष्ट्र को अपनी विवशता का भान करा देता था... नये क्रम से।

"तुमने बताया नहीं... उत्तर नहीं दिया मेरे प्रश्न का।" पति के स्वर में आग्रह पाकर गान्धारी को उत्तर देना पड़ा, "नहीं स्वामी! प्रकाश का मार्ग ही तो रोकती है पट्टी..."

"तब तो तुमने अच्छा नहीं किया गान्धारी..." कुछ सोचते हुए धृतराष्ट्र बोले, "और कुछ देखतीं न देखतीं, प्रकाश से नाता तोड़ने की क्या आवश्यकता थी?"

धृतराष्ट्र ने यह प्रश्न भी पहली बार नहीं किया था। यह जाना-पहचाना प्रश्न गान्धारी स्वयं से भी न जाने कितनी बार कर चुकी थीं।

और अब .. अब यह प्रश्न नये क्रम से उन्हें मथने लगा था। उनकी आँखों की पट्टी जो उनके स्वाभिमान एवं धर्म का प्रतीक बन चुकी थी, एक नये सन्दर्भ में नित नये प्रश्न चिह्न लगाते हुए उन्हें उत्तर ढूँढने के लिए विवश करने लगी थी, 'क्या तुम सचमुच अपने शिशु को नहीं देखना चाहोगी .? क्या तुम अपने शिशु को देखे बिना रह पाओगी? या कभी कभी चोरी-छिपे, नितान्त एकान्त में, उसका मुख देखती रहोगी?'

ऐसे व्याकुल क्षणों मे उनके मन की गहन कन्दराओं मे छिपा कोई चोर प्रश्न कर बैठता था, 'यह क्या कर डाला तूने, गान्धारी?'

मन में अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता था, 'कैसी माँ है तू . जिसमें अपने नवजात शिशु को देखने की ललक नहीं? चल छोड अपना हठ... बहुत निभा लिया पतिव्रता का धर्म।'

वहीं दूसरी ओर आत्मसम्मान सिर उठाता, 'नहीं गान्धारी, नहीं.. जो निर्णय ले लिया, वह ले लिया। व्रत से डिगाने के लिए प्रलोभन तो आते ही रहते हैं... नित नये रूप लेकर। डिगने न देना अपने आप को।'

अनेकानेक तर्क उठते रहते थे, दोनों ओर से। उलझन में गान्धारी के हाथ कभी अपनी पट्टी की गाँठ की ओर उठते तो कभी आकाश की ओर... और कभी अपनी कुक्षि की ओर, 'हे प्रभु, कैसी विडम्बना है यह! कुछ करो... मुक्ति का कोई तो द्वार दिखा दो।'

"क्या सोच रही हो गान्धारी..." पति के चिर-परिचित स्वर में गान्धारी को

चिर-परिचित उलाहना सुनाई दिया, "कहाँ हो तुम! बहुत देर से देखा नहीं तुम्हें।"

प्रश्न सुनकर उत्तर देते-देते गान्धारी सहसा ठिठक गयीं। तभी रेंगता-टटोलता हुआ सा धृतराष्ट्र का हाथ उनकी बाँह तक पहुँचा तो उसे अपने हाथ में लेकर गान्धारी चुपचाप अपनी नाभि के नीचे तक खींच ले गयीं।

"कैसा है...! क्या कहता है?" पति के स्वर में उन्होंने उनके होंठों पर थिरकती हुई मुस्कान देखी।

"विलम्ब से व्याकुल है..." गान्धारी ने अपने स्वर से धृतराष्ट्र को गुदगुदाते हुए कहा, "व्यग्र है, बाहर आने को।"

"तो आने दो न!" धृतराष्ट्र ने गान्धारी का हाथ खींचकर अपने वक्ष:स्थल से लगा लिया।

"समय से पहले? और फिर महाराज कहेंगे कि नियम विरुद्ध कभी भी, कुछ भी नहीं होना चाहिए," गान्धारी ने नाटकीय रोष में कहा।

"कैसा विचित्र विधान है गान्धारी...! हमारी सन्तान... हमारी रचना, और हमें ही एक अनन्त प्रतीक्षा करनी पड़ रही है, उसके आगमन की।" सहसा उनका स्वर ऐसे बदला जैसे उनके मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ गहरा उठी हों, "गान्धारी..."

"हाँ, स्वामी!" धृतराष्ट्र का वाक्य पूरा न होते देख गान्धारी ने कहा।

"गान्धारी...।" उनके मस्तक की रेखाएँ और भी गहराने लगी थीं, "पुत्र ही होगा न!"

"आपको सन्देह क्यों है स्वामी?"

"सम्भवत: इसलिए... कि तुम बहुत आश्वस्त हो," धृतराष्ट्र कहते कहते ऐसे चुप हुए जैसे स्वप्नों की डगर पर किसी कटु अनुभव की शिला से टकरा गये हो।

सहसा उन दोनों के बीच मौन ऐसे पसरता चला गया, जैसे अकारण ही रूठकर वे एक-दूसरे की ओर पीठ करके बैठ गये हों।

"किन्तु स्वामी, इतनी चिन्ता क्यों?" गान्धारी ने मौन का आवरण बीच से हटाते हुए कहा, "हमारी सन्तान, किसी भी रूप में आये.. हमारी ही होगी। और फिर शीघ्र ही हमारे इस असमंजस का हल भी निकल ही आएगा। वैद्यराज ने कहा था कि सातवाँ महीना प्रारम्भ होते ही वे गर्भ की परीक्षा करेंगे... और तब निश्चित रूप से बता भी सकेंगे कि आने वाला शिशु बालक होगा। अथवा..."

गान्धारी अपना वाक्य बीच में छोड़कर मौन हो गयीं।

"अथवा...!" धृतराष्ट्र के स्वर में गान्धारी को उनका रोष में तमतमाया हुआ मुख दिखाई दिया।

"इतने उद्विग्न न हों स्वामी... जो भाग्य में है..."

"भाग्य..." गान्धारी को पति के मुख पर घृणा स्पष्ट दिखाई दी। "भाग्य ने बहुत

सताया है मुझे, बहुत रुलाया है मुझे.. पहले ही बहुत अन्याय किया है मेरे साथ। मैं अब और भाग्य के आसरे नहीं रहना चाहता।"

और कोई विषय होता, और कोई समय होता, तो गान्धारी पति से समझाकर कहतीं, 'जो भाग्य में है उसको स्वीकार करने के अतिरिक्त विकल्प भी क्या है...' किन्तु गान्धारी जानती थीं कि आहत मन उपदेश नहीं सह पाता। उन्होंने धृतराष्ट्र का हाथ अपनी हथेलियों के बीच थामकर अपना सिर उनके कन्धे पर रख दिया। धृतराष्ट्र को लगा जैसे तपती देह पर शीतल फुहार आ पडी हो।

"जानती हो गान्धारी मुझे दो चिन्ताएँ दिन-रात..." सहसा कुछ याद करते हुए उन्होने अपने शब्द बदले, "दो चिन्ताएँ मुझे सोते-जागते सालती रहती हैं ."

दो क्षण गान्धारी की ओर से जिज्ञासा की प्रतीक्षा करने के बाद धृतराष्ट्र स्वय ही बोले, जाने अनजाने ही यह भूलते हुए कि पहले भी अनेक बार वे इन चिन्ताओ का उल्लेख गान्धारी से कर चुके है। "एक तो यह कि आने वाली सन्तान पुत्र ही हो और दूसरी यह कि वह बस स्वस्थ हो किसी भी दृष्टि से विकलाग न हो कम से कम मेरे जैसा चक्षुहीन न हो।"

गान्धारी देख सकती थी कि अपने वाक्य के अन्तिम चरण तक पहुँचते-पहुँचते धृतराष्ट्र थककर निढाल हो चुके थे, टूट चुके थे। गान्धारी को लगा जैसे धृतराष्ट्र अपने भाग्य से ही विनती चिरौरी करके, अपने दुर्भाग्य से लडने के लिए, एक बार फिर युद्ध क्षेत्र में जा डटे हो।

"जानती हो गान्धारी। इन दो चक्षुओ के अभाव में मात्र इन दो चक्षुओ के अभाव मे, क्या क्या सहना पडा मुझे? क्या नहीं सहा मैंने? किन्तु क्यों..? क्या इसमे मेरा कोई दोष था? क्या मैं अपनी असावधानीवश, इस ससार में शीघ्र प्रवेश करने की उत्कण्ठा मे, अपने चक्षु लाना भूल गया था? क्या जन्मान्ध होने का निर्णय किसी भी दृष्टि से मेरा था ? तो मेरे साथ यह विभेद क्यो? इन दो क्षुद्र चक्षुओं को छोडकर भला क्या नहीं है मुझमे? शक्ति, भुजाएँ, कुशाग्र बुद्धि, शास्त्रों का ज्ञान और... और "

ऐसी स्थिति मे गान्धारी को धृतराष्ट्र के अभिव्यक्ति के विस्फोट पर अकुश न लगाना ही हितकर लगता था।

गान्धारी ने मौन रहते हुए ही ऐसा विस्फोट पहले भी अनेक बार झेला था। उन्हें आद्योपान्त स्मरण थे वे सभी तर्क जो धृतराष्ट्र यदा कदा दुहराते रहते थे। गांधारी उन तर्कों की सामर्थ्य से भी परिचित थी और उनकी व्यर्थता से भी।

"तुम सुन रही हो न.. गान्धारी।" धृतराष्ट्र एक बार अपने भाग्य पर प्रलाप प्रारम्भ कर दें तो वे नयनहीन नहीं रह जाते थे उनकी आँखें देख भले ही न पाएँ, निरन्तर आँसू बहाकर अपने अस्तित्व का बोध कराती रहती थीं और उनका विलाप, उनके

स्वर में भी मुखरित होने लगता था।

"पल-प्रतिपल, पग-पग पर किसी से सहायता लेने की विवशता... बचपन में सखाओं का उपहास और गुरुजनों की दया... पता नहीं इनमें सबसे अधिक क्या चीरता था मेरे मन को!

"किन्तु मैंने हार नहीं मानी कभी अपने भाग्य से, घुटने नहीं टेके कभी निर्मम दुर्भाग्य के आगे। व्यायाम किया, प्रलोभनों से बचकर अपना स्वास्थ्य बनाया, गुरु के उपदेश को मन से ग्रहण करके, रात-बेरात निद्रा एवं विश्राम का लोभ त्यागकर, बारम्बार दुहराकर, हृदयंगम किया। वृद्धों एवं गुरुजनों का आदर किया, उनका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त किया, नीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का विशेष अध्ययन किया... सम्भवत: वंश की परम्परा के विषय में सबसे यह सुनकर कि एक दिन, इस राजकुल का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते, राज्य की बागडोर मुझे ही सँभालनी होगी। किन्तु भूल गया था मैं... क्यों नहीं बताया था किसी ने मुझे... क्यों बदल गयी वंश की परम्परा...? मेरे ये अभागे चक्षु मुझे ले डूबे... ये अँधेरे चक्षु मुझे गहन अन्धकार में ले डूबे..."

व्यथा जितनी गहन हो उतनी ही शक्ति हरने की क्षमता भी रखती है। अपने दुर्भाग्य का लेखा-जोखा करने बैठते तो धृतराष्ट्र शीघ्र ही थक जाते थे।

गान्धारी ने उनका हाथ अपने हाथों में लेकर स्नेह से दुलराते हुए चुपचाप अपने वक्ष पर रख लिया। धृतराष्ट्र को सहसा जैसे नयी शक्ति मिली, नयी ऊर्जा प्राप्त हुई। वे बोले, "जानती हो गान्धारी..." उनका स्वर बदल चुका था, जिसमें गान्धारी को उनके होठों पर सहसा आ बैठी मुस्कान दिखाई दे रही थी। "जब तुम आयीं तो मैंने सोचा था कि मेरे चक्षु आ गये हैं। मुझे वह सब मिल गया जो मैंने चाहा था... प्राप्त करना चाहा था। तुम हँसोगी यह सुनकर..."

गान्धारी पहले भी कई बार यह प्रसंग सुन चुकी थीं . दारुण पीड़ा के साथ, सारा हास्य, सारी मुस्कान भूलकर। "तुम हँसोगी गान्धारी... किन्तु मैंने तुम्हें अपनी कल्पना में नारी के रूप में नहीं, मात्र अपने चक्षुओं के रूप में रूपायित किया था। व्यक्ति को चक्षु बना देने का अर्थ जानती हो गान्धारी...? मैंने तुम्हें संसार के सबसे बहुमूल्य रत्न के रूप में देखा था।

"किन्तु तुम्हारी आँखों पर पट्टी की बात सुनकर बड़ा आघात पहुँचा था मुझे। मेरा मन हुआ था कि नोच फेंकूँ तुम्हारी पट्टी... और चीख़कर पूछूँ तुमसे कि मेरी अभागी आँखों पर भाग्य द्वारा बाँधी पट्टी ही क्या कम थी, जो मुझे अपने नव उपार्जित नयनों को भी अन्धकार की भेंट चढ़ाना होगा! मैंने सोचा था कि चीख़कर तुमसे कहूँगा कि क्या अधिकार था तुम्हें मेरे सपनों को इस निर्दयता के साथ रौंदने का! किन्तु मन में कहीं तुम्हारे लिए प्रेम का अंकुर भी फूटा था... श्रद्धा हुई थी तुम्हारे प्रति... कि

कौन होगा इस अधोमुखी द्वापर में जो पति के लिए इतना बड़ा बलिदान दे! जो पूर्णतया पति के प्रति समर्पित हो!"

इस साधुवाद पर गान्धारी का मन हर बार ही एक बड़ा-सा प्रश्न-चिह्न खड़ा कर देता था। क्या था वह कारण? वास्तविक कारण? अन्धकार में गान्धारी उस प्रश्न को पकड़कर परे ढकेलने के लिए व्यग्र हो उठती थीं। किस आवेग का परिणाम था वह प्रण? तात भीष्म की प्रतिज्ञा जैसा वह प्रण, जो न तो निर्वाह किये बनता था और न मुक्त होने की कोई राह ही बताता था।

"फिर मुझे अपने नेत्रों में ज्योति भरने की एक नयी राह सूझी थी... एकमात्र राह, कि पुत्र हो मेरा, जो कैसा भी हो... सकलांग हो। उसे वह सब न झेलना पड़े जो मैंने झेला था... एकान्त में रो-रोकर भाग्य से, परमात्मा से, लडते-झगडते हुए जो मैंने सहा था।"

कभी कभी वे भयावह स्वर मे कहने लगते थे, "और जाने मैंने तुम्हें कभी बताया अथवा नहीं, गान्धारी! कई बार मैंने बडे सच्चे मन से रो-रोकर प्रार्थना की थी, मृत्यु के देवता से... कि आकर मुक्ति दें मुझे, इस अभिशप्त जीवन से।"

पता था, सब पता था गान्धारी को। यह भी पता था कि वे सकलांग पुत्र ही नहीं चाहते, आगामी पीढी के ज्येष्ठ पुत्र के पिता होने का गौरव भी चाहते हैं। गान्धारी को पता था कि वे यदा कदा सोते से जागकर प्रार्थना करते रहते हैं कि उनके कुल को पहला पुत्र उनसे पहले ही कही पाण्डु न दे दे। उन्हे विश्वास था कि अपनी पीढ़ी मे ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी, मात्र नेत्र-हीनता के कारण सम्राट होने का जो गौरव उनसे छिन गया, वह उनके पुत्र को मिल सकता है बस.. बस यदि उससे पहले ही पाण्डु के कोई पुत्र न हो जाए। गान्धारी को कभी-कभी लगता था कि वे मन-ही-मन प्रार्थना करते होगे कि पाण्डु का पुत्र जितना विलम्ब से हो सके उतना विलम्ब से हो... अथवा होकर शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो.. या पाण्डु निवंशी ही रह जाए. कुन्ती तथा माद्री की कोख को पाला मार जाए।

ऐसे क्रूर कैसे हो गये धृतराष्ट्र ..!

विवाह के बाद, पति की बाते सुन सुनकर, प्रारम्भ मे उपजे प्रश्न का उत्तर समय ने स्वयं ही दे दिया। धीरे धीरे पति के क्षोभ का विष उनकी शिराओं में भी उतरता चला गया। पति की निरीहता और उससे जुड़ी अपनी विकलांगता में, अपने से छोटी महारानी कुन्ती के आगे अपनी स्थिति-हीनता का अनुभव उन्हें भी सालने लगा... उनकी विचारधारा को भी धृतराष्ट्र के सोच के साँचे में ढालने लगा।

एक बार स्वयं अपने मन के किसी कोने से उठता एक क्षीण स्वर सुना था उन्होने, 'ऐसी क्रूर न बनो गान्धारी... तुम ऐसा कैसे सोच सकती हो?'

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उस स्वर को अपना निर्णय सुना दिया था, 'और विकल्प

भी क्या है? अतीत में हुए अन्याय के परिमार्जन का और मार्ग भी क्या है?'

धृतराष्ट्र की प्रार्थना में कब उनका स्वर भी जुड़ गया, उन्हें पता ही नहीं चला, 'हे परमात्मा! पुत्र दो मुझे... सकलांग पुत्र... कुल का ज्येष्ठ पुत्र... चाहे जैसा भी... चाहे जैसे भी।'

और एक दिन अचानक समाचार आया था पाण्डु के दारुण रोग का... कि वे कभी पिता नहीं बन सकते... और यह कि उन्होंने संन्यास लेकर वन में ही रहने का निर्णय लिया है। हाहाकार मच गया था राजप्रासाद में। विदुर तो रो ही पड़े थे... और तभी गान्धारी को सुनाई पड़ा था धृतराष्ट्र का स्वर, 'हे प्रभु! यह क्या कर दिया तुमने! किस अपराध का दण्ड दिया मेरे पुण्यात्मा अनुज को?'

किन्तु उनके स्वर में गान्धारी ने स्पष्ट देखी थी धृतराष्ट्र के मुख पर परम सन्तोष की मुस्कान... 'किन्तु कैसे मुस्कराये होंगे ये! इस स्थिति में? वह भी विदुर भैया तथा अन्य सभासदों की उपस्थिति में?'

तो क्या उनके पति के पास कोई मुखौटा भी है... जो वे अपने मुख पर, कभी भी, बड़ी तत्परता एवं कुशलता के साथ लगा सकते हैं?

गान्धारी को लगा कि वह समय पति के स्वभाव को विश्लेषित करने का नहीं, एक दु:खद समाचार पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का है... ऐसा दु:खद समाचार जो गान्धारी एवं धृतराष्ट्र के मधुरतम स्वप्न को साकार करने जा रहा है। सुख की ताल पर थिरकते मन के साथ दु:खभरा गीत कैसे गाया जा सकता है?

तो क्या यही राजनीति का सर्व-प्रथम पाठ है...!

जो भी हो, गान्धारी को भी कुछ कहना आवश्यक लगा था, "क्या हो गया भैया पाण्डु को? क्या होगा बहन कुन्ती का, माद्री का! हे परमात्मा ऐसा दारुण दु:ख कभी न देना किसी नारी को।" और यह कहते-कहते स्वयं ही आश्चर्य हुआ था गान्धारी को कि उनकी आँखों से आँसू कैसे बह निकले! आँखों पर चढ़ी पट्टी गीली हो गयी। वे समझ नहीं पायीं कि यह दासियों के सामूहिक आर्त विलाप का प्रभाव था अथवा कुन्ती एवं माद्री के प्रति सहज संवेदना का?

"जानती हो गान्धारी..." उस रात एकान्त क्षणों में धृतराष्ट्र ने कहा था, "पाण्डु के अवकाश पर जाते समय जब पहली बार मैंने राजमुकुट पहना था... मेरे मन में द्वन्द्व चल रहा था। मैं प्रसन्न भी था... और चिन्तित भी।"

गान्धारी देख सकती थीं कि उस समय धृतराष्ट्र के मुख पर कोई मुखौटा नहीं था। "मैं समझौता नहीं कर पा रहा था उस विडम्बना से, जो राजमुकुट के वास्तविक अधिकारी को, कुछ समय के लिए राजमुकुट धारण करने की अनुमति दे रही थी।

किन्तु वह अल्पकालीन अधिकार भी मुझे महान उपलब्धि जैसा लग रहा था... और मैं निरन्तर अनसुना करता रहा मन के किसी कोने से पुकारते उस स्वर को जो मुझे विद्रोह करने के लिए प्रेरित कर रहा था.. और आज स्वयं ही... तुम सुन रही हो न, गान्धारी?"

"हाँ स्वामी..." गान्धारी ने कहा, "सम्भवतः इसीलिए यह कहा गया है कि हर बात का एक समय होता है। धैर्य धारण किये रहना ही सर्वोत्तम नीति है।"

"नीति..." धृतराष्ट्र जैसे शब्द को चबाते हुए बोले। गान्धारी ने देखा, उनके मुख पर विक्षोभ उभर आया था। "इस शब्द ने ही तो छला है मुझे... नीति का आश्रय लेकर ही विदुर ने निरस्त्र कर दिया मुझे। नीति तो वह लचीला विचार है जिसे, जो चाहे, जिधर चाहे मोड ले।"

"भूल जाएँ स्वामी..." गान्धारी को विषय-परिवर्तन ही श्रेयस्कर लगा। "अब तो मिल गया अधिकार, वास्तविक अधिकारी को!"

"हाँ गान्धारी..." धृतराष्ट्र ने गान्धारी का मस्तक अपने वक्षःस्थल में छिपा लिया। "कितनी उद्विग्न, अशान्त प्रतीक्षा के बाद!"

उस रात धृतराष्ट्र ने जाना कि वास्तविक, निश्चिन्त निद्रा क्या होती है।

राजप्रासाद में प्रसन्नता की लहर दौड गयी थी.. वैद्यराज ने महारानी गान्धारी का परीक्षण करके पूरे विश्वास के साथ कहा था कि उनके गर्भ से पुत्र ही होगा। महाराज धृतराष्ट्र का मुख आश्वस्ति एवं उल्लास से दमक रहा था और महारानी गान्धारी के अधरों पर मुस्कान थिरक रही थी। दासियाँ उन्हें घेरकर मंगल गान गा रही थीं और मन्त्री, सभासद आदि धृतराष्ट्र के पास जा-जाकर बधाई एवं शुभकामनाएँ दे रहे थे।

सब ओर उत्सव जैसा वातावरण था।

दिन ढलते ही, एकान्त पाकर धृतराष्ट्र ने गान्धारी को हृदय से लगाते हुए कहा, "जानती हो गान्धारी, जीवनपथ पर मेरा हाथ थामते समय जब तुमने अपने नयनों की ज्योति को तिलांजलि दी थी... तब मैं अभिभूत रह गया था, तुम्हारी ओर से ऐसा विलक्षण उपहार पाकर.. ऐसा विलक्षण उपहार जिसकी संसार में कहीं तुलना नहीं हो सकती। किन्तु आज जो उपहार तुमने मुझे दिया है, वह उससे भी कहीं बढ़कर है। तुमने मुझे अपना क्रीत दास बना लिया है। अब तो बस..."

"अब क्या स्वामी...।"

"अब तो बस एक ही प्रार्थना है विधाता से, कि वह सकलांग हो.. कम-से-कम दृष्टिहीन न हो।" धृतराष्ट्र फिर अधीर हो उठे।

"स्वामी... हम प्रार्थना करेंगे, तो विधाता क्यों नहीं सुनेगा! भला हमने ऐसा क्या

अपराध किया है...?" कहते-कहते गान्धारी स्वयं ही अपने शब्दों को, शब्दों की सत्यता को तौलने लगीं।

"अपराध की न कहो गान्धारी... मैंने ही कौन-सा अपराध किया था जो..." गान्धारी देख सकती थीं कि धृतराष्ट्र की आँखें छलकने लगी हैं। कैसी विचित्र बात है...! नयन नहीं भी हैं, किन्तु हैं भी। दृष्टि के लिए नहीं हैं, किन्तु जल बहाने के लिए हैं।

"स्वामी..." गान्धारी ने आँचल से उनके आँसू पोंछते हुए कहा, "अब तक के मिले सभी संकेत शुभ हैं... आप धैर्य न छोड़ें..."

"संकेत तो शुभ हैं... किन्तु आजन्म आहत मेरा मन नयी-नयी शंकाएँ ढूँढ़ लेता है। कौन जाने ये चिन्ताएँ हर पिता को होती हों! कैसी विचित्र बात है गान्धारी... जब तक संतान होने की स्थिति नहीं आयी थी, मैं मात्र यह प्रार्थना करता था कि हे प्रभु! मुझे पुत्र दो। और जब सन्तान होने का संकेत मिला तो मैं प्रार्थना कर रहा हूँ कि वह सकलांग हो, स्वस्थ हो... और कल मैं क्या प्रार्थना करूँगा उसका भी आभास होने लगा है मुझे... आभास क्या, मैं प्रार्थना करने लगा हूँ उसकी दीर्घायु के लिए। कैसा भिखारी होता है मानव मन! सदैव माँगता ही रहता है.. बस अपने लिए।"

"बस इतना महाराज...!"

"और क्या गान्धारी? परमात्मा इतना ही मेरी झोली में डाल दे तो मैं और कुछ नहीं माँगूँगा..."

"मैं तो माँगूँगी..." गान्धारी ने इतराते हुए कहा।

"तनिक मैं भी तो सुनूँ.." गान्धारी ने देखा, धृतराष्ट्र के नयन चंचल हो उठे हैं।

"कि हमारा पुत्र गुणी हो, विद्वान एवं पराक्रमी हो... ऐसा कि उस जैसा सम्राट पाकर हस्तिनापुर गर्व करे..." गान्धारी ऐसे बोलती चली गयीं जैसे भविष्य उनके सम्मुख साकार होता चला जा रहा हो।

"तुमने तो मेरे मन को वाणी दे दी, गान्धारी..." धृतराष्ट्र ने गद्गद स्वर में कहा, "मैंने कभी तुमसे कहा नहीं गान्धारी, पर हस्तिनापुर का राज्य मैं स्वयं अपने लिए नहीं चाहता था... वास्तव में अपने पुत्र के लिए... मेरा तात्पर्य है, अपने लिए बस इस कारण चाहता था कि मेरा पुत्र... मेरा सकलांग पुत्र, चक्षुधारी पुत्र, हस्तिनापुर का राज्य पा सके।

"तुम सुन रही हो न, गांधारी!" धृतराष्ट्र ने गान्धारी को मौन पाकर समझा जैसे वे किसी अन्य दिशा में देख रही हों। "बिना चक्षुओं के मिला हुआ यह सान्त्वना पुरस्कार-जैसा राज्य, सपनों को साकार करके भी मुझे व्यथित ही करता रहा। अनेक प्रकार से भयभीत करता रहा। जैसे पता नहीं, कब लौट आये पाण्डु और कब छिन जाए यह राज्य...? अथवा जब मुझे मिलना ही था, तो समय रहते क्यों नहीं मिला.

..? और यह भी कि घोर अन्धकार में टटोलते हुए मैं क्या समझूँगा... और क्या कर लूँगा? लोग कहाँ तक झेलेंगे एक विकलांग का शासन...?"

"स्वामी..." गान्धारी ने टोकते हुए कहा, "कौन कहेगा आपको विकलांग? आप जैसी कुशाग्र बुद्धि और दूरदृष्टि भला किसके पास होगी?"

"मैं जानता हूँ गान्धारी..." धृतराष्ट्र ने कहा, "यह तुम नहीं, तुम्हारा प्रेम बोल रहा है। सम्भव है कुछ सत्य भी हो तुम्हारे कथन में, किन्तु कितने लोग हैं जो इसका मर्म समझ सकें? लोगों की दृष्टि तो काया पर ही अटककर रह जाती है... विशेषतया तब, जब काया में कोई दोष हो। ऐसा भयानक... मुख पर चक्षुहीनता जैसा भयानक दोष..."

कक्ष में घड़ी भर सन्नाटा गूँजता रहा। दोनों को ही नहीं सूझ रहा था कि क्या कहें।

"जानती हो गान्धारी..." सहसा धृतराष्ट्र ने ही मौन तोड़ा, "उससे भी बढ़कर मुझे एक भय व्यथित करता रहता था... कि कहीं मुझसे पहले पाण्डु के पुत्र न हो जाए। मैं प्रार्थना करता था... मन ही मन... रो-रोकर परमात्मा से माँगता रहता था, कि हमारे कुरुवंश की आगामी पीढ़ी का ज्येष्ठ पुत्र, मेरा पुत्र हो, क्योंकि उसी स्थिति में मेरा पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी बन सकता था... वह सब पा सकता था, जिससे मुझे वंचित कर दिया गया।"

"किन्तु अब तो..." गान्धारी का वाक्य अधूरा ही रह गया।

"किन्तु अब... अब मेरे सारे संकट दूर कर दिये तुमने। तुमने मुझे धन्य कर दिया गान्धारी..:" गान्धारी ने देखा कि उल्लास की आभा धृतराष्ट्र के मुख से फूटी पड़ रही है। "और अब तो कोई संकट ही नहीं रहा। हस्तिनापुर राज्य का एकमात्र अधिकारी होगा हमारा पुत्र..."

"हमारे पुत्र..." गान्धारी ने किलकते हुए धृतराष्ट्र का वाक्य बीच में ही काटा।

"सच गान्धारी...!" धृतराष्ट्र ने क्षण भर रुकते हुए कहा। वे गान्धारी का सलज्ज मुस्कान से दमकता मुखमण्डल देखकर प्रेम-विह्वल हो गये, "गान्धारी, तुमने मुझे कृतार्थ कर दिया... संसार का सारा सुख दे दिया।"

वे उत्तेजना में रात भर, हवा मे उड़ते हुए-से, कभी सोए तो कभी जागते रहे. . कल्पनाओं के महल सजाते हुए अनायास ही रह-रहकर मुस्कराते रहे।

पाण्डु को वृक्ष की छाया तले, चबूतरे पर बैठाकर माद्री ने कोमल स्वर में पूछा, "यहाँ कोई असुविधा तो नहीं है स्वामी! आज्ञा हो तो मैं कुछ फल-मूल ले आऊँ?"

"मुझे कैसी असुविधा, माद्री!" पाण्डु ने आँखें मूँदकर वृक्ष के तने से पीठ

टिकाते हुए कहा, "तुम सबको असुविधाएँ बाँटकर मेरे पास कोई असुविधा भला कैसे बचती!"

"फिर वही बात..." पत्नी ने उन्हें बरजते हुए कहा, "तो मैं नहीं जाती।"

"अच्छा, नहीं कहूँगा..." पाण्डु ने परास्त स्वर में कहा, "तुम हो आओ। वह काम भी तो आवश्यक है।"

माद्री जाते-जाते स्नेहपूर्वक उनके केश सहलाती गयीं... ऐसे, जैसे किसी शिशु को दुलार रही हों।

शिशु...! पाण्डु के सोच को एक नयी दिशा मिली। शरीर से शिथिल और मन से टूटकर वे शिशु ही तो बनकर रह गये हैं। वे... हस्तिनापुर-नरेश, महाबलशाली योद्धा, शब्द-वेधी धनुर्धर...

शिशु...! उन पत्नियों के लिए, जिन्हें वे मातृत्व का सुख नहीं दे पाएँगे.. कभी नहीं दे पाएँगे। मातृत्व ही क्या, कभी पति का सुख भी नहीं दे पाएँगे।

उन्होंने अपना उत्तरीय उठाकर धीरे से अपने अश्रु पोंछे। कैसे ढीठ होते हैं ये अश्रु, बन्द नेत्रों को ठेलकर भी अपनी राह बना ही लेते हैं। फिर क्या लाभ नयन मूँदने का!

पाण्डु ने अपने नेत्र खोल दिये... उनकी दृष्टि अपनी पर्णकुटी पर पड़ी। ठीक वैसी ही, जैसी किन्दम मुनि की थी। उन्होंने जान-बूझकर, यत्न करके, अपनी कुटी ठीक वैसी ही बनवायी थी... यह सोचकर कि वह उन्हें निरन्तर अपने पाप का स्मरण कराती रहेगी। वैसे भी, क्या वे कभी भूल सकते थे अपने उस विवेकहीन कृत्य को, जिसने जीवन ही बदल दिया उनका। एक बल-वैभव से सम्पन्न शासक को एक अशक्त, अनाम; ग्रामवासी कृषक बना दिया।

सभी मन्त्रियों, सेवकों आदि को वापस हस्तिनापुर भेज कर, पाण्डु ने अपना वह अवकाश-शिविर त्याग दिया था। उनका मन तो था कि वे वहीं, किन्दम मुनि के आश्रम में रहकर, प्रायश्चित के नाम पर, किन्दम मुनि की तरह ही ग्राम-वासियों की सेवा में शेष जीवन बिताएँ... किन्तु उन्हें भय था कि हस्तिनापुर से सभी सम्बन्धी .. तातश्री भीष्म, भ्राताश्री विदुर आदि, दादीश्री एवं माताश्री का सन्देश ले कर, आ जाएँगे... और उनके निश्चय को नकारते हुए, उन्हें लौटा ले जाने का आग्रह करेंगे। पाण्डु का मन इस स्थिति के लिए तैयार नहीं था। उन्होंने सच्चे मन से, प्रायश्चित के नाम पर, राज्य त्यागने का जो निर्णय लिया था... उससे वे विमुख नहीं होना चाहते थे।

अपनी हार्दिक इच्छा के विपरीत, स्थान बदलने के पूर्व, उन्होंने निर्णय लिया कि

वे किसी को अपने गन्तव्य के विषय में कुछ बताएँगे भी नहीं। और बताते भी क्या, संसार से विरक्त होकर पलायन करने वाले को स्वयं ही कहाँ पता होता है कि वह कहाँ जाएगा! वे निकल पड़े... कि पाँव जहाँ ले जाएँगे, वहीं पहुँचकर वे अपना ठिकाना बना लेंगे।

... और, उस समय तो, उनके पाँव भी अशक्त थे। उन्हें स्थान परिवर्तन के लिए किसी की सहायता प्राप्त करना आवश्यक था। उन्होंने व्यापार के लिए आती-जाती बैलगाड़ी द्वारा कहीं निकलने की योजना बनायी। जाने कितने प्रहर.. अथवा कितने दिन यात्रा करते हुए सहसा उन्होंने एक स्थान पर उतरने का अनुरोध किया। गाड़ी चालक को आश्चर्य हुआ, "अरे यहाँ कहाँ? यहाँ तो पास में कोई गाँव भी नहीं है, भैया!"

किन्तु संसार से, अपने सम्बन्धियों से, भागने की उनकी अपनी एक योजना थी, एक रणनीति। वे आग्रह करके उस अनाम-निर्जन स्थान पर ही उतरे। दो प्रहर बाद उन्हें एक और बैलगाड़ी मिली... लगभग विपरीत दिशा में ईशान कोण की ओर जाती हुई। उसका सहयोग लेकर, वे दस-बारह घडी चलकर, पुनः एक अज्ञात स्थान पर उतर पड़े.. बाद में उन्हें ज्ञात हुआ कि वह स्थान, गन्धमादन है। वहाँ दो दिन व्यतीत करने के बाद, एक अन्य दिशा में जाते वाहन का सहयोग लेकर, वे भाग्य के भरोसे चल पड़े। पाण्डु के मन में अपने गंतव्य को लेकर कोई चिन्ता नहीं थी। उन्हें बस यह ज्ञात था कि किसी अज्ञात स्थान में जाकर, नये सिरे से, जन-साधारण की भाँति उन्हें अपना जीवन प्रारम्भ करना है... फिर क्या अन्तर पड़ता है कि उस स्थान का नाम क्या है अथवा वहाँ क्या है, क्या नहीं है!

इस प्रकार शतश्रृंग के एक छोटे से ग्राम में, एक अनाम जन-साधारण की भाँति पहुँच कर, पाण्डु ने अपना नया जीवन प्रारम्भ किया। कुन्ती तथा माद्री के तन पर अनेक आभूषण थे जिनसे उन्हें कुछ अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कर पाने का विश्वास था। शतश्रृंग में उन्होंने कुछ भूमि प्राप्त की और कुछ भूमिहीन कृषकों के सहयोग से जीवन-यापन के लिए अन्न उपजाने की व्यवस्था की। स्वयं अपने ऊपर उन्होंने ग्रामीण बालक-बालिकाओं को विद्या-दान देने का भार लिया... ठीक वैसे ही, जैसे सम्भवतः किन्दम मुनि करते रहे होंगे। यह पाण्डु की दृष्टि में प्रायश्चित भी था और.. दिवंगत मुनि के प्रति श्रद्धांजलि भी।

पाण्डु अपना शेष समय प्रार्थना, पूजन एवं ध्यान में लगाते थे... कि कहीं अतीत की स्मृतियाँ मन को विचलित न करें... कि अज्ञानतावश किया हुआ उनका दुष्कर्म उन्हें प्रताड़ित न करता रहे... कि कहीं पत्नियों एवं परिवार के प्रति उत्तरदायित्व की चिन्ता उन्हें विक्षिप्त न कर दे।

फिर भी, सारे मानसिक सुरक्षा-कवच वेधती हुई दुश्चिन्ताएँ समय-असमय

आकर पाण्डु का जीवन दूभर करती ही रहती थीं। मन सारी प्रार्थनाओं, साधनाओं एवं वर्जनाओं को नकारता हुआ, देह-जनित भौतिक सुखों की मरीचिका में भटकने लगता था। जब-तब, उनका मन सारे अनुशासन, सारे बन्धन तोड़ता हुआ, उन्हें ललकारता हुआ-सा व्यंग्य करने लगता था, 'मुझे बाँधोगे...? कैसे बाँधोगे? प्रयत्न करके तो देखो।'

अपने नये जीवन-क्रम में भी पाण्डु की दुविधा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही थी। किसी न किसी बहाने कोई ऐसी स्थिति आ ही जाती थी जो उनके मन को उद्वेलित कर दे। उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए आये हुए बच्चे कभी-न-कभी कुन्ती तथा माद्री के सम्पर्क में भी आते ही थे... कभी जल पीने के लिए, तो कभी गिरकर रोने के कारण... पाण्डु को उन बच्चों के प्रति पत्नियों की ममता-भरी दृष्टि भी अपनी विवशता का स्मरण करा बैठती थी। कभी कुन्ती तथा माद्री से मिलने अथवा उनसे कोई परामर्श लेने, कोई ग्रामीण महिला आती, तो पाण्डु को भय रहता कि वह अवश्य ही उनकी सन्तानहीनता के विषय में चर्चा करेगी... कोई व्रत-उपवास करने का परामर्श देगी अथवा किसी महात्मा या वैद्य के पास ले जाने का आग्रह करेगी।

बारम्बार पाण्डु को लगता कि वे पत्नियों के प्रति अन्याय कर रहे हैं... उनका मन होता कि वे पत्नियों को अपने से कहीं दूर भेज पाएँ, तो सम्भवत: वे नवांकुर की भाँति अपना जीवन प्रारम्भ कर सकें... किन्तु वे यह भी जानते थे कि, दूर रहकर भी, कुन्ती तथा माद्री के लिए कोई सुखमय जीवन प्रारम्भ करना सम्भव नहीं होगा। फिर भी, उन्हें लगता था, उनसे दूर रहकर, विधवाओं जैसा जीवन बिताना उनके लिए सम्भवत: उतना कठिन न हो, जितना दिन-रात, अपनी इच्छाओं का दमन करके, एक असमर्थ पति के साथ रहना।

दूसरी ओर, स्वयं पाण्डु पत्नियों के इतने आश्रित हो गये थे कि उनके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। 'तो जीवित रहना ही भला क्या आवश्यक है?' उन्होंने यदा कदा अपने आप से यह प्रश्न भी किया था। किन्तु जीवन की विडम्बना, कि बड़े से बड़ा दु:ख उठाकर भी व्यक्ति जीवन से मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाता... कोई न कोई बहाना उसे जीवन से चिपकाये रखता है। अन्य बहानों में, पाण्डु को किन्दम मुनि का अधूरा कार्य भी जीवित रहने की प्रेरणा देता था।

दिन जैसे-तैसे बिताकर, पाण्डु को प्रत्येक रात्रि आत्म-प्रतारणा का नया दंश दे जाती थी। छोटी-सी कुटिया में, दो रूपवान तरुणी पत्नियों के साथ, धर्म एवं ज्ञान-चर्चा में समय बिताना उन्हें असम्भव एवं अप्राकृतिक प्रतीत होता था। वे अकारण ही पत्नियों से आँखें चुराते... अथवा, स्मरण करके, किसी ऐसे प्रसंग पर चर्चा ले बैठते जो स्वयं उन्हें ही अनावश्यक लगती। देर रात तक आँखें मूँदे हुए वे निद्रा

से आँख-मिचौली खेलते रहते, बारम्बार, बड़े भय के साथ, यह सोचते हुए कि कहीं वे दोनों भी कुछ ऐसा ही नाटक न कर रही हों!

इस मनोदशा में, कई बार, पाण्डु को अपनी माताओं – अम्बिका तथा अम्बालिका – का स्मरण भी हुआ, जो बिना किसी सन्तान के, यौवन काल में ही वैधव्य को प्राप्त हुई थीं। कैसे काटे होंगे उन्होंने अपने दिन! जैसे-तैसे काटे ही थे... सम्भवत: उनके साथ रहकर कुन्ती तथा माद्री भी सन्तोष करना सीख ही लें। या... कौन जाने, दादीश्री इन दोनों के लिए भी नियोग-जैसी कोई व्यवस्था करा दें। दो एक शिशु पाकर, अच्छा अथवा बुरा, इनके जीवन को भी, सम्भवत: कोई अर्थ मिल जाए।

पाण्डु को लगा... उन्हें एक मार्ग मिल गया। जो भी हो, पत्नियों को इस प्रकार यन्त्रणा भरा जीवन देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं।

... और एक दिन, रात्रि के अन्धकार में, पत्नियों को अपने हृदय से लगाकर, अश्रुओं से उनका मस्तक भिगोते हुए, पाण्डु ने गम्भीर वाणी में अपने मन की बात कह डाली। किन्तु, जैसा उन्हें भय था, अश्रुओं की त्रिवेणी के बीच उन्हें पत्नियों का अस्वीकार ही सुनने को मिला। कुन्ती तथा माद्री दोनों ने ही, सम्भवत: एक-दूसरे की उपस्थिति से बल पाकर, जीवन-पर्यन्त उनके साथ ही रहने का निश्चय दुहराया।

उनका अस्वीकार सुनकर पाण्डु को मन में कहीं प्रसन्नता का आभास भी हुआ .किन्तु वह क्षणिक प्रसन्नता उन्हें अपने निश्चय से डिगा नहीं पायी। इस बीच एक और विकल्प पर उनका ध्यान गया... नियोग, यदि दादीश्री द्वारा हस्तिनापुर में सम्भव है... तो यहाँ पर क्यों नहीं? उन्होंने इस विषय पर पत्नियों से अलग-अलग, अकेले में चर्चा करने का निश्चय किया। अकेले बात करने के लिए, आयु के नाते, पहले उनका ध्यान कुन्ती पर गया।

विस्तृत भूमिका बनाते हुए, अपने मन की व्यथा बताकर पाण्डु ने कुन्ती से अपनी व्यथा कह सुनायी.. इस आग्रह के साथ, कि उन्हें अपना वंशधर चाहिए... और नियोग द्वारा सन्तान देकर कुन्ती को अपने पति पर यह उपकार करना ही चाहिए। किन्तु नियोग के प्रस्ताव को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार करते हुए... कुन्ती ने, वंशधर देने के नाम पर, अपने पति पर एक विचित्र रहस्य उजागर किया –

"स्वामी! लगभग छह वर्ष पूर्व, मेरे पिताश्री के पास एक बार महात्मा दुर्वासा आये थे। उन दिनों वे नि:सन्तान दम्पतियों की सहायतार्थ कोई यज्ञ कर रहे थे, जिसका अन्तिम चरण उन्होंने हमारे यहाँ रहकर ही पूरा किया था। उन दिनों, पिताश्री की आज्ञा से, मैंने उस यज्ञ में मुनिवर की सहायता की थी। और मेरी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने मुझे एक मन्त्र दिया था..."

"कैसा मन्त्र?" पाण्डु का कौतूहल बढ़ा।

"जिसके द्वारा कोई भी नि:सन्तान नारी किसी देवता के आशीर्वाद-स्वरूप

सन्तान पा सकती है..."

"कैसे...?"

"यह तो मुनि दुर्वासा का अपना रहस्य है। किन्तु उसमें किसी पर-पुरुष की छाया भी बीच में नहीं आती।"

"तो... तो कुन्ती..." पाण्डु की उत्सुकता बढ़ती जा रही थी, "तुमने इतना विलम्ब क्यों किया? मुझे इतने समय तक निःसन्तान क्यों रखा?"

"मैं सोच रही थी..." कुन्ती कुछ कहते-कहते हिचकीं। "किन्तु उसके लिए हमें मुनि दुर्वासा के पास चलना होगा... अथवा..."

"अथवा?" पाण्डु व्यग्र थे।

"अथवा उनके किसी आश्रम का पता लगाना होगा... ऐसे आश्रम का, जहाँ ऐसे उपचार की व्यवस्था हो।"

"लगाऊँगा, मैं पता लगाऊँगा..." पाण्डु के स्वर में निश्चय भी था और अधैर्य भी।

तीन दिन की लम्बी खोज के पश्चात्, पाण्डु को महात्मा दुर्वासा के एक आश्रम का पता मिला। वे बड़ी तत्परता के साथ अपनी पाठशाला का कार्यभार माद्री को सौंपकर, कुन्ती के साथ यात्रा पर निकल पड़े।

आश्रम में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। संयोग था कि कुन्ती के लिए 'उपयुक्त दिन' भी उन्हें शीघ्र ही मिल गया... आश्रम में ही उनके ठहरने की व्यवस्था भी हो गयी। पाण्डु सारी व्यवस्था से चमत्कृत एवं सन्तुष्ट दिखे।

छः दिन की प्रतीक्षा के बाद, वह घड़ी भी आ गयी जब आश्रम के प्रमुख चिकित्सक ने पाण्डु तथा कुन्ती से सन्तान-विषयक प्रश्न किये।

"कैसी सन्तान चाहते हैं आप...?"

वे दोनों आपस में इस विषय पर चर्चा कर चुके थे और उत्तर के लिए तत्पर थे। "धर्मात्मा, बुद्धिमान, पराक्रमी तथा सरल स्वभाव वाला..." पाण्डु ने स्पष्ट शब्दों में कहा।

कुछ ही समय में कुन्ती उपचार गृह में पहुँच गयीं... वही, पूर्व-परिचित वातावरण। उनके कानों में दूर से आता हुआ-सा स्वर सुनाई पड़ा, "आवाहन करो बालिके... धर्मराज का..."

कुन्ती पर सम्मोहन छाता जा रहा था। यदि उन्हें पहले से ही सब कुछ ज्ञात न होता, तो सम्भवतः वह सब उन पर मात्र स्वप्न की भाँति ही बीत जाता।

पाण्डु के लिए यह एक विचित्र अनुभव था... कुछ रहस्यमय और कुछ बुद्धि एवं कल्पना से परे। अध्यात्म एवं परा-विद्या का विलक्षण समायोग... स्वप्नवत्...

आश्रम के प्रमुख चिकित्सक ने उन्हें चार दिन तक निरीक्षण में रखा... और

सन्तुष्ट होकर अपने घर लौटने की अनुमति प्रदान कर दी। साथ ही, शतशृंग के निकटवर्ती एक ग्राम में, एक वैद्य का पता भी दिया जिनके पास, आवश्यकता पड़ने पर, गर्भ सम्बन्धी उपचार अथवा परामर्श के लिए कुन्ती जा सकती थीं।

लगभग बीस दिन यात्रा एवं उपचार में बिताकर पाण्डु कुन्ती-सहित सफल-मनोरथ होकर शतशृंग लौटे। निरन्तर पति एवं कुन्ती के साथ रहने की अभ्यस्त माद्री के लिए वह एकान्तवास असह्य हो चला था... वह घबरा उठी थीं, और न जाने क्या करतीं यदि प्रतिवासी महिलाओं तथा पाण्डु के नन्हे-मुन्ने छात्रों ने उनका साथ न दिया होता। फिर भी, उन्हें पति की चिन्ता तो थी ही... और जीजी के बिना भी उन्हें कभी-कभी सब कुछ सूना लगने लगता था। उनको आया देख वे, दोनों से गले लगकर, बड़ी देर तक हँस-हँसकर रोती रहीं... और जब उन्होंने कुन्ती से वह शुभ-समाचार सुना तो आश्चर्य एवं हर्ष में उनके नेत्र फैले रह गये...

"अरे जीजी..." माद्री ने चहकते हुए कहा, "हमारे यहाँ एक नन्हा-सा शिशु आएगा! कब आएगा...? जल्दी करो न।"

"अरे पगली..." कुन्ती ने सलज्ज मुस्कान के साथ, गम्भीर स्वर में कहा, "समय की गति में भला कौन हस्तक्षेप कर सकता है? बस प्रार्थना यह करो कि वह स्वस्थ हो, दीर्घायु प्राप्त करे और.. धर्म के मार्ग पर चले।"

"वह सब तो होगा ही..." माद्री ने मचलते हुए कहा, "किन्तु एक बात मैं अभी से कहे देती हूँ..."

"क्या !" कुन्ती ने प्रश्न दृष्टि माद्री की ओर उठा दी।

"वह यह . कि तुम्हारे गर्भ में पल रहा यह शिशु मेरा होगा।"

"तेरा ही होगा... पगली।" कुन्ती ने मृदु हास्य बिखेरते हुए माद्री का गाल थपथपाया, "किन्तु यह तेरा मेरा करना कब से सीख लिया तूने?"

माद्री निरुत्तर होकर मुस्कराती हुई कुन्ती से लिपट गयीं।

"अभी तो बस..." कुन्ती ने सहसा गम्भीर होते हुए कहा, "परमात्मा से यह प्रार्थना कर कि हमारा शिशु स्वस्थ हो, दीर्घायु प्राप्त करे..."

सुनकर माद्री सहसा विमनस्क हो गयीं...

"दीदी... परमात्मा हमारे प्रति इतना कठोर क्यों हो गया?" कहते-कहते उनकी आँखे छलक उठीं।

"जो हो चुका उसके लिए उसे दोष दूँ..." कुन्ती ने अपने आँचल से माद्री के नेत्र पोंछते हुए कहा, "अथवा जो होने वाला है उसके लिए प्रार्थना करूँ, उसका आभार मानूँ। मैं स्वयं नहीं समझ पाती, माद्री। कभी-कभी लगता है ज्ञानी-जन सत्य ही कह गये हैं, कि हम सब उसके हाथ के खिलौने भर हैं।"

"अच्छा, अच्छा..." माद्री ने सहसा चहकते हुए कहा, "ऐसा भावुक होने की कोई आवश्यकता नहीं। ज्ञानी-जन यह भी तो कह गये हैं कि इस अवस्था में तुम्हें प्रसन्न रहना चाहिए... बहुत प्रसन्न।"

निश्चित समय पर कुन्ती ने एक स्वस्थ, सुन्दर बालक को जन्म दिया। पाण्डु ने अपने दैनिक ध्यान की अवधि बढ़ाकर उस दिन स्वयं अपने मन से बड़ी देर तक वार्तालाप किया। कुन्ती के मुख पर श्रम-भरी, सन्तोष की मुस्कान थी... और माद्री को पंख लग गये थे। वह चहकती फिर रही थीं।

"अरे उठिए न!" उन्होंने पाण्डु को सिद्धासन की मुद्रा भंग करने के लिए विवश करते हुए कहा, "स्वामी, देखिए तो... कैसा सुन्दर, नन्हा सा शिशु आया है हमारे घर!"

पाण्डु ने प्रसूतिगृह में प्रवेश करके मुस्कराते हुए कुन्ती का मस्तक सहलाया, "प्रसन्न हो ...!"

"यह भी कोई प्रश्न हुआ स्वामी!" माद्री चहक उठीं, "हम सब प्रसन्न हैं... बहुत प्रसन्न हैं।" उन्होंने शिशु को सावधानी से उठाकर पाण्डु की हथेलियों पर रख दिया।

धीरे-धीरे हिलते-डुलते उस कोमल मांस-पिण्ड को अपने हृदय के पास पाकर पाण्डु पुनः अपने मन के प्रश्नों में उलझ गये। किन्तु... जैसे उनके मन ने ही कहा, 'प्रश्न अपने स्थान पर, और जीवन की गति अपने स्थान पर... स्वागत करो पाण्डु, जीवन के इस नन्हे अंकुर का।' ... और पाण्डु ने अपना मस्तक झुकाते हुए, शिशु को ऊपर उठाकर अपने नेत्रों से लगा लिया।

पाण्डव

"यह कैसे हो सकता है...?" धृतराष्ट्र सहसा दहाड़ते हुए बोले तो सभागार क्षणभर को काँपकर रह गया। सभी सभासद, आतंकित-से, एक-दूसरे की ओर देखते रह गये।

ऐसा शुभ समाचार... और भाई धृतराष्ट्र की ऐसी विचित्र प्रतिक्रिया! विदुर आश्चर्यचकित थे।

"महाराज.." विदुर ने विनम्र वाणी में कहा, "यह तो बड़ा शुभ समाचार है। पर्वतीय क्षेत्रों से भ्रमण करते हुए एक महात्मा महाराज पाण्डु का समाचार लेकर आये थे... कि कुन्ती भाभी ने एक स्वस्थ पुत्र को जन्म दिया है... कुरु साम्राज्य को ज्येष्ठ राजकुमार देकर, हम सबको मगल उत्सव मनाने का अवसर प्रदान किया है। आप बालक को आशीर्वाद दे।"

"किन्तु..." धृतराष्ट्र के स्वर में ही नहीं मस्तक पर भी खीझ उभर आयी थी, "कैसे-कैसे हुआ यह? और कहाँ है पाण्डु?" क्षण-भर रुककर धृतराष्ट्र पुनः क्रोध में फुफकार उठे, "किसने देखा उसे? कौन समाचार लाया था? वह सामने क्यों नहीं आता? कुछ ही समय पूर्व तो समाचार आया था किसी वैद्य के निदान का, कि पाण्डु कभी..."

"गाँव के वैद्य से कोई भूल भी तो हो सकती है, महाराज..." विदुर ने विनम्र रहते हुए ही तर्क दिया।

"वैद्य की भूल . अथवा छल?" धृतराष्ट्र का स्वर पुनः उग्र हो रहा था, "किसका छल है यह, पता तो लगाओ विदुर! कैसे हुआ यह पुत्र? मात्र कुलवधू के गर्भ से जन्म पाकर कोई शिशु हमारे वश का..." धृतराष्ट्र का स्वर सहसा टूटकर बिखरता चला गया, "हमारे वंश का..."

"महाराज...!" विदुर ने आश्चर्य भरे स्वर मे धृतराष्ट्र की बात काटी। क्षण भर वे स्वयं ही नहीं समझ पाये कि क्या कहें, कैसे कहें!

"पता लगाओ विदुर..." धृतराष्ट्र अत्यन्त थके-से स्वर में बोले, "पता तो लगाओ विदुर, यह क्या हुआ...? कैसे हुआ?"

राजसभा में सहसा सन्नाटा छा गया। कोई नहीं समझ पा रहा था कि संवाद का टूटा हुआ सूत्र किधर जा गिरा है... उसे पुनः कैसे पकड़ा जाए।

तभी उस सन्नाटे को रौंदता एक चीत्कार भरा स्वर कक्ष की ओर आता हुआ सभी को चौंकाने लगा। "यह क्या हो गया...? क्या हो गया स्वामी...?"

गान्धारी दोनों भुजाएँ शून्य में फैलाये, दासियों को झटककर अपना मार्ग स्वयं टटोलती, मार्ग में रखे भद्रासनों से टकराती हुई... लगभग दौड़ती हुई धृतराष्ट्र की ओर बढ़ रही थीं।

"यह नहीं हो सकता स्वामी..." गान्धारी की चीत्कार करुण रुदन में बदलती जा रही थी, "वंश का ज्येष्ठ पुत्र तो मेरे गर्भ में है... हमारा पुत्र..." उनका स्वर और भी ऊँचा हो गया, "कुन्ती यह नहीं कर सकती... मिथ्या है यह समा..."

तीव्र गति से दौड़ती गान्धारी कक्ष के एक विशाल स्तम्भ से टकरायीं और... करुण चीत्कार करती हुई, बारम्बार दो पग पीछे हटकर, फिर-फिर उस स्तम्भ से टकराने लगीं। रुदन और चीत्कार के मिले-जुले स्वर में गान्धारी ने कहा, "क्या होगा अब इस अभागे का... विलम्ब कर दिया इसने... जा, मर जा... अभागे, मर जा..."

जब तक विदुर आदि कुछ मन्त्री दौड़कर उन्हें रोकें, दासियाँ उन्हें पकड़ें... गान्धारी ने मुट्ठियाँ बाँधकर अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और बलपूर्वक अपनी कुक्षि पर कई बार प्रबल आघात किया। तभी सबने देखा कि उनके पैरों के पास एक गाढे रक्त का पंक-पुंज बन गया है... जिसमें, दूसरे ही क्षण, सबके देखते देखते गान्धारी स्वयं ही फिसलकर गिरीं और अचेत हो गयीं। इस आकस्मिक भगदड़ में धृतराष्ट्र की व्यग्र पुकार कोई सुनकर भी नहीं सुन पाया, "क्या हुआ...! गान्धारी ...! धैर्य धरो गान्धारी... अरे यह क्या हो रहा है? कोई मुझे बताता क्यों नहीं?"

गान्धारी के गिरते ही सहसा छाई नीरवता में धृतराष्ट्र का स्वर क्षण भर गूँजता रहा, "गान्धारी! तुम कहाँ हो गान्धारी...? तुम सकुशल तो हो...?"

स्थिति गम्भीर थी...

राजकुल पर घोर चिन्ता के बादल मँडरा रहे थे।

अन्तःपुर के एक कक्ष में उपचारिकाओं से घिरी गान्धारी अचेत पड़ी थीं, और निकट ही बाहर एक कक्ष में दीन-हीन अवस्था में व्याकुल धृतराष्ट्र अपने दृष्टिहीन चक्षु-कोटरों से अश्रु बहा रहे थे। पास ही चिन्तित मुद्रा में बैठे थे कुल ज्येष्ठ भीष्म, महामन्त्री विदुर, राजगुरु तथा धृतराष्ट्र के नीति-मन्त्री एवं सखा, कणिक...

राजवैद्य का संकेत सभी को मर्मान्तक पीड़ा पहुँचा चुका था... यह कि महारानी का न केवल गर्भ नष्ट हो चुका है, उनका गर्भाशय भी बुरी तरह क्षत-विक्षत है। सम्भावना यही थी कि वे अब कभी गर्भ धारण नहीं कर सकेंगी। जीवन का संकट अपनी जगह था, जिसके लिए यथा-सम्भव उपचार किया जा रहा था... किन्तु...

उस किन्तु को लेकर सभी अत्यन्त चिन्तित थे। सभी की दृष्टि प्रश्न चिह्न लेकर एक-दूसरे की ओर उठती थी और निराश लौटकर धरती पर टिक जाती थी।

"उपचार एवं औषधियों से अधिक महारानी को हम सबकी प्रार्थना की

आवश्यकता है..." तभी विदुर ने ऐसे चिन्तित स्वर में कहा, जैसे स्वयं अपने-आप को आश्वस्त करने के लिए उन्हें कुछ बोलना आवश्यक लगा हो।

कक्ष का सन्नाटा और गहरा उठा जिसमें धृतराष्ट्र की हिचकी से प्रारम्भ होता रुदन सभी उपस्थित जनों को व्याकुल कर गया।

"धैर्य रखो वत्स!" भीष्म ने धृतराष्ट्र के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा।

"वैद्यराज कहाँ हैं? तनिक उनसे तो पूछो..." भीष्म का गम्भीर स्वर क्षण भर बाद फिर गूँजा, "कुछ तो करना ही होगा... हम सब ऐसे हाथ पर हाथ धरे बैठे तो नहीं रह सकते।"

प्रत्युत्तर में किसी का भी यह पूछने का साहस नहीं हुआ, 'किन्तु क्या?' वस्तुत: सब हाथ पर हाथ धरे ही बैठे रहे।

"जो असम्भव है... वह असम्भव है, हमें स्वीकार करना ही होगा उसे..." भीष्म ने कुछ समय रुककर पुन: कहा, "किन्तु कुछ तो होगा जो हम कर सकते हैं, जो हमें करना चाहिए.. प्रार्थना के अतिरिक्त।"

"तातश्री ." विदुर का स्वर चिन्तातुर था। "सबसे बड़ी चिन्ता तो भाभीश्री के प्राण बचाने की है। मुझे भय है कि हमारे वैद्यराज अभी उनके प्राण बचा लें तब भी.. गर्भाशय नष्ट होने का समाचार उन्हें जीने नहीं देगा।"

"क्या कर रहे है वैद्यराज..." सिसकियों में बिखरता धृतराष्ट्र का स्वर सुनाई दिया, "कितना उल्लास था उसे पुत्र होने का समाचार पाकर... कैसी व्यग्र थी वह कुल को ज्येष्ठ पुत्र देने के लिए..."

"ज्येष्ठ पुत्र तो.. " भीष्म ने असमय जानकर कटु सत्य को मुखरित होने से रोका और कहा, "जो हानि हो चुकी उसे तो हम सभी को हृदय पर पत्थर रखकर झेलना होगा। उसके भाग्य मे पुत्र नहीं है तो कोई क्या कर सकता है?"

"कर सकता है..." अब तक मौन बैठे कणिक ने कहा, "क्यों नहीं कर सकता तातश्री?"

"कैसे कणिक?" जिज्ञासा में भीष्म का मुँह अधखुला रह गया।

"वह मैं अभी बताता हूँ। मैं अभी वैद्यराज से मिलकर आया हूँ..." कणिक ने धृतराष्ट्र को आश्वस्त करते हुए दृढ़तापूर्वक कहा, "आप चिन्ता त्याग दें, महाराज! वैद्यराज अभी बता रहे थे कि गर्भ-पिण्ड में अभी जीवन है।"

"जीवन है...! अर्थात्?" भीष्म का वाक्य बीच में ही छूट गया।

"मैं वही बता रहा हूँ गंगानन्दन!" कणिक ने अर्थपूर्ण दृष्टि से सबकी ओर देखते हुए संकेत किया, और फिर धृतराष्ट्र से कहा, "महाराज आप अभी चिन्ता त्यागकर विश्राम करें।"

"चिन्ता कैसे त्याग दूँ मित्र? मैं दुर्भाग्य के इस..."

"महाराज!" कणिक ने अपने शब्दों पर बल देते हुए अनुरोध किया, "अभी समझाने का समय नहीं है। अभी तो वैद्यराज को अपना कार्य करने दें। इस समय वे गर्भ-पिण्ड को जीवन प्रदान करने का एक अभिनव प्रयोग कर रहे हैं... चिन्ता एवं प्रश्न करके उनके कार्य में बाधा न दें।"

सहसा कणिक की इस घोषणा से वहाँ उपस्थित सभी आश्चर्यचकित रह गये। तभी कणिक ने कुछ सहायकों को बुलाकर आग्रहपूर्वक धृतराष्ट्र को उनके कक्ष में भेज दिया।

धृतराष्ट्र के जाते ही विदुर ने कहा, "मुझसे तो ऐसा कुछ नहीं कहा वैद्यराज ने..."

"मुझसे भी ऐसा कुछ नहीं कहा, उन्होंने..." कणिक ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "किन्तु हमें कुछ तो करना ही होगा।"

"किन्तु क्या हो सकता है...? जब गर्भ ही नहीं बचा...।" विदुर हतप्रभ थे।

"कुछ तो किया ही जा सकता है..." कणिक ने शान्त रहते हुए ही कहा, "महारानी के प्राण बचाने के लिए।"

"जैसे...?" भीष्म का प्रश्न संक्षिप्त था।

"यदि हम कहीं से... जैसे भी हो, कोई नवजात शिशु लाकर महारानी को दें और कहें कि वह उन्हीं का जाया हुआ शिशु है... तो ममता उन्हें जीवित रखेगी... भविष्य की निराशा को झेलने का सम्बल भी देगी उन्हें।"

ऐसा अप्रत्याशित प्रस्ताव सुनकर सभी निर्वाक् रह गये। भीष्म का खुला मुँह कुछ देर खुला ही रह गया। कुछ क्षण बाद वे विवश से स्वर में बोले, "किन्तु इतना बड़ा छल...?"

"नहीं तातश्री..." विदुर स्थिति को तौलते हुए बोले, "भाभीश्री के जीवन की रक्षा के लिए... जीवन-रक्षा के लिए बोला हुआ एक सौम्य असत्य हमें किसी पाप का भागी नहीं बनाएगा..."

"सम्भव है, इससे कुछ अन्तर पड़े..." भीष्म ने कुछ सोचते हुए कहा, "किन्तु इस समय गान्धारी की विशेष निराशा तो यह थी कि वह हस्तिनापुर को ज्येष्ठ राजकुमार नहीं दे पाएगी।"

"धैर्य धारण करें महाराज..." विदुर ने उन्हें समझाने के प्रयास में कहा, "जिस विपत्ति का कोई निवारण सम्भव न हो, उसे तो सहना ही पड़ता है।"

"सहना क्या आवश्यक है? इस समस्या का हल भी मिल जाएगा..." कणिक ने तत्परतापूर्वक कहा, "वह आप मुझ पर छोड़िए। देवि कुन्ती के एक ही पुत्र हुआ है न! महारानी के लिए दो का प्रबन्ध... या देवि कुन्ती जीवनकाल में अधिक से अधिक पाँच-छः सन्तान उत्पन्न करेंगी... आठ करेंगी। हमारी महारानी के लिए उससे भी दुगुने, चार-गुने पुत्रों का प्रबन्ध हो जाएगा।"

"क्या भाभीश्री स्वीकार कर लेंगी इस असत्य को?" आश्चर्य भरे स्वर में विदुर ने शंका व्यक्त की, "और भला कौन स्वीकार करेगा इस अप्राकृतिक असत्य को!"

"जब कोई विकल्प नहीं है तो..." मन्त्री कणिक ने गम्भीर होकर, विदुर की ओर देखते हुए कहा, "तो महामन्त्री इस व्यवस्था में कोई बाधा न उत्पन्न करें... और हाँ उनसे प्रार्थना है... यहाँ उपस्थित सभी जनों से प्रार्थना है कि यह चर्चा किसी भी रूप में, कभी अन्य किसी के कान तक न जाए... संकेत के रूप में भी नहीं। अन्यथा महारानी के जीवन पर ही नहीं, राजकुल पर भी महान संकट घिर आएगा, जिससे हमें स्वयं ब्रह्मा विष्णु भी नहीं उबार पाएँगे।"

"यह मिथ्याचार है... अथवा कोई षड्यन्त्र!" भीष्म बड़े गम्भीर स्वर में कहते हुए उठ खड़े हुए, "किन्तु जो भी सही, यदि इससे गान्धारी के प्राण बचते हैं तो मैं इसमें सहर्ष भागीदार बनता हूँ। और हाँ, मेरी ओर से एक प्रतिज्ञा और... कि कभी किसी को मेरे द्वारा इस व्यवस्था का संकेत नहीं मिलेगा।"

अपनी बात समाप्त करके वे चुपचाप अन्य सभी को उस कक्ष मे छोडकर अपने भवन की ओर चल दिये।

रोते-बिलखते धृतराष्ट्र को तीन-चार सेवक किसी प्रकार उनके कक्ष के द्वार तक पहुँचाकर लौट गये थे।

शीबा ने जैसे-तैसे उन्हें शैया तक लाकर लिटाया। उस समय धृतराष्ट्र के पाँव दुःख के कारण ही नहीं, राजवैद्य द्वारा दी हुई किसी शामक औषध के प्रभाव में भी लड़खड़ा रहे थे। शैया तक पहुँचते हुए धृतराष्ट्र का सारा भार शीबा के कोमल कन्धों पर आ पड़ा।

शैया पर लेटते-लेटते धृतराष्ट्र पुनः व्यग्र हो उठे... और मनुहारते हुए स्वर में बोले, "मुझे गान्धारी के पास ले चलो... एक बार.. एक बार मुझे उसके पास ले चलो।"

शीबा के लिए धृतराष्ट्र को शान्त रखना कठिन हो रहा था। वे रह-रहकर ऐसे बिलख उठते थे जैसे कोई शिशु आकाश-कुसुम के लिए मचले।

"आप थोड़ा जल पिएँ महाराज..." शीबा ने उन्हें उठाकर जल-पात्र उनके होठों से लगाया।

धृतराष्ट्र दो-तीन घूँट जल पीकर फिर व्याकुल स्वर में कराह उठे, "मुझे गान्धारी के पास..." और रोते-रोते ही उन्होंने अपना सिर शीबा के वक्षःस्थल पर टिका दिया... ऐसे, कि शीबा का सारा शरीर थरथरा उठा। उन्हें अपने वक्षःस्थल से हटाते-हटाते शीबा ने अनुभव किया कि एक तप्त अश्रु की रेखा अंग-वस्त्र में सुरक्षित

उसके मांसल उरोज-पिण्ड को छीलती चली जा रही है... और कुछ क्षण बाद ही उसे चेत हुआ कि महाराज के भुजपाश से मुक्त हो पाने की सामर्थ्य उसके पास नहीं है।

शामक औषध के प्रभाव में धृतराष्ट्र अचेत होते जा रहे थे। शीबा ने धीरे से अपने तन से उनके भुजबन्ध को खोलते हुए उन्हें शैया पर लिटा दिया। अनजाने ही उसके कोमल हाथ धृतराष्ट्र की सुघड़ भुजाओं पर फिसलते रहे। वहाँ से हटते समय अनायास ही उसका ध्यान धृतराष्ट्र की शैया पर गया... जिसका एक बहुत बड़ा भाग रिक्त पड़ा था।

स्वयं अपनी ही इच्छा के विरुद्ध अपने ढीठ पैरों को घसीटते हुए शीबा कक्ष के बाहर पहुँची तो उसे गान्धारी के पास से लौटी अनेक दासियाँ मिलीं। उन सभी के मुख पर चिन्ता एवं भय की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं।

कुछ क्षणों के विवश मौन को शीबा के मन में छिपे चोर ने ही तोड़ना आवश्यक समझा, "महाराज अभी ही कुछ शान्त हुए हैं... सम्भवत: वैद्यराज के किसी उपशामक के प्रभाव में। उनका दु:ख तो देखा नहीं जाता।"

दासियों का मौन ही उनकी सहमति का सूचक था। लगता था जैसे मातृत्व पर क्रूर विधाता के आघात का आतंक उनकी वाचलता हर ले गया है।

रात को निद्रा बड़ी देर तक शीबा से आँख-मिचौली खेलती रही... उसके नेत्रों के सम्मुख कभी महारानी का निर्जीव पड़ा शरीर घूम जाता था तो कभी धृतराष्ट्र का रोते-बिलखते शिशु-सा मुख... और इसी बीच कभी अनायास ही कौंधती रहती थीं उनकी लौह-दण्ड-सी भुजाएँ, और कभी शैया का रिक्त पड़ा वह भाग...

शीबा सहसा भयभीत होकर अपनी विचार शृंखला पर अंकुश लगाती थी, किन्तु कुछ ढीठ दृश्य स्मृति में उभरकर निषिद्ध सम्भावनाओं का द्वार खटखटाने लगते थे। अनजाने ही, जाने कब निद्रा ने आकर उसे किसी विचित्र स्वप्नलोक में पहुँचा दिया... जहाँ कभी वह भयभीत हो उठती थी, तो कभी मुस्कराते हुए स्वयं राज-सिंहासन पर बैठी दिखाई देती थी।

सहसा वह किसी की व्याकुल चीख़ सुनकर उठ बैठी। उसे पहचानने में क्षण भर लगा कि वह दारुण कराहने का स्वर धृतराष्ट्र का ही था।

"...क्या होगा? मेरा वंश तो... क्या हो गया गान्धारी को? मेरा... मेरा ज्येष्ठ पुत्र..."

शीबा ने धृतराष्ट्र के पास पहुँचकर उन्हें धैर्य बँधाया... और जल के साथ उन्हें राजवैद्य द्वारा भेजी हुई औषध दी। धृतराष्ट्र का मस्तक पुन: उसके वक्ष:स्थल पर आ

टिका था। धीरे से उनकी भुजाओं को हटाकर वह शैया के पास ही भूमि पर बैठ गयी और उनका मस्तक सहलाने लगी। धृतराष्ट्र पर तन्द्रा छाने लगी थी...

"गान्धारी... तुम कहाँ हो?" सहसा कुछ ही क्षणों में अधलेटे ही अपनी शैया पर दूर तक हाथ फिराकर उन्होंने पुकारा, "गान्धारी... तुम..." और शून्य में पसरकर टटोलता हुआ उनका हाथ शीबा से जा टकराया।

कुछ निद्रा, कुछ स्वप्न, कुछ महत्त्वाकांक्षा और कुछ सम्मोहन के जाल में उलझी शीबा को पता ही नहीं चला कि कब धृतराष्ट्र के भुजपाश ने उसके तन-मन को ही नहीं, सम्पूर्ण चेतना को ही समेट लिया...

तीन दिन, तीन रात के निरन्तर उपचार के बाद गान्धारी की पलकों में कम्पन दिखाई दिया। कुछ ही क्षणों में उनके होठ भी फड़फड़ाये और कुछ अस्फुट शब्द भी सुनाई पड़े... जैसे कह रही हों, 'यह क्या हो गया? मैं तो... मैं तो... स्वामी! आपका ज्येष्ठ पुत्र...'

उनकी आँखों से अश्रु की मोटी बूँदें बहकर कनपटी पर पड़ी केशराशि में समा जाती थीं।

उपचारिकाओं से यह समाचार पाकर वैद्यराज अपनी सफलता पर झूम उठे। दौड़ते हुए जाकर उन्होंने धृतराष्ट्र को यह समाचार सुनाया, तो वे लगभग वैसे ही अन्धकार के बाधा-शिखर लाँघते दौड़ पड़े, जैसे गान्धारी कुन्ती के पुत्र-जन्म का समाचार पाकर उनकी ओर दौड़ी थीं।

"गान्धारी..." उन्होंने उत्तेजना में अपने चक्षु-कोटर भिगोते हुए कहा, "परमात्मा ने मेरी सुन ली... मेरी विनती सुन ली प्रभु ने..."

"किन्तु स्वामी.." गान्धारी की आँखों पर बँधी भीगी हुई पट्टी और भी गीली हो चली।

"किन्तु कुछ नहीं गान्धारी... परमात्मा ने अपने वरदान की वर्षा कर दी हम पर..."

"हमारे सपनों का राजकुमार..."

"वह आएगा गान्धारी.." धृतराष्ट्र गान्धारी का हाथ अपनी हथेलियों में मींजते हुए उत्तेजित स्वर में बोले जा रहे थे, "वह आ रहा है गान्धारी..."

"सच प्राणनाथ...!" गान्धारी के निर्बल स्वर में सहसा उल्लास खनक उठा, "कहाँ है! कहाँ है मेरा शिशु...?" उन्होंने अपनी भुजाएँ शून्य में फैला दीं।

"किंचित धैर्य धरें महारानी..." गान्धारी की भुजाएँ थामते हुए उपचारिका ने कहा, "आप तनिक स्वस्थ हो लें... शीघ्र ही हमारे राजकुमार आपके पास आ जाएँगे। वे

भी अपनी माँ की गोद में आने के लिए उतना ही लालायित हैं, महारानी।"

"नहीं... कहाँ है, कहाँ है मेरा राजकुमार? मैं देखूँगी उसे... मैं देखूँगी..." गांधारी के स्वर में विक्षिप्तता की सीमा तक अधैर्य था।

"हाँ... देखोगी गान्धारी... तुम्हीं देखोगी उसे..." धृतराष्ट्र का विवश स्वर सहसा गान्धारी के उत्साह को पानी की धार की तरह ठण्डा कर गया। "और मुझे भी तो देखना है उसे... तुम्हारी ही दृष्टि से।"

"नहीं स्वामी, नहीं..." गान्धारी की सारी उत्तेजना, सारी विक्षिप्तता शान्त हो चुकी थी, "ममता तो वैसे भी नयनहीन होती है, स्वामी। शिशु को तो माँ अपनी बाँहों से देखती है, अपने हृदय के स्पन्दन से और रोम-रोम से देखती है। वैसे ही आप भी देखेंगे उसे..."

"नहीं गान्धारी... अब तुम अपना यह हठ छोड़ दो..." सहसा विषय परिवर्तन हो चुका था। धृतराष्ट्र अनुरोध भरे स्वर में गान्धारी का हाथ अपनी डबडबायी आँखों पर दबाये हुए कह रहे थे, "अब तुम हटा देना यह पट्टी। तुम शिशु को नहीं निहारोगी तो मैं कैसे देखूँगा उसे...! कैसे पियूँगा उसके रूप का रस...? जिसकी प्यास मुझे वर्षों से व्याकुल किये हुए है।"

उन दोनों के उन्मत्त प्रेमालाप में... संकट की वह वेला टल गयी। गान्धारी पर शामक औषधियों का प्रभाव होने लगा था, तन्द्रा छाने लगी थी। शिशु के लिए आग्रह करता उनका स्वर क्षीण होता चला गया और कुछ ही क्षणों में शून्य में फैली उनकी भुजाएँ शिथिल हो गयीं।

कुछ ही दिनों में, धीरे-धीरे गान्धारी को ज्ञात हुआ कि, समय से पूर्व, अप्राकृतिक प्रसव के कारण उनके गर्भ-पिण्ड को सहेजकर ऊष्मक में रखना पड़ा... जहाँ समय आने पर उस गर्भ-पिण्ड से एक नहीं, अनेक शिशु उत्पन्न होंगे। धृतराष्ट्र ने स्नेह-गद्गद कण्ठ से कहा उनसे, "परमात्मा ने अपार कृपा की है हम पर... न भूतो न भविष्यत्... तुम धन्य हो, गान्धारी! तुम जननी हो अनेक पुत्रों की। वैद्यराज आश्वस्त हैं कि तुम्हारे द्वारा उत्पन्न गर्भ से अनेक पुत्र जन्म लेंगे... अनेक... सम्भवतः सौ... तुम शत-पुत्र जननी हो, गान्धारी! भला कौन है संसार में जो कभी भी, कहीं भी, ऐसा अद्भुत गौरव पा सके..." कहते–कहते उनकी आँखें बरसती रहीं और कण्ठ प्रेम-गद्गद होकर उनके स्वर को हिचकियों में झुलाता रहा।

समय की प्रतीक्षा करना गान्धारी को भी हितकर लगा... होने वाले शिशुओं के स्वास्थ्य एवं उनकी दीर्घायु की दृष्टि से। समय-असमय सिर उठाती, अपने व्याकुल मन की व्यग्रता को वे समझातीं, अपनी उत्कण्ठा को जैसे-तैसे दबातीं, अपने वक्ष

में सिर पटकती ममता को किसी ज्ञानी की भाँति धैर्य धारण करने का उपदेश देतीं... किन्तु कैसे, यह वे स्वयं भी नहीं जान पायीं।

उनका अधिकांश समय या तो धृतराष्ट्र के साहचर्य में, पट्टी खोल देने के उनके आग्रह पर चर्चा करते बीतता, या कुलदेवी की प्रतिमा के सम्मुख ध्यानस्थ बैठकर, आँखों पर बँधी पट्टी भिगोते हुए, यह प्रार्थना दुहराते कि उनके शिशु स्वस्थ रहें... और शीघ्र, कुछ और शीघ्र उनकी बाँहों में आएँ।

... और रातें बीतती थीं उनकी तर्क-वितर्क करते, स्वयं अपने आप से, कि क्या उचित होगा, आँखों पर बाँधी हुई पट्टी को बँधे रहने देना... अथवा उसे उतार फेंकना? पति के अनुरोध को स्वीकार करने के बहाने ही सही...

'अरे कैसी माँ है तू...?' उनके मन में किसी कोने से रह-रहकर कोई व्यंग्य भरा स्वर उठता था– 'न भूतो न भविष्यत्. ! सच, तेरे जैसी न कभी कोई हुई और न हो सकती है, जो सन्तान को सामने पाकर भी आँखों पर पट्टी चढ़ाये, अपना वचन निबाहने का हठ लेकर बैठी रहेगी..'

हठ...! कैसा हठ? क्यों ले बैठी थी वह यह हठ?

गान्धारी को ये अनाहूत प्रश्न, अतीत मे, कई वर्ष पीछे की ओर खींचने लगते थे, किशोरावस्था के उन अल्हड, स्वप्नीले, वासन्ती दिनों में जब हर बालिका केवल एक स्वप्न देखती है .. किसी सुन्दर, सजीले राजकुमार का, जो उसे अपनी पलकों पर बिठाकर सपनों के नगर में ले जाएगा और आँखों में छिपाकर रखेगा... और वे दोनों एक-दूसरे का खिला हुआ मुखड़ा निहारते रहेंगे... जीवन पर्यन्त।

धृतराष्ट्र से अपने विवाह के विषय में सुना तो वह सहसा आकाश से उतरकर भूमि पर आ खड़ी हुई थीं। क्षण भर को लगा जैसे वह कोई परिहास था, भैया शकुनि के नित-नये परिहासों की शृंखला की कोई नयी, निर्मम कड़ी। किन्तु जब माँ ने वही समाचार दुहराया, पिता ने वही निर्णय सुनाया तो..

तो क्या हुआ था..? राजहित.. राजनीति हस्तिनापुर से सम्बन्ध. ज्येष्ठ राजकुमार... और नेत्रों से क्या होता है! भावी सम्राट...

रातें उन्हें शैया पर छटपटाते, जागते हुए... चारों ओर घिरे अँधियारे से आँखें चुराते बीता करती थीं। साहस नहीं होता था कभी उनका कि आँखें खोलकर देखें अपने चारों ओर और पहचानें यथार्थ को। पातिव्रत्य, क्रोध, निराशा, प्रतिशोध...! क्या था वह यथार्थ...?

जाने कब तक चला था वह क्रम! और फिर कब... जाने कब निर्णय लिया था उन्होंने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध लेने का...! जाने कब? वे शैया पर पड़ी छटपटाती हुई, कभी-कभी अतीत में लौटकर सारे घटनाक्रम को किसी असम्बद्ध दर्शक की भाँति देखना चाहती थीं... किन्तु क्यों! क्या गया समय लौटा है कभी? देखकर भी

क्या होगा? अपनी पट्टी बँधी आँखों से देखकर...

गान्धारी के स्वास्थ्य में सुधार हो रहा था... निरन्तर। वैद्यराज उनके स्वास्थ्य में सुधार से प्रसन्न थे। किन्तु गान्धारी की व्यग्रता बढ़ रही थी। अपनी कोमल शैया उन्हें तपती, पथरीली भूमि-सी असह्य प्रतीत होने लगती थी। वे दासियों से निरन्तर एक ही प्रश्न दुहराती थीं, कितने दिन हो गये? उपचारिकाओं से भी वे बारम्बार यही प्रश्न पूछती थीं, "कितने दिन और लगेंगे? तुमने देखा कभी...! ऊष्मक में पनपते मेरे शिशुओं को? कैसे हैं? क्या मैं देख सकती हूँ उन्हें...?"

उपचारिकाओं के पास बड़े संक्षिप्त से उत्तर होते थे... वही, बारम्बार दुहराये हुए। "धैर्य रखें महारानी! समय की प्रतीक्षा करें... शिशुओं के स्वास्थ्य के लिए... उनके जीवन के लिए... उनकी दीर्घायु के लिए..."

क्या है ऐसा जो वह नहीं कर सकतीं...! अपने शिशुओं की आयु एवं उनके स्वास्थ्य के लिए? किन्तु प्रतीक्षा...? उनके धैर्य का बाँध बारम्बार टूटता था और अकेले ही वे थामती थीं उस टूटी हुई भीत को... जैसे, सम्भवतः रोका था कभी लेटकर शीतल जल का प्रवाह, रात भर, आरुणि ने अपने गुरु आयोदधौम्य के खेत पर। किन्तु वह तो मात्र एक ही रात की बात थी...

सब धैर्य रखने को कहते थे गान्धारी से, किन्तु कोई नहीं बताता था कि धैर्य कहाँ है! और वे कैसे धारण करें उसे...! कब तक धारण करें?

जैसे–तैसे वे व्याकुल प्रतीक्षा के निर्मम दिन बीत ही गये। जब गान्धारी ने अपने हाथों में कोमल, मचलता हुआ, स्पन्दन भरा स्पर्श पाया... कानों ने शिशु का क्षीण रोदन सुना... तो उनकी आँखों का बाँध भी फूट पड़ा। शिशु को चूमती, हृदय से लगाती, बाँहों में झुलाती, विक्षिप्त सी हँसती और कभी रोते–रोते ही खिलखिलाती गान्धारी भूल गयीं कि वे महारानी हैं... और दास–दासियों से घिरी हुई हैं। उनके व्यवहार में शालीनता ही अपेक्षित है...

किन्तु कैसी शालीनता...! महारानी के व्यवहार में न! किन्तु कहाँ हैं महारानी? कैसी महारानी? वे तो माँ हैं, केवल माँ... उस शिशु की जो बरसों से बिछुड़ा हुआ था उनसे... जो क्रूर वैद्यराज के ऊष्मक से आज ही मुक्त होकर आया है, ऊष्मक की भीतें, उसके लौह–कपाट तोड़कर लौटा है।

सब स्वप्न जैसा था उनके लिए... किशोरावस्था में देखे सुन्दर, सजीले राजकुमार के स्वप्न जैसा... एक ऐसा अद्‌भुत स्वप्न जिसे वे हाथों से छू सकती हैं, वक्ष से लगा सकती हैं, कानों से सुन सकती हैं।

किन्तु शंका किसी कोने से सिर भी उठाती थी कभी! कैसे हो गया यह? क्या यह सम्भव है? क्या यह मेरा ही पुत्र है... वास्तव में मेरा... और ये शंकालु प्रश्न डूबते

जाते थे कभी शिशु के क्षीण रोदन में तो कभी उसकी किलकारी में।

"महाराज... कहाँ हैं महाराज...?" वह उत्साहित, उत्तेजित से स्वर मे कहतीं, "अरे बुलाओ महाराज को... क्या देखा उन्होंने...? क्या सुना उन्होंने? कहाँ हैं वो?"

तभी अपनी ओर आते धृतराष्ट्र का स्वर सुन पड़ा था उन्हें, "देखो तो गान्धारी..." उनके स्वर के साथ ही सुरीली संगत करता एक शिशु का स्वर सुना उन्होंने, किसी अन्य ही शिशु का स्वर...

"देखो तो गान्धारी... हमारा शिशु... हमारा पुत्र..." धृतराष्ट्र के स्वर में उल्लास था।

दोनों के हाथों में मचलते नन्हे-नन्हे शिशु टकराये। उनके सामूहिक रोदन ने गान्धारी तथा धृतराष्ट्र की किलकारियों को और भी उन्मुक्त स्वर दिया। दोनों ने अपनी भुजाओं के शिशुओ को बदलकर हृदय मे लगाया.. और उनपर चुम्बनों की वर्षा की... उन्हें अपने अँधेरे अश्रुओ से नहलाया।

बाहर... नीति मन्त्री कणिक तथा वैद्यराज अपनी योजना की सफलता पर प्रसन्न थे। कितना सरल होता है नेत्रहीनों को बहला देना...! सम्भवत: उतना ही, जितना कि उनको छलना...! तो क्या यह छल नहीं है...? और उन्होंने छला भी है तो अन्धे महाराज और महारानी को नहीं... छला है तो बस अन्धी ममता को... अन्धी, असहाय ममता को।

दिन-प्रतिदिन राजप्रासाद नये शिशुओं के स्वर से गूँजने लगा। नित्य एक शिशु को सीने से लगाती, अश्रुधार से उन्हें नहलाती गान्धारी को अपने मन के किसी कोने से उठते शंकालु प्रश्नों की ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिला। उनके कक्ष के आसपास के अनेक कक्ष नये राजकुमारों के हिंडोलों से भरते गये।

अपने उन्माद में किलकारती गान्धारी ने एक दिन अनायास ही धृतराष्ट्र से कह दिया, "जहाँ परमात्मा ने इतने पुत्र दिये वहीं...एक पुत्री भी दे देता, तो ममता का हर कोना भर जाता... जीवन की हर साध पूर्ण हो जाती। आप नाना बनने का सुख भी प्राप्त कर लेते..."

सुनकर, क्षणभर, धृतराष्ट्र के चक्षु कोटरों में हलचल हुई...

कुछ ही दिन बाद, एक उपचारिका पहुँची, "बधाई हो महारानी! राजकुमारों के बीच एक सुन्दर राजकुमारी भी आयी है, आपको ढूँढ़ती हुई..."

अवाक् गान्धारी का मुँह अधखुला रह गया। पुत्री को गोद में लेते ही वे विक्षिप्त की भाँति रो पड़ीं, "अरे... इस समय मैंने भगवान से और कुछ क्यों न माँग लिया!"

किन्तु, दूसरे ही क्षण, किलकारती हुई वे कहने लगीं, "नहीं... अच्छा किया जो और कुछ नहीं माँगा। इससे बढ़कर भला और मैं माँग भी क्या सकती थी?"

प्रत्येक राजकुमार के लिए एक अलग धाय होते हुए भी गान्धारी साथ चलती

दासियों के बीच लगभग नाचती-सी कभी इस राजकुमार की ओर दौड़तीं तो कभी उसकी ओर पहुँच जातीं...

कभी वे धृतराष्ट्र का हाथ खींचती-सी उन्हें किसी राजकुमार का स्वर सुनाने के लिए दौड़तीं, तो कभी किसी अन्य राजकुमार की कोमलता का ज्ञान कराने...

कभी धृतराष्ट्र का उत्तेजनाभरा स्वर सुनाई देता, "अरे गान्धारी... तनिक सँभालो इसे। यह चुप ही नहीं होता... सम्भवतः तुम्हारी गोद में जाना चाहता है।"

कभी गान्धारी की पुकार सुनाई देती, "तनिक इधर तो आइए, स्वामी! देखिए तो ...इसका मुख बिल्कुल आप जैसा है... गोलाकार।"

हर क्षण किसी न किसी शिशु का पोतड़ा बदलने के साथ ही दासियों के लिए एक कार्य बढ़ गया था... और वह था क्षण-क्षण दौड़कर गान्धारी के आँखों की भीगी हुई पट्टी बदलना।

और इस सबके साथ ही दौड़ता रहा समय...

किन्तु उन सभी व्यस्त एवं उल्लसित दासियों के बीच मात्र एक शीबा का स्वर नहीं सुनाई पड़ता था... अपनी उत्तेजित व्यस्तता में भी गान्धारी का ध्यान अपनी प्रमुख सेविका, शीबा की अनुपस्थिति से वंचित नही रह पाया।

शीबा...!

उनकी जिज्ञासा ने जिस तथ्य का उद्घाटन किया, वह सुनकर गान्धारी हत्प्रभ रह गयीं। शीबा गर्भवती थी... किन्तु किसका गर्भ, यह कोई नहीं जानता था। गान्धारी के आदेश पर, उसे अपने रहस्य का उद्घाटन करना ही पड़ा।

ऐसा विश्वासघात!... और वह भी शीबा द्वारा! जिसे वे अपनी प्रधान सेविका ही नहीं, अन्तरंग सखी एवं अनुजा मानती थीं... जिसे उनकी माँ ने विशेषरूप से उनके साथ भेजा था... उनकी छाया की भाँति साथ रहकर, उनके हितों की रक्षा के लिए!

गान्धारी तो उसे प्राणदण्ड ही दे देतीं... किन्तु धृतराष्ट्र ने उनको हृदय से लगाकर शान्त किया... निराशा के उन क्षणों का स्मरण कराते हुए, जब गान्धारी जीवन एवं मृत्यु के बीच झूल रही थीं।

"जो कुछ हुआ..." धृतराष्ट्र ने गान्धारी का मस्तक अपने अश्रुओं से भिगोते हुए कहा, "वह अवचेतन अवस्था में था। उस समय भी मेरे मन में तुम ही थीं... केवल तुम थीं, गान्धारी!"

नवजात शिशुओं की किलकारियों ने गान्धारी के रोष को अनजाने में ही हर लिया। सारा कलुष शीघ्र ही धुल गया, तिरोहित हो गया।

किन्तु उससे पूर्व ही शीबा को आदेश मिल चुका था कि वह अपने गर्भस्थ शिशु को जन्म देकर तुरन्त ही गान्धार लौट जाएगी। वह अज्ञातवास पा चुकी थी.. किसी को कुछ पता नहीं चला कि अज्ञातवास के वे दिन उसने किस प्रकार बिताये! वह कहाँ रही, कैसे रही!

नियत समय पर, गान्धारी के एक सौ एक शिशुओं में शीबा का वह शिशु भी आ जुड़ा, जिसे कालान्तर में नाम मिला, युयुत्सु। हस्तिनापुर छोड़ने से पूर्व, अश्रु बहाते हुए, शीबा ने अपना नवजात शिशु धृतराष्ट्र को सौंप दिया।

धृतराष्ट्र को उसके स्पर्श ने अभूतपूर्व सुख दिया... वैसा ही कोमल जैसा अन्य शिशुओं में मिला था। बडा ही विचित्र भाग्य लेकर आया था वह . धृतराष्ट्र उसे कभी भुला नहीं पाये और गान्धारी उसे कभी अपना नहीं पायीं।

कुछ समय बाद गान्धारी ने कुन्ती के लिए एक पत्र लिखा..

'प्रिय कुन्ती

भैया पाण्डु के रोग का समाचार पाकर हम सभी दुःखी एवं हतप्रभ थे। कुछ लिखने अथवा कहने का साहस ही नहीं हुआ। किन्तु, जैसे भी की... परमात्मा ने कृपा की तुम पर।

तुमने सुना ही होगा उसी सर्वशक्तिमान ने एक चमत्कार द्वारा मुझे भी आशीर्वाद स्वरूप सौ पुत्र प्रदान किये हैं और एक सुन्दर पुत्री भी। सभी स्वस्थ हैं और सुन्दर एव समर्थ नेत्र लेकर आये हैं। महाराज अपने सौ जोड़ी नेत्रों से कुरुकुल का सुखद भविष्य देखते हुए प्रसन्न हैं.

भैया पाण्डु ने हस्तिनापुर त्यागने का निणय न लिया होता तो अच्छा होता... किन्तु मुझे विश्वास है कि अब इस निर्णय के बाद तुम सबको वन्य जीवन भी राजप्रासाद जैसा सुखद लगने लगा होगा।

तुम सब, जहाँ रहो, सुखी रहो यही कामना है। आशीर्वाद सहित,

तुम्हारी गान्धारी'

किन्तु वह पत्र उन्हीं के पास पडा रह गया। भेजती भी तो कहाँ...! किसी को कुन्ती का पता ज्ञात नहीं था।

पाण्डु ने अपने बालक को नाम दिया, युधिष्ठिर। जैसे जैसे उस नन्हे-से प्राणी ने हाथ-पाँव फेंकना प्रारम्भ किया, कभी रोना और कभी किलकारना प्रारम्भ किया... धीरे-धीरे पाण्डु को पहचानना और पहचानकर मुस्कराना प्रारम्भ किया.. वैसे-वैसे

उनके मन के प्रश्नों में भी शिथिलता आती गयी। यदा-कदा वे भी अपने नन्हे-से पुत्र को बाँहों में लेकर दुलारने लगे।

माद्री को एक नयी पूर्ण-कालिक व्यस्तता प्राप्त हो गयी थी... शिशु को प्रभाती गाकर जगाने से लेकर लोरी गाकर सुलाने तक। कभी उसे बाँहों में झुलाना, कभी स्नान करा के वस्त्र पहनाना, उसके नेत्रों में काजल लगाना... कभी उसके साथ तुतलाकर बोलना, कभी उसे पक्षियों को दिखाते हुए उनकी बोलियाँ बोलना, तो कभी चन्द्रमा की ओर संकेत करके उसे बुलाने के लिए आग्रह करना।

"दीदी..." एक दिन माद्री ने लाड़ भरे स्वर में कहा, "तुम तो अब अपने लिए कोई अन्य शिशु ले आओ... यह तो मेरा हो गया।"

'यह तो वास्तव में माद्री का हो गया...' एक दिन पाण्डु भी यह सोचने पर विवश हो गये। अनेक बार उन्होंने स्वयं ही देखा था कि वह नन्हा बालक माद्री की गोद से ही चिपका रहता है। कभी, खेल-ही-खेल में, माद्री उसे कुन्ती की गोद में देना भी चाहें तो वह किलकारता हुआ पुनः माद्री के कन्धे से चिपक जाता है।

युधिष्ठिर दस माह का हो चुका... पाण्डु ने सोचा। अब समय है कि घर में दूसरी सन्तान आये। उन्होंने कुन्ती से इस विषय में चर्चा की। कुन्ती ने कहा, "इस विषय में निर्णय तो आप ही लें। आप जैसी आज्ञा देंगे... मैं उसका पालन करूँगी।"

पाण्डु ने शुभ दिन विचार कर, कुन्ती-सहित पुनः यात्रा प्रारम्भ की। महात्मा दुर्वासा के आश्रम पर पहुँचकर पुनः निवेदन किया और एक बार फिर, उसी क्रम की पुनरावृत्ति हुई... परीक्षण, दिवस निर्धारण, उपचार कक्ष में देव आवाहन तथा उनके प्रसाद की प्राप्ति। आश्रम के प्रमुख चिकित्सक सन्तुष्ट थे।

इस बार, पाण्डु के परामर्श पर, कुन्ती ने पवन देव का आवाहन किया था। पाण्डु का अवचेतन क्षत्रिय मन, कहीं बल एवं पराक्रम की महत्ता बताता हुआ, उन्हें ऐसा पुत्र पाने के लिए प्रेरित कर रहा था जो बलवानों में श्रेष्ठ हो।

पुनः एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात्, पाण्डु कुन्ती सहित शतशृंग लौटे और परिवार के साथ प्रसन्नतापूर्वक नवागन्तुक की प्रतीक्षा करने लगे। इस बीच शिशु युधिष्ठिर माद्री के साथ पूरी तरह हिल गया था। कुन्ती को तो उसने शीघ्र पहचाना ही नहीं।

"जानती हो दीदी..." माद्री ने उन्हें उत्साहित स्वर में बताया, "तुम्हारे जाने के बाद बस दो दिन रोया था... बस स्वभाव चिड़चिड़ा सा हो गया था, और कुछ नहीं। किन्तु फिर तो सब कुछ भूलकर मुझसे ही चिपटा रहता था।"

"ठीक ही तो है..." कुन्ती ने मुस्कराते हुए कहा, "शिशु माँ से चिपटा रहे और अन्य किसी का स्मरण न करे... इससे अच्छा भला और क्या होगा?"

"और यह नहीं पूछोगी दीदी..." माद्री ने सहसा भावुक होते हुए, धीरे से कहा, "कि तुम्हारे लिए कौन रोया था?"

कुन्ती ने देखा, माद्री की आँखों में जलधर तैर रहे हैं... उन्होंने माद्री को खींचकर अपनी बाँहों में भरा तो माद्री फूट-फूटकर रो पड़ीं, "इतने दिन लगा दिये... सोचा भी नहीं कि..."

"चुप हो जा पगली..." कुन्ती ने उन्हें मनुहारते हुए कहा, "मैं तो निरन्तर जल्दी आने की योजना बनाती थी, किन्तु इनका कहना था कि एक बार सारा प्रबन्ध करके चलें... तेरे लिए शुभ-समाचार लेकर। अन्यथा, बारम्बार आने-जाने में भी असुविधा तो होती ही है।"

"वह तो ठीक किया दीदी..." माद्री की आँखों से काली घटाऐं तिरोहित हो चुकी थीं, "ऐसा शुभ समाचार लाती रहो तो मैं बारम्बार अकेली रहने के लिए तैयार हूँ।"

"और फिर रोयी तो।" कुन्ती ने छेड़ते हुए पूछा।

"शपथ..." माद्री ने कुन्ती का हाथ पकड़ते हुए कहा, "नहीं रोऊँगी।"

"जानती है माद्री!" कुन्ती ने रहस्यमय मुस्कान के साथ कहा, "ये कहते थे कि [illegible] लिए रोती होगी... तुम्हारे लिए नहीं। सच बताना, किसकी याद सताती थी तुझे?"

माद्री के मुख पर लज्जा भरी, नटखट मुस्कान उभर आयी, "दीदी, ये हम लोग अलग अलग कब से हो गये? मैंने तो कभी तुम दोनों मे भेद किया ही नहीं।"

कुन्ती ने पुन: माद्री को स्नेहपूर्वक खीचकर अपनी बाँहों में भर लिया।

पाण्डु सिद्धासन में ध्यानस्थ बैठे थे जब उनके कानों में नवजात शिशु के रोदन का स्वर पड़ा। उन्होंने मन-ही मन परमात्मा का स्मरण किया और शिशु के उज्ज्वल भविष्य के लिए कामना की।

कुछ ही देर में, माद्री ने दौड़ते हुए आकर एक स्वस्थ बालक के जन्म का समाचार सुनाया, "बड़ा सुन्दर... गोल-मटोल... दो बालकों जैसा।"

पाण्डु मुस्करा दिये।

"अरे मैं यह क्या कह गयी..." माद्री ने अपना जिह्वाग्र दाँतों तले दबाया, "किन्तु माँ की कुदृष्टि भी कभी अहित नहीं करती। चलिए स्वामी, देखिए तो..."

पत्नी के आग्रह पर पाण्डु बड़ी गम्भीरता के साथ उठकर प्रसूति-गृह की ओर चले। कुन्ती के मुख पर श्रम-युक्त, सन्तोष की मुस्कान थी। पाण्डु ने स्नेह-पूर्वक उनके मस्तक पर हाथ फिराया।

"स्वामी..." कुन्ती ने थके-से स्वर में कहा, "मैंने अपना कर्तव्य निर्वाह किया.. अब तो आप प्रसन्न हैं।"

"अभी नहीं..." पाण्डु ने मुस्कराते हुए धीमे स्वर में कहा, "क्षत्रिय हूँ... मुझे पूरी सेना चाहिए..."

कुन्ती ने सलज्ज मुस्कान के साथ पति का हाथ अपने हाथ में लेकर नेत्रों से लगा लिया। तभी उन्हें माद्री का स्मरण हुआ और उन्होंने कहा, "माद्री! लो सँभालो अपने पुत्र को..."

"नहीं जीजी..." माद्री ने नटखट स्वर में गम्भीर होते हुए कहा, "एक साथ दो-दो! यह मुझसे नहीं होगा। आधा-आधा... अरे कुछ तुम्हें भी तो करना चाहिए।"

पाण्डु ने बड़ी सन्तुष्ट मुस्कान के साथ दृष्टि दोनों पत्नियों पर डाली... और सहसा उन्हें स्मरण हुआ कि विधाता ने माद्री को भी तो एक गर्भाशय दिया है। एक नारी के रूप में उसके भी तो कुछ सपने होंगे... उन्होंने तभी एक निर्णय लिया..

दो पुत्रों के लालन-पालन के बीच कुन्ती तथा माद्री का समय पंख लगाकर उड़ने लगा। पाण्डु का समय पूर्ववत् ध्यान एवं पूजा-अर्चना में बीतता रहा... सिद्धासन मे बैठे वे रह-रहकर भाँति-भाँति के प्रश्नों से घिर जाते थे। मस्तिष्क को विचारों एव चिन्ताओं से मुक्त रखने के सारे प्रयास, प्राणायाम की समस्त विधियाँ विफल हो जाती थीं...

'कहाँ का क्षत्रिय!' वे सोचने लगते, 'कहाँ की सेना...? अब तो वैश्य कर्म ही जीवन बन गया है।'

किन्तु वैश्य-कर्म के लिए भी तो आवश्यकता होती है पुत्रों की.. वे अपने मन को समझाते। भूमि की रक्षा के लिए, भूमि की सेवा के लिए, अन्न के विक्रय के लिए और उपार्जित धन की रक्षा के लिए..

किन्तु फिर कहाँ रह जाएगा वह मुनि किन्दम का ग्रामोत्थान के प्रति समर्पित जीवन। पाण्डु को चिन्ता होती कि वे निषिद्ध मार्ग की ओर बढ़ रहे हैं। किन्तु अपनी पत्नियों के प्रति भी तो उनका कुछ दायित्व है। और जब पुत्रों ने जन्म लिया ही है तो उनके लालन-पालन के दायित्व का निर्वाह भी तो उन्हें ही करना होगा..

कैसा विचित्र है यह जीवन! कैसे एक दूसरे मे जुड़ते चले जाते हैं जीवन के तन्तु! और चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने, उलझता ही चला जाता है प्राणी... बँधता ही चला जाता है जीवन से।

कभी वे सोचते... कि कैसा विचित्र भाग्य लेकर आये हैं ये बालक! क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी वैश्य-कर्म के लिए विवश! वैभव-सम्पन्न परिवार से सम्बद्ध होकर भी अनाम, अत्यन्त साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए शापित। इसमें भला क्या दोष है इनका? क्यों न इन्हें हस्तिनापुर भेज दिया जाए! वहाँ, जहाँ इन्हें वास्तव में होना चाहिए। किन्तु कैसे? क्या अकेले ही? क्या कुन्ती-माद्री इन्हें भेजने के

लिए... अपने से दूर करने के लिए सहमत हो जाएँगी? बालकों के सुखमय भविष्य के नाम पर भी क्या वे यह बलिदान कर पाएँगी? और कुन्ती-माद्री सहित! क्या वे दोनों अपने पुत्रों के भविष्य के लिए ही सही... पति को वन में एकाकी छोड़कर चली जाएँगी...? उसे, जिसे वे किसी भी स्थिति में छोड़ने के लिए सहमत नहीं हुई थीं! जिसके लिए इतने वर्षों से, सारे राज-सुख भुलाकर, वे एक अनाम वन में साधारण ग्रामीणों-जैसा जीवन व्यतीत कर रही हैं।

दूसरा पुत्र जन्म से ही भीमकाय था। माद्री उसे भी दुलराती तो थीं किन्तु कभी न कभी कह ही बैठती थीं, "दीदी... ये तुम्हारा कुछ विशेष ही दुलारा लगता है। इसे तुमने बड़े जतन से पाला होगा अपने गर्भ में... और लगता है दूध भी अधिक ही पिलाती हो इसे। अन्यथा युधिष्ठिर जैसा मूखा-सा रहा होता?"

कुन्ती मुस्करा दीं...

"अच्छा दीदी..." माद्री ने पुनः चहकते हुए कहा, "बहुत हो गये तुम्हारे योद्धा.. अबकी बार जाना, तो कहना हमें गौर-वर्णी, चाँद-सा सुन्दर शिशु चाहिए।"

पत्नियों का वार्तालाप ध्यानस्थ बैठे पाण्डु के कानों में भी पड़ा। चंचल मन को उचटने के लिए एक नयी दिशा मिली। किन्तु उनका तो पूरी सेना का स्वप्न था.. क्षत्रिय होने के नाते। पर दूसरे ही क्षण उन्हें विकल्प मिल गया। दो पत्नियों का यह लाभ भी हो सकता है. एक योद्धाओं को जन्म दे, और दूसरी सुन्दर शिशुओं को। उन्होंने निश्चय किया कि इस बार वे दोनों पत्नियों को लेकर चलेंगे।

भीमकाय पुत्र को, सहज ही, उसकी काया के अनुरूप नाम प्राप्त हुआ, भीमसेन। वह एक वर्ष का हो रहा था, तभी एक दिन पाण्डु ने पत्नियों को अपना निश्चय सुनाया। उनकी सलज्ज मुस्कान में उनकी मौन स्वीकृति का ज्ञापन था।

अपनी अनुपस्थिति में व्यवस्था का सारा प्रबन्ध करके पाण्डु, कुन्ती एवं माद्री सहित, अपनी लक्ष्य यात्रा पर निकल पड़े। लम्बी यात्रा के पश्चात् जब पाण्डु आश्रम में पहुँचकर प्रमुख चिकित्सक से मिले तो वे उन्हें पहचानकर मुस्कराये।

"क्यों पुत्र! कैसे हो?" उन्होंने पूछा, "तुम्हारे पुत्र तो स्वस्थ हैं? प्रसन्न हैं?"

"सब आपकी कृपा है भगवन्..."

"तो कैसे आगमन हुआ?" आश्रम प्रमुख ने सीधे ही प्रश्न किया।

"एक बार पुनः..." पाण्डु कुछ सकुचाये, "सन्तान प्राप्ति की इच्छा आपके द्वार पर खींच लायी।"

"पुनः..." आश्रम प्रमुख के स्वर में आश्चर्य भरा प्रश्न था, "तुम्हारे तो दो पुत्र हैं, पहले ही। तुम्हें तो ज्ञात ही है, यह आश्रम मूल रूप से निःसन्तान दम्पतियों के लिए है... सन्तति बाहुल्य के लिए नहीं।"

पाण्डु दो-टूक उत्तर पाकर सहसा निराश हो गये। उन्हें लगा, उन्हें इस विषय में पहले ही सोचना चाहिए था। युधिष्ठिर के जन्म के उपरान्त उन्हें, कुन्ती को नहीं, केवल माद्री को लाना चाहिए था। अब क्या करें? इस प्रकार माद्री तो मातृत्व के सुख से वंचित ही रह जाएगी। तभी सोच की इस दिशा ने उन्हें एक तर्क दिया।

"भगवन्..." उन्होंने आश्रम प्रमुख से विनम्रतापूर्वक कहा, "मेरी छोटी पत्नी अभी तक निःसन्तान है। मातृत्व पर उसका भी अधिकार है... यदि आप कृपा करें तो..."

माद्री का नाड़ी परीक्षण हुआ... और फिर उन्हें कुछ अन्य परीक्षणों की भी आवश्यकता प्रतीत हुई। सभी परीक्षणों के पश्चात् प्रमुख चिकित्सक ने पाण्डु से एकान्त में वार्तालाप किया।

"तुम्हारी दूसरी पत्नी के डिम्बाशय में कुछ प्रकृति-जन्य दोष है..."

सुनकर पाण्डु के मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आयीं।

"वैसे इस रोग के निमित्त कुछ उपचार उपलब्ध हैं... किन्तु अनुभव यह है कि उन उपचारों द्वारा आधे से कम, कह लो... एक-तिहाई, रोगिणियों को ही लाभ होता है। अभी निराश होने की आवश्यकता नहीं... हम उपचार करने का प्रयास अवश्य करेंगे, किन्तु मानसिक रूप से पृष्ठभूमि बनाने की दृष्टि से, उचित यही होगा कि उसे यह परामर्श दिया जाए कि उसकी सह-पत्नी द्वारा उत्पन्न पुत्र भी उसी के पुत्र हैं।"

बड़ी उलझन में पाण्डु ने कहा, "महात्मन्... यों तो वह उन बालकों को भी पुत्रवत् स्नेह करती है, किन्तु... प्रकृति जन्य गर्भ की पुकार का अपना अलग स्थान है। वह बड़ी इच्छुक है, सुन्दर पुत्रों के लिए..."

"इच्छा अपने स्थान पर..." प्रमुख ने कहा, "और भाग्य अपने स्थान पर। इच्छाओं का भाग्य पर वश तो नहीं चलता। इच्छाओं को भी यदा कदा भाग्य के समक्ष नत-शिर होना पड़ता है।"

भाग्य...! भाग्य की चाल को पाण्डु से अधिक भला किसने समझा होगा? भाग्य के आगे नत शिर ही नहीं होना होता, भाग्य के हाथों लुटकर भी सन्तोष करना होता है... प्रसन्न होना पड़ता है, मात्र उस अल्प शेष के लिए जो लुटने से बच गया।

"इस स्थिति में..." दो क्षण के मौन में पाण्डु को पुनः अनुरोध करने के लिए एक तर्क प्राप्त हो गया था, "भगवन्, क्या यह सम्भव है कि मेरी ज्येष्ठ पत्नी को एक सुन्दर पुत्र प्राप्त हो... जिसे मेरी कनिष्ठ पत्नी प्रारम्भ से ही अपना पुत्र माने?"

"चलो. यह मानें कि आशुतोष की यही इच्छा है..." प्रमुख ने कहा, "तब चन्द्रदेव का आवाहन ही स्पृहणीय होगा। तुम अपनी ज्येष्ठ पत्नी से भी चर्चा कर लो।"

कुन्ती से चर्चा करने से अधिक महत्त्वपूर्ण था... माद्री पर उस निराशाजनक विषय का उद्घाटन। पाण्डु चिन्तित थे। साथ ही उन्हें, बारम्बार इतनी लम्बी यात्रा करना कठिन लगने लगा था। शरीर ही नहीं थकता था, हृदय की गति भी बढ़ जाती थी और श्वास-क्रिया में भी बाधा का अनुभव होता था। उन्होंने कुन्ती से ही इस विषय पर भी चर्चा की। कुन्ती भी उद्विग्न हो उठीं... उनका परामर्श था कि वे भी, इस समय, बिना किसी देवता का प्रसाद लिये ही लौट चलें... किसी भी बहाने। और जब माद्री रोग मुक्त होकर यहाँ आएँ, तब वे भी आ जाएँ... उन्हीं के साथ। किन्तु चिन्ता यह भी थी कि यदि... परमात्मा न करे, रोग का उपचार न हुआ तो उस समय निराश माद्री को एकाकी छोड़कर कुन्ती का आना, माद्री पर बहुत बड़ा अन्याय होगा।

माद्री पर वास्तविकता का उद्घाटन करना, पाण्डु एवं कुन्ती, दोनों को ही उचित नहीं लगा। उन्होंने सोचा, कि अभी उपचार तो प्रारम्भ कर ही दिया जाए... शिशु के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक बताकर... और यदि, दुर्भाग्यवश, रोग का उपचार न ही हो पाये... तब उन्हें वास्तविकता बताने के लिए उपयुक्त शब्दो की खोज की जाएगी।

निर्धारित दिन आने पर उपचार गृह में प्रवेश करने के पूर्व, प्रधान चिकित्सक ने जब कुन्ती से इच्छित सन्तान के विषय में प्रश्न किया तो, पाण्डु से किये हुए विचार-विमर्श के अनुसार, उन्होने एक ऐसे सुन्दर एवं सुरूप पुत्र के लिए प्रार्थना की जो शस्त्र विद्या में भी अद्वितीय हो और कुल का गौरव बन सके। उनकी इच्छा सुनकर आश्रम प्रमुख मुस्कराये और बोले, "तब तो तुम्हें इन्द्रदेव का ही आवाहन करना होगा।"

कुछ ही क्षणों में उपचार गृह का वातावरण स्वप्नमय हो गया... प्रधान चिकित्सक के गम्भीर मन्त्रोच्चार से कुन्ती पर सम्मोहन छाने लगा। अपनी गुरु गम्भीर वाणी में, इन्द्र का आवाहन करते हुए वे उपचार गृह से बाहर चले गये।

तत्पश्चात् निरीक्षण गृह मे निवास के समय माद्री ने निरन्तर कुन्ती की सेवा की, मुख पर अपने दुःख की छाया भी प्रकट किये बिना। उल्टे कुन्ती को ही, अपने मनोभाव को नियन्त्रित करते हुए, माद्री को समझाना पड़ा कि इस उपचार में बहुधा ऐसा होता ही है, कुछ विलम्ब भले ही हो जाए, किन्तु उसके स्वप्नों का चन्द्रवदन शिशु शीघ्र ही उसे प्राप्त होगा।

शतशृंग लौटकर कुन्ती ने नियमित रूप से माद्री को आश्रम से प्राप्त औषध दी और, साथ ही, सच्चे मन से उनके लिए प्रार्थना भी की। लगभग पन्द्रह सप्ताह में माद्री मे आश्रम के प्रमुख चिकित्सक द्वारा बताए हुए लक्षण पकट होने आरम्भ हुए तो पाण्डु एव कुन्ती के मन में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। उधर कुन्ती का गर्भ भी निर्बाध गति से विकसित हो रहा था।

कुछ समय पश्चात्, परस्पर परामर्श करके, पाण्डु माद्री-सहित उपचार -आश्रम

के लिए प्रस्थित हुए। कुन्ती एवं दोनों बालकों के साथ ही, अपनी पाठशाला की व्यवस्था उन्हें प्रतिवासी ग्रामवासियों पर छोड़नी पड़ी।

लगभग एक मास यात्रा एवं उपचार आश्रम में बिताकर, पाण्डु सफल-मनोरथ होकर शतशृंग लौटे। उपचार-गृह में माद्री ने, अपनी इच्छा के अनुरूप तथा परिवार-सहित नीरोग रहने की कामना से, अश्विनीकुमार का आवाहन किया था। उनकी स्थिति देखते हुए, प्रमुख चिकित्सक ने उन्हें आठ दिन निरीक्षण-कक्ष में रखा... और कुछ औषधियों के नियमित सेवन का निर्देश दिया।

"मुझे तो कुछ पता ही नहीं चला..." माद्री ने लजाते-मुस्कराते हुए कुन्ती को बताया, "ऐसा मायावी वातावरण था वहाँ, और ऐसा सम्मोहन छा गया था मुझ पर, अब पता नहीं क्या होगा!"

"जो होगा, वह अच्छा होगा..." कुन्ती ने स्नेहपूर्वक माद्री का गाल थपथपाते हुए कहा, "किन्तु नया शिशु पाकर अपने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर को न भूल जाना।"

"कैसी बात करती हो जीजी!" माद्री ने तुनकते हुए कहा, "अब जो भी हो, उसे तो तुम सँभालना... मेरा तो वही ठीक है।"

"मैं अकेली किस-किस को सँभालूँगी!" कुन्ती ने विहँसते हुए कहा,

"सबको..." बड़े नाटकीय ढंग में कहती हुई माद्री मुस्कराकर चली गयीं।

कुछ माह पश्चात्, नियत समय पर कुन्ती ने एक गौरवर्ण के स्वस्थ, सुरूप पुत्र को जन्म दिया। अपने वर्ण एवं उत्पत्ति के आधार पर उसे अर्जुन नाम दिया गया।

दूसरी ओर, माद्री के गर्भ में दो शिशु पलने का आभास मिला था। इसी प्रज्ञान के अनुरूप, समय आने पर, माद्री ने दो सुन्दर शिशुओं को जन्म दिया। उन्हें नाम मिले, नकुल तथा सहदेव।

पाण्डु प्रसन्न थे... उन्हें लगता था कि अपनी पत्नियों के प्रति उत्तरदायित्व से वे मुक्त हो गये। अपने कुल के प्रति उनका उत्तरदायित्व पूरा हुआ। किन्तु मन फिर भी भटकता रहता था... क्या होगा इन बालकों का? इन्हें राज सुख प्राप्त होना था, किन्तु ये अभाव एवं श्रम भरा जीवन पाएँगे... एक अनाम जीवन! इसमें भला इनका क्या दोष?

कभी-कभी उनका मन होता कि इन बालकों को हस्तिनापुर भेज दें... प्रायश्चित का जीवन तो स्वयं उन्होंने अपनाया था, मात्र अपने लिए। उस प्रायश्चित का दुःख इन बालकों को क्यों मिले! किन्तु यह कैसे सम्भव होगा? क्या वे इन बालकों से अलग रह पाएँगे? क्या कुन्ती एवं माद्री इनसे विलग होकर रह पाएँगी? और यदि वे दोनों भी बालकों के साथ चली गयीं, तो उनके एकाकी जीवन में भला क्या रह

जाएगा? और तब... क्या तातश्री, दादीश्री आदि की दृष्टि से वे बच पाएँगे?

कभी मन उन्हें नितान्त विपरीत दिशाओं में भटकाने लगता... पत्नियों के लिए पुत्र की प्राप्ति ही तो सब कुछ नहीं! पति-सुख से तो वे अब भी वंचित हैं... और अपने आपको वंश के ऋण से उऋण मान लेना भी कैसा भ्रामक है! ये उनकी पत्नी के पुत्र भले ही हों, उनके आत्मज तो नहीं हैं। वंशधर कैसे बन सकते हैं?

मन उन्हें नये स्वप्न दिखाता... नयी सम्भावनाओं की ओर दौड़ने के लिए विवश करता। एक बार... बस एक बार उनका शरीर नीरोग हो सके... उनकी पत्नियों को पुनः गर्भ प्रदान कर सके... वंश को वास्तविक वंशधर प्रदान कर सके.. तभी, बस तभी वे पत्नी तथा वंश के ऋणों से वास्तव में उऋण हो सकते हैं। किन्तु यह स्वप्न कैसे पूरा हो? कैसे... कैसे उनका जीवन सार्थकता पाये? पाण्डु चिन्ताओं से मुक्त होने के प्रयास में, ध्यान में बैठकर भी उद्विग्न हो उठते थे।

अपने ही मन में, लम्बे तर्क वितर्क के बाद एक दिन उन्होंने ग्राम वैद्य से अपने मन की बात कही। वैद्य ने उन्हे विश्वास दिलाते हुए कहा कि उनके पास एक ऐसी औषध है जो शरीर को तात्कालिक शक्ति प्रदान कर सकती है। घने अंधकार में भटकते पाण्डु, आशा की उस किरण को पकड़ने के लिए लालायित हो उठे..

वसन्त ऋतु थी... लगभग आधी रात व्यतीत हो चुकी थी। पाण्डु अपने कक्ष में अकेले थे। संलग्न कक्ष में कुन्ती तथा माद्री शिशुओं को सुलाते हुए स्वयं भी सो गयी थीं. किन्तु पाण्डु की आँखों में तैरते, सिर उठाते स्वप्न निद्रा को कहीं आस पास भी नहीं आने दे रहे थे। वर्षों से ध्यान में रमा, शान्त पड़ा शरीर विद्रोह करने के लिए मचल रहा था। वातायन से आती चाँदनी कक्ष को मादक बना रही थी. तभी संयोगवश वहाँ दबे पाँव माद्री ने प्रवेश किया। वे पति को सोया हुआ समझकर उन्हें चादर ओढ़ाकर पलटी ही थीं... कि पाण्डु ने उनका हाथ थाम लिया।

"अरे, आप अभी जाग रहे हैं?" माद्री ने कोमल स्वर में पूछा।

उत्तर में पाण्डु ने धीरे से उन्हें अपनी ओर खींच लिया। पति के सिर पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरती हुई माद्री शैया पर उनके पास ही बैठ गईं। पाण्डु ने देखा चाँदनी माद्री की देह पर पड़कर उसे और भी मादक बना रही है। पाण्डु ने पत्नी को अपने वक्ष पर खींचते हुए धीमे स्वर में पूछा, "कुन्ती कहाँ है?"

"सो गयी हैं, सम्भवतः..." माद्री ने अपना सिर पति के वक्षःस्थल पर टिकाते हुए कहा, "बालकों को लोरी सुनाते-सुनाते, सम्भवतः उन्हें भी निद्रा ने आ घेरा।"

पाण्डु ने धीरे से उठते हुए माद्री को वक्ष से लगा लिया.. और वे धीरे से उनके कानों में फुसफुसाये, "देखो तो... कैसी सुन्दर चाँदनी है.. तुम्हें नींद नहीं आयी?"

"आ तो रही थी..." माद्री ने भी वैसे ही फुसफुसाते हुए उत्तर दिया।

"और अब...?"

माद्री पर सम्मोहन छाता जा रहा था। पति के हृदय का संगीत उन्हें एक विचित्र भूले-बिसरे मायालोक में खींचे लिये जा रहा था। वे उत्तर में मौन रहते हुए ही मुस्करा दीं, ऐसे कि अपने वक्षःस्थल पर खिंची मुस्कान पाण्डु के तन-मन में वर्षों से बिसरी उत्तेजना भरती चली गयी। उन्होंने विक्षिप्तता की स्थिति में माद्री को भुजाओं में बाँध लिया...

अपना मायाजाल फैलाकर समय कुछ क्षणों के लिए थम गया...

माद्री की चेतना सहसा तब लौटी जब उन्होंने पति को अकथनीय पीड़ा में कराहते हुए एक ओर गिरकर व्याकुल अवस्था में पाया...

"क्या... क्या हो गया आपको?" माद्री ने भयभीत स्वर में काँपते हुए पूछा।

पाण्डु, बिना कुछ उत्तर दिये, शैया पर पड़े छटपटा रहे थे... उनके मुख से पीड़ा बड़े विलक्षण स्वरों में मुखरित हो रही थी।

सहसा कुछ अस्पष्ट कोलाहल सुनकर संलग्न कक्ष में सोयी हुई कुन्ती जाग उठीं। स्थिति समझने में उन्हें कुछ क्षण लगे, किन्तु दूसरे ही क्षण वे भी दौड़कर पति के पास जा पहुँचीं। उन्होंने माद्री से कुछ पूछना चाहा किन्तु, अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रों में भयभीत-सी विलाप करती माद्री कुछ समझने-समझाने में असमर्थ थीं। पाण्डु का शरीर स्वेद से भीगता जा रहा था और नेत्र, मस्तक की ओर चढ़कर, वहाँ छिपने का प्रयास कर रहे थे।

दौड़कर, प्रतिवासियों की सहायता से, कुन्ती ने एक वैद्य को बुलवाया.. और उस बीच पाण्डु उत्क्लेश में कसकते-उससते हुए शैया पर लोटते रहे। वैद्य ने आते ही कोई औषध उन्हें सुँघायी, जिससे पाण्डु पर तन्द्रा छाने लगी... लगा कि उनकी पीड़ा कम हो रही है। उसके पश्चात् वैद्य ने जब उनकी नाड़ी देखी तो चिन्ता की रेखाएँ उनके मस्तक पर भी उभर आयीं, "क्या इनको पहले हृदय-रोग था?"

सुनकर, मौन रहते हुए ही, कुन्ती तथा माद्री ने प्रश्न-दृष्टि एक-दूसरे पर डाली।

"कोई विशेष चिन्ता थी इन्हें?" वैद्य ने जिज्ञासा की।

"चिन्ताएँ तो..." कुन्ती ने आशंकित स्वर में कहा, "अनेक थीं... किन्तु..."

"क्या शीघ्र ही थक जाते थे? अथवा कभी हृदय गति अकारण ही बहुत बढ़ जाती थी?"

कुन्ती का मन हुआ कि वे चीख़कर वैद्य से कहें कि उन्हें प्रश्न नहीं... पति के कष्ट का निवारण चाहिए। पति की चिन्ताओं का विवरण वे क्या करतीं, कहाँ तक करतीं! और कैसे बतातीं, किन शब्दों में बतातीं उनकी तथा अपने सबकी मनोदशा... जिसने उनके सम्राट पति को असमय ही विरक्त, वानप्रस्थी बना

दिया... एक बलशाली योद्धा को निष्क्रिय, अन्तर्मुखी, वैरागी बना दिया...

वैद्य औषध देकर लौट गये। साथ ही सावधान करते गये कि रोगी को किसी भी प्रकार का श्रम न करने दिया जाए... चिन्ता से दूर रखा जाए और ऐसा कुछ भी न हो जो उनके मन को विचलित करे।

दो दिन की अचेतन-अवचेतन अवस्था में पाण्डु रह-रहकर किन्दम मुनि का नाम पुकारते रहे... कभी रोकर उनसे क्षमा माँगते हुए, तो कभी भयभीत स्वर में उन्हें शाप न देने के लिए मनुहारते हुए। कभी वे रोकर कहते थे, 'क्या होगा... मेरे वंश का? कौन अग्नि देगा मुझे?'

अन्ततः चेतना लौटी तो पाण्डु ने पूछा, "क्या हो गया मुझे...?" फिर सहसा उनकी दृष्टि माद्री पर पड़ी... तो जैसे उन्हें कुछ स्मरण हुआ, "तुम तो पास थीं मेरे... दूर.. दूर क्यों चली गयीं?" कहते-कहते, जैसे थककर पाण्डु ने आँखें मूँद लीं।

कुछ ही क्षणों में उन्होंने पुनः नेत्र खोले तो पास बैठी कुन्ती को अश्रु बहाते देखा।

"मेरे पुत्र... कुन्ती..." पाण्डु ने कुछ कष्ट में कहा।

"सब यहीं हैं, स्वामी.." कुन्ती ने स्नेहपूर्वक पाण्डु का मस्तक सहलाते हुए कहा।

"मेरे पुत्र कहाँ हैं?"

"अभी लायी.. स्वामी!" कुन्ती ने आँचल मे अपने अश्रु पोंछते हुए कहा।

कुछ ही क्षणों में कुन्ती तथा माद्री ने पाँचों बालकों को पाण्डु के पास शैया पर बैठा दिया। पाण्डु के अधरों पर फीकी सी मुस्कान उभरी।

"कौन कहता है..." उन्होंने कष्ट से, लड़खड़ाते स्वर में कहा, "कि मैं निःसन्तान हूँ।" करुणा एवं रोमांच में भीगा, पाण्डु का गम्भीर स्वर कक्ष को भयावह बना रहा था।

"किन्तु... किन्तु..." सहसा पाण्डु हिचकी लेकर अत्यन्त दयनीय स्वर में बिलखकर रो पड़े, "मेरा दुर्भाग्य इन्हें वन में ले आया। क्या अधिकार है मुझे.. इन्हें..." और उनका शेष वाक्य हिचकियों में डूब गया।

कुछ ही क्षणों में उन्हें एक हिचकी और आयी... और पाण्डु का सिर एक ओर लुढ़ककर स्थिर हो गया।

दूसरे ही क्षण, कुन्ती तथा माद्री के करुण विलाप से उस पर्णकुटी का समस्त प्रतिवास गूँज उठा।

किसने कल्पना की होगी कि हस्तिनापुर का शक्तिशाली नरेश, अपने राज्य एवं परिजनों से बहुत दूर, एक अनजान व्यक्ति की भाँति परलोक-गमन करेगा! उपेक्षित पड़े पाँच शिशुओं के बीच कुन्ती तथा माद्री का करुण विलाप प्रतिवासियों को असहनीय पीड़ा दे रहा था... किन्तु जो अनिवार्य है उसका पालन तो होना ही था।

तिवासियों ने ही मिलकर पाण्डु के अन्तिम-संस्कार की व्यवस्था की।

मुखाग्नि चार वर्ष के अबोध युधिष्ठिर को देनी है... यह सुनकर कुन्ती का हृदय चीत्कार किये जा रहा था। किन्तु उनका दुःख बाँटने के लिए माद्री कहीं उनके पास नहीं थीं। अपने क्रन्दन के बीच कुन्ती की असहाय दृष्टि माद्री को ढूँढ़ती रहती थी।

ग्राम-सीमा पर एक जलाशय के तट पर अन्तिम-संस्कार की व्यवस्था हुई। प्रतिवासियों ने जब, शुद्धि के पश्चात्, शव को कन्धे पर उठाया तभी... सब ने सहसा माद्री को, गम्भीर मुद्रा में, कुटिया के दूसरे कक्ष से निकलते हुए देखा। उनके शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषण थे और था... सधवाओं-सा शृंगार। कुन्ती की दृष्टि पड़ी तो वे क्षणांश में ही सब कुछ समझते हुए स्तब्ध रह गयीं।

"ये क्या माद्री...?" रुदन, चीत्कार एवं भय में कुन्ती का स्वर विकृत हो गया था, "यह तो मेरा अधिकार है पगली... मैं बड़ी हूँ।"

"नहीं जीजी... क्षमा करें..." माद्री ने सन्तुलित, गम्भीर स्वर में कहा, "अन्तिम समय में, जाने-अनजाने, मैं उनके साथ थी। स्वामी ने मुझे आग्रह करके बुलाया था... और मैं ही उनके प्राणघातक रोग का कारण बनी।"

"नहीं माद्री.." कुन्ती ने विक्षिप्त होते हुए विरोध किया, "मैं अभागी शिशुओं के विषय में ही..."

"आपका शिशुओं के विषय में ही सोचना उचित था, दीदी।" माद्री ने सान्त्वना देते हुए कहा, "वे आपके पुत्र हैं... आपको ही उनका लालन पालन करना है।"

"तुम्हारे भी तो..."

माद्री ने विचित्र मुस्कान के साथ उनकी बात काटी, "अब यह मेरा तेरा कहाँ से आ गया, दीदी!"

"मैं अकेली किस-किस को सँभालूँगी...?" माद्री को झकझोरते हुए कुन्ती ने रोकर कहा।

"सब को..." धीरे से मुस्कराकर कहते हुए माद्री ने कुन्ती के चरणों पर अपना मस्तक रखा और... दृढ-निश्चय के साथ पग बढ़ाती वह शव वाहकों के पीछे चल दीं।

"एक बार पुत्रों को..." कुन्ती ने उसका निश्चय डिगाने का अन्तिम प्रयास किया, किन्तु माद्री संसार को ही नहीं, सारे सम्बन्धों को.. प्रेम एवं ममता को भी अलविदा कहकर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ी जा रही थीं।

सभी देखने वाले अवाक् खड़े रह गये।

कुन्ती को भी, जैसे पाला मार गया... वह जड़ प्रतिमा सी हाथ फैलाये खड़ी रह गयीं और, दूसरे ही क्षण, अचेत होकर गिर पड़ीं।

पिण्ड-दान के समय, सहसा उपस्थित ब्राह्मणों पर यह भेद खुला... कि दिवंगत प्राणी, जो अनेक वर्ष से उनके साथ साधारण ग्रामीण की भाँति उठता-बैठता रहा, वह हस्तिनापुर के राज-परिवार का सदस्य था... जो पहले वहाँ का शासक भी था!

जीवन भी क्या-क्या दृश्य दिखाता है... किसी को भी सहसा सुनकर विश्वास नहीं होता था। वे सब कुन्ती को धीरज बँधाने के साथ ही, उत्सुकतावश, यह पूछे बिना नहीं रह पाते थे, कि यह अनहोनी हुई तो कैसे! अश्रु बहाते हुए कुन्ती का, संक्षेप में, एक ही उत्तर होता था, "विधि का विधान..."

विधि के विधान को मानते एवं जानते हुए भी... उसको झेल पाना कभी-कभी असम्भव हो जाता है। कुन्ती की भी बड़ी दयनीय स्थिति थी। अपने जीवन मे सहसा पति और अनुजा-जैसी सह-पत्नी का उठ जाना, कुन्ती के जीवन में एक बहुत बड़ी रिक्तता छोड़ गया था... ऐसी, जिसे संसार में कुछ भी, कभी पूरा नहीं कर सकता था। और साथ ही, उसके चारो ओर थे रोते-बिलखते हुए पाँच शिशु जो अबोध होते हुए भी, अपने ढंग से, पिता एवं दूसरी माता की अनुपस्थिति अनुभव कर रहे थे। दुःख से टूटी हुई कुन्ती, अकेले क्या-क्या करतीं! किस किस को सँभालतीं? अपने दो स्तनों से तीन नन्हे शिशुओं को दूध पिलाना, दो भुजाओं में पाँच शिशुओं को झुलाना, एक रुँधे हुए कण्ठ से पाँच शिशुओं को लोरी सुनाना और दो अश्रु-पूरित आँखों से, उन्हें दिन-रात बिलखते देखना... कितना दुष्कर हो सकता है, यह भला कौन जान पाएगा!

प्रतिवासी महिलाएँ यदा-कदा आकर कुन्ती को सान्त्वना देती थी, तो कभी वयोवृद्ध तपस्वी, संन्यासी आदि आकर उन्हें हस्तिनापुर लौट जाने का परामर्श देते थे, "इन नन्हे बालको का क्या अपराध! इन्हें अपने पूर्वजों के बीच, अपने घर जाना ही चाहिए। इन्हें उनकी छाया से विमुख करना अव्यावहारिक होगा, अधर्म होगा।"

कुन्ती किसी भी निर्णय पर पहुँचने में असमर्थ थीं। एक तो दुःख से जर्जर बुद्धि और... वे समझ नहीं पाती थीं कि इस विषय में उनके दिवंगत पति का क्या विचार था। वे ऐसा कोई निर्णय नहीं लेना चाहती थीं जो उनके स्वामी की इच्छा के अनुकूल न हो.. जो उनकी आत्मा को दुःख पहुँचाए।

इस अनिश्चय की स्थिति में... समय ने ही अपना निर्णय सुनाते हुए एक मार्ग बनाया। शतशृंग की यात्रा करते हुए एक मुनि, स्वतः भ्रमण करते हुए एक दिन हस्तिनापुर भी जा पहुँचे...

जिसने भी सुना, वह अवाक् रह गया...

और यही गति हुई हस्तिनापुर के राज परिवार की।

यह दु:खद समाचार पाते ही हस्तिनापुर के राज-परिवार में, वर्षों से विवश होकर थमा, अश्रुओं का बाँध टूट पड़ा... अन्त:पुर राज-माताओं तथा दादीश्री के करुण विलाप से हिल उठा...

अपने हृदय पर पर्वत-सा बोझ ढोते हुए भीष्म ने विदुर के साथ शतशृंग के लिए प्रस्थान किया... और वे पाण्डु के निधन के सत्रह दिन बाद, बालकों-सहित कुन्ती को लेकर ही लौटे। हस्तिनापुर के वर्धमान द्वार पर, दु:खी मन से, महाराज धृतराष्ट्र एवं महारानी गान्धारी-सहित, सत्यवती, अम्बिका, अम्बालिका आदि ने शोक-विह्वल कुन्ती को गले लगाया और शिशुओं का नगर में स्वागत किया। वहाँ उपस्थित सहस्रों नगरवासी दु:ख से द्रवित होकर अपने आँसू नहीं रोक पा रहे थे।

धृतराष्ट्र ने भीष्म की सहमति से पाण्डु तथा माद्री का अन्त्येष्टि-संस्कार राजोचित सामग्री से कराने का निश्चय किया। गंगा के तट पर उनके निमित्त ऊर्ध्वदैहिक क्रिया मम्पन्न करायी गयी। पाण्डु के परिजनों ने, ब्राह्मणादि पुरवासियों-सहित श्राद्ध के नियमानुकूल, बारह दिन तक भूमि-शयन किया और विधि अनुसार श्राद्ध करके दान दिये।

समय धीरे-धीरे दु:ख की चुभन सामान्यत: कम कर रहा था... किन्तु उसका वश वृद्धा सत्यवती तथा माता अम्बिका तथा अम्बालिका पर नहीं चल पाया। वे दु:ख एवं शोक के आवेग में विक्षिप्त होती जा रही थीं। अपने चारो ओर पौत्रों-प्रपौत्रों की उपस्थिति होते हुए भी उनके मन से पाण्डु के निधन की व्यथा कम नहीं हो पाती थी। वृद्धा सत्यवती की स्थिति विशेष रूप से चिन्तनीय थी।

उन्हीं दिनों एक दिन महर्षि व्यास का आगमन हुआ। उन्होंने सृष्टि में नश्वरता के ज्ञान की चर्चा करते·हुए माता सत्यवती आदि को समझाया और हाथ जोड़कर उनसे कहा, "माताश्री! दु:ख तो जीवन का अभिन्न अंग है... और वृद्धावस्था में तो हर दु:ख और भी असह्य हो जाता है। समय के साथ ही लोक जीवन में धर्म का विघटन भी होता रहता है... अनिष्ट काल दबे पाँव आकर, दिन प्रतिदिन, दु:खों की वृद्धि ही करता रहता है। दीर्घ आयु... और भी बड़े दु:ख दिखाए, उसके पूर्व ही धर्म में संन्यास आश्रम का विधान है।"

पुत्र व्यास का संकेत समझकर सत्यवती मुस्करायीं और... रात भर सोच-विचार कर, उन्होंने भीष्म को अपना दृढ़-संकल्प कह सुनाया। भीष्म ने अश्रुओं से उनके पाँव भिगोते हुए उनसे रुकने का बड़ा आग्रह किया... किन्तु सत्यवती का निर्णय अटल था। अम्बिका तथा अम्बालिका ने भी रो-रोकर उनसे निर्णय पर पुनर्विचार के लिए विनती की... पर वे नहीं ही मानीं। हारकर उन दोनों ने भी सत्यवती के साथ ही संन्यास लेने का निर्णय लिया।

परिवार में सभी उनसे अनुरोध करके, आग्रह तथा विनती करके हार गये... तब

एक दिन, एक सुदूर वन में उन तीनों के निवास की समुचित व्यवस्था करके, भीष्म उन्हें वहाँ पहुँचाकर हस्तिनापुर लौट आये।

उधर वन में, उन तीनों ने, राजकीय व्यवस्था के सभी प्रबन्धों का त्याग करते हुए, कठोर व्रत का पालन कर, तपस्या द्वारा कालान्तर में अपने भौतिक शरीर से मुक्ति पायी।

टकराव

कहाँ पहाड़ियों, वृक्षों, सरोवरों आदि से घिरा वह शतशृंग का गाँव... और कहाँ स्फटिक स्तम्भों और विशाल सुसज्जित दीर्घाओं तथा कक्षों वाला हस्तिनापुर का राज-भवन! परिदृश्य में आकाश-पाताल जैसा परिवर्तन था। पाँच वर्ष का युधिष्ठिर चमत्कृत था... कुछ भयभीत भी। नन्हे से भीमसेन के लिए तो यह सब और भी समझ से परे था। फिर भी वे सब नये-नये, सुन्दर वस्त्र पाकर प्रसन्न थे। सुस्वादु भोजन भी उन्हें सुख प्रदान करता था। किन्तु बहुधा वे भय के मारे रो पड़ते थे, जब उनकी ही आयु के अनजाने बालकों की भीड़ कौतूहलवश उन सबको घेरकर खड़ी हो जाती.. विचित्र प्रश्न पूछ-पूछकर उन्हें भ्रमित कर देती अथवा कभी कभार खेल-ही-खेल में खींचकर या धक्का देकर गिरा देती।

कुन्ती स्नेहपूर्वक उन्हें समझाने का प्रयास करती थीं, "ये तुम्हारे सगोत्र बन्धु हैं... तुमसे स्नेह करते हैं। तुम्हारे साथ खेलना चाहते हैं..."

कभी वे धृतराष्ट्र-पुत्रों को प्रेम-सहित पास बैठाकर समझातीं, "देखो दुर्योधन, ये तुम्हारा अग्रज है... युधिष्ठिर। और यह है भीमसेन... तुम्हारा अनुज है। और दुःशासन! ये सब तुम्हारे छोटे-छोटे भाई हैं... तुम्हारे अनुज हैं। तुम सब मिलकर प्रेम-सहित खेलो, तो भीमसेन तुम्हें भी अपने जैसा हृष्ट-पुष्ट बना देगा।"

कुन्ती प्रसन्न थीं...'कि उनके पुत्रों को वह राज-सुख प्राप्त होगा, वह शिक्षा दीक्षा प्राप्त होगी, जिसके लिए पाण्डु यदा-कदा चिन्तित हो उठते थे... किन्तु, सारे वैभव एवं परिचितों की भीड़ के बीच भी, पति एवं सखी माद्री की स्मृति उन्हें विह्वल करके नितान्त एकाकी कर जाती थी। मन चीत्कार उठता था, 'हे प्रभु! यह सुख उनके लेखे में क्यों नहीं था?' अथवा 'मैं उनके साथ क्यों नहीं जा सकी?'

कभी-कभी वे उद्विग्न हो उठतीं... कहाँ गये ये सब। क्षण भर मेरे पास टिकते ही नहीं। उन्हें स्मरण होता अपनी चिन्ता का... कि इन सबको अकेले मैं कैसे सँभालूँगी? और अब...! समवयस्क बालकों के बीच खेल में व्यस्त रहते हैं युधिष्ठिर तथा भीमसेन, और दासियाँ जाने कहाँ अदृश्य हो जाती हैं अन्य शिशुओं को लेकर! कुछ हैं जो अर्जुन को खिलाने-दुलारने के लिए आपस में झगड़ती हैं, तो कुछ नकुल तथा सहदेव को।

लम्बी प्रतीक्षा के बाद, रात्रि को, सोते समय वे सब जैसे तैसे एकत्रित होते हैं उनके पास... वह सुखद क्षण, जिसके लिए दिन भर प्रतीक्षा करनी पड़ती है उन्हें।

अपने पास लिटाकर अर्जुन, नकुल तथा सहदेव को लोरियाँ सुनाकर सुलाने का अपना सुख है... अवर्णनीय सुख! साथ ही कुन्ती के पास बहुत कुछ रहता था युधिष्ठिर तथा भीमसेन को समझाने के लिये... वह सब, जो अच्छे संस्कारों के नाम पर केवल माँ ही सिखा सकती है।

साथ ही, दूसरी ओर, बालकों के पास भी बहुत कुछ होता था, माँ को सुनाने के लिए वह.... सब, जो बालक केवल अपनी माँ को बता सकते हैं।

"आज भीमसेन गिर पड़ा..." युधिष्ठिर बताते।

"दुल्लोदन ने दक्का माला..." भीमसेन रोते से स्वर में कहता।

"अरे देखूँ.." कुन्ती चिन्तित होकर कहतीं, "अधिक चोट तो नहीं लगी?"

"चोट तो उसे लगी. "

"मैंने भी गिला दिया.. उसे." भीमसेन के मुख पर मुस्कान खेलने लगती।

"नहीं पुत्र. " कुन्ती उन दोनों को समझातीं, "लड़ना झगड़ना अच्छी बात नहीं है। वे सब तुम्हारे भाई हैं. तुम्हारे अपने।"

"तो वह क्यों मारता है हमें?" युधिष्ठिर पूछते।

"नहीं... मारता नहीं है," कुन्ती समझातीं, "कभी अनजाने मे हाथ लग गया होगा।"

बात करते करते कुन्ती देखतीं कि दिन भर खेल कूद से श्रमित बच्चे निद्रा लोक मे पहुँच चुके हैं। उनका पुत्रों से संवाद का इच्छुक मन अतृप्त ही रह जाता और ऐसे क्षणों मे, रात्रि के अन्धकार में छिपकर, दबे पाँव आकर, अतीत की अन्तरग स्मृतियाँ उन्हें घेर लेतीं .. और ऐसे में कभी मुस्कराते, कभी आँसू बहाते, कुन्ती तब तक शैया पर छटपटाती रहती थीं, जब तक निद्रा आकर उन्हें अचेत न कर दे।

दिन मे, कुन्ती का अधिकाश समय देवाराधना में बीतता। मन को शान्त रखने का सर्वोत्तम ढंग यही है, उन्होंने ऐसा ही सुन रखा था। किन्तु क्या वास्तव मे शान्त हो पाता है मन! न हो... किन्तु विकल्प भी क्या? कुन्ती देवाराधना के बहाने प्रतिदिन कुल-देवी को अपने अश्रुओ की अजलि चढ़ा आती थीं।

कुछ समय, नियम से वे तातश्री भीष्म के चरणों में बैठकर भी बिताती थीं। उन्हें लगता था कि अब... दादीश्री, तथा माताश्री के पश्चात्, केवल वे ही हैं जो कुल के ज्येष्ठ हैं, जिन्हें वास्तव में पाण्डु के प्रति पुत्रवत् स्नेह था, और जो वास्तव में उनके पुत्रो के हितैषी हो सकते हैं। बहुधा उन दोनो के बीच का संवाद, अश्रुओं में बहकर, मौन के आगे आत्म समर्पण कर देता था। किन्तु वह आत्मीयता भरा मौन भी कुन्ती के आहत मन को सान्त्वना ही देता था।

गान्धारी के पास जाकर प्रणाम करना और उनके दुःख-सुख के विषय में चर्चा करना भी कुन्ती की दिनचर्या का एक अंग था। किन्तु उनके साथ कुन्ती का संवाद अधिकतर एक-पक्षीय ही रहता था। गान्धारी के पास पति के राज-सम्बन्धी संकटों एवं उत्तरदायित्वों के वर्णन के नाम पर इतना कुछ रहता था जो समाप्त ही नहीं होने आता था... और फिर यदा-कदा हो जाता था पाण्डु-पुत्रों के आ जाने से, अपने बढ़े हुए उत्तरदायित्व का विवरण... और कभी भीमसेन के दुर्व्यवहार का उपालम्भ अथवा युधिष्ठिर द्वारा पक्षपात के लिए परिवाद।

वहीं... गान्धारी के पास ही, एक दिन कुन्ती का परिचय शकुनि से हुआ..

"बहन..." गान्धारी ने परिचय कराते हुए कहा था, "ये हैं हमारे अग्रज, भैया शकुनि। और भैया ये..."

"ओहो... तो ये हैं कुन्ती!" शकुनि ने निश्चय ही कुन्ती की वैधव्य का संकेत देनेवाली वेशभूषा से अनुमान लगाया होगा, और कुछ महारानी के समीप उनकी अनौपचारिक उपस्थिति से। "बड़ा दुःख हुआ बहन... भैया पाण्डु के निधन से तो हम सभी हिल गये। जीजाश्री तो टूट ही गये हैं। उन्हें तो अनुज के बिना अपना जीवन ही व्यर्थ लग रहा है... बस, इस राज्य का उत्तरदायित्व न होता तो... तो वे न जाने क्या कर बैठते! बस, उनका आहत एकाकीपन बाँटने के लिए अपने देश से इतनी दूर... सारा राज-पाट भुलाकर, मैं यहाँ पड़ा हूँ..."

इस भूमिका से द्रवित होकर कुन्ती ने मौन रहते हुए ही, अपने आँचल से नयनों से प्रवाहित अश्रुधार पोंछी।

"मत रोओ बहन, मत रोओ..." शकुनि ने रुँधे कण्ठ से कहा, "मुझसे किसी के आँसू नहीं देखे जाते। यह सबसे बड़ी दुर्बलता है मेरी. किसी के आँसू नहीं देखे जाते।"

गान्धारी तथा कुन्ती की ओर से कोई बात न सुनकर, शकुनि ने ही अपने एकालाप को विस्तार दिया। सहसा उनके स्वर में चहक लौट आयी थी, "किन्तु यह तुमने बड़ा अच्छा किया जो यहाँ चली आयीं... कम से कम उन अनाथ बालकों का लालन-पालन तो ठीक प्रकार से हो जाएगा।"

'अनाथ' पर कुन्ती की दृष्टि सहसा उठी। मन ने भी विद्रोह करने के लिए सिर उठाया... किन्तु वे गान्धारी की ओर मात्र देखकर रह गयीं। कुन्ती की दृष्टि में, इस शब्द पर प्रतिवाद तो उन्हें ही करना चाहिए था। किन्तु वे मौन बैठी थी प्रतिक्रिया-शून्य।

"पर जो भी कहो..." शकुनि कहे जा रहे थे, "ये बालक हैं बड़े जीवन्त.. सारा महल गूँज उठा इनके आने से। पहले तो पता ही नहीं चलता था कि इस भवन में कहीं बच्चे भी हैं... और अब तो खूब धमा-चौकड़ी सुनाई देती है। वो जो है न... अपना भीमसेन, वही सबको दौड़ाये रहता है। और... वो जो तीनों छोटे बालक

हैं न! क्या उन्हें कोई कष्ट है? उनका रुदन बहुत सुनाई देता है। क्या वैद्यराज को दिखाया?"

कुन्ती के लिए यह सब सुनते रहना असह्य होता जा रहा था... किन्तु भाग्य ने उन्हें बहुत कुछ सहना सिखा दिया था। गान्धारी की उपस्थिति में, और वह भी उनके अग्रज के विरुद्ध, मुँह खोलना उन्हें अनुचित लग रहा था। उन्हें समझ में नहीं आ रहा, था कि भ्राता शकुनि यह सब बच्चों की प्रशंसा में कह रहे हैं अथवा परिवाद में...? क्यों कह रहे हैं.. ? कोई निहित मन्तव्य है, अथवा मात्र उनका सहज स्वभाव? जो भी हो... वह असहनीय था।

सहसा प्रणाम करते हुए कुन्ती उठ खड़ी हुईं।

समय बीतता रहा...

समय के साथ आयु तो सभी की बढ़ रही थी, किन्तु उसकी छाप हस्तिनापुर के राजकुमारों के तन मन को सुस्पष्ट रूपाकार प्रदान कर रही थी। आयु के साथ अनजाने ही बन रही थी उनकी मानसिकता.. अपनी अपनी प्रकृति और अपने-अपने स्वभाव।

किन्तु कुन्ती के लिए . उनके पुत्र तब भी वैसे ही नन्हे शिशु थे, जिनके प्रति प्रतिवाद की घटनाएँ समय के साथ बढ़ती जा रही थीं। परिवार के बालकों का भी, अनजाने ही, राजपुत्रों तथा पाण्डु पुत्रों के रूप में वर्गीकरण हो गया। धृतराष्ट्र के पुत्रो की मानसिकता कुछ यह थी कि वे राजा के पुत्र हैं... हर प्रकार के वैभव तथा सम्मान के अधिकारी। और ये पाँच कहीं बाहर से आये हैं, हमारे भाई बनकर... जो हमारे ही समान सुविधाएँ भी चाहते हैं और सम्मान भी। इस मानसिकता के आधार पर हुए वर्गीकरण में बहुधा कुछ ऐसे संवाद सुनने को मिलते थे–

"तुमने मेरे भाई को क्यो धक्का दिया?"

"तुमने इसे जंगली क्यों कहा?"

"हमारे पिताश्री तो सम्राट है.."

"तुम्हारे पिता कहाँ हैं?"

"ये हमारा भी घर है..."

"किसने कहा?"

"तुम गन्दे हो... मैं पितामह से कह दूँगा।"

"हो-हो. . पितामह क्या कर लेंगे? मैं पिताश्री से कह दूँ तो वे तुम्हें बन्दीगृह में डाल देंगे..."

बालकों के बीच पारस्परिक स्पर्धा, अपने-पराये के वर्गीकरण के साथ ही, वैमनस्य का रूप लेती जा रही थी। धृतराष्ट्र-पुत्रों के बीच स्वत: ही, ज्येष्ठ होने के कारण तथा मामाश्री शकुनि का दुलारा होने के कारण, दुर्योधन ने नेता के रूप में अपना स्थान बना लिया... और सभी पाण्डु-पुत्र मिल-जुलकर जहाँ अग्रज युधिष्ठिर की आज्ञा में रहते, वहीं भीमसेन के बाहुबल पर ही निर्भर रहते थे। इस समीकरण में, दुर्योधन तथा भीमसेन के बीच पारस्परिक स्पर्धा ने, धीरे-धीरे व्यक्तिगत वैमनस्य का रूप ले लिया।

भीमसेन की, अपनी जन्मजात स्वस्थ काया के कारण, उन सबके बीच एक अलग ही पहचान थी। विराट आकार के साथ ही, भीम में बल भी अतुलनीय था... वे भोजन करने बैठते, तब भी राजकुमारों का उपहास भुलाकर, दो चार बालकों का भोजन तो कर ही जाते थे। अत:, अपने आप ही, धृतराष्ट्र पुत्रों के बीच उनके लिए मोटू तथा पेटू जैसे नाम प्रचलित हो गये। इन सम्बोधनों से कुपित होकर भीमसेन कभी किसी के केश खींचते, तो कभी दो राजकुमारों के सिर पकड़कर लड़ा देते... कभी दो-चार को पटककर अपना क्रोध निकालते अथवा किसी को टाँग खींचकर भूमि पर गिरा देते... और कभी दुर्योधन या दु:शासन को पेड़ पर चढ़ा देख लेते तो उसका तना हिला-हिलाकर उन्हें डराते। उनके इन कृत्यों से प्रसन्न होकर, पाण्डु-पुत्र तालियाँ बजाते और मन-ही मन समझते कि उनका अपमान करने वालों को ठीक दण्ड मिला।

कुन्ती, आये-दिन, अपने पुत्रों के विरुद्ध परिवाद की घटनाएँ सुन सुनकर दु:खी होतीं और बालकों को बारम्बार समझाने का प्रयत्न करतीं कि, 'जो भी हो. यह दुर्व्यवहार तुम्हें शोभा नहीं देता।' अथवा, 'वे तुम्हारे छोटे भाई हैं... तुम तो बड़े हो, तुम्हें चाहिए कि तुम उन्हें क्षमा कर दो।'

घूम-फिरकर, पितामह भीष्म भी उन्हें कुछ ऐसी ही शिक्षा देते... अथवा कभी उनका ध्यान बँटाने के लिए उन्हें कोई ज्ञान-वर्धक बोधकथा सुनाने लगते। पाण्डु पुत्रों को इस प्रकार पितामह में अपने शुभ-चिन्तक के दर्शन होने लगे... यद्यपि उन पर यह भेद भी खुलने लगा कि, किसी भी प्रकार के मतभेद में, वे दुर्योधन आदि को किसी भी प्रकार दण्डित नहीं कर पाएँगे।

परस्पर लड़ते-भिड़ते भी, दोनों वर्ग एक-दूसरे की उपस्थिति नकारने की स्थिति में नहीं थे। युधिष्ठिर आदि को, धृतराष्ट्र-पुत्रों के विराट दल को देखकर, अलग खेलना नहीं सुहाता था और दुर्योधन आदि को उन्हें अलग रखकर भीमसेन को चिढ़ाने-खिझाने का अवसर नहीं मिलता था। घड़ी-दो घड़ी रूठकर, अलग होकर, वे पुन: मिल जाते थे... पुन: साथ खेलकर लड़ने-झगड़ने तथा टकराने के लिए...

बातों ही बातों में बालकों के बीच दौड़ लगाने के लिए होड़ लग गयी। दुर्योधन ने व्यंग्य में कहा, "दौड़ में तो मेरी विजय निश्चित है... इस मोटू से तो हिला भी नहीं जाएगा।"

भीमसेन ने क्रोध भरी दृष्टि से देखकर कहा, "आओ... अभी बताता हूँ..."

दौड़ प्रारम्भ हुई तो भीमसेन वहाँ भी सबसे आगे निकल गये। दुर्योधन सारा बल लगाकर भी भीमसेन से बहुत पीछे रह गये। तब व्यंग्य से भीमसेन ने कहा, "और कहोगे मोटू...?"

"हाँ, मोटू तो हो ही..." दुर्योधन ने हाँफते हुए कहा, "मोटे हो जाने से ही कोई बलवान नहीं हो जाता। बल के लिए गँठा हुआ शरीर होना चाहिए... जैसे मेरा।"

"अहा...हा!" भीमसेन ने हँसते हुए कहा, "बड़े आये बलवान बनके। चाहो तो मल्ल युद्ध करके देख लो।"

दुर्योधन की इच्छा तो हुई कि कहीं से उसे शक्ति मिल जाए तो एक बार भीमसेन को पटककर दिखा दें . किन्तु उसका साहस नहीं हुआ।

उसे चुप देख दु:शासन ने कहा, "आज भैया थके हैं. कल तुम्हारा घमण्ड भुला देंगे।"

"क्यों, डर गये?" भीमसेन ने फिर व्यंग्य किया, "कल क्या अधिक दूध पीकर आओगे? अरे साहस हो तो आज लड लो।"

दुर्योधन को पुन: चुप देख दु:शासन ने ही कहा, "कह दिया न, कल..."

"अरे अकेले नहीं लड़ सकते तो " भीमसेन ने पुन: ललकारा, "तो तुम दोनों आ जाओ . एक साथ।"

सहसा दुर्योधन को लगा कि यह अच्छा अवसर है, अपने अपमान का बदला चुकाने का। उसने अनुज दु:शासन की ओर देखकर संकेत किया... और क्षणभर में ही दोनों एक साथ उछलकर भीमसेन पर टूट पड़े। भीमसेन उस आकस्मिक आक्रमण के लिए तैयार न होने के कारण पहले तो पीछे गिरे, किन्तु तुरन्त ही उलटकर उन्होंने उन दोनों को दबोच लिया। कुछ ही पल में वे दोनों हाँफते हुए... 'अच्छा हार मानी. ' कहकर नि:चेष्ट हो गये।

भीमसेन ने उन्हें छोड़कर अपनी दोनो भुजाएँ हवा मे उछालते हुए चिल्लाकर कहा, "मैं विजयी हुआ मेरी विजय हुइ।" उनके इस विजय घोष में चारों पाण्डु पुत्रों ने हँसते हुए योगदान दिया।

दुर्योधन ने खिसियाते हुए जाते जाते कहा, "एक दिन जीतने से कुछ नहीं होता, कल देख लेना।"

उसके पीछे अन्य धृतराष्ट्र पुत्र भी दु:खी मन से चले गये।

दुर्योधन के लिए वह बड़े अपमान का क्षण था। उसने कल के लिए कह तो दिया था, किन्तु वह जानता था कि कल कोई चमत्कार तो होगा नहीं... वह छटपटाकर मन-ही-मन प्रार्थना करता रहा कि इस मोटू का कोई हाथ-पाँव टूट जाए... या इसे कोई ऐसा भयंकर रोग हो जाए कि यह उठ भी न सके... या फिर मर ही जाए...

तभी उसके मस्तिष्क में किसी से सुना हुआ वाक्य गूँजा, 'मात्र इच्छा करने से कुछ नहीं होता, मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए।'

यह विचार आते ही दुर्योधन इस सोच में पड़ गया कि भीमसेन से कैसे मुक्ति पायी जाए... उसे कैसे मारा जाए! उसने सुन रखा था कि यदि कोई विष मिला भोजन खा ले तो उसकी मृत्यु हो जाती है। यही सरल उपाय होगा... उसने सोचा। भीमसेन है भी पेटू, जो भी खिला दो, दौड़कर खा लेता है। किन्तु विष कहाँ मिले...?

दुर्योधन को एक युक्ति सूझी... उसने एक दिन, गंगातट पर प्रमाणकोटि मे चलकर खेलने और नौका विहार करने की योजना बनायी। सब बालक बड़े हर्ष से तैयार हो गये। वहाँ तम्बू लगे.. और खाने की भी व्यवस्था हुई। दुर्योधन ने डराकर और अपना बाजूबन्द देने का प्रलोभन देकर, वहाँ के रसोइये से खीर बनवायी और उसी से विष मँगाकर उस खीर में मिलाया। फिर तो सब योजना सरल हो गयी। निमन्त्रण पाते ही भीमसेन ने बड़ी प्रसन्नता के साथ छककर वह खीर खायी.. और कुछ ही क्षणों में वह अचेत होकर सो गया।

उसे सोता देख, दुर्योधन ने दुःशासन से मिलकर भीम को गंगा में डुबाने की योजना बनायी। इस कार्य में दुस्सह, जलसन्ध, अनुविन्द आदि उसके अनेक अनुजो ने उसका साथ दिया। वे भीमसेन को एक बड़ी चादर मे लपेटकर खींचते हुए ले गये और एक ऊँचे तट से उसे गंगा में ढकेल दिया... और हर्ष नाद करते हुए लौट गये।

संयोग की बात, कि एक अंगरक्षक ने राजकुमारों को नदी मे कुछ फेंकते देख लिया। राजकुमारों के हर्षित हाव-भाव से भी उसे कुछ सन्देह हुआ... और दूसरे ही क्षण, उसने गंगा की सर्प जैसी लहरों से जूझते हुए एक बालक को भी देखा। यह देख, बिना एक भी क्षण गवाँये वह गंगा की धार में कूदा और लहरों को चीरते हुए बालक के पास जा पहुँचा। जब वह भीमसेन को खींचकर तट पर लाया, तब तक भीमसेन बहुत-सा जल पीकर अचेत हो चुके थे। अंगरक्षक ने, उन्हें उल्टा लिटाकर, पीठ दबा-दबाकर सारा जल उनके पेट से निकाला.. जिसके साथ कुछ समय पहले खायी हुई सारी खीर भी निकल गयी। किन्तु भीमसेन को चेतना नहीं आ रही थी।

वह भीम को भुजाओं में उठाये, दौड़ता हुआ, एक निकटवर्ती गाँव में, वैद्य के पास गया और बोला, "वैद्यराज! यह बालक, राजकुमार भीमसेन है... गंगा में गिरने के कारण अचेत हो गया था।"

वैद्य नागराज ने भीम का परीक्षण करके आश्चर्य एवं सन्देह भरी दृष्टि उठायी, "मात्र जल में डूबने की बात नहीं लगती... इस पर तो कुछ विष का प्रभाव भी लग रहा है।"

"जो भी हो आप शीघ्र उपचार करें..." वृद्ध अंगरक्षक ने चिन्तित स्वर में कहा, "आपको समुचित पुरस्कार मिलेगा।"

"पुरस्कार ही सब कुछ नहीं होता..." अपनी औषधियों की पिटारियाँ खोलने में व्यस्त वैद्य ने कहा, "और फिर यह बालक तो मुझे अपने दौहित्र जैसा लग रहा है.."

दो घड़ी में, विष काटने की औषध के प्रभाव से भीमसेन कराहते हुए उठ बैठे। अंगरक्षक का मुख प्रसन्नता से खिल उठा और वैद्य नागराज के मुख पर युद्ध जीतने जैसा सन्तोष झिलमिला उठा।

आभार प्रकट करते हुए अंगरक्षक ने वैद्यराज से संकेत में पूछा कि उन्हें क्या भेंट किया जाए। उत्तर में नागराज मुस्कराये, "एक राजकुमार आज पहली बार मेरे औषधालय में आया है। भेंट तो मुझे देनी चाहिए, आर्यक... किन्तु मेरे पास न तो राजकुमारों के लिए उपयुक्त बहुमूल्य रत्न हैं और न कुमार भीमसेन के पास रत्नों का कोई अभाव ही होगा। मेरे पास तो बस औषधियाँ ही हैं।"

यह कहते हुए उन्होंने भीमसेन को कुछ ऐसी औषधियाँ दीं जो उन्हें और भी स्वस्थ बना दें। साथ ही, वह औषध भी दी, जिससे उनके शरीर का विष उतरा था.. यह बताते हुए कि यदि कभी किसी विष का संकेत मिले तो तुरन्त इसे खा लेना. विष का प्रभाव पूर्ण रूप से न भी मिटे, कम तो हो ही जाएगा।"

वैद्य का आभार प्रकट करते हुए, चलते समय, आर्यक ने हाथ जोड़कर कहा, "वैद्यराज! क्या एक प्रार्थना करूँ!"

"नि:संकोच कहो भाई..." नागराज ने कहा।

"इस दुर्घटना का उल्लेख किसी से न करें.." आर्यक ने कहा, "राज-परिवार की प्रतिष्ठा का प्रश्न है।"

नागराज मुस्करा दिये, "आश्वस्त रहो।"

उधर खेल से थककर, सारे राजकुमार विभिन्न रथों में बैठकर गाते, शोर मचाते हुए जब राज भवन पहुँचे, तो साँझ ढल चुकी थी। कुन्ती ने जब भीमसेन को न देखकर युधिष्ठिर आदि से प्रश्न किया तो उन सबने उदास स्वर में बताया कि उन्होंने भी बड़ी देर से भीमसेन को नहीं देखा। बस, नकुल ने परिवाद भरे स्वर में सूचना दी, "भीम भैया खीर खा रहे थे, दुर्योधन भैया उन्हें खिला रहे थे। मैंने भी माँगी तो उन्होंने

मुझे भगा दिया। बस तभी देखा था।"

कुन्ती ने चिन्तित होकर विदुर को सूचना दी और उनसे सहायता माँगी। यह सुनकर विदुर अपने भवन से निकल ही रहे थे कि उन्होंने आर्यक के साथ, साँझ के झुटपुटे में छिपते हुए, भीमसेन को आते देखा। आर्यक ने विदुर को अलग ले जाकर सारी घटना सुनायी तो उनके मस्तक पर चिन्ता की गहन रेखाएँ उभर आयीं। उन्होंने आर्यक को पर्याप्त पुरस्कार देते हुए किसी से भी इस घटना का उल्लेख न करने का आदेश दिया।

आर्यक को विदा करके विदुर ने भीमसेन का अपने वैद्य द्वारा पुन: परीक्षण कराया और उनके स्वास्थ्य के प्रति आश्वस्त होने पर ही वे उन्हें कुन्ती के पास ले गये। भीमसेन के साथ हुई दुर्घटना के विषय में सुनकर कुन्ती चिन्तित भी हुई... और क्रोधित भी। किन्तु विदुर ने उन्हें शान्त करके इस घटना की उपेक्षा करने का परामर्श दिया। उनका कहना था कि क्रोध करने से परिवार में वैमनस्य ही बढ़ेगा... किसी का हित नहीं होगा। दुर्योधन भी, अपने दुष्कर्म का रहस्य खुल जाने के कारण, और भी उग्र हो उठेगा और उसका उग्र होना सभी पाण्डु-पुत्रों के लिए अहितकर हो सकता था। विदुर को आशा थी कि इस स्थिति में इस घटना की उपेक्षा ही सम्भवत: दुर्योधन को कोई स्वस्थ संकेत दे सके। साथ ही उन्होंने कुन्ती को आश्वस्त कराया कि वे भविष्य में स्वयं दुर्योधन की गतिविधियों पर दृष्टि रखेंगे।

कुन्ती को भी लगा कि सम्भवत: यही सर्वोत्तम विकल्प है।

दूसरे दिन, भीम को अपने सम्मुख स्वस्थ खड़ा देख, दुर्योधन अवाक् रह गया। भीम का मन तो हुआ कि उसे पटककर उसका कचूमर निकाल दें, किन्तु माँ के आदेश को ध्यान में रखकर वे ऐसे बने रहे जैसे कुछ हुआ ही न हो।

दुर्योधन ने एक बार फिर विष देने की योजना बनायी... किन्तु विदुर की सतर्क व्यवस्था के कारण, युयुत्सु द्वारा उन्हें संकेत मिल गया और भीमसेन पर, नागराज द्वारा प्राप्त औषध के कारण, पुन: कुछ प्रभाव नहीं हुआ।

उधर विदुर तथा पितामह भीष्म के परामर्श पर, कि सभी राजकुमार आठ दस वर्ष के हो रहे हैं और उनकी विधिवत् शिक्षा का समय आ गया है, महाराज धृतराष्ट्र ने उन्हें शस्त्र तथा शास्त्र ज्ञान के लिए कृपाचार्य को सौंप दिया।

आचार्य कृप का कुरुवंश से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध था। शैशव काल से ही उन्हें महाराज शान्तनु ने पाला था और वे महाराज शान्तनु को ही अपना आश्रय-दाता एवं संरक्षक मानते थे। जब उनके पिता, महान धनुर्धर महर्षि शरद्वान, अपनी पत्नी को दो शिशुओं-सहित त्यागकर चले गये थे, तब दोनों शिशुओं को अनाथ जानकर शान्तनु

ने ही अपनाया था। उन्होंने ही, उन दोनों को, कृप तथा कृपी नाम देकर उनका लालन-पालन किया। बाद में, महर्षि शरद्वान ने शान्तनु के पास पहुँचकर उनका आभार प्रकट किया और, उनकी सेवा में रहते हुए, पुत्र कृप को धनुर्वेद आदि की विधिवत् शिक्षा दी। अपने पिता से सभी प्रकार के शस्त्रों, वेद-शास्त्रों तथा उनके रहस्यों की शिक्षा पाकर, आचार्य कृप हस्तिनापुर में ही बस गये और कुरुकुल के राजकुमारों के साथ ही, यदुवंशी तथा अनेक अन्य राजकुमारों को भी शिक्षा देने का कार्य करने लगे।

समय आने पर, शान्तनु की सहायता से, उन्होंने अपनी बहन कृपी का विवाह, महर्षि भरद्वाज के प्रतिभावान शिष्य, वेद-वेदांग एवं आग्नेय-शस्त्र-विशारद, आचार्य द्रोण से कर दिया।

आचार्य कृप से शिक्षा पाते हुए सभी राजकुमार समय के साथ किशोरावस्था को प्राप्त हुए। उन सब में दुर्योधन, भीमसेन, अर्जुन, युधिष्ठिर, दु:शासन आदि शस्त्र विद्या में विशेष रुचि ले रहे थे। आचार्य कृप उनकी प्रतिभा से प्रसन्न थे और सोचते थे कि यदि वे ऐसे ही मन लगाकर अभ्यास करते रहे तो अवश्य ही महान योद्धा बनेंगे।

एक दिन वे सब शस्त्राभ्यास के बाद खेल रहे थे, कि उनकी गेंद एक कुएँ में जा गिरी। वे कुएँ के पास खड़े होकर खीझने तथा दु:खी होने लगे। तभी पास ही एक वृक्ष के नीचे बैठे एक अधेड, यज्ञोपवीतधारी, व्यक्ति पर उनकी दृष्टि पड़ी। वह उन सब की ओर ही देखकर मुस्करा रहा था।

तभी अर्जुन ने उसकी ओर देखकर ऐसे ही कहा, "इसमें हमारी गेंद गिर गयी..."

उस व्यक्ति को जैसे इसी क्षण की प्रतीक्षा थी। वह मुस्कराता हुआ कुएँ के पास आया और बोला, "तुम तो धुनर्विद्या के विद्यार्थी प्रतीत होते हो... कुछ यत्न क्यों नहीं करते?"

"धनुर्विद्या कुएँ में पड़ी गेंद का क्या कर लेगी, पण्डितजी!" दुर्योधन ने कुछ व्यंग्य से कहा।

"प्रयत्न करें तो सम्भवत: कुछ कर भी ले..." उस व्यक्ति ने कहा, "अब हमारे पास जो ज्ञान है, जो साधन हैं, हम उन्हीं का उपयोग तो कर सकते हैं।"

"कैसे...?" दु:शासन ने कुछ शंका तथा कुछ व्यंग्य से पूछा।

उस व्यक्ति ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ायी और राजकुमारों के धनुष-बाणों का निरीक्षण किया। पास ही पड़े एक पुराने कुशासन को उठाकर उसने कुछ धागों से लपेटते हुए उसके कोनों को अपने हाथ की अँगूठी से बाँध दिया और अँगूठी को कुशासन के बीच रखते हुए, सावधानी से कुएँ में ऐसे फेंका कि वह गेंद के पास जा गिरा। अँगूठी उस तैरते कुशासन पर रखी हुई दिखाई दे रही थी।

सभी राजकुमार विस्मय एवं कौतूहल के साथ यह सब देख रहे थे... कि अर्जुन ने जिज्ञासा की, "हमें तो गेंद निकालनी थी... और आपने तो अपनी अँगूठी भी कुएँ में डाल दी।"

"कुछ पाने के लिए कभी-कभी कुछ दाँव पर भी लगाना होता है, वत्स!" उस व्यक्ति ने मुस्कराते हुए अर्जुन के सिर पर स्नेह-सहित हाथ फेरते हुए कहा, "देखो, अब यह गेंद यदि किसी प्रकार इस आसन पर आ जाए तो... काम बन जाएगा।"

सभी स्तम्भित राजकुमार लगभग एक साथ बोल उठे, "पर कैसे?"

उस व्यक्ति ने एक धनुष उठाया... और चुनकर एक बाण निकाला। उसे धनुष पर रखकर प्रत्यंचा खींची, और लक्ष्य साधते हुए बाण ऐसे छोड़ा कि वह गेंद को एक किनारे छूता हुआ जल में जा समाया। किन्तु उसकी तीव्र रगड़ से गेंद फिरकी की भाँति नाचती हुई कुशासन पर जा बैठी। यह देख चमत्कृत राजकुमारों के मुख से सहसा हर्ष-ध्वनि फूट पड़ी। सबकी आँखों में प्रशंसा का भाव था।

तभी दुर्योधन ने पूछा, "किन्तु इससे गेंद बाहर कैसे आएगी?"

"वह भी प्रयत्न करते हैं..." उस व्यक्ति ने मुस्कराकर कहा और पुन: बाणों के ढेर से खोजकर एक, बिना फल वाला, नोकीला बाण निकाला और उसके पृष्ठभाग को एक लम्बे धागे से बाँधा। उसे धनुष पर साधते हुए लक्ष्य करके ऐसे छोड़ा कि वह अँगूठी के बीच से निकल गया। दो क्षण के लिए तो उसके साथ वह अँगूठी भी जल में विलीन हो गयी... किन्तु शीघ्र ही कुशासन के साथ तैरती हुई जल स्तर पर पुन: प्रकट हो गयी। वह दृश्य सभी राजकुमार बड़ी तन्मयता के साथ साँस रोककर देखे जा रहे थे कि उस व्यक्ति ने धनुष कुँए की जगत पर टिकाते हुए, बाण से बँधी डोर को सावधानीपूर्वक ऊपर खींचा। पहले बाण के साथ ही उसमें फँसी अँगूठी ऊपर उठती दिखाई दी... फिर अँगूठी से बँधे धागों के साथ झोला बना वह कुशासन ऊपर उठा जिसके बीच गेंद दिखाई दे रही थी।

गेंद को ऊपर उठते देख सभी राजकुमार चमत्कृत रह गये और हर्ष में तुमुल ध्वनि करने लगे। उत्तेजना में अर्जुन तो दौड़कर उनसे लिपट ही गया।

"आप कौन हैं ..?" युयुत्सु ने प्रशंसा भरे स्वर में पूछा, "पहले आपको कभी देखा नही।"

तभी आश्चर्य में अध-खुले मुँह से, दुर्योधन ने पूछा, "आप कहाँ रहते हैं? कहाँ से आये हैं?"

"तुम मुझे नहीं पहचान सकोगे बालको!" आगन्तुक ने शान्त रहते हुए कहा, "जाकर अपने पितामह से कहो... वे मुझे पहचान लेंगे।"

"किन्तु..." युधिष्ठिर ने असमंजस में कहा, "किन्तु हम क्या कहेंगे?"

"वही जो तुम सबने देखा..." आगन्तुक ने सहज मुस्कान के साथ उत्तर दिया,

"एक साधारण-सा व्यक्ति... शरीर पर यज्ञोपवीत, माथे पर चन्दन, केश कुछ श्वेत हो चले हैं... और वह सब जो तुमने देखा," यह कहते हुए वे पूर्ववत वृक्ष की छाया में जा बैठे।

भीष्म ने जब सारा विवरण सुना तो वे भी आश्चर्यचकित रह गये... और तुरन्त ही राजकुमारों के साथ चलने के लिए उठ खड़े हुए।

"तातश्री..." अर्जुन ने सहसा उनसे प्रश्न किया।

"तातश्री नहीं..." भीष्म ने घूमकर स्नेहपूर्वक उसे टोका।

"पितामह..." अर्जुन ने जैसे भूल-सुधार करते हुए कहा, "आपने पहचान लिया उन्हें?"

"हाँ, पहचान लिया।" चलते-चलते भीष्म ने प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कहा, "एक महान धनुर्धर..."

"वो तो हैं... किन्तु वो हैं कौन?" दुर्योधन ने कहा।

"कह दिया न!..." भीमसेन ने दुर्योधन को साधिकार स्वर में टोका, "एक महान धनुर्धर हैं।"

"हाँ..." भीष्म ने समझाते हुए कहा, "इससे अधिक परिचय हो भी क्या सकता है। वास्तविकता भी यही है.. व्यक्ति का परिचय न तो उसके नाम से होता है, और न वंश अथवा वर्ण से। व्यक्ति का वास्तविक परिचय होता है उसका कर्म... उसकी योग्यता।"

शीघ्र, अनेक पौत्रों से घिरे हुए भीष्म उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ वह अपरिचित धनुर्धर बैठे थे। भीष्म, दूर से ही प्रणाम की मुद्रा में हाथ जोड़े हुए ही, उनकी ओर बढ़े। एक वयोवृद्ध यशस्वी योद्धा को ऐसी विनम्र मुद्रा में अपनी ओर आते देख, द्रोण उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर भीष्म के चरणों में झुक गये।

"मैं गंगापुत्र भीष्म..." भीष्म ने आगे बढ़ते हुए कहा, "हस्तिनापुर में आपका स्वागत करता हूँ।"

"यह द्रोण का सौभाग्य है महात्मन्!" द्रोण ने विनम्रतापूर्वक कहा, "जो मुझे आप जैसे महान योद्धा को प्रणाम करने का अवसर प्राप्त हुआ। आपने स्वयं क्यों कष्ट किया? मुझे बुलवा लिया होता।"

"ऐसे गुणी व्यक्ति को बुला भेजने का दुःसाहस मैं कैसे करता वत्स! स्वयं आकर स्वागत करना ही सर्वथा उचित है।"

भीष्म, द्रोण को साथ लेकर ही राज-भवन के अपने कक्ष में लौटे। अर्घ्य-पाद्य से उनका विधिवत् सत्कार करने के पश्चात् भीष्म ने उनका परिचय एवं आगमन का कारण पूछा।

द्रोण द्वारा भीष्म को यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई कि वे कृपाचार्य के निकट सम्बन्धी हैं और महर्षि परशुराम के शिष्य रह चुके हैं।

"आजकल मैं बड़ी चिन्ता में हूँ..." द्रोण ने सामान्य औपचारिकता के पश्चात् गम्भीर होते हुए कहा, "एक राजा ने मेरा बड़ा अपमान किया... अपने धन एवं वैभव के अहंकार में। उस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए मुझे कुछ समर्थ शिष्यों की एक सेना चाहिए। बस, मूल रूप से इसी उद्देश्य से मैं यहाँ आया हूँ। यदि मैं राजकुमारों को शिक्षा देने का उत्तरदायित्व पा सकूँ तो मेरी आजीविका की समस्या भी हल हो जाएगी और मुझे कुछ मेधावी शिष्य भी प्राप्त हो सकेंगे।"

"इन राजकुमारों का तो सौभाग्य होगा यदि आप जैसा ज्ञानी उन्हें शिक्षा दे सके, किन्तु..." भीष्म कुछ अटकते हुए बोले, "यह प्रतिशोध! क्या यह एक ब्राह्मण को शोभा देता है?"

"शोभा तो नहीं देता, महात्मन्!" द्रोण ने सोचते हुए कहा, "किन्तु राज-मद में, अकारण ही, किसी का अपमान करने वाले को कुछ दण्ड तो मिलना ही चाहिए। और आपसे मेरा यह वचन है... कि मेरा यह प्रतिशोध पूर्णत: हिंसा से रहित होगा... शास्त्र-सम्मत होगा।"

"एक शंका और..." भीष्म ने खोजती हुई दृष्टि से देखते हुए पूछा, "हमारे कृपाचार्य आपके इतने निकट सम्बन्धी हैं... आपकी पत्नी के सहोदर... फिर भी आप एक अनाम व्यक्ति की भाँति यहाँ आये! क्या इसका कोई विशेष कारण है?"

"है भी..." द्रोण ने कुछ क्षण के मौन के पश्चात् सोचते हुए उत्तर दिया, "और नहीं भी। एक तो मैं बन्धु कृपाचार्य की अनुशंसा द्वारा नहीं, स्वयं अपनी योग्यता के आधार पर यहाँ कोई पद प्राप्त करना चाहता था और... दूसरे यह भी कि इस समय वे राजकुमारों को शास्त्र-ज्ञान के साथ ही शस्त्र-संचालन की शिक्षा भी दे रहे हैं। मैं उनका प्रतिद्वंद्वी नहीं, पूरक बनकर रहना चाहता हूँ। आप मेरा आशय समझ ही गये होंगे..."

"अर्थात्, कार्य विभाजन..." भीष्म ने मुस्कराते हुए उन पर प्रश्न दृष्टि डाली।

द्रोण ने भी मुस्कराकर दृष्टि झुका ली...

उधर, कृपाचार्य को द्रोण के आगमन का पता चला तो वे अत्यन्त उत्साहित होकर दौड़े हुए आये और स्नेह-सहित, उन्हें बाँहों में भरकर, बहिन कृपी तथा भानजे अश्वत्थामा के विषय में पूछने लगे। संक्षेप में परस्पर कुशल क्षेम सम्बन्धी संवाद के पश्चात् कृपाचार्य का ध्यान सहसा भीष्म की ओर गया, जो उन दोनों का स्नेह-मिलन देख हर्षित होकर, मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे।

"गंगापुत्र!" कृपाचार्य ने कहा, "यह तो मेरे लिए परम सौभाग्य का दिन है जो आज कई वर्षों बाद मुझे इनके दर्शन हुए। बहुत समय से मैं सुन रहा था कि ये अपने घर-परिवार को भूलकर अपना शस्त्र-ज्ञान बढ़ा रहे हैं... इनके शस्त्र-ज्ञान की जो

चर्चाएँ मैंने सुनीं, वे अकल्पनीय हैं... यदि आपकी दृष्टि में ये खरे उतरें तो आप इन राजकुमारों को शस्त्र-शिक्षा देने का अवसर प्रदान करें।"

कृपाचार्य का यह परामर्श सुनकर सहसा, भीष्म तथा द्रोण, दोनों ही एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराये।

दूसरे ही क्षण, भीष्म ने मुस्कराते हुए कृपाचार्य से कहा, "हमें आपका प्रस्ताव स्वीकार्य है।"

कृपाचार्य अपने सम्माननीय सम्बन्धी को स्नेह एवं आग्रह-सहित अपने घर ले गये।

गुरु यदि वास्तव में गुणी हो और यदि उसकी उपलब्धियों की छाप उसके शिष्यों के मन पर पड़ चुकी हो तो शिष्यों के मन मे स्वतः ही गुरु के प्रति आदर का भाव भी उमड़ता है.. और शक्ति भर परिश्रम करके ज्ञान प्राप्त करने की ललक भी उत्पन्न होती है। हस्तिनापुर के अधिकांश राजकुमारो के मन में भी कुछ ऐसा ही भाव उत्पन्न हुआ। वे मन लगाकर बड़ी श्रद्धा के साथ अपने नये गुरु द्रोणाचार्य से शस्त्र-विद्या प्राप्त करने लगे।

किन्तु शिक्षा के सोपान विधिवत् चढ़ने का धैर्य भी तो सबके पास नहीं होता.. और यह अन्तर भी प्रमुख रूप से, न केवल योग्य एवं अयोग्य शिष्य का वर्गीकरण करता है, उनमें गुरु की रुचि सम्बन्धी भेद भी उत्पन्न करता है।

द्रोणाचार्य को शिक्षा देते हुए कुछ ही समय हुआ था कि एक दिन दुर्योधन ने उनसे कहा, "आचार्यवर! हमें कुएँ से गेंद निकालना सिखाइए।"

"उसके लिए तुम्हें धैर्य धारण करना होगा..." द्रोणाचार्य ने कहा, "उसके लिए तुम्हें पहले और भी बहुत कुछ सीखना होगा।"

"और क्या होता है शस्त्र विद्या में!" दुर्योधन ने कुछ रूठते हुए आग्रह किया, "शत्रु को मारना होता है। वह तो हम बाद में भी सीख लेंगे.."

"और क्या..." दुःशासन ने उसके स्वर मे स्वर मिलाया, "अभी कौन-सा शत्रु आ रहा है?"

"मारना तो तुम्हें वैसे भी आता है..." भीमसेन ने व्यंग्य किया, "उसके लिए तुम्हें शस्त्र विद्या की क्या आवश्यकता?"

दुर्योधन क्रोधित होकर उठ खड़ा हुआ, "बताऊँ तुझे.. ?"

द्रोण को उन दोनों के बीच शान्ति स्थापित करने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ा। उन्हें ज्ञात नहीं था कि शिक्षा देने के साथ ही उन्हें अपने राजकुल के विद्यार्थियों को अनुशासित रखने के लिए भी अतिरिक्त प्रयास करना होगा।

एकाग्रता का महत्त्व समझाते समझाते वे शिष्यों को अनुशासन एवं संयम का

महत्त्व भी समझाने लगे। उनकी वार्ता से कुछ राजकुमार असहज लगे। कुछ देर बाद दु:शासन ने उन्हें टोका, "आचार्यवर! यह बातें तो हमें कृपाचार्य बताते ही रहते हैं... आप तो हमें शस्त्र-संचालन की ही शिक्षा दीजिए।"

"अथवा कुएँ से गेंद निकालने जैसा कोई ऐसा दुस्साध्य कार्य करना सिखाइए जिसे देखकर लोग चमत्कृत रह जाएँ..." विकर्ण ने उसके स्वर में स्वर जोड़ा।

"नहीं, पहले हम कुएँ से गेंद निकालना ही सीखेंगे..." दुर्योधन ने कहा तो उसके सारे अनुज सहमति में उसके साथ खड़े हो गये, "वह सिखा दें तब तो आनन्द ही आ जाए।"

द्रोणाचार्य असहज हो उठे... चिन्ता की रेखाएँ उनके मस्तक पर उभर आयीं। उन्होंने आज्ञाकारी शिष्य ही देखे थे, राज-कुल के शिष्यों की उन्होंने पहले कभी कल्पना भी नहीं की थी। 'तब कैसे चलेगा यह कार्य व्यापार! कैसे हल होगी यह समस्या?'

किन्तु प्रत्येक समस्या एक चुनौती प्रस्तुत करती है... और जो चुनौती से चिन्तित हो उठे, वह भला जीवन में और क्या करेगा! द्रोणाचार्य ने एक नया मार्ग अपनाया, "तो राजकुमारो! प्रश्न यह है कि पहले क्या सीखा जाए? अर्थात् सब से अधिक आवश्यक क्या है?"

"हाँ..." दु:शासन ने दुर्योधन की ओर देखते हुए कहा।

"अच्छा... पहले यह बताओ कि जीवन में सबसे अधिक आवश्यक क्या है?" द्रोणाचार्य ने बड़े नाटकीय ढंग से, मुस्कराते हुए पूछा... और दृष्टि दु:शासन की ओर घुमायी। "बताओ तो..."

"शक्ति..." दु:शासन ने उल्लसित स्वर में कहा, "शक्ति हो तो सभी कार्य सरल हो जाते हैं।"

"शक्ति तो ठीक है..." भीमसेन ने उसकी ओर देखते हुए कहा, "किन्तु शक्ति पाने के लिए अच्छा भोजन अत्यन्त आवश्यक है।"

सुनकर हँसते हुए राजकुमारों के साथ द्रोणाचार्य भी मुस्कराये बिना न रह सके। "और तुम बताओ..." उनका संकेत दुर्योधन की ओर था।

"राज-सत्ता..." दुर्योधन ने गम्भीर स्वर में कहा, "सब झुकते हैं सत्ता के आगे।"

द्रोण की प्रश्न-दृष्टि उठती गयी... और उन्हें नये-नये उत्तर मिलते गये...

"अच्छा गुरु..." अर्जुन ने कहा।

"माता-पिता का प्रेम..." कर्ण ने उत्तर दिया।

"धर्म..." यु।धष्ठिर का संक्षिप्त उत्तर था।

"सत्संग..." युयुत्सु ने कहा।

"आत्मसम्मान..." यह नकुल का उत्तर था।

"धन..." सुबाहु ने कहा।

"सद्बुद्धि..." यह सहदेव का मत था।

द्रोण ऐसे विविध उत्तर पाकर चमत्कृत रह गये। इन उत्तरों से उन्हें अपने शिष्यों की मनःस्थित समझने में भी सहायता मिल रही थी। कौन किस योग्य है! कौन कितने पानी में है! किन्तु गुरु के लिए तो सभी शिष्य बराबर होते हैं... उसका स्नेह तो सभी पर एक जैसा होना उचित है। किन्तु गुरु के लिए यह समझ भी आवश्यक होती है कि किस शिष्य पर श्रम सार्थक होगा, और किस पर निरर्थक... जैसे कृषक के लिए सोच-विचारकर यह निर्णय लेना आवश्यक है कि किस भूमि में बीज बोया जाए, और किसमें नहीं। अथवा किस भूमि में क्या बोया जाए और किस क्षेत्र को कितना सींचा जाए।

अपने वैचारिक आदान प्रदान एवं दैनिक अनुभव के आधार पर अपने शिष्यों के प्रति द्रोण की धारणाएँ रूपाकार लेती चली गयीं। उनके मन में एक स्थूल वर्गीकरण यह हुआ कि पाण्डु पुत्र सरल स्वभाव के हैं.. अनुशासित भी और शिक्षा के प्रति गम्भीर भी। इसी प्रकार, दुर्योधन के प्रति उनके मन में यह धारणा बनी कि वह अहंकारी है, राज मद उसे अपने सम्मुख किसी को भी महत्त्व नहीं पाने देता। दुःशासन को उन्होंने पूर्ण-रूपेण दुर्योधन के प्रति समर्पित पाया... चाहे वह नितान्त अनीति के मार्ग पर ही क्यों न हो। अन्य धृतराष्ट्र पुत्रों में कोई विशेष व्यक्तित्व हो न हो, अग्रज दुर्योधन के प्रति सहयोग की भावना तो थी ही।

जाने अनजाने, पाण्डवों के प्रति द्रोण का रुझान अन्य सभी पर भी स्पष्ट होने लगा। किन्तु अपने इस पूर्वाग्रह को उचित सिद्ध करने के लिए तथा स्वयं अपने आप को आश्वस्त करने की दृष्टि से भी, द्रोणाचार्य ने एक परीक्षा की स्थिति उत्पन्न की।

अपने सभी शिष्यों को सरिता तट पर खेलने का आदेश देकर वे स्वयं स्नान के लिए कटि तक गहरे जल में प्रवेश कर गये। स्नान के पश्चात् उन्होंने सूर्य को अर्घ्य दिया... और तभी, तट पर खेलते शिष्यों ने उनकी करुण पुकार सुनी, "बचाओ ..बचाओ..."

चौंककर शिष्यो ने देखा, आचार्य अपने दोनों हाथों में पकड़े हुए एक मगर से जूझ रहे हैं.. उनकी एक भुजा मगर के दाँतों में है, और वे छूटने के लिए छटपटा रहे हैं।

घबराहट मे कुछ राजकुमार सहायता के लिए दूर खड़े सेवकों की ओर दौड़े... कुछ भय एवं असमंजस में मुँह-बाये तट पर ही खड़े देखते रह गये.. किन्तु इसी बीच युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि जल में कूदकर उनकी ओर बढते जा रहे थे। तभी अपना धनुष-बाण लिये, घुटने तक जल में प्रवेश करके, अर्जुन ने तानकर एक बाण चला दिया... जो उस मगर को वेध गया।

तभी मुस्कराते हुए, उस मगर को दोनों भुजाओं से उठाकर, द्रोण ने जल में फेंक दिया और वे पाण्डु-पुत्रों को भुजाओं में घेरे हुए तट की ओर अग्रसर हुए। वास्तविक रहस्य उनके तट पर पहुँचने पर ही खुला। एक मगर का पुतला बनाकर उन्होंने यह खेल तो शिष्यों की परीक्षा के लिए ही रचा था।

सुनकर जहाँ उनके अधिकांश शिष्य चुप रह गये, वहीं दुर्योधन ने कहा, "बाण तो मैं भी चला सकता था, आचार्य! किन्तु मैं आपके जीवन का जोखिम नहीं उठाना चाहता था। अर्जुन ने यह नहीं सोचा कि यदि बाण आपको लग जाए तो क्या होगा!"

"मैं सुबाहु को बुलाने के लिए सैनिकों के पास गया था..." दुःशासन ने कहा, "उसका लक्ष्य भी अचूक है और उसमें बल भी भरपूर है।"

"आपको शिष्यों के साथ ऐसा खेल नहीं करना चाहिए..." दुस्सह बोला।

"वत्स..." द्रोणाचार्य ने सरल स्वर में मुस्कराते हुए कहा, "परीक्षा में तो अनेक सम्भावनाएँ होती ही हैं... किन्तु जो सफल होता है, वही पुरस्कार का अधिकारी होता है। और हाँ, परीक्षा के परिणाम से दुःखी अथवा हताश नहीं होना चाहिए, न ही मन में विजेता के प्रति द्वेष की भावना आने देना चाहिए। बस, भविष्य में सुधार के लिए शिक्षा लेनी चाहिए और यदि मान सको, तो एक परामर्श और... आचार्य को क्या करना चाहिए, और क्या नहीं, यह निर्णय भी आचार्य पर ही छोड़ दो।"

द्रोणाचार्य के शिष्यों में कुरुकुल के राजकुमारों के अतिरिक्त, यदुवंशी राजकुमार भी थे और कर्ण नामक एक सूतपुत्र भी, जिसे उन्होंने उसकी लगन तथा गहन रुचि के आधार पर शिक्षा देना स्वीकार किया था।

अपने शिष्यों को शिक्षा देने का द्रोणाचार्य का अपना ढंग था। वे शस्त्र विद्या देने के साथ ही शिष्यों को अनुशासन, कर्तव्य, धर्म, संयम, सदाचार आदि का महत्त्व भी समझाते रहते थे। एक बार उन्होंने एक मिट्टी का गृध बनाकर एक घने ऊँचे वृक्ष पर रखवा दिया और उसकी ग्रीवा काट गिराने का लक्ष्य शिष्यों को देकर, उन्हे बारी-बारी लक्ष्य-वेध के लिए बुलाया। अपना धनुष बाण ताने जब शिष्य आते तो वे उन सबसे पहले यही प्रश्न पूछते थे, "क्या तुम उस पक्षी को देख रहे हो?"

जब वह शिष्य पक्षी को भली-भाँति देख लेता, तब वे उससे लक्ष्य साधने को कहते थे। लक्ष्य साधने के पश्चात्, उनका दूसरा प्रश्न होता था, "अब तुम क्या देख सकते हो?"

सभी शिष्यों का कुल मिलाकर यही उत्तर होता था कि वे पेड़ देख रहे हैं, वह डाल देख रहे हैं ।जस पर गृद्ध बैठा है, और वह गृद्ध भी...

द्रोण उन सभी शिष्यों से बाण चलाने को कहते, किन्तु सभी का लक्ष्य चूक जाता था। अन्त में, सम्भवतः जान-बूझकर, उन्होंने अर्जुन को बुलाया... और उसके लक्ष्य

साध लेने पर अपना प्रश्न दुहराया, "अब तुम क्या देख सकते हो ...?"

"गृद्ध की आँख..." अर्जुन ने लक्ष्य से दृष्टि हटाये बिना कहा।

"पूरा गृद्ध नहीं दिखता क्या?"

"इस ममय तो मेरी दृष्टि मात्र उमकी आँख पर है गुरुदेव।"

द्रोण ने मुस्कराते हुए कहा, "बाण छोडो..."

बाण चलते ही, गृद्ध का सिर भूमि पर गिरकर बिखर गया। द्रोण ने हर्ष में बढ़कर अर्जुन को हृदय से लगा लिया... और अवाक् खड़े अपने शिष्यों को सन्देश दिया, "लक्ष्य प्राप्ति के लिए, एकाग्रता अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में भी, एकाग्रता हो, अनुशासन हो और लगन हो... तो जीवन का मार्ग मरल हो जाता है. मफलता प्राप्त हो सकती है।"

अर्जुन की सफलता तथा गुरु के उपदेश से जहाँ पाण्डवों के मुख पर हर्ष था, वहीं अधिकांश धृतराष्ट्र पुत्र निराश एवं खीझते हुए दिखाई दे रहे थे। दुर्योधन ने कहा, "एक बार संयोग द्वारा लक्ष्य वेध से ही कोई महान धनुर्धर नहीं बन जाता।"

"आज चूक गया, तो क्या..!" कर्ण ने कहा, "मैं अर्जुन से अच्छा लक्ष्य वेध मकता हूँ... जब चाहे प्रतियोगिता करा देखें।"

"करेगा प्रतियोगिता.. अर्जुन से?" दुर्योधन ने, चलते-चलते पलटकर पूछा, "कोरी बातें नहीं... उसे परास्त करके दिखा, तो तुझे पुरस्कार दूँगा।"

"दिखा दूँगा..." कर्ण ने उमँगते स्वर में कहा, "परास्त करके दिखाऊँगा, राजकुमार!"

दूसरी ओर, परीक्षा ममाप्त करके लौटते हुए आचार्य द्रोण से, उनकी ओर बढ कर, अर्जुन ने पूछा, "आचार्यवर! लगन कैसे बढ़ती है . मेरा तात्पर्य, और कैसे बढ़ाई जाए?"

"लगन से..." द्रोण ने उसकी ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा, "लगन से।"

और वे मुस्कराते हुए ही अपनी राह पर आगे बढ़ गये।

एक दिन रात्रि के समय, अन्धकार में, कुछ खाते समय अर्जुन का ध्यान सहसा भोजन करने की क्रिया की ओर गया। हाथ में तो कोई नेत्र नहीं होता..! उँगलियाँ कैसे देख लेती हैं मुख को? कभी कोई ग्रास, किंचित भी इधर उधर नहीं जाता। प्रतिदिन, अनजाने ही लक्ष्य प्राप्त करता रहता है.. कैसे?'

अभ्यास.. अभ्यास ही तो!

तो यही है लगन का रहस्य... सहसा अर्जुन के मन में यह तथ्य कौंधा। तभी अर्जुन ने दृढ़ निश्चय किया, कि अँधेरा हो अथवा उजाला, दिन हो अथवा रात, शरीर स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, कोई अन्य कार्य हो पाए अथवा अनकिया रह जाए... उसे

अपना अभ्यास जारी रखना है... अभ्यास निरन्तर करते रहना है।

एक दिन, गुरु द्रोण ने अर्जुन को, दिवस ढल जाने के पश्चात्, कम प्रकाश में भी अभ्यास करते देखा तो उसे स्मरण कराया कि अन्धकार हो चला है। अर्जुन ने विनम्रतापूर्वक कहा, "गुरुदेव! यदि कभी अन्धकार में शत्रु ने आक्रमण किया तो.. कम प्रकाश में भी तो बाण चलाने की आवश्यकता पड सकती है।"

द्रोणाचार्य उसकी लगन से प्रभावित हुए... उन्हें लगा कि अर्जुन में एक अद्वितीय धनुर्धर बनने की सम्भावना है। वे उसे मुक्त कण्ठ से आशीर्वाद देते हुए चले गये।

द्रोण का, अश्वत्थामा नामक एक पुत्र था... जिस पर उनका अगाध स्नेह था। वे उसे प्रात:काल, राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए निकलने से पूर्व, अस्त्र संचालन की शिक्षा देते थे। वह भी एक कुशल धनुर्धर के रूप में उभर रहा था। एक दिन अर्जुन प्रात:काल ही द्रोणाचार्य के निवास स्थान पर पहुँचे और, उनसे आज्ञा लेकर, अश्वत्थामा के साथ ही उनसे शिक्षा प्राप्त करने लगे। अर्जुन की लगन देखकर द्रोण और भी प्रभावित हुए... और दिन-प्रतिदिन उनके मन में अर्जुन के प्रति पुत्रवत् स्नेह उत्पन्न होता चला गया।

उन्हीं दिनों, शिष्यों-सहित भ्रमण करते हुए, द्रोण एक बार एक सुदूर वन मे पहुँचे। वहाँ उनके साथ एक कुत्ता भी था जो इधर-उधर दौड़ता हुआ, उनके पीछे चल रहा था। सहसा उन्होंने उस कुत्ते का उच्च स्वर मे भौंकने का स्वर सुना। वे सोच ही रहे थे कि क्या कारण हो सकता है .. कि तभी उसके भौंकने का स्वर बन्द हो गया। दो ही क्षणों में उन्होंने उसे अपनी ओर दौड़ते आते देखा। कुत्ते के मुँह मे एक बाण था... और उसका मुँह पूरी तरह फैला हुआ था।

उन्होंने पाया कि कुत्ते का मुँह जैसे किसी ने, एक बाण द्वारा, कपडे का गोला ठूँसकर भर दिया हो। बाण बिना फल का था, लकडी का बना हुआ। यह देखकर द्रोण विस्मय में पड़ गये। उन्होंने शिष्यों को इधर उधर पता लगाने के लिए भेजा... और वे शीघ्र ही एक, लक्ष्य वेध का अभ्यास करते हुए, वनवासी के निकट जा पहुँचे। पास ही, उन्हें अपनी जीवाकार मिट्टी की प्रतिमा देखकर और भी विस्मय हुआ।

उन लोगों को पास आता देख, सहसा उस वनवासी धनुर्धर की एकाग्रता टूटी। अपने सम्मुख आचार्य द्रोण को देखकर उसने दौड़कर उनके चरण छुए और, पुलकित मन, हाथ बाँधकर खड़ा हो गया। जिज्ञासावश द्रोण ने जब उस नव युवक से उसके विषय में पूछा, तो उसने बताया कि वह निषादपति हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य है, जो लगभग तीन वर्ष पूर्व उनसे मिला था.. उनका विधिवत् शिष्य बनकर, उनसे धनुर्विद्या प्राप्त करने के लिए। जब उन्होंने उसे शिक्षा देना स्वीकार नहीं किया तो वह, जैसे-तैसे, छिप-छिपकर, उनसे शिक्षा प्राप्त करता रहा... और वन में उनकी प्रतिमा के सम्मुख अभ्यास करता रहा।

"मैंने जो कुछ प्राप्त किया..." एकलव्य ने रोमांचित स्वर में कहा, "वह आप ही की शिक्षा है, आप ही मेरे गुरु हैं।"

द्रोण सहसा गम्भीर हो उठे। उनके शिष्य-समूह में सभी की प्रश्न-दृष्टि अपने आचार्य पर केन्द्रित थी। वे सभी अवाक् भी थे और सोच में पड़े थे कि यदि ऐसा कौशल मात्र गुरु की प्रतिमा से प्राप्त हो सकता है तो गुरु की प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा तो सम्भवत: बहुत कुछ किया जा सकता है।

उस असहज मौन को द्रोण ने ही अपनी गम्भीर वाणी से तोड़ा, "नवयुवक, क्या तुमने कभी छिपकर प्राप्त की हुई शिक्षा के औचित्य के विषय में भी सोचा?"

"उसके विषय में क्या सोचना, गुरुवर..!" एकलव्य ने पुन: गद्गद कण्ठ से कहा, "उसी ने तो मुझे आपके सारे मन्त्र प्रदान किये।"

"अच्छा..." द्रोण ने अपनी दृष्टि उसके मुख पर केन्द्रित करते हुए कहा, "और कभी गुरु दक्षिणा की बात क्यो नहीं सोची तुमने?"

"गुरु-दक्षिणा.. !" एकलव्य जैसे सोते से जागा हो... उसने कहा, "आप जो आज्ञा करें, गुरुवर।"

"जो भी आज्ञा करूँ...?" द्रोण ने कुछ मुस्कराते हुए पूछा, "अपने शब्द से फिरोगे, तो नहीं, नवयुवक?"

"नहीं गुरुवर..." एकलव्य ने दृढ़तापूर्वक कहा, "जो कुछ मेरे पास है..."

"तो मुझे अपने दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो.." द्रोण ने सहज बने रहते हुए ही, गम्भीर स्वर मे कहा।

"क्या गुरुदेव...!" एकलव्य को सहसा अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ... और विस्मय में वह अवाक् खड़ा रह गया। द्रोण के साथ आये हुए शिष्य भी आश्चर्य एव अविश्वास में मौन खडे, कभी एक-दूसरे को, तो कभी अपने आचार्य का मुख देखे जा रहे थे।

"दाएँ हाथ का अँगूठा..." द्रोण ने गम्भीर रहते हुए ही दुहराया, "गुरु-दक्षिणा में.." एकलव्य तब भी अवाक् खड़ा था... काष्ठवत्।

तभी द्रोण ने मुडते हुए कहा, "अब शिक्षा की चोरी के अपराध मे दण्ड पाने के लिए तैयार रहना, नवयुवक..." और वे शिष्यों को साथ चलने का संकेत देते हुए मुड़े। सहसा उन्हे पीछे से एकलव्य की पुकार सुनाई दी, "ठहरिए गुरुवर..."

द्रोण के मुड़ते-मुड़ते एकलव्य ने लपकते हुए एक कटार उठायी और बाएँ हाथ के एक झटके से, दाहिने हाथ का अँगूठा काट गिराया।

द्रोण हतप्रभ रह गये... किन्तु विचलित हुए बिना उन्होंने, तुरन्त आगे बढ़कर, अपना अंग वस्त्र चीरते हुए एक पट्टी निकालकर उसके हाथ पर बाँधी। उसे वैद्य के पास भेजने का आदेश देते हुए उन्होंने कोमल स्वर में कहा, "नवयुवक, तुम्हारी

यह विचित्र दक्षिणा इतिहास में अमर रहेगी... किन्तु अब मेरी एक सीख भी ले लो। यदि इसका पालन कर सके तो तुम मेरे शिष्य कहलाने योग्य भी बन जाओगे। स्मरण रहे कि जीवन भर तुम्हारे शस्त्र का प्रयोग धर्म-रक्षा के लिए ही हो..."

लौटते समय, सभी गम्भीर थे... आतंकित होने की स्थिति तक गम्भीर। केवल गुरु द्रोण के होठों पर मुस्कान थी... एक रहस्यमय, मृदु मुस्कान। कौन जाने, वे मन का अन्तर्द्वन्द्व छिपाने के लिए मुस्करा रहे थे... अथवा अपने तथा अपने शिष्यों के बीच उपजे मौन से जूझने के प्रयास में मौन थे।

"गुरुदेव...!" सहसा उस गहराते मौन को तोड़कर युधिष्ठिर ने पूछा, "एक प्रश्न करने की अनुमति प्रदान करेंगे?"

"पूछो युधिष्ठिर..." द्रोण जानते थे कि प्रश्न क्या है। "निःसंकोच पूछो।"

"आज जो हुआ..." युधिष्ठिर का स्वर लड़खड़ाया, और दृष्टि द्रोण के मुख से फिसलकर अपने पैरों तक आ पहुँची, "वह क्या.. वह क्या..."

"ठीक हुआ..? क्या वह न्यायोचित था? यही न..!" द्रोण ने कुछ खुलकर मुस्कराते हुए युधिष्ठिर का वाक्य पूरा किया।

युधिष्ठिर की दृष्टि पुनः उठकर उनके मुख पर टिक गयी। अन्य सभी शिष्यो की दृष्टि भी उनके मुख पर ही टिकी थी। उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा, "सच पूछो तो मैं स्वयं भी नहीं जानता कि... जो हुआ वह कहाँ तक ठीक था। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि वह गुरु-दक्षिणा नहीं थी। वास्तव में वह दण्ड था... चोरी से शिक्षा प्राप्त करने का दण्ड। एक ऐसा दण्ड, जो चोरी से प्राप्त उस शिक्षा को निरस्त्र कर दे..."

"किन्तु क्या यह आवश्यक था?" युधिष्ठिर ने पुनः विनम्रतापूर्वक पूछा।

"इसका निर्णय तो समय ही करेगा.." द्रोण ने सोचते हुए कहा, "जाने कर भी पाए अथवा नहीं। किन्तु मेरी दृष्टि में कोई दण्ड आवश्यक था।"

"किन्तु गुरुदेव शिक्षा तो..." युधिष्ठिर को उपयुक्त शब्द नहीं मिले।

"शिक्षा बड़ा व्यापक शब्द है, तात..." द्रोण ने कहा, "शस्त्र ज्ञान, सामान्य शिक्षा के विपरीत, एक ऐसी संहारक क्षमता है जो, धर्म के समुचित ज्ञान के अभाव में, व्यक्ति को पशु बनाकर महाविनाश का कारण बन सकती है। शस्त्र-ज्ञान का भूखा, छिपकर शस्त्रों के विषय में भले ही जान ले, उनकी संचालन विधि भले ही समझ ले, धर्म की शिक्षा नहीं पा सकता... धर्म-ज्ञान तो दीर्घकालीन उपदेश, सुसंगत एवं गुरुकुल प्रणाली द्वारा ही सम्भव है।"

पता नहीं उन युवा शिष्यों को गुरु का वह स्पष्टीकरण कितना समझ में आया,

समझ में आया भी अथवा नहीं... वातावरण की गम्भीरता पूर्ववत् बनी रही।

उस घटना की चर्चा, परस्पर एकान्त में, राजकुमारों के बीच यदा-कदा होती रही, कहीं खुलकर, तो कहीं दबे स्वर में...

"उसका अँगूठा बस इसलिए कटा, कि वह निर्धन था, कोई कुलीन राजकुमार नहीं..." युयुत्सु ने कहा।

"यह बात नहीं है..." अर्जुन ने प्रतिवाद किया, "कर्ण कहाँ का राजकुमार है? कहाँ का कुलीन है। आचार्य उसे भी तो स्नेह-सहित शिक्षा दे रहे हैं।"

"तुम तो कहोगे ही..." दुर्योधन ने व्यंग्य से कहा, "तुम गुरुदेव के स्नेही शिष्य जो हो।"

"नहीं, उनका तर्क धर्म-संगत है..." युधिष्ठिर ने अपना मत दिया, "शस्त्र-विद्या उसे ही मिलनी चाहिए जो धर्म पर अडिग रहकर उसका उपयोग करने की क्षमता रखता हो।"

"किन्तु इतना कठोर दण्ड...!" युयुत्स ने स्मरण मात्र से कम्पित होकर कहा।

"किन्तु क्या कोई विकल्प था।" सहदेव ने प्रश्न किया, "क्या यह पर्याप्त नहीं होता कि उससे यह वचन लेकर उसे छोड़ दिया जाता कि वह कभी शस्त्र-विद्या का दुरुपयोग नहीं करेगा?"

उन सबके बीच, जाने अनजाने, पुनः मौन आकर पसर जाता था।

"बात मात्र यह नहीं थी " कर्ण ने अर्जुन की ओर पैनी दृष्टि से देखते हुए कहा, "गुरुदेव को यह भय हो गया था कि वह वनवासी युवक अर्जुन से भी बढ़कर कुशल धनुर्धर निकलेगा... किन्तु वे तो अपना सारा ज्ञान अर्जुन को ही देकर संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनाना चाहते हैं। यदि वनवासी का अँगूठा न काटते तो क्या करते? अर्जुन को तो उसकी टक्कर का धनुर्धर बना नहीं सकते थे।"

"क्यों... क्या कमी है अर्जुन भैया में?" नकुल को कर्ण की यह टिप्पणी द्वेषपूर्ण लगी, "है कोई उनकी टक्कर का?"

"मेरे रहते यह प्रश्न निरर्थक है, नकुल.." कर्ण ने अर्जुन की ओर वैसे ही तीखी दृष्टि से देखते हुए कहा, "भले ही आचार्य द्रोण ने मेरी ओर पूरा ध्यान नहीं दिया.. किन्तु शस्त्र की जन्मजात समझ भी तो होती है .. जो कोई आचार्य, कैसा भी प्रयास कर ले, घोटकर नहीं पिला सकता।"

"बड़ा अहंकार है अपने शस्त्र ज्ञान पर!" अर्जुन ने भी पैनी दृष्टि से कर्ण की आँखों में देखते हुए कहा।

"अहंकार तो तुम्हें है अर्जुन..." कर्ण ने कठोर स्वर में कहा, "मुझे तो बस विश्वास है अपनी शस्त्र-विद्या पर। जब जी चाहे, दो दो हाथ करके देख लेना।"

"तो हो जाए... आज ही हो जाए..." दुर्योधन ने चहकते हुए कहा।

"अर्जुन..." युधिष्ठिर ने आदेशात्मक स्वर में रोका, "शस्त्र-ज्ञान परस्पर टकराव के लिए नहीं होता। याद है न, गुरुदेव ने क्या कहा था?"

सजी-धजी रंग-शाला में अपने राजकुमारों का शस्त्र-कौशल देखने के लिए हस्तिनापुर का विशाल जन-समूह एकत्रित हुआ था। दर्शकों में केवल पुरुष ही नहीं, महिलाएँ भी थीं, जिनके बैठने के लिए अलग-अलग व्यवस्था की गयी थी। सामने, बीच में, एक विशाल एवं विस्तृत मंच था, जिस पर महाराज धृतराष्ट्र के लिए सिंहासन के साथ ही, गंगापुत्र भीष्म, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, विदुर आदि राज गुरुओं एवं मन्त्रियों के बैठने के लिए भद्रासन रखे थे। उसके पास ही, महारानी गान्धारी, कुन्ती तथा गुरु-पत्नियों एवं मन्त्री आदि की पत्नियों के बैठने की व्यवस्था थी।

नियत समय पर धृतराष्ट्र ने भीष्म, विदुर एवं कृपाचार्य के साथ रंग-मण्डप मे पहुँचकर अपना स्थान ग्रहण किया। गान्धारी तथा कुन्ती भी राज परिवार की महिलाओं तथा दासियों के साथ आयीं। तभी सामने के प्रमुख द्वार से, नगाडो एव शंख-ध्वनि के साथ, रथ पर द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा सहित प्रवेश किया और वे, महाराज को प्रणाम करके, उनके निकट ही अपने आसन पर जा बैठे।

उनके पीछे, ही अपने अस्त्र-शस्त्र-सहित राजकुमरों ने वाद्यों की ध्वनि एव पुष्प वर्षा के बीच रंग-मण्डप के द्वार से प्रवेश किया और वे, महाराज तथा गुरुजनो को प्रणाम करते हुए, अपने-अपने स्थान पर जा बैठे।

गुरु द्रोणाचार्य ने, धृतराष्ट्र से अनुमति लेकर, राजकुमारों की शस्त्र विद्या का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। पहले लगभग सभी राजकुमारों ने धनुष बाण का कौशल दिखलाया। उसके उपरान्त हाथी तथा घोड़ों पर सवार होकर युद्ध कला का प्रदर्शन किया। कुछ राजकुमारों ने मल्ल-युद्ध करके भुज बल का प्रदर्शन किया, तो कुछ ने ढाल-खड्ग लेकर अपना हस्त लाघव एव युद्ध चातुर्य दिखाया। युधिष्ठिर ने अपनी भल्ल संचालन एवं लक्ष्य-वेध की कला दिखायी तो भीमसेन एवं दुर्योधन ने, विशाल गदाएँ लेकर, गदा-युद्ध के प्रदर्शन द्वारा दर्शकों में उत्साह भर दिया। किन्तु जब दर्शको की उत्तेजना एवं कुछ सीमा तक स्वयं उनकी व्यक्तिगत स्पर्धा एवं कटुता के कारण उनके गदा-युद्ध ने भीषण एवं विकराल रूप ले लिया... तो सभी को चिन्ता होने लगी। धृतराष्ट्र के पास बैठे विदुर उनको सारा समाचार सुना रहे थे, और गान्धारी को कुन्ती सब कुछ बता रही थीं। वे सब भी चिन्तित हो उठे तो द्रोणाचार्य को यह कहते हुए भीम तथा दुर्योधन का गदायुद्ध रोकना पडा कि, "यह अवसर अपनी उपार्जित शस्त्र-विद्या के प्रदर्शन का है, परस्पर युद्ध करने का नहीं।"

अन्त में, आचार्य द्रोण ने अपने प्रिय एवं सर्वोत्तम शिष्य के रूप में, अर्जुन को

बुलाया। अर्जुन ने खड्ग-संचालन, गदा-संचालन आदि के सुन्दर प्रदर्शन के पश्चात् धनुर्विद्या के कौशल दिखाये तो दर्शक उनका हस्त-लाघव एवं उनकी शारीरिक स्फूर्ति देखकर चमत्कृत रह गये। क्षणांश में अर्जुन अपने रथ पर, तो कभी उसके धुरे पर अथवा अश्व की पीठ पर दिखाई देते थे।

अर्जुन ने सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्ष्य भी वेधकर दिखाये और यन्त्र द्वारा छोड़े हुए तीव्र-गामी उड़ते हुए लक्ष्यों को भी वेधकर दर्शकों को चमत्कृत कर दिया। उनके बाणों के आघात से कठोर से कठोर वस्तु भी बिखरकर चूर-चूर हो जाती थी। स्वयं रथ चलाते हुए भी, अश्वों की डोर थामे हुए ही, उनमें धनुष द्वारा शर-सन्धान करने की क्षमता है, यह देखकर सभी विस्मित रह गये।

अर्जुन के प्रदर्शन पर दर्शकों की तुमुल करतल ध्वनि चल ही रही थी कि तभी अपना धनुष उठाये कर्ण ने प्रमुख द्वार से रंगशाला में प्रवेश किया। सहसा उसे इस प्रकार आते देख सभी आश्चर्य में पड़ गये।

उधर, करतल-ध्वनि थमते ही, कर्ण ने महाराज को प्रणाम किया और ऊँचे स्वर में द्रोणाचार्य तथा जन-समूह को सम्बोधित करते हुए कहा, "राजकुमार अर्जुन ने अभी आपके सम्मुख धनुष-बाण से जो दुस्साध्य कार्य करके दिखाये हैं, वे वास्तव में बड़े ही सरल हैं। मैं वह सभी कुछ, अर्जुन से अधिक सरलता एवं सुन्दरता से करके दिखा सकता हूँ। यदि विश्वास न हो तो मुझे अपना अस्त्र-कौशल दिखाने का अवसर दें।"

"किन्तु यह प्रदर्शन तो महाराज की इच्छा से, राजकुमारों की शिक्षा एवं उपलब्धि देखने के लिए आयोजित किया गया है..." द्रोणाचार्य ने उठकर उसे रोकते हुए कहा, "कर्ण! तुम्हें बिना निमन्त्रण के यहाँ नहीं आना चाहिए था।"

"इसका कारण यह तो नहीं, गुरुवर!" कर्ण ने तीखी वाणी में कहा, "कि आपको अपने परम स्नेही शिष्य पर विश्वास नहीं.. आप भयभीत हैं कि वह कहीं पराजित न हो जाए।"

"कर्ण...!" अर्जुन ने क्रोध में उसकी ओर बढ़ते हुए कहा, "यह मत भूलो कि तुम अपने गुरु से संवाद कर रहे हो। तुमको मुझसे भले ही वैर हो, किन्तु गुरु के प्रति ऐसा अभद्र व्यवहार किसी भी शिष्य को शोभा नही देता।"

"शोभा की बात छोड़ो पार्थ..." कर्ण ने भी क्रोधपूर्वक कहा, "शस्त्र-ज्ञान की बात करो.. और भूल जाओ कि मेरे रहते तुम कभी विश्व के सर्व-श्रेष्ठ धनुर्धर बन सकते हो। यदि अपने पर तनिक भी विश्वास हो तो उठाओ अपना धनुष... मैं तुम्हें द्वन्द्व के लिए ललकारता हूँ।"

अर्जुन युद्ध के लिए तैयार थे किन्तु रंग-शाला में वैर-पूर्ण द्वन्द्व कहाँ तक उचित होगा, यह उनकी दुविधा थी। इस दुविधा में अर्जुन ने द्रोणाचार्य की ओर देखा... और उनका संकेत पाकर अपना धनुष तान लिया। तभी कृपाचार्य ने, स्थिति को सँभालते

हुए, उन दोनों को रोका, "कर्ण! यह आयोजन राजकुमारों के शक्ति-प्रदर्शन का है। एक तो तुम बिना निमन्त्रण के ही आये हो... और अर्जुन को भी यह शोभा नहीं देता कि वह किसी अज्ञात कुल-शील वाले व्यक्ति से युद्ध करे..."

यह सुनते ही कर्ण का सिर लज्जा से झुक गया... रंग मण्डप में सन्नाटा छा गया।

"क्या हो रहा है...!" गान्धारी ने कुन्ती से व्यग्र होते हुए पूछा, "यह कैसी बाधा आ गयी?"

और कुन्ती विस्मय एवं भय के साथ उस मूर्तिमान बाधा की ओर देखे जा रही थीं। वहाँ कुछ था जो उन्हें परिचित-सा लग रहा था। उनकी दृष्टि, उस स्वस्थ गौर-वर्ण एवं उच्च-मस्तक वाले नव-युवक कर्ण के मुख से फिसलकर, बारम्बार उसके कवच पर टिक जाती थी .. और कभी उसके झिलमिलाते कुण्डलों में उलझने लगती थी। मात्र कवच तथा कुण्डल में ही नहीं, गान्धारी को उस नवयुवक के रूप तथा उसकी काया में भी कुछ था, जो आत्मीय एवं परिचित लग रहा था।

"क्या हो गया कुन्ती...?" गान्धारी ने पुनः उनका कन्धा हिलाते हुए पूछा, जैसे उन्हें सोते से जगा रही हों। उन्हें आश्यर्च था कि कुन्ती, सब कुछ देखते हुए भी, उन्हें कुछ बता क्यों नहीं रही हैं।

"कुछ नहीं जीजीश्री..." कुन्ती ने अपनी तन्द्रा से निकलते हुए कहा, "वह जो कर्ण है न... सूत..." उन्हें अपना वाक्य पूरा करने में बाधा का अनुभव हुआ।

"हाँ, हाँ... क्या हुआ सूतपुत्र को?" गान्धारी ने कौतूहलवश पूछा।

उधर, रंग-मण्डप के प्रांगण में कर्ण को लज्जा में सिर झुकाये खड़ा देख सहसा दुर्योधन ने आगे बढ़कर कहा, "यह अन्याय है आचार्य कृप... आप कुल-शील की आड़ लेकर किसी योद्धा का अपमान नहीं कर सकते। योद्धा का परिचय उसका पराक्रम होता है, शस्त्र कौशल होता है। और रही बात राज परिवार की. . तो मैं अभी इसी समय, अपने भाग के अंग-देश का राज्य कर्ण को उपहार मे देता हूँ..."

घटनाक्रम को यह अकल्पनीय मोड़ लेते देख सभी चकित रह गये। तभी दुर्योधन ने कर्ण का कंधा थपथपाते हुए प्रफुल्लित स्वर में कहा, "मित्र, आज से तुम अंग-देश के शासक हुए..." यह कहते हुए उसने कटार निकाली और अपने दाये अँगूठे को किंचित चीरा देकर, प्रवाहित रक्त से, कर्ण के मस्तक पर एक लम्बा तिलक लगा दिया।

अवाक् कर्ण ने अपने उमड़ते हुए अश्रुओं को पोंछा और आवेश में दुर्योधन को गले लगा लिया, "मित्र! आज से यह जीवन तुम्हारा हुआ... मैं आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा..."

"मैं जानता हूँ मित्र..." दुर्योधन ने गद्गद स्वर में कहा, "और पहचानता भी हूँ

तुम्हारे शौर्य को। आज दिखा दो इस पक्षपाती गुरु को, कि मात्र पक्षपात द्वारा न तो किसी को वीर बनाया जा सकता है और न युद्ध-कला में पारंगत किया जा सकता है।"

दुर्योधन के इस व्यवहार से जहाँ द्रोणाचार्य आहत थे वहीं पाण्डव आश्चर्यचकित एवं क्रुद्ध हो रहे थे। भीमसेन ने उठकर दुर्योधन को प्रताड़ित करते हुए स्वर में कहा, "अरे मूर्ख, यह तू नहीं तेरी ईर्ष्या बोल रही है। तू अपने अनुज का ही विरोध करने के लिए अन्य किसी को बल-सम्बल प्रदान कर रहा है... प्रोत्साहित कर रहा है? किन्तु तू इसे अर्जुन के बराबर कभी नहीं बना सकता।"

"तो आ जाए अर्जुन. ." दुर्योधन ने पुनः ललकारते हुए कहा, "देख लें सब, अपनी आँखों के सामने।"

अर्जुन के लिए यह स्थिति असह्य होती जा रही थी। उन्होंने, क्षण भर में निर्णय लेते हुए दृढ़तापूर्वक अपना धनुष तान लिया।

"बोलो न कुन्ती. . क्या हो रहा है?" गान्धारी रह-रहकर व्यग्र स्वर में अपनी जिज्ञासा दुहराती जा रही थीं।

किन्तु कुन्ती की आँखो के सम्मुख अन्धकार घिरता जा रहा था. 'कोई अर्जुन को रोकता क्यों नहीं? यह युद्ध क्यों होने लगा? यह क्या हो गया है दुर्योधन को? वह मेरे अर्जुन के पीछे क्यों पड़ा है? क्या वैर है उसे?'

उधर धृतराष्ट्र पूछ रहे थे विदुर से, "यह युद्ध क्यो हो रहा है? कोई इन्हें रोकता क्यों नहीं?"

सारा जन-समूह आश्चर्य में, साँस रोके, सारे घटना-क्रम को समझने का प्रयास कर रहा था। तभी सूर्य अस्ताचल की ओर जा पहुँचा... और कृपाचार्य ने उठकर घोषणा की, "सूर्यास्त का समय हो गया। आज का वह विशेष आयोजन समाप्त होता है।"

कौतूहल

गान्धारी को, जैसे-तैसे, उनके कक्ष तक पहुँचाकर कुन्ती अपने भवन पहुँचीं तो उनका मन व्यग्र था। रह-रहकर उनकी दृष्टि के आगे वह कवच घूम जाता था... उन कुण्डलों की चमक कौंध जाती थी...

कैसे... कैसे...! वह कैसे पहुँचा कर्ण के पास?

तो क्या कर्ण ही...

उन्हें लगता कि रुक-रुककर स्पन्दित होता उनका हृदय, कहीं रुककर बैठ ही न जाए! स्मृति उन्हें अनायास ही सुदूर अतीत की ओर खींचे चली जा रही थी जहाँ...

उस दिन महात्मा दुर्वासा अचानक ही आ पहुँचे थे... और वह भी बिना अपने शिष्य-समूह के। उनके साथ केवल एक शिष्य था और सामान के नाम पर उसके कन्धे से लटकता हुआ एक झोला... सभी कुछ उनसे सम्बद्ध व्यापक धरणा के प्रतिकूल।

राज्य के सभी अधिकारी, महामन्त्री से लेकर मन्त्री, सेनापति और साधारण सेवकों तक, सभी चौकन्ने एवं सतर्क थे... भयभीत होने की सीमा तक। क्या पता उनका कौन-सा आचरण, या उनकी कौन-सी बात, ऋषिवर को अरुचिकर लग जाए, और वे कोई भयंकर शाप दे बैठें। वे मन ही मन भगवान का स्मरण भी कर रहे थे कि दुर्वासा ऋषि के सामने उन्हें जाना न पड़े... न तो राजाज्ञा के कारण और न अनायास ही कहीं आते-जाते। अन्यथा प्रचलित धारणा यही थी कि उनके सामने जा पड़ने पर भाग्य अधिकांश लोगों का साथ छोड़ ही देता है। लोग, अनजाने ही, कोई न कोई भूल कर ही बैठते हैं। उनसे कोई भूल भले ही न हो, कुछ न कुछ ऐसा हो ही जाता है जो उस क्रोध-मूर्ति संन्यासी को संसार की भयंकर भूल लग जाए।

क्रोधमूर्ति... या क्रोधाचार्य... ज्वालामुखी, शापाचार्य, आदि ऐसे ही कुछ नाम गुप्त रूप से महात्मा दुर्वासा के लिए कुछ लोगों के बीच प्रचलित थे, किन्तु इन प्रतीकात्मक नामों का उल्लेख एसे इने-गिने लोगों के बीच, इतनी सावधानी से होता था कि दुर्वासा ऋषि क्या, महाराज को भी कभी भनक नहीं पड़ी होगी... और कौन जाने, पड़ी भी हो तो वे भी मन-ही-मन सहमति में मुस्कराकर रह गये होंगे, यद्यपि उन्हें सम्भवतः

यह भय अवश्य हुआ हो कि कहीं यदि महामुनि को अपने इन उपनामों की भनक पड़ गयी तो वे इसे मात्र विनोद की संज्ञा देकर नहीं छोड़ेंगे। उनकी दृष्टि में यह ऐसी अमान उद्दण्डता होगी जिसके अभियोगी को कठोर दण्ड से वंचित नहीं रखा जा सकता।

राज्य के पदाधिकारी एवं सेवक ही क्या, स्वयं महाराज कुन्तिभोज अपना आगा-पीछा भूलकर महर्षि दुर्वासा की सेवा में लगे थे। उनके आगमन की सूचना मिलते ही वे अपनी शैया त्यागकर ऐसे दौड़े जैसे राज्य की सुरक्षा पंक्तियों को रौंदती हुई कोई शत्रु सेना राज प्रासाद में घुस आई हो।

"अहो भाग्य मेरे, ऋषिवर..." नमस्कार मुद्रा में कहते हुए महाराज लगभग दौड़कर दुर्वासा ऋषि के सामने घुटनों के बल जा बैठे।

तभी जलपात्र आ गया और कुन्तिभोज ने महर्षि के पाँव धोकर अपने उत्तरीय से पोंछे।

कुछ देर में अर्घ्य पाद्य से सन्तुष्ट होकर वे सिंहासन पर विराजमान थे। कुन्तिभोज ने परिचारिका के हाथों से चँवर लेकर स्वयं ही उन पर डुलाना प्रारम्भ किया तो दुर्वासा उनकी ओर देखकर मुस्कराये। वह मुस्कान देखकर कुन्तिभोज सकपका उठे. कहीं यह निष्कलंक चन्द्रमा जैसा कोई अशनि संकेत तो नहीं। मुस्कानों के भी अनेकानेक भेद होते हैं... ठग अथवा वेश्या की मुस्कान भी तो विनाश की ओर ही ले जाती है।

"तुम रहने दो राजन्..." महर्षि ने मुस्कराते हुए कहा। "परिचारिका का कार्य उसे ही करने दो। आओ, तुम मेरे पास बैठो।"

कुन्तिभोज चँवर परिचारिका को थमाते हुए विनीत मुद्रा में, दुर्वासा के पास पड़े एक सिंहासन पर बैठ गये। "आदेश करें महर्षि.. हमारी सेवा मे कोई त्रुटि रह गयी हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।"

सब सुनकर भी महर्षि के मुख पर मुस्कान ज्यों की त्यों बनी थी। वे मौन, मुस्कराते हुए ही, कुन्तिभोज की ओर देखे जा रहे थे। महाराज के मन में सन्देह एव भय के बादल घुमड़ने लगे।

"आप थोड़ा विश्राम कर ले महर्षि..."

"विश्राम...! हाँ विश्राम तो मैं करूँगा ही... किन्तु जब तक मन को चिन्ता से मुक्ति न मिले, तब तक विश्राम कहाँ मिलता है।"

"महर्षि... चिन्ता! आपको चिन्ता? यह कैसी बात है महर्षि! मेरे लिए तो यह बडी लज्जा की बात है कि मेरे रहते आप को कोई चिन्ता व्यापे। आप आज्ञा करें मुनिवर, मेरे वश में जो कुछ है, मैं तुरन्त करूँगा।"

"मुझे विश्वास है राजन्! जो कुछ तुम्हारे वश में है वह तुम अवश्य करोगे...

और यही विश्वास तो मुझे यहाँ लाया है।"

"तो निःसंकोच आज्ञा करें, भगवन्।"

दुर्वासा ने क्षण भर मौन रहकर परिचारिका की ओर देखा... फिर उनकी दृष्टि कुछ दूर हाथ बाँधे खड़े हुए मन्त्री एवं सेवकों पर गयी। कुन्तिभोज ने उनका आशय समझते हुए अपना बायाँ हाथ लगभग कन्धे तक उठाया... और साथ ही तर्जनी एवं मध्यमा क्षणांश के लिए अपना स्थान छोड़कर झटके के साथ उठीं। दूसरे ही क्षण परिचारिका ने चँवर रोककर झुकते हुए महर्षि को प्रणाम किया। उधर, सेवकों ने भी प्रणाम करते हुए प्रस्थान किया।

सब कुछ क्षण भर में... एक संकेत मात्र से।

राज-प्रासाद के उस सुसज्जित कक्ष में केवल महर्षि दुर्वासा और महाराज कुन्तिभोज रह गये। वातावरण सहज ही किसी गुप्त मन्त्रणा की भूमिका बनाने लगा।

घिरते हुए सन्नाटे को, क्षण भर बाद, तोड़ते हुए दुर्वासा ने कहा– "राजन्, तुमने पूछा नहीं मेरे आने का कारण ..."

"कारण क्या भगवन्! आप मुझे सेवा का सौभाग्य प्रदान करने आये हैं... इसमे भला जिज्ञासा कैसी!"

"चलो यों ही कह लो..." दुर्वासा कहते हुए फिर मुस्कराये। "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सौभाग्य के नाम पर तुम्हें कुछ उत्तरदायित्व सौंपने आया हूँ... इस विश्वास के साथ कि तुम सहर्ष उसका निर्वाह करोगे।"

"तो विलम्ब कैसा, भगवन्!" कुन्तिभोज ने दुर्वासा की ओर देखते हुए विनम्रतापूर्वक कहा, "आप निःसंकोच आदेश करें।"

"आदेश के लिए·एक भूमिका देनी होगी..." महर्षि के मुखमण्डल से मुस्कान तिरोहित हो चुकी थी और किसी ऊहापोह के लक्षण उभर आये थे। "और भूमिका के लिए उपयुक्त शब्द पा लेना मुझे बहुत सरल नहीं लग रहा है। बात कुछ विचित्र है... ऐसी जैसी तुमने पहले कभी सुनी भी नहीं होगी। तुमने क्या, किसी ने भी नहीं सुनी होगी... सोची भी नहीं होगी।"

कुन्तिभोज इतनी लम्बी भूमिका के लिए किसी भी दृष्टि से तैयार नहीं थे... और फिर महर्षि दुर्वासा की ओर से! वे तो विख्यात थे तुरत-फुरत आज्ञा देने के लिए या फिर बिजली गिराने जैसी वाणी में शाप देकर अन्तर्धान हो जाने के लिए। कुन्तिभोज आशंकाओं में डूबने-उतराने लगे।

"भगवन्, सेवक से अनजाने ही कोई बड़ी भूल तो नहीं हो गयी..."

"नहीं, तुमसे कोई भूल नहीं हुई..." दुर्वासा ने बीच में कुन्तिभोज की बात काटी, "तुम्हारे पास तो मैं बड़ी आशा लेकर आया हूँ। किन्तु..."

"किन्तु क्या, भगवन्?"

"किन्तु की छोड़ो..." अचानक महर्षि ने गम्भीरता त्यागते हुए कुछ वाचाल-से स्वर में कहा, "और मेरे कार्य की भूमिका सुनो। बात यह है कि मैं कुछ समय से... सच पूछो तो कुछ वर्षों से, यही कोई आठ-दस वर्ष मे एक यज्ञ में लगा हूँ। यज्ञ क्या, एक प्रयोग है... एक बड़ा ही विचित्र, अभिनव प्रयोग। पता नहीं उसमें कितनी सफलता मिलती है... सफलता मिलती भी है या नहीं..."

"महामुनि..." कुन्तिभोज ने कहा– "आप जो बीडा उठाएँ, उसमें सफलता न मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

"हाँ, असम्भव तो कुछ भी नहीं होता... सफलता भी, और असफलता भी। यज्ञ में, सफलता की ओर बढ़ने के लिए असफलताओं का भी सार्थक उपयोग करना होता है। सफलता बाँहें फैलाकर स्वागत के लिए स्वयं आगे बढ़कर कभी नहीं आती। और असफलताएँ भी कभी-कभी हमें अनुचित मार्ग पर बढने से रोककर, सफलता का मार्ग खोजने में सहायक होती रहती हैं...

"किन्तु यह सब तो वैचारिक पक्ष है। यज्ञ एक व्यावहारिक कर्म है। उसमें हमारा समय लगता है, साधन लगते हैं, हमारे. हमारे समाज की ऊर्जा व्यय होती है। यदि उसमें सफलता न मिले तो उसके नाम पर किया धरा सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। यज्ञ हम जिस उद्देश्य से करते हैं उसकी प्राप्ति, इस संदर्भ में आवश्यक लगने लगती है फिर मेरा यह यज्ञ तो पहले ही आठ दस वर्ष की आहुति ले चुका है।"

"इस महायज्ञ का उद्देश्य क्या है भगवन्?" महर्षि की बात लगभग काटते हुए कुन्तिभोज पूछ बैठे। पूछते ही अपना जिह्वाग्र उन्होंने अपने दाँतों तले दबा लिया। कौतूहल, जिज्ञासा के वशीभूत होकर व्यक्ति कैसी कैसी धृष्टता कर बैठता है! अन्यथा साहस किसी का जो महर्षि दुर्वासा से प्रश्न करे . अथवा उनकी बात काटे।

किन्तु दुर्वासा का ध्यान कहीं और था। उन्होंने वैसे ही खोये-से स्वर में उत्तर दिया, "राजन्, इस यज्ञ का उद्देश्य "

और उनका वाक्य अधूरा ही छूट गया। आँखें दूर शून्य मे कुछ खोजती हुई-सी खो गयीं। कुन्तिभोज को कक्ष में पसरता हुआ सन्नाटा दूभर लगने लगा। उनकी इच्छा तो हुई कि गर्दन घुमाकर उस दिशा की ओर देखें, जिधर दुर्वासा की दृष्टि टिकी है, पर ऐसे दु:साहस के लिए वे बल नहीं जुटा पाये।

"इसका उद्देश्य. " कुछ अटकते हुए महर्षि दुर्वासा ने स्वयं ही वह उबाऊ सन्नाटा तोडा, जो किसी दूसरे सन्नाटे मे जाकर विलीन हो गया। और कुछ ही क्षणों मे उनके मुख पर एक हताशा भरी मुस्कान उभरी। "मैं शब्द ढूँढ रहा हूँ, अपने यज्ञ का उद्देश्य बताने के लिए। किन्तु शब्दो पर मेरा वश नहीं। जो कहना चाहता हूँ बहुधा कह नहीं पाता। इसी निराशा में तो मुझे क्रोध आ जाता है. . इतनी जल्दी।"

अपनी बात को विराम देते हुए उन्होंने कुन्तिभोज की ओर देखा जो न तो कुछ आग्रह कर सकते थे और न चुपचाप बैठे ही रह सकते थे। उन्हें महर्षि ने एकान्त

में रोक रखा था... किसी गम्भीर मन्त्रणा के लिए, अपना कर्तव्य निश्चय न कर पाने की स्थिति में वे उठकर पास ही रखा चँवर उठाकर अतिथि पर झलने लगे।

शरीर पर पवन का सुखद स्पर्श पाकर दुर्वासा ने दृष्टि उठायी, "राजन्, वास्तविकता यह भी है कि मैं यह निर्णय नहीं ले पा रहा हूँ कि... तुम्हें अपने यज्ञ के विषय में बताऊँ भी अथवा नहीं।"

"महर्षि मुझे सुपात्र न समझें तो कदापि न बताएँ। मैं आग्रह नहीं करूँगा..." कुन्तिभोज ने स्वर को शान्त एवं सन्तुलित रखते हुए कहा।

"बात पात्रता की नहीं है, राजन्। किन्तु देखो तो... कैसी विचित्र स्थिति है! मैं जिस विषय पर तुमसे गम्भीर मन्त्रणा करने बैठा हूँ... जिस यज्ञ के लिए तुम्हारी सहायता चाहता हूँ, उसी के विषय में निर्णय नहीं ले पा रहा हूँ कि तुमसे कहूँ भी, अथवा न कहूँ!"

कुन्तिभोज को मौन पाकर वे कुछ क्षण के विराम के बाद बोले, "वास्तविकता यह है कि इस यज्ञ का विषय इतना अकल्पनीय है... और ऐसा गोपनीय भी कि मुझे लगता है... अभी उस विषय पर चर्चा करना उचित नहीं होगा। अभी उसके लिए उपयुक्त समय नहीं आया।"

"महर्षि..." कुन्तिभोज ने कुछ अटकते हुए बोलना प्रारम्भ किया, "आप तो पहले ही आठ-दस वर्ष लगा चुके हैं इस यज्ञ पर... अब और कितना समय लगेगा आपको?"

"समय का ज्ञान मुझे पहले भी कहाँ था?" दुर्वासा कुछ सोचते हुए बोले, "बस एक समस्या ने मन को छुआ तो उसके निवारण की इच्छा मुझे अनेक बीहड़ पगडण्डियों की ओर खींचने लगी... अनेक ऐसी पगडण्डियों की ओर भी, जो कुछ ही दूर जाकर सघन वन में यात्री को अकेला छोड़कर लुप्त हो जाती हैं। उस भटकन से मुक्त होकर अभीष्ट लक्ष्य की खोज भी तो यज्ञ ही है। एक बार नहीं, कई बार लगा कि सफलता का सूत्र हाथ लग गया है... उसके दूसरे छोर पर पहुँचने में बहुत समय नहीं लगेगा... अधिक से अधिक छः माह, अथवा एक वर्ष।

"यज्ञ में बाधाएँ तो आती ही रहती हैं... अब उन्हें हम जो चाहें वह संज्ञा दे लें। चाहे उन्हें राक्षस कह लें, या दुर्भाग्य। दोष अपनी अदूरदर्शिता के माथे मढ़ें अथवा साधनहीनता के। किन्तु यज्ञ में बाधाओं की अनिवार्यता को तो मानकर ही चलना होता है।"

"मुनिवर! ऐसा कष्ट-साध्य यज्ञ तो किसी बहुत बड़े उद्देश्य को लेकर ही प्रारम्भ किया होगा..."

"हाँ राजन्! यदि इस यज्ञ में सफलता प्राप्त हो तो मैं जीवन को धन्य मानूँगा, मानवता की बहुत बड़ी सेवा होगी।"

"यदि...? क्या कोई शंका है मुनिवर?"

"शंकाएँ तो सफलता पा जाने के बाद भी पीछा नहीं छोड़तीं, राजन्। यज्ञ से प्राप्त मन्त्र का कहीं दुरुपयोग तो नहीं होगा...? कहीं कोई तत्सम्बन्धी दुष्प्रभाव तो नहीं पड़ेगा? ऐसी अनेक शंकाओं के बीच भी अपना मार्ग खोजना ही पड़ता है।"

"और इतना बड़ा यज्ञ करते हुए, अनेक शंकाओं से नितान्त अकेले जूझते रहे हैं भगवन्! बिना किसी आशा की किरण के अथवा किसी समय सीमा का संकेत पाये हुए..."

"नहीं राजन्... ऐसा नहीं था," दुर्वासा ने आँखें मूँदकर किसी अव्यक्त शक्ति के सामने अपने को एकाकार करते हुए कहा। "आशा की किरण ही तो थी जो निराशा के क्षणों में भी हताश होने से बचाती रही। हाँ, वह आशा की किरण भी कभी-कभी आँख-मिचौनी खेलती लगती थी... उस छेड़ का भी एक सुख है। इसी प्रकार समय का संकेत भी आशा-निराशा के झूले में झुलाकर अपना खेल खेलता रहता था... बड़ा निर्मम खेल। उसी में तो मैं कभी-कभी अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता था... क्रोध में पड़कर न जाने क्या-क्या कह बैठता था। किन्तु वह क्रोध भी तो मेरे लिए उपलब्धि का साधन बना..." दुर्वासा कहते हुए कुन्तिभोज की ओर देखकर मुस्कराये, "देखो तो, कितने सारे विनोद से परिपूर्ण नाम प्राप्त हुए मुझे!"

कुन्तिभोज को उनकी बात का अर्थ समझ में आया, यद्यपि क्षणभर बाद। वे भी अपनी मुस्कान नहीं रोक पाये... एक शिष्ट मुस्कान।

इतनी गम्भीर चर्चा के बाद कक्ष का वातावरण सहसा सहज एवं सरल हो उठा था। कुन्तिभोज कुछ बोलकर पुन: उसे गम्भीर नहीं बनाना चाहते थे, किन्तु मौन स्वयं में ही गम्भीरता का संवाहक है। उसे स्वयं ही आकर पसरते देर नहीं लगती।

कुन्तिभोज को कुछ बोलना प्रासंगिक लगा। उनके मन में बड़ी देर से दबी हुई जिज्ञासा भी रह-रहकर सिर उठाती प्रतीत होती थी. दुर्वासा क्यों आये हैं? क्या चाहते हैं मुझसे? प्रश्न की भूमिका बनाते हुए उन्होंने कहा, "भगवन्! पिछले आठ-दस वर्ष तो आपने अपने यज्ञ का भार अकेले अपने कन्धों पर ढोया... किन्तु भविष्य में, चाहे जितना भी समय लगे, आप अपने इस सेवक को किसी योग्य समझें तो सेवा का अवसर प्रदान करें। मैं धन्य मानूँगा अपने आप को।"

"राजन्! मैं आया ही हूँ उस उद्देश्य से..." दुर्वासा ने कुन्तिभोज की आँखों में झाँकते हुए कहा, "तुम्हारी सेवा नहीं... तुमसे सहायता चाहिए मुझे "

"मेरा सारी सम्पत्ति, सारा कोष आपको अर्पित..."

"अरे तो क्या धन ही सब कुछ होता है...?" कुन्तिभोज की बात काटते हुए दुर्वासा का स्वर सहसा ऊँचा हो गया था। कुन्तिभोज का साहस नहीं हुआ उनकी ओर देखने का। कौन जाने वहाँ अंगारे फूट रहे हों। कौन जाने उनकी जिह्वा पर आ बैठा कोई शाप मुख से बाहर निकलने की प्रतीक्षा कर रहा हो। उन्हें सहसा अपने हृदय का स्पन्दन सुनाई देने लगा, उन्हें ध्यान आया कि चँवर डुलाते उनके हाथ

अनजाने में ही रुक गये थे।

तभी उन्हें दुर्वासा के स्वर में दीर्घ ओ३म् की ध्वनि सुनाई दी।

उधर, अन्त:पुर में अपने कक्ष में बैठी महारानी का मन उद्विग्न हो रहा था। रह-रहकर कोई अनाम चिन्ता मन को मथने लगती थी। बड़ा विलम्ब हो गया महाराज को... उनके विश्राम का सारा समय ही बीता जा रहा था। और फिर वे महर्षि दुर्वासा के साथ मन्त्रणा में व्यस्त थे... अकेले ही। ऐसा कौन-सा गम्भीर विषय आ पड़ा? हे प्रभु! कोई समस्या न आ खड़ी हो।

महारानी की तरह तो नहीं, किन्तु राजकुमारी पृथा भी अपने पिताश्री की प्रतीक्षा कर रही थीं... उन्हें परिवाद करना था, अपनी धात्री के विरुद्ध... वह उन्हें कई दिनों से चिढ़ा रही थी। और माताश्री थीं कि उनके परिवाद की ओर ध्यान ही नहीं देती थीं... उल्टा हँसकर धात्री का साहस ही बढ़ाती रहती थीं। उनकी उलझन से जैसे सुख मिलता हो उन दोनों को। यह भी कोई बात हुई...? 'नहीं जाना है मुझे कहीं भी। पिताश्री का मुझ पर बड़ा स्नेह है, वह कहीं नहीं जाने देंगे मुझे।'

राजकुमारी पृथा कई बार पूछ चुकी थीं, पिताश्री के लिए... और हर बार वही उत्तर, 'किसी गम्भीर विषय पर चर्चा कर रहे हैं, महर्षि दुर्वासा के साथ। कोई जा नहीं सकता वहाँ, अन्यथा महर्षि पता नहीं क्या कर बैठें। न जाने क्या शाप दे बैठें! कौन जाने भस्म ही कर डालें अपने आग्नेय नेत्रों से।'

'ऐसा भी क्या क्रोध! और फिर महर्षि! पिताश्री तो कहते हैं कि ऋषि मुनि बडे ज्ञानी होते हैं... और जो वास्तव में ज्ञानी है, वह स्वभाव से बड़ा ही उदार होता है। उसे क्रोध, लोभ, मोह जैसी व्याधियाँ कभी नहीं व्यापतीं।' पृथा स्वयं देखना चाहती थी ऐसे विचित्र ऋषि को, जो साक्षात् क्रोध की मूर्ति कहलाता है। किन्तु माताश्री ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उन्हें ऐसा कुछ भी करने से मना कर दिया था।

तभी राजकुमारी ने पीने के लिए जल माँगा। धात्री जल लेकर सामने पहुँची तो सहसा जलपात्र उठाते-उठाते उन्हें ध्यान आया, अरे पिताश्री को भी प्यास लगी होगी। किसी ने उनसे जल पीने के लिए पूछा भी या नहीं! और पिताश्री तो ठहरे ही भुलक्कड़... वे तो भूल ही जाते हैं कि उन्हें प्यास भी लगती है... और फिर मन्त्रणा में! अन्य कोई तो उनके पास गया ही नहीं होगा... महर्षि के भय के मारे। यह कैसे महर्षि हैं...

महर्षि का अल्प मौन कुन्तिभोज को चिन्तित करने लगा था। तभी दीर्घ ओंकार ध्वनि के पश्चात् उनके नेत्र खुले और उन्होंने महाराज की ओर देखा। "राजन्! क्या धन

ही सब कुछ होता है?" उन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति... किन्तु इस बार उनका स्वर बड़ा ही शान्त था।

"क्षमा करें भगवन्..." कुन्तिभोज अपने स्वर में अतिरिक्त विनम्रता घोलते हुए बोले, "मेरा तात्पर्य तो मात्र यह था कि आप जो भी उचित समझें, निःसंकोच आज्ञा करें।"

"धन के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होता है... तुम तो जानते ही होगे। राजधर्म में विश्वसनीयता तथा गोपनीयता का भी अपना स्थान होता है, जिसे कोई धन अथवा कोई कोष कभी साधिकार प्राप्त नहीं कर सकता। और इस समय..." दुर्वासा कुछ क्षण के लिए ठिठके, जैसे उपयुक्त शब्दों की खोज में फिर किसी अनिश्चय की स्थिति में पहुँच गये हों।

"किन्तु तुम्हारे साथ मुझे विश्वसनीयता की समस्या नहीं है, राजन्! प्रश्न है गोपनीयता का..."

कुन्तिभोज कुछ प्रश्न करने की स्थिति में नहीं थे, अतएव केवल सुन रहे थे। महर्षि गोपनीयता को लेकर चिन्तित है। किन्तु क्यों? क्या उन्हें मुझ पर विश्वास नहीं है? किन्तु वे स्वयं ही तो कह रहे थे कि मेरे प्रति उन्हें विश्वसनीयता की कोई समस्या नहीं है।

"तो कहो राजन्... उबार सकोगे मुझे इस विचित्र स्थिति से?" वाक्य समाप्त करते करते उनकी दृष्टि कुन्तिभोज के नेत्रों पर जा टिकी।

"आप आज्ञा तो करें प्रभु..." कुन्तिभोज ने कहा, "आपके किसी काम आ सका तो धन्य मानूँगा अपने आप को।"

"तो सुनो..." दुर्वासा के स्वर में दृढ़ता थी, जैसे उन्हें पता हो कि उन्हें क्या कहना है, किन शब्दों में कहना है। "मुझे राज-प्रासाद के निकट ही... तीन-चार कक्षों का कोई स्वतन्त्र भवन चाहिए, ऐसा जहाँ मुझसे मिलने वाले, बिना किसी भय-बाधा के, निःसकोच आ सकें। मेरी ओर से यह नितान्त गोपनीय रहेगा कि मैं वहाँ क्या कर रहा हूँ... उस भवन का उपयोग किस प्रकार हो रहा है। इस विषय में न तो तुम मुझसे कभी कुछ पूछोगे और न अन्य किसी को कभी कुछ बताओगे।"

"आपके आदेश का पालन होगा महर्षि..." कुन्तिभोज ने दुर्वासा के वक्तव्य में विराम आते ही कहा।

"और हाँ... उससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण एक सहायता..." कहते हुए दुर्वासा ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि से कुन्तिभोज की ओर देखा।

"आज्ञा करें महर्षि..."

"अपने कार्य में सहायता के लिए मुझे एक महिला की आवश्यकता है..."

"एक ही क्या, आप जितनी..."

"इतने शीघ्र निष्कर्ष पर न पहुँचो राजन्..." दुर्वासा ने उनकी बात बड़ी तत्परता से काटते हुए कहा, "शिष्याओं की कमी स्वयं मेरे आश्रम में भी नहीं है। किन्तु कुछ विशेष गुणों से सम्पन्न सहायिका की आवश्यकता है मुझे... शिक्षित, कुशाग्र बुद्धिवाली, आज्ञाकारी, प्रश्न न पूछने वाली और... उन सबसे ऊपर... इस यज्ञ के रहस्य को प्राणों से भी बढ़कर गोपनीय रखने की सामर्थ्य वाली कोई सहायिका चाहिए मुझे।"

कक्ष में सहसा सन्नाटा गहराने लगा। सम्भवतः कुन्तिभोज का मस्तिष्क बड़ी तीव्र गति से घूम रहा था, उन सब दासियों, सेविकाओं एवं राज-परिवार की कुलीन सदस्याओं को परखता-नकारता हुआ, जो दुर्वासा की कसौटी पर खरी उतर सकें।

महिलाएँ और गोपनीयता...! वे कहीं इस प्रश्न पर अटक जाते थे, तो कहीं इस आशंका पर कि उन सबमें कितनी होंगी जो भय को त्यागकर महर्षि के साथ कार्य करने के लिए तैयार हो जाएँ... भय के मारे कहीं स्वयं ही कोई उल्टा सीधा कार्य न कर बैठें।

कुन्तिभोज की ओर से उत्तर में विलम्ब पाकर दुर्वासा बोले, "कुछ कठिनाई है क्या?"

"कठिनाई तो नहीं मुनिवर... किन्तु..." कुन्तिभोज ने अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। जैसे वाक्य के शेष शब्द उन्हीं के डुलाए हुए चँवर से कहीं उड़ गये हों। किन्तु चँवर तो वे पहले भी डुला रहे थे।

"यह किन्तु ही संकेत दे रहा है कठिनाई का..."

"नहीं, कोई कठिनाई नहीं होगी भगवन्... यह मेरा वचन है..." कुन्तिभोज कह तो गये किन्तु मन-ही-मन स्वयं मे प्रश्न करने लगे, कि वचन का पालन किस प्रकार करोगे? और वचन का पालन न हुआ तो दुर्वासा का सर्वविदित क्रोध किस प्रकार झेलोगे?

"मुझे उपयुक्त सेविका चुनने के लिए कुछ समय दे सकेंगे महर्षि?" कुन्तिभोज ने कुछ सोचते हुए कहा।

"हाँ... चयन तुम्हें ही करना है, तो कुछ समय तो तुम्हें देना ही होगा, किन्तु सहायिका में जो पूर्वावश्यकताएँ मैंने गिनायीं, वे नितान्त अनिवार्य हैं... यह विस्तार में बता पाना कठिन होगा, कि क्यों। बता देने से कोई विशेष अन्तर भी नहीं पड़ेगा। संकेत रूप में बस इतना ही समझ लो कि मेरा यह कार्य... पता नहीं, समाज मे किस-किसके मान-सम्मान से जा जुड़े। उन सबके मान-सम्मान की रक्षा मेरा कर्तव्य भी है और धर्म भी। असमर्थता मेरी, कि अपने इस अनुष्ठान का सारा कार्य मै स्वय नहीं कर सकता।"

"आप जो कह रहे हैं महर्षि, वही सच होगा..." कुन्तिभोज ने कुछ अटकते हुए

कहा, "किन्तु भगवन्, मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि संसार में कोई कार्य ऐसा भी है जो आप नहीं कर सकते..."

"हैं... ऐसे बहुत से कार्य हैं..." दुर्वासा के मुख पर बाल-सुलभ मुस्कान ही नहीं उभरी, उनके स्वर में भी विनोद छलक आया था, "एक कार्य तो यही कि मैं स्वयं अपने ऊपर चँवर नहीं डुला सकता, और यह भी कि तुम्हारी तरह इतने बड़े राज्य का शासन-भार नहीं उठा सकता।"

"आपकी सेवा तो मेरा सौभाग्य है भगवन्... और राज्य...! वह तो मैं आप-जैसे गुरुजनों के आशीर्वाद से ही चला रहा हूँ..."

"तुम कुलीन हो, सुसंस्कृत हो... तुम्हारे राज्य में हम जैसे तपस्वी निश्चिन्त होकर लोक-परलोक के बूझे-अनबूझे प्रश्नों पर चिन्तन-मनन के लिए उपयुक्त वातावरण पाते हैं.."

"इसमें मेरा कुछ श्रेय नहीं महर्षि... यह तो मेरा कर्तव्य है, जो ईश्वर की कृपा तथा आप जैसे गुरुजनों के आशीर्वाद से यत्किंचित होता रहता है।"

"और तुम्हारी इसी विनम्रता एवं कर्तव्यपरायणता के आधार पर मैं तुमसे कुछ माँगने आया हूँ..."

"भवन में तो कोई समस्या नहीं, वह तो तुरन्त ही हो जाएगा मुनिवर किन्तु सहायता के लिए.."

"किन्तु..!" दुर्वासा के स्वर में आश्चर्य था, जो कुन्तिभोज को सन्तर्जना जैसा लगा, मानो कह रहा हो कि मेरे कार्य के लिए किन्तु कहने का साहस कैसे हुआ तुम्हें!

"नहीं, ऐसी कोई समस्या नहीं है... बस मैं मात्र इस सोच में पड़ गया था कि जो सारे गुण आपने गिनाये, उन पर खरी उतरने वाली महिला भला कौन होगी! अर्थात् मैं अपनी दासियों, राजकुल की महिलाओं आदि में किस पर इतना विश्वास कर सकता हूँ कि आपके कार्य में किसी भी प्रकार की कोई बाधा न पहुँचे।"

"विश्वसनीयता... और गोपनीयता...! बड़ा विलक्षण योग है जो बड़ी कठिनाई से मिल पाता है किसी एक व्यक्ति मे..." दुर्वासा बोले, "और फिर महिलाओं के लिए तो जनश्रुति यही है कि वे कुछ भी अपने तक सीमित नहीं रख पातीं!" कहते-कहते उनके मुख पर एक नटखट मुस्कान उभर आयी।

महर्षि दुर्वासा भी मुस्करा लेते हैं. किसी नटखट बालक की भाँति! इस आयु मे भी? क्षणभर कुन्तिभोज ने सोचा – अन्य कोई उनसे यह कहता तो वे सम्भवतः आसानी से स्वीकार न करते।

"किन्तु असम्भव तो नहीं..." दुर्वासा का स्वर फिर गम्भीर हो आया था। "यह तो अनिवार्य पूर्वावश्यकता है।"

"कुछ समय दे सकेंगे भगवन्...?"

"कितना...?"

"यदि सुविधा से सम्भव हो तो... दो-तीन दिन..." कुन्तिभोज ने कहा, "मैं महारानी से भी इस सम्बन्ध में चर्चा करना चाहूँगा... सम्भवतः दासियों आदि के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करना उचित हो।"

"अवश्य..." दुर्वासा सहमत होते हुए बोले– "राजभवन से सम्बद्ध महिलाओं से उनका ही प्रत्यक्ष सम्पर्क होगा। उनका परामर्श महत्त्वपूर्ण रहेगा।"

"भगवन्, एक जिज्ञासा और..." कुन्तिभोज ने विनम्रतापूर्वक पूछा, "आपकी ओर से किसी कुल, गोत्र अथवा वर्ण सम्बन्धी आग्रह तो नहीं!"

"नहीं, ऐसा कुछ नहीं... कुछ शिक्षित अवश्य हो..." दुर्वासा कुछ सोचते हुए बोले, "विश्वसनीयता तो अपने आप में बहुत बड़ा गुण है। यदि कोई अपने कार्य एवं व्यवहार द्वारा विश्वसनीयता प्राप्त कर सके तो उससे बढ़कर कुलीन भला और कौन होगा!"

कुन्तिभोज महर्षि-दुर्वासा की कुलीनता की इस परिभाषा से प्रभावित हुए। वे सोचने लगे... लोग व्यर्थ ही इनसे भयभीत होते रहते हैं। यह तो ज्ञान का भण्डार है, विनम्रता की मूर्ति हैं। इन्हें महर्षि की उपाधि व्यर्थ ही तो नही प्राप्त हुई होगी। किन्तु क्रोध...? वह भी तो अपने आप में एक बड़ा दुर्गुण है। ये उसे त्याग क्यो नही पाये?

"क्यों, क्या कोई सुपात्र तुम्हारी दृष्टि में आ रहा है.. मेरे इस कार्य के लिए...?" कुन्तिभोज को चुप पाकर दुर्वासा पूछ बैठे।

"अभी किसी निर्णय पर तो नहीं पहुँच पाया हूँ, किन्तु.. जो पूर्वावश्यकताएँ आपने गिनायीं उन पर खरी उतरने वाली... मेरी दृष्टि में तो एक ही है भगवन्..."

"और वह... इस राज्य की महारानी...!" दुर्वासा ने कुन्तिभोज की बात बीच में ही काटते हुए उनकी ओर दृष्टि उठायी, "यही कहोगे न, राजन्?"

"आप त्रिकालज्ञ हैं, मुनिवर... आप तो मन की बात भी समझ लेते हैं.." कुन्तिभोज ने सलज्ज मुस्कान के साथ कहा।

"पत्नी के प्रति ऐसा विश्वास, दाम्पत्य जीवन में अगाध प्रेम का परिचायक है। महारानी के प्रति तुम्हारे मन में यह विश्वास देखकर मेरा मन भी प्रसन्न हुआ। सुखी रहो..." दुर्वासा का दाहिना हाथ अभय मुद्रा में उठ गया। "किन्तु राजन् तुमने यह नहीं पूछा कि मुझे महिला सहायक की आवश्यकता कितने समय तक रहेगी..?"

कुन्तिभोज दुर्वासा का प्रश्न सुनकर सोच विचार में पड़ गये। इस विषय में तो उन्होंने कुछ सोचा ही नहीं था। बस, कहीं अन्तर्मन में अनुमान था... सम्भवतः एक सप्ताह, या कौन जाने एक माह। किन्तु दुर्वासा का प्रश्न कुछ अलग ही संकेत देता प्रतीत हो रहा था। उनके प्रश्न में, कुछ अन्तराल के साथ उत्तर आने की सम्भावना भी झलक रही थी।

"कम से कम एक वर्ष..." कक्ष का मौन तोड़ते हुए दुर्वासा बोले, "और असम्भव नहीं कि दो वर्ष भी लग जाएँ। क्या इतने समय तक महारानी के बिना अन्त:पुर की व्यवस्था निर्विघ्न चल पाएगी?"

"असम्भव तो कुछ भी नहीं होता मुनिवर... कुछ कठिनाई तो आ भी सकती है, किन्तु आपके यज्ञ की आवश्यकता देखते हुए उस समस्या के विषय में भी कुछ सोचा जाएगा।"

"इसमें तो संशय नहीं राजन्, कि असम्भव कुछ नहीं होता.. किन्तु गृहिणी का अभाव वास्तव में उसकी अनुपस्थिति में ही पता चलता है.."

अचानक दुर्वासा का स्वर गम्भीरता त्यागकर विनोद से छलक उठा, "अरे तुम सोच रहे होगे कि इस संन्यासी को गृहिणी की अनुपस्थिति का मर्म कैसे ज्ञात हुआ! आश्चर्य न करो वत्स... संन्यासियों को तो गृहिणी का अभाव निरन्तर ही झेलना पड़ता है... और परिणाम से तो तुम परिचित हो ही। देखो ये वेश भूषा.. भटकने वाले पाँवों पर जमी धूल और सहायता के लिए हर किसी के आगे फैलने वाले ये हाथ "

"लज्जित न करें भगवन्.. आप जैसे महर्षियों की चरणरज तो संसारी जीवों के मस्तक का चन्दन है। आपके हाथ जो वरदानों की वर्षा करते रहते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना है क्या?"

"और उद्विग्न मन के कारण बरसते शापो की चर्चा नहीं करोगे राजन्! मैं अपने रूखे व्यवहार से परिचित नहीं हूँ, यह तो सम्भव नहीं है, किन्तु.."

दुर्वासा ने अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ दिया। मौन को कुछ खिंचते देख कुन्तिभोज जिज्ञासावश पूछ बैठे, "किन्तु क्या, मुनिवर?"

"किन्तु.." दुर्वासा ने प्रश्न करती सी दृष्टि से कुन्तिभोज की ओर देखा, "किन्तु क्या..?"

किन्तु दूसरे ही क्षण वे कुछ स्मरण करते हुए हँसकर बोले, "अरे... क्या तुम चाहते हो कि मैं अपने क्रोध के औचित्य मे कोई तर्क प्रस्तुत करूँ...? नहीं, मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा.. और इस समय तो मैं कोई विषयान्तर भी नहीं चाहता। मुझे लौटना ही होगा अपने यज्ञ की ओर, और उससे सम्बन्धित अपनी आवश्यकताओं की ओर।"

"भगवन्.. मेरी दृष्टि में तो अभी कोई विकल्प नहीं है... किन्तु महारानी के परामर्श से कोई हल अवश्य निकलेगा, आप निश्चिन्त रहे।"

"निश्चिन्त होना तो किसी शोधार्थी के वश में नहीं होता। तुम्हारे सारे प्रबन्ध के चलते भी चिन्ता मेरा साथ नहीं छोड़ेगी। मुझे तो अपने यज्ञ के परिणाम के प्रति उत्तरदायी होना होगा। किन्तु उन चिन्ताओं से पहले मेरे सामने प्रश्न यह है कि अब, जबकि इतने वर्षों की तपस्या के फल को जाँचने परखने का समय आया है, तो मैं

क्या करूँ... क्या न करूँ... और कैसे करूँ?"

"वह चिन्ता मुझ पर छोड़ दें भगवन्..." कुन्तिभोज ने चँवर रोकते हुए दोनों हाथ जोड़कर कहा, "मुझे विश्वास है, कुछ प्रबन्ध अवश्य हो जाएगा।"

तभी कक्ष के द्वार से, प्रवेश करते हुए, राजकुमारी पृथा ने प्रणाम करके कहा, "पृथा का सादर अभिवादन स्वीकार करें मुनिवर..."

शूरसेन की पत्नी ने पुन: गर्भ धारण किया तो समाचार पाकर सभी हर्षित थे... अपवाद था तो बस एक – शूरसेन की बुआ का पुत्र कुन्तिभोज, जो उनका बाल-सखा भी था और अभिन्न मित्र भी। वह अपने मुखमण्डल पर पसरती छाया को छिपा नहीं पाया। अपने बाल-सखा कुन्तिभोज की आँखों में तैरती दु:ख की छाया शूरसेन से भी छिप न सकी।

वे सान्त्वनाभरी वाणी में मुस्कराते हुए बोले, "भैया, इतना निराश न हों... कहते हैं कि ईश्वर के यहाँ विलम्ब भले ही हो जाए, अन्याय नहीं होता। अभी तो समय है। पता नहीं कब भाग्य मुस्कराता-किलकारता हुआ, भाभीश्री की गोद में भी आ बैठे।"

"नहीं..." निराश स्वर में कुन्तिभोज बोले– "क्षमा करना. मैंने तुम्हें अब तक बताया नहीं। भाग्य ने अपना निर्मम निर्णय अभी कुछ दिन पूर्व ही वैद्यराज के मुख से सुना दिया। तुम्हारी भाभी कभी गर्भ धारण नहीं कर पाएँगी। कई रातों की कालिमा अपने आँसुओं से धोने का असफल प्रयास करने के पश्चात्, रोते हुए, उसने मुझसे नयी पत्नी लाने का अनुरोध किया है। किन्तु उस अनुरोध में छिपी विवशता क्या मुझसे छिप सकती है! अपने उस मौखिक अनुरोध का प्रभाव पढ़ती हुई उसकी जिज्ञासु आँखें, मेरी आँखों में झाँक कर, मेरे मन का भाव टटोल रही थीं। मैं तुम्हे कैसे बताऊँ कि वह मेरे मुख से मेरा अस्वीकार सुनने के लिए कितनी व्यग्र थी!"

"यह तो दु:ख की बात है..." शूरसेन ने कहा, "और चिन्ता की भी।" चिन्ता उनके स्वर में भी उभर आयी थी।

"अरे तुम चिन्ता छोड़ो... चिन्तित होकर भला क्या होगा!" कुन्तिभोज ने एक विवश मुस्कान के साथ स्नेह-सहित शूरसेन के कन्धे पर अपना हाथ रखा और कहा, "विश्वास रखो, तुम्हारे आँगन की किलकारी सदैव हमारे आँगन तक पहुँचती रहती है, और पृथा भी तो मुझे अपने पुत्री से कम प्रिय नहीं है! और अब, तुम्हारे घर आने वाली नयी सन्तान हमारे सुख को भी बढाएगी... विश्वास रखो।"

"मुझे विश्वास है भैया..." शूरसेन ने कुछ सोचते हुए, गम्भीर स्वर में कहा, "किन्तु भाभी का दु:ख मात्र इस स्नेह से कम नहीं होगा... जैसे किसी प्रिय सखी की कलाई में पड़ा मनचाहा कंगन नारी को तब तक सुख नहीं दे सकता, जब तक वह स्वयं उसकी कलाई में न आ जाए..."

"किन्तु जो असम्भव है, उस पर दु:ख करने से भला क्या होगा...? छाती पीट लेने से भी तो दु:ख कम नहीं होते..." कुन्तिभोज ने कहा।

"फिर भी, मानव-स्वभाव को कोई क्या करे! दु:ख पाकर भला कितने हैं जो छाती पीटने के लिए उठे हुए अपने हाथों को रोक पाते हैं? भाभी तुमसे कभी कहें अथवा न कहें... अकेले क्षणों में, स्वयं अपने आप को भुलावा देने के लिए होंठों पर आरोपित मुस्कान अवश्य ही उनसे विद्रोह करके दूर हो जाती होगी। क्या बीतती होगी उस क्षण उनके मन पर...! मैं तो कल्पना करके ही व्याकुल हो रहा हूँ।"

"किन्तु विकल्प भी क्या है... वह जो स्वयं तुम्हारी भाभी ने कहा? मुझे किसी नयी-नवेली के हाथों सौंपकर क्या अकेले क्षणों में वह छाती पीटने को आतुर अपने हाथों को रोक पाएगी? और मैं स्वयं भी तो सहमत नहीं हूँ उस विकल्प से। इसका ही क्या भरोसा कि नयी पत्नी मुझे सन्तान दे ही देगी। और यदि ऐसा हुआ भी तो वह पराये हाथ में पड़ा सुन्दर कंगन, क्या कालिन्दी को अपनी कलाई सजाने का सुख दे पाएगा? उस पर यह भय भी तो है कि कहीं मैं जीवन भर महाराज ययाति की भाँति अपने घर में देवयानी एवं शर्मिष्ठा-जैसी कलह झेलता न रह जाऊँ..."

"तुम सोचते बहुत हो भैया।" शूरसेन ने स्नेह से दुलराती दृष्टि कुन्तिभोज पर डाली -"भविष्य की ऐसी निराशा भरी सम्भावनाओं में उलझना क्या आवश्यक है? जीवन में सुखद सम्भावनाओं का भी तो अभाव नहीं होता..."

"एक दु:ख भरे यथार्थ ने भविष्य की सभी सुखद सम्भावनाओं पर कालिख पोत दी है, मित्र।" कुन्तिभोज का स्वर प्रत्येक वाक्य के साथ और भी टूटता बिखरता जा रहा था।"

"फिर भी मेरा अनुरोध है कि इतने निराश न हों..." शूरसेन ने कहा. "मैं भगवान से प्रार्थना करूँगा। प्रार्थना में बड़ा बल होता है, यह तो मानते हो न!"

"मानने को तो मैं चमत्कारों पर भी विश्वास करता हूँ... यह जानते हुए भी कि कुछ सत्य हैं जो अपरिवर्तनीय हैं... अटल हैं..."

"फिर भी.. मैं प्रार्थना करूँगा... इस विश्वास के साथ कि यह स्थिति अटल सत्य न हो। कुछ विकल्प निकले.." शूरसेन ने कुन्तिभोज का कन्धा स्नेह से थपथपाते हुए कहा।

कुन्तिभोज एक थकी हुई निराश मुस्कान के साथ शूरसेन को देखकर मौन रह गये।

कुन्तिभोज का दु:ख चिन्ता बनकर शूरसेन के हृदय में जा समाया। उन्हें कुछ आश्चर्य भी था कि कुन्तिभोज दूसरे विवाह के विचार को महत्त्व क्यों नहीं दे रहे हैं? यदि

वे उस विकल्प के प्रति तनिक भी अनुमत हों तो कोई कुलीन राजकन्या देखी जा सकती है और कौन जाने, कालिन्दी भाभी की दृष्टि में ही कोई उनकी प्रिय सखी अथवा सम्बन्धी कन्या हो, जो उनके साथ प्रेममय व्यवहार करते हुए जीवन निर्वाह कर सके। सभी कन्याएँ तो अनुदार एवं कलहप्रिय नहीं होतीं। किन्तु... सौत...? यहाँ आकर शूरसेन की विचार प्रक्रिया लड़खड़ा जाती थी। सौत का सम्बन्ध सौम्य से सौम्य स्वभाव में भी आमूल परिवर्तन करने की क्षमता रखता है...

और प्रार्थना...! वे क्या प्रार्थना करें? किससे प्रार्थना करें? कुन्तिभोज को सान्त्वना भाव से दिया हुआ परामर्श, प्रश्न चिह्न बनकर उनके सामने आ खड़ा हुआ था। वे सच्चे मन से, हर प्रकार प्रार्थना करने के लिए तत्पर थे... 'हे प्रभु! भाभीश्री के लिए किया हुआ उनके वैद्य का निदान निर्मूल सिद्ध हो... मैं सौ गौएँ दान करूँगा.. मेरे जीवन का एक वर्ष कम कर के भाभीश्री की गोद में चमत्कार उत्पन्न कर दो... कुछ ऐसाकर दो कि उनके गर्भ से एक बार, बस एक बार, जीवन का अंकुर रूपाकार लेकर प्रकट हो जाए। उसके बदले चाहे मेरे घर में फिर कभी और कोई सन्तान जन्म न ले... या कोई चमत्कार हो जाए कि सिद्धि का गर्भ भाभीश्री के गर्भ में जाकर स्थापित हो जाए... और यह भी नहीं तो...?

'किन्तु यह ही क्यों नहीं?' वे अपने ही तर्क के अन्तिम विकल्प पर अटक गये। यह तो सम्भव है... बिल्कुल सम्भव है। भगवान चाहेगा तो हमे और भी सन्तान मिलेगी। यदि किसी प्यासे को जल देने से पुण्य प्राप्त हो सकता है, तो मातृत्व के लिए तड़पती-बिलखती नारी को जीते-जागते शिशु की भेंट उन्हें महान पुण्य का भागी बना देगी। कितना सरल विकल्प है... उन्हें आश्चर्य हुआ कि इस सम्भावना की ओर पहले उनका ध्यान क्यों नहीं गया!

किन्तु ..!

उनकी विचार शृंखला सहसा टूटी... जैसे अनजान, अँधियारी राह में दौड़ पडे पाँवों को ठोकर लग जाए। क्या सिद्धि मान जाएगी? अपना नवजात शिशु किसी और के हाथों में सौंपने की कल्पना से क्या उसका मन व्याकुल नहीं हो उठेगा... ममता चीत्कार नहीं कर उठेगी? और जानते हुए यह सब, वे अपनी पत्नी के सामने ऐसा निष्ठुर प्रस्ताव कैसे रखेंगे... कहने के लिए शब्द कहाँ पाएँगे?

कई दिन बीत गये इसी ऊहापोह में... किन्तु जितना सोचा उन्हें निरन्तर यह लगता रहा कि पहले ही सिद्धि के पास एक शिशु के रहते, दूसरे शिशु पर कालिन्दी भाभी का अधिकार अधिक था। उन्हें लगा कि यह भगवान का अन्याय है कि उनके घर दूसरी सन्तान आ रही है, जबकि बिल्कुल पास ही... एक सुशील, सदाचारिणी नारी की गोद वर्षों से सूनी है। उनका वश चलता तो वे स्वयं श्रीहरि से यह प्रश्न पूछते। किन्तु इस समय तो समस्या मात्र सिद्धि से कुछ पूछने की थी... अपनी उस

पत्नी से, जो कभी उनकी बात नहीं टालती... जो लगता है जैसे अपने लिए नहीं, मात्र पति के सुख के लिए ही जीवित है।

ऐसी आज्ञाकारिणी पत्नी का मन टोहने का साहस भी नहीं हो रहा था उन्हें... कारण बस यही कि प्रश्न का विषय स्वयं उन्हें ही न्यायसंगत नहीं लग रहा था। वे अपना निर्णय पत्नी पर थोपना भी नहीं चाहते थे। यह विश्वास होते हुए भी कि सिद्धि उनके आदेश को ठुकराएगी नहीं, उन्हें भय था कि ममता कहीं पत्नी को कुछ ऐसा कहने के लिए बाध्य न कर दे जो आज तक नहीं हुआ... जो उनकी अपनी दृष्टि में ही अकल्पनीय है।

स्वयं अपने से ही लम्बे तर्क-वितर्क के बाद शूरसेन ने यथार्थ को झेलने का साहस जुटाया... अब जो भी हो। पता तो लगे कि यह विकल्प असम्भव है।

उन्होंने पत्नी से सुखद क्षणों के बीच कुन्तिभोज के साथ हुए वार्तालाप तथा उनकी निराश मनःस्थिति की चर्चा छेड़ी। बात स्वतः ही कालिन्दी भाभी के दुर्भाग्य पर जा पहुँची, उनकी बात आते-आते सिद्धि की आँखें भर आयीं। उन्होंने हाथ जोड़ते हुए भगवान से प्रार्थना की.. 'हे प्रभु! ऐसा दुःख कभी किसी नारी को न देना...'

उसी बीच सिद्धि के मुख से निकल गया.. 'कोई किसी का दुःख नहीं बाँट सकता।'

शूरसेन को सम्भवतः ऐसे ही किसी सूत्र की प्रतीक्षा थी। उन्होंने सिद्धि का हाथ अपने हाथों में लेते हुए बडे कोमल स्वर मे कहा, "श्रीहरि की कृपा से हमें वह अवसर प्राप्त हुआ है कि हम भैया-भाभी का दुःख बाँट सकें... उसे कुछ कम कर सकें..."

"कैसे...?" अचानक पूछकर, पति की आँखों में झाँकते हुए, सम्भवतः सिद्धि को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया। उनका मुख कुम्हलाने लगा और आँखों में आशंका की घटा घिरने लगी।

"नहीं... यह कैसे होगा ..?" मौन पति के मुख पर गम्भीरता देखकर वह टूटते-से स्वर में बोलीं।

शूरसेन के अधरों पर एक उदार मुस्कान फैल गयी। "हो सकता है, सिद्धि... श्रीहरि ने हमें अपना कृपापात्र मानकर वह साधन हमें दिया है..." कहते-कहते सिद्धि का सिर बडे स्नेह से अपने हाथों में समेटते हुए उन्होंने अपने वक्षःस्थल से लगा लिया। ऐसा निष्ठुर प्रस्ताव करके, सिद्धि की आँखों में झाँकने का साहस उन्हें नहीं हो रहा था... कुछ कहने-सुनने की शक्ति भी नहीं थी। कुछ ही पल बाद, अपने सीने पर बहती हुई आँसू की बूँदों का अनुभव हुआ तो उन्होंने स्नेह से पत्नी का सिर थपकते हुए उन्हें अपनी बाँहों में समेट लिया।

अन्तरंग संवादहीनता कभी-कभी गम्भीर तर्क-वितर्क का सार्थक विकल्प बनकर आ जाती है। शूरसेन ने स्वयं ही नहीं सोचा था कि उन्हें समस्या का हल

इतनी सरलता से प्राप्त हो जाएगा।

कौन जाने... बात जब बननी ही होती है तो स्वयं अपना मार्ग ढूँढ़ लेती है।

इस अप्रत्याशित हल के बाद, एक और ही समस्या आ खड़ी हुई... शूरसेन का प्रस्ताव सुनकर कुन्तिभोज की आँखों से कृतज्ञता आँसू बनकर मुखरित हुई। उन्होंने शूरसेन के दोनों हाथ अपनी हथेलियों में समेटकर आँखों से लगा लिये और... लगभग टूटते हुए स्वर में बोले पड़े, "इतने निष्ठुर न बनो मित्र...! ऐसा अन्याय न करो सिद्धि पर।"

"अन्याय कैसा? यह तो आदेश जान पड़ता है श्रीहरि का... हमें सहर्ष उसका पालन करने दो भैया।" शूरसेन ने प्रत्युत्तर में कुन्तिभोज के हाथ अपनी हथेलियों के बीच ले लिये। "हमारी विनम्र भेंट स्वीकार करो भैया! भाभी की गोद में एक शिशु किलकारे, उनकी ममता का द्वार खुले... तो हम दोनों को बड़ी प्रसन्नता होगी। इसके बदले, ईश्वर हमें न जाने क्या आशीर्वाद दे... किस-किस रूप में आशीर्वाद दे... हमें वह सब सुख प्राप्त करने का अवसर दो भैया!"

"किन्तु हमारी ओर से भी तो सोचो मित्र..." कुन्तिभोज ने कहा, "तुम मुझे बड़े अन्याय का भागी बना रहे हो। जन्म लेते ही एक दुधमुँहे बच्चे को, माँ से विलग करने से बड़ा अन्याय भला और क्या होगा? और ऐसा करना क्या जन्मदात्री के प्रति निष्ठुर अन्याय नहीं होगा?"

शूरसेन तथा कुन्तिभोज... दोनों के बीच संवाद बड़ी देर तक चलता रहा। कभी तर्क का रूप लेकर, तो कभी दार्शनिकता का। कभी अनुनय-विनय का तो कभी आग्रह-अनुरोध का। कभी भावुकता का तो कभी मात्र मौन का।

"और यदि आने वाली सन्तान... पुत्र हुई तो?" मौन तोडते हुए कुन्तिभोज सहसा पूछ बैठे।

"तो...!" शूरसेन क्षणभर के लिए ठिठके। यह क्या हुआ..? उन्होंने इस सम्भावना की ओर तो ध्यान ही नहीं दिया था। किन्तु दूसरे ही क्षण वे सँभलते हुए बोले, "तो क्या? भाग्यशाली होगा वह बालक... उसे तुम्हारे जैसे पराक्रमी एवं स्नेही पिता की छाया में पलने का अवसर मिलेगा।"

"किन्तु तब क्या सिद्धि को दुःख नहीं होगा...! एक पुत्र को खो देने का दुःख...?" शूरसेन ने तर्क दिया।

"क्या अन्तर पड़ जाएगा..? माँ की ममता के लिए तो गोद में पड़ा शिशु ही उसका परम धन है। शिशु की किलकारी तो एक-सी होती है, चाहे पुत्री हो अथवा पुत्र..."

"फिर भी..." कुछ था जो कुन्तिभोज के मन को मथ रहा था। उन्होंने इस विषय

में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए कुछ समय माँगा। वे पत्नी कालिन्दी के जीवन में सुख की कल्पना से आह्लादित भी थे किन्तु... इस व्यवस्था द्वारा भाई की पत्नी पर होने वाले अन्याय के प्रति चिन्तित भी थे। दुविधा निर्णय के मार्ग में बाधाएँ तो खड़ी ही करती रहती है... उस बाधा को लाँघने का साहस वे नहीं जुटा पा रहे थे।

उन्होंने अपनी पत्नी से परामर्श करने का निर्णय लिया।

इस विचित्र प्रस्ताव की बात सुनकर कालिन्दी का मन विचलित हो उठा... चीत्कार कर उठा। मन पर वर्षों का जमा हुआ हिम, पिघलकर, नेत्रों के मार्ग से प्रवाहित होता रहा। हाँ और ना के थपेड़ों में भटकती वे कई दिन तक निरुत्तर रहीं। कुन्तिभोज की सान्त्वना, उनकी संवेदनशीलता, उनका प्रेम... कुछ भी उनको किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की शक्ति नहीं दे सका।

अन्ततः वे सिद्धि से मिलीं... दोनों में न जाने कितनी देर, किस-किस विषय पर बातें हुईं... कितने अश्रु बहे और अनजाने ही एक-दूसरे के वक्षःस्थल पर सिर टिकाकर रोते हुए, न जाने कैसे वे दोनों एक विचित्र निर्णय पर पहुँच गयीं... एक ऐसा निर्णय जिसकी पहले कुन्तिभोज तथा शूरसेन ने कल्पना भी नहीं की थी। किन्तु, जो भी था... जैसा भी था, वह सिद्धि तथा कालिन्दी का सोचा-समझा निर्णय था... और वह यह कि नवजात शिशु के जन्म के बाद, चाहे वह बालक हो अथवा बालिका, सिद्धि कालिन्दी को अपनी ढाई-वर्षीया बेटी सौंप देंगी।

पृथा पर, प्रारम्भ से ही कालिन्दी का विशेष स्नेह था। शूरसेन को भी पृथा प्रिय थी, और पृथा भी उन दोनों को देखते ही दौड़कर उनकी गोद में जा बैठती थी... कभी कभी उनके साथ ही उनके भवन में रह आती थी, अपने माता-पिता का स्मरण किये बिना... जैसे वह भी पृथा का ही अपना घर हो।

कुन्तिभोज को भी यह व्यवस्था रुचिकर लगी। उन्हें लगा इस प्रकार न तो नवजात शिशु के प्रति अन्याय होगा और न सिद्धि के प्रति। फिर जो भी हो... बालक अथवा बालिका, हरि इच्छा... और सिद्धि का भाग्य।

ऐसा भी होता है... भवितव्यता अपना मार्ग जैसे-तैसे स्वयं ही बनाती चलती है।

"मेरी पुत्री... महर्षि!" पृथा को द्वार पर खड़े देख, उलझन में पड़े कुन्तिभोज ने, बड़े अनुनय के साथ दुर्वासा से कहा, "इस धृष्टता के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।"

दुर्वासा की दुविधा भरी दृष्टि पृथा की ओर घूम चुकी थी। वे सम्भवतः निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि उनके एकान्त विचार-विमर्श में सहसा यह व्यवधान कैसे आ पड़ा। किसने यह दुःसाहस किया! तभी स्थिति को सँभालते हुए कुन्तिभोज ने पुकारा, "आओ बेटी! चरणरज लो मुनिवर की।"

जब तक दुर्वासा कुछ सोचें अथवा कहें, पृथा ने पास आते हुए उन्हें चरण छूकर प्रणाम किया, "क्षमा करें मुनिवर, बहुत समय से आपके दर्शन की इच्छा थी... लोभ संवरण न कर पायी। सोचा कि सम्भवत: शीतल जल मुनिवर को सुख प्रदान करे... वही लेकर दौड़ आयी।"

बालिका के चातुर्य पर दुर्वासा मुस्कराये। "आयुष्मान भव..." कहते हुए उनका हाथ अभय मुद्रा में उठ गया।

स्थिति को सँभलता देख कुन्तिभोज ने अपने भाग्य को सराहते हुए मुस्कराकर निश्चिन्तता की साँस ली। "आपके आशीर्वाद से, मुनिवर, मेरी कन्या बड़ी ही सुशील एवं कर्मठ है। सेवा भाव तो ईश्वर की कृपा से इसे जन्म के साथ ही प्राप्त हुआ है। ऋषियों, मुनियों, विद्वानों एवं गुरुजनों की सेवा में इसे ऐसा सुख प्राप्त होता है, कि यह आहार-निद्रा भी भुला बैठती है। ऐसी गुण-सम्पन्न बेटी देकर विधाता ने मुझे धन्य कर दिया... और आज आपका आशीर्वाद पाकर यह धन्य हुई।"

"पिताश्री...!" पृथा ने सलज्ज मुस्कान के साथ चहकते हुए कुन्तिभोज को टोका। फिर वह स्वर में अतिरिक्त विनम्रता घोलती हुई दुर्वासा की ओर मुडी, "भगवन्! यह तो पिताश्री का स्नेह बोल रहा है। मैं तो बस स्वार्थवश गुरुजनों की मेवा का प्रयास करती हूँ। माताश्री कहती हैं कि गुरुजनों के आशीर्वाद से बढ़कर संसार में कोई दूसरा धन नहीं है।"

"बालिका की स्मरणशक्ति पर किसी को भी शंका नहीं हो सकती..." दुर्वासा ने मुस्कुराते हुए कहा, "इमे अपना पाठ शब्दश: याद है..." कहते हुए वे मुक्त कण्ठ से हँस पड़े।

उनके इस व्यवहार से क्षणभर चकित होते हुए कुन्तिभोज भी अपनी हँसी नहीं रोक पाये। बस पृथा के लिए यह उलझन एवं असमंजस का क्षण था। वह सलज्ज मुस्कान एवं कृत्रिम रोष के साथ उन दोनों की ओर क्षण भर देखती रही और फिर जलपात्र उन दोनों के सामने रखते हुए भाग गयी। कुन्तिभोज उमे पुकारते रह गये।

दुर्वासा... और ऐसा मुक्त हास्य! कुन्तिभोज के लिए यह विस्मय भरा अनुभव था। कौन मानेगा यदि वह किसी से कहें कि महर्षि दुर्वासा मुक्त कण्ठ से हँसते भी हैं, मात्र शाप ही नहीं देते। वे हाथ जोडकर बड़े विनम्र स्वर में उनसे बोले, "बालिका की धृष्टता क्षमा करें मुनिवर... अभी अबोध है, मैं उसे समझाऊँगा..."

"पिता की दृष्टि में तो बेटी सदैव ही अबोध रहती है.." दुर्वासा बोले, "किन्तु समय उसे बहुत कुछ सिखाता रहता है.. चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने।"

"वैसे बहुत ही चतुर है... कुशाग्र-बुद्धि, स्मरण-शक्ति की धनी और आज्ञाकारिणी भी। हमारा तो जीवन धन्य हो गया इसे पाकर।"

"बहुत मोह न करो वत्स..." दुर्वासा ने कुन्तिभोज पर स्नेहभरी दृष्टि डाली—"हर

पुत्री के पिता को वैराग्य का प्रारम्भिक पाठ तो अवश्य ही पढ़ना चाहिए। जीवन में एक दिन उन्हें इसकी आवश्यकता तो आ ही पड़ती है। उन्हें बेटी के जन्म के दिन से ही त्याग के महत्व को जानना चाहिए।"

"त्याग...! वैराग्य...! पिता को...?" कुन्तिभोज लड़खड़ाते से स्वर में बोले, "यह कैसा परामर्श दे रहे हैं भगवन्...?"

"व्यावहारिक... नितान्त यथार्थपरक..." दुर्वासा ने गम्भीर स्वर में कुन्तिभोज का वाक्य काटते हुए कहा।

कुछ क्षण पहले ही उन्मुक्त अट्टहास से गूँजते कक्ष का वातावरण गम्भीर हो उठा। उन दोनों के बीच कुछ देर मौन मँडराता रहा.. इतना कि रह-रहकर अपने अशक्त होते हाथ में डोलते चँवर का स्वर भी कुन्तिभोज को सुनाई देने लगता था।

तभी एक अर्थपूर्ण मृदु मुस्कान के साथ कुन्तिभोज की ओर देखते हुए दुर्वासा बोले, "देखा न! जाते हुए बेटी अपने पीछे कैसा त्रासद सन्नाटा छोड़ जाती है!"

"इसका कोई उपचार... तो होगा, महर्षि..." कुन्तिभोज बोलने के प्रयास में फिर लड़खड़ा गये।

"मात्र यही... कि मन, जो अवश्यम्भावी है, उसे स्वीकार करने की सामर्थ्य जुटाये।"

"पृथा सुखी तो रहेगी मुनिवर!" कुन्तिभोज अपनी दुविधा में पूछ गये।

"क्यों.. उसके सुख में क्या संशय? तुम्हारा आशीर्वाद उसे बहुत प्रकार के सुख देगा। किन्तु..."

"किन्तु क्या, भगवन्?" कुछ व्यग्र होते हुए कुन्तिभोज ने पूछा।

"किन्तु.." दुर्वासा कुन्तिभोज की ओर से दृष्टि हटाकर ध्यानस्थ हो चुके थे। उनके किन्तु पर किसी रहस्य में समाया हुआ शेष वाक्य कुन्तिभोज को गहन चिन्ता की ओर खींचता चला जा रहा था। उनका मन हो रहा था कि वे चँवर फेंककर दुर्वासा के चरण पकड़ ले और आग्रह करके कहें, 'प्रभु! शीघ्र बताएँ मुझे... स्पष्ट बताएँ मुझे... क्या है मेरी बेटी के भाग्य में! सुखी तो रहेगी वह...?' किन्तु मुनिवर तो किसी और लोक में विचरने लगे थे। उनका ध्यान भंग करने का दु:साहस वे नहीं कर सकते थे।

"मुनिवर...!" उन्होंने अपना मुख कुछ उनकी ओर बढ़ाते हुए कोमल वाणी में पुकारा।

"ओ३म...!" कहते हुए दुर्वासा ने धीरे से नयन खोलकर दृष्टि उनकी ओर घुमायी– "कुछ कहा तुमने, वत्स!"

"भगवन्...! आप कुछ कह रहे थे.. बेटी पृथा के विषय में... उसके सुख के विषय में.. और उसके सुख की बात कहते कहते, किन्तु पर आकर रुक गये।"

"हाँ सुख..." दुर्वासा ने किसी दार्शनिक की भाँति कहा, "सम्भवतः मैं अपने ही प्रश्न में उलझ गया... कि सुख क्या है? तुम बता सकते हो मुझे कि सुख क्या है?"

"सुख...?" कुन्तिभोज ने कल्पना भी नहीं की थी कि दुर्वासा उनसे कोई प्रश्न करेंगे। वे तो बस आदेश देते हैं और तुरन्त उसका पालन चाहते हैं। और फिर प्रश्न भी इतना साधारण... "सुख का अर्थ है... सुख, अर्थात्..."

कुन्तिभोज अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाये। कौन नहीं जानता कि सुख का अर्थ है धन, वैभव, मान-सम्मान, दुःखों का अभाव... किन्तु ये मुझसे क्यों पूछ रहे हैं? और सुख की यह परिभाषा देकर मैं भला कैसे कह दूँ कि मुनिवर आप सुखी नहीं है।

"तुम भी उलझ गये न!" दुर्वासा मुस्कराये, "कोई नहीं जानता कि सुख क्या है। सुख मिलता नहीं... व्यक्ति को सुख खोजना पड़ता है... स्वयं अपने मन में... सुख की कोई सीमा नहीं होती। व्यक्ति निरन्तर एक से दूसरे, और दूसरे से तीसरे सुख की खोज में भटकता रहता है। कई बार उसे सफलता मिलती है, और कई बार असफलता। असफलता उसे क्षण भर को दुःख देती हुई, किसी नये सुख के लिए, नयी दिशा में चलने की प्रेरणा देती है। और सफलता भी क्षणिक उपलब्धि का सुख देकर उसे किसी नये सुख की खोज में लगा देती है।

"सुख-दुःख तो आते-जाते ही रहते हैं। भला कौन है जिसे सुख ही सुख मिले हों? तुम्हें भी तो नहीं..." कहते हुए उन्होंने दृष्टि कुन्तिभोज की ओर घुमायी...

"और मुझे भी नहीं..." क्षण भर रुककर दुर्वासा फिर बोले, "देखो न! मैं यहाँ किसी नये सुख की खोज में आया हूँ... भटक रहा हूँ अपने नये प्रयोग को लेकर। सहायता माँगने आया हूँ तुमसे। स्वयं नहीं जानता कि अपने इस यज्ञ की पूर्णाहुति डालने का सौभाग्य मुझे मिलेगा भी अथवा नहीं... और यह तो भविष्य ही बताएगा कि वह यज्ञ भविष्य में समाज के लिए उपयोगी भी सिद्ध हो पाता है, अथवा नहीं।"

कुन्तिभोज इतने लम्बे वक्तव्य के लिए तैयार नहीं थे। कई बार उनका मन हुआ कि वे मुनिवर को बीच में ही टोककर पूछें, 'भगवन्! मेरा तो छोटा-सा प्रश्न है। मेरी बेटी सुखी तो रहेगी!' किन्तु एक महात्मा को बीच में टोकने का दुःसाहस वे कैसे करते? और वह भी महर्षि दुर्वासा को!

कक्ष के मौन को भंग करते हुए वे विनम्र स्वर में बोले, "भगवन्! आपका यज्ञ अवश्य पूर्ण होगा। मैं आपके हर आदेश का पालन करूँगा। किन्तु... किन्तु मुनिवर, मेरी बेटी... भगवन्! हर पिता बस यह चाहता है कि उसकी बेटी सुख से रहे। उस पर कभी दुःख की छाया भी न पड़े। और कभी-कभी मुझे यह भी लगता है कि मैं पहले भले ही बहुत कुछ रहा हूँ... किन्तु अब, एक साधारण पिता से बढ़कर कुछ भी नहीं हूँ।"

"नहीं वत्स!" दुर्वासा का स्वर सकारात्मक था, "साधारण नहीं, तुम तो एक असाधारण पिता हो... और तुम्हारी बेटी भी एक असाधारण जीवन बिताएगी।"

"सुखी तो रहेगी, भगवन्!" कुछ था जो कुन्तिभोज को मथ रहा था, "भविष्य में उसे..."

"भविष्य भला किसने देखा है राजन्!" दुर्वासा ने बीच में ही कुन्तिभोज की बात काटी, "भविष्य के पृष्ठ खोलने का अधिकार तो केवल समय को है।"

इस उत्तर ने कुन्तिभोज को कुछ और उलझन में डाल दिया। वे कोई स्पष्ट संकेत चाहते थे दुर्वासा से। 'कोई स्पष्ट भविष्यवाणी क्यों नहीं कर रहे हैं ये? लोग तो कहते हैं कि ये भविष्यद्रष्टा हैं... सब जानते हैं। किन्तु क्या वास्तव में कोई सब कुछ जान सकता है? और यह तो सब ही जानते हैं कि सभी को जीवन में सुख-दु:ख मिलते हैं। कभी सुख तो कभी दु:ख...'

कुन्तिभोज के मन में जिज्ञासा उमड रही थी किन्तु वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि क्या पूछें... और कैसे पूछें! और फिर इस स्थिति में, जब मुनिवर कुछ स्पष्ट कहने की मन:स्थिति में नहीं दिख रहे हैं। उन्होंने कहा, "भगवन्... बेटी पृथा पर अपना वरद हस्त बनाये रखिएगा.."

"राजन्! जैसे तुम्हारी बेटी, पृथा मेरी भी बेटी है। और बेटी पर वरदहस्त न रहे, इसका तो प्रश्न ही नहीं उठता। और हाँ.. सन्ध्या का समय हो चला, अग्निहोत्र का प्रबन्ध कराओ।"

प्रात:काल महर्षि दुर्वासा अग्निहोत्र पूजन आदि से निवृत्त हुए तो उन्होंने सामने हाथ जोडे विनीत मुद्रा में खडे कुन्तिभोज को देखा। पास ही रजत थाल में फल, मिष्ठान्न आदि लिये पृथा दिखाइ दी।

दुर्वासा ने अपनी आवश्यकता भर भोजन सामग्री धुले हुए केले के पत्ते पर लेकर ग्रहण की। इस बीच उनके शिष्य सुकीर्ति के हाथ से चँवर लेकर कुन्तिभोज उन पर डुलाते रहे। हाथ में जलपात्र लिये आज्ञामूर्ति बनी पृथा उनके सम्मुख खडी रही।

सुस्वादु जलपान से सन्तुष्ट होकर दुर्वासा मुस्कराते हुए बोले, "राजन्, ऐसा राजसी सत्कार तपस्वी के हित में नहीं होता... उसके मन को भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर भटकाने लगता है।"

"भगवन्, ऐसा प्रलोभन संसार में नहीं जो आपकी तपस्या में बाधा डाल सके.." कुन्तिभोज ने विनम्र वाणी में कहा।

"काश, यह सम्भव होता..." दुर्वासा अन्तर्मुखी होते हुए बोले, "वास्तविकता तो यह है कि संसार में ऐसा कोई नहीं, जो प्रलोभनों से परे हो। प्रलोभन तो मायावी रूप

धरकर आते ही रहते हैं। कौन उन्हें कब तब जीत पाएगा, यह कोई नहीं जानता।"

"ऋषिवर..." पृथा पूछ रही थी, "आपके सम्मुख भी क्या कभी कोई प्रलोभन बाधा बनकर आया?"

"अहा..." दुर्वासा मुस्कान बिखेरते हुए बोले, "अब बालिका लेगी मेरी परीक्षा!"

"परीक्षा नहीं भगवन्! बस जानने की इच्छा हुई। आप तो इतना सुस्वादु भोजन देखकर भी अल्पाहार ही करते रहते हैं, आपको भला किस वस्तु का लोभ होगा! बताइए न... आपको भी क्या कभी कोई विघ्न-बाधा सताती है?"

"क्यों नहीं बालिके...!" दुर्वासा कुछ सोचते हुए बोले, "देखो न... कुछ वर्ष पहले मैं प्राण-पण से एक तपस्या में लगा था... एक प्रयोग कर रहा था, एक लगभग जलहीन क्षेत्र में खाद्यान्न की उपज बढ़ाने का। तभी बीच में एक नारी की दुःखभरी कहानी ने मेरा मार्ग ही बदल दिया। मैं अपना वह प्रयोग छोड़कर इस नयी तपस्या में लग गया। आठ-नौ वर्ष हो गये इस प्रयोग में लगे हुए।"

"कैसा प्रयोग मुनिवर...? कौन थी वह नारी? क्या दुःख था उसे?" किशोरी पृथा के स्वर में जिज्ञासा भी थी और आग्रह भी।

"वह नारी..." दुर्वासा कहते-कहते रुक गये—"किन्तु वह कथा फिर कभी। अभी तो मुझे तुम्हारे पिताश्री से कुछ महत्वपूर्ण मन्त्रणा करनी है।"

"फिर मन्त्रणा...?" पृथा कुछ मचलते—रूठते स्वर में बोली, "अभी कल ही तो हुई थी एक दीर्घ मन्त्रणा आप दोनों मे।"

"बेटी पृथा!" गम्भीर स्वर में उसे टोकते हुए कुन्तिभोज बोले।

"बालिका है... मत टोको उसे। अभी कुछ दिन ही तो हैं जब वह बन्धनों से मुक्त होकर कुछ कह सकती है, कर सकती है। फिर तो समय सारे अधिकार छीन लेता है।"

"इसे क्षमा करें प्रभु..." कुन्तिभोज दुर्वासा के चरणों पर झुक आये—"आशीर्वाद दें इसे।"

"एक अनिकेत-निर्धन तपस्वी भला किसी को दे ही क्या सकता है! फिर भी मेरा आशीर्वाद है... यह दीर्घायु प्राप्त करे... समय—कुसमय में सदैव अपना मनोबल बनाये रखे।"

यह आशीर्वाद कुन्तिभोज को कुछ रहस्यमय लगा... कुछ अधूरा-सा। किन्तु वे कुछ पूछें, इससे पहले ही दुर्वासा ओंकार ध्वनि करते हुए, कमण्डल लेकर चल चुके थे।

एक बार फिर मन्त्रणा-कक्ष में कुन्तिभोज अकेले ही दुर्वासा के सम्मुख थे।

"राजन्...! क्या तुम किसी निर्णय पर पहुँच पाये?" दुर्वासा ने कुछ औपचारिक प्रश्नों के बाद पूछा।

"उस महिला के विषय में?... प्रयोग में आपकी सहायता के लिए...?"

"हाँ।" दुर्वासा कोई ठोस उत्तर चाहते थे... सकारात्मक उत्तर।

"मुनिवर, मैंने महारानी से चर्चा की थी, इस विषय में। किन्तु भगवन्..." कुन्तिभोज अनिर्णय की स्थिति में अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाये। किन्तु उनके सम्मुख दुर्वासा बैठे थे... जो मौन, आँखें मूँदे हुए, अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे थे। क्षण-भर रुकते हुए वे आगे बोले, "किन्तु आपकी विश्वसनीयता एवं गोपनीयता की बाध्यता के कारण, हम लोग किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये।"

"तो क्या तुम्हारे राज्य में कोई ऐसी महिला नहीं है जिस पर तुम पूर्णतया विश्वास कर सको... जो मेरे प्रयोग को पूर्णतया गोपनीय रख सके।"

"पूर्ण विश्वास तो बस मुझे अपने ऊपर है भगवन्... और महिलाओं में अपनी पत्नी और पुत्री पर," कुन्तिभोज अपनी रौ में बोल गये।

"किन्तु सुख सुविधओं में पली, दास-दासियों को आदेश देने की अभ्यस्त महारानी तथा राजकुमारी क्या अपना सुविधा-सम्पन्न राज प्रासाद छोडकर मेरे आदेश के अनुसार कार्य कर पाएँगी?" दुर्वासा ने शंका व्यक्त की।

"क्यों नहीं मुनिवर? आपकी सेवा करके वे स्वयं को धन्य मानेंगी। महारानी से इस विषय पर मैंने चर्चा भी की थी। उन्होंने स्वयं ही सेवा के लिए प्रस्ताव किया था।"

"तो यही सही... मैं भी यह भूल जाऊँगा कि मेरी सेवा इस अंचल की महारानी कर रही हैं। किन्तु..." दुर्वासा सहसा रुक गये।

"किन्तु क्या भगवन्?"

दुर्वासा शून्य की ओर निहारते हुए मौन बैठे रहे.. ऐसे, जैसे उन्होने कुन्तिभोज का प्रश्न सुना ही न हो। क्षण प्रतिक्षण पसरता हुआ मौन कुंतिभोज के धैर्य पर भारी पड़ने लगा। तभी दुर्वासा बोले, "किन्तु यह कि महारानी कालिन्दी इस कार्य के लिए उपयुक्त नहीं होंगी।"

"कोई आशंका है महर्षि, उनकी विश्वसनीयता अथवा गोपनीयता की क्षमता में!"

"वह तो नहीं..." दुर्वासा कुछ खोये हुए से स्वर में बोले, "जिस नारी के अश्रुओं ने मुझे इस प्रयोग के लिए प्रेरित किया था, उसकी छाया दिखाई देती है मुझे महारानी कालिन्दी की आँखों में.. यह कार्य, मुझे भय है, उन्हें भावुक बनाकर, कर्तव्य पथ से डिगा सकता है।"

"कोई उपचार हो तो आदेश करें..."

"उपचार... बस यह कि कोई विकल्प ढूँढ़ो।"

विकल्प की चर्चा घूम-फिरकर राजकुमारी पृथा पर आ टिकती थी। उसमें बाधा थी तो बस यह कि उसकी आयु कम है। क्या वह अपना कार्य गम्भीरता से ले पाएगी...? और बस समय की। कुन्तिभोज कुछ आभास पाना चाहते थे कि इस प्रयोग में कितना समय लगेगा? क्योंकि दो-एक वर्ष में... अथवा कौन जाने जल्दी ही उन्हें उसके स्वयंवर की व्यवस्था भी करनी होगी।

समय के विषय में दुर्वासा कुछ निश्चय के साथ नहीं कह रहे थे। वही अनिश्चय भरा उत्तर, "कम से कम एक वर्ष.. डेढ़-दो वर्ष भी लग सकते हैं।"

कुन्तिभोज ने पृथा से इस विषय पर चर्चा की तो यह प्रस्ताव उसे चुनौती भरा लगा। वह छूटते ही बोली, "पिताश्री! आपको क्या कोई सन्देह है मुझ पर... मेरी विश्वसनीयता अथवा गोपनीय रखने की क्षमता पर! आप बस आदेश दीजिए मुझे।"

"सन्देह नहीं बेटी..." उन्होंने स्नेह भरा हाथ उसके सिर पर फेरते हुए कहा, "किन्तु कठोर-व्रती तपस्वी के अनुशासन में बँधकर कार्य कर पाना सबके लिए सरल नहीं होता। एक सुकुमार राजकुमारी के लिए कष्टकर भी हो सकता है। और पुत्री, महर्षि दुर्वासा का कोप बड़ा भयंकर है. मन डरता है कि.."

"आप सारा भय त्याग दें पिताश्री " पृथा को यह चुनौती कुछ कर दिखाने के लिए प्रेरित कर रही थी। मन में कहीं कौतूहल भी रह-रहकर सिर उठा रहा था क्या है वह गोपनीय कृत्य, जिसके लिए पिताश्री विश्वसनीय पात्र नही ढूँढ पा रहे हैं? यह कैसा प्रयोग है जिसमें सहायता के लिए महर्षि दुर्वासा को अपने आश्रम मे कोई तपस्विनी नहीं मिली?

वह रात कुन्तिभोज और कालिन्दी ने सोचते-विचारते आँखों में ही काट दी... और प्रातःकाल, सन्ध्या-पूजन के बाद, वे पृथा को लेकर दुर्वासा के सम्मुख उपस्थित हुए। दुर्वासा ने पृथा से कुछ प्रश्न किये, जिनका पृथा ने आत्म-विश्वास के साथ उत्तर दिया और गोपनीयता की शपथ ली।

व्यवस्था यह बनी कि राजभवन से कुछ ही दूर एक उपवन के बीच, एक सप्ताह में, तीन-चार कक्ष का भवन महर्षि दुर्वासा के लिए तैयार हो जाएगा . और शुभ मुहर्त में, दस दिन बाद, वे अपने प्रयोग की सामग्री सहित आ जाएँगे।

इस निर्णय के अनुरूप सारी व्यवस्था का आश्वासन पाकर दुर्वासा चले गये।

योजना के अनुसार, शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ होकर दुर्वासा का कार्य चल निकला। वे

निर्धारित समय पर एक शिष्य तथा कुछ कलश साथ लिये पधारे... और उनके आश्रम की व्यवस्था राजकुमारी पृथा ने सँभाल ली।

किन्तु राजकुमारी, राजकुमारी नहीं रही... आश्रम की एक सेविका बन गयी थी। न तो तन पर कोई आभूषण और न कौशेय वस्त्र... न ही पाँवों में बहुमूल्य पदत्राण। फूलों का शृंगार भी वर्जित। वर्जनाएँ और भी थीं... जैसे कोई व्यर्थ प्रश्न न पूछना, आगन्तुकों के प्रश्नों का कोई उत्तर न देना और किन्तु-किन्तु जैसे शब्दों का प्रयोग न करना।

कुन्तिभोज तथा कालिन्दी को अपनी पुत्री का नया वेश दुःखी कर जाता था। कल्पना भी नहीं की थी उन्होंने कि उनकी लाड़ली बेटी कभी ऐसी दीन-हीन दशा को प्राप्त होगी और उस पर कुछ प्रश्न न कर पाने की विवशता। कैसे कटेगी यह प्रतीक्षा एवं परीक्षा की घड़ी? कैसे कटेंगे ये शपथ में बँधे वर्ष-दो वर्ष?

आश्रम का बाह्य कक्ष दुर्वासा ने अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए रखा था। वहीं उनका अध्ययन एवं मनन चिन्तन होता था, और कभी आवश्यकता पड़ी तो शयन भी। सायंकाल वे, कक्ष के बाहर, वृक्षों के तले जा बैठते थे और ऋतु प्रतिकूल न हो तो खुले आकाश के नीचे ही शयन करते थे।

अपने कक्ष में ही आगन्तुकों से मिलते थे और उनसे मिलने वालों में अधिकतर दम्पती ही होते थे... अथवा महिलाएँ। वे सब पूर्व अनुमति प्राप्त करके ही आते थे। लम्बे प्रश्नोत्तर भरे वार्तालाप के साथ ही, दुर्वासा कभी नारी की नाड़ी देखते तो कभी उसकी हस्त-रेखाएँ, या कभी उसकी श्वास-प्रश्वास की गति।

वे बड़े धैर्य के साथ बडे विस्तार में प्रश्न करते रहते थे.. महिला के साथ आने वाले उसके पति से भी। अधिकांश महिलाएँ जो बुझे-बुझे नेत्र लेकर आती थीं, लौटते समय उनके नेत्रों में आशा की एक चमक होती थी। दुर्वासा उन्हें पुनः आने का एक विशेष दिन बताते थे। जाते-जाते वे दम्पती से पूछते थे, "तुम्हें किस देवता का आशीर्वाद चाहिए? आने से पूर्व आपस में निर्णय करके आना। जिस देवता का आशीर्वाद प्राप्त करोगे उसी के गुणों के अनुरूप स्वभाव लेकर जन्म लेगी तुम्हारी सन्तान।" आगन्तुक दम्पतियों के साथ महर्षि दुर्वासा के इस संवाद के समय पृथा की उपस्थिति वर्ज्य थी।

दुर्वासा के कक्ष से मिले, पीछे वाले कक्ष में एक क्रम से सात काँस्य कलश रखे थे, जिनपर कोई विशेष लेप लगा था। उनके नीचे धरती पर कुछ औषधियों-वनस्पतियों का ढेर था, जिनसे प्रवाहित शीत-लहरी से सारा कक्ष शीतल प्रतीत होता था। उससे मिले हुए, साथ वाले कक्ष में दो-तीन शैया रहती थीं, अतिथियों आदि के लिए...और पीछे वाले कक्ष में आवश्यक सुविधाओं से सम्पन्न पृथा के रहने एवं शयन की व्यवस्था थी।

कुछ दिन उस आश्रम में बिताने के बाद धीरे-धीरे पृथा पर रहस्य खुलना प्रारम्भ हुआ। वहाँ आने वाले रोगी होते हैं... किसी विशेष प्रकार के रोगी। महर्षि दुर्वासा के पास उन्हें कोई वैद्य भेजता है... पूर्ण निदान के पश्चात्... किसी ऐसे उपचार के लिए जो वैद्य के पास सम्भव नहीं है। तो क्या महर्षि दुर्वासा चिकित्सा-शास्त्र के भी ज्ञाता हैं? ऐसे ज्ञाता, जैसे कि बड़े-बड़े अनुभवी वैद्य भी नहीं होते? किन्तु इसमें पृथा की सहायता कहाँ आती है? उसकी भूमिका क्या है?

अपने इस प्रश्न का उत्तर पृथा को तब मिला जब दुर्वासा ने उससे विचित्र प्रश्न प्रारम्भ किये... शारीरिक रचना के सम्बन्ध में, नर तथा नारी की शारीरिक भिन्नताओ के सम्बन्ध में, शिशु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में। पृथा को आश्चर्य हुआ था पहले... अरे यह तपस्वी! और भोग-सम्भोग के सम्बन्ध में ऐसी स्पष्ट वार्ता. ? निर्लज्जता की सीमा तक स्पष्ट! उसे उत्तर देने में लज्जा का अनुभव हुआ। किन्तु दुर्वासा के वैज्ञानिकों-जैसे वस्तुपरक निर्लिप्त स्वर ने कुछ ही समय में उसे सहज कर दिया।

कुछ प्रारम्भिक पाठ पढ़ाने के बाद दुर्वासा ने पृथा के हाथों में एक दीर्घ नलिका के आकार का यन्त्र देते हुए कहा था, "यह उद्गारिका है.. एक विशेष प्रयोजन के लिए बनाया गया बस्ति-यन्त्र जैसा उपकरण। इसकी सहायता से तुम्हें रोगिणी के गर्भ में ओषध पहुँचानी है..." दुर्वासा ने नारी-शरीर रचना का रेखाचित्र बनाकर, पृथा को सविस्तार उसकी कार्यविधि समझायी-"द्रव रूप में ओषधियाँ इन छोटे छोटे काँस्य कलशों में हैं.., यह बताना मेरा दायित्व है कि किस रोगिणी को किस कलश की ओषधि देनी है।"

अपने लिए निर्दिष्ट दिवस पर जब कोई रोगिणी आती थी तब दुर्वासा उसे उपचार कक्ष में लाकर एक स्वच्छ, सुखद शैया पर स्वस्थचित्त होकर लेटने का आदेश देते थे... और वहाँ पृथा का कर्तव्य होता था रोगिणी को अपने मधुर व्यवहार द्वारा तनाव मुक्त करने का। दुर्वासा उससे आँख मूँदकर अपने इष्टदेव का स्मरण करने को कहते थे। फिर रोगिणी को बताये हुए सात देवताओं में से किसी एक का आवाहन करना होता था। धीरे-धीरे दुर्वासा का स्वर गम्भीर होता जाता था... जैसे उनका स्वर वायु में तैर रहा हो... जैसे उनका स्वर बहुत दूर से, किसी दूसरे लोक से आ रहा हो, "देखो इष्ट देव ने तुम्हारी प्रार्थना सुन ली. देखो कैसा मनोहर रूप है उनका... उनके अधरों पर कैसी मादक मुस्कान है। वे आ गये हैं... तुम्हारे पास. तुम्हे अपना आशीर्वाद देने..."

रोगिणी घड़ी भर में ऐसे सम्मोहन की स्थिति में पहुँच जाती थी कि उसे अपने तन-मन की सुध नहीं रहती थी। उसका मुख किसी अबोध बालिका जैसा हो जाता था जो सोते में कोई मधुर स्वप्न देख रही हो।

ऐसी स्थिति में, पृथा की ओर एक संकेत दृष्टि डालते हुए वे कक्ष के बाहर निकल जाते थे... बाहर उन्हें रोगिणी के पति के साथ बहुत-सी बातें करनी होती थीं, उसकी बहुतेरी शंकाएँ दूर करनी होती थीं, उसे अनेक आवश्यक निर्देश देने होते थे।

धीरे-धीरे निर्देश के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हुए पृथा अपने हाथ में पड़ी उद्गारिका की अभ्यस्त हो चली। प्रारम्भिक संकोच तिरोहित होता चला गया। धीरे-धीरे उसे लगने लगा कि वह किसी का हित कर रही है... किसी को अभिशाप-मुक्त करके, जीवन का महत्तम सुख प्रदान करने में सहायक बन रही है।

तन्द्रा टूटने के बाद रोगिणी को विश्राम के लिए निकटस्थ विश्रान्ति कक्ष में भेज दिया जाता था, जहाँ वह पति के साथ महर्षि की देख-रेख में लगभग एक सप्ताह रहती थी। दुर्वासा उसकी नाड़ी एवं दिनचर्या का अध्ययन करते रहते थे... और बहुधा छः-सात दिन में ही एक उपलब्धि की मुस्कान के साथ, सुखद भविष्य का आशीर्वाद देकर, उपचाराधीन दम्पती को विदा देते थे। ऐसे अवसर कम ही आये जब दुर्वासा को सन्तोषजनक संकेत न प्राप्त हुए हों। अपवाद ही सही, किन्तु ऐसी स्थिति में दम्पती को धैर्य बँधाते हुए वे पुनः आने के लिए तिथि बताते थे।

समय के साथ दुर्वासा को लगता था कि वे अपने अभिनव प्रयोग का एक और सोपान चढ़ चुके... किन्तु सफलता अभी दूर थी, बहुत दूर। जब तक परिणाम शिशुओं की किलकारी के साथ दुन्दुभि बजाता हुआ स्वयं ही सामने न आ जाए... तब तक, उन्हें लगता था, कि प्रयोग सन्दिग्ध ही रहेगा। उनकी आठ-नौ वर्ष पुरानी तपस्या दाँव पर लगी थी।

अतीत रह रहकर स्मृति में दुर्वासा के सम्मुख आता रहता था...

तब वे एक नितान्त भिन्न प्रयोग कर रहे थे। कैसा उजाड़-सा, श्रीहीन भू-खण्ड था वह! जहाँ अपर्याप्त जल के कारण वहाँ के खेत ही नहीं, जीवधारी भी शुष्क एवं श्रीहीन दिखते थे। खेतों में पर्याप्त उपज के अभाव में निर्धनता दिन-प्रतिदिन उस भू खण्ड के वासियों को निर्बल बनाती जा रही थी। पशुधन भी क्षीण होता जा रहा था। कुछ उद्यमी युवक चाकरी के लिए दूर देश जाकर बसने लगे थे। किन्तु अपनी भूमि का, अपनी जड़ों का, मोह त्याग देना सबके वश में तो नहीं होता।

एक बार वे कुछ शिष्यों-सहित भ्रमण करते हुए उधर से निकले तो जनपद-वासियों ने उनके चरण पकड़ लिये और अपनी दुःखभरी गाथा कह सुनायी। दया के लिए उनकी किसी महात्मा के सम्मुख वह पहली प्रार्थना नहीं थी। दान मिले अथवा न मिले, अशक्त एवं अभागे याचक तो हाथ फैलाते ही रहते हैं... और कभी-कभी याचकों को ऐसा दानी भी मिल जाता है जो, उनके फैले हुए हाथों को चुनौती के रूप मे स्वीकारते हुए, समस्या के उपचार में लग जाए।

दुर्वासा ने वहीं आश्रम बना लिया... वह चुनौती स्वीकार ली और वे उपचार के लिए तपस्या में लग गये।

विकल्प क्या था...? यही कि कृषि के लिए कहीं से जल आये या... ऐसी उपज की खोज हो, ऐसे बीजों की खोज हो, जो बहुत जल नहीं पीते। जिनसे कम सिंचाई में ही उत्पादन-क्षमता बढ़ सकती है।

पाँच वर्ष की कठोर तपस्या एवं अनेकानेक प्रयोगों के परिणामस्वरूप कुछ सार्थक परिणाम मिलने लगे थे। वर्षाजल के अधिकतम उपयोग के लिए तालों का निर्माण, कुछ संकर जाति के बीजों की खोज आदि द्वारा जनपद में सम्पन्नता का संचार होने लगा।

उन्हीं दिनों अश्रुओं से भीगा मुख लिये एक महिला ने आकर उनकी चरण रज ली। उसकी दु:खभरी कथा भी उन्हें ज्ञात हुई। उन्हें लगा जैसे उस नारी के आँसू उन्हे चुनौती दे रहे हैं... 'महामुनि! इस सूखी धरती को तो हरा कर दिया... आशीर्वाद दो कि मेरी कोख भी हरी हो जाए, बस एक बार...'

वह रात उन्होंने उठते-बैठते, शून्य में निहारते और उस महिला की करुण छवि अपने स्मृति-पट से निरन्तर पोंछने-बुहारने के प्रयास में बितायी। फिर वहाँ के वैद्यो से भी विचार-विमर्श किया और उसके पति से भी स्पष्ट चर्चा की...

उन्हें कोई राह नहीं मिल रही थी। उसका पति तो, नियोग का मार्ग अपनाकर, पत्नी तथा वंश की सहायता करने को तैयार था .. किन्तु वह महिला किसी भी स्थिति में पर-पुरुष से सान्निध्य के लिए सहमत नहीं थी। उसे विश्वास था कि यदि किसी सच्चे महात्मा का आशीर्वाद मिल जाए तो उसके सारे व्रत उपवास सार्थक हो जाएँगे।

किन्तु दुर्वासा जानते थे कि कोरे आशीर्वाद से कहीं कोई सफलता नहीं मिलती। तपस्या आवश्यक है... पथिक के लिए भी और मार्गदर्शक के लिए भी। कोई मार्ग तो होगा... कहीं कोई मार्ग अवश्य होगा!

उन्हें लगा कि उनका ध्यान भूमि की उत्पादकता सम्बन्धी चिन्ताओं से उचट चुका है। ध्यान रह-रहकर उस महिला के आँसू-भरे मुख पर जा टिकता है. चिन्तनधारा अनजाने ही बदल जाती है।

अपना वह प्रयोग अपने शिष्यों को सौंपकर दुर्वासा नयी तपस्या के लिए निकल पड़े। 'कोई मार्ग तो होगा...' रह-रहकर उनका मन कहता था, 'कितना क्षेप्यक, कितना अपव्यय है प्रकृति में! लाखों बीज देता है हर वृक्ष... किन्तु कुछ इने-गिने बीज ही वृक्ष उपजा पाते हैं। शेष सब व्यर्थ हो जाते हैं... नष्ट हो जाते हैं। कैसा अन्याय है प्रकृति का! पुरुष भी करोड़ों बीज प्रदान करता है... किन्तु फलित होते हैं बस दो-चार। और कैसा अन्याय है विधाता का, कि किसी महिला का गर्भ उपजाता है, तो उपजाता ही चला जाता है... और कहीं एक शिशु के लिए भी मातृत्व

तरसता-बिलखता रहता है। कैसे रोका जाए प्रजनन के इस अपव्यय को! कोई मार्ग तो होगा...! कोई मार्ग तो ढूँढ़ना ही होगा इस समस्या से पार पाने का...

घोर अन्धकार में भटकते, हाथ-पैर मारते, उनका ध्यान उस ताल पर जा टिका, जो उन्होंने व्यर्थ बह जाने वाले वर्षा-जल को एकत्रित करने के उद्देश्य से बनवाया था। व्यर्थ बहता हुआ जल बाँधा जा सकता है... तो क्या... तो क्या व्यर्थ होता हुआ जीवन-जल भी सुरक्षित रखा जा सकता है? व्यर्थ निष्प्राण हुए करोड़ों शुक्राणुओं में से क्या कुछ को जीवित बचाकर किसी प्यासी कोख तक नहीं पहुँचाया जा सकता?

लेकिन वह ताल...? जीवन-जल का ताल? कहाँ बनेगा, कैसे बनेगा? भाग्य में अत्यन्त अल्पायु लिखाकर लाये शुक्राणुओं को दीर्घ जीवन भला कौन-सी ओषध प्रदान करेगी? मानव-देह के बाहर उन्हें सुरक्षित रहने का, जीवित बने रहने का वरदान भला कौन देगा, कैसे देगा?

सोचते-विचारते, देस-परदेस भटकते हुए, वैद्यों तथा तपस्वियों से मिलकर विचार विमर्श करते... नित नये प्रयोग करते और आशा-निराशा के हिंडोले में झूलते, उन्हें तीन-चार वर्ष बीत गये। कई बार तो उन्हे लगा कि इस प्रकार वे विधि के विधान में बाधा डालने का प्रयास कर रहे हैं.. किन्तु तभी अनेक तर्क उन्हें आ घेरते थे। सिर पर छत तथा शरीर पर वस्त्रो से लेकर, भ्रमण के लिए चक्र-चालित वाहनों और शरीर को रोग-मुक्त रखने के लिए औषधियों के प्रयोग तक... सभी कुछ उन्हें विधि के विधान में हस्तक्षेप लगने लगता।

कई बार उन्हें लगा कि जो कार्य वे अपने हाथों में लेकर चल रहे हैं, वह असम्भव है। कोई नया प्रयोग प्रारम्भ करने से पूर्व सफलता का कोई सूत्र तो होना चाहिए... कोई दिशा अथवा संकेत तो होना चाहिए...। यह भी क्या कि लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अँधेरे में ही निकल पडे, किसी भी दिशा में! किन्तु ऐसी निराशा के क्षणों में हर बार उस महिला का अश्रु-पूरित मुख-मण्डल उनकी आँखों के आगे घूम जाता था. और मन में कहीं बहुत गहरे तल से एक स्वर उठता प्रतीत होता था... कोई राह तो होगी, कोई मार्ग तो अवश्य होगा..

तब अचानक एक दिन उन्हें संकेत मिला था कि शीतकाल में शुक्राणु अपेक्षाकृत अधिक समय तक जीवित रहते हैं। हिमाच्छादित पर्वतो के बीच उन्हें अपनी इस धारणा की पुष्टि हुई। यह एक बहुत बड़ा सूत्र प्रतीत हुआ उन्हें... यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह पर्याप्त नहीं था। किन्तु आगे बढ़ने का एक सूत्र तो हाथ लगा ही था। कई दिन वे और कुछ किये बिना, मन्द-मुस्कान अपने अधरों पर लिये, मौन समाधि मे बैठे रहे... जैसे धन्यवाद दे रहे हों परमस्रष्टा को, आशा की एक किरण दिखाने के लिए.. अथवा पिछली थकान मिटा रहे हों, अपनी बीहड़ यात्रा पुनः प्रारम्भ करने से पहले।

इस प्रकार बारम्बार चल निकलती थी उनकी नित-नये प्रयोगों से जूझती तपस्या। फिर वही आशा-निराशा की मरीचिका, फिर वही विधि के विधान का तर्क... फिर वही असम्भावना का संकट और... फिर वही मन की गहराइयों से उठता स्वर... कोई मार्ग तो होगा, कोई हल तो अवश्य होगा इस समस्या का!

अनेक प्रयोगों के बाद प्राप्त हुआ उन्हें एक शीतल वातावरण उत्पन्न करने का एक सूत्र.. कुछ वनस्पतियों के रस के मिश्रण को एक निश्चित अनुपात में मिलाकर ...और इस प्रकार प्राप्त हुई शुक्राणुओं की आयु बढ़ाने की विधि भी। वे गद्‌गद होकर बड़ी देर तक इस उपलब्धि पर अश्रु बहाते रहे। रह रहकर उस महिला का अश्रु-पूरित मुख भी उनके नेत्रों के आगे घूम जाता था। वे तो उसकी आँखों के आँसू पोंछने निकले थे और स्वयं ही आँसू बहा रहे थे, 'हे प्रभु! कितनी विचित्र सृष्टि है तुम्हारी! आँसू पोंछने की अभिलाषा लेकर चलने वाले को और भी अधिक आँसू बहाने होते हैं... अनेक वर्ष स्वेद बहाना होता है, कठिन परिश्रम करना होता है।'

दूर देश के पथिक की भाँति, किंचित विश्राम करके, वे फिर नित नये प्रयोगो तथा आशा-निराशाओं से भरी अपनी तपस्या में जुट जाते। बहुत कुछ था करने को... वीर्य प्राप्त करना था, एक कोष बनाने के लिए। विविध स्रोतों से प्राप्त वीर्य के मिश्रण से दोष उत्पन्न होने की सम्भावना मिटानी थी। कुछ उपाय करना था दुर्गन्ध नियन्त्रित करने के लिए भी, दिन निर्धारित करना था सफल गर्भाधान के लिए, जिससे श्रम एवं साधनों का क्षेप्यक कम से कम हो और, अन्त में, प्रयोगात्मक परीक्षा करनी थी अपनी इस असाधारण खोज की।

सन्तान के स्वभाव एवं उसकी रचना, सम्भावना आदि पर कुछ न कुछ पैतृक प्रभाव तो होता ही है.. इस धारणा के अनुरूप दुर्वासा ने अपने प्रभाव द्वारा विभिन्न स्रोतों से बड़ी मात्रा में वीर्य प्राप्त किया—पण्डितों एवं विद्वानों से, शक्तिशाली योद्धाओं से, सुन्दर सुरूप व्यक्तियों से, सदाचारी ब्राह्मणों से, वज्र जैसी देह वाले व्यक्तियों से, कर्मठ शिल्पियों एवं तपस्वियों से और चतुर व्यापारियो से। इस पर भी, सम्भावित समस्याओं तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों से बचने के लिए उन्हें अपना सारा प्रयोग-व्यवहार नितान्त गुप्त रखना अत्यन्त आवश्यक लगा।

बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अथक परिश्रम द्वारा प्राप्त जीवन-जल को अलग-अलग सांकेतिक राशियों में विभाजित किया. अनेक देवताओं के प्रसाद का नाम देकर। कहीं सूर्य का, कहीं चन्द्र का तो कहीं बृहस्पति, पवन, इन्द्र आदि देवताओ का प्रसाद। अपनी तपस्या की अनेक विघ्न बाधाओं को लाँघते हुए वे उस स्थिति पर जा पहुँचे थे, जहाँ उन्हें मूलरूप से बस एक चिन्ता बची थी.. वह यह कि शिशु स्वस्थ हो, कृत्रिम गर्भाधान कोई विकृति उत्पन्न न करे, नव जन्मदात्री प्रसूतिका पर कोई मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव न पड़े।

अपनी इस तपस्या के अन्तिम चरण के समय उनका आश्रम यमुना के उत्तर तट पर था... जहाँ कुछ ही दूर राजा कुन्तिभोज के राज्य की सीमा प्रारम्भ होती थी।

रात्रि का अन्तिम प्रहर था। वातावरण शीतल होता जा रहा था। अचानक सोते-सोते ही पृथा के हाथ, पैरों के पास पड़ी चादर की ओर बढ गये। चादर ओढ़ते हुए, अर्ध-सुप्त अवस्था में ही, उसके कानों में दूर से आता हुआ दुर्वासा का स्वर सुनाई पड़ा। वे अपने कक्ष में सस्वर कोई मन्त्र गुनगुना रहे थे... सम्भवतः स्नान के लिए निकलने का प्रबन्ध कर रहे हों।

कितना मधुर कण्ठ है महर्षि का! पृथा की आँख पूरी तरह खुल चुकी थी। स्वतः ही एक विचारधारा प्रवाहित हो चली... कैसा हो जाता होगा यह मधुर कण्ठ, जब ये क्रोध में भरकर शाप देने लगते होंगे। लोग तो थर थर काँपते हैं इनके शाप से। परम सौभाग्य है उसका कि कभी महर्षि ने उस पर क्रोध नहीं किया... किन्तु करते भी कैसे! वह सदैव अपना कार्य अत्यन्त तत्परता एवं सावधानी के साथ जो करती रही। माताश्री एव पिताश्री बड़े चिन्तित थे... वे न तो महर्षि को मना कर सकते थे और न ही उसके प्रति आश्वस्त थे... शिशु जो समझते हैं उसे, सोचते-सोचते वह मुस्करा उठी।

उसे ध्यान आया कि उसके नेत्र बन्द हैं, किन्तु निद्रा सम्भवतः पलकों के बाहर ही छूट गयी थी। उसने करवट बदलकर फिर सोने का प्रयत्न किया।

'अरे कब तक मुझे शिशु समझेंगे..? मैं क्या शिशु हूँ...? क्या वे देख नहीं सकते?' दर्पण में अनेक बार, भिन्न-भिन्न कोणों से निहारा हुआ अपना रूप स्मरण करके वह मुस्करा उठी... 'और फिर सब कुछ देखते-समझते स्वयंवर क्यों नहीं करते मेरा!' पृथा ने अनेक स्वयंवर देखे थे... किन्तु स्वय अपना स्वयंवर! वह कुछ मुस्करायी और अनजाने में ही किसी जिज्ञासु की तरह शून्य में ही कुछ ढूँढने देखने का प्रयास करने लगी, जैसे पहचानने का प्रयास कर रही हो कि आगन्तुक राजकुमारों की पक्ति में कौन-कौन है, कैसा है... और उसके मन को भाने वाला कौन है?

'अरे निद्रा को क्या हुआ?' उसने फिर करवट बदली। उसे विश्वास हो चला कि अब निद्रा तो आने से रही। लेटे रहना भी दूभर होता जा रहा था... किन्तु उठकर भी वह क्या करे? सूर्योदय में अभी देर थी और उस भवन में, उस समय, वह नितान्त अकेली थी। महर्षि सरिता तट पर स्नान के लिए जा चुके थे और उपशम कक्ष में भी उन दिनों कोई नहीं था। तो क्या सूर्योदय तक उसे शैया पर करवटें बदलते पड़े रहना होगा! सूर्य देवता क्या एक दिन थोड़ा समय से पूर्व नहीं आ सकते? उसका मन हुआ कि पुकारे, 'हे सूर्य देवता, आ जाओ।'

अपनी काल्पनिक पुकार के साथ ही उसे महर्षि दुर्वासा का अनेक अवसरों पर पुकारा हुआ स्वर सुनाई देने लगा। 'आओ बृहस्पति... आओ चन्द्र देव... आओ पवन देव...'

किन्तु कितनी विचित्र बात है, पृथा को यह स्मरण नहीं हुआ कि कभी उन्होंने सूर्य देव को पुकारा हो। मात्र संयोग है अथवा कोई विशेष कारण, कि कोई सूर्य देव का प्रसाद नहीं पाना चाहता... जब कि सूर्य देव का प्रसाद महर्षि की कलश पंक्ति में सबसे पहले रखा है। क्या सूर्य देव को बुलाना बहुत कठिन है? किन्तु उनके पास तो सात घोड़ों वाला रथ है... वे तो सबसे शीघ्र आ सकते हैं...

वह पूरी तरह जागकर शैया पर बैठ चुकी थी।

'अच्छा, यदि मैं सूर्य देव को पुकारूँ तो क्या वे आएँगे? और कैसा है उनका प्रसाद! तनिक देखूँ तो...'

कौतूहल ने पृथा के पाँवों को अनजाने में ही गति प्रदान की... और वह उपचार-कक्ष में पहुँच चुकी थी। तनिक इन अहंकारी सूर्य देव का प्रसाद तो देखा जाए। अरे वैसा ही होगा, जैसा और सबका... उसके मन ने कहा। फिर भी... और उसके अभ्यस्त हाथों में उद्‌गारिका आकर पंक्ति के पहले कलश के द्रव से भर चुकी थी। कुछ ही क्षणों में वहाँ आने वाली रोगिणियों का अभिनय करती हुई वह उपचार-कक्ष की सूनी पड़ी शैया पर जा लेटी।

आगे बढ़ते हुए अपने हाथ को उसने रोकने का अशक्त-सा प्रयास किया, किन्तु तभी कोई तर्क सहसा उठकर उसका अधिक्षेप कर गया... 'अरे कुछ नहीं होता... कौन सूर्य देवता आ जाएँगे तेरे बुलाने से! और फिर मुनिवर तो कहते हैं कि देवता का प्रसाद पाने के लिए कोई निश्चित दिन आवश्यक है। तेरे लिए भला वह दिन आज क्यों होने लगा!'

एक तन्द्रा उस पर छा रही थी... बिना महर्षि दुर्वासा के सम्मोहन मन्त्र के... उसके शरीर में एक विचित्र उत्तेजना की लहर दौड़ गयी।

कुछ समय तक वह चकित अचेत-सी पड़ी रही... पता नहीं कितनी देर! किन्तु जब उसने आँखें खोलीं तो देखा कक्ष उजास से भर चुका था। सूर्य देव आ चुके थे।

समय के साथ कोई कौतूहल नहीं चल पाता... उसकी आयु अत्यन्त क्षीण होती है। हाँ, कुछ कौतूहल ऐसे अवश्य होते हैं जिनकी भयावनी छाया, समय के साथ आँख-मिचौली खेलती हुई, जाने-अनजाने साथ दौड़ती रहती है।

पृथा उस उखड़ी हुई निद्रा वाली भोर को भूल चली थी, किन्तु उसके मन में कहीं एक चोर था जो समय-असमय प्रश्नों की शृंखला जैसी कमन्द फेंककर उसे बाँध

लेता था। क्या वह ठीक था... कैसे हो गया वह सब?

ऐसे प्रश्नों से ही नहीं, पृथा सूर्य की ओर देखने से भी कतराने लगी थी। वैसे भी, सूर्य की ओर भला कौन देखता है! किन्तु पृथा का ध्यान रह-रहकर सूर्य की ओर जाता था। 'क्या सचमुच... आये होंगे सूर्य देव!'

उस नटखट भोर की अप्रत्याशित घटना के बाद भी, कक्ष से बाहर निकलकर पृथा ने सूर्य की ओर देखा था। प्रतिदिन की भाँति वह प्रणाम करना भूलकर, भय एवं लज्जा से आक्रान्त होकर, पलकें उठाना ही भूल गयी थी। उसे लगा कि उदय होता हुआ वह सूर्य उसकी ओर देखकर प्रेमासक्त दृष्टि से कहीं मुस्करा न दे... तो क्या सचमुच सूर्य देव आये होंगे! वह दृष्टि उठाये बिना ही, मन ही मन, प्रार्थना करने लगी थी, 'हे सूर्य देव! मैंने तुम्हें बुलाया अवश्य था... किन्तु प्रसाद नहीं माँगा था, और न चाहा ही था। क्षमा करना मुझे।'

किन्तु कुछ ही समय में कुछ विचित्र से संकेत मिलने लगे उसे... कुछ नये अनुभव, कुछ नयी इच्छाएँ... जैसा उसका अपना शरीर वर्षो पुराना जाना-पहचाना सहजीवी न होकर कोई अपरिचित ढीठ हो, जो समय-असमय कुछ भी कर बैठता है, कुछ भी माँग सकता है। क्यों है यह! कैसे हो गया यह? और उत्तर खोजती उसकी शंकाएँ बरबस उसे उस नटखट भोर की ओर ले जाती थीं। तो क्या सूर्यदेव सचमुच आये थे...? क्या वे उसे बिना माँगे ही प्रसाद दे गये...? नहीं ऐसा नहीं हो सकता। महर्षि तो कहते थे कि इष्ट देव का प्रसाद केवल किसी निश्चित दिन ही प्राप्त किया जा सकता है। क्या उनकी यह धारणा निराधार थी... या वह सुनिश्चित दिवस भी, उस दिन बिन बुलाये आ पहुँचा था!

वह अपने प्रश्नों का उत्तर किसी से भी माँगने की स्थिति में नहीं थी... और भयभीत रहने लगी थी अपने शरीर से भी, कि वह कही ढिढोरा पीटने की उद्दण्डता पर न उतर आये। किन्तु कब तक... कब तक वह मुँह बन्द किये बैठी रहेगी अपनी काया का? कब तक छिपती फिरेगी स्नेही-शुभाकाक्षी दृष्टियो से?

पृथा की चिन्ता दिन प्रति दिन बढ़ रही थी। किसी भी दृष्टि से अपनी वास्तविकता छिपाकर हर बार उसे यही लगता था कि वह उसकी अन्तिम सफलता थी... अगली दृष्टि से बच पाना असम्भव होगा। यह जानते हुए कि मुक्ति का कहीं कोइ द्वार नहीं है, वह मुक्ति के लिए प्रार्थना करती रहती थी... निरन्तर... मुक्ति का कोई द्वार खोजती रहती थी।

सबकी दृष्टि से जैसे-तैसे लगभग तीन माह तक छिपे रहने के बाद वह दुर्वासा की दृष्टि को नहीं छल पायी। उन्हें पूजा के पुष्प देकर लौटते समय उन्होंने उसे पुकारा, "पृथा, तनिक मेरी ओर तो आओ।"

वह मुड़ी और... क्षण भर ऊहापोह मे ठिठककर, उनकी ओर बढ़ी। दुर्वासा को

पैनी दृष्टि उसे वेधे जा रही थी। वह उनके पास जाकर रुकी तो उन्होंने कहा, "तनिक अपना हाथ तो बढ़ाओ... मैं नाड़ी देखूँगा तुम्हारी।"

"क्यों मुनिवर...?" वह सहमे-से स्वर में बोली, "मैं तो स्वस्थ हूँ।"

"प्रश्न तुम नहीं करोगी, मैं करूँगा..." दुर्वासा का स्वर गम्भीर और सपाट था, "और स्वास्थ्य की स्थिति तुम्हारी नाड़ी बताएगी।"

अपने को रोक पाने में असमर्थ पृथा ने धीरे से अपना हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया। सहसा अपनी नाड़ी का स्वर उसे अपने वक्ष:स्थल में बजता सुनाई दिया और उसकी भयभीत दृष्टि भूमि कुरेदने का प्रयास करने लगी।

तभी दुर्वासा ने उसका हाथ झटकते हुए रोषपूर्ण स्वर में कहा, "यह क्या है?"

"क्या मुनिवर..." उसके शब्द लड़खड़ा गये थे।

"यह किसका बीज है?"

"कै...कैसा बीज?" पलकों के साथ ही उसके गिरते हुए शब्दों ने सँभालने का अन्तिम प्रयास किया।

"यही जो तेरे गर्भ में पल रहा है?"

उसे थरथराती शिला की भाँति मौन खडा देख, दुर्वासा ने अपना प्रश्न दुहराया। वह धरती की ओर आँखें गड़ाये हुए भी यह देख सकती थी कि दुर्वासा के आग्नेय नेत्र उसके मुख पर तने हैं। वह बिलख पड़ी... पर उसके आँसुओं मे वह सामर्थ्य नहीं थी जो दुर्वासा की कोप-ज्वाला को शान्त कर सके।

"यह कैसे हुआ...?" दुर्वासा के स्वर में उत्तर न मिलने तक बारम्बार पुनरावृत्ति का आग्रह था।

विवश होकर, पृथा को कुछ कहना आवश्यक लगा। वैसे भी कभी न-कभी, किसी न किसी से तो उसे कहनी ही थी अपने मन की व्यथा .. तो महर्षि दुर्वासा से ही क्यों नहीं! कौन जाने, शाप की ज्वाला में भस्म करके, वे ही उसके लिए कोई मार्ग बना दे। वह सिसकते-से स्वर में बोली, "कृपा ... सूर्यदेव की..."

"कौन सूर्यदेव?" उनका स्वर और भी पैना हो उठा।

"क्षमा करें मुनिवर, भूल हुई मुझसे..." अश्रु-पूरित मुख दुर्वासा की ओर उठाती वह कातर स्वर में बोली, "वही मन्त्र आपका... अपने कौतूहल में, अपनी मूर्खता में, मन्त्र को परखने की भूल कर बैठी।"

"मूर्ख बालिके..." दुर्वासा का स्वर क्रोध की भट्टी में तपकर निकल रहा था, "मैं जानता हूँ कि कहीं कोई देवता नहीं आता ऐसे आवाहन से। उसके लिए कलशों में सुरक्षित जीवन-जल की आवश्यकता पड़ती है... उद्गारिका की आवश्यकता होती है और एक सहायक के हाथों की आवश्यकता होती है।"

"भूल हो गयी मुझसे..." पृथा टूटते स्वर में कहती गयी, "मैंने तो कहा भी था,

सूर्यदेव से, लौट जाने को... किन्तु... किन्तु..."

"किन्तु क्या...? तेरा साहस कैसे हुआ मेरी आज्ञा के बिना उन कलशों को छूने का...? उद्गारिका उठाने का?" दुर्वासा के नेत्र क्रोध में धधक रहे थे। पृथा का साहस नहीं हुआ कि अपनी दृष्टि उठाए।

"मेरा अपराध महर्षि... दण्ड दें मुझे, शाप दें मुझे..." वह कातर स्वर में बोली।

"शाप...!" दुर्वासा का स्वर सहसा कोमल होकर व्यंग्य से भर गया... पता नहीं वे किस पर व्यंग्य कर रहे थे, "शाप मैं क्या दूँगा तुझे...! शाप तो तूने स्वयं ही ले लिया, अब तो जीवन भर तू ढोएगी यह शाप।"

पृथा के पास न तो शब्द थे और न कोई विकल्प... वह मौन बैठी आँसू बहाती रही।

"दूर हो जा मेरी दृष्टि से.." दुर्वासा सिसकियो में डूबे उस सन्नाटे को तोड़ते हुए बोले। उनकी कृश काया क्रोध के कारण काँपने लगी थी। उन्होंने अपने पैरों के पास पड़ी पृथा को कन्धा पकडकर एक ओर ढकेल दिया। "आह. तू नहीं जानती कि तूने क्या कर डाला... अरे तूने यह क्या कर डाला?" सहसा उनका स्वर निराश होकर बिखरता जा रहा था... लगा जैसे वे रो देंगे।

कौन कहता है कि वैरागी, संन्यासी वीतरागी हो जाते हैं... दुःख-सुख से परे.. उनसे कही ऊपर..

एक साथ अनेक चिन्ताएँ दुर्वासा को सालने लगी थीं... क्या होगा इस मूर्ख कन्या का? क्या होगा उस अबोध शिशु का? क्या मुख दिखाएँगे वे महाराज कुन्तिभोज को? और कहीं उनके अन्तर्मन मे एक शंका और भी थी। पिछले कई माह मे पृथा उनके आश्रम में अकेली, नितान्त अकेली रह रही थी। वे अपने को भला कहाँ तक बचाएँगे, कैसे बचाएँगे? उन्हें स्पष्ट दिख रहा था कि इस लज्जाजनक प्रसंग के उडते हुए छींटे उनके धवल वस्त्रों को दूषित किये बिना नही रहेंगे..

'यह क्या कर दिया मैंने...? एक किशोरी पर इतना विश्वास कैसे कर लिया!' इस कलंक को लेकर वे भला कैसे जिएँगे...? यह कलंक.. जो उनकी जीवन भर की तपस्या पर पानी फेर देगा।

दुर्वासा ने वह सारा दिन चिन्ताओ-दुश्चिन्ताओं में डूबते-उतराते बिताकर, सारी रात हरिनाम उच्चारते हुए करवटें बदलकर बितायी।

वक्षःस्थल तक डूबे, यमुना-जल में खड़े होकर सूर्य को अर्घ्य देते समय सहसा उनके नेत्र अग्नेय हो उठे.. सूर्यदेव! सूर्यदेव..?

किन्तु क्या दोष धरती को प्रकाश एवं ऊष्मा प्रदान करने वाले इस सूर्य का? इनके नाम का उपयोग तो स्वयं मैंने ही किया था. सांकेतिक रूप में ही सही। किन्तु वह बालिका... वह मूर्ख बालिका ! अपने कौतूहल के कारण डूब मरेगी... साथ में

लेकर मेरा नाम, मेरी तपस्या और... और नाम सूर्यदेव का।

त्राहि माम्... त्राहि माम्...! वे अर्घ्य देकर जल से निकले।

क्या करें...? कैसे करें? उपाय क्या है?... भ्रूण निवारण! और विकल्प भी क्या है?

दुर्वासा ने पुनः पृथा की नाड़ी की परीक्षा की... पूरे ध्यान एवं मनोयोग से। देर हो चुकी... एक पाप पर दूसरे पाप द्वारा मुक्ति पाने के लिए भी बहुत विलम्ब हो चुका। अब तो शिशु के आगमन का मार्ग कोई नहीं रोक सकता... अब कुन्तिभोज को अपयश का भागी बनने से कोई नहीं रोक सकता... अब स्वयं उनकी छवि को कलुषित होने से कोई नहीं रोक सकता। 'भाग्यम् फलति सर्वत्रः...'। किन्तु उनके मन को सन्तोष प्रदान करने के लिए यह सूक्ति पर्याप्त नहीं थी।

कुछ तो करना ही होगा... किन्तु क्या...?

बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने कुन्तिभोज के पास निमन्त्रण भेजा। कुन्तिभोज उपस्थित हुए तो औपचारिक कुशल-क्षेम के पश्चात् दुर्वासा ने कहा, "राजन्! तुम्हारे आश्रम में समय सुख से बीता। अब तक का प्रयोग सफल रहा। शेष कार्य के लिए मुझे अपने एक अन्य आश्रम में जाना होगा... शीघ्र ही।"

"मुनिवर..." कुन्तिभोज ने विनम्र भूमिका बनाते हुए कहा, "मैंने तो सोचा था कि अपने इस प्रयोग के निमित्त सारी तपस्या आप यहीं पूरी करेंगे और उसके यश का कुछ प्रसाद मुझे भी प्राप्त होगा... और अभिलाषा तो यह भी थी कि यह तपस्या पूरी करके कुछ दिन आप यहीं विश्राम करें.. मुझे कुछ ज्ञान दें, उपदेश दें।"

दुर्वासा ने कुन्तिभोज की पूरी बात नहीं सुनी। उनके संवाद में यश का उल्लेख आते ही सम्भावित अपयश की कल्पना से वे व्यथित हो उठे। व्यथा यह भी तो थी कि वे अपनी दुविधा किसी से भी बाँटने की स्थिति में नहीं थे।

"प्रारब्ध ने यहाँ का इतना ही अन्न-जल दिया..."

"प्रारब्ध के पैरों पर अपना शीश धरकर मैं मना लूँगा, भगवन्.." कुन्तिभोज ने मुस्कराते हुए कहा, "शीघ्र ही मैं पृथा के स्वयंवर का आयोजन करूँगा. तब तो आपको आना ही होगा, आशीर्वाद देने।"

दुर्वासा चौंके। उन्हें ऐसे ही किसी संकेत की प्रतीक्षा थी, अपनी योजना कुन्तिभोज को बताने के लिए... "अभी वह समय दूर है, वत्स! अभी तो मेरे प्रयोग में सहायता के लिए जाना होगा... पृथा को... मेरे साथ।"

"आपके साथ?" कुन्तिभोज ने ऐसे प्रस्ताव की कल्पना भी नहीं की थी।

"क्यों...!" दुर्वासा का स्वर सहसा उग्र हो गया, "क्या पृथा मेरे साथ नहीं जा

सकती? क्या पृथा मेरी पुत्री नहीं हो सकती, जैसी तुम्हारी है?"

"नहीं मुनिवर..." कुन्तिभोज कातर स्वर में बोले, "वह आपकी पुत्री पहले और मेरी... मेरी तो बस... नयनों की ज्योति है, मेरे उपवन का कुसुम।" उनका स्वर भीग चुका था। दुर्वासा को लगा कि कुन्तिभोज की आँखें बरस भी सकती हैं। किन्तु उन्हें कुन्तिभोज को एक सम्भावित दारुण दुःख से बचाना था। उन्हें लगा कि कुन्तिभोज के अश्रुओं से द्रवित होना स्थिति के साथ अन्याय होगा, बहुत बड़ा अन्याय।

वे अपने निर्मम स्वर को तर्क की धार देते हुए बोले, "मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि उसे मेरी तपस्या में सहयोग देना है..."

"आपने तो कहा था भगवन्..."

"क्या कहा था मैंने...?" दुर्वासा का स्वर और भी उग्र एवं कठोर हो गया। वे कुन्तिभोज की बात काटते हुए बोले, "तुम बाँधोगे मुझे... मेरे शब्दों में? क्या मुझे पग-पग पर अनुमति लेनी होगी तुम्हारी? क्या मैं आवश्यकतानुसार अपना स्थान परिवर्तन करने के लिए भी स्वतन्त्र नहीं हूँ?"

दुर्वासा के क्रोधपूर्ण भावावेग के पश्चात् वातावरण सहसा क्षुब्ध हो चुका था। कुन्तिभोज अपने को जैसे तैसे सँभालते हुए बोले, "आपको पूरा अधिकार है भगवन्, मैं तो सेवक हूँ आपका। बस तनिक चिन्ता मुझे कालिन्दी की थी। वह तो न जाने कब से दिन गिन रही थी... बेटी के लौटने के।"

दुर्वासा को ज्ञात था... कि कैसी भी भावुक स्थिति क्यों न आये, उन्हें डिगना नहीं है। वे स्वर को शान्त करते हुए बोले, "अभी कुछ समय और दिन गिनने दो उसे। यह उसी के हित में है..."

कुन्तिभोज को दुर्वासा का वाक्य अटपटा लगा। कैसा हित...? किन्तु महर्षि से और प्रश्न करना उन्हें हितकर नहीं लगा।

दो ही दिन में, दुर्वासा ने अपने प्रस्थान की घोषणा कर दी। व्यावहारिकता की दृष्टि से, बहुत सोच-विचारकर और पृथा से परामर्श करके, उन्होंने पृथा की सेवा एव साथ के लिए, एक धात्री को साथ ले जाने का प्रस्ताव रखा... जो कुन्तिभोज ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

प्रवास पर निकलने के पूर्व, विदा लेने के लिए, पृथा माँ के पास गयी थी। दुर्वासा ने पृथा को, कुछ औषधियाँ खिलाकर, बहुत सावधान करके भेजा था। माँ तथा पुत्री दोनों के लिए ही अनिश्चितकालीन पार्थक्य की वेला हृदय-विदारक थी... कुन्तिभोज भी दुःख का आवेग नहीं झेल पाये। किन्तु कोई पृथा के आँसुओं का मर्म नहीं समझ पाया. कोई उसकी कल्पना भी नहीं कर पाया।

धात्री को तो पता लगना ही था। दुर्वासा के आदेश पर स्वयं पृथा ने ही उसपर अपना भेद खोला। सुनकर वह हतप्रभ रह गयी, "कैसे हो गया यह...?"

"बस... कृपा सूर्यदेव की...?"

"क्या...??" जो सुना वह धात्री की समझ से परे था।

"मन्त्र महर्षि दुर्वासा का..." पृथा ने दृष्टि चुराते हुए कहा, "और कौतूहल मेरा... जो मैंने महर्षि के मन्त्र को परखने का दुःसाहस किया।"

धात्री का मुख अविश्वास एवं दुश्चिन्ता में खुला रह गया।

"और आ गये सूर्यदेव... मेरे आवाहन पर। मैंने रोकना चाहा था उन्हें... किन्तु एक बार आकर वे प्रसाद दिये बिना जा भी तो नहीं सकते थे।"

"सूर्यदेव...? तुम्हारे निमन्त्रण पर...??" धात्री के मुँह के साथ उसकी आँखें भी फटी रह गयीं।

और शेष सभी प्रश्नों के उत्तर बस पृथा की बड़ी-बड़ी आँखों से टपकते अश्रुओं ने दिये।

दिन तो बीतने ही थे.. बीतते चले गये। पृथा को दिन बिताने थे... उसने भी जैसे तैसे बिता लिये। विक्षोभ की स्थिति में धात्री को दिन गिनने थे.. वह दिन गिनती रही। महर्षि दुर्वासा, उसे कुन्तिभोज के सम्मान के नाम पर गोपनीयता की शपथ दिला चुके थे। वह यन्त्र-वत् पृथा की सेवा में लगी रही। आश्रमवासी पृथा को मात्र एक दुखिया के रूप में पहचानते थे।

दुर्वासा के सम्मुख प्रमुख चिन्ता निकट भविष्य में उत्पन्न होने वाले शिशु को लेकर थी... वह उनके आश्रम में ही किसी तपस्विनी की गोद मे पले, उनके किसी परिचित सन्तानहीन दम्पती के घर पहुँचा दिया जाए अथवा... अथवा उसे उसके भाग्य पर छोड़ दिया जाए? उन्हें भय था कि वह शिशु यदि किसी ज्ञात स्थान पर पला तो पृथा की ममता उसे, सांसारिक बन्धनों को तोड़कर, यदा-कदा उसके मोह में भटकाती रहेगी। वे किसी ऐसी युक्ति की खोज में थे जो शिशु को किसी नितान्त अज्ञात दिशा एवं किसी नितान्त अज्ञात परिवार में ले जाए... पृथा को उसका कभी कोई पता न चले... और वे भी सत्यनिष्ठा के साथ उससे कह सकें कि उन्हें उसके शिशु के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

निश्चित समय पर पृथा ने एक गौर-वर्णीय, स्वस्थ बालक को जन्म दिया। दुर्वासा ने धात्री के सहयोग से एक योजना बनायी।

आश्रम से लगभग सात कोस दूर, गंगा तट पर, एक विशाल मेला लगने वाला था, जिसमें दूर-दूर से अनेक यात्री भाग लेने आते थे... सभी वर्णों के... धनी भी, निर्धन

भी। क्या राजा और क्या रंक, क्या व्यापारी और क्या संन्यासी, सभी उस मेले में भेद-भाव भुलाकर एकत्र होते थे। वहाँ यदि कोई इस बालक को स्वेच्छा से अपनाकर अपनी ममता की छाया प्रदान कर सके तो...! दुर्वासा उस बालक का भविष्य पूर्णतया विधाता के हाथों सौंपने का मन बना चुके थे।

दुर्वासा के आश्रम में कई वर्षों से एक कवच टँगा था... उनके एक प्रिय शिष्य आदित्यम् का कवच। युद्ध में घायल होकर वह भटकता हुआ दुर्वासा के आश्रम तक पहुँचा और स्वस्थ होकर, उनके चरणों में अपने अतीत की भेट चढ़ाकर, उनका शिष्य बन गया। उपचार के पूर्व, उसका कवच एक बार आश्रम की दीवार पर टँगा, तो टँगा ही रह गया था। दुर्वासा को लगा कि उस कवच के भाग्य में युद्ध तथा दीर्घ शान्ति के बाद एक और भूमिका लिखी है।

उस कवच को चार बन्धों के सहारे लटकाकर एक पालने का रूप दे दिया गया, जिसमे लता पत्रों के बीच लेटा वह शिशु अपने क्षीण रुदन से मेले के यात्रियों का ध्यान आकर्षित करने लगा। उस सुन्दर शिशु के पास ही दो कुण्डल रखे थे, जो पृथा ने शिशु से बिछुड़ते समय अपने कानो से उतारकर उसके पास रख दिये थे... सम्भवत: यह सोचकर कि पता नहीं कौन उसे ले जाए। कौन जाने वह उसके लालन पालन पर समुचित व्यय करने की स्थिति में भी हो अथवा नहीं!

धात्री उस मेले से लौटी तो आक्षोभ की अवस्था में थी. कभी मुस्कराती थी तो कभी घण्टों अश्रु बहाती स्वयं अपने आप से बात करती रहती थी। पृथा के बहुत पूछने पर उसने एक बार बस यही कहा था, "राजकुमारी, सभी यात्री लौट गये... कुछ रथों पर, कुछ पैदल ही और कुछ बड़ी बड़ी नावों पर। तेरा बालक तो... चला गया होगा गंगा की लहरों पर झूलता हुआ, गंगा पार. बहुत दूर... अब कभी नहीं मिलेगा तुझे..."

एक समस्या से मुक्ति पाकर दुर्वासा ने पृथा को शारीरिक एवं मानसिक रूप से पुनर्व्यवस्थित करने का कार्य प्रारम्भ किया। उनकी औषधियों तथा उपदेशों के साथ ही, समय ने भी उसके घावों पर पोषक लेप लगाये होंगे। तीन-चार माह की अवधि में वह पूर्ववत् राजप्रासाद वाली पृथा बन चुकी थी।

किन्तु दूसरी ओर, धात्री मानसिक अवसाद से त्रस्त होकर दिन-प्रतिदिन अपने आप में सिमटती जा रही थी। कम से कम बोलना, अधिकाधिक एकान्त में पड़े रहना और जो भी, जब भी, मिल जाए... खाकर, पहनकर, सब कुछ निस्पृह भाव से देखते रहना, उसकी जीवन शैली बन गया था। कुछ समय बाद उसने संन्यास ले लिया।

परिणाम यह... कि पृथा को महर्षि दुर्वासा के साथ अकेले ही अपने पिता के पास लौटना पड़ा। दुर्वासा ने कुन्तिभोज को अपने प्रयोग की सफलता का सन्देश

सुनाया और उसकी सफलता में पृथा के सक्रिय योगदान की प्रशंसा करते हुए कुन्तिभोज एवं रानी कालिन्दी के प्रति आभार व्यक्त किया।

बेटी के पुनरागमन से प्रसन्न राजा-रानी ने महर्षि से सविनय अनुरोध किया कि वे पृथा के स्वयवर पर अवश्य पधारे।

बदला

द्रोण को लगा कि अब वह समय आ गया है, जिसकी वर्षों से उन्हें प्रतीक्षा थी...

समान स्तर...? कैसी मित्रता...! दान-दक्षिणा पर जीवन यापन...'

द्रोण के कर्ण कपाटों पर अतीत का वह अपमानजनक संवाद रह-रहकर थाप देने लगता था और वह सारी घटना उनकी स्मृति में सजीव होकर उन्हें व्याकुल कर देती थी।

बात उन दिनो की है जब द्रोण महर्षि भरद्वाज के आश्रम मे शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उन्हीं दिनों, पांचाल प्रदेश के महाराज पृषत का पुत्र, द्रुपद भी भरद्वाज आश्रम में शिक्षा दीक्षा के लिए रह रहा था। सम-आयु होने के कारण, द्रुपद एव द्रोण में प्रगाढ़ मैत्री हो गयी। दोनों एक साथ, अपने अध्ययन-अभ्यास के साथ ही, खेलते तथा भविष्य के लिए योजनाएँ बनाते रहते थे।

कुछ समय के पश्चात्, पृषत का देहान्त हो जाने पर, द्रुपद ने आश्रम जीवन त्याग कर, राज्य का शासन-भार सँभाला। कालान्तर में, दूसरी ओर, महर्षि भरद्वाज के ब्रह्मलीन हो जाने पर, द्रोण उस आश्रम में ही बस गये और आश्रम का संचालन करने लगे। वही रहते हुए, कृपाचार्य की बहन कृपी से उनका विवाह हुआ... और एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसे उन्होंने अश्वत्थामा नाम दिया।

द्रोण अपने परिवार-सहित प्रसन्न थे.. अपने एकमेव पुत्र अश्वत्थामा पर उन्हें विशेष प्रेम था। उन्हीं दिनों, जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जमदग्निनन्दन महर्षि परशुराम, अपना सब कुछ ब्राह्मणों को दान करके, कठोर तपस्या के लिए प्रस्थान कर रहे हैं तो वे उनसे धनुर्वेद का ज्ञान एव उत्तम शस्त्र प्राप्त करने के उद्देश्य से महेन्द्र पर्वत पर जा पहुँचे। महर्षि परशुराम ने उन्हें बताया कि सब रत्न, धन, आदि तो वे पहले ही वितरित कर चुके हैं, किन्तु जब द्रोण ने उनसे केवल धनुर्वेद एवं शस्त्र-संचालन के विषय में अपनी रुचि बतायी, तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्हें विधिवत् शस्त्र ज्ञान देने लगे। इस प्रक्रिया में द्रोण को महेन्द्र पर्वत पर अनुमान से कहीं अधिक समय लग गया .

उधर, द्रोण की अनुपस्थिति में, उनके शिष्यों के बिना भरद्वाज आश्रम पर अकेले रहते हुए कृपी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इसी बीच, उनकी गाय की मृत्यु हो जाने के कारण, बालक अश्वत्थामा को कई माह तक दूध के बिना रहना पड़ा इतना, कि वह दूध का स्वाद भी भूल गया, और साथ के बालकों द्वारा दूध

की चर्चा सुनकर स्वयं दूध पीने के लिये मचलने लगा। एक बार, साथ खेलने वाले बालकों ने, उसे चिढ़ाने के लिए, पानी में आटा घोलकर उसे पिला दिया... और वह प्रसन्न होकर, 'मैंने दूध पी लिया' कहता हुआ कूदने लगा।

यह समाचार जब महेन्द्र पर्वत पर धनुर्वेद के अभ्यास में लगे द्रोण के पास पहुँचा, तो वे पुत्र की पीड़ा से द्रवित हो उठे। उस समय वे आश्रम लौटने अथवा वहाँ पर गाय की व्यवस्था कराने की स्थिति में नहीं थे। अत: निकटवर्ती पांचाल में, अपने मित्र द्रुपद का स्मरण करके उनके पास गये और... बड़ी आत्मीयता एवं विश्वास के साथ उनसे बोले, "मित्र, एक अच्छी, दुधारू गाय मेरे आश्रम भेज दो।"

द्रुपद को उनकी यह आत्मीयता अपने तात्कालिक पद एवं गरिमा के अनुकूल नहीं लगी... और वे व्यंग्य करते हुए बोले, "अरे ब्राह्मण! मित्रता समान स्तर वाले व्यक्तियों में होती है। एक राजा तथा दान-दक्षिणा पर जीवन यापन करने वाले के बीच भला कैसी मित्रता!"

द्रुपद का व्यंग्य सुनकर द्रोण अवाक् रह गये। अनजाने में ही उनके मुख से निकल गया, "तुम वही द्रुपद तो हो, जो भरद्वाज आश्रम में..."

"हाँ, वही..." द्रुपद ने कठोर वाणी में उनका वाक्य काटते हुए कहा, "अब यह मत कहना कि तब हमारे और तुम्हारे बीच बड़ी मित्रता थी.. और मैंने पांचाल का राज्य तुम्हें दे देने का वचन दिया था। अरे भई, बचपन की मित्रता तो बचपन के साथ ही समाप्त हो जाती है। उसे आधार बनाकर तो कोई मूर्ख ही अधिकार जताता है। भूल जाओ उसे... और हाँ, तुम आ ही गये हो तो... जी चाहे तो, एक बार भर पेट भोजन कर लो।"

इस अपमान से तिलमिलाते हुए, द्रोण बिना जल पिये ही, पांचाल से लौट पड़े... किन्तु उन्होंने संकल्प लिया कि, जैसे भी हो, उन्हें द्रुपद का समकक्ष बनकर दिखाना है। द्रुपद को उसकी उद्दण्डता के लिए उपयुक्त पाठ पढ़ाना है।

महेन्द्र पर्वत पर, जैसे तैसे, अपनी साधना पूर्ण करके द्रोण अपने आश्रम पर लौट आये और शिष्यों की सेवा पर आधारित आश्रम-जीवन त्यागकर, शीघ्राति शीघ्र शक्ति एवं वैभव भरा जीवन प्राप्त करने की योजना बनाने लगे।

इसी दिशा में, उनका प्रयास उन्हें हस्तिनापुर ले आया.

रंग-मण्डप में राजकुमारों के अस्त्र-कौशल के प्रदर्शन के पश्चात्, सभी शिष्यों के लिए गुरु-दक्षिणा देने का समय आ गया था।

द्रोण ने उन सभी के पूछने पर कहा, "द्रुपद को युद्ध मे परास्त करके, उसे पकड़कर मेरे सम्मुख ले आओ.. मैं अन्य कोई गुरु दक्षिणा नहीं चाहता।"

यह सुनकर सभी शिष्य आश्चर्य एवं सोच में पड़ गये। कुछ ही समय पूर्व, वे गुरुदेव द्वारा एकलव्य से गुरु-दक्षिणा प्राप्त करने वाली घटना देख ही चुके थे... किन्तु यहाँ, उनका क्रोध एक राज्य के शासक के प्रति था। उन सबके बीच उपजे मौन को तोड़ते हुए युधिष्ठिर ने विनम्रतापूर्वक कहा, "आचार्यवर! हमें विश्वास है कि अज्ञानतावश, राजा द्रुपद ने अवश्य ही कोई भयंकर अपराध किया होगा, अन्यथा आप उन पर इतना कुपित न होते। यदि आप उचित समझें, तो अपने क्रोध का कारण बताएँ... इससे हमें भी शुद्ध मति से उन पर आक्रमण करने का मनोबल प्राप्त होगा।"

"अहंकार..." द्रोण ने स्पष्ट शब्दों में कहा, "अहंकार उसका अपराध है... जिसके कारण उसने व्यर्थ ही मेरा घोर अपमान किया..." यह कहते हुए उन्होंने अपने साथ बीती घटना अपने शिष्यों को कह सुनायी।

यह सुनकर स्तब्ध बैठे अपने शिष्यों को बताते हुए उन्होंने आगे कहा, "वत्स, यदि उसे बचपन की मैत्री की अवहेलना ही करनी थी, तो वह सरल शब्दों में भी मुझे गाय देने के लिए मना कर सकता था। धन-वैभव की असमानता का प्रश्न उठाते हुए, शस्त्र एवं शास्त्र-ज्ञान को पूर्णतया नकार कर, मुझे सार्वजनिक रूप से अपमानित करने का उसे कोई अधिकार नहीं था। मैंने उसका अहंकार चूर्ण करने का संकल्प लिया है . और यही कारण है कि मैंने उसे जीवित ही अपने सम्मुख लाने के लिए तुमसे कहा है।"

द्रोण की बात समाप्त होते ही दुर्योधन ने कहा, "यह तो बड़ा सरल काम है, आचार्यवर! मैं जानता हूँ कि आप हम लोगों को किसी योग्य नहीं समझते... आपका विशेष स्नेह तो अर्जुन, भीमसेन आदि पर ही है.. किन्तु हम लोग यदि द्रुपद को पकड़कर ले आयें तो क्या आप, उन लोगों के प्रति अपना पक्षपातपूर्ण व्यवहार त्यागकर, हमारी अवहेलना बन्द करेंगे?"

"यह तुम्हारा भ्रम है वत्स दुर्योधन..." द्रोण ने अपनी स्थिति स्पष्ट करने के प्रयास में कहा, "मैं पक्षपात का पक्षधर नही हूँ। किन्तु मेरी दृष्टि में जो सत्य है, वह तो .."

"वह सत्य नहीं. ." दुर्योधन ने कठोर स्वर में उन्हें टोकते हुए कहा, "वह आपका पक्षपात ही है आचार्यवर!"

"प्रतिवाद से कोई लाभ नहीं मित्र .." कर्ण ने दुर्योधन को समझाते हुए कहा, "हम लोग यह दुष्कर कार्य सरलता से करके दिखा देंगे... तब तो इन्हें मानना ही पड़ेगा।"

"किन्तु मेरा एक शुल्कबन्ध है..." दुर्योधन ने द्रोण को सम्बोधित करते हुए कहा, "और वह यह कि अपने इन प्रिय शिष्यों को यहाँ, अपने पास ही रखिएगा। मैं इन्हें साथ लिये बिना ही जाऊँगा।"

द्रोणाचार्य ने क्षणभर विचारते हुए कहा, "चलो, ऐसा ही सही।"

"किन्तु हमारी दक्षिणा, गुरुदेव!" अर्जुन ने संकोच-सहित पूछा।

"तुम लोगों को कोई अन्य उत्तरदायित्व... समय आने पर.." द्रोण कहकर मुस्कराये।

कुछ ही दिनों में, दुर्योधन ने कर्ण तथा युयुत्सु-सहित अपने सभी भाइयों की सेना बना, रण भेरी, नगाड़े आदि बजाते हुए, 'द्रुपद को मैं पकडूँगा'... 'द्रुपद को पहले मै पकडूँगा' चिल्लाते हुए पांचाल की ओर प्रस्थान किया। पाण्डव, द्रोण की आज्ञा से, उनसे अलग रहते हुए, उन सबके बहुत पीछे चले।

दुर्योधन द्वारा आक्रमण का समाचार पाकर द्रुपद पहले ही सचेत हो चुके थे। उन्होंने सेना-सहित अपना नगर एवं राज-महल छोड़ दिया और, जब दुर्योधन आदि ने नगर में गरजते-तरजते हुए प्रवेश किया तो अचानक, पीछे से, उन पर आक्रमण कर दिया। सहसा इस आक्रमण के लिए दुर्योधन की सेना तैयार नही थी। बड़े पराक्रम के साथ युद्ध करने पर भी द्रुपद का आक्रमण विफल करना उन्हे अपने वश से परे लगा... और वे कुछ ही देर में भाग खड़े हुए।

उधर, जब द्रुपद अपने सैनिकों, मन्त्रियों आदि के साथ विजय के मद मे डूबे थे तभी, अवसर पाकर, पाण्डवों ने उन पर धावा बोल दिया। द्रुपद की सेना हर सम्भव प्रयास करके हार गयी . किन्तु अर्जुन, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव के आगे उनकी एक न चली। कुछ ही देर में द्रुपद को आत्म समर्पण करना पड़ा।

पाचाल की सेना एवं वहाँ के नागरिको को किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना, पाण्डवों ने द्रुपद को बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के सम्मुख खडा कर दिया।

उधर, द्रुपद से पराजित होकर दुर्योधन अत्यंत लज्जित था। उसकी लज्जा का वास्तविक कारण, द्रुपद को पकड़ने में असफलता से भी बढ़कर, यह था कि पाण्डव, संख्या में अत्यन्त कम होते हुए भी, द्रुपद को पकड़ने मे सफल हो गये थे। दुर्योधन को एक बार फिर पाण्डवों के आगे नीचा देखना पड़ा था।

अपनी लज्जा छिपाने के लिए दुर्योधन ने कहा, "यह भी कोई विजय हुई । पांचाल की सेना तो हमारी मार खाकर पहले ही इतनी त्रस्त हो चुकी थी कि अर्जुन आदि ने बिना प्रयास ही उस पर विजय पा ली। अरे, हम लोग युद्ध से भागे नही थे... अपनी रणनीति के अन्तर्गत बस कुछ देर के लिए पीछे हटे थे, कि समय मिलते ही दुबारा उन पर आक्रमण करेंगे। किन्तु पाण्डवों ने अचानक बीच में आकर, हमारी सारी योजना पर पानी फेरते हुए, सारा यश स्वयं ही लूट लिया।"

दुर्योधन, कर्ण, आदि ने पुन: आचार्य द्रोण पर पाण्डवों के प्रति पक्षपात का अपना

पुराना आरोप दुहराया... और इस प्रकार, पाण्डवों के प्रति उनके मन में ईर्ष्या का भाव और भी प्रबल हो गया।

द्रुपद को हाथ बाँधे और मुख नीचा किये अपने सम्मुख खड़ा देख द्रोण मुस्कराये। उन्होंने कहा, "द्रुपद! इस दान-दक्षिणा पर पलने वाले ब्राह्मण को पहचानते तो हो... जिसको अपने समकक्ष न मानकर तुमने बचपन की मित्रता को भी तिलांजलि दे दी थी। किन्तु मित्र, मेरे लिए वह निःस्वार्थ मित्रता बड़ी अनमोल निधि है। उसका सम्मान करते हुए, न तो मैं तुम्हें अपमानित करूँगा और न तुम्हारे प्राणों पर कोई संकट आने दूँगा। बस... तुम्हारी दृष्टि में, तुम्हारे समकक्ष बना रहकर, तुम्हारी मैत्री का अधिकारी बना रहने के लिए, मैं तुम्हारा आधा राज्य ले रहा हूँ। शेष आधे पर तुम्हारा राज्य बना रहेगा और तुम सदैव मेरे मित्र बने रहोगे।"

द्रुपद लज्जा से गड़े जा रहे थे। उन्होंने डूबती हुई वाणी में कहा, "आचार्य द्रोण! मैं अपनी भूल पर लज्जित हूँ... आपने मुझे क्षमा कर दिया, यह आप जैसा उदारमना ब्राह्मण ही कर सकता है। आज से उत्तर पांचाल आपका हुआ। मैं, काम्पिल्य में रहकर, दक्षिण पांचाल पर ही राज्य करूँगा। अब आप प्रसन्न रहें।"

किन्तु क्षमा माँगते समय द्रुपद ने जो अपमान झेला था, जो पीड़ा सही थी, उसकी चुभन वे कभी नहीं भूले... और उस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए दिन रात छटपटाने लगे।

पराजय....

अपने ही पांचाल का आधा राज्य क्षमा–स्वरूप पाकर, राजा द्रुपद, तिलमिलाये हुए, अपने रथ पर चले आ रहे थे। उनका शीश लज्जा से झुका हुआ था।

पराजय... पराजय... ऐसी अपमान–जनक पराजय! और वह भी पाँच किशोर योद्धाओं के हाथ! उस निर्धन ब्राह्मण के युवा शिष्यों के हाथ.. जो उन्हें अपना मित्र कहने का साहस करता था? आज वही उनका राज्य बलपूर्वक छीनकर... आधा हड़प गया और शेष आधा, मित्रता के नाम पर, उन्हें लौटाकर अपमानित कर गया। और... किसी जन्मजात भिखारी से, वे अपना ही आधा राज्य निर्लज्जतापूर्वक उससे लेकर चले आये।

मन तो हुआ था उनका कि कहें... चीख़कर कहे, "ले जा... ले जा...! यह, यह भी ले जा... नहीं चाहिए मुझे तेरी दया की भीख... मैं स्वयं युद्ध करके छीनूँगा तुझसे अपना राज्य..."

किन्तु उनकी आँखों से अश्रु टपकते रहे थे। साहस नहीं हो रहा था कि अपना मस्तक उठाकर द्रोणाचार्य की आँखों में झाँकें.. उस निर्धन ब्राह्मण-पुत्र द्रोण की

आँखों में जो, इस समय, आचार्य द्रोण बना खड़ा था... अपने पाँच महाबली शिष्यों के साथ। वे महाबली शिष्य, जिनके कौशल के आगे वे स्वयं, अपने कुशल सैनिकों की एक टुकड़ी गँवा कर भी, टिक नहीं पाये। कैसी लज्जाजनक पराजय...! भीख माँगने वाले ब्राह्मण से, अपना ही आधा राज्य, भीख में लेकर चले आये...

और विकल्प भी क्या था? कण्ठ अवरुद्ध हो गया था उनका... मन आतंकित था उनका, उन किशोर योद्धाओं की ओर देखकर। बस एक ही असम्भव-सी कल्पना कौंध उठती थी उनके पराजित मन में... यदि वे पाँचों उनके साथ मिल जाएँ! यह सम्भव हो जाए तो वे द्रोण का तना हुआ मस्तक झुका दें... अपने पैरों पर झुका हुआ देखें, कम से-कम एक बार, किन्तु कैसे...?

भाग्य ने उन्हें सन्तान के नाम पर एक पुत्र भी तो नहीं दिया। अपनी पुत्री शिखण्डिनी का पुत्र-रूप में पालन करके, उसे हर प्रकार पुरुषोचित शिक्षा देकर देखा, किन्तु भाग्य का लेख बदल पाना क्या कभी सम्भव है!

किन्तु...!

एक भूल उनसे भी तो हुई... द्रुपद अपनी भूल का स्मरण करके फिर चिन्तित हो उठे।

पुत्री का पुत्रवत् लालन-पालन अपनी जगह, किन्तु उसे पुत्र मान बैठने की मूर्खता वे क्यों कर बैठे! उन्होंने उसे शिखण्डी नाम देकर पुरुषोचित शिक्षा दीक्षा प्रदान की... शस्त्र ज्ञान दिया, अश्वारोहण तथा रथ संचालन में भी दक्षता प्रदान की। किन्तु... उसे पुत्र बताकर उसका विवाह करना और घर में पुत्र वधू ले आना! यह कैसे कर डाला? मन के मोह... इस अन्धे मोह के परिणामस्वरूप क्या क्या नहीं झेलना पड़ा उन्हें! मात्र उन्हें ही नहीं, शिखण्डी को भी। उस अपयश ने निराशा के गहरे गर्त में ढकेल दिया उस निरपराध किशोरी को... उसके उज्ज्वल भविष्य को। संसार से मुँह छिपाती, वह राज्य एवं समाज त्यागकर वन-वासी हो गया।

कितने वर्ष... जाने कितने वर्ष, उन्होंने वन वन भटककर उसकी खोज की! उन्हें तो युग जैसा लगा था वह दुष्काल। वह तो सौभाग्य था उनका... और शिखण्डी का कि वन में, अन्न-जल त्यागकर, प्राणोत्सर्ग के लिए समाधिस्थ बैठे शिखण्डी को सुयक्ष नामक एक सहृदय वनवासी ने देख लिया... और स्नेहपूर्वक समझाकर उसे अपनी कुटिया में ले गया।

शिखण्डी की कथा उसने सहानुभूति के साथ सुनी... और उसे अपना जीवन पुनः प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी। शिखण्डी के जीवन को कोई सार्थक उद्देश्य देने के लिए उसने प्रस्ताव रखा कि वह वनवासी युवकों को शस्त्र ज्ञान दे... उन्हें विद्या देकर वन्य जीवन को कुछ और सुखकारी बनाने में योगदान दे।

शिखण्डी ने अपना दु:खदायी अतीत भुलाकर, अपने नारीत्व-पुरुषत्व का भेद

भुलाकर, कई वर्ष वन में ही जीवन व्यतीत किया। जब अकस्मात् एक दिन द्रुपद ने उसे खोज निकाला और रोते हुए, माँ के अश्रुओं की व्यथा सुनाकर, एक बार लौट चलने का आग्रह किया तो शिखण्डी अपने सहृदय मार्ग-दर्शक से कुछ दिन की अनुमति लेकर, मात्र दो सप्ताह के लिए, पांचाल आने को सहमत हुआ... कि एक बार माँ मनसा के दर्शन करके उन्हें आश्वस्त करे।

पलक झपकते ही बीत गये वे दो सप्ताह। मनसा ने बहुतेरे अश्रु बहाये.. उन्हें नीति-अनीति समझायी... किन्तु शिखण्डी को सुयक्ष को दिया हुआ अपना वचन याद था। किन्तु वन लौटने पर, स्वयं सुयक्ष ने ही शिखण्डी को माता-पिता की सेवा के लिए लौट जाने का आदेश दिया।

यह न हुआ होता तो द्रुपद शिखण्डी के रहते भी सन्तानहीन ही रहे होते।

किन्तु शिखण्डी की शस्त्र विद्या में पड़ा वह वर्षों लम्बा व्यवधान, उसके युद्ध कौशल को सदा-सर्वदा के लिए शिथिल कर गया था। यदि दुर्भाग्य ने उसके जीवन में यह दुःस्वप्न न जोड़ा होता तो, कौन जाने, अकेला शिखण्डी ही उन पाँचों पाण्डवों को निरस्त्र कर देता!

किन्तु अब क्या हो...? द्रुपद असहाय-से, टूटकर, हरि स्मरण की मुद्रा में बैठ गये।

"हे प्रभु..!" उनका झुका हुआ मस्तक सहसा भक्तिपूर्वक प्रार्थना मे कुछ और झुक गया, "मुझे एक पुत्र दो... बस एक, उन पाँचों जैसा शक्तिशाली पुत्र, जो उस अहंकारी द्रोण का व्यंग्य से मुस्कराता, तना हुआ सिर काट गिराये।"

इस कल्पना से ही द्रुपद आह्लादित हो उठे. पराजय की लज्जा से लटकता हुआ उनका मस्तक, अनजाने ही, धीरे धीरे उठकर तन गया। उनका मन हुआ कि दौड़कर अपने उस द्रोण हन्ता पुत्र को गले से लगा लें।

पर कहाँ था वह पुत्र ..?

मात्र कल्पना में...! निराशा में उनका मस्तक व्याकुलता के भार से पुनः झुकने लगा। कैसे... कैसे लाएँ उस पुत्र को... कल्पना के गर्भ से खींचकर मनसा के गर्भ में! सुना था उन्होंने कि सच्चे मन से की हुई प्रार्थना सफल होती है। वे प्रार्थना के लिए तैयार थे... किसी भी देवता की, किसी भी प्रकार। किन्तु आयु...! अपनी आशाओं के आकाश पर उन्हें संशय की घटाएँ घिरती दिखाई दीं।

किन्तु प्रार्थना क्या आयु के संकट पर पार नहीं पा सकती? कोई व्रत, कोई अनुष्ठान, कोई तपस्या तो होती होगी... जो इस आयु की समस्या का निवारण करे। वह कुछ भी करने के लिए तैयार थे।

पांचाल लौटे तो अपने भव्य प्रासाद में कुछ भी उन्हें ऐसा नहीं लगा जो उनके

क्लान्त मन को सुख दे सके। कुछ ही दिनों में उन्होंने वन की ओर प्रस्थान किया, जहाँ वे ज्ञानियों, ऋषियों तथा महात्माओं से मिले... और पुत्र-प्राप्ति की इच्छा उनसे कह सुनायी। जिसने भी किसी अन्य ऋषि अथवा तपस्वी का सन्दर्भ दिया, द्रुपद वहीं जा पहुँचे... हर किसी के आगे वही एक प्रार्थना... "मुनिवर! कोई उपाय बताइए।"

एक लम्बी भटकन के बाद दो भाइयों का सन्दर्भ मिला उन्हें – महर्षि याग तथा महर्षि उपयाग। संयोग कि वे पहले छोटे भाई से मिले। उनकी उत्कण्ठा देख महर्षि उपयाग ने उनकी आतुरता का कारण पूछा और... उनका प्रतिशोधपूर्ण मन्तव्य सुनकर द्रुपद की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। किन्तु द्रुपद को उन्हीं से ज्ञात हुआ कि सम्भवतः उनके अग्रज, महर्षि याग, प्रतिशोध की बात जानते हुए भी, उनका पुत्रेष्टि यज्ञ करा दें।

हुआ भी वही... सम्भवतः द्रुपद द्वारा अपार गोधन की दक्षिणा ने उन्हें प्रभावित किया हो, वे यज्ञ कराने के लिए तैयार हो गये।

शुभ मुहूर्त देखकर, वेदोक्त रीति से यज्ञ प्रारम्भ हुआ... और कई दिन तक चलता रहा। यज्ञ की पवित्र अग्नि में तपकर अनेक औषधियाँ तैयार हुई और राजा तथा रानी ने विधिवत् नियम से उनका सेवन किया। यज्ञ चलता रहा... रानी के गर्भ से सुखद संकेत प्राप्त हुए, तब भी यज्ञ चलता रहा... और तब तक चलता रहा जब तक सन्तानोत्पत्ति की वेला नहीं आई। राजा द्रुपद ने पर्याप्त धन मान देकर महर्षि याग तथा अन्य यज्ञ कर्मियों को विदा किया।

उचित समय पर, रानी मनसा ने एक स्वस्थ, विशाल मस्तक वाले बालक के साथ ही, एक सुन्दर श्याम-वर्णी कन्या को जन्म दिया। यज्ञ के प्रसाद से उत्पन्न उन जुड़वाँ शिशुओं को पाकर द्रुपद, नये सिरे से, अपना प्रतिशोध सम्बन्धी स्वप्न साकार करने की योजना बनाने लगे।

उधर, कौरवों की दुर्भावना से विचलित हुए बिना, युधिष्ठिर अपने अनुजों सहित जन-सेवा के लिए अपने को हर प्रकार और अधिक समर्थ बनाने में संलग्न थे। भीमसेन, बलराम से, खड्ग, गदा तथा रथ-युद्ध की विशेष शिक्षा लेकर, अभ्यास कर्म में लगे रहते थे। द्रोणाचार्य भी अर्जुन की लगन एवं भक्ति देखते हुए उन्हें सम्पूर्ण शस्त्र-ज्ञान दे रहे थे। एक बार उन्होंने, भरी सभा में, अर्जुन से वचन भी लिया था कि यदि कभी, संग्राम में, अर्जुन का स्वयं उनसे भी सामना हो जाए तो अर्जुन उन पर भी वार करने से नहीं चूकेंगे। इसी प्रकार, युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव भी, शस्त्र-विद्या के साथ ही, नीति शास्त्र के अध्ययन तथा जन-सेवा में लगे रहते थे।

लाक्षागृह

द्रुपद पर विजय के लगभग एक वर्ष बाद, परिवार के ज्येष्ठ गंगापुत्र भीष्म तथा महामन्त्री विदुर के परामर्श पर, धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर का युवराज-पद पर अभिषेक कर दिया। युधिष्ठिर में धैर्य, सहिष्णुता, स्थिरता, दया, विनम्रता, आज्ञाकारिता आदि सभी गुण थे, जिनके कारण वे गुरुजनों में ही नहीं प्रजा में भी लोकप्रिय थे। प्रजा में सभी यह चाहते थे कि युधिष्ठिर ही युवराज-पद पाएँ और भविष्य में हस्तिनापुर पर शासन करें।

उधर, अपने पिता के इस निर्णय से दुर्योधन विक्षिप्त हुआ जा रहा था... और उसके इस असन्तोष को, अपने तर्कों से आहुति देते हुए, मामा शकुनि और भी भड़काते रहते थे, "तात दुर्योधन, हस्तिनापुर के सम्राट के ज्येष्ठ पुत्र तो तुम हो... किन्तु क्या हुआ है जीजाश्री को! क्यों वे अकारण ही पाण्डु-पुत्रों पर उदार हुए जा रहे हैं?"

दुर्योधन ने कभी रोष में, तो कभी रोते हुए और कभी मनुहारते हुए... इस विषय में माता गान्धारी से भी चर्चा की थी और धृतराष्ट्र से भी। किन्तु वे दोनों, पुत्र दुर्योधन पर अगाध स्नेह होते हुए भी, युधिष्ठिर के प्रभाव तथा भीष्म एवं विदुर के परामर्श के सम्मुख अपने को अशक्त पाते थे। उन्हें विदित था कि जनमत भी युधिष्ठिर के ही पक्ष में है।

इस विषय पर दुर्योधन का पक्ष लेकर, शकुनि की धृतराष्ट्र से चर्चा हर बार, तर्क एवं निवेदन से प्रारम्भ होकर, रोष-पूर्ण वाद-विवाद तक पहुँच जाती थी।

"आप कुछ करते क्यों नहीं जीजाश्री ..?" शकुनि कहते, "आप इस प्रकार अपने ही बेटे के प्रति अन्याय नहीं कर सकते। आप उसका भविष्य मिट्टी में मिलाने पर क्यों तुले हैं?"

बेटे का भविष्य...! धृतराष्ट्र स्वय सोचते कि उन्होंने क्या-क्या स्वप्न नहीं देखे थे अपने पुत्र के लिए! किन्तु दुर्भाग्य... जाने कहाँ से आ टपके ये पाण्डु के पुत्र और उस पर भी, दैव की मार यह कि, युधिष्ठिर का जन्म दुर्योधन से पहले ही हो गया। उन्हें लगता कि भाग्य ने सदैव ही उनके विरुद्ध षड्यन्त्र किया है... उन्हें दुःख देने के लिए, उनके स्वप्न चूर-चूर करते रहने के लिए।

धृतराष्ट्र ने अनेक बार यह तर्क दिया था कि वे हस्तिनापुर के सम्राट हैं... और दुर्योधन उनका ज्येष्ठ पुत्र है। किन्तु, दूसरी ओर, विदुर का तर्क आ जाता था कि

युधिष्ठिर भी तो हस्तिनापुर-नरेश के ही पुत्र हैं, ज्येष्ठ पुत्र... हस्तिनापुर के वास्तविक शासक के ज्येष्ठ-पुत्र। वास्तव में धृतराष्ट्र तो अवकाशकालीन शासक थे... उस समय शासक बने थे, जब पाण्डु अवकाश ग्रहण करके, कुछ समय के लिए शासन-भार उन्हें सौंपकर गये थे। और, संयोगवश, पाण्डु के अज्ञातवास के कारण, दीर्घकाल तक राज-पद पर विराजमान रहे... क्योंकि उस समय पाण्डु के लिए निरन्तर खोज चल रही थी।

और उससे भी बड़ा संयोग यह कि जब पाण्डु के निधन के पश्चात् उनके पुत्र, कुन्ती-सहित, हस्तिनापुर आये तब किसी का इस ओर ध्यान ही नहीं गया कि अब... धृतराष्ट्र का, विधिवत्, शासक के रूप में राज-तिलक हो जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि धृतराष्ट्र, निरन्तर, पाण्डु के राज्य को धरोहर के रूप में सँभालने वाले, अवकाशकालीन शासक ही बने रहे।

विदुर के तर्क के सम्मुख धृतराष्ट्र सदैव निरुत्तर होकर ही रह जाते थे। एक बार हताशा एवं क्रोध में उन्होंने विदुर से यह भी कह डाला कि 'क्या वैधानिक अस्तित्व है पाण्डु-पुत्रों का! उन्हें पाण्डु का पुत्र किस आधार पर मान लिया जाए?' उत्तर में विदुर ने संक्षेप में कहा था, "महाराज, इस प्रकार तो कुरु-वंश से स्वयं हम लोगों का सम्बन्ध भी संकट में पड़ जाएगा... ज्ञात है न आपको! स्वयं हम तीनों के सम्बन्ध में भी...नियोग-प्रथा का योगदान तथा उसकी वैधानिकता!"

धृतराष्ट्र इन चर्चाओं में बहुत कुछ बता चुके थे शकुनि को... बता चुके थे अपनी असमर्थता। और भी बहुत कुछ था जो स्वयं, बिना किसी से कुछ कहे, सोच-सोचकर वे घुटते रहते थे। किन्तु पुत्र दुर्योधन के हठ के सम्मुख वे न तो कुछ कह ही पाते थे और न उसके दुःखी रहने की स्थिति सह पाते थे। वे समझते थे कि उनकी आयु में, और जन्म से ही नेत्र-हीनता को भाग्य मानकर सहने का अभ्यस्त व्यक्ति भले ही भाग्य से समझौता कर ले... दुर्योधन जैसा एक स्वस्थ एवं महत्त्वाकांक्षी नवयुवक विधि के विधान को सिर झुकाकर भला कैसे स्वीकार कर लेगा!

इसी दुविधा के बीच, जनता पर युधिष्ठिर के नित्य प्रति बढ़ते हुए प्रभाव का समाचार पाकर धृतराष्ट्र यदा-कदा यह सोचने पर भी विवश हो जाते थे कि क्या उन्होंने युधिष्ठिर को युवराज-पद देकर ठीक किया! उनकी चिन्ता की अग्नि को उनके राजनीतिक-परामर्शदाता कणिक ने और भी हवा दी। कणिक स्वभाव से ही जोड़-तोड़ में दक्ष और मन में वैर रखते हुए भी, लोक-व्यवहार में माधुर्य दिखाने के पक्षधर थे। उन्होंने धृतराष्ट्र को पाण्डवों का बल देखते हुए, उनके प्रति मधुर व्यवहार करते रहने का परामर्श दिया... और, साथ ही, निरन्तर वह अवसर खोजते रहने को कहा जब पाण्डवों को, असावधान पाकर, नष्ट किया जा सके।

धृतराष्ट्र का मन डावाँडोल होता रहता था...

उधर दुर्योधन ईर्ष्या एवं अपमान की भट्टी में निरन्तर जलता रहता था और उसकी अग्नि को शकुनि का दुर्योधन-प्रेम क्षण-प्रतिक्षण प्रज्ज्वलित करता रहता था। वह बचपन में, जहाँ व्यक्तिगत द्रोह के कारण, भीमसेन को मारने की युक्ति सोचता रहता था वहाँ अब पाण्डवों के प्रति द्वेष के कारण, और राज्य के लोभ में, उन सभी को यमलोक भेजने की युक्तियाँ सोचने लगा। उसे लगा कि बिना पाण्डवों को अपने मार्ग से हटाये उसका जीवन कभी सुखमय नहीं हो सकता। इन योजनाओं में उसे सदैव मामा शकुनि, अनुज दु:शासन तथा मित्र कर्ण का सक्रिय सहयोग मिलता रहता था।

वे चारों मिलकर इस निर्णय पर पहुँचे कि हस्तिनापुर में रहते हुए पाण्डवों से मुक्ति पाना सम्भव नहीं होगा। यदि किसी युक्ति से उन्हें हस्तिनापुर से दूर किसी निर्जन प्रदेश, अथवा छोटे एवं असुरक्षित ग्राम में भेजा जा सके तो वहाँ उन्हें मारने का षड्यन्त्र रचा जा सकता है। किन्तु समस्या यह थी कि उन्हें, एक साथ, ऐसे किसी असुरक्षित स्थान पर भेजा जाए तो कैसे!

इसी सब के बीच, शकुनि को ज्ञात हुआ कि कुछ ही समय बाद वारणावत मे एक विशाल मेला हो रहा है। यदि किसी प्रकार पाण्डवों को वहाँ भेजा जा सके तो सम्भवत: उनकी योजना कोई निश्चित आकार ले सकती है। उन्होने दुर्योधन से इस विषय में चर्चा की। दुर्योधन को तुरन्त ही स्मरण हुआ कि वहाँ उन लोगों का एक पुराना भवन भी है, जो वर्षों से उपयोग में न आने के कारण, जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़ा है... और वहाँ का कोटपाल भी उसका विश्वासपात्र सेवक है। दुयोधन को लगा कि यदि किसी प्रकार पाण्डवों को वारणावत भेजा जा सके तो उस सेवक की सहायता मे उन सबको मौत के घाट उतारा जा सकता हैं। उसने कर्ण तथा दु:शासन से भी इस विषय पर चर्चा की और वे सब इस योजना के लिए सहमत हो गये।

उनको अपनी योजना को यथार्थ रूप देने में बस एक ही बाधा बची थी – धृतराष्ट्र को प्रभावित करके, पाण्डवों को वारणावत यात्रा का आदेश दिलवाना। इस सन्दर्भ में भूमिका बनाने का कार्य शकुनि ने अपने ऊपर लिया। उन्होंने, बातो-ही बातों में, एक दिन धृतराष्ट्र से कहा, "जीजाश्री, सुना वारणावत में कोई विराट मेला हो रहा है। मेरे विचार से, इस अवसर पर यदि महाराज का कोई प्रतिनिधि भी उसमें भाग ले... तो वहाँ की प्रजा का मनोबल बढ़ेगा, लोगों के मन मे शासन के प्रति सम्मान की भावना बढ़ेगी।"

"तो मुझे ले चलो वहाँ..." धृतराष्ट्र ने कुछ सोचते हुए कहा।

"अरे आप कहाँ जाएँगे, जीजाश्री! ऐसा करें कि..."

"दुर्योधन को भेज दें!" धृतराष्ट्र ने शकुनि के मंतव्य का अनुमान लगाते हुए कहा।

"मैं क्यों जाऊँ!" पास ही खड़े दुर्योधन ने कहा, "मैं क्या युवराज हूँ?"

"अरे तुम कब आये दुर्योधन?" धृतराष्ट्र ने चौंकते हुए पूछा।

"हाँ पिताश्री..." तभी दुःशासन ने आगे बढ़ते हुए कहा, "अपने युवराज को ही भेजिए।"

"तो तुम भी यहीं हो...!" धृतराष्ट्र ने मुस्कराते हुए कहा, "अच्छा, पूछेंगे युधिष्ठिर से।"

"पूछना क्या है महाराज..." इस बार कर्ण ने आगे बढ़कर कहा, "आप बस आज्ञा दे दीजिए उन्हें।"

धृतराष्ट्र के प्रज्ञा-नयन सक्रिय हो उठे... इस प्रस्ताव के लिए ये चारों एकमत... सभी यहाँ उपस्थित। यह कोई साधारण प्रस्ताव नहीं लगता... कोई विशेष प्रयोजन हो सकता है इसके पीछे। और वह प्रयोजन विभिन्न सम्भावनाओं में उनके प्रज्ञा-पटल पर लुका-छिपी खेलने लगा।

"वत्स दुर्योधन..." धृतराष्ट्र ने कुछ सोचते हुए कहा, "पाण्डु मेरा अनुज था... एकमेव आज्ञाकारी अनुज, जिसने कभी मेरा अहित नहीं किया... सदैव मुझे स्नेह एवं सम्मान ही दिया। अब उसके स्थान पर उसके पुत्र हैं, जो सभी सदाचारी, सुशील एवं आज्ञाकारी हैं। प्रजा में भी उनका पर्याप्त प्रभाव है। उनके प्रति मन में यदि..."

"मेरे मन में उनके लिए कुछ नहीं है..." दुर्योधन ने कुछ उग्र होते हुए कहा, "आप भी उन्हीं का पक्ष लेकर मुझ पर आरोप लगाने लगे!"

"अरे जीजीश्री..." शकुनि ने बीच में ही कहा, "उनका सदाचार और उनकी आज्ञाकारिता के पीछे क्या है, यह तो आपको समय ही बताएगा... उसके भ्रम में आप अपने पुत्र पर शंका न करें। आप तो पहले ही उसका बड़ा अहित कर चुके हैं।"

"मामाश्री ठीक कहते हैं," दुःशासन ने पिता से मनुहारते हुए कहा, "आप युधिष्ठिर को वारणावत जाने की आज्ञा दे दीजिए।"

"वे पाँचों भाई जाएँ... तो प्रजा पर और भी अच्छा प्रभाव पड़ेगा..." कर्ण ने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए कहा।

धृतराष्ट्र उलझन में पड़ गये...

"अच्छा देखेंगे..." धृतराष्ट्र ने सोचते हुए कहा, "अभी तो बहुत समय है।"

"अरे बहुत समय कैसा!" शकुनि ने तर्क उठाया, "इस बहाने वहाँ कुछ समय रहकर वारणावत की व्यवस्था देखेंगे... मेले का प्रबन्ध भी तो ठीक होना चाहिए। और फिर इस बहाने भवन का पुनरुद्धार भी युवराज की देखरेख में हो जाएगा..."

धृतराष्ट्र मन में उठती शंकाओं के कारण कुछ कह नहीं पा रहे थे।

"इसमें इतना सोचने-विचारने की क्या बात है, पिताश्री!" दुर्योधन के स्वर में

आग्रह भी था और हठ भी, "कभी तो मान लिया कीजिए अपने पुत्र की बात। आकाश नहीं फट पड़ेगा, यदि वे पाँचों कुछ दिन हस्तिनापुर के बाहर चले गये तो।"

धृतराष्ट्र का विरोध लड़खड़ा गया...

दूसरे दिन, युधिष्ठिर जब उन्हें प्रणाम करने पहुँचे, तो धृतराष्ट्र ने वारणावत के आगामी मेले की चर्चा करते हुए, उनसे वहाँ जाने को कहा... यह समझाते हुए कि, "इस बहाने वहाँ हमारे पूर्वजों के एक जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े भवन का भी पुनरुद्धार हो जाएगा।"

युधिष्ठिर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके जाने को उद्यत हुए तो धृतराष्ट्र ने कुछ सोचते हुए कहा, "और हाँ, यदि तुम्हारे साथ तुम्हारे अनुज भी जाना चाहें, तो उन्हें भी साथ ले जाना।"

युधिष्ठिर को सहसा यह प्रस्ताव खटका। अपनी शंका को प्रतिबन्धित करते हुए, उन्होंने कहा, "कौन से अनुज, तातश्री? मेरे तो एक सौ चार अनुज हैं।"

धृतराष्ट्र को निरुत्तर छोडकर, युधिष्ठिर ने प्रस्थान किया।

अपनी शंका को प्रकट किये बिना ही युधिष्ठिर ने अर्जुन, भीम आदि को वारणावत यात्रा सम्बन्धी आज्ञा की बात बतायी। वे सभी उनके साथ जाने को उत्कण्ठित दिखाई दिये। यह चर्चा कुन्ती के सम्मुख ही हुई थी... उन्होंने भी साथ चलने का प्रस्ताव किया। "इस बहाने मैं भी कुछ दिन राजकीय अनुशासन से मुक्त होकर तुम लोगों के साथ रह लूँगी।"

युधिष्ठिर को कुछ आपत्ति तो थी किन्तु उन्होंने सोचा कि, जो भी हो, यदि कोई संकट आया तब भी सब एक साथ मिलकर झेल लेंगे।

कुन्ती ने जब तातश्री भीष्म तथा महाराज धृतराष्ट्र से आज्ञा प्राप्त की.. तो इस घटना की भनक पाकर शकुनि ने दुर्योधन से कहा, "यह बुढ़िया क्यों जा रही है? कहीं इन्हें कोई गन्ध तो नहीं मिली?"

"अब जा रही हैं तो जाएँ.." दुर्योधन ने खीझ-भरे स्वर में कहा।

"हाँ, वह तो ठीक है.." शकुनि ने मुस्कराते हुए जोड़ा, "पाँच डालियों वाले बबूल के साथ, जड़ भी उखड़ जाए... एक ही झटके में।"

वारणावत के उस जीर्ण-शीर्ण राज-भवन के नवीकरण का प्रश्न आने पर दुर्योधन ने आग्रह करके अपने अंग रक्षक पुरोचन को भिजवाया। पुरोचन दुर्योधन का विश्वास पात्र ही नहीं, आज्ञाकारी दास भी था। दुर्योधन ने पुरोचन से धृतराष्ट्र, भीष्म,

विदुर आदि सभी गुरुजनों के सम्मुख कहा, "उस भवन का नवीकरण बड़े जतन से, शीघ्रातिशीघ्र होना चाहिए... ध्यान रहे कि वहाँ हमारे साम्राज्य के युवराज विश्राम करने जा रहे हैं।"

वारणावत के भवन के नवीकरण में दुर्योधन की अतिरिक्त रुचि, विदुर को खटक रही थी... उसका आग्रह करके अपने विश्वास-पात्र पुरोचन को भेजना, और युवराज के विश्राम में इतनी रुचि लेना! यह सारा प्रसंग ही अविश्वसनीय लग रहा था उन्हें। फिर कुछ ही समय में अपने गुप्तचरों से उन्हें यह समाचार भी प्राप्त हुआ कि भवन के नवीकरण के लिए पहुँचने वाली सामग्री में सन, सर्जरस, घी तथा लाख की प्रचुरता है। यह सुनकर विदुर की शंका को बल मिला... भवन-निर्माण में सन, सर्जरस, घी, लाख आदि का क्या प्रयोजन! और वह भी इतनी प्रचुर मात्रा में?

कुछ समय बाद जब युधिष्ठिर, माता कुन्ती एवं अनुजों-सहित, सबको प्रणाम करके, वारणावत के लिए निकलने लगे तो अन्त में विदुर ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, "वत्स युधिष्ठिर, अपने प्रवास काल में तुम कोई चिन्ता न करना... वहाँ तुम्हारी सहायता के लिए दुर्योधन का विश्वास-पात्र पुरोचन है। और हाँ, वारणावत नया स्थान है... वहाँ कुछ शत्रु भी हो सकते हैं। वैसे तो तुम सावधान रहोगे ही, किन्तु याद रखना कि एक शस्त्र ऐसा भी होता है जो किसी धातु का बना हुआ तो नहीं होता, किन्तु धरती पर स्थित जीवन को बड़ी निर्दयता से नष्ट कर सकता है। नीति का यही उपदेश है कि व्यक्ति आत्म-रक्षा के लिए मात्र धरती पर ही निर्भर न रहे, पाताल की ओर भी निहारे, बिल में बसने वाले जीवों से भी शिक्षा लेता रहे।"

विदुर का यह उपदेश सभी को बड़ा विचित्र लगा.. किन्तु सभी अभ्यस्त थे, समय-असमय उनके नीति-सम्बन्धी प्रवचन से।

युधिष्ठिर जब वारणावत पहुँचे तो वहाँ के निवासियों ने उन सबका हार्दिक स्वागत किया। उनमें बड़ा उत्साह था कि, उनकी स्मृति में पहली बार, राज-परिवार का कोई सदस्य उनके ग्राम में पधारा था। उन्हें विश्वास था कि मेले की धूम, युवराज के आगमन से और भी बढ़ जाएगी। वे सब बड़े उत्साह के साथ कुन्ती तथा पाण्डवों को नवीकृत राज-भवन में पहुँचाने गये।

उस भवन की चमक देखकर सभी चमत्कृत रह गये। द्वार पर पुरोचन ने कुन्ती तथा राजकुमारों का स्वागत करते हुए उन्हें भवन में पहुँचाया। युधिष्ठिर ने देखा कि भवन की प्रत्येक भीत, स्फटिक न होते हुए भी, स्फटिक की भाँति ही दमक रही है। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव एवं कुन्ती... सभी की दृष्टि में प्रशंसा का भाव था। बस, युधिष्ठिर ही थे जिन्हें भवन की वह दमक, धृतराष्ट्र से हुए संवाद के आधार पर, कुछ सन्देह करने पर विवश कर रही थी।

... और साथ ही, रह-रहकर याद आ जाता था उन्हें विदुर का नीति-सन्देश

...और उसकी भूमिका में यह स्पष्ट उल्लेख कि 'वहाँ तुम्हारी सहायता के लिए दुर्योधन का विश्वास-पात्र पुरोचन है।'

यह सब अकारण नहीं हो सकता... दुर्योधन का विश्वास-पात्र, धातु-विहीन विनाशकारी शस्त्र और आत्म-रक्षा के लिए पाताल... बिल-वासी जीवों से शिक्षा। सोचते ही सोचते, युधिष्ठिर के हाथ उस भवन की भीत पर जा पहुँचे... कभी उसे सहलाते, कभी उँगलियों से ठोंकते, तो कहीं नखों से खुरचते हुए। और धीरे-धीरे सारे घटना-क्रम तथा संवादों की कड़ियाँ स्वयं ही उन पर खुलने लगीं।

एकान्त पाते ही, माता कुन्ती को कोई संकेत दिये बिना ही, उन्होंने अपने अनुजों से चर्चा की... और विचार विमर्श किया। सबने मिलकर स्थिति का निरीक्षण किया और भीतों की कुछ खुरचन लेकर उसका परीक्षण किया। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि उस सामग्री में अधिकांश लाख है, जो अग्नि पाकर तुरन्त ही भड़क उठता है। उन्होने यह भी पाया कि भवन के चारो ओर बड़ी सेना है, जिसका निरीक्षण पुरोचन स्वयं, बड़ी जागरूकता के साथ, कर रहा है। उन्हें लगा कि वहाँ से, सैनिकों से आँख बचाकर निकल भागना सम्भव नही है और चारों ओर फैले हुए निर्मल मन वाले ग्रामवासी भी हैं, जो अपने सेवाभाव के कारण उन्हें कहीं जाने नही देंगे।

पाण्डव अपनी रणनीति के विषय मे सोच ही रहे थे कि युधिष्ठिर से मिलने का इच्छुक एक दीनहीन सा ग्रामवासी आया। उसने, एकान्त पाकर युधिष्ठिर को बताया कि वह महामन्त्री विदुर का एक विश्वासपात्र खनिक है। विदुर ने लगभग तीन सप्ताह पूर्व ही उसे, एक विशेष गुप्त कार्य के लिए, वारणावत भेज दिया था। वह कार्य लगभग पूर्ण हो चुका है।

पूछे जाने पर उसने बताया, "युवराज, आज सन्ध्या काल के समय आप सब इस राजभवन में, द्वार अन्दर से बन्द करके, अकेले रहें... और जी-भरकर हास-परिहास करते हुए भवन को कोलाहल से व्याप्त रखें।"

युधिष्ठिर को खनिक का प्रस्ताव बड़ा-ही विचित्र प्रतीत हुआ। उन्होंने विस्तार में उससे इसका कारण पूछा, तो उसने बताया, "युवराज, महामन्त्री विदुर की आज्ञा से मैंने आधा-कोस दूर, वन से प्रारम्भ करके, एक लम्बी सुरंग बनायी है, जो अब इस भवन के नीचे तक आ पहुँची है। यदि यहाँ कुछ कोलाहल होता रहे, तो मैं उस सुरंग का द्वार इस भवन के बीच मे बना लूँगा। यहाँ कुछ कोलाहल होता रहे तो किसी को सुरंग खुदने की भनक नहीं पड़ेगी। आप, यदि कभी आवश्यकता पड़े तो, अपनी रक्षा के लिए सुरंग मार्ग का उपयोग कर सकते हैं।"

पाण्डवों को विदुर की दूरदर्शिता पर आश्चर्य हुआ... और वे सूर्यास्त के पूर्व ही, आमोद-प्रमोद का वातावरण बनाकर, हँसते-गरजते हुए, सुरंग-द्वार खुलने की प्रतीक्षा करने लगे। अनुमानित समय पर सुरंग का मुख भवन के एक कक्ष में खोलते

हुए खनिक ने भवन में प्रवेश किया तो पाण्डवों को लगा कि उनकी सारी चिन्ता दूर हुई।

जब पाँचों भाइयों ने पुरोचन की गतिविधि पर दृष्टि डाली... तो उसे अपने सहायकों के साथ सन्दिग्ध स्थिति में, दबे स्वरों में, परामर्श करते हुए पाया। जब उन्हें पुरोचन की घातक भूमिका पर विश्वास हो चला तो, अपना सारा प्रबन्ध करके, युधिष्ठिर ने पुरोचन को उसके प्रमुख सहायकों-सहित भवन में बुलाया।

"पुरोचन!" भीमसेन ने उससे कठोर स्वर में पूछा, "हमें ज्ञात हुआ है कि इस भवन के नवीकरण में जितना घी आया था, उसका अधिकांश भाग तुमने ले लिया... भवन में नहीं लगाया।"

"नहीं कुमार..." पुरोचन ने तत्परता के साथ उत्तर दिया, "सारा घी, चर्बी, लाख आदि जो कुछ भी आया, सब इसी भवन में लगा... सब का सब।"

"तब तो तुम्हें पुरस्कार मिलना चाहिए, पुरोचन..." अर्जुन ने कहा, "दुर्योधन ने तुम्हें कितना पुरस्कार देने का वचन दिया है?"

"वचन तो..." सहसा पुरोचन को अपनी भूल का ज्ञान हुआ और आश्चर्य मे उसकी आँखें फटी रह गयीं। घबराहट में उसने भागने का प्रयत्न किया तो नकुल तथा सहदेव ने झपटकर उसे पकड़ लिया। अर्जुन के तने हुए धनुष के सम्मुख उसके सभी सहायक प्रस्तर प्रतिमा बने खड़े रह गये।

पाण्डवों ने पुरोचन को, उसके सहायकों-सहित, एक कक्ष में बन्द किया और वे उस लाक्षागृह को स्वयं ही आग लगाते हुए, सुरंग मार्ग द्वारा सुरक्षित निकलकर, सुदूर वन में जा पहुँचे।

उधर, वारणावत के सब नागरिक, लाक्षागृह को लपटों में घिरा देख, रात भर रोते-कलपते रहे।

वह लम्बी सुरंग पार करके पाण्डव एक वन में निकले, जहाँ खनिक एवं उसके साथियों ने उनका स्वागत किया। वे मार्ग दिखाते हुए पाण्डवों को गंगातट पर ले गये, जहाँ नौका द्वारा उनके गंगा पार जाने का प्रबन्ध था। पाण्डवों को सुरक्षित नदी पार पहुँचाकर, उनका कुशल सन्देश लेकर, खनिक विदुर के पास लौट गया।

अपने भाइयों तथा माता कुन्ती के साथ विचार-विमर्श करके युधिष्ठिर ने निर्णय लिया कि, इस समय, उन लोगों का हस्तिनापुर लौटना कुल की शान्ति के लिए उचित नहीं होगा, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उन सबकी लाक्षागृह में हत्या के इस षड्यन्त्र में, सहर्ष अथवा विवश होकर ही, धृतराष्ट्र की सहमति अवश्य थी। वे यह भी जानते थे कि दुर्योधन पर आरोप लगाकर कोई लाभ नहीं होगा और, चुप रहकर हस्तिनापुर

में रहने पर, उसकी ओर से उन सबकी हत्या के प्रयास नित-नये रूप में प्रकट होते रहेंगे।

कुल की शान्ति के लिए, कुन्ती का एक प्रस्ताव यह भी था कि वे सब शतश्रृंग में स्थित अपनी पैतृक भूमि पर लौट चलें। दूसरी ओर, एक विचार यह भी था कि कुछ समय वे सब गुप्त रहते हुए इधर ही किसी ग्राम में रहें... और दुर्योधन के राज-पद प्राप्त कर लेने के बाद ही हस्तिनापुर लौटें, जिससे दुर्योधन के मन में युधिष्ठिर के प्रति उसके युवराज-पद को लेकर जो वैर है, वह शान्त हो ले।

किन्तु कहाँ जाएँ... उनके सम्मुख अन्धकार था, अपरिचित राहें थीं और अनिश्चय था। सबकी आँखों में निद्रा थी और श्रम के कारण प्यास भी सता रही थी। तभी राह में एक विशाल वट-वृक्ष देखकर भीमसेन, अन्य सभी को वहाँ विश्राम करने के लिए छोड़कर, जल की खोज में निकले। कुछ दूर पर उन्हें एक जलाशय मिला तो, स्वयं जल पीकर, उन्होंने माँ तथा भाइयों के लिए जल लिया। जब भीमसेन जल लेकर लौटे तो उन सबको निद्रा में मग्न पाया। नींद तो भीम को भी लगी थी, किन्तु उन्होंने सबकी सुरक्षा के लिए, स्वयं जागते रहने का निश्चय किया।

उस वट-वृक्ष के पास ही, हिडिम्ब नामक एक नरमांस-भोजी वनचारी रहता था। देर रात के समय, अपने मदिरा के प्रभाव में उसकी आँख खुली तो कहीं पास ही कुछ मनुष्यों की उपस्थिति की भनक पाकर वह अपनी बहन से बोला, "हिडिम्बा! जा इन्हें मारकर ले आ... आज बहुत दिन बाद नर मांस मिल रहा है। ला... तो दोनों मिल के खाएँगे... दो-चार दिन।"

हिडिम्बा कमर में कटार बाँधे, हाथों में बड़ा पत्थर उठाये, दबे पाँव, उस वट वृक्ष की ओर बढ़ी। निकट पहुँचकर उसकी दृष्टि हृष्ट-पुष्ट भीमसेन पर पड़ी तो उसके युवा मन में उस युवक के प्रति आसक्ति का भाव उमड़ने लगा। उसे लगा कि यह साँवला-सजीला युवक उसका जीवन-साथी बनने योग्य है। वह दबे पाँव लौट पड़ी और पत्थर एक ओर फेंककर सोचने लगी कि क्या करे।

तभी उसने निर्णय लिया... और कुछ समय में वह अपने सर्वोत्तम वस्त्रों में, सज-धजकर, सुन्दर श्रृंगार करके, भीमसेन के पास पहुँची और प्रेम-निवेदन करने लगी। भीमसेन ने उसे, कुछ अलग ले जाकर, अपनी परिस्थिति समझाने का प्रयास किया, किन्तु हिडिम्बा अपने प्रेम-निवेदन पर दृढ़ थी, "मुझे अपना बना लो... मैं जीवन भर तुम्हारी सेवा करूँगी, तुम्हारी हर आज्ञा मानूँगी।"

उधर, बड़ी देर तक, बहन द्वारा नर-मांस लाने की प्रतीक्षा करने के बाद, हिडिम्ब अपनी गुफ़ा से बाहर निकला... और अपनी बहन का प्रेमालाप सुनकर क्रोधित होता हुआ बोला, "अरी दुष्टा... मैं उधर मांस के लिए बैठा मर रहा हूँ, और इधर तू प्रेमालाप कर रही है और यह क्या भेस बना रखा है तूने?" यह कहते हुए उसने झपटकर

हिडिम्बा को खींचकर अलग ढकेलते हुए कहा, "अच्छा, तुझसे तो मैं बाद में निपट लूँगा..."

दूसरे ही क्षण उसने कटार निकालकर भीमसेन पर आक्रमण किया। उन दोनों में देखते-ही-देखते प्राणान्तक द्वन्द्व छिड़ गया। हिडिम्बा बीच में अपने भाई को रोकती हुई मनुहारते स्वर में कह रही थी, "इन्हें छोड़ दो... मैं तुम्हारे पाँव पड़ूँ... मैं तुम्हें इनके बदले कई मनुष्यों का मांस ला दूँगी।"

उधर भीमसेन तथा हिडिम्ब के मल्ल-युद्ध से कुन्ती, युधिष्ठिर आदि की भी आँख खुल गयी। जब तक वे यह समझ पाएँ कि क्या हो रहा है... और अँधेरे में यह पहचान पाएँ कि भीमसेन कौन है और दूसरा व्यक्ति कौन, भीमसेन ने हिडिम्ब को पूरे बल के साथ उठाकर घुमाया और धरती पर दे मारा। संयोग, कि हिडिम्ब का सिर एक नुकीली शिला से टकराया और वह चीत्कार करता हुआ वहीं ढेर हो गया। उसे मृत देख, हिडिम्बा दौड़ी और भाई का मस्तक अपने हृदय से लगाकर रोने लगी।

भीमसेन ने जब सारी बात माँ तथा भ्राताओं को बतायी तो कुन्ती ने आगे बढ़कर हिडिम्बा के आँसू पोंछे और अपने सीने से लगाकर उसे सान्त्वना दी।

कुछ दिन तक वे सब हिडिम्बा की गुफ़ा में ही रहे... यद्यपि उस गुफा को स्वच्छ बनाने एवं उसे मांस एवं रुधिर की गन्ध से मुक्त करने में उन्हें बहुत श्रम करना पड़ा। इस कार्य में, अपने दुःख के चलते भी, हिडिम्बा ने उन्हें सहयोग दिया और हर प्रकार उन सबकी सुविधा का ध्यान रखा।

कुन्ती ने देखा, हिडिम्बा सुन्दर है, आज्ञाकारी है और स्वभाव से सरल है। अपने भाई की मृत्यु के दुःख को झेलते हुए भी उन सबकी सेवा में लगी है। उन्होंने, समय पाकर, एकान्त में उससे बात की तो पाया... वह सच्चे मन से भीमसेन के प्रति अनुरक्त है... पूर्णतया समर्पित है। उसने कहा, "माँ... आप लोग जहाँ भी जाएँगे मैं, इनके पीछे, आप लोगों के साथ चलूँगी। आप जैसा कहेंगे, वैसे रहूँगी और जो कहेंगे वही करूँगी और यदि आपने मुझे त्याग दिया तो मैं प्राण त्याग दूँगी। अब मेरा और है ही कौन...!"

कुन्ती ने देखा भीमसेन के मन में भी उसके प्रति प्रशंसा का भाव है—"माँ यदि इसने झपटकर अपने भाई की भुजा न पकड़ी होती तो वह तो मुझ पर वार कर ही देता।"

किन्तु एक बहुत बड़ी खाई थी उनके तथा हिडिम्बा के संस्कारों के बीच... और यह भी कि तब तक भीमसेन के अग्रज युधिष्ठिर का विवाह नहीं हुआ था। संकट यह भी था कि वे सब उस समय स्वयं ही संकट में थे... न कहीं रहने को घर, न कोई आजीविका का साधन और न ही अपनी कोई पहचान। कुन्ती ने हिडिम्बा को

बहुत समझाना चाहा, किन्तु वह अपने निर्णय पर अडिग थी, "मैं आपके पुत्र को अपना मान चुकी हूँ... मैं नितान्त अकेली हूँ। अच्छा, मैं इनसे एक पुत्र प्राप्त कर लूँ, तब तक के लिए आप मुझे इनकी सेवा का अवसर दीजिए। यदि बाद में आप चाहें, तो इन्हें बुला लें। आपका पौत्र भी आपका ही रहेगा... आप जब भी आज्ञा देंगी, मैं स्वयं भी आपकी सेवा में आ जाऊँगी और आपके पौत्र को भी ले आऊँगी।"

उसका आग्रह देख कुन्ती का मन पिघल गया। युधिष्ठिर को भी अधिक विरोध कर पाना सम्भव नहीं लगा। युधिष्ठिर ने उससे कहा कि भीमसेन उसके पास, अधिक से अधिक दो वर्ष तक, पुत्र होने तक रहेंगे और इस बीच उसे अपने जन्म-जात राक्षसी संस्कार त्याग कर, विद्या-अध्ययन करते हुए, मानवीय संस्कार अपनाने होंगे... तथा होने वाले पुत्र को भी, युद्ध-कला के साथ ही मानवीय संस्कार देकर, उसका लालन-पालन कुरुवंश की गरिमा के अनुरूप करना होगा।

युधिष्ठिर की सभी बातें हिडिम्बा ने स्वीकार कर लीं... तो वह भीमसेन को साथ लेकर एक निकटवर्ती गुफ़ा में रहने लगी। इस बीच वह कुन्ती तथा पाण्डवों की मन लगाकर सेवा करती थी तथा उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान का उपदेश बडे ध्यान से सुनती थी। उसकी बुद्धि कुशाग्र थी और उसमें सीखने की भी अदम्य लगन थी। शीघ्र ही उसके आचरण एवं व्यवहार मे बडे सुखदायी लक्षण प्रकट होने लगे.. जिन्हें देखकर कुन्ती, युधिष्ठिर आदि प्रसन्न थे।

उधर, हस्तिनापुर में, पाण्डवों के अग्नि-काण्ड में जलकर भस्म होने का समाचार पाकर, राजकीय शोक की घोषणा की गयी। शवों की पहचान न हो पाने पर भी, अनुमान द्वारा वहाँ प्राप्त छः जले हुए शवों की राजकीय सम्मान के साथ अन्त्येष्टि हुई . विधिवत् दान दिये गये और उनकी आत्मा की शान्ति के लिए, अपने पुत्रो-सहित धृतराष्ट्र ने भूमि-शयन करके उन्हें तिलांजलि दी।

अपने प्रिय पौत्रों की अकाल मृत्यु के समाचार से, पितामह भीष्म की स्थिति विक्षिप्तों जैसी रही। उधर द्रोणाचार्य अपने प्रिय शिष्य के अभाव में दुःखी थे... वे कई वर्षो तक, निराश मन से, जीवन में प्रयोजन ढूँढ़ने का प्रयास करते रहे।

वन में, समय आने पर, हिडिम्बा ने एक स्वस्थ बालक को जन्म दिया, जो सिर पर केश न होने के कारण घटोत्कच कहलाया। उस शिशु को पाकर हिडिम्बा ही नहीं, कुन्ती भी प्रसन्न थीं। धीरे-धीरे बढ़ते हुए घटोत्कच को जहाँ एक ओर हिडिम्बा द्वारा मायावी विद्या प्राप्त हो रही थी, वहीं कुन्ती एवं पाण्डवों के सम्पर्क में उसे शास्त्रों एव शस्त्रों का ज्ञान मिल रहा था।

घटोत्कच जब लगभग दस वर्ष का था तभी एक दिन पाण्डवों का पता लगाते

हुए महर्षि व्यास उनके पास पहुँचे। उन्होंने पाण्डवों को कुन्ती-सहित एक निकटवर्ती ग्राम में रहने का परामर्श दिया जो, उनकी दृष्टि में, हर प्रकार सुरक्षित था। उन्होंने कहा कि उपयुक्त अवसर आने पर वे स्वयं आकर उन्हें हस्तिनापुर ले जाएँगे। तब पाण्डवों ने अज्ञातवास त्यागने का निश्चय किया। वचनबद्ध हिडिम्बा ने अश्रुपूरित नयनों से उन्हें विदा दी और आश्वासन दिया कि उनका पुत्र घटोत्कच, जब भी आवश्यकता पड़ी, उनकी सेवा में भेज दिया जाएगा।

सिर पर जटाएँ धारण किये और मृगचर्म तथा छाल पहने तपस्वियों जैसे वेष में वे सब, महर्षि व्यास की बतायी हुई एकचक्रानगरी में जा पहुँचे और उनके परामर्श पर, एक ब्राह्मण के यहाँ रहने लगे। वे भिक्षा-वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह करते थे और सदैव वहाँ के नागरिकों के दुःख-सुख में सम्मिलित रहते थे। उनके सद्व्यवहार के कारण, नगरवासी उनका सम्मान करते थे और वह ब्राह्मण उन सबको अपने परिवार के सदस्यों के समान ही प्रेम एवं सत्कार देता था।

एक दिन अचानक उस ब्राह्मण की पत्नी का करुण क्रन्दन सुनकर कुन्ती को चिन्ता हुई। उन्होंने उसके पास जाकर देखा तो उस ब्राह्मण को भी पुत्र एव पुत्री-सहित, चिन्ता-मग्न रोते हुए देखा। पूछने पर, एक विस्तृत पृष्ठभूमि के साथ उन्हें कारण ज्ञात हुआ। उस नगर के निकट ही, वन में, बक नामक एक भयंकर राक्षस रहता है जिसने उस क्षेत्र में भयंकर उत्पात मचा रखा था। नगरी के मुखिया ने उससे समझौता किया था कि यदि वह व्यापक विनाश बन्द कर दे, तो प्रतिदिन, उसके तथा उसके साथियों के लिए, एक गाड़ी अन्न-सहित दो भैंसे भेजे जाएँगे। इतना ही नही वह नरमांस-भोजी यह सामग्री लेकर जाने वाले व्यक्ति को भी मारकर खा जाता है। इस कार्य के लिए, मुखिया यान्त्रिक प्रणाली द्वारा प्रति दिन किसी एक व्यक्ति का चयन करता है... आज उस ब्राह्मण के घर की बारी थी। मृत्यु के भय से आक्रान्त वे सभी, एक-दूसरे को बचाते हुए, स्वयं जाने का आग्रह कर रहे थे... पति, पत्नी, पुत्र, तथा पुत्री... सभी का कहना था कि 'आपको नहीं... परिवार-हित में मुझे जाना चाहिए।'

ब्राह्मण परिवार पर आयी विपत्ति को देखकर कुन्ती द्रवित हो उठीं। कर्तव्य भाव से प्रेरित होकर उन्होंने सान्त्वना देते हुए उन लोगों से कहा, "इस दुःख की घड़ी मे आप हम लोगों को क्यों भूल रहे हैं? इस घर में हमें आश्रय मिला, आपने हमें परिवार के सदस्यों जैसा स्नेह दिया... अब हमारा भी तो कुछ कर्तव्य बनता है। आप निश्चिन्त रहिए... मैं अपने पुत्रों से इस विषय में बात करके इस समस्या का कुछ हल निकालूँगी।"

कुछ ही देर में, भीमसेन भिक्षा लेकर लौटे तो कुन्ती ने उनसे ब्राह्मण परिवार पर आये संकट की चर्चा की। भीमसेन ने कहा, "आप उनसे निश्चिन्त रहने को कह दें।

आज वह भोजन सामग्री लेकर मैं जाऊँगा।"

कुन्ती के मन में पुत्र-प्रेम के कारण भय तो था... किन्तु भीमसेन के पराक्रम पर विश्वास एवं कर्तव्य-बोध के कारण उन्होंने अपने हृदय पर पत्थर रख लिया। भीमसेन वह सारी सामग्री लेकर बक के पास चले गये।

कुछ ही समय बाद, जब युधिष्ठिर, अर्जुन, आदि लौटे तो बक के पास अकेले भीमसेन के जाने की बात सुनकर चिन्तित हो उठे। वे तुरन्त अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर बक के वन की दिशा में दौड़ पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने भाई को बक के साथ भयंकर मल्ल-युद्ध करते देखा। बक के दस-बारह साथी, भीमसेन पर आक्रमण करते हुए उन्हें युद्ध से विचलित करने का प्रयास कर रहे थे। चारों पाण्डव वीरों ने वहाँ पहुँचते ही बक के साथियों पर आक्रमण करके उन्हें भगा दिया। इस बीच, भीमसेन ने भी बक को पटक-पटककर धराशायी कर दिया।

एकचक्रानगरी को राक्षस-मुक्त पाकर वहाँ के सभी नागरिक एवं मुखिया प्रसन्न हुए और माता कुन्ती-सहित पाण्डव, वेदशास्त्रों का अध्ययन करते हुए वहाँ सुख से रहने लगे।

उन्हीं दिनों चर्चा थी कि पांचाल नरेश द्रुपद अपनी सुन्दरी कन्या का स्वयंवर कर रहे हैं। सुना जा रहा था कि उनकी पुत्री कृष्णा सुन्दर ही नहीं अत्यंत पराक्रमी एवं गुणवती भी है... और द्रुपद उसके लिए विश्व का कोई श्रेष्ठतम धनुर्धर ढूँढ़ रहे हैं। इस उद्देश्य से, उन्होंने स्वयंवर के लिए एक ऐसा यन्त्र बनवाया है जिसे कोई महान धनुर्धर ही वेध सके।

पाण्डव उस अद्वितीय सुन्दरी के विषय में कल्पना कर ही रहे थे कि महात्मा व्यास ने आकर उनसे कहा, "अब तुम्हारा इस नगरी का कार्य पूरा हुआ। अब चलो, पांचाल चलो, वहाँ एक चुनौती तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।"

अपने आश्रयदाता ब्राह्मण से अनुमति लेकर, पाण्डवों ने पांचाल के लिए प्रस्थान किया। राह में एक क्षेत्र पड़ा, जहाँ अंगारपर्ण चित्रसेन नामक एक गन्धर्व का राज था। चित्रसेन ने उन्हें आयुधों से सम्पन्न देखा, तो उनके प्रति शंकित होकर उन्हें ललकारते हुए आक्रमण किया। यह देख अकेले अर्जुन ने ही, उसके आक्रमण को विफल करते हुए, उसे बन्दी बना लिया। उसके क्षमा माँगने पर युधिष्ठिर ने यह कह कर उसे मुक्त कर दिया कि 'हम लोग तो यात्री हैं... हम तुम्हारा कोई अहित नहीं करना चाहते।'

चित्रसेन के लिए यह एक विचित्र अनुभव था कि कोई विजयी होकर भी, बिना धन अथवा राज्य माँगे ही, पराजित व्यक्ति को जीवित छोड़ दे। उसने पाण्डवों को अपने भवन में ठहराकर उनका अतिथि-सत्कार किया और उपहार में अपने कई अस्त्र

दिये, तथा स्वास्थ्य एवं सक्रियता में सुधार के लिए अनेक मन्त्र भी दिये।

उसके साथ रहकर पाण्डवों ने पाया कि वह बहुत ज्ञानी है और सरल स्वभाव का भी है। बातों-ही-बातों में उसने निकटवर्ती वन में स्थित, उत्कोचकतीर्थ-निवासी, महात्मा धौम्य की चर्चा की, जो बड़े ही ज्ञानी एवं दूरदर्शी थे। चित्रसेन की बातों से प्रभावित होकर पाण्डव उनके दर्शनार्थ उत्कोचकतीर्थ गये। वहाँ महात्मा धौम्य ने पाण्डवों का कन्द, मूल, फल द्वारा स्वागत किया। उनके साथ धर्म चर्चा करके युधिष्ठिर इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने धौम्य से अपना पुरोहित बनने की प्रार्थना की।

धौम्य ने उनका पुरोहित बनना स्वीकार कर लिया... और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वे कुरुवंशी राजकुमार हैं, और दुर्योधन के कुचक्र का भाजन बनकर वन में अनाम जीवन व्यतीत कर रहे हैं, तो उन्होंने पाण्डवों को धैर्य धारण करते हुए धर्म के मार्ग पर अडिग रहने का परामर्श दिया... और उन्हें विश्वास दिलाया कि शीघ्र ही उन्हे अपना खोया हुआ अधिकार पुनः प्राप्त होगा।

अपने पुरोहित का आशीर्वाद लेकर पाण्डव पांचाल पहुँचे और वहाँ एक कुम्भकार के घर रहकर, भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करने लगे। कुछ दिन पश्चात्, भ्रमण करते हुए, महर्षि व्यास आकर पाण्डवों से मिले और उन्हें द्रुपदकुमारी का स्वयंवर देखने जाने का परामर्श दिया, "सुना है, महाराज ने स्वयवर के लिए एक ऐसा विचित्र यन्त्र लक्ष्य-वेध के लिए बनवाया है जिसे कोई विरला धनुर्धर ही वेध पाएगा। वह यन्त्र तुम लोगों के लिए देखने योग्य होगा।"

पाण्डवों द्वारा युद्ध में, द्रोणाचार्य के सम्मुख, पराजित होने के बाद, द्रुपद निरन्तर अपमान की ज्वाला में जलते रहते थे। जहाँ उन्होंने यज्ञ द्वारा द्रोणाचार्य का वध करने की इच्छा से पुत्र प्राप्त किया था, वहीं, पुत्री कृष्णा को पाकर यह निर्णय भी लिया था कि वे उसका विवाह अर्जुन-जैसे किसी महान तेजस्वी धनुर्धर से करेंगे, जो उनकी ओर से युद्ध करते हुए द्रोणाचार्य को पराजित कर सके। इस उद्देश्य से, उन्होने, बेटी के स्वयंवर के लिए एक ऐसा यन्त्र बनवाया था जिसे कोई महान धनुर्धर ही वेध सके।

स्वयंवर का विशाल प्रांगण भाँति-भाँति के योद्धाओं, राजा महाराजाओं तथा सभी वर्गों के दर्शकों से भरा था। सुन्दरी द्रौपदी को प्राप्त करने की इच्छा से जो अनेकानेक शासक, राजकुमार आदि आये थे उनमें अनेक धृतराष्ट्र पुत्रों, तथा युयुत्स, कर्ण आदि-सहित, दुर्योधन भी थे। साथ ही अश्वत्थामा, भोज, मणिवान, जयत्सेन, पौण्ड्रक, शिशुपाल, जरासन्ध, शल्य आदि अनेक राजा वहाँ उपस्थित थे। अन्य आमन्त्रित अतिथियों में प्रमुख थे यदुवंशी बलराम तथा कृष्ण।

उन सबके बीच एक वेदी पर, एक विशाल धनुष तथा कुछ बाण रखे थे... और, निकट ही, ऊपर की ओर अधर में लटकता हुआ एक गोलाकार यन्त्र था जो अपनी ही धुरी पर निरन्तर घूम रहा था। उस यन्त्र के बाहरी किनारे पर एक छोटा-सा छिद्र था जिसे द्रौपदी से विवाह के इच्छुक योद्धाओं को वेधना था।

द्रौपदी ने सुगन्धित फूलों की जयमाल लिए स्वयंवर स्थल पर प्रवेश किया और वे अपने निर्दिष्ट स्थान पर बैठ गयीं। द्रुपद के पुत्र राजकुमार धृष्टद्युम्न ने आकर योद्धाओं को यन्त्र का परिचय देते हुए कहा कि 'जो बलवान, रूपवान एवं कुलीन पुरुष यह महान लक्ष्य वेधने में सफल होगा, उसे ही मेरी बहन कृष्णा वरमाला पहनाएगी।'

यह परीक्षण प्रारम्भ होते ही, बारी-बारी, सभी राजा-राजकुमार आदि वह लक्ष्य वेधने के लिए आये... पर उनमें से अनेक तो वह धनुष ही नहीं उठा पाये, कुछ जिन्होंने धनुष उठाया उस पर प्रत्यंचा नहीं चढा पाये और जो दो-एक इसमें सफल भी हुए वे उस पर बाण रखकर प्रत्यंचा नहीं खींच पाये। उन्हीं में कर्ण भी था, जिसने बड़े आत्म-विश्वास के साथ आकर जब धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ायी, तो उसे बाण उठाते देख, राजकुमारी कृष्णा ने पुकारकर कहा, "मैं सूत पुत्र का वरण कदापि नहीं करूँगी..."

कर्ण की ओर से दुर्योधन ने उठकर विरोध करना चाहा कि, "कर्ण अंग देश का राजा है..." किन्तु कृष्णा अपने हठ पर अड़ी थीं। कर्ण अपमानित होकर क्रोध में पाँव पटकता हुआ वहाँ से चला गया।

लक्ष्य वेध में सम्पूर्ण राज-समाज की असफलता के कारण सारा समाज सहम गया, सभा में सन्नाटा छा गया। तभी युधिष्ठिर से प्रेरणा पाकर, ब्राह्मण समाज की दर्शक दीर्घा से अर्जुन उठे। उन्हें बढते देख उस दीर्घा में बैठे सभी ब्राह्मण आश्चर्य चकित रह गये। क्षत्रिय समाज की दीर्घा में बैठे सभी राजकुमार, राजा आदि अर्जुन का सुगठित शरीर तथा उनका आत्म-विश्वास देखकर विस्मय में पड़ गये। तभी अर्जुन ने धनुष उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढाकर, पहले ही प्रयास में, बाण द्वारा वह लक्ष्य वेध दिया।

अर्जुन की सफलता से सभी दर्शकों में उल्लास की लहर दौड़ गयी। सभी ओर उत्तेजित स्वर में कोलाहल होने लगा और अर्जुन पर पुष्पों की वर्षा होने लगी। किन्तु वहाँ उपस्थित असफल राजा एवं राजकुमार, एक ब्राह्मण की सफलता से भडक उठे। वे आपस में क्रोध-पूर्वक बातें करने लगे कि वह स्वयंवर केवल क्षत्रियों के लिए था, इसमें ब्राह्मण का क्या काम? द्रुपद पागल हो गया है, जो अपनी कन्या एक ब्राह्मण को दे रहा है... क्या क्षत्रियों में उसे कोई भी कन्या के योग्य वर नहीं मिल सकता? इस प्रकार क्रोधित होकर, उन्होंने मिलकर द्रुपद पर ही आक्रमण कर दिया।

उन सबको आक्रमण करते देख अर्जुन तथा भीमसेन ने तत्परता के साथ उठकर उन्हें टक्कर दी और द्रुपद को सुरक्षा प्रदान की। इस कार्य में धृष्टद्युम्न ने भी उनका साथ दिया। उन दोनों दलों में युद्ध छिड़ गया... किन्तु स्थिति बिगड़ने के पूर्व ही कृष्ण ने उठकर बीच-बचाव करते हुए उन्हें शान्त किया और कहा, "इस ब्राह्मण ने, स्वयंवर के नियम-अनुसार, अपने पराक्रम द्वारा, द्रौपदी को प्राप्त किया है... इसका विरोध करना सर्वथा अनुचित होगा।"

कृष्ण की मध्यस्थता से स्थिति कुछ शान्त हुई और अवसर पाते ही भीमसेन तथा अर्जुन द्रौपदी को लेकर अपने निवास-स्थान की ओर चल पड़े।

वे जब कुम्भकार के घर, अपने निवास स्थान पर पहुँचे तब दिन ढलने वाला था। अपने उत्साह में द्वार से ही कुन्ती को पुकारते हुए भीमसेन ने कहा, "माँ देखो तो... आज हम क्या लेकर आये हैं!"

कुन्ती के लिए यह प्रतिदिन जैसी ही पुकार थी। पाँचों पुत्र, दिन भर के बाद, जब भिक्षा लेकर लौटते थे तो अपने आगमन की सूचना कुछ इसी प्रकार देते थे। कुन्ती भी अभ्यस्त हो गयी थीं और नित्य प्रति यही कहती थीं, "बेटा, जो कुछ भी प्राप्त हुआ है उसका पाँचों भाई मिल-जुलकर उपभोग करो।"

और... उस क्षण भी, भीमसेन की पुकार सुनकर, भीतर गृह-कार्य में व्यस्त कुन्ती ने प्रतिदिन की भाँति ही कह दिया, "जो भी है... सब भाई मिल-बाँटकर उपभोग करो।"

सुनते ही अर्जुन तथा भीमसेन... दोनों ही अवाक् रह गये। दोनों की दृष्टि कृष्णा पर होते हुए एक-दूसरे की ओर उठकर टिकी रह गयी। 'यह क्या कह दिया माँ ने!'

कृष्णा भी उन दोनों के मुख पर उमड़ा विचित्र भाव देखकर आश्चर्य-चकित थीं। उनके कानों में जो कुछ पड़ा, वह कुछ समझ में आया, कुछ नहीं। इतने में कुन्ती वहाँ आयीं तो एक अपरिचित सुन्दरी को देखकर वे भी अवाक् खड़ी रह गयीं।

"पुत्र भीमसेन!" उन्होंने असमंजस में पूछा, "यह कन्या कौन है? और... और तुम दोनों ऐसे चिन्तित क्यों खड़े हो?"

"माताश्री..." भीमसेन ने उलझन भरी दृष्टि उठाते हुए धीरे से कहा, "यही तो वह है, जिसे आज हम लोग लेकर आये हैं।"

"और... और मैंने क्या कह दिया!" विस्मय जो कुन्ती के स्वर में ही नहीं, उनकी आँखों में भी तैर रहा था... उनके मुख पर पुत गया था।

"तुमने यह क्या कह दिया माँ?" अर्जुन ने सहमे-से स्वर में कहा।

"मैंने यह क्या कह दिया... मैं स्वयं नहीं जानती पुत्र!" कुन्ती ने अपराध-बोध में कहा, "किन्तु पहले यह बताओ कि यह सुन्दर बालिका है कौन? कहाँ से आयी है? देखने में तो राजकुमारी-जैसी लगती है।"

"राजकुमारी ही है माँ...." भीमसेन ने उमँगते हुए कहा, "यहाँ के राजा द्रुपद की पुत्री।"

"महाराज द्रुपद की पुत्री!" कुन्ती ने आश्चर्य में कहा, "और तुम्हारे साथ, पुत्र!"

"हाँ माताश्री... स्वयंवर में राजा द्रुपद ने जो शुल्क-बन्ध रखा था, उस पर कोई खरा नहीं उतरा, अनुज अर्जुन को छोड़ कर..." और भीमसेन ने वह सारी घटना माँ को बड़े उत्साह एवं उल्लास के साथ कह सुनायी।

तभी युधिष्ठिर ने नकुल तथा सहदेव के साथ पुष्प-मालाएँ लिये प्रवेश किया... और वे अपने अनुजों को कृष्णा-सहित देखकर बोले, "अरे तुम दोनों कहाँ रह गये थे... हम लोग तो पुष्प-मालाएँ लेने के लिए चले गये थे और लौटकर द्वार पर बड़ी देर तक तुम लोगों की राह देखते रहे। बाद में कोलाहल थमने के बाद हम लोगों ने पुनः भीतर जाकर तुम्हारे विषय में पूछा तो हमें ज्ञात हुआ कि तुम तीनों, महाराज से विदा लेकर, पीछे के द्वार से प्रस्थान कर चुके हो।"

कृष्णा ने भरपूर दृष्टि युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव पर डाली... स्वस्थ, सुन्दर, मृदुभाषी... उन्होंने अपनी दृष्टि झुका ली।

"और सुना तुमने माँ!" नकुल ने चहकते हुए कहा, "क्या चमत्कार किया भैया अर्जुन ने!"

"किन्तु तुम सब खड़े क्यों हो?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य में पूछा, "स्वागत करो माताश्री, गृह-लक्ष्मी का।"

"किस रूप में स्वागत करूँ पुत्र!" कुन्ती ने उससते स्वर में कहा, "मैंने तो स्वयं अपने को एक विचित्र महाजाल में डाल दिया।"

"जाल कैसा माँ...?" सहदेव ने आश्चर्य में पूछा, "पुत्र-वधू है तुम्हारी। भैया ने बताया नहीं तुम्हें?"

"सब बताया पुत्र!" कुन्ती ने निराश मुस्कान के साथ कहा, "बस, मैंने ही एक विचित्र आदेश दे दिया, वास्तविकता जानने के पूर्व ही।"

सबके मुख पर उलझन देखकर भीमसेन ने वह सारी घटना कह सुनायी। माँ द्वारा मिल-बाँटकर उपभोग करने का उल्लेख आते ही सभी भाइयों की दृष्टि अनजाने ही कृष्णा की ओर उठ गयी... सुन्दरी कृष्णा की ओर... और संयोग कि सभी ने उस सुन्दरी को मन्द-मुस्कान के साथ अपनी ओर ही देखते हुए पाया। वह विचित्र संयोग... विधाता द्वारा आरोपित वह क्षण, जिसकी प्रतीक्षा में सबकी दृष्टि से छिपकर, हाथ में फूलों के धनुष-बाण लिये, अनंग लक्ष्य-वेध की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं।

उन सात प्राणियों के बीच उपजे उस विचित्र मौन को तोड़ते हुए, कुन्ती ने ही कहा, "तुम बैठो तो पुत्री... यह कैसा संकट उत्पन्न कर दिया मैंने, कि तुम्हारा स्वागत तो दूर, तुम्हें घर में बैठाना भी भूल गयी।"

कृष्णा को स्नेहपूर्वक वक्ष से लगाते ही उन्होंने पुनः कहा, "वैसे तुम्हें बैठाऊँ भी तो कहाँ... अपना नाम-धाम भूले हुए निर्धन राजकुमारों की कुटिया है यह... उन राजकुमारों की जो अब, दैव-वश, एक कुम्भकार के अतिथि हैं।"

तभी द्वार पर आहट हुई... और मुस्कान बिखेरते हुए कृष्ण एवं बलराम ने कुटिया में प्रवेश किया। आते ही उन्होंने कुन्ती को चरण-स्पर्श करते हुए प्रणाम किया और कहा, "बुआ! मैं वासुदेव कृष्ण हूँ... और ये हैं भैया बलराम।"

कुन्ती उन्हें आशीर्वाद देती हुई आश्चर्य में पड़ गयीं... 'इसने कैसे पहचान लिया मुझे?' तभी कृष्ण ने झुककर युधिष्ठिर का भी चरण-स्पर्श किया। युधिष्ठिर भी अवाक् रह गये।

उनकी दृष्टि में उभरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कृष्ण ने स्वयं ही मधुर मुस्कान के साथ कहा, "इसमें आश्चर्य कैसा, भैया? मैं तो यहाँ आया था मात्र इस धनुर्धर से मिलकर इसे साधुवाद देने..." उनका संकेत अर्जुन की ओर था, "किन्तु आप सबको एक साथ देखकर और वहाँ दो भाइयों का पराक्रम देखकर, भला आप लोगों को पहचान लेना क्या कठिन है?"

"और कृष्णा..." सहसा कृष्ण ने मुस्कराते हुए मौन बैठी पांचाली की ओर देखकर कहा, "मैं हूँ कृष्ण... बस तनिक अन्तर है, मेरे और तुम्हारे नाम में।"

"कैसे हो वत्स?" कुन्ती ने आगे बढ़कर कृष्ण तथा बलराम को हृदय से लगाते हुए बैठाया और कुशल-क्षेम के प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

कुछ ही समय में कृष्ण ने, कुन्ती के प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर देते हुए, बलराम-सहित उन सबसे प्रणाम करके विदा ली... शीघ्र ही पुनः मिलने का आश्वासन देते हुए।

उधर अर्जुन तथा भीमसेन के साथ द्रौपदी को विदा करके धृष्टद्युम्न ने अपने दो गुप्तचर उनके पीछे भेजे थे... यह ज्ञात करने के लिए कि वे कहाँ जाते हैं। नगर के बाहर, कुम्भकार की कुटिया का पता पाकर धृष्टद्युम्न स्वयं गये और उन्होंने, छिपकर ही पाण्डवों की गतिविधियों का अध्ययन किया। कुछ देर बाद, कृष्ण तथा बलराम को वहाँ जाकर पाँच भाइयों में से एक के, तथा उनकी माँ प्रतीत होने वाली किसी महिला के, पाँव छूते देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ... और मस्तिष्क में उमड़ते तथा एक-दूसरे को काटते तर्कों ने उनकी भटकती जिज्ञासा को, सम्भावना के आधार पर, उन पाँच कुरु-वंशी राजकुमारों तक पहुँचा दिया... जो लोक-मान्यता के आधार पर कुछ वर्ष पूर्व लाक्षागृह में जलकर भस्म हो चुके थे।

अपने पुत्र से यह सूचना पाकर, राजा द्रुपद ने कुन्ती को, पाण्डवों तथा

कृष्णा-सहित, रात्रि-भोज के लिए आमन्त्रित किया। जहाँ उन्होंने पाण्डवों को बैठाया, वह कक्ष भाँति-भाँति की वस्तुओं से सज्जित था, कहीं वेद, शास्त्र, व्याकरण आदि के ग्रन्थ, चन्दन तथा आसन और कहीं ढाल, तलवार, धनुष, बाण, गदा आदि, तो कहीं हल, बीज, कृषि-यन्त्र तथा संगीत के वाद्य यन्त्र...

द्रुपद को यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि पाण्डव अस्त्र-शस्त्रों के सम्मुख विशेष रूप से रुके और वहाँ उन्होंने उन शस्त्रों के सम्बन्ध में परस्पर चर्चा की। शस्त्रों में उनकी विशेष रुचि देखकर द्रुपद को विश्वास हुआ कि वे क्षत्रिय ही हैं। तब द्रुपद ने स्पष्ट रूप से युधिष्ठिर से उनका तथा उनके भाइयों का परिचय पूछा। स्पष्ट पूछे जाने पर युधिष्ठिर के सम्मुख कोई विकल्प नहीं था। उन्होंने अपना वास्तविक परिचय दिया ...और यह भी बताया कि दुर्योधन के वैमनस्य तथा ज्येष्ठ पिता धृतराष्ट्र की विवशता के कारण वे सब कम-से-कम तब तक हस्तिनापुर नहीं लौटना चाहते, जब तक दुर्योधन स्वयं राजा न बन जाए।

यह जानकर द्रुपद अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "आज मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि मेरी पुत्री कुरुवंश की कुलवधू बन रही है। और सच पूछो तो मैं अपनी पुत्री के लिए तुम्हीं लोगों जैसा पराक्रमी परिवार चाहता था... उस दिन से ही, जब वर्षो पूर्व तुम लोगों ने मुझे युद्ध में परास्त करके बन्दी बनाया था।"

तभी महर्षि व्यास तथा कृष्ण वहाँ आ पहुँचे। द्रुपद ने उनका स्वागत किया तथा उन्हें कुन्ती तथा पाण्डवों से मिलवाया। व्यास जी, अलग कुन्ती से वार्तालाप कर रहे थे कि तभी कृष्ण ने अपने नटखट स्वर में द्रुपद से पूछा, "कन्या का विवाह कब कर रहे हैं, राजन्?"

द्रुपद ने तुरन्त ही मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "जब बहन कुन्ती आज्ञा दें... मैं तो बस उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

उनके उत्तर ने व्यास का ध्यान आकर्षित किया। वे कुन्ती से वार्तालाप बन्द करके द्रुपद से बोले, "किन्तु वत्स! पहले उनसे यह तो पूछ लो कि विवाह उनके किस पुत्र से करना है।"

द्रुपद ने विस्मित होते हुए पूछा, "क्यों महर्षि! इसमें क्या दुविधा है? स्वयंवर में लक्ष्यवेध अर्जुन ने किया... विवाह भी..."

"नहीं राजन्..." सहसा अर्जुन ने उन्हें टोकते हुए कहा, "दो अग्रजों के अविवाहित रहते, मैं विवाह कैसे कर सकता हूँ? यह तो परिदेवना होगी..."

"किन्तु..." द्रुपद असमंजस में पड़ गये।

"तुम्हारे किन्तु का उत्तर सम्भवतः स्वयं तुम्हारी पुत्री ही दे..." महर्षि व्यास ने हँसते हुए कहा और प्रश्न कृष्णा की ओर मोड़ दिया, "पुत्री पांचाली! अब तुम अपने मन की बात बताओ... विवाह से पूर्व कैसे पति की कामना की थी तुमने?

मन-ही-मन परमात्मा से कैसा पति माँगा था?"

कृष्णा ने प्रश्न सुनकर धीरे से दृष्टि उठाकर पंक्ति-बद्ध खड़े पाण्डवों की ओर देखा और संकोच में, उत्तर दिये बिना ही दृष्टि झुका ली।

"अब संकोच से काम नहीं चलेगा, कृष्णा!" कृष्ण ने अपनी चिर-परिचित नटखट शैली में कहा, "अपने भविष्य के विषय में निर्णय लेने का अधिकार तुम्हें भी है।"

"बोलो पुत्री!" व्यास ने पुनः कहा, "निःसंकोच कहो... कैसे पति की कल्पना की थी तुमने?"

"महाबली..." कृष्णा ने संकोच में धीरे-धीरे दृष्टि उठाते-झुकाते, कुछ अटकते हुए कहा, "स्वस्थ, सुन्दर... धर्मात्मा... और... और अद्वितीय योद्धा..."

"अरे इतना सब!" कृष्ण ने बड़ी नाटकीय भंगिमा में आश्चर्य प्रदर्शित करते हुए कहा, "अरे यही तो भूल कर बैठती हैं कन्याएँ... इतना सब एक व्यक्ति में भला कहाँ मिलेगा? कैसे मिलेगा?"

"तुम ठीक कहते हो वासुदेव!" महर्षि व्यास ने कृष्ण की ओर देखा, "किन्तु मुझे लगता है कि विधाता ने द्रौपदी की प्रार्थना सुन ली।"

"अर्थात्...!" कृष्ण ने पुनः नाटकीय आश्चर्य से पूछा।

"अर्थात् यह कि..." व्यास जी ने गम्भीर स्वर में कहा, "इस कन्या का विवाह इन पाँचो भाइयों से होना चाहिए।"

"यह... यह कैसे सम्भव है?" द्रुपद ने तुरन्त आश्चर्य में टोका।

"क्या यह न्यायोचित है? क्या यह धर्म-सम्मत है?" धृष्टद्युम्न ने चिन्तित स्वर में प्रश्न किया।

"अब इसे दैव-सम्मत ही मानो..." कहते हुए महर्षि व्यास, द्रुपद को संकेत द्वारा साथ लेकर एक ओर चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने कृष्णा के विषय में कुन्ती तथा उनके पुत्रों के बीच संयोगवश हुई घटना बतायी, "दैव-वश, अनजाने ही, इन पाँचों भाइयों के मन में तुम्हारी पुत्री के प्रति जो भावना उत्पन्न हो गयी, वह अपरिवर्तनीय है। कृष्णा भी उन पाँचो को संयोगवश जिस दृष्टि से देख चुकी है... उसे, एक घर में, एक साथ रहते हुए मेट पाना दुष्कर होगा। साथ ही, अर्जुन द्वारा उठाया हुआ परिदेवना का प्रश्न तो है ही... अब जो हुआ, उसे दैव का आदेश मानकर, संकोच त्यागो और पुत्री का विवाह पाँचों भाइयों से कर दो। मैंने कुन्ती से इस विषय पर चर्चा कर ली है...।"

अपनी पुत्री के मौन में भी, उसकी सहमति पाकर, द्रुपद ने कृष्णा का विवाह विधिवत् पाँचों पाण्डव भाइयों से कर दिया... और वे सुख-पूर्वक द्रुपद के राज्य में ही रहने लगे।

कुछ ही दिनों में यह समाचार सर्व-विदित हो गया कि कृष्णा के वे पाँच पति और कोई नहीं, पाण्डव ही हैं, जिन्हें यह मान लिया गया था कि वे लाक्षागृह के अग्नि-काण्ड में जलकर भस्म हो चुके हैं।

दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण आदि भी यह सुनकर अवाक् रह गये। शकुनि को सहसा विश्वास नहीं हुआ। दु:शासन ने कहा, "तब तो भाग्य को ही सर्वोपरि मानना होगा... प्रयत्न से तो कुछ मिलता ही नहीं।"

शकुनि ने कहा, "निराश न हो... अब कुछ और ही दाँव फेंकना होगा।"

"और कौन-सा दाँव, मामाश्री?" दुर्योधन ने हताश स्वर में कहा, "मैं अर्जुन को सामने देखकर भी पहचान कैसे नहीं पाया? अरे मैंने वहाँ पहचान लिया होता तो..." बोलते समय दुर्योधन के होंठ फड़फड़ा रहे थे और आँखें अंगारे उगल रही थीं।

शकुनि ने दुर्योधन को समझाते हुए कहा, "वत्स, संसार में अग्नि ही तो एक शस्त्र नहीं है... हमारे शस्त्रागार में और भी प्रबल प्रहार के साधन हैं, बस धैर्य रखो... मैं हूँ न!"

किन्तु अब कौन से शस्त्र का प्रयोग हो... वे सब सोच में पड़े थे। द्रुपद को उनके विरुद्ध भड़काकर उन्हें पांचाल से निकलवाने का प्रयास किया जाए? कुन्ती एवं माद्री के पुत्रों के बीच मन-मुटाव उत्पन्न करके पाण्डवों को निर्बल करने का उपाय हो...? अथवा अकेले भीमसेन को ही मारने की योजना बनायी जाए, जिससे पाण्डवों का बल आधा रह जाएगा। वे किसी ठोस निर्णय पर नहीं पहुँच पा रहे थे।

उधर, सुअवसर जानकर, विदुर ने पाण्डवों के जीवित होने तथा द्रुपद की पुत्री से विवाह करने का शुभ समाचार भीष्म, द्रोणाचार्य आदि को सुनाया। वे सब मिलकर धृतराष्ट्र के पास गये और उन्हें बधाई देते हुए, सब ने, एक स्वर में पाण्डु-पुत्रों को, कुन्ती तथा द्रौपदी-सहित, हस्तिनापुर में सादर बुलाने का अनुरोध किया।

धृतराष्ट्र ने उल्लसित स्वर में कहा, "यह तो परम आनन्द का समाचार है... विदुर! तुम शीघ्र ही जाओ और मेरे प्रिय अनुज-पुत्रों को, कुन्ती एवं कुलवधू-सहित आदरपूर्वक यहाँ लेकर आओ। सारे राज्य में आनन्दोत्सव का प्रबन्ध करो... जब वे सब यहाँ आयें तो सारा नगर, सारा राज-भवन, बन्दनवारों से सजा... मंगल वाद्यों से गूँजता... उनका स्वागत करता हुआ मिले।"

विदुर के प्रस्थान करते ही दुर्योधन ने दु:शासन, कर्ण एवं शकुनि-सहित आकर धृतराष्ट्र से क्रोधित स्वर में कहा, "आप उन सबको सम्मान-सहित बुला रहे हैं... जो निरन्तर मेरा अहित चाहते हैं! क्या आपको पता है कि वे, धूर्ततापूर्वक, मेरे सेवक पुरोचन को लाक्षागृह में जलाकर, अब तक छिपते फिर रहे थे?"

धृतराष्ट्र ने शान्त स्वर में उत्तर दिया, "पुत्र! भाग्य इस समय उनके पक्ष में है... वैसे भी प्रजा में कहीं-कहीं यह भ्रम है कि तुमने उन्हें जला डालने के लिए लाक्षागृह का षड्यन्त्र रचा था। धैर्य रखकर, शान्त रहते हुए, प्रेम-सहित, अपने भाइयों का स्वागत करो... तो प्रजा का संशय भी दूर होगा। और वैसे भी, वे तुम्हारे भाई हैं..."

"मुझे पता है पिताश्री आप क्या कहेंगे..." दुःशासन ने उन्हें बीच में ही टोका, "उनके साथ मिल-जुलकर रहो, इसी में हम सबका हित है।"

"किन्तु कैसे?" दुर्योधन बीच में ही खीझते हुए बोला, "जब कि आप जानते हैं कि वे मुझसे कितनी ईर्ष्या करते हैं... सदैव मेरा अहित चाहते हैं।"

"वत्स दुर्योधन..." शकुनि ने दुर्योधन को रोकते हुए कहा, "सुनो... अपने पिताश्री की बात सुनो। वे तुम्हारे हितैषी हैं। वे तुम्हारे साथ कभी अन्याय नहीं होने देंगे... शान्त रहकर समय की प्रतीक्षा तो करनी ही होती है... हर बुद्धिमान व्यक्ति अनुकूल समय की प्रतीक्षा करता है।"

पांचाल पहुँचकर महामन्त्री विदुर ने द्रुपद से भेंट की और पाण्डु-पुत्रों सहित कुन्ती तथा कृष्णा के लिए धृतराष्ट्र का निमन्त्रण सुनाया। कृष्ण भी वहाँ उपस्थित थे। द्रुपद, पाण्डवों के प्रति दुर्योधन आदि के दृष्टिकोण तथा लाक्षागृह की पृष्ठभूमि से परिचित होने के कारण, दुविधा में थे... किन्तु कृष्ण का स्पष्ट मत था कि उन लोगों को अपने पारम्परिक राज्य में निर्भय होकर जाना चाहिए। पारस्परिक विचार-विमर्श के बाद, पाण्डवों ने हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। कृष्ण भी पाण्डवों के साथ हस्तिनापुर गये।

हस्तिनापुर में उन सबका भव्य स्वागत हुआ। पाण्डवों ने भीष्म, धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि गुरुजनों के चरणों में प्रणाम करके उनका आशीर्वाद पाया। कुन्ती ने भी अश्रुपूरित नयनों से गुरुजनों का चरण-स्पर्श किया तथा अपने पारिवारिक गृह में लौटने का सुख पाया। उन सबको जीवित एवं राज्य में आया देख हस्तिनापुर की प्रजा भी प्रसन्न थी।

किन्तु दूसरे ही दिन, जब राजसभा में, सभी मन्त्रियों, नगर श्रेष्ठों एवं विद्वान वेदपाठियों के सम्मुख पाण्डु-पुत्रों का औपचारिक स्वागत करते हुए विदुर ने कहा, "यह बड़ी प्रसन्नता का अवसर है कि युवराज युधिष्ठिर..."

तो दुर्योधन ने क्रोध भरे ऊँचे स्वर में उन्हें टोकते हुए कहा, "काकाश्री! आप भूल रहे हैं कि इस राज्य के युवराज का नाम दुर्योधन है।"

राजसभा में सन्नाटा छा गया। विदुर को अपनी भूल का स्मरण हुआ। तीव्र गति

से घूमते घटनाक्रम में, तथा अपने उल्लास में, वे भूल ही गये थे कि इस बीच, उनके विरोध को नकारते हुए, धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को युवराज बना दिया था।

"किन्तु वत्स..." विदुर ने दुविधा में दुर्योधन से याचना भरे स्वर में कहा, "युधिष्ठिर का तो विधिवत् युवराज पद पर अभिषेक हुआ था... वह तुम्हारे युवराज बनने के पूर्व ही युवराज-पद प्राप्त कर चुका था। तुम्हें तो इस आधार पर युवराज बनाया गया था कि..."

"कि युवराज युधिष्ठिर का देहान्त हो चुका है..." दु:शासन ने उनकी बात काटते हुए कहा, "यही कहेंगे न आप?"

"हाँ, वत्स..." विदुर ने अपनी बात स्पष्ट की, "और अब, जब कि राज्य का युवराज लौट आया है तो..."

"लौट आया है तो वह यह भी जान ले कि इस बीच राज्य ने यह स्थान एक अन्य सुयोग्य व्यक्ति को दे दिया है..." कर्ण ने भी उनकी बात काटते हुए कहा, "वे स्वयं ही, अकारण, इतने समय तक राज्य से दूर रहे। क्यों रहे?"

"तुम चुप रहो कर्ण..." कृपाचार्य ने कर्ण को डपटते हुए कहा, "यह राज-परिवार की आन्तरिक समस्या है।"

"किसी दुर्घटना के कारण यदि युधिष्ठिर को कुछ समय वन में भटकना पड़ा..." विदुर ने पुन: तर्क का सूत्र पकड़ा, "इससे युवराज-पद पर उनका अधिकार समाप्त तो नहीं हो जाता।"

"किन्तु उनके लौट आने से वर्तमान युवराज का दावा भी समाप्त नहीं होता..." शकुनि ने बड़े नाटकीय ढंग से उनके तर्क का खण्डन किया, "माननीय महामन्त्री महोदय।"

एक अकल्पनीय स्थिति आ पड़ी थी। विदुर के मन मे तो बहुतेरे तर्क थे, किन्तु उनका नीति शास्त्र दुविधा में पड गया था। वास्तव में उनके शास्त्रीय तर्कों को नीति का वही आधारभूत सिद्धान्त मौन रहने पर विवश कर रहा था जो सत्य बोलते हुए भी अप्रिय सत्य से बचने का अनुरोध भी करता है।

"यह तो वास्तव में दुविधा की स्थिति है..." विदुर ने कहा, "इस स्थिति में तो स्वयं महाराज ही निर्णय लें कि अपने द्वारा मनोनीत युधिष्ठिर, तथा उनकी आकस्मिक अनुपस्थिति में युवराज बनाये गये दुर्योधन में... अब वे किसे युवराजपद पर अभिषिक्त करना चाहते हैं।"

प्रश्न धृतराष्ट्र की ओर आ मुड़ा था... वे इस स्थिति के लिए तैयार नहीं थे। वे जानते थे कि योग्यता एवं प्रजा की अभिरुचि के दृष्टिकोण से युधिष्ठिर को ही युवराज पद प्राप्त होना चाहिए... जिस कारण, उन्होंने पहले उन्हें वह पद प्रदान किया था। किन्तु बाद में, दुर्योधन के रोष एवं हठ के कारण, और फिर युधिष्ठिर की मृत्यु

का समाचार पाकर, उन्होंने दुर्योधन को युवराज घोषित कर दिया। किन्तु अब... उन दोनों की ही उपस्थिति में, वे करें तो क्या करें!

इस विषम स्थिति से उबरने के लिए उन्हें मन्त्रणा की आवश्यकता थी... उन्होंने निर्णय के लिए समय माँगते हुए सभा भंग कर दी।

किन्तु समय सारे निर्णय स्वंयं नहीं लेता। कभी-कभी निर्णय की अनिवार्यता रेखांकित करते हुए विवश भी करने लगता है... सिर पर सवार हो जाता है अथवा उद्दण्डतापूर्वक सामने आकर तन जाता है। धृतराष्ट्र ने विवश होकर इस विषय मे विचार-विमर्श के लिए भीष्म, विदुर, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य को आमन्त्रित किया।

सभी, एक मत से, पात्रता तथा आयु की दृष्टि से युधिष्ठिर के पक्ष में थे... किन्तु दुर्योधन का क्या हो, जिसे युवराज-पद प्रदान किया जा चुका था! इस प्रश्न पर वे सभी निरुत्तर हो जाते थे। हारकर भीष्म ने धृतराष्ट्र से अनुरोध किया कि वे प्रेम सहित अपने पुत्र को समझाएँ कि राज्य, कुल एवं धर्म के हित में वह स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक अपने इस अधिकार से राज्य को मुक्त कर दे। विदुर, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्य, तीनो ही इस प्रस्ताव से सहमत थे। किन्तु धृतराष्ट्र अपने पुत्र को जानते थे . और उससे भी बढ़कर वे अपने पुत्र-प्रेम से परिचित थे। वे अनुज-पुत्रों के प्रति अन्याय न करना चाहते हुए भी, अपने पुत्र के हठ के आगे विवश हो जाते थे।

"मैं उसे आज्ञा दूँ तो..." धृतराष्ट्र ने सोचते हुए कहा, यद्यपि वे जानते थे कि जो वे कह रहे हैं, वह असम्भव ही है, "सम्भवतः वह मान जाए। किन्तु मैं जानता हूँ कि एक बार वह यह अवश्य कहेगा कि 'आप भैया युधिष्ठिर को क्यों नही समझाते?' तब मैं क्या उत्तर दूँगा?"

"उत्तर तो बस यही हो सकता है कि..." विदुर ने विनम्र रहते हुए कहा, "कि वह ज्येष्ठ है, सुपात्र है और धर्माचारी है।"

"और दुर्योधन कहता है कि वह हस्तिनापुर के शासक का पुत्र है..." धृतराष्ट्र ने कहा।

"शासक का पुत्र तो वास्तव में युधिष्ठिर ही है, महाराज!"

"यह 'वास्तव में' का क्या अर्थ विदुर?" धृतराष्ट्र कुछ क्रोधित होते हुए बोले, "मुझे महाराज भी कहते हो और मेरे राजपद पर प्रश्न-चिह्न भी लगाते रहते हो। तुम्हारा नीति-शास्त्र सदा-सर्वदा मेरे विरोध में क्यों रहता है?"

"वास्तव में इसलिए महाराज... कि..."

"हाँ-हाँ, ज्ञात है मुझे..." धृतराष्ट्र उसी आवेश में बोले, "कि मैं तो बस महाराज पाण्डु के अवकाश-काल में, राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित, उनकी धरोहर का रक्षक, युवराज मात्र हूँ। तो क्यों नहीं किया था मेरा विधिवत् राज-तिलक... पाण्डु की मृत्यु की वास्तविकता प्रकट हो जाने पर भी? क्या इसके पीछे भी कोई षड्यन्त्र था...? किसका षड्यन्त्र था? क्या मैं जीवन भर पाण्डु की धरोहर का रक्षक ही बना रहूँगा?

उस पाण्डु की, जो तीन-दशक पूर्व ही दिवंगत हो चुका।"

धृतराष्ट्र का प्रलाप तो थमा... किन्तु उनके होठ काँपते रहे और उनके नेत्र-कोटरों में मांस-पेशियाँ उछल-उछलकर उनके क्रोध का प्रदर्शन करती रहीं।

कुछ देर बाद मौन भंग करते हुए भीष्म ने गम्भीर स्वर में कहा, "मुझे विश्वास है, यदि मैं युधिष्ठिर से युवराज-पद त्यागने को कहूँ, तो वह बिना किसी प्रश्न के मेरा परामर्श स्वीकार कर लेगा... किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा, क्योंकि मेरी दृष्टि में वह, दुर्योधन की अपेक्षा, अधिक सुयोग्य पात्र है। किन्तु महाराज धृतराष्ट्र का निश्चित मत है कि दुर्योधन को इस कार्य के लिए मनाया नहीं जा सकता... और स्वयं महाराज धृतराष्ट्र भी उसके दावे की शक्ति से सहमत लगते हैं, तब तो... मात्र एक मार्ग बचता है..."

"वह क्या?" कृपाचार्य ने जिज्ञासा की।

"वह यह, कि दोनों ही युवराज बने रहें..." भीष्म ने अत्यन्त गम्भीर स्वर में कहा।

"यह कैसे हो सकता है, तातश्री?" विदुर ने विस्मय में पूछा, "एक राज्य के दो युवराज!"

"वह ऐसे कि..." भीष्म ने अपने छलकते अश्रुओं को पलकों में ही समेटते हुए, आकाश की ओर शून्य में देखकर कहा, "कि राज्य का विभाजन हो जाए।"

अपना वाक्य समाप्त करते-करते वे उठे और चुपचाप शीघ्र पग धरते हुए कक्ष के बाहर चले गये। उनके पीछे गहरा सन्नाटा छूट गया था।

राज्य के विभाजन की बात तो किसी ने भी नहीं सोची थी... कोई राजकुल का हितैषी राज्य के विभाजन की बात सोच भी कैसे सकता है! और फिर महात्मा भीष्म जैसा कुल ज्येष्ठ, जिसने आजीवन हस्तिनापुर की रक्षा का प्रण लिया है!

धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य एवं द्रोणाचार्य... सभी बड़ी देर तक मौन बैठे रहे, राज्य विभाजन के विचार से आतंकित.. किन्तु विकल्प की दृष्टि से निरुत्तर।

वह मौन धृतराष्ट्र ने ही तोड़ा, "तो क्या निर्णय लिया आप लोगों ने?"

प्रश्न सुनकर उन तीनों ने एक-दूसरे पर विवश दृष्टि डाली... और फिर हारकर विदुर ने कहा, "महाराज, हम लोग किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने मे असमर्थ हैं।"

"अर्थात्!" धृतराष्ट्र के स्वर में प्रश्न भी था... और सम्भवतः व्यंग्य भी।

"अर्थात् यह महाराज..." द्रोणाचार्य ने विनम्रतापूर्वक गम्भीर स्वर में कहा, "कि जो हमें उचित प्रतीत होता है, यदि आप उसके परिपालन मे असमर्थ हैं... तो हम मौन रहने के लिए विवश हैं।"

"तो कहिए न आप सब..." धृतराष्ट्र का स्वर फिर ऊँचा हो गया, "कि मैं राज्य का सम्राट नहीं हूँ... कि दुर्योधन हस्तिनापुर का ज्येष्ठ राजकुमार नहीं है... कि वह भी अन्धे पिता का दुर्भाग्य झेलने के लिए विवश है, शापित है..." उनके प्रलाप के

बाद वह कक्ष सहसा उत्पन्न हुए सन्नाटे से साँय-साँय करने लगा।

कुछ ही क्षणों में विदुर, द्रोणाचार्य तथा कृपाचार्य ने एक-दूसरे की ओर देखकर आँखों-ही-आँखों में एक निर्णय लिया... और उस क्रूर मौन को भंग करते हुए कृपाचार्य ने कहा, "महाराज! इस विषय में आप स्वयं ही निर्णय लें।"

और वे तीनों, धृतराष्ट्र को प्रणाम करके चले गये।

दो दिन के सोच-विचार के पश्चात्, भरी सभा में, सबके सम्मुख धृतराष्ट्र ने कहा, "मेरे लिए यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि मेरे अनुज पाण्डु के पुत्र, लाक्षागृह की आकस्मिक दुर्घटना से बचकर, सकुशल हस्तिनापुर लौट आये। वे सब मुझे अपने पुत्रों के समान ही प्रिय हैं...

"किन्तु भाग्य ने मुझे एक ऐसी दुविधा में डाल दिया है जिसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। युवराज युधिष्ठिर की दीर्घकालीन अनुपस्थिति ने हम सबके मन में इस आशंका की पुष्टि की थी कि लाक्षागृह की दुर्घटना ने उन्हें हम सब से छीन लिया... इसी भ्रम में, हम लोगों ने उनकी अन्त्येष्टि भी की थी। वह मेरे लिए ऐसा दु:खद कर्तव्य था जो करने के लिए विधाता कभी किसी पिता को विवश न करे। उसी समय सबने सर्वसम्मति से, दुर्योधन को युवराज-पद प्रदान करने का अनुमोदन किया था।

"अब स्थिति यह उत्पन्न हो गयी है कि राज्य में दो युवराज हैं.. जिससे किसी को भी अकारण अपदस्थ नहीं किया जा सकता। यह स्थिति भाइयों के बीच दीवार खड़ी कर सकती है... उनके बीच वैमनस्य का बीज बो सकती है... जो न कुल के हित में होगा, और न राज्य के हित में। अत: तात भीष्म के परामर्श पर मुझे यह निर्णय लेने के लिए विवश होना पड़ रहा है, कि राज्य को दो भागों में विभाजित कर दिया जाए।"

उनका निर्णय सुनकर राजसभा में सन्नाटा छा गया। तभी धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहा, "पुत्र युधिष्ठिर, तुम राज्य के खाण्डवप्रस्थ क्षेत्र को लेकर वहीं अपना राज्य स्थापित करो... हस्तिनापुर के शेष भाग में दुर्योधन युवराज बनकर मेरे साथ रहेगा। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार तुम दोनों को ही न्याय मिल सकता है। मुझे विश्वास है... कि तुम्हारे चारों अनुज समर्थ हैं... वहाँ तुम्हें कोई भय नहीं होगा।"

युधिष्ठिर ने चुपचाप उठकर मौन एवं गम्भीर मुद्रा में बैठे पितामह भीष्म की ओर देखा और उधर से कोई संकेत न पाकर, धृतराष्ट्र की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर कहा, "जो आज्ञा, ज्येष्ठ पिताश्री..."

निर्माण

पाण्डवों को नयी भूमि पर स्थापित करने के लिए उनके साथ महात्मा व्यास थे... और थे कृष्ण एवं बलराम।

उनके सामने अनगढ़ भूमि थी... दूर दूर तक पसरी हुई। कहीं पथरीला क्षेत्र और चट्टानें, कहीं झाड़ियों से भरे वन, कहीं बिन-बोयी सपाट भूमि और कहीं ऊबड़-खाबड धरा, टीलों एवं गड्ढों से भरी हुई। किन्तु पाण्डवों के पास महर्षि व्यास के स्नेहमय आशीर्वाद और कृष्ण तथा बलराम के प्रोत्साहन एवं सहयोग के साथ ही स्वयं अपना दृढ आत्म-विश्वास भी था।

वहाँ पहुँचकर पाँव जमाने के लिए पाण्डवों ने कुछ अस्थायी पर्णशालाएँ बनवायीं और शीघ्र ही एक राजोचित भवन निर्माण करने की योजना पर विचार प्रारम्भ किया। महर्षि व्यास ने अन्य ऋषियों मे परामर्श करके, शुभ मुहूर्त में धरती नाप कर, शास्त्र विधि के अनुसार राजभवन के लिए नींव डलवायी। कुछ ही माह मे, एक सुविधाओं से सम्पन्न राजसी भवन बनकर तैयार हुआ।

नगर में बड़े-बड़े उद्यान तथा उपवन बनाये गये। फल-फूलों से लदे हुए वृक्ष लगाये गये... जिन पर भाँति-भाँति के पक्षी आकर उस क्षेत्र की शोभा बढ़ाने लगे।

कुछ भवनों के निर्माण कार्य तथा प्रारम्भिक व्यवस्था पूर्ण होते ही, कृष्ण एवं बलराम वहाँ पधारे और राज्य की विधिवत् स्थापना करते हुए, उन्होंने पाण्डवों के उस राज्य को इन्द्रप्रस्थ नाम दिया। विदुर की उपस्थिति में महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ के शासक के रूप में राज-तिलक किया। भीमसेन युवराज बने तथा अर्जुन सेनापति के पद पर नियुक्त हुए। नकुल तथा सहदेव को प्रशासन एवं वित्त सम्बन्धी व्यवस्था सौंपी गयी।

सुन्दर व्यवस्था से राज्य की दिन-प्रतिदिन उन्नति होने लगी... दूर-दूर से ऋषिगण, शिल्पी, व्यापारी आदि सुरक्षा एव उन्नति की अभिलाषा लेकर इन्द्रप्रस्थ में बसने लगे।

पाण्डवों के राज्य को सुचारु रूप से स्थापित देखकर, कृष्ण एवं बलराम ने उनकी अनुमति लेकर अपने धाम, द्वारका के लिए प्रस्थान किया।

इस अवधि में कृष्ण का सभी पाण्डवों के साथ बड़ा ही सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया... विशेष रूप से, अर्जुन से उनकी प्रगाढ़ मैत्री हो गयी। उधर बलराम एव भीमसेन के बीच स्नेहपूर्ण सम्बन्ध के साथ ही गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित

हो गया। बलराम ने भीमसेन को गदा-युद्ध के विशेष दाँव पेंच सिखाये और उन्हें नियमित अभ्यास कराया। चलते समय कृष्ण ने सभी पाण्डवों को, और विशेष रूप से अर्जुन को, द्वारका आने का निमन्त्रण दिया।

राज्य की व्यवस्था सन्तोषजनक रूप से सुदृढ़ हो जाने के बाद महाराज युधिष्ठिर ने, भारत के अन्य राज्यों से सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से, अर्जुन को दीर्घकालीन यात्रा पर भेजा... अर्जुन को यात्रा पर भेजने के कुछ पारिवारिक कारण भी थे, किन्तु मुख्य रूप से पाण्डवों के मन में जो राजसूय यज्ञ करने की योजना थी, उसके लिए भी इन्द्रप्रस्थ से कोई उपयुक्त दूत भेजना आवश्यक था। अर्जुन के साथ राज्य के अनेक मन्त्री, धर्मज्ञ गुरुजन एवं अनेक अन्य नागरिक भी गये। इस राजकार्य के साथ ही अर्जुन ने देश दर्शन तथा तीर्थाटन का लाभ भी प्राप्त किया। उन्होंने अनेक वनों, सरोवरों, सरिताओं, सागरों, तीर्थों आदि के दर्शन किये। स्थान-स्थान पर रुककर धर्म-चर्चाएँ तथा भगवद्-कथाएँ भी होती रहती थीं। बीच बीच में उनके कुछ सहायक इन्द्रप्रस्थ लौट जाते थे... और कुछ अन्य राज्य का नवीनतम समाचार लेकर, तथा महाराज युधिष्ठिर के आदेश के साथ, आते रहते थे।

कुछ समय हरिद्वार में बिताकर अर्जुन हिमालय की तराई मे पहुँचे और अगस्त्यवट, वसिष्ठपर्वत, भृगुतुंग आदि पुण्यतीर्थों में स्नान करते हुए ऋषियों मुनियो के दर्शन का लाभ प्राप्त करने लगे। फिर वे महेन्द्रपर्वत होते हुए लौटे और सागरतट पर पहुँचकर उसके किनारे चलते हुए मणिपुर पहुँचे और वहाँ रहते हुए ही वे अगस्त्य तीर्थ, सौभद्रतीर्थ, पौलोमतीर्थ, कारन्धमतीर्थ, और भरद्वाजतीर्थ भी हो आये।

पूर्वोत्तर राज्यों की यात्रा से लौटकर वे देश के दक्षिणी भाग में स्थित प्रमुख राज्यों में गये और, साथ ही, दक्षिण सागर के तटवर्ती तीर्थों का दर्शन करके पश्चिमी सागर के तट पर चलते हुए उत्तर की ओर बढ़े। जब वे प्रभास क्षेत्र में थे, तभी कृष्ण को उनके आने का समाचार मिला। कृष्ण बड़ी उत्कण्ठा एवं हर्ष के साथ अपने प्रिय मित्र अर्जुन से मिलने तथा उन्हें अपने साथ द्वारका ले जाने के लिए प्रभासक्षेत्र जा पहुँचे। दोनों मित्र मिले और बड़ी देर तक सारा यात्रा समाचार सुनते सुनाते रहे।

द्वारका में यदुवंशियों ने बडे उत्साह के साथ अर्जुन का स्वागत सत्कार किया... और वहाँ वे कृष्ण के व्यक्तिगत भवन में ठहरे। दोनों में बड़ी घनिष्ठ बाते हुईं... सभी प्रसंगों पर अन्तरंग वार्तालाप होता रहा – व्यक्तिगत, राजनीतिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक। जहाँ अर्जुन कृष्ण की बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित थे, वहीं कृष्ण को हृदय की गहराई तक प्रभावित किया था अर्जुन के पराक्रम एवं उनके शस्त्र ज्ञान ने।

"तुम तो संसार की असाधारण उपलब्धि हो मित्र अर्जुन!" कृष्ण ने एक बार उनके एक संग्राम का विवरण सुनते हुए कहा, "एक श्रेष्ठ योद्धा... नरों में रत्न..."

"तो तुम्हें क्या कहूँ मित्र...!" अर्जुन ने श्रद्धाभाव मे अंजलि बाँधते हुए उल्लमित स्वर में कहा, "मेरे पास तो शब्द ही नहीं हैं। तुम्हारे विषय में जितना कुछ सुना था, वह सब, तुम्हारे साथ रहकर, तुमसे संवाद करके... लगता है कि मैं कुछ भी तो नहीं हूँ तुम्हारे व्यक्तित्व के सामने। यदि मुझे किसी भी योग्य ममझते हो, तो मुझे अपना शिष्य बना लो, मुझे जीवन के कठिन क्षणों में राह दिखाते रहना... मेरा मार्ग-दर्शन करते रहना... नारायण!"

कृष्ण ने अर्जुन के बँधे हुए हाथ अपनी उष्ण हथेलियों के बीच ममेटते हुए माथे मे लगाये और खींचकर उन्हें अपने हृदय से लगा लिया।

उन दोनों का स्नेह दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था...

कुछ ही समय बाद वृष्णि, भोज एवं अन्धक वंशों के यादवों ने, रैवतक पर्वत पर, एक भव्य उत्सव का आयोजन किया। अक्रूर, सारण, गद, वभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्णु, पृथु, विपृथु, सात्यक, सात्यकि, हार्दिक्य, उद्धव, बलराम आदि अनेक यदुवशी वीर, सज धजकर, अपनी पत्नियों के साथ आये हुए थे। अनेक यदुवंशी युवक युवतियाँ भी उत्सव के रगा रंग कार्यक्रमों का आनन्द उठाते हुए इधर-उधर घूम रहे थे। दर्शकों की भीड़ के बीच कहीं संगीत के कार्यक्रम थे तो कहीं नृत्य, नटकर्म अथवा नाटक आदि के...

कृष्ण भी अर्जुन के हाथो में हाथ डाले उत्सव की शोभा देख रहे थे। तभी कृष्ण को सहसा लगा कि अर्जुन उनकी बात नहीं सुन पाये। उन्होंने अर्जुन की ओर देखा तो पाया उनकी दृष्टि कुछ ही दूर पर, सखियों के बीच बातों में व्यस्त एक कन्या पर टिकी हुई है। दूसरे ही क्षण, सहमा उस कन्या की दृष्टि अर्जुन पर पड़ी... और वह भी उन्हें देखती रह गयी। दो क्षण रहे हों... अथवा अधिक, उन दोनों की दृष्टि एक दूसरे में ऐसी उलझी, जैसे उम उत्सव में उन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई भी न हो।

जाने कब, उस कन्या ने कृष्ण को देखा . और सहसा लजाते हुए अपनी दृष्टि झुका कर, बिना अपनी सखियों से कुछ कहे, वह चुपचाप एक ओर चली गयी। अर्जुन ने, जैमे स्वप्न से जागते हुए, कृष्ण की ओर दृष्टि घुमायी तो उनके अधरों पर एक विचित्र मुस्कान देखी... जिसका अर्थ वे कई दिन तक समझने का प्रयास करते रहे।

"कुछ कहा तुमने... मित्र?" सहसा अर्जुन ने पूछा।

"जो कहा वह तो तुमने सुना नहीं .." कृष्ण ने मुस्कराकर रहस्य पर एक और

पट डालते हुए पूछा, "अब यह बताओ कि कहाँ खो गये थे?"

"कहीं नहीं..." अर्जुन ने झेंपते हुए कहा।

"यह तो सत्य नहीं है, मित्र!" कृष्ण ने अपनी मुस्कान को एक और अनबूझा अर्थ देते हुए कहा।

"जब जानते-बूझते कोई अनजान बने..." इस बार एक सलज्ज मुस्कान अर्जुन के अधरों पर भी आ गयी थी, "तो कभी-कभी असत्य का आश्रय लेना पड़ता है।"

"मित्रों के बीच रणनीति क्या उचित है?"

"रणनीति नहीं... मैं तो नेह-नीति में बँधा हूँ?"

"कहाँ-कहाँ बँधोगे? और कितना बँधोगे मित्र..." कृष्ण ने गम्भीर होते हुए कहा, "बँधने की भी तो एक सीमा होती है।"

उत्सव से लौटने के बाद कृष्ण ने अर्जुन को असामान्य रूप से गम्भीर पाया। वे स्वयं भी गम्भीर हो चले थे... अर्जुन की उलझी हुई नेह-दृष्टि देखने के बाद से ही कृष्ण वह गम्भीरता, चिन्ता का रूप लेती चली जा रही थी।

अर्जुन, उनकी दृष्टि में, वास्तव में ही एक पुरुष-रत्न थे... क्षत्रियों के सिर मौर, किन्तु वे अपने यदुवंशियों की मानसिकता से भी भली भाँति परिचित थे। और अर्जुन पहले से ही विवाहित भी थे.. उनकी सखी-तुल्य कृष्णा के साथ। व्यावहारिक वास्तविकता यह भी थी कि अर्जुन तथा उस कन्या की आयु में बहुत अन्तर था। अर्जुन की आयु सम्भवत: उससे दुगुनी होगी ही। यह प्रसंग क्या रूप लेगा। अर्जुन की दृष्टि कितनी गम्भीर रही होगी? यदि गम्भीर नहीं थी तो क्या उन्हें अर्जुन के प्रति अपने आकलन में संशोधन करना होगा? और यदि गम्भीर थी तो उसकी यह नेह-नीति क्या रूप लेगी...? उसका भविष्य क्या होगा?

उधर अर्जुन के मन में भी भारी उथल-पुथल चल रही थी। सम्भवत: वैसी ही, जैसी उलूपी के मन में हुई हो... उन्हें देखकर! अथवा वैसी ही जैसी कि स्वयं उनके मन में हुई थी... लगभग दो वर्ष पूर्व, चित्रांगदा को देखकर...! "यह मन, यह विक्षिप्त मन, क्यों इतना भटकाता है? कभी शान्त होकर जीने क्यों नहीं देता? सौन्दर्य के प्रति क्यों आकर्षित हो जाता है... बारम्बार!"

कृष्ण तथा अर्जुन सूर्य की नयी किरणों के साथ पुन: मिले। किन्तु उनके संवाद की आन्तरिकता पर गम्भीरता का झीना आवरण आ पड़ा था... जो उन दोनों को ही अकारण असहज बना रहा था।

"तुम्हें नहीं लगता मित्र!" कृष्ण ने सहसा गम्भीर दृष्टि से अर्जुन की आँखों मे देखते हुए कहा, "कि कुछ है, जो हमारे बीच आ रहा है..."

"नहीं तो..." अर्जुन ने तुरन्त ही उत्तर दिया। किन्तु दूसरे ही क्षण उनकी दृष्टि झुक गयी और स्वर में असहज गम्भीरता आ गयी, "नहीं... सच पूछो तो है... कुछ है।"

"क्या...?" कृष्ण ने सपाट स्वर में पूछा, और दूसरे ही क्षण उनके होठों पर ही नहीं आँखों में भी एक नटखट मुस्कान उभर आयी, "वही तो नहीं, जो मैं सोच रहा हूँ!"

"मित्रों के बीच, जानते-बूझते हुए अनजान बनना उचित नहीं है," अर्जुन ने सलज्ज मुस्कान के साथ कहा।

"तो क्या मित्र से मन की बात छिपाना उचित है?"

"मन की बात..." अर्जुन फिर गम्भीर हो उठे, "मन की भली कही, मन तो कारण-अकारण भटकाता ही रहता है। उसकी हर बात बताने चलूँ तो और कुछ कहने-सुनने को रह ही क्या जाएगा!"

दो क्षण मौन रहकर कृष्ण ने पूछा, "अच्छा, यह बताओ अर्जुन, तुम्हारी वह नेह-दृष्टि कितनी गम्भीर थी?"

"पता नहीं..." अर्जुन ने गम्भीर होकर कहीं शून्य में निहारते हुए कहा, "किन्तु सम्भवतः पहले कभी इतनी गम्भीर नहीं हुई थी।"

कृष्ण मुस्कराकर मौन रह गये।

"कौन थी वह?" अर्जुन के व्यग्र स्वर ने ही वह मौन भंग किया, "तुम उसे जानते हो मित्र!"

"यह पूछो..." कृष्ण ने गम्भीर स्वर में ही मुस्कराते हुए कहा, "कि उसे यहाँ कौन नहीं जानता!"

"यह नहीं पूछूँगा..." अर्जुन ने कहा, "मैं जानता हूँ, वह सुन्दर है... अत्यन्त सुन्दर। उसे सभी जानते होंगे। जानते ही नहीं, उसे पाने का स्वप्न भी देखते रहते होंगे।"

"लगता है वह स्वप्न तुम भी देख रहे हो अर्जुन!" कृष्ण ने मन्द मुस्कान के साथ अर्जुन की आँखों में दृष्टि गड़ा दी।

"कैसे?"

"तुम्हारे नेत्र बता रहे हैं।"

"पता नहीं..." अर्जुन ने सहज दृष्टि से उनकी ओर देखकर गम्भीर रहते हुए कहा, "सम्भवतः यह भी सच हो। किन्तु क्या मेरे नेत्र मेरे मन में चल रहे द्वन्द्व के विषय में कुछ नहीं कह रहे हैं।"

"मैं उतना समर्थ पारखी नहीं हूँ अर्जुन..." कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "किन्तु हाँ, कुछ तो है ही जो तुम्हें उतावलेपन से रोक रहा है। यह संकोच मित्रता के बीच उठती हुई कोई भीत तो नहीं!"

"नहीं... ऐसी कोई सम्भावना नहीं..." अर्जुन ने ''न्त ही कहा, "हमारे बाच न कोई भीत है, और न कभी होगी। तुम्हें तो ज्ञात ही है कि मैं तुम्हें मित्र से कहीं बढ़कर गुरु एवं रक्षक के रूप में देखता हूँ!"

"तब?" कृष्ण के नेत्र भी प्रश्नचिह्न बने हुए थे।

"मैं..." अर्जुन ने उपयुक्त शब्द ढूँढ़ने के लिए विराम लिया, "मैं कृष्णा से दूर रहने की इस अवधि में दो बार पहले भी सौन्दर्य के मायाजाल में घिर चुका हूँ... सोच में पड़ा हूँ कि क्या वह मेरे लिए उचित था! और अब, एक बार फिर, क्या सौन्दर्य का निमन्त्रण स्वीकार करने का मुझे नैतिक अधिकार है?"

कृष्ण की जिज्ञासा पर अर्जुन ने हरिद्वार में उलूपी के विक्षिप्त प्रेम-निवेदन के आधार पर उसके साथ जो समय बिताया था, वह घटना कह सुनायी। और फिर बताया मणिपुरनरेश चित्रवाहन की पुत्री चित्रांगदा के साथ विवाह के विषय में... जिसके द्वारा उत्पन्न पुत्र बभ्रुवाहन को वे, मणिपुरनरेश के अनुरोध पर उनका उत्तराधिकारी बनाकर, वहीं छोड़ आये थे...

सुनकर कृष्ण कुछ गम्भीर बने मौन बैठे रहे। फिर उन्होंने कहा, "तुम्हारा अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक है अर्जुन... किन्तु उन कन्याओं के अनुरोध एवं उनकी स्वीकृति से होने के कारण तुम्हें उन सम्बन्धों के विषय में कोई आत्म ग्लानि नहीं होनी चाहिए। और अब रही इस कन्या की बात, तो उसकी स्वीकृति के बिना... उसका मन जाने बिना मेरे लिए इस विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है।"

"उसका मन जानने का अवसर ही कहाँ मिला..." अर्जुन ने विवश मुस्कान के साथ कहा, "वह तो देखते ही लजाकर चली गयी। ऐसे सम्मिलन-उत्सव नित्य प्रति तो नहीं होते। और यदि मेरे यहाँ रहते ऐसा उत्सव पुनः हो भी जाए, तो कौन जाने वह आएगी ही!"

"उसके मन की थाह लेना मुझ पर छोड़ दो...," कृष्ण ने कहा, "किन्तु यदि उसके मन में भी तुम्हारे प्रति ऐसा ही अनुराग मुझे न मिला... तो, बिना मन को क्लेश दिये, उसे भूलने के लिए भी तैयार रहना।"

कृष्ण ने सुभद्रा की उस प्रथम दृष्टि में ही कुछ पढ़ लिया था . फिर भी, अर्जुन के मन की बात बताकर तथा उनके विवाह के साथ ही, इस राज-सम्पर्क यात्रा के सात वर्षों में, उलूपी एवं चित्रांगदा के विषय में बताते हुए सुभद्रा के मन का यथार्थ भाव जानना भी उनके लिए आवश्यक था।

सुभद्रा अर्जुन के विषय में अपने दोनों अग्रजों से पहले ही बहुत कुछ सुन चुकी थी। सुन-सुनकर उसके किशोर मन में कभी कुछ झंकृत होता था तो कभी दिवा-स्वप्नों का कोई नया संसार आकार लेने लगता था। उस दिन जब अग्रज कृष्ण के साथ उसने अर्जुन को देखा तो सहसा उसे लगा कि उसके स्वप्नों के आकाश पर कुछ दिवाकर और उग आये हैं।

कृष्ण ने सुभद्रा से स्पष्ट बात की... और, प्रारम्भ में स्वाभाविक लज्जा के पश्चात्, अग्रज से अभय पाकर और उनका वास्तविक मन्तव्य समझ कर, सुभद्रा ने अपने मन की बात उन्हें बता दी... किन्तु उसका एक स्पष्ट मत था। वह अर्जुन से किसी भी प्रकार का अस्थाई सम्बन्ध नहीं, विधिवत् विवाह ही चाहती थी... और वह भी तब, जब समस्त पाण्डव परिवार उसे कुलवधू के रूप में स्वीकार करे।

कृष्ण ने अर्जुन को सुभद्रा की स्वीकृति के साथ ही उसका शुल्क-बन्ध भी बता दिया। अर्जुन को उस कन्या के विचार में गम्भीरता एवं सच्चरित्रता का आभास पाकर हर्ष तो हुआ... किन्तु पाण्डव-परिवार की अनुमति! और यदि वे भैया युधिष्ठिर आदि को मना भी लें तब भी क्या वह विवाह सम्भव हो पाएगा?

"किन्तु उस कन्या के परिवार वाले...?" अर्जुन ने शंका उठायी।

"कोई नहीं मानेगा..." कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा।

"तब...?" प्रश्न अर्जुन की आँखों से भी झाँकने लगा।

"हाँ, उसका एक अग्रज इस सम्बन्ध के पक्ष में है..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा।

"कौन..." अर्जुन ने सशंकित स्वर में पूछा, "क्या तुमने उससे भी चर्चा की?"

"उससे और किसी चर्चा की आवश्यकता नहीं, अर्जुन!" कृष्ण ने एक रहस्यमय विराम के पश्चात्, मुस्कराते हुए कहा, "क्योंकि वह अग्रज... स्वयं मैं ही हूँ।"

अर्जुन को वह रहस्य आत्मसात करने में कुछ क्षण लगे। वे हर्ष एवं विस्मय में डूबे बड़ी व्यग्रता के साथ बोले, "अरे तुम...! वह तुम्हारी अनुजा है? फिर वही .. मित्रों के बीच रहस्य की भीत!"

"भीत हम दोनों के बीच नहीं..." कृष्ण ने धीमे, रहस्यमय स्वर में कहा, "भीत तो मुझे उठानी है स्वयं अपने तथा अपने अग्रज एव यदुवंशी समाज के बीच।"

"वह क्यों?" अर्जुन का उत्साह सहसा शिथिल पड़ गया।

"वह इसलिए कि उनमें से कोई भी इस विवाह के पक्ष में नहीं खड़ा होगा, यह मैं भली-भाँति जानता हूँ... किन्तु वह सब बाद में। पहले तुम बड़े भैया की अनुमति तो प्राप्त करो।"

अर्जुन का कुशल समाचार पाकर युधिष्ठिर को परम हर्ष हुआ... और उनके विवाह प्रस्ताव के विषय में जानकर भी प्रसन्नता हुई। अपने अनुजों से चर्चा करके वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि कृष्ण जैसे पराक्रमी महापुरुष से निकट पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित करके उनका एवं उनके राज्य का हर प्रकार हित ही होगा। बस, द्रौपदी की ओर से किंचित विरोध उन्हें दिखाई दिया, जिसे उन्होंने यह कहकर शान्त कर दिया

कि, "उसे स्वतन्त्र रूप से एक पत्नी रखने का अधिकार देकर तुम्हारी कोई क्षति नहीं होगी, उसका स्नेह तुम्हारे प्रति कभी कम नहीं होगा, कल्याणी... मुझे पूरा विश्वास है।"

युधिष्ठिर को पत्र भेजने के लगभग तीन सप्ताह पश्चात् अर्जुन को अपने पत्र का उत्तर प्राप्त हो गया... माँ कुन्ती एवं अग्रजों की अनुमति की सूचना एवं आशीर्वाद सहित। वह उत्तर पाकर कृष्ण भी प्रसन्न हुए और स्वयं उन्होंने ही एक योजना बनायी। उन्होंने अर्जुन को समझाया, "यदि परम्परा के अनुसार सुभद्रा का स्वयंवर हुआ तो बहुत सम्भावना यही है कि तुम्हें उसमें आमन्त्रित ही नहीं किया जाएगा... और यदि तुम्हें बुलाया भी गया तो सम्भवतः उसमें कोई ऐसा शुल्क-बन्ध होगा जो तुम्हें स्वीकार्य न हो।"

"जैसे..." अर्जुन को जिज्ञासा हुई।

"जैसे यह कि विवाह के पश्चात्, वर यदि यदुवंशी न हुआ तो उसको अपना देश एवं गृह त्यागकर द्वारका में ही आकर बसना होगा।"

"तब...?" अर्जुन अपनी चिन्ता व्यक्त करने के लिए मात्र एक शब्द ही जुटा पाये।

"अपहरण..." कृष्ण ने ऐसे मुस्कराते हुए कहा, जैसे यह कोई खेल हो।

"अपहरण?" अर्जुन अवाक् रह गये, "यह क्या कह रहे हैं, भैया!"

"डरो मत अर्जुन.." कृष्ण ने उन्हें मुस्कराते हुए ही आश्वस्त किया, "अपहरण का ही नाटक करना होगा। अन्य कोई उपाय नहीं दिखाई देता।"

कुछ दिन बाद, सुभद्रा से परामर्श करके, कृष्ण ने अर्जुन को बताया, "कल प्रातःकाल, लगभग आठ घड़ी सूर्य चढ़े, सुभद्रा तीन-चार सखियों-सहित रैवतक पर्वत पर देवपूजा के लिए जाएगी। तुम वहाँ जाना और उसके पूजन के बाद, वहीं रुककर, कहलवा देना कि तुमने सुभद्रा का हरण कर लिया है... और तुम उसमे विधिवत् विवाह के इच्छुक हो...। किन्तु हाँ...! सन्देश भेजते समय, जिस रथ पर तुम सुभद्रा-सहित बैठो, उसमें अश्वों की लगाम सुभद्रा के हाथों में ही हो... यह ध्यान रखना।"

"इसमें कटुता एवं वैमनस्य की भी आशंका है केशव!" अर्जुन ने संकोच के साथ कहा, "मैं कोई हिंसा नहीं चाहता... न ही दो साम्राज्यों के बीच कटुता की कोई भीत खड़ी करना चाहता हूँ।"

"यह आशंका सर्वथा निर्मूल तो नहीं है पार्थ!" कृष्ण ने गम्भीरतापूर्वक सोचते हुए कहा, "किन्तु मैं हूं न, तुम्हारे साथ। मुझे आशा है कि मैं स्थिति पर नियन्त्रण रख सकूँगा।"

सब कुछ योजना के अनुरूप हुआ...

राजकुमारी के हरण का समाचार पाकर बलराम क्रोध में आग-बबूला हो उठे। समाचार दावानल की भाँति फैला... और सैकड़ों यादव वीर अपने अस्त्र-शस्त्र उठाये, आँखों से अंगारे बरसाते, एकत्रित हो गये। सबका यही मत था कि अर्जुन ने जहाँ इतना सत्कार पाया, जहाँ का इतने दिन अन्न खाया... वहीं विश्वासघात किया है... समस्त यदुवंश का अपमान किया है।

सभी अर्जुन पर आक्रमण करके, राजकुमारी सुभद्रा को मुक्त कराने का संकल्प लेकर चल पड़े। सहसा उनकी दृष्टि शान्त-भाव से खड़े कृष्ण पर पड़ी। उन्हें स्मरण हुआ कि कृष्ण ने बहन के हरे जाने का समाचार पाकर कुछ भी नहीं कहा.. उन्हे न तो क्रोध हुआ और न किसी भी प्रकार इसमे कुछ अपमानजनक ही लगा।

अन्य सभी की तरह आश्चर्यचकित बलराम ने पूछा, "कृष्ण! तुम चुप हो? तुम्हारे मित्र ने हमारे परिवार का ऐसा अपमान किया... हमारे वंश का अपमान किया! इतने दिन हमारा अन्न खाकर हमीं से विश्वासघात किया... और तुम चुप हो?"

"मुझे नहीं लगता भैया!" कृष्ण ने सहज रहते हुए ही कहा, "कि इसमें अर्जुन ने हमारा अथवा हमारे वंश का अपमान किया है। मुझे लगता है कि इस प्रचलित रीति का आश्रय लेकर उसने मात्र यह सन्देश भेजा है कि वह सुभद्रा से विवाह करने का इच्छुक है। सुभद्रा के साथ देवालय गयी, उसकी सखियों के वर्णन से मुझे यह लगा कि उसने न तो सुभद्रा के साथ कोई बल प्रयोग किया . और न वह हमारे राज्य की सीमा छोड़कर ही कहीं गया है। वह वहीं रथ में सुभद्रा सहित बैठा हमारे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा है। जो हुआ उससे यह भी स्पष्ट है कि यह सब हमारी बहन की स्वीकृति से हुआ।

"अब यह हम पर है कि हम उसके सन्देश का उत्तर अस्त्र शस्त्रों से दें... अथवा स्वीकृति के पुष्प-हार एवं आशीर्वाद से। वैसे जहाँ तक मेरा ज्ञान है, हम सब मिलकर भी अकेले अर्जुन को युद्ध मे परास्त नहीं कर सकते... और दूसरी ओर, अर्जुन एक महापराक्रमी, सदाचारी एवं सुसंस्कृत राज पुरुष है। मुझे विश्वास है कि वह सुभद्रा के लिए सुयोग्य वर सिद्ध होगा . और जब हमारी अनुजा ने उसे मन ही-मन वर लिया है... तो हमें भी उसकी रुचि का सम्मान करना चाहिए।"

कृष्ण का स्पष्ट विश्लेषण सुनकर सभी यदुवंशी वीर शिथिल पड़ गये। उनका क्रोध शान्त हो गया। वे सब अपने अस्त्र शस्त्र त्याग कर, कृष्ण तथा बलराम को आगे करके, मंगल वाद्यों सहित फूल मालाएँ लेकर रैवतक पर्वत पर पहुँचे और उन दोनों को सम्मान सहित द्वारका ले आये। उन दोनों का विधिवत् विवाह हुआ और विवाह के बाद एक वर्ष तक अर्जुन द्वारका में ही रहे.. तत्पश्चात् लगभग पाँच वर्ष वे सुभद्रा-सहित पुष्कर तीर्थ में रहे।

बारह वर्ष के दीर्घ प्रवास के बाद इन्द्रप्रस्थ लौटकर उन्होंने माँ तथा अग्रजों के

चरणों में प्रणाम किया। उनके आशीर्वाद तथा अनुजों के स्नेह-भरे प्रणाम के साथ ही अर्जुन को कृष्णा के प्रेम-भरे व्यंग्य भी सुनने को मिले जिन्हें उन्होंने, प्रेमपूर्ण मनुहार द्वारा, सन्तोष प्रदान किया। साथ ही अर्जुन को चिन्ता थी कि वे सुभद्रा को कृष्णा से कैसे मिलवाएँगे! इसके लिए उन्होंने सुभद्रा को, मानसिक रूप से, पहले ही तैयार कर रखा था। सुभद्रा ने पीले रंग की रेशमी साड़ी में, ग्वालिन के वेश में, कुन्ती तथा द्रौपदी के सम्मुख जाकर उन दोनों के चरण छुए और उनका आशीर्वाद माँगा। उसके स्वभाव की सरलता देखकर, तथा उसके सौन्दर्य एवं व्यक्तित्व से प्रभावित होकर, कुन्ती ने उन्हें अशीर्वाद दिया और द्रौपदी ने भी, अपना विरोध भूलकर, उन्हें गले से लगा लिया।

अर्जुन के आगमन का समाचार पाकर सभी इन्द्रप्रस्थवासी प्रसन्न हुए। राजभवन एवं सम्पूर्ण नगर को सजाकर सबने अपना उल्लास प्रदर्शित किया। उधर, अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ लौटने का समाचार पाकर कृष्ण एवं बलराम, प्रधान यदुवंशियों-सहित, बहन को श्वसुर गृह में आशीर्वाद देने के लिए धन, पशु-धन, रत्न, दास-दासियों सहित आये। कुछ समय बाद, सभी मांगलिक कार्य पूर्ण करके सभी अतिथिगण द्वारका लौट गये... किन्तु कृष्ण, मित्र अर्जुन तथा अनुजा सुभद्रा के सान्निध्य में कुछ समय बिताने की इच्छा से, इन्द्रप्रस्थ में ही रुक गये।

द्यूत

जहाँ धर्म का राज हो, वहाँ मेघ भी समय पर जल बरसाते हैं.. प्रजाजन भी उद्यमी, मृदुभाषी एवं कर्तव्यनिष्ठ होकर राज्य को समृद्धि प्रदान करते हैं और नाना रूपों मे श्रीसम्पदा स्वत: खिंचकर वहाँ आती रहती है।

युधिष्ठिर के शासन में इन्द्रप्रस्थ ने कुछ ऐसा ही स्थान प्राप्त कर लिया। प्रजा उनके व्यवहार तथा उनकी न्याय-प्रियता के कारण उनका सम्मान करती थी और सुखी एवं सन्तुष्ट रहकर उन्हें धर्मराज का अवतार मानती थी। इन्द्रप्रस्थ की दिन-दूनी, रात-चौगुनी प्रगति होती रही और उसकी समृद्धि आसपास के राज्यो के लिए आश्चर्य एवं ईर्ष्या का विषय बनती चली गयी।

महारानी द्रौपदी ने इसी बीच पाँच पुत्रो को जन्म देकर पाण्डवों का उल्लास और भी बढ़ा दिया था। कहने को तो युधिष्ठिर के पुत्र प्रतिविन्ध्य, भीम के सुतसोम, अर्जुन के श्रुतकर्मा नकुल के शतानीक और सहदेव के श्रुतसेन थे.. किन्तु पाण्डव अपने, पाँचो बालकों को समान रूप मे पुत्रवत् स्नेह देते थे। उधर सुभद्रा ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसे अभिमन्यु नाम दिया गया। राजगुरु धौम्य ने सभी राजकुमारो का विधिवत् संस्कार कराया और उन्हें वेद का ज्ञान दिया। साथ ही अर्जुन ने उन्हे युद्ध एवं अस्त्र-संचालन की शिक्षा प्रदान की।

इन्द्रप्रस्थ मे कई वर्ष बिताकर और राज्य की व्यवस्था से सन्तुष्ट एव प्रसन्न होकर कृष्ण, सबसे विदा लेकर, द्वारका लौट गये. यद्यपि इस बीच वे स्वयं भी पाण्डव परिवार का अंग बन गये थे। जहाँ पाण्डव उनके लौट जाने की कल्पना से दु:खी थे वहीं कृष्ण के लिए भी उनसे दूर जाने का विचार दु:खदायी था। वे बालकों से भी बहुत हिल गये थे, विशेषकर अभिमन्यु में उन्हें स्वयं अपनी झलक मिलती थी.. और उसे देखकर उन्हें गोकुल–वृन्दावन मे बिताये अपने बचपन का समय स्मरण हो आता था, माँ यशोदा की स्मृति सजीव हो उठती थी। अर्जुन एवं कृष्णा से भी उन्हें विशेष स्नेह हो गया था। चलते समय उन्होंने सभी को प्रेमाभिवादन के साथ वचन दिया कि उन्हें कभी भी, कहीं भी, उनकी आवश्यकता पड़े तो वे नि:संकोच उन्हें बुला लें... वे संसार का सारा कार्य छोड़कर दौड़े चले आएँगे।

द्वारका जाने के पूर्व कृष्ण, इन्द्रप्रस्थ की गगनचुम्बी भव्य अट्टालिकाओं के बीच, एक विशाल सभा भवन की नींव डलवा गये थे.. जिसे उस समय का श्रेष्ठतम वास्तुशास्त्री एवं शिल्पी, मयासुर बना रहा था। अर्जुन ने एक बार मयासुर की प्राण

रक्षा की थी और मयासुर ने आग्रहपूर्वक उनके प्रति आभार-स्वरूप, वह भवन बनाने की इच्छा प्रकट की थी।

जब वह भवन बनकर तैयार हुआ तो लोग उसे देखते ही रह गये। शोभाशाली पुष्पों से लदे वृक्षों एवं सरोवरों से घिरा, मणि-माणिक्यों की सीढ़ियों से युक्त तथा रंग-बिरंगे स्फटिक से निर्मित वह सभा भवन शिल्प कला का एक अभूतपूर्व उदाहरण था। स्थान-स्थान पर दृष्टि में न आने वाले ऐसे यन्त्र थे जो वायु के प्रवाह के साथ झंकृत होकर वातावरण को संगीतमय बनाते रहते थे। सरोवर की तरंगें पुष्पित कमलों को डुलाती हुई दृष्टि को अपार सुख प्रदान करती थीं। भवन की भीतों पर ही नहीं, भूमि पर भी, ऐसी चमत्कृत करने वाली चित्रकारी थी कि पूरी आँख खोलकर चलने वाले भी भ्रमित हो जाते थे... कोई जल को थल समझकर ताल में जा गिरता था और कोई भीत को अपने सम्मुख फैले किसी उपवन का प्रवेश द्वार समझकर उससे जा टकराता था। रात्रि के समय, स्थान-स्थान पर जड़े रत्नों से प्रतिबिम्बित होकर दीप-मालिकाओं की ज्योति भी विलक्षण चमत्कार उत्पन्न करती थी। उस सभा भवन ने इन्द्रप्रस्थ की शोभा को प्रसिद्धि के और भी ऊँचे शिखर पर पहुँचा दिया।

पाण्डव उस सभा-भवन को देखकर चमत्कृत भी थे और आनन्दित भी।

इन्द्रप्रस्थ में धर्म-राज्य की स्थापना तथा युधिष्ठिर का यश सुनकर दूर दूर से ऋषि-महर्षि, यदा-कदा इन्द्रप्रस्थ आकर, युधिष्ठिर को आशीर्वाद के साथ ही उपयोगी मार्ग दर्शन एवं परामर्श देते रहते थे। इसी प्रकार, एक बार महर्षि नारद ने आकर उन्हें राजसूय यज्ञ का परामर्श दिया... यह सावधान करते हुए कि ऐसे महायज्ञ में अनेक बाधाओं का भय भी रहता ही है और पृथ्वी पर क्षत्रिय-कुलान्तक युद्ध अथवा प्रलय-जैसी स्थिति भी उपस्थित हो सकती है। किन्तु, उन्होंने कहा, "यदि यज्ञ सफल हुआ तो पृथ्वी पर सर्वत्र सुख-शान्ति विराजेगी और... तुम्हारे स्वर्गवासी पिता को भी अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा।"

नारदजी के जाने के पश्चात् सभी भाइयों ने मिलकर राजसूय यज्ञ के विषय मे विचार-विमर्श किया। फिर राजगुरु धौम्य तथा महर्षि व्यास से भी इस विषय पर चर्चा की। प्रजा का सन्तोष एवं शासक के प्रति उनका प्रेम देखते हुए सभी का मत था कि युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ के लिए सर्वथा उपयुक्त सम्राट हैं। किन्तु युधिष्ठिर ने इस सम्बन्ध में कृष्ण से भी चर्चा करने और निर्णय उन्हीं पर छोड़ने का निश्चय किया।

पाण्डवों को कृष्ण का स्नेह प्राप्त था... और कृष्ण का अपने अलौकिक व्यक्तित्व के कारण ऐसा व्यापक प्रभाव था कि, पाण्डव ही नहीं, भारत के सभी

राजा-महाराजा उनके बल एवं पराक्रम का लोहा मानते थे। सामान्य प्रजाजनों पर भी उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की अमिट छाप थी। और कौन था जो कृष्ण के विषय में जान-सुनकर उनके व्यक्तित्व तथा उनकी उपलब्धियों से चमत्कृत एवं प्रभावित न होता...? एक साधारण-सा बालक, जो कंस जैसे आततायी एवं क्रूर शासक के कारागार में जन्म लेकर भी, उसकी घातक योजनाओं को विफल करता हुआ जीवित बच निकला... जो एक ग्वाले के घर में पला-बढ़ा और निरन्तर प्राण-लेवा षड्यन्त्रों से बचता रहा। जो कभी बाँसुरी बजाकर ग्राम-वासियों का मन मोहता रहा तो कभी दुष्टों से उनकी प्राण–रक्षा करता रहा। और किशोरावस्था में ही, कंस से टक्कर लेकर उसे मौत के घाट उतारते हुए, अपने माता-पिता को बन्दी–गृह से छुड़ा लाया। सभी उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाते थे . कोई उनकी बाल लीलाओं के गुण गाता तो कोई उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं दूरदर्शिता का लोहा मानता था। किसी की दृष्टि में वे महापुरुष थे.. तो किसी की दृष्टि में छलिया और किसी के लिए अवतार।

युधिष्ठिर ने शीघ्रगामी दूतों द्वारा कृष्ण को इन्द्रप्रस्थ आने का निमन्त्रण दिया और जब वे आये तो उनसे राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में स्पष्ट परामर्श माँगा।

कृष्ण ने कहा, "भैया युधिष्ठिर! अपने सद्व्यवहार एवं सुशासन के नाते आप निःसन्देह इस यज्ञ के अधिकारी हैं। आपकी प्रजा भी प्रसन्न एवं सुखी है। आप शक्तिशाली एवं सक्षम हैं. किन्तु.."

स्पष्ट समर्थन के पश्चात् कृष्ण के मुख से किन्तु सुनकर युधिष्ठिर ने जिज्ञासा भरी दृष्टि उन पर डाली। कृष्ण ने क्षणभर रुककर अपनी बात को गति दी, "किन्तु जैसा हम सभी जानते हैं कुछ अहंकारी एवं अन्यायी राजा हैं जो स्वार्थवश आपके इस मनोरथ का विरोध करेंगे... और जैसा कि महर्षि नारद ने बताया था, क्षत्रिय कुल का व्यापक विनाश होने की सम्भावना भी रहेगी।"

"वासुदेव..." युधिष्ठिर ने असमंजस में कृष्ण की ओर देखा, "ऐसी स्थिति मे, मेरा राजसूय यज्ञ का मनोरथ तो कोई अर्थ नहीं रखता। मैं ऐसा कार्य कैसे प्रारम्भ कर सकता हूँ जिसमें क्षत्रियकुल के व्यापक विनाश की सम्भावना हो। जब क्षत्रियकुल का विनाश होगा तो अन्य वर्ण भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाएँगे।"

"मेरा यही तात्पर्य है, बड़े भैया..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "इस कारण राजसूय प्रारम्भ करने से पूर्व ही आपको उन राजाओं को अपने वश में करना होगा जो अकारण ही आपका विरोध कर सकते हैं।"

"आपका संकेत किसकी ओर है वासुदेव?" युधिष्ठिर ने पूछा।

"एक हो तो बताऊँ..." कृष्ण ने समझाते हुए कहा, "गिनाने बैठूँ तो करूष, बंग, पुण्ड्र, दक्षिण पांचाल आदि के साथ सूची बड़ी लम्बी होती जाएगी। किन्तु शक्ति केन्द्र पर ध्यान देकर देखिए तो उन सबकी शक्ति के पीछे एकमात्र जरासन्ध

दिखाई देगा, जिसने अपने छल-बल से सैकड़ों राजाओं को पराजित करके अपने कारावास में बन्दी बना रखा है, और अन्य अनेक हैं जो, उसके बल के दुष्प्रभाव मे, सदैव उसके संकेत पर नाचते रहते हैं।

"आपको ज्ञात ही है कि दानवराज कंस अपने जाति-भाइयों को सताकर राजा बन बैठा था। उसकी अनीति जब बहुत बढ़ गयी तब बलराम भैया के साथ जाकर मुझे उसका वध करना पड़ा। इससे कंस का भय तो जाता रहा किन्तु जरासन्ध और भी प्रबल हो उठा। आज प्रतापी शिशुपाल उसी का सेनापति बनकर भय एवं आतंक द्वारा जरासन्ध का प्रभाव फैला रहा है। करूष का अधिपति जरासन्ध को गुरु की भाँति पूजता है। पश्चिम के पराक्रमी मुर तथा नरक के अधिपति ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली है। राजा भगदत्त तो उसके संकेत पर ही शासन चलाते हैं। बंग, पुण्ड्र तथा किरात का राजा मिथ्यावासुदेव भी जरासन्ध के बल पर ही अहंकार मे भरा रहता है। स्वयं मेरे महाबली श्वसुर, भीष्मक भी, जरासन्ध के वश में हैं... अपने कुलाभिमान को तिलांजलि देकर जरासन्ध की शरण में रहते हैं।

"धर्मराज! उत्तर दिशा के अठारह अधिपति परिवार जरासन्ध से भयभीत होकर पश्चिम अथवा दक्षिण की ओर भाग गये हैं... जिनमें शूरसेन, भद्रकार, शाल्व, योध, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्दि, शाल्वायन आदि प्रमुख हैं।

"जरासन्ध की सेना ऐसा विकराल रूप ले चुकी है कि हम सब मिलकर भी उसे सरलता से परास्त नहीं कर पाएँगे. महाविनाश होगा। जरासन्ध अपने अहंकार में अनेक राजाओं को पराजित करके पर्वत पर स्थित एक बन्दीगृह में रखे है। सुना है कि वह किसी देवता का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उन बन्दी राजाओं की बलि देना चाहता है। इसलिए यदि आप राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं तो सबसे पहले आवश्यक है जरासन्ध का वध और उसके बन्दीगृह में पडे राजाओं की मुक्ति। जरासन्ध के वध से उसके कारागार से मुक्त सभी राजा स्वयमेव आपके मित्र बन जाएँगे... और उसके भय एवं आश्रय में राज करने वाले अनेक अन्यायी राजाओं की रीढ़ अपने आप ही टूट जाएगी।"

"किन्तु केशव..." अर्जुन ने कुछ आश्चर्य में पूछा, "उसका वध कैसे होगा?"

"हम युद्ध करेंगे... और कैसे?" भीमसेन ने अर्जुन की ओर देखकर कहा।

"किन्तु उससे भी तो व्यापक रक्तपात ही होगा..." युधिष्ठिर ने शंका जतायी।

"वही तो सोचना है, बड़े भैया..." कृष्ण ने दूर कहीं शून्य में देखते हुए कहा, "कि जरासन्ध मरे भी, और व्यापक रक्त पात भी न हो।"

"यह कैसे होगा वासुदेव?" नकुल ने प्रश्न किया, "जब युद्ध होगा... तो रक्तपात तो होगा ही।"

"ऐसी ही कोई युक्ति सोचनी होगी भाई..." कृष्ण किसी गहन सोच में डूबे हुए थे।

"जैसे आपने अकेले ही कंस को मारा था.." सहदेव ने कहा, "ऐसी ही कोई युक्ति!"

"हाँ, सहदेव..." कृष्ण तब भी सोच में पड़े हुए थे, "तब मेरे साथ भैया बलराम थे और कंस अपने अत्याचारों के चलते, प्रजा का विरोध सहते हुए, विक्षिप्त हो चला था। किन्तु जरासन्ध अभी सक्षम है... पूर्ण-रूपेण सक्षम। अभी न तो वह अत्याचारों से थका है और न प्रजा के विरोध से। छियासी राजाओं को कारागार में डाले हुए, वह चौदह और को पराजित करने की योजना बना रहा है... कि सौ की बलि देकर, अपने इष्ट-देव से कोई वरदान प्राप्त करे... सम्भवतः अमरत्व का, अथवा अक्षय बल का वरदान।"

"ऐसे हृदयहीन व्यक्ति को तो एक दिन भी जीने का अधिकार नहीं होना चाहिए..." नकुल ने उबलते हुए कहा।

"इस संसार में अब ऐसा बहुत कुछ होने लगा है नकुल!" कृष्ण ने शिथिल मुस्कान के साथ कहा, "जो कदापि नहीं होना चाहिए।"

"तो वासुदेव!" भीमसेन ने अपनी भुजाओं की ओर देखते हुए कहा, "तो हम ऐसे दुराचारी का उद्धार करने में विलम्ब क्यों कर रहे हैं?"

"विलम्ब करना तो नहीं चाहिए, भैया..." कृष्ण ने भीमसेन की ओर मुस्कराकर देखा, "किन्तु बिना पूरी योजना के आक्रमण कर देना भी तो हितकर नहीं होगा। सच पूछो तो, यदि कोई इस समय जरासन्ध को मारकर उन छियासी राजाओं को मुक्ति दिला सके तो वह स्वयमेव महान यश का भागी बन जाएगा.. राजसूय यज्ञ जैसा पुण्य पा जाएगा।"

"किन्तु बिना महाविनाश के, वासुदेव " युधिष्ठिर ने कहा।

"हाँ, बड़े भैया.." कृष्ण ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "यह तो मेरी दृष्टि में भी प्राथमिकता है।"

वे सभी सोच में डूब गये। कक्ष में सन्नाटा छाने लगा। वे सभी असहज होकर कुछ क्षण बाद एक-दूसरे की ओर देख लेते थे, और पुनः सोच में डूब जाते थे।

"वासुदेव...!" कुछ देर बाद युधिष्ठिर ने मौन तोडा, "व्यापक रक्तपात के बिना यह कार्य सम्भव नहीं दिखता। इससे अच्छा तो यही है कि मैं राजसूय यज्ञ का विचार ही त्याग दूँ। यदि मैं इन्द्रप्रस्थ में ही एक आदर्श, धर्म-सम्मत राज्य स्थापित कर सकूँ तो अपने को धन्य मानूँगा।"

"उस व्यापक विनाश से बचने का एक मार्ग है..." कृष्ण ने भीमसेन की ओर देखते हुए कहा, "सुना है कि जरासन्ध को मल्ल-युद्ध में विशेष रुचि है। अब भी वह अखाड़े में उतरकर बड़े-बड़े योद्धाओं को आकाश ,खाता रहता है। यदि हम उसे किसी प्रकार मल्ल-युद्ध के लिए ललकारकर प्राणान्तक युद्ध के लिए प्रेरित कर सकें.."

"तो उससे कौन युद्ध करेगा?" युधिष्ठिर ने विस्मय में पूछा।

कृष्ण ने उत्तर में क्षण-भर मौन रहते हुए अर्थ-पूर्ण दृष्टि भीमसेन की ओर उठायी, "क्यों भैया...!"

"मैं... मैं तैयार हूँ, वासुदेव!" भीमसेन ने तुरन्त ही कहा।

"किन्तु प्राणान्तक...?" युधिष्ठिर के होठ आश्चर्य में खुले रह गये, "मैं अनुज भीमसेन का जीवन दाँव पर नहीं लगा सकता।"

"युद्ध में जीवन तो दाँव पर लगते ही हैं, बड़े भैया..." कृष्ण ने बड़े सहज स्वर में कहा, "अन्यथा मुझे ही जाकर उसे ललकारना होगा।"

"नहीं वासुदेव, नहीं..." भीमसेन ने विश्वासभरे स्वर में कहा, "मेरे रहते आप उससे मल्लयुद्ध करें, तो यह लज्जा की बात होगी मेरे लिए। इतने वर्षों से निरन्तर अपने सभी भाइयों के भोजन का एक भाग खाकर भी क्या मैं मल्ल–युद्ध से आँख चुराऊँगा!"

"बात आँख चुराने की नहीं... बड़े भैया के विश्वास की है," कृष्ण ने पाँचो भाइयों पर दृष्टि डालते हुए कहा, "मल्लयुद्ध मैं भी तो कर सकता हूँ . कस पर आक्रमण के पूर्व, उसके अखाड़े मे, उसके अनेक बलवान योद्धाओं से मल्ल युद्ध किया था मैंने।"

"किन्तु अब... मेरे रहते..." भीमसेन का वाक्य अधूरा ही रह गया।

"तो ऐसा करें, हम दोनों ही चलते है..." कृष्ण ने तुरन्त ही कहा, "जरासन्ध जिससे भी चाहे मल्ल-युद्ध कर ले।"

"किन्तु यदि स्वयं को निर्बल पडते देख, उसने आप दोनो पर अपने सैनिको द्वारा आक्रमण करा दिया, तो .!" सहदेव ने शंका उठायी।

"तो मैं भी साथ चलूँगा ." अर्जुन ने कहा, "ऐसी किसी स्थिति के लिए आपके साथ भी तो कोई अंग–रक्षक होना चाहिए।"

"चलो तो यों ही सही..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "बडे भैया! तो हम तीनो जाएँगे और, व्यापक रक्त-पात बचाकर, राजसूय यज्ञ के लिए मार्ग बनाएँगे।"

"तो हम पाँचों भाई क्यों न चलें आपके साथ!" नकुल ने कहा।

"नहीं नकुल..." कृष्ण बोले, "वह हमें साथ देखकर पहचान भी सकता है और हमारा मन्तव्य भाँप गया तो मल्ल युद्ध की ललकार स्वीकार न करके, हमे बन्दी बनाने का प्रयास भी कर सकता है। तब तो युद्ध की स्थिति आ जाएगी और व्यापक रक्तपात का निवारण असम्भव हो जाएगा। बात तो तभी बनेगी, जब वह प्राणान्तक मल्ल-युद्ध की चुनौती स्वीकार कर ले।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा केशव..." युधिष्ठिर ने चिन्तित-से स्वर में कृष्ण की ओर देखते हुए कहा, "मेरे अनुजों का जीवन अब तुम्हारे हाथों में है।"

"और मुझे किसके हाथों में सौंपेंगे, बड़े भैया?" कृष्ण ने विहँसते स्वर में पूछा।

"तुम्हें, वासुदेव!" युधिष्ठिर को सहसा ध्यान हुआ तो वे मुस्कराने का प्रयास करते हुए हाथ जोड़कर बोले, "तुम तो महानायक हो। तुम्हें सौंपने चला तो... हारकर तुम्हें तुम्हारे ही हाथों में सौंपना पड़ेगा।"

जरासन्ध से मल्ल-युद्ध का निश्चय करके, कृष्ण, भीमसेन तथा अर्जुन मगध के लिए निकल पड़े। राह में पद्मसर, कालकूट, गण्डकी, महाशोरा, सदानीरा, गंगा, चर्मवती, आदि सरिताओं एवं पर्वतों को पार करते हुए वे मगध पहुँचे। वहाँ गोरथ पर्वत पर पहुँचकर उन्होंने वल्कल-वस्त्रधारी ब्राह्मणों का वेश धारण किया और अपने अस्त्र-शस्त्र वहीं छिपाकर मगधपुरी में प्रवेश किया। ब्राह्मण वेश में उन्हें जरासन्ध तक पहुँचने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

जरासन्ध ने उठकर अर्घ्य-पाद्य द्वारा उनका स्वागत किया.. किन्तु उसकी पारखी दृष्टि ने उसके मन में कुछ शंका भी उत्पन्न की। हृष्ट-पुष्ट, विशाल वक्षःस्थल एवं स्कन्धों वाले बलशाली युवक, जिनके कन्धों पर निरन्तर धनुष धारण करने से बना हुआ विशेष चिह्न, गले में पुष्पों की माला और शरीर पर अंगराग...!

"आप लोग कौन हैं?" उसने स्पष्ट ही पूछा, "और ब्राह्मण वेश धारण करके क्यों आये हैं?"

उसका प्रश्न सुनकर वे तीनों ही आश्चर्यचकित रह गये। किन्तु जो स्थिति सामने आ पडी थी उससे कतराना भी सम्भव नहीं था... यह सोचकर कृष्ण निर्भय स्वर में बोले, "तुम्हारे घर में, तुम्हारे सम्मुख पहुँचने का और कोई साधन नहीं था, जरासन्ध! शत्रु के घर में प्रवेश के लिए कभी कभी छद्म वेश धारण करना भी आवश्यक हो जाता है।"

"मैंने तो तुम्हारे साथ कोई अन्याय नहीं किया..." जरासन्ध ने गम्भीर स्वर में पूछा, "तो मुझे शत्रु मानने का कारण?"

"तुम निरपराध राजाओं की बलि देने की योजना बना रहे हो..." कृष्ण ने ही उत्तर दिया, "इस क्रूरकर्म से बडा और क्या अन्याय होगा? तुम निरपराध लोगों की हिंसा करते हो और हम दुःखियों की सहायता करते हैं। तुम क्षत्रिय जाति के विनाश पर तुले हो और इसी कारण हम तुम्हें ललकारने आये हैं। या तो तुम अपने कारागार में बन्द सभी राजाओं को मुक्त कर दो या हममें से किसी के साथ भी मल्ल-युद्ध करके आर-पार का निर्णय हो जाने दो।"

जरासन्ध ने हँसते हुए कहा, "मैं किसी भी राजा को युद्ध में परास्त किये बिना नहीं लाया। तुम क्या समझते हो कि मैं तुमसे भयभीत होकर उन्हें छोड़ दूँगा! तुम

चाहे तो अपनी सेनाएँ लेकर आ जाओ... और चाहे एक-एक करके, अथवा तीनों एक साथ मिलकर, मुझसे मल्ल-युद्ध कर लो। किन्तु अपने प्राणों से हाथ धो बैठो तो मुझे दोष न देना..."

"चलो तो फिर यह ही सही..." कृष्ण ने कहा, "अब यह भी तुम्हीं चुन लो कि हममें से किसके साथ युद्ध करोगे?"

भीमसेन को चिन्ता हो रही थी कि कृष्ण यह क्या कह रहे हैं! यदि उसने अर्जुन को युद्ध के लिए चुन लिया तो फिर क्या होगा! दूसरी ओर कृष्ण सोच रहे थे कि अपेक्षाकृत कृशकाय दिखने वाले अर्जुन को भी मल्ल-युद्ध के लिए तत्पर देखकर उसका मनोबल टूटेगा... वह आशंका में पड़ जाएगा।

तभी भीमसेन बोल उठे, "अब यह मुझसे तो लड़ेगा नहीं... मेरी भुजाएँ देखकर ही इसका हृदय काँप रहा होगा। चलो, तुम दोनों में से ही कोई इससे लड़ लो।"

"इतना अहंकार न कर..." जरासन्ध ने कठोर वाणी में, नेत्रों से अंगारे उगलते हुए कहा, "तुझे पता नहीं है, तेरे जैसे अहंकारियों को मैं प्रतिदिन ही अखाड़े मे आकाश दिखाता रहता हूँ... आ, तू ही आ जा।"

यह कहते हुए जरासन्ध उन तीनों को लेकर अखाड़े की ओर चला। वहाँ उसने सब के सम्मुख, अपने पुत्र सहदेव को उत्तराधिकारी घोषित करके, अपना मुकुट उतार कर, बाल पीछे बाँधे और कमर कस ली।

उधर कृष्ण ने भी चलते-चलते भीम से कहा, "भैया, यह प्राणान्तक युद्ध है. नीति-अनीति, दया, अहिंसा, आदि सब कुछ भूलकर युद्ध कीजिए। स्मरण रहे.. आप अपने लिए नहीं, उन छियासी कारागार में पड़े, मृत्योन्मुख क्षत्रियों की प्राण-रक्षा के लिए अखाड़े में उतर रहे हैं..."

तभी जरासन्ध ने उन्हें ललकारा, "आ जा... तनिक मैं भी देखूँ कि तेरी मोटी भुजाओं में कितना बल है! तेरा अहंकार भी भुला दूँ आज।"

देखते-ही-देखते वे दोनों, परस्पर प्रणाम करने के पश्चात्, ताल ठोंकते हुए भिड गये। वे तृणपीड, पूर्णयोग, समुष्टिक आदि अनेक दाँव-पेंच लगाकर, अपूर्व कुश्ती का दृश्य प्रस्तुत कर रहे थे। अखाड़े के चारो ओर सहस्रों की संख्या में, सभी आयु एवं वर्ग के, पुरवासी एकत्रित थे। दोनों योद्धाओं की हुंकार एवं मुष्टिका-प्रहार से दिशाएँ गूँज रही थीं। वे दोनों विशाल एवं पुष्ट शरीर वाले योद्धा ऐसे टकरा रहे थे जैसे लोहे के दो विशाल बेलन टकरा रहे हों।

उन दोनों का अभूतपूर्व युद्ध कई दिन, कई रात, बिना खाये-पिये निरन्तर चलता रहा, तब कहीं जरासन्ध में थकान के लक्षण प्रकट हुए... किन्तु उस पर किसी भी प्रकार का आघात उसे युद्ध से विरत नहीं कर पा रहा था।

तब कृष्ण ने भीमसेन को प्रोत्साहित करते हुए कहा, "भैया, अब कुछ वायु देवता का बल भी तो दिखाओ..."

भीमसेन ने उनका संकेत समझते हुए जरासन्ध को दोनों हाथों से ऊपर उठाकर कई बार हवा में घुमाया और बल पूर्वक धरती पर पटक दिया। इस पर भी जब उन्होंने जरासन्ध को उठने का प्रयास करते देखा तो उसके एक पैर को अपने पैर से दबाते हुए, दोनों हाथों के झटके से, उसका दूसरा पैर बल पूर्वक तानकर उठाया और जरासन्ध के शरीर को बीच से चीर डाला।

भीमसेन की गर्जना के साथ ही जरासन्ध की यह दुर्दशा देखकर लोग भयभीत हो उठे। उसके सैनिक आदि कुछ समझें इसके पूर्व ही वे तीनों भीड़ में गुम होकर वहाँ से निकल गये।

कृष्ण ने जरासन्ध का ध्वज-मण्डित रथ जोतकर, उस पर भीमसेन एवं अर्जुन को बैठाया और, पहाड़ी के कारागार पर पहुँचकर, बन्दी राजाओं को मुक्त कराया। उन सबको साथ लेकर वे गिरिव्रज से बाहर निकले तो सभी नगरवासियो आदि ने उनका अभिनन्दन किया। उन तीनों से भयभीत सहदेव ने भी कृष्ण के आगे आत्म-समर्पण किया तो कृष्ण ने उसे अभय-दान देते हुए धर्म-पूर्वक राज्य पर शासन करने का उपदेश दिया और मगध के राज्य पर उसका अभिषेक किया। जरासन्ध के कारागार से मुक्त हुए सभी राजाओ ने, कृष्ण का आभार मानते हुए, आजीवन उनसे सहयोग का वचन दिया.. और वे अपने राज्यो को लौट गये।

इन्द्रप्रस्थ लौटने पर विजयी कृष्ण, भीमसेन तथा अर्जुन का भव्य स्वागत हुआ और पाण्डवों को व्यापक रक्तपात के बिना ही राजसूय यज्ञ का मार्ग दिखाकर कृष्ण, सबसे अनुमति लेकर, द्वारका लौट गये।

राजसूय यज्ञ का मार्ग प्रशस्त हो चुका था.. अनेक ऋषियों मुनियों के समर्थन तथा राजगुरु धौम्य के अनुरोध के साथ ही कृष्ण का अनुमोदन भी युधिष्ठिर को प्राप्त हो चुका था।

"भैया!" भीमसेन ने एक दिन अचानक अनुजो सहित आकर युधिष्ठिर से प्रश्न किया, "अब विलम्ब क्यों?"

युधिष्ठिर ने अपने चारो अनुजों पर दृष्टि डाली... वे सब आत्म-विश्वास एवं बल विक्रम की प्रतिमूर्ति बने, बस उन्हीं की आज्ञा की प्रतीक्षा करते दिखे।

"मुझे तुम सब पर पूरा विश्वास है .." उन्होंने कहा, "तुम्हारे रहते मुझे न तो कोई भय है और न कोई आशंका। हाँ, बस थोड़ी सी चिन्ता यही है. कि कहीं कोई विरोध न हो... यद्यपि हमारी राह का सबसे बड़ा काँटा निकल चुका है, किन्तु इच्छा यह भी है कि जरासन्ध का अन्य कोई सहयोगी हमारा विरोध न करे।"

"कोई विरोध का साहस भी नहीं करेगा भैया..." नकुल ने कहा।

"और जो यह दुस्साहस करेगा, वह मुँह की खाएगा..." भीमसेन ने उनकी बात पूरी की।

"वह तो ठीक है..." युधिष्ठिर ने गम्भीर वाणी में कहा, "किन्तु विरोध कुचल कर, बल-प्रयोग द्वारा पाया हुआ यश... अन्त में सुख नहीं देता। और मुझे यह भी तो चिन्ता है कि मैं तो यहाँ बैठा रहूँगा और सारा उद्योग तुम्हीं सब करोगे। तुम्हें कहीं एक खरोंच भी लगी, तो क्या मुझे पीड़ा नहीं होगी!"

"आप वह चिन्ता त्याग दें, भैया!" अर्जुन ने विश्वास भरी मुस्कान के साथ कहा, "और बस आदेश दें। नीति कहती है कि कोई योजना बनाकर उसके कार्यान्वयन में विलम्ब नहीं करना चाहिए।"

चारों अनुजों का उत्साह देखकर युधिष्ठिर सहमत हो गये। परस्पर विचार-विमर्श के बाद उत्तरदायित्व का विभाजन हुआ। अर्जुन को उत्तर दिशा का भार मिला। भीमसेन पूर्व दिशा की ओर चले। नकुल ने विशाल सेना लेकर पश्चिम की ओर प्रस्थान किया और सहदेव ने दक्षिण के राज्यों का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। उन सभी के लिए अग्रज युधिष्ठिर का सन्देश वाक्य यही था कि, 'प्रेम द्वारा उत्पन्न हृदय-परिवर्तन स्थायी होता है... और बल-प्रयोग द्वारा प्राप्त की हुई विजय भी मन में काँटे के समान चुभती रहती है।'

अर्जुन को, उत्तर दिशा में, आनर्त, कालकूट, कुलिन्द तथा सुमण्डल का सहयोग पाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। तत्पश्चात्, सुमण्डल की सेना का सहयोग लेकर, उन्होंने शाकल द्वीप तथा प्रतिविन्ध्य पर्वत पर विजय प्राप्त की। फिर उन्होंने प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त पर चढ़ाई की। आठ दिन के भयंकर युद्ध के बाद भगदत्त ने अर्जुन के पराक्रम का लोहा माना और, इन्द्रप्रस्थ को कर देकर, युधिष्ठिर से मित्रता स्वीकार की। इसी प्रकार उत्तर पर्वत पर बिखरे अनेक राज्यों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके, उन्होंने उलूक प्रदेश के राजा बृहन्त को परास्त किया और इन्द्रप्रस्थ का करद राज्य बनाया।

इसी प्रकार कहीं सुसंवाद से तो कहीं आक्रमण करके उन्होंने मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक पर विजय प्राप्त की... साथ ही पौरव तथा पहाड़ी लुटेरों-सहित सात म्लेच्छ जातियों पर भी विजय प्राप्त की। कश्मीर के राजा लोहित तथा त्रिगर्त, दारु, कोकनद के राजा स्वयं ही अर्जुन से मैत्री का प्रस्ताव लेकर आ गये। फिर आक्रमण करके उन्होंने उरग के राजा रोचमान को पराजित किया और बाह्लीक, दरद, कम्बोज और ऋषीक देशों को अपने अधीन किया।

फिर अर्जुन किम्पुरुषवर्ष तथा हाटक पर विजय पताका फहराते हुए मानसरोवर पहुँचे और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों को जीतते हुए हरिवर्ष पर पहुँचे। वहाँ भी, बिना युद्ध के ही, उन्हें राज्यों से सरलता से ही सहयोग एवं कर प्राप्त हुआ। इस प्रकार,

उत्तर क्षेत्र के सभी राज्यों का सहयोग प्राप्त करके, अर्जुन भेंट में प्राप्त अपार सम्पत्ति लेकर इन्द्रप्रस्थ लौटे।

पूर्व में, भीमसेन को पहला विरोध दशार्ण के राजा सुधर्मा से प्राप्त हुआ। उन्होंने, बिना सेना अथवा शस्त्र-प्रयोग के, बाहु युद्ध द्वारा ही विजय पाने का निर्णय लिया। भीमसेन ने सुधर्मा को परास्त तो किया किन्तु, उससे प्रभावित होकर, उसे अपना सेनापति बना लिया। फिर उन्होंने क्रमशः अश्वमेध, पुलिन्दरनगर आदि अनेक प्राच्य राज्यों पर अधिकार किया। चेदिराज शिशुपाल ने बिना युद्ध किये ही युधिष्ठिर से मैत्री स्वीकार की।

तदनन्तर भीमसेन ने, कुमार क्षेत्र के राजा श्रेणिमान, कोसल क्षेत्र के बृहद्‌बल को तथा अयोध्यानरेश दीर्घयज्ञ का सहज ही सहयोग प्राप्त कर लिया। फिर उत्तर कोसल, मल्लदेश तथा हिमालय तलहटी में बसे राज्यों पर विजय प्राप्त की और आगे बढ़ते हुए काशिराज सुबाहु, सुपार्श्व, क्रथ, मत्स्य, मलद क्षेत्र एव वसुभूमि पर भी अधिकार किया।

पूर्वोत्तर मे, मदधार, सोमधेय एवं वत्सक्षेत्र पर विजय प्राप्त करके भर्गक्षेत्र के स्वामी निषादराज और मणिमान, शर्मक, वर्मक तथा मिथिला पर विजय प्राप्त की। वहाँ गिरिव्रज से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को साथ लकर, मोदाचल, पौण्ड्रक वासुदेव और कौशिक-द्वीप के राजाओं को पराजित किया। बंग के राजा समुद्रसेन, चन्द्रसेन, ताम्रलप्ति तथा अनेक सागरवर्ती म्लेच्छ राजा सहज ही में उसके अधीन हो गये।

इस प्रकार पूर्व में अपनी विजय-यात्रा पूर्ण करके भीमसेन, कर में प्राप्त अपार सम्पदा लेकर, इन्द्रप्रस्थ लौटे।

दक्षिण की ओर बढते हुए सहदेव ने सवप्रथम मथुरा, मत्स्य और अधिराज के शासकों को अपना करद सामन्त बनाया.. पट्टचरों पर विजय प्राप्त की और फिर युद्ध करके निषादभूमि, गोश्रृंगपर्वत और नरराष्ट्र को वश में किया। कुन्तिभोज ने स्वयं ही युधिष्ठिर का शासन स्वीकार किया।

तत्पश्चात् सहदेव नर्मदा की ओर बढे और उज्जैन में विन्द तथा अनुविन्द को युद्ध द्वारा वश में किया, मारुध तथा मुंजग्राम पर अधिकार किया और अर्बुद वातराज तथा पुलिन्दों को परास्त करके पाण्ड्यनरेश पर विजय प्राप्त की, किष्किन्धा के मैन्द एवं द्विविद को जीतकर, माहिष्मती पर आक्रमण करके वहाँ के राजा नील को करद सामन्त बना लिया, त्रिपुर और पौरव पर भी विजय प्राप्त की तथा सुराष्ट्र के राजा कौशिकाचार्य को भी पराजित किया।

भोजकट के राजा रुक्मी तथा निषद के भीष्मक ने, कृष्ण से निकट सम्बन्ध होने के कारण, सहदेव को सहर्ष कर प्रदान किया। आगे चलकर सहदेव ने शूर्पारक, तालाकट, दण्डक आदि को अपने अधीन करते हुए, म्लेच्छ, निषाद, पुरुषाद, कर्णप्रावरण तथा राक्षसों पर विजय प्राप्त की। कोल्लाचल, सुरभीपट्टन, ताम्रद्वीप, रामपर्वत, पाषण्ड, करहाटक, पाण्ड्य, द्रविड़, उण्ड, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिंग, उष्ट्रकर्णिक, आटवीपुर आदि को अपने वश में किया और लंकापति विभीषण को मैत्री सन्देश भेजा... जिसे विभीषण ने सहर्ष स्वीकार किया।

इन सभी स्थानों से अपार धन-सम्पत्ति भेंट में लेकर वे भी इन्द्रप्रस्थ लौटे।

नकुल ने पश्चिम की ओर बढ़ते हुए रोहितक क्षेत्र के मत्तमयूर शासकों को, संग्राम में परास्त करने के बाद, महेत्थ क्षेत्र पर भी अधिकार किया। फिर दशार्ण, शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, मध्यमक तथा वाटधान पर विजय प्राप्त की। वहाँ से लौटकर पुष्कर, सिन्धु तट तथा सरस्वती तट के क्षेत्रों को अपने वश में किया। पचनद, अमरपर्वत, उत्तर-ज्योतिष, दिव्यकट पर भी विजय प्राप्त की। द्वारिका में यदुवंशियों ने, कृष्ण से सम्बन्ध के कारण, सहर्ष उन्हें सहयोग दिया... तथा उनके सहयोग से आसपास के और अनेक जनजातीय क्षेत्रों पर अपनी विजय पताका फहरायी।

इस प्रकार, नकुल भी पश्चिम से भेंट में प्राप्त सम्पदा लेकर इन्द्रप्रस्थ लौटे।

कुछ समय बाद, केवल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ही नहीं, प्राकृतिक स्थिति भी सब प्रकार अनुकूल पाकर, युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया। उन्हीं दिनों महर्षि व्यास तथा कृष्ण भी इन्द्रप्रस्थ में आये हुए थे... और उन दोनों की दृष्टि में भी यज्ञ के लिए शुभ समय आ गया था।

राज-पुरोहित धौम्य तथा अन्य विद्वान ब्राह्मणों के निरीक्षण में सभी आवश्यक व्यवस्था हुई। महर्षि व्यास यज्ञ के ब्रह्मा बने और महर्षि सुसामा सामवेद के उद्‌गाता। महर्षि याज्ञवल्क्य अध्वर्यु बने तथा पैल एवं धौम्य होता नियुक्त हुए। देश के समस्त विद्वान एवं शूरवीर क्षत्रिय निमन्त्रण पाकर यज्ञ में भाग लेने के लिए उपस्थित हुए। सभी अतिथियों के खान-पान एवं निवास की सुन्दर व्यवस्था थी, जिससे सभी अत्यन्त प्रसन्न थे।

हस्तिनापुर से पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र आदि को बुलाने स्वयं नकुल गये थे। उनके साथ ही विदुर, कृपाचार्य, अनुजों-सहित दुर्योधन, कर्ण, शकुनि, गान्धारनरेश सुबल, शल्य, अश्वत्थामा, जयद्रथ, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, कुन्तिभोज, विराट, शिशुपाल आदि

सैकड़ों राजा-महाराजा, युधिष्ठिर के लिए बहुमूल्य रत्नों की भेंट लेकर यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आये। सब का यथा-योग्य स्वागत-सत्कार हुआ और, यज्ञ की भावना से, सभी को कोई न कोई उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। दु:शासन को भोजन-सामग्री की देखभाल का, अश्वत्थामा को ब्राह्मणों की सेवा-सुश्रूषा का तथा संजय को राजाओं के स्वागत-सत्कार का कार्य सौंपा गया। पितामह भीष्म तथा द्रोणाचार्य पर सभी कार्यों एवं कर्मचारियों के निरीक्षण का भार था। कृपाचार्य धन, रत्न आदि की देखभाल तथा दक्षिणा देने का कार्य कर रहे थे। बाह्लीक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ घर के स्वामी की भाँति सबकी समस्याओं का निवारण करते रहते थे। विदुर व्यय का लेखा-जोखा कर रहे थे और दुर्योधन को भेंट में प्राप्त धन, रत्न आदि के भण्डारण का उत्तरदायित्व मिला था।

यज्ञ के अन्त में, अभिषेक के दिन, पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर से सभी माननीय अतिथियों का सत्कार करने को कहा। सर्वाधिक सम्माननीय अतिथि का सबसे पहले सम्मान करने की परम्परा के नाते, युधिष्ठिर ने पितामह से इस विषय में परामर्श माँगा तो उन्होंने, बिना संकोच के, सर्व-प्रथम कृष्ण का सम्मान करने का सुझाव दिया। पितामह का संकेत पाते ही सहदेव ने विधिपूर्वक कृष्ण को अर्घ्यदान किया और कृष्ण ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार उसे स्वीकार किया।

इतना विराट आयोजन निर्विघ्न पूर्ण हो रहा था... किन्तु सम्भवत: आगन्तुक राजाओं में कुछ ऐसे भी रहे हों, जो युधिष्ठिर का अभ्युदय देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या कर रहे थे। उनमें एक चेदिराज शिशुपाल भी था। कृष्ण का अग्रपूजन देखकर जैसे उसे एक बहाना मिल गया। उसने क्रोध भरे स्वर में कहा, "यह तुमने क्या किया? अनेक बड़े महात्माओं तथा राजर्षियों के रहते, कृष्ण की अग्रपूजा का क्या अर्थ है? पाण्डवो! तुम अनुभवहीन हो... तुमने बड़ी मूर्खता कर दी। और यह भीष्म, यह तो सठिया गया है।

"कृष्ण न तो कहीं का शासक है और न ही आयु में सबसे बडा। अभी तो कृष्ण के पिता भी जीवित हैं। फिर महर्षि व्यास हैं, तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य हैं, कृपाचार्य हैं। उन सब के सम्मुख कृष्ण क्या है? कृष्ण का अग्रपूजन करके तुमने सभी अतिथि राजाओं का अपमान किया है।"

अचानक शिशुपाल के क्रोध-भरे प्रलाप से सभा का वातावरण दूषित हो गया। सभी हतप्रभ एवं अवाक् रह गये।

"और कृष्ण..." शिशुपाल ने कृष्ण की ओर व्यंग्य-बाण ताना। "तुमने यह अग्रपूजा किस बूते पर स्वीकार ली? अरे तुम हो क्या? सच पूछो तो पाण्डवों ने तुम्हारा भी अपमान किया है... जैसे नपुसक का विवाह करा देना, या अन्धे के हाथ में दर्पण थमा देना... या भिखारी को राजाओ की पंक्ति में बिठा देना.."

युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर शिशुपाल को समझाने तथा शान्त करने का प्रयास किया। भीष्म ने भी कृष्ण की योग्यता एवं उपलब्धियाँ वर्णित करते हुए शिशुपाल को सन्तुष्ट करना चाहा... सहदेव ने भी उसे रोका, किन्तु शिशुपाल का क्रोध भड़कता ही जा रहा था। उसकी आँखें अंगारे बरसा रही थीं। उसने सभी उपस्थित राज--प्रमुखों को ललकारकर कहा, "आप सब मेरा साथ दें तो हम, पाण्डवों तथा यदुवंशी सेनाओं से टक्कर लेकर, इनसे अपने अपमान का बदला लेंगे... हम युधिष्ठिर का यज्ञान्त अभिषेक नहीं होने देंगे।"

शिशुपाल को शिष्टाचार की सभी सीमाएँ लाँघते देख भीष्म ने उसे चेताया, "शिशुपाल! ऐसा अनर्थ न करो... अन्यथा परिणाम तुम्हारे हित में नहीं होगा।"

भीष्म की चेतावनी सुनकर शिशुपाल और भी उग्र हो उठा, "क्या कर लोगे तुम? तुम्हें लज्जा नहीं आती अपने अतिथि से ऐसे अपमानजनक ढंग से बात करते हुए? अरे मूर्ख! तू कृष्ण के गुण गाता है कि उसने पूतना को मार डाला था... एक स्त्री की हत्या करके क्या कोई महान बन जाता है? और जिस कंस का नमक खाकर यह पला था, उसी की इसने हत्या कर दी! ऐसे कृतघ्न को तुम धर्मज्ञ बताते हो? और तुम क्या हो...? तनिक अपने हृदय से विचार करके तो देखो। काशिनरेश की कन्याओं को बल-पूर्वक उठा लाये... और जब अम्बा ने तुमसे विवाह करना चाहा तो अपने ब्रह्मचर्य की आड़ लेकर उसे ठुकरा दिया। अरे विवाह न करने से ही कोई ब्रह्मचारी नहीं बन जाता.... विवाह तो नपुंसक भी नहीं करते। तुम्हारे जैमे मूर्ख एव नपुसक बूढ़े के परामर्श पर चलकर पाण्डव भी महामूर्ख ही बने रहेंगे।"

शिशुपाल के अनर्गल प्रलाप मे भीमसेन तथा अर्जुन तिलमिला रहे थे.. भीमसेन क्रोध में भरकर उस पर टूटना ही चाहते थे कि भीष्म ने उन्हें रोक लिया। इस पर भी शिशुपाल को चेत नहीं हुआ। वह व्यंग्य में हँसकर बोला, "अरे छोड दो इसे... तनिक मैं भी तो देखूँ इसमें कितना बल है! खा खाकर कोई मोटा भले ही हो ले, बल नहीं प्राप्त कर सकता।"

भीष्म ने भीमसेन को फिर समझाते हुए रोका, "इससे मत उलझो वत्स! जो भी हो, इस समय यह तुम्हारा अतिथि है... और इसके सिर पर तो काल मँडरा रहा है। देखना, यह स्वयं ही शान्त न हुआ तो कोई न कोई इसे शान्त कर ही देगा।"

"अरे जा बुड्ढे..." शिशुपाल ने व्यंग्य एवं घृणा भरे स्वर में कहा, "कौन है जो मुझे हाथ लगाने का भी साहस करे। यहाँ सब तेरी ही तरह के नपुंसक हैं... अन्यथा यह अन्याय देख उनका रक्त खौलता और वे मेरे साथ खड़े होकर पाण्डवों से अपने अपमान का बदला लेते। कौन साहस करेगा मुझसे टक्कर लेने का... ये मोटा भीमसेन, या ये घमण्डी अर्जुन या ये... तुम्हारा कपटी कृष्ण? इसमें स्वयं लड़ने का बल नहीं है, यह तो बस दूसरों को ही लड़वा सकता है।"

"अब बहुत हो चुका शिशुपाल..." कृष्ण ने गम्भीर स्वर में स्पष्ट कहा, "तुमने शिष्टाचार की हर सीमा तोड़ दी... और अब मेरे धैर्य की सीमा भी समाप्त हो चुकी है।"

"तो क्या कर लोगे तुम?" शिशुपाल ने ललकारते हुए कहा, "अग्रपूजा पाकर लगता है तुम्हें भी अपने विषय में कुछ भ्रम हो गया है।"

"भ्रम हुआ नहीं शिशुपाल..." कृष्ण ने गम्भीरतापूर्वक कहा, "भ्रम टूट रहा है। धर्म कहता है कि क्षमा के द्वारा शत्रु को भी जीता जा सकता है, किन्तु आज स्पष्ट हो रहा है कि यह धर्म-नीति पशुओं के सम्बन्ध में व्यर्थ हो जाती है। क्षमा द्वारा किसी पशु को मानवता का पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता।"

"तुमने मुझे पशु कहा...?" शिशुपाल ने अपना खड्ग खींच लिया।

तभी कृष्ण ने उपस्थित राजाओं को सुनाते हुए कहा, "मित्रो! यह मेरी बुआ का पुत्र है... और आयु में मुझसे छोटा भी। बचपन में भी इसकी उद्दण्डता पर बुआ कहती थीं, 'यह तुम्हारा छोटा भाई है... क्षमा कर दो,' और मैं हर बार इसे क्षमा कर देता था। किन्तु यह नहीं [illegible] सदैव मुझसे ईर्ष्या ही करता रहा। आज भी मेरे शान्ति-प्रयास व्यर्थ गये। मैं अपना अपमान भले ही सह लूँ... किन्तु यह यज्ञ-कार्य में विघ्न डाल रहा है, और वयोवृद्ध पितामह का भी निरन्तर अपमान कर रहा है। अब यह क्षमा के योग्य नहीं रहा।"

कृष्ण का उद्घोष सुनकर शिशुपाल खड्ग ताने उनकी ओर बढ़ा... और उधर, क्षणांश में ही कृष्ण ने कमर से लटकता अपना सुदर्शन चक्र निकालते हुए, तीव्र गति से घुमाकर उसकी ओर फेंका। देखते ही-देखते शिशुपाल का सिर, धड़ से अलग होकर, धरती पर लोटने लगा।

सैकड़ों राजाओं एवं शासकों से भरे उस विशाल-प्रांगण में सहसा सन्नाटा छा गया। आश्चर्य एवं आतंक में लोगों का मुँह अधखुला रह गया और आँखें विस्मय में फैली रह गयीं। वे सब समझ रहे थे कि शिशुपाल सभ्य समाज की सभी सीमाएँ पार कर चुका था.. किन्तु वे यह कल्पना नहीं कर पाये थे कि कोई चेदि के शक्तिशाली सम्राट को उसकी उद्दण्डता के लिए, सार्वजनिक रूप से, इस प्रकार दण्डित करने का साहस करेगा। उनमें से बहुतेरों के मन में यह आशंका थी कि अतिथियों में से सम्भवत: कोई, इस दण्ड को अन्याय अथवा अमानवीय कहकर, इसका विरोध करेगा... किन्तु कहीं कोई कुछ नहीं बोला। उनमें से कुछ ने आगे बढ़कर कृष्ण को बधाई दी, तो कुछ शिशुपाल के रक्त स्नात सिर को क्षण भर देखते हुए मुँह फेरकर चले गये... और कुछ ने राजगुरु धौम्य के पास जाकर यज्ञ का शेष कार्य किसी अन्य स्थान पर चलकर सम्पन्न करने का अनुरोध किया।

यज्ञ समाप्त होने पर समस्त अतिथि राजाओं ने, युधिष्ठिर को साधुवाद देकर प्रणाम करके, आतिथ्य-सत्कार की प्रशंसा की और अपने राज्य को लौट जाने के लिए आज्ञा माँगी। युधिष्ठिर ने उन सबको धन्यवाद देते हुए विदा दी... और भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, आदि राज्य की सीमा तक उन्हें पहुँचाने गये।

कुछ ही दिनों में कृष्ण ने भी, अपनी बुआ कुन्ती तथा द्रौपदी, सुभद्रा-सहित सभी पाण्डवों को शुभकामनाएँ देते हुए द्वारका लौटने के लिए विदा माँगी। उन्हें विदा देने के लिए विवश पाण्डवों ने कृष्ण के रथ के पीछे बहुत दूर तक पैदल चलकर उन्हे विदा दी।

फिर महर्षि व्यास ने उन्हें आशीर्वाद एवं धर्मोपदेश देकर विदा ली। युधिष्ठिर ने उनके सम्मुख धर्म-सम्मत विधि से न्यायपूर्वक शासन करने का व्रत लिया, और कहा कि वे कभी किसी के प्रति कटु वचन नहीं बोलेंगे और न्याय के मार्ग में, पुत्र हो अथवा शत्रु, किसी के प्रति भेदभाव नहीं करेंगे... क्योंकि भेद-भाव ही पारस्परिक वैमनस्य का प्रमुख कारण बनता है।

उन सबके लौट जाने के बाद इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों के पास शकुनि तथा दुर्योधन रह गये थे। दोनों के पास पर्याप्त समय था। इन्द्रप्रस्थ में इधर-उधर घूमकर नगर तथा उसकी व्यवस्था को देखने-समझने का... और, एकान्त क्षणों में, अपने अनुभवो के विषय में विस्तार से वैचारिक आदान-प्रदान का। वे दोनों ही रह-रहकर राजसूय यज्ञ के वैभव तथा उसकी व्यवस्था की चर्चा कर बैठते थे।

"इतना धन... इतने रत्न, उपहार आदि..." कहते-कहते दुर्योधन की आँखें खुली रह जाती थीं, "मातुल, मैंने तो एक साथ कभी नहीं देखे... एक साथ कभी देखने की कल्पना भी नहीं की।"

"कल्पना भी नहीं की, वत्स!" शकुनि कुछ व्यंग्य और कुछ हास्य में कहते, "अरे मैं तो इससे भी अधिक की कल्पना किये बैठा हूँ... वर्षों से। तुममें यह बड़ा दोष है, पुत्र! दृष्टि ऊँची रखा करो... लक्ष्य ही बड़ा नहीं होगा, तो उपलब्धि कहाँ से आएगी?"

"अरे मातुल..." दुर्योधन कहता, "मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता... मैं तो भेंट में मिले रत्न आदि का संग्रह करने के कार्य में लगा था। इतनी धन सम्पदा आयी कि समेटते-समेटते मेरी भुजाएँ दुःखने लगीं। और मूर्ख मैं... प्रसन्नता के मारे उन्हें इस भ्रम में समेटता रहा कि वह सब मेरा ही है।"

"तुम्हारा ही होता वत्स... सब तुम्हारा ही होता.." शकुनि ने कहा, "यदि जीजाश्री ने, बिना अन्य सभी से परामर्श किये, यह उपजाऊ भू-खण्ड पाण्डवों को न दे दिया होता तो यह सब तुम्हारा ही था।"

"तो मातुल..." दुर्योधन ने प्रश्न किया, "आपने पिताश्री को पहले क्यों नहीं रोका?"

"मैं...?" सहसा इस प्रश्न के लिए शकुनि तैयार नहीं थे किन्तु उनकी प्रत्युत्पन्नमति सहायक बनी। "अरे मैं होता कौन हूँ भानजे! मेरी सुनता ही कौन है? तुम्हारे कुल में तो मुझे परकीय ही समझा जाता है न! महारानी गान्धारी का भाई.. . यही न! अन्यथा सोचकर देखो, जब यज्ञ में सभी को कोई न कोई उत्तरदायित्व दिया जा रहा था तो मुझे कोई कार्य क्यों नहीं दिया गया? मुझे तो अतिथियों पर चँवर डुलाने का कार्य भी नहीं दिया गया... जो मैं अपना धर्म समझकर प्रसन्नतापूर्वक करता रहता। किन्तु नहीं, मैं दूर का सम्बन्धी जो ठहरा। बैठा दिया गया मुझे बहुत दूर... बस भोजन करते रहने के लिए। जैसे मैं भोजन का भूखा हूँ! अरे भानजे, इससे दस-गुने स्वादिष्ट एवं बहुमूल्य भोजन का सेवन करके मैं पला-बढ़ा हूँ, अपने देश गान्धार में। यह तो तेरा प्रेम है भानजे, जो रोके रहता है मुझे यहाँ, हस्तिनापुर में।"

"मैं जानता हूँ मातुल..." दुर्योधन ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "आप पिताश्री से बढ़कर ही मेरे शुभ-चिन्तक हैं। अब उन्हें क्या दोष दूँ...। उनके पास तो सामान्य दृष्टि का भी अभाव है, उनसे दूर-दृष्टि की भला क्या आशा की जाए! और फिर रह-रहकर उन पर अनुज-प्रेम का दौरा भी पडता रहता है। अन्यथा क्या आवश्यकता थी उन लोगों को खाण्डवप्रस्थ देने की? एक बार जब उन्होंने युवराज-पद त्याग दिया... और नया युवराज घोषित हो गया... तो पुनः यह प्रश्न ही क्यों उठने दिया उन्होंने? वे लोग क्यों हस्तिनापुर त्यागकर द्रुपद के राज्य में जा पहुँचे? मैंने तो नहीं कहा था उनसे.."

"कुछ दोष तो तुम्हारा भी है वत्स..." शकुनि ने उपालम्भ देते हुए कहा, "तुमने पुरोचन पर कुछ अधिक ही विश्वास कर लिया... और तो और, द्रुपद के यहाँ, स्वयंवर में भीमसेन तथा अर्जुन को साथ देखकर भी नहीं पहचाना। अन्यथा कुम्भकार के पकते हुए आवाँ में ही लाक्षागृह की असफलता को सफलता में बदला जा सकता था।"

"मैं क्या करूँ मातुल!" दुर्योधन ने हताश स्वर में कहा, "उनका भाग्य भी अकारण ही मेरे पुरुषार्थ पर पानी फेरता रहता है। उनके भाग्य से ही खाण्डवप्रस्थ का बंजर पड़ा यह वन क्षेत्र भी स्वर्ण उपजाने लगा।"

"उनका भाग्य!" शकुनि ने फुफकारते-से स्वर में कहा, "अरे उनके भाग्य को तो मैं दो दिन में धूल में मिला दूँ... बस डरता हूँ उस बुड्ढे से... और तुम्हारे उस बड़बोले काका से, जिसे तुम्हारे पिताश्री ने महामन्त्री बना रखा है।"

"कुछ करो मातुल, कुछ करो..." दुर्योधन ने व्यग्र होते हुए कहा, "मैं पाण्डवों का उत्कर्ष और नहीं देख सकता। मेरी आँखों में गड़ता रहता है उनका वैभव...

अनिद्रा मुझे जीवित नहीं छोड़ेगी।"

"मैं क्या करूँ पुत्र!" शकुनि ने प्रेम-पगे स्वर में कहा, "मैं तो पराया ठहरा। अब तो तुम्हें ही कुछ करना होगा।"

"जब आप नहीं कर सकते मातुल..." दुर्योधन ने हताश होकर कहा, "तो भला मैं क्या करूँगा!"

"क्यों!" शकुनि ने अर्थपूर्ण दृष्टि डाली, "बाल-हठ बहुत कुछ कर सकता है वत्स। पिता का हृदय कैसे भी वज्र का क्यों न बना हो, पुत्र के हठ के आगे नवनीत की भाँति पिघल जाता है।"

"तो बताइए न...! मैं क्या करूँ?"

"वह भी बताऊँगा..." शकुनि ने समझाते हुए कहा, "अभी तनिक धैर्य धारण करो।"

प्रात:कालीन सन्ध्योपासना समाप्त करके, जलपान के पश्चात्, दुर्योधन ने इन्द्रप्रस्थ के नव-निर्मित सभा-भवन को देखने की इच्छा व्यक्त की। नकुल-सहदेव में भी अपना वह विस्मयकारी वास्तु-शिल्प दिखाने का उत्साह था। सभी यज्ञ की व्यस्तता के पश्चात् अवकाश की मन:स्थिति में थे... भीमसेन तथा अर्जुन भी उनके साथ हो लिये। दुर्योधन ने शकुनि से भी साथ चलने का आग्रह किया... किन्तु शकुनि ने कहा, "अरे तुम सब युवा हो... तुम जाओ। मुझे तो धर्मराज के सान्निध्य में कुछ धर्म की शिक्षा प्राप्त करने दो... जाने फिर कब यह अवसर प्राप्त हो!"

"अरे मामाश्री..." युधिष्ठिर ने संकोच-भरे स्वर में कहा, "मैं तो बालक हूँ आपका। सीखना तो मुझे है आपसे।"

"अरे वत्स, मैं क्या सिखाऊँगा तुम्हें!" शकुनि ने मुस्कान बिखेरते हुए कहा, "मैं तो धन्य हो रहा हूँ प्रतिदिन तुम्हारा उत्कर्ष देखकर, तुम्हारा वैभव देखकर। अरे मैंने तो जीवन गँवा दिया अपना, अपने माता-पिता एवं राज्य से भी दूर रहकर... बस, तुम लोगों को अपनी दृष्टि के सम्मुख बड़ा होता देखने के लिए... उन्नति करते देखने के लिए। अब आयु हुई मेरी परलोक सुधारने की... सो तुम कुछ धर्म-ज्ञान मुझे भी दे दो।"

"मामाश्री! यह तो आपका स्नेह है..." युधिष्ठिर ने विनम्रतापूर्वक कहा, "मैं ऐसा कुछ भी नहीं जानता, जो आप पहले ही न जानते हों।"

"नहीं धर्मराज नहीं..." शकुनि ने तत्परतापूर्वक कहा, "मैं तो निपट अज्ञानी ही रहा। जीवनभर जानने के नाम पर कुछ सीखा भी तो बस द्यूत... उसी में सुख मिला, तो बस उसी की साधना करता रहा।"

"द्यूत...!" युधिष्ठिर के स्वर में ही नहीं, दृष्टि में भी विस्मय था।

"हाँ, द्यूत..." कहकर दूसरे ही क्षण शकुनि ने स्वर बदला, "अरे हाँ, वैसे तो सभी निन्दा करते हैं द्यूत की... किन्तु मित्र-भाव से खेला जाए तो बड़ा ही मनोग्राही, बड़ा ही स्वस्थ मनोरंजन है।"

"स्वस्थ मनोरंजन?" युधिष्ठिर के स्वर में वही शंका थी।

"बहुत ही स्वस्थ..." शकुनि ने आश्वस्त करते हुए कहा, "थके-हारे मन को पुनर्जीवन प्राप्त हो जाता है। अरे हाँ वत्स! तुम्हें तो राज्य की, प्रजा की, अनुजों की, चिन्ताएँ ही चिन्ताएँ रहती होंगी। कभी-कभी तुम भी खेल लिया करो... बस घडी-दो-घड़ी। कुछ चिन्तामुक्त होने के लिए... समस्याओं से जूझने के लिए नयी ऊर्जा प्राप्त करने के उद्देश्य से।"

"नहीं मामाश्री..." युधिष्ठिर ने संकोच के साथ विरोध करते हुए कहा, "जब शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है तो..."

"अरे नहीं वत्स..." शकुनि ने अपने मत को तर्क द्वारा स्थापित करते हुए कहा, "घड़ी-दो-घड़ी के मनोरंजन का... द्यूत जैसे स्वस्थ मनोरंजन का भला कौन निषेध करेगा? शास्त्रों में निषेध तो यह है कि धन की लोलुपता के लिए द्यूत न खेला जाए। या द्यूत का कोई ऐसा अभ्यस्त न बन जाए कि अपने कर्तव्यों को भी भुला बैठे। अब भई, तुम तो ऐसा करोगे नहीं... कर ही नहीं सकते।"

"फिर भी..." युधिष्ठिर ने दबे स्वर में कहा।

"लगता है तुमने पहले कभी खेला नहीं..." शकुनि ने ज्ञानियों-वाली शैली में कहा, "कोई बात नहीं... चलो आज दो घड़ी साथ दे लो मेरा... अतिथि-सत्कार के नाते ही सही। यहाँ कहीं पाँसे होंगे? और द्यूत पट!"

शकुनि ने क्षण भर इधर-उधर देखा और "अच्छा, तनिक ठहरो... मैं ही लिये आता हूँ," कहते हुए प्रस्थान किया। कुछ ही देर में लौटकर उन्होंने द्यूत-पट बिछाया और गोटें यथास्थान लगा दीं।

"अब देखो..." शकुनि ने युधिष्ठिर की ओर देखते हुए खेल का प्रारम्भिक ज्ञान देना प्रारम्भ किया—"बस पाँसे डालो और जो अंक मिलें, गोट उतनी ही आगे बढ़ा दो और वहाँ पहले से यदि शत्रु की... अर्थात् दूसरे खिलाड़ी की गोट रखी हो, तो हटा दो उसे। बस..."

"बस, इतना ही...!" युधिष्ठिर ने कुछ रुचि दिखायी।

"और क्या!" शकुनि ने उन्मुक्त स्वर में चहकते हुए कहा।

"तो फिर यह शास्त्र द्वारा निषिद्ध क्यों है?" युधिष्ठिर को फिर भी कुछ शंका थी।

"अरे शास्त्रों की भली बतायी..." शकुनि ने विहँसते स्वर में कहा, "शास्त्रों ने

तो अर्थ-संचय का भी निषेध किया है। अब बताओ... इतना धन जो इस यज्ञ में तुम्हें प्राप्त हुआ है, क्या फेंक दोगे इसे?"

युधिष्ठिर उत्तर के लिए उपयुक्त शब्दों की खोज में क्षण-भर ठिठके... किन्तु तभी शकुनि ने अपनी चाल चलते हुए पाँसे युधिष्ठिर की ओर बढ़ा दिये।

खेल में समय का पता ही नहीं चला। पहला दाँव शकुनि ने जीता... और दूसरा युधिष्ठिर ने। और फिर तीसरी, चौथी और पाँचवीं बार विजय फिर युधिष्ठिर की ही हुई तो, शकुनि कुछ विस्मय तथा कुछ निराशा में बोले, "अरे वत्स... तुम तो कहते थे कि तुम द्यूत खेलते ही नहीं। अरे तुमने तो मुझ जैसे मँजे हुए, अनुभवी खिलाड़ी को ही हरा दिया। पर भई, मूल रूप से यह खेल बुद्धि और भाग्य का है। तुम कुशाग्र बुद्धि के धनी तो हो ही... और भाग्य भी हर प्रकार तुम्हारे साथ है।"

अगले दाँव के लिए द्यूत पट पर गोटें फिर बिछी ही थीं... कि क्रोध में चिल्लाते फुफकारते हुए दुर्योधन ने तीव्र गति से आकर कहा, "उठिए मातुल! अब मै यहाँ एक क्षण भी नहीं रुकना चाहता।"

शकुनि ने सहसा आश्चर्य मे दुर्योधन की ओर देखा। युधिष्ठिर ने भी चिन्तित स्वर में पूछा, "क्या हुआ अनुज दुर्योधन...?"

"होना क्या है...?" दुर्योधन ने आग्नेय नेत्रों से देखते हुए उत्तर दिया, "वही जो निरन्तर होता रहा है... मेरा अपमान।"

"किसने...!" युधिष्ठिर के माथे पर बल पड गये, "किसने किया तुम्हारा अपमान?"

"किस-किस का नाम लूँ, धर्मराज!" दुर्योधन ने व्यंग्य एवं घृणा से कहा, "सभी तो तुम्हारे आज्ञाकारी-जन हैं।"

"किन्तु हुआ क्या अनुज?" युधिष्ठिर ने शान्त रहते हुए ही, गम्भीर स्वर में पूछा।

"अच्छा किया आपने मातुल..." दुर्योधन ने युधिष्ठिर के प्रश्न को नकारते हुए शकुनि को सम्बोधित किया, "जो आप वह मायावी-भवन देखने नहीं गये... आप दूरदर्शी हैं..."

"वह तो मैं हूँ, भानजे!" शकुनि ने आत्म-तोष में अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, "तुम आज भले न मानो, कल मानोगे... अथवा वर्ष, दो वर्ष बाद मानोगे।"

"मैं ही मूर्ख था जो आ गया उन सबके छल में.." दुर्योधन अपनी रौ में कहे जा रहा था, "वे सब कपट से ले गये मुझे वहाँ, जहाँ भ्रम था... छलावा था और ध्यान बँटाकर मेरा कहीं गिरा दिया मुझे जल में, कहीं टकरा दिया किसी भीत से या पुष्प तोड़ने को कह दिया किसी रासायनिक पदार्थ से बने पौधे से... और फिर हँस पड़े सब के सब, जैसे मैं अन्धा हूँ... या कोई महामूर्ख!"

"अरे भूल जाओ अनुज..." युधिष्ठिर ने समझाते हुए कहा, "भुला दो उसे.

बन्धुओं का परस्पर हास-परिहास मान कर। मैं अनुजों को समझाऊँगा... उन्हें क्षमा माँगनी चाहिए तुमसे। वैसे वह भवन हमारे वास्तुकार ने बड़ी कल्पना के साथ बनाया ही था, इसी उद्देश्य से... अपने शिल्प का चमत्कार दिखाने के लिए।"

"अगर ऐसा ही था, तो यह भ्रम और किसी को क्यों नहीं हुआ?" दुर्योधन ने क्रोध में ही पुनः प्रश्न किया, "और भी तो सैकड़ों अतिथि आये थे आपके यहाँ। उनका कितने लोगों ने उपहास किया? संसार भर में क्या एकमेव मूर्ख... एकमेव अन्धा मैं ही हूँ?"

युधिष्ठिर दुर्योधन के शब्द-प्रहार से आहत होने लगे थे। उन्होंने प्रतिहारी को बुला कर भीमसेन आदि अनुजों को तुरन्त ही बुला लाने का आदेश दिया।

"मैं तो जा रहा हूँ, मातुल!" दुर्योधन ने युधिष्ठिर की ओर देखते हुए कहा, "आपकी इच्छा हो तो भले ही इन अहंकारी बन्धुओं का नाटक देखिए... मुझमें इतना धैर्य नहीं है।"

दुर्योधन को चलता देख शकुनि ने उसकी ओर बढ़ते हुए जोड़ा, "ऐसा क्रोध अच्छा नहीं होता... और वह भी अपने सम्बन्धियों के बीच।"

दुर्योधन को शान्त करने के सभी प्रयास विफल हुए... इस बीच क्रोधाग्नि में कुछ और घृत आ पड़ा, जब किसी ने चुपचाप पहुँचकर उसे सूचना दी कि उसके साथ हुई दुर्घटना की बात सुनकर महारानी द्रौपदी अट्टहास कर उठी थीं। दुर्योधन के क्रोध ने विक्षिप्तता का रूप ले लिया और कुछ ही क्षणों में वह शकुनि-सहित अपने रथ पर आरूढ़ हो चुका था। विदाई के समय पाण्डवों ने उसे हाथ जोड़कर अभिवादन किया.. उसका भी दुर्योधन ने कोई उत्तर नहीं दिया .. बस शकुनि ने ही धीरे से मुस्कराते हुए अपना सिर झुकाया।

मार्ग में, बस रथ के पहियों की घर्घराहट ही थी, या घोड़ों की टाप का स्वर जो शकुनि तथा दुर्योधन के बीच घूम रहा था। दुर्योधन के मुख पर एक विचित्र कठोरता थी जो शकुनि ने पहले कभी नहीं देखी थी। कुछ प्रतीक्षा के बाद मुस्कराते हुए उन्होंने पूछ ही लिया, "वत्स! मुझे भी तो कुछ बताओ कि क्या हो गया? मन की बात, किसी वृक्ष अथवा भीत के सम्मुख कह डालने से भी मन हल्का हो जाता है... और मैं तो हाड मांस का मानुष हूँ... और तुम्हारा शुभ-चिन्तक भी।"

"जब भाग्य ही खोटा हो, मातुल..." दुर्योधन ने वैसे ही पाषाण बने हुए, गम्भीर स्वर में कहा, "तो कोई शुभ-चिन्तक क्या कर लेगा!

"किसका भाग्य खोटा है पुत्र?" शकुनि ने मुस्कराकर दुर्योधन के सिर पर स्नेहपूर्वक हाथ फेरते हुए कहा, "तुम तो इतने बड़े साम्राज्य के युवराज हो... और यदि

कोई चिन्ता हो भी... तो बाँटने से, कह डालने से, मन को शान्ति ही मिलती है।"

"तो कहे डालता हूँ मातुल..." दुर्योधन ने टूटकर, रुआँसे स्वर में, कुछ चिल्लाते हुए कहा, "तो बाँटिए मेरी चिन्ता... ला दीजिए मुझे पाण्डवों की वह अपार सम्पत्ति जो उन्हें भेंट में प्राप्त हुई है... जिसे समेटते-समेटते भुजाएँ थक गयी थीं मेरी... नेत्र फटे रह गये थे मेरे। क्यों मिली उन्हें इतनी सम्पत्ति? क्यों मिली?"

सहसा दुर्योधन के उस प्रलाप से सहमकर शकुनि को रथ के पहियों की घर्घराहट भी सुनाई देना बन्द हो गयी। उन दोनों के बीच आहत मौन असहाय होकर आ बैठा।

कुछ समय बाद शकुनि ने कहा, "यह चिन्ता तो मुझे भी हुई थी... जब मैंने पाण्डवों द्वारा राजसूय यज्ञ के विषय में सुना था। मैंने कहा भी था जीजाश्री से कि यह यज्ञ आप क्यों नहीं करते! आप कुल-ज्येष्ठ हैं। किन्तु उन्होंने अपने उसी निराशावादी स्वर में कह दिया कि 'मैं तो नेत्र-हीन हूँ... प्रज्ञाचक्षु... और यह तो पहले सोचने का विषय था। अब, जब कि मेरे अनुज-पुत्रों ने यह कार्य प्रारम्भ कर ही दिया है... तो मैं बीच में उसे, अपने हाथों में नहीं ले सकता।"

"मैं तो अन्धा नहीं हूँ मातुल..." दुर्योधन ने दाँत पीसते हुए कहा, "आपको मुझसे कहना चाहिए था।"

"तुमसे क्या कहता पुत्र!" शकुनि ने कहा, "अब जो भी हो, महाराज तो वे ही हैं... और पिता भी हैं तुम्हारे। वे तो यह भी कहने लगे कि राजसूय कोई सरल काम नहीं है... हर कोई नहीं कर सकता।"

"वही तो मातुल!" दुर्योधन ने हताश, गम्भीर स्वर में कहा, "यह भाग्य कहाँ से मिल गया युधिष्ठिर को...? जंगल में जनमे उन पाँचों भाइयों को? जो देखते ही देखते खाण्डवप्रस्थ की पथरीली भूमि पर उन्होंने इतना बड़ा साम्राज्य खड़ा कर लिया।"

"अब देखो..." शकुनि ने ज्ञानियों की भाँति समझाते हुए कहा, "यदि पड़ोसी के पास अधिक सम्पत्ति हो, तो दो ही मार्ग हैं। या तो उधर से दृष्टि हटा लो जैसे वहाँ कुछ है ही नहीं..."

"यह मैं नहीं कर सकता मातुल..." दुर्योधन ने विक्षिप्त होते हुए ऊँचे स्वर में कहा, "कदापि नहीं कर सकता। उनकी सम्पत्ति मेरे नेत्रों में गड़ रही है। मैं मुख मोड़ लूँ? उस सम्पत्ति से जो जीवन्त दृश्य बनकर मेरी दृष्टि के सम्मुख घूमती है! और आँखें बन्द कर लूँ तो वह मेरे हृदय में ज्वाला बनकर भड़क उठती है।"

"तुमने मेरी बात नहीं सुनी प्रिय भानजे!" शकुनि ने फिर ज्ञानियों-जैसे स्वर में उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "तुम तो पहला विकल्प सुनकर ही भड़क उठे।"

"और दूसरा विकल्प क्या है?"

"विकल्प यह है कि..." शकुनि ने अपना स्वर ही नहीं दुर्योधन के मुख के भाव

को भी तौलते हुए कहा, "देखो... उसकी सम्पत्ति को घूरकर, नेत्र पूरी तरह फैला कर, ऐसे देखो कि आँखों से ही सब खा लो... कि कुछ भी न बचे वहाँ।"

"आँखों से...?" दुर्योधन ने शकुनि को घूरकर देखा। "पहेलियाँ न बुझाइए, मातुल! मैं पहेलियाँ बूझने की मन:स्थिति में नहीं हूँ। मैं जल रहा हूँ.. उनकी भाग्यश्री से, उनकी राजलक्ष्मी से..."

"सभी काम तुम्हारे अस्त्र-शस्त्रों से नहीं होते, प्रिय वत्स..." शकुनि ने उसी महाज्ञानियों जैसी शैली में कहा, "कुछ और भी शस्त्र होते हैं जो न कहीं ध्वनि करते हैं और न कोई धमाका... बस संकेत में ही सब कुछ ध्वस्त करने की क्षमता रखते हैं..."

"ऐसा कौन-सा शस्त्र है...?"

"बहुत हैं... शकुनि ने अपने प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कहा, "एक नहीं अनेक हैं।"

"जैसे...?"

"जैसे. " शकुनि ने क्षण भर रुकते हुए कहा, "एक तो वाणी ही है। जब चाहो अमृत बरसा दो, जब चाहो विष घोल दो .."

"वही विष-भरी वाणी तो मेरे घावों पर नमक छिड़क चुकी है मातुल!" दुर्योधन ने घृणा-भरे मुख से कहा, "उस सभा-भवन मे मेरा वह उपहास! अरे मेरे पास इतना धन होता तो मैं भी बनवा लेता ऐसा ही सुन्दर... इससे भी बढ़कर सुन्दर सभा-भवन। वे व्यंग्य बाण मेरे मन मे लगी अग्नि पर घृत का कार्य कर रहे हैं। मैं और नहीं सह पाऊँगा मातुल!"

"अरे वत्स! तुम पूरी बात ही नही सुनते..." शकुनि ने स्नेह-सहित धैर्य बँधाते हुए कहा, "वह तो मैंने एक उदाहरण दिया था.. बाण और भी हैं तुम्हारे तणीर में। और क्यो नही बनवा सकते तुम वैसा ही सुन्दर सभागृह? तुम्हारे पास क्या धन का अभाव है? बस एक बार निर्णय करने भर की देर है..."

"पिताश्री नहीं मानेंगे..." दुर्योधन ने निराश स्वर में कहा, "इतना व्यय करने के लिए।"

"नहीं मानेंगे...?" शकुनि ने आश्चर्य में आँखें फैलाते हुए कहा, "युवराज का प्रस्ताव नहीं मानेंगे? ज्येष्ठ पुत्र का अनुरोध नहीं मानेंगे? असम्भव वत्स, असम्भव..."

"किन्तु सभा-भवन बन भी गया..." दुर्योधन की शंका ज्यों की त्यों थी, "तो भी, वह अपार धन-राशि तो मेरी नहीं हो पाएगी।"

"वह भी हो सकती है वत्स..." शकुनि ने मुस्कराते हुए कहा, "मैंने कहा न! शस्त्र और भी हैं... जो चुपचाप सब कुछ ध्वस्त कर देने की क्षमता रखते हैं।"

"तो बताइए न वह शस्त्र कहाँ है?" दुर्योधन ने अधीर होकर अपना हाथ पटकते हुए कहा, "दीजिए मुझे... वह शस्त्र तुरन्त दीजिए।"

"नहीं, भानजे नहीं... वह शस्त्र तुम नहीं भाँज सकते," शकुनि ने रहस्य को और भी गहराते हुए कहा, "वह शस्त्र तो उसका सिद्ध-हस्त योद्धा ही चलाएगा।"

"कौन चलाएगा उसे?" दुर्योधन ने विक्षिप्त की भाँति ऊँचे स्वर मे कहा, "क्या है वह शस्त्र? पहेलियाँ न बुझाइए... मैं जला जा रहा हूँ, और आप हैं कि पहेलियाँ बुझाने में लगे हैं। कब का वैर निकाल रहे हैं मुझसे?"

"वैर नहीं भानजे..." शकुनि ने पुनः समझाते हुए कहा, "पहचान सीखो... व्यक्ति की पहचान करना सीखो। इस समय तुम्हारे सारे साम्राज्य में यदि कोई तुम्हारा सर्वाधिक हितैषी है तो वह मैं हूँ... केवल मैं। तुम्हारे पितामह, तुम्हारे गुरु, तुम्हारे पिता से भी बढ़कर... केवल मैं, जो सारी नीति-अनीति और कर्तव्य-अकर्तव्य को परे ढकेलता हुआ, केवल तुम्हारे हित की बात सोच सकता हूँ।"

"तो फिर आप सीधे-सीधे बताते क्यों नहीं?" दुर्योधन ने खीझते हुए कहा।

"वह योद्धा मैं हूँ..." शकुनि ने अपने वक्ष को विस्तार देने के साथ ही अपने स्वर को महानता प्रदान करते हुए कहा, "और वह शस्त्र मेरे पास है।"

दुर्योधन ने सहसा गम्भीर होकर शंकित स्वर में पूछा, "कैसा शस्त्र?"

उत्तर में, क्षण भर मौन रहते हुए, शकुनि ने अपने अंग वस्त्र मे द्यूत के पाँसे निकाल कर, दुर्योधन के सम्मुख रखे... और बड़े रहस्यमय ढंग से दृष्टि उसके मुख पर टिका दी।

"ये...!" दुर्योधन ने शंकित स्वर में पूछा, "इनसे क्या होगा?"

"ये पूछो... क्या नहीं हो सकता इनसे?" इस बार रहस्य शकुनि की आँखो मे मुस्करा रहा था, "दाँव पर यदि सारा राजपाट लगे... तो एक ही बार में सब कुछ उधर से इधर चला आएगा।"

"किन्तु पाण्डव क्या मूर्ख हैं, जो सब कुछ द्यूत के दाँव पर लगा देंगे?"

"संसार में सब कुछ स्वयं ही नहीं होता... कुछ बनाया भी जा सकता है।"

"किन्तु वे द्यूत खेलेंगे ही क्यों मातुल?"

"खेलेंगे... अवश्य खेलेंगे," शकुनि ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा, "मै उसका बीज भी बो आया हूँ। बस तुम जीजाश्री से निमन्त्रण भिजवा दो पाण्डवों के पास।"

"द्यूत के लिए...?" दुर्योधन ने गम्भीर होकर शंकित स्वर में कहा, "पिताश्री कभी नहीं मानेंगे।"

"फिर वही बात..." इस बार शकुनि ने खीझते स्वर में कहा, "युवराज की बात नहीं मानेंगे? ज्येष्ठ पुत्र की बात नहीं मानेंगे? भला कैसे नहीं मानेंगे! अरे, पुत्र हठ

के आगे कौन है जो तना रह सके?"

उन दोनों के बीच संवाद को सहसा विराम मिला तो रथ के पहियों की घर्घराहट का स्वर उनके बीच आ पसरा... घोड़ों की टापें भी स्पष्ट सुनाई देने लगीं।

दुर्योधन को लगा कि उसके जलते हुए हृदय को शीतलता प्रदान करने के लिए सम्भवतः कोई औषध है... पता नहीं, वह कितनी सफल सिद्ध हो, किन्तु एक बार उसे लेकर प्रयास तो किया ही जा सकता है।

और यदि किसी प्रकार, ऐसा हो सके तो.. उसने मन ही-मन सोचते हुए पास बैठे शकुनि की ओर देखा। शकुनि की आँखों में एक आत्म विश्वास से भरी मुस्कान थी, जिसे देख दुर्योधन के अधरों पर भी एक कुटिल मुस्कान आ बैठी।

दुर्योधन को बुलवा कर, धृतराष्ट्र ने चिन्तित स्वर में पूछा, "यह क्या सुन रहा हूँ पुत्र! तुम ठीक से भोजन नहीं कर रहे हो... चुप-चुप रहते हो। इन्द्रप्रस्थ से लौटकर मुझसे मिलने भी नहीं आये आज दो दिन हो गये!"

"क्या करता आपसे मिलकर!" दुर्योधन ने बुझे स्वर में कहा, "क्या कहता?"

"क्यों पुत्र! क्या कोई कष्ट है तुम्हें?" धृतराष्ट्र की आँखों में उछल-उछलकर मांस पेशियाँ उनके मन की व्यग्रता का परिचय दे रही थीं।

"आप समझ सकें, तो बहुत कुछ है " दुर्योधन ने कुछ रुककर कहा, "और न समझना चाहें तो, कुछ भी नहीं।"

"मैं क्यों न समझना चाहूँगा वत्स!" धृतराष्ट्र ने स्वर में अतिरिक्त स्नेह उँडेलते हुए कहा, "मैं तो सदैव यही चाहता हूँ कि दुःख की कोई छाया भी कभी मेरे पुत्रों पर न पड़े।"

"मात्र चाहने से क्या होता है पिताश्री.." दुर्योधन ने रूठते हुए कहा, "आपको कभी कुछ करना भी तो चाहिए पुत्र के लिए।"

"मैंने क्या नहीं किया पुत्र? जो कुछ मेरे वश में था, सदैव ही तो किया..." धृतराष्ट्र ने अधीर होते हुए कहा।

"क्या नहीं था आपके वश में?" दुर्योधन ने अपने दुराग्रह में स्वर ऊँचा करते हुए कहा, "भला क्या नहीं था हस्तिनापुर नरेश के वश में?"

पुत्र का क्रोध-भरा स्वर सुनकर धृतराष्ट्र स्तब्ध रह गये। फिर भी मौन उन्हीं को तोड़ना पड़ा, "पुत्र! हस्तिनापुरनरेश के वश में तो अपने पुत्रों का मुख देखना भी नहीं है.. किन्तु उस अभागे के वश में सम्भवतः यह तो होगा कि वह अपने पुत्र के दुःख का कारण जान सके।"

वातावरण सहसा भीग उठा था। किन्तु दुर्योधन के हृदय को जलाती हुई ईर्ष्या

की अग्नि उसे सहज रहकर कुछ भी सोचने-समझने का अवकाश नहीं दे रही थी। वह अपनी रौ में उद्दण्डतापूर्वक ही बोला, "जो वश में नहीं है... उसका रोना कहाँ तक रोएँगे पिताश्री? किन्तु राजसूय यज्ञ करना तो आपके वश में था। क्यों नहीं किया आपने?"

धृतराष्ट्र ने प्रश्न का निहितार्थ समझने में समय लगाया... वह समय, जो दुर्योधन को अधैर्य देकर और भी उद्दण्ड बनाये चला जा रहा था। 'इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ देखकर आने के पश्चात्... सहसा मुझसे यह प्रश्न! और ऐसे क्रोध भरे स्वर में?'

"किसी ने कुछ कह दिया क्या, मेरे पुत्र से?" उन्होंने स्नेह भरे स्वर में पूछा।

"पूछिए कि किसने नहीं कहा?" दुर्योधन ने वैसे ही रूठे हुए स्वर में उत्तर दिया, "मैं तो जनमा ही हूँ सब के व्यंग्य सुनने और सहने के लिए।"

"तो स्पष्ट कहो न पुत्र..." धृतराष्ट्र ने फिर उसे मनाने का प्रयास करते हुए कहा, "किसने कह दिया? क्या कह दिया?"

"सुनना ही चाहते हैं तो सुनिए..." धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की आग उगलती आँखें नहीं देखीं, किन्तु स्वर से अनुमान लगा लिया, "अन्धा कहा मुझे... अन्धे का पुत्र, अन्धा।"

सुनकर धृतराष्ट्र पुन: स्तब्ध रह गये। नेत्र-हीनता की आधी शताब्दी ढोकर भी, जानकर, सहकर भी... यह भला किसे सुखकर लगता कि कोई उसके पुत्र को, मात्र उसकी नेत्र-हीनता के आधार पर, अन्धा कहे! फिर भी, आयु ने... और आयु से भी बढ़कर राजनीति ने, उन्हें उद्वेग पर अंकुश रखना सिखा दिया था।

"किसने कहा?" उन्होंने गम्भीर रहते हुए पूछा।

"सबने..." दुर्योधन ने खीझते हुए कहा, "भीम ने, अर्जुन ने, नकुल ने, सहदेव ने... और द्रौपदी ने भी।"

"अकारण?"

"हाँ, अकारण ही... अपनी शक्ति एवं सम्पदा के मद में चूर व्यक्तियों को व्यंग्य करने के लिए कोई कारण नहीं ढूँढ़ना पड़ता पिताश्री। अब उनके मायावी सभा भवन में यदि, भीत न देख पाने के कारण, मैं टकरा गया तो मेरा क्या दोष? यदि भ्रम से, स्थल-रूप में बनाये गये ताल में मैं गिर गया तो मेरा क्या दोष?" बोलते-बोलते दुर्योधन का स्वर स्वत: ही शान्त होता हुआ, स्वप्न-चालित होता चला गया। "वह भवन है ही ऐसा विचित्र कि जहाँ द्वार नहीं है, वहाँ द्वार दिखता है, जहाँ जल नहीं है, वहाँ जल दिखता है। भीत पर चित्रित फल-फूल ऐसे सजीव लगते हैं कि तोड़ने को बढ़े हुए हाथ बस भीत से टकरा जाते हैं और... कहीं यन्त्र द्वारा बने पक्षी कूजते हैं तो कहीं यन्त्रों द्वारा धरती स्वयं ही चलने अथवा झूलने लगती है।'

"तुमने कोई स्वप्न तो नहीं देखा पुत्र?" धृतराष्ट्र ने उसे टोका।

"सब स्वप्न जैसा ही लगता है पिताश्री।" दुर्योधन जैसे पुनः नींद से जागकर गम्भीर हो गया था, "एक ऐसा भयावह स्वप्न जो रात-दिन मुझे धिक्कारता रहता है, जलाता रहता है।"

"ऐसी निराशा क्यों पुत्र?" धृतराष्ट्र ने संक्षिप्त प्रश्न किया।

"आप अब भी पूछते हैं क्यों?" दुर्योधन फिर उग्र हो चला था। "वह इस कारण पिताश्री कि आपने पाण्डवों का वह वैभव नहीं देखा।"

धृतराष्ट्र को पुत्र का वाक्य फिर खटका... उनका मन हुआ कि कहें, "पुत्र! कितनी बार कहूँ, कि मैंने तो कभी, कुछ भी नहीं देखा।" किन्तु अपने आहत मन को स्वयं ही शान्त करते हुए वे प्रत्यक्ष बोले, "पुत्र! यदि पाण्डु-पुत्रों के सभा-भवन ने तुम्हें इतना प्रभावित किया है तो... तुम भी, अपने राज्य में, एक वैसा ही सुन्दर अथवा उससे भी अधिक सुन्दर भवन बनवा लो... ऐसा, जिसे देखकर वे भी दंग रह जाएँ।"

"सच पिताश्री!" दुर्योधन ने सहसा उल्लास में कहा।

"किन्तु पत्र!" धृतराष्ट्र का स्वर गम्भीर था।

"अब क्या?" दुर्योधन ने पूछा।

"इसमें व्यय कितना होगा..? इसका कुछ तो अनुमान किया होगा तुमने!"

"अब जो भी होगा पिताश्री..." दुर्योधन ने कठोर स्वर में कहा, "इतना नहीं होगा कि हस्तिनापुर कंगाल हो जाये उसमें।"

हस्तिनापुर के लिए ऐसी अशुभ वार्ता सुनकर धृतराष्ट्र पुनः आहत होकर रह गये। उन्हें क्षण-भर के लिए लगा कि कैसी विचित्र बात है यह कि, पुत्र द्वारा निरन्तर आघात पाकर भी, वे आहत होने के अभ्यस्त नहीं हो पाये।

जो भी हो, कुछ समय महाराज धृतराष्ट्र, दुर्योधन, दुःशासन आदि अपने पुत्रों को उल्लसित एवं जीवन्त देखकर प्रसन्न रहे। शकुनि ने भी कई बार आकर उत्तेजित स्वर में उनसे कहा, "यह बड़ा अच्छा किया आपने जीजाश्री! जो सभा-भवन बनवाने की अनुमति दे दी। अब देखिएगा... ऐसा विपुल, वैभव-सम्पन्न भवन बनेगा कि पाण्डव अपना वह माया-भवन भूल जाएँगे। हमारा भवन ऐसा अभूतपूर्व होगा, जिसकी किसी ने कल्पना भी न की होगी।"

"फिर बुलाएँगे पाण्डवों को, कि वे देखें और जल-भुनकर रह जाएँ..." पुत्रों के स्वर के बीच कर्ण का स्वर, न जाने क्यों, धृतराष्ट्र को रह-रहकर चुभ जाता था।

किन्तु अचानक... उस उत्साह के वातावरण मे बाधा उत्पन्न हुई।

"महाराज!" विदुर ने एक दिन आकर पूछा, "आपने सभा भवन बनवाने की आज्ञा दी है?"

"हाँ, विदुर... बालकों की बड़ी इच्छा थी कि इन्द्रप्रस्थ के सभा-भवन जैसा एक सभा-भवन हस्तिनापुर में भी बने। इससे हमारे राज्य का गौरव बढ़ेगा।"

"किन्तु महाराज!" विदुर ने चिन्तित स्वर में शंका व्यक्त की, "उस पर जो व्यय आएगा, वह हमारा राज्य वहन नहीं कर सकता।"

"क्यों?" धृतराष्ट्र के मस्तक पर बल पड़े और नेत्र-कोटरों में मांस-पेशियों ने उछलना प्रारम्भ कर दिया, "ऐसा भी क्या है उस भवन में...? और कितना व्यय आ जाएगा?"

"पहली बात तो यह, महाराज!" विदुर ने समझाते हुए कहा, "कि वैसा भवन बनाने वाला कोई वास्तुकार ही नहीं मिल रहा है हमें। दुर्योधन आदि के विस्तृत वर्णन के पश्चात्, अनेक वास्तुकार गुप्तरूप से इन्द्रप्रस्थ जाकर वह भवन देख भी आये है, किन्तु उनमें से कोई भी वैसे चमत्कारी भवन का निर्माण करने के लिए तैयार नहीं है और फिर यदि कोई प्रयास करे भी तो व्यय का अनुमान आकाश छूता प्रतीत होता है। सम्भावना यह भी रहेगी कि बहुत सा धन एवं श्रम प्रयोगों में ही नष्ट हो जाएगा।"

"तो क्या करूँ विदुर?" धृतराष्ट्र ने हताश स्वर में कहा।

"किन्तु आवश्यकता क्या है महाराज, किसी नये भवन की?" विदुर ने पूछा, "हस्तिनापुर में तो पहले ही अनेक विशाल भवन हैं।"

"बालक के पास एक खिलौना हो..." धृतराष्ट्र ने किसी परास्त दार्शनिक की भाँति कहा, "तो क्या वह किसी अन्य बालक के हाथ में कोई नया खिलौना देखकर हठ नहीं करता?"

"किन्तु महाराज..." विदुर ने साग्रह तर्क दिया, "आपके पुत्र अब बालक नहीं रहे, युवा हैं... बडे हो चुके हैं।"

"यह तुम कह सकते हो विदुर!" धृतराष्ट्र ने निराश स्वर में कहा, "क्योंकि तुम अपने पुत्र को देख सकते हो... यदि कभी उसके मस्तक पर चिन्ता की रेखा दिखे तो बढ़कर उसे अपने हाथों से पोंछ सकते हो। और मैं... मैं तो पुत्र के मस्तक पर चिन्ता-रेखा की कल्पना मात्र से अन्धकार के महावन में गिरकर छटपटाने लगता हूँ।"

विदुर को लगा, वातावरण करुणा से भीग उठा है। वे चुपचाप प्रणाम करके लौट गये।

उधर, सभी वास्तुकारों से निराशाजनक उत्तर पाकर दुर्योधन को बड़ा क्रोध हुआ... किन्तु क्रोध द्वारा असम्भव को सम्भव भी तो नहीं बनाया जा सकता। मामा शकुनि, मित्र कर्ण तथा दु:शासन आदि अनुजों से मिलकर उसने एक ऐसा वैभवशाली भवन बनवाने का निश्चय किया जो, मायावी शिल्प में भले ही पाण्डवों के सभा-भवन की तुलना न कर सके, निर्माण सामग्री में अद्वितीय हो... जिसमें सोने चाँदी आदि के सहस्र स्तम्भ हों, वैदूर्य आदि मणियों से जड़े सौ द्वार हों, जिसमें जगह-जगह बहुमूल्य हीरे तथा अन्य रत्न जड़े हों और अकल्पनीय प्रकाश-व्यवस्था

में जगमगाता वह भवन इन्द्र के सभा-भवन जैसा लगे।

इसमें विदुर का यदा-कदा हस्तक्षेप रहता था... तथापि दुर्योधन ने उस भवन पर जी भरकर व्यय किया और जब वह बन गया तो कुबेर-प्रासाद जैसा उसका रूप देखकर... उसे नाम दिया तोरण स्फटिक।

"पिताश्री..." दुर्योधन ने, शकुनि, दुःशासन तथा कर्ण के साथ जाकर चहकते हुए स्वर में धृतराष्ट्र से कहा, "तोरण स्फटिक तैयार है। जिसने भी देखा, उसकी आँखे फटी रह गयीं।"

"अच्छा हुआ पुत्र!" धृतराष्ट्र ने उसके उल्लास को अपनी गम्भीरता के धरातल पर खींचते हुए कहा, "अच्छा है जो मेरे नेत्र नही हैं। अन्यथा न जाने क्या गति हुई होती मेरे नेत्रों की!"

"जीजाश्री!" शकुनि ने उन्हें सस्नेह डपटते हुए कहा, "आप प्रसन्न नहीं हैं क्या?"

"मेरे प्रसन्न न होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है।" धृतराष्ट्र ने, गम्भीर स्वर मे ही, मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "पुत्र की इच्छा पूरी हुई... यह तो पिता के लिए हर्ष का ही विषय है।"

"एक बार वहाँ आप भी चलिए न!" दुःशासन ने कहा।

"मैं चलकर क्या करूँगा पुत्र।" धृतराष्ट्र ने विवश स्वर में कहा, "किसी ऐसे को ले जाओ, जो कम से कम रत्न तथा पाषाण में अन्तर तो कर सके।"

विषय की गम्भीरता को देखते सभी निर्वाक् हो गये थे। स्वयं धृतराष्ट्र ने ही वह मौन भंग किया, "पितामह को दिखा दो।"

"वो...!" शकुनि ने सहसा कहा, "अरे जीजाश्री, वो क्या जानें वैभव आर सौन्दर्य का महत्त्व! वे तो इसे व्यर्थ का व्यय कहकर हमारे प्रयास पर पानी ही फेर देंगे।"

"तो... तो विदुर को ले जाओ वहाँ।"

"नहीं महाराज..." कर्ण ने बीच में ही कहा, "वे तो पहले ही, राज्य कोष के दुरुपयोग के नाम पर, घड़ी घड़ी अंकुश लगाते रहे हैं।"

"तो फिर..." धृतराष्ट्र ने सोचते हुए कहा, "किसी ऐसे को ही दिखाओ जो इसकी प्रशंसा करे... अथवा अन्य किसी को, जिसे तुम दिखाना चाहो।"

"येब्बात हुई जीजाश्री..." शकुनि ने उछलते हुए कहा, "इस समय वैभव और सौन्दर्य के पारखी तो एक ही हैं..."

"पाण्डव..." दुःशासन ने बीच ही में उनकी बात बढ़ाते हुए कहा।

"वो देखकर ईर्ष्या से जल उठेंगे," कर्ण ने अपना चहकता हुआ स्वर मिलाया।

"तो फिर उन्हीं को बुला लिया जाए..." दुर्योधन ने उत्तेजित स्वर में कहा, "ठीक है न पिताश्री!"

"किन्तु पुत्र!" धृतराष्ट्र ने कुछ सोचते हुए धीरे से कहा, "उनका भवन देखने के बाद, मात्र अपना भवन बनवाकर दिखाने के लिए बुलाना... कुछ अच्छा नहीं लगेगा। कोई ऐसा अवसर आने दो कि वे स्वयं आएँ और संयोगवश तुम्हारा नया भवन भी देख लें।"

"और क्या अवसर आएगा पिताश्री?" दुर्योधन ने रूठते हुए गम्भीर स्वर में कहा, "क्या मैं जीवन भर बैठा रहूँगा, उनसे अपने अपमान का बदला लेने के लिए?"

"बदला लेने के लिए...?" धृतराष्ट्र ने आश्चर्य में पूछा। उनका प्रश्न सहसा उपजे हुए मौन में गूँजने लगा।

"अरे वह बात नहीं है जीजाश्री..." शकुनि ने तुरन्त ही उस प्रश्न को हास्य में उड़ाते हुए कहा, "तात्पर्य यह कि वे भी तो देखें... कि वैभव क्या होता है, जो अपने अहंकार के मद में अन्य सभी को भाँति-भाँति से अपमानित करते रहते हैं।"

"और महाराज!" कर्ण ने विनम्र स्वर में निवेदन किया, "अपना सभा भवन दिखाने के बहाने जो उन्होंने हमारे युवराज का अपमान किया, क्या वह हस्तिनापुर का अपमान नहीं है? क्या वह स्वयं हमारे महाराज का अपमान नहीं है?"

"तुम न ही बोलो मित्र!" दुर्योधन ने रूठे हुए स्वर में ही कहा, "अन्यथा कहीं हमारे पिताश्री यह न कह बैठें कि पारिवारिक सन्दर्भ में तुम्हारा हस्तक्षेप भी हमारे कुल का अपमान है।"

"किन्तु अपमान तो तुम्हारा हुआ ही था भैया!" दु:शासन ने स्पष्ट स्वर में कहा, "वह वास्तव में हम सबका अपमान था। हमारे पिताश्री, भ्रातृप्रेम के कारण, अनुज पुत्रों के कुकर्म पर चाहे जितना पर्दा डालें।"

"कैसा कुकर्म पुत्र! और मैंने क्या पक्षपात किया उनके साथ?" धृतराष्ट्र ने अधीर होते हुए, टूटते-से स्वर में कहा, "तुम्हारे हठ के आगे हारकर, मैंने उन्हें एक प्रकार घर से निकाल ही दिया..."

"इतनी विशाल और उपजाऊ भूमि उपहार में देकर..." दुर्योधन के स्वर में व्यंग्य स्पष्ट था।

"उपहार में नहीं पुत्र!" धृतराष्ट्र ने मनुहारते हुए कहा, "उस पर उनका भी अधिकार था और यदि उन्होंने परिश्रम एवं पराक्रम द्वारा उसे उपजाऊ बना लिया तो इसमें भला मेरा क्या दोष!"

"अरे गुण-दोष का झगड़ा छोड़िए जीजाश्री!" शकुनि ने बिगड़ती स्थिति को पुन: अपने नियन्त्रण में लेते हुए कहा, "वह सब पुरानी बात हो गयी। भूल जाइए उसे... और निमन्त्रण भेज दीजिए उन सबके पास।"

"निमन्त्रण!" धृतराष्ट्र ने यथा सम्भव अपने नेत्र-कोटरों की मांसपेशियों को थामते हुए कहा, "किन्तु कोई उपलक्ष भी तो हो।"

"उपलक्ष!" शकुनि ने पुनः विहँसते स्वर में कहा, "उपलक्ष का क्या है... कुछ भी कह लीजिए। कह दीजिए कि पुत्र ने नया क्रीड़ा-भवन बनवाया है... उसका शुभारम्भ द्यूत-क्रीड़ा से हो जाए।"

"द्यूत-क्रीड़ा से?" धृतराष्ट्र सम्भवतः आश्वस्त होना चाहते थे कि जो उन्होंने सुना, वास्तव में शकुनि ने वही कहा था।

"हाँ, जीजाश्री..." शकुनि ने सहज स्वर में कहा, "सब बालक मिलकर थोड़ा समय आमोद-प्रमोद में बिताएँगे... थोड़ी देर हँस-खेल लेंगे।"

"किन्तु... युधिष्ठिर, और द्यूत...?"

"अरे जीजाश्री!" शकुनि ने हँसते हुए आश्चर्य में कहा, "क्या आप सचमुच नहीं जानते? अरे वह कैसा धर्मराज है मुझसे पूछिए। बड़ी रुचि लेकर खेलता है। चार-पाँच दाँव तो मैं खेलकर आया हूँ, उसके साथ।"

"सम्भव है..." धृतराष्ट्र ने कहा, "कभी खेल लिया हो, तुम्हारा मन रखने को। किन्तु द्यूत के लिए निमन्त्रण देना..." वे सोच नहीं पा रहे थे कि अपने मन की बात को क्या शब्द दें।

"किस सोच में पड़ गये पिताश्री!" दुर्योधन के गम्भीर स्वर में भी व्यंग्य था, "मेरे हित की कोई भी बात हो, तो आप सदैव सोच में क्यों पड़ जाते हैं?"

"तुम्हारे हित की पुत्र?" धृतराष्ट्र ने आश्चर्य में कहा, "यह प्रस्ताव तो भ्राता शकुनि का था।"

"तो क्या मातुल मुझसे अलग हैं?" दुर्योधन का स्वर उग्र हो रहा था।

"अलग तो वे मुझसे भी नहीं हैं दुर्योधन, किन्तु..."

"अलग नहीं हैं तो फिर यह किन्तु कहाँ से आ गया?" दुर्योधन ने स्वर ऊँचा करते हुए पूछा।

"अरे पुत्र दुर्योधन..." शकुनि ने समझाते हुए कहा, "चिन्ता मत करो। जीजाश्री वही करेंगे, जो तुम चाहते हो। हाँ, महाराज होने के नाते उन्हें कुछ किन्तु-किन्तुओं से तो निपटना ही पड़ता है। चलो, चलो... वे बुला लेंगे उन्हें। भेज देंगे निमन्त्रण।" शकुनि ने अन्य सभी को उठने का संकेत करते हुए स्वयं भी उठने का प्रयास किया।

"मैं सोचूँगा..." धृतराष्ट्र ने कहा, "चर्चा करूँगा विदुर से।"

"अब काकाश्री को बीच में क्यों खींच रहे हैं?" दुर्योधन ने क्रोध में चिल्लाकर कहा।

"क्योंकि वे राज्य के..." किन्तु धृतराष्ट्र का वाक्य अधूरा ही छूट गया।

"एक मात्र शुभचिन्तक हैं... यही न?" दुःशासन ने कहा, "और हम सब ठहरे

राज्य के अनाम कीड़े-मकोड़े। हमारी बात का भला क्या अर्थ हो सकता है?"

"इस प्रकार अपने व्यंग्य-बाणों से आहत न करो मुझे, पुत्र!" लगा जैसे धृतराष्ट्र रो पड़ेंगे, "मैं तुम्हारे सम्मुख कभी कोई कवच धारण करके भी तो नहीं बैठता।"

"आप जो जी चाहे... वही करें," दुर्योधन ने कठोर स्वर में कहा, "जिससे चाहें, परामर्श करें... किन्तु यह जान लें कि यदि आपने उन अहंकारी भाइयों को नहीं बुलाया तो मैं अन्न-जल त्यागकर अपने प्राणों का अन्त कर दूँगा।"

"क्यों पुत्र, क्यों?" धृतराष्ट्र विचलित हो उठे।

"अब पुत्र-हठ ही समझ लें जीजाश्री!" शकुनि ने, दुर्योधन को और कुछ न बोलने के लिए संकेत करते हुए, धृतराष्ट्र से कहा, "बाल-हठ के आगे क्यों कहाँ चल पाता है?"

"मैं आपको कितनी बार स्मरण कराऊँ पिताश्री!" दुर्योधन ने कठोर गम्भीर स्वर में कहा, "कि उन्होंने कितना अपमान किया था मेरा! मैं जल रहा हूँ... निरन्तर.. दिन-रात। जीवित हूँ तो बस प्रतिशोध के लिए।"

"किन्तु द्यूत के लिए निमन्त्रण..." धृतराष्ट्र उलझन में थे, "यह कैसा प्रतिशोध हुआ?"

"वह हम पर छोड़ दीजिए पिताश्री!" दुःशासन ने कहा।

"किन्तु .."

"अब आप स्वयं ही चुनाव कर लीजिए. ." दुर्योधन ने क्रोधित स्वर में कहा, "अपने इस किन्तु तथा पुत्र के जीवन के बीच।"

अपना वाक्य पूरा करते-करते दुर्योधन ने पाँव पटकते हुए प्रस्थान किया। कुछ ही क्षण में धृतराष्ट्र ने पदचाप द्वारा दुःशासन एवं कर्ण के जाने का भी अनुमान लगाया। तभी शकुनि ने उनके निकट पहुँचकर, लगभग फुसफुसाते हुए, एक एक शब्द पर बल देकर कहा, "दुर्योधन बहुत गम्भीर है इस विषय पर... ध्यान से विचार लीजिएगा। कहीं बाद में..."

शकुनि का वह अधूरा वाक्य, सारी बात बड़ी निर्ममता के साथ कह गया था। धृतराष्ट्र को अकेले कक्ष में घिरा हुआ वह सन्नाटा और भी भयावह लगने लगा। उनको अपनी नेत्र-हीनता पर पहली बार एक नितान्त नयी प्रकार की निराशा हुई. यदि उनके नेत्र होते तो वे देख तो पाते, कि सन्नाटा कैसा होता है? क्या होता है उसका रूप और आकार? और निर्मम होकर वह वास्तव में कैसा भयंकर रूप ग्रहण करता है!

उनका मन हो रहा था कि किसी से पूछें... किन्तु उस समय उनके आस-पास कोई भी नहीं था। कुछ समय बाद, गान्धारी से मिलते ही उन्होंने पूछा, "प्रिये! मुझसे

मिलने से पहले... मेरा तात्पर्य है, अपने नेत्रों पर यह पट्टी बाँधने से पहले... क्या कभी तुमने सन्नाटा देखा था! यह सन्नाटा कैसा होता है?"

उत्तर में गान्धारी ने उनके कानों के पास लाकर अपने कंगन खनका दिये और खिलखिलाते हुए पूछा, "महाराज! क्या आपको कहीं सन्नाटे का आभास हो रहा है!"

धृतराष्ट्र मुस्कराए, "सच बताओ... क्या कभी देखा?"

"आपको सन्नाटे से क्या काम?" गान्धारी ने कहा, "जब हम होते हैं तो हमारे साथ हमारी श्वास का स्वर होता है और हृदय का स्पन्दन होता है... सन्नाटा भला कहाँ से आएगा?"

"और जब तुम पास न हो... तब?" धृतराष्ट्र ने अपना चिन्ता के भार से थका मस्तक पत्नी के वक्ष:स्थल पर टिकाते हुए पूछा।

"तब...!" गान्धारी ने उनके कान में फुसफुसाते हुए कहा, "तब पुकार लिया कीजिए मुझे।"

विदुर से परामर्श करके भी कोई हल नहीं निकला। वही हुआ, जो होना था। धृतराष्ट्र सोचने लगे कि क्यों... किस आशा मे बुलाया था उन्होंने विदुर को! क्या वे पहले ही नहीं जानते थे कि विदुर क्या कहेंगे! और.. दूसरी ओर, वे यह भी जानते थे कि वे स्वयं दुर्योधन के हठ का विरोध नहीं कर पाएँगे।

विदुर ने धृतराष्ट्र की भूमिका सुनकर स्पष्ट शब्दों में कहा था, "द्यूत धर्म-विरुद्ध है। विनाश का मूल है। यह बड़ा ही अशुभ लक्षण है .. और इसके कारण आपके पुत्रों तथा पाण्डवों के बीच वैर विरोध बढ़ जाएगा।"

धृतराष्ट्र ने सहमत होते हुए कहा, "विदुर... यह तो मैं भी समझता हूँ, किन्तु दुर्योधन का अनुरोध कैसे टालूँ? और यदि इसे होना ही है तो. मैं चाहता हूँ कि यह द्यूत आमोद-प्रमोद के वातावरण में हो... बिना किसी द्वेष अथवा वैमनस्य के।"

"आमोद-प्रमोद के वातावरण में?" विदुर ने अपनी शंका जतायी, "महाराज! अपार वैभवशाली सभा-मण्डप का निर्माण और पाण्डवों के साथ द्यूत के लिए आग्रह... यह सब क्या आपको सामान्य प्रतीत होता है? क्या आपको इसमें कहीं ईर्ष्या की छटपटाहट और षड्यन्त्र की गन्ध नहीं आती?"

धृतराष्ट्र निरुत्तर हो गये। वे स्वीकार नहीं करना चाहते थे वह सब, जो वे निरन्तर किसी षड्यन्त्र की गन्ध के रूप में अनुभव कर रहे थे और सोच-सोचकर चिन्तित थे। उनकी दुश्चिन्ता को दुर्योधन का विक्षिप्तों जैसा प्रलाप रह-रहकर और भी भयंकर बनाता रहता था।

"यदि हम और तुम वहाँ उपस्थित रहें..." धृतराष्ट्र ने सोचते हुए कहा, "तो

स्थिति पर नियन्त्रण रखा जा सकता है, विदुर! और हाँ, यदि तात भीष्म भी उपस्थित हों, आचार्य द्रोण भी रहें, आचार्य कृप भी आएँ तो... उनकी उपस्थिति में अनुशासन रखना कैसे सम्भव नहीं होगा!"

किन्तु विदुर सन्तुष्ट नहीं थे। वे पुनः अपनी असहमति जताकर, उन्हें सावधान करते हुए, चले गये।

बड़ी देर तक सोच-विचार के बाद, धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को बुलवाया।

"कर ली आपने मन्त्रणा, पिताश्री!" धृतराष्ट्र अपने पुत्र का मुख नहीं देख सकते थे किन्तु उसके स्वर में ही, उसके तमतमाये मुख की झलक पा सकते थे। "मैं जानता हूँ कि क्या उपदेश दिया होगा उन्होंने।"

"कोई अनुचित बात नहीं कही, विदुर ने, वत्स!" धृतराष्ट्र ने स्नेह में पगे स्वर में कहा, "सच पूछो तो विदुर के पास स्वयं अपना कोई मत है ही नहीं। वह तो बस सन्त-महात्माओं द्वारा विकसित, तर्क-सम्मत, सत्य का ही उल्लेख करते हैं। उन्होंने बस वही कहा, जो मैं तुमसे कहता रहा हूँ... और मेरा कहना भी क्या! तुम तो स्वयं ही जानते हो कि द्यूत पारस्परिक फूट का प्रमुख कारण है... लोभ का मूल है। मैं चाहता हूँ कि तुम अपने पाण्डव भाइयों के साथ मिलकर रहो, तो हम दोनों के राज्य शक्तिशाली बने रहेंगे।

"शकुनि की प्रेरणा से मिले द्यूत का ध्यान त्याग दो... भला क्या आवश्यकता है द्यूत की? द्यूत के लिए यह आग्रह क्यों है, पुत्र?"

"यह जानना आपके लिए आवश्यक नहीं है..." उद्दण्डता की प्रतिमूर्ति बने दुर्योधन ने कहा, "यदि आप मेरी यह छोटी-सी इच्छा भी पूर्ण नहीं कर सकते तो भूल जाइए... और भूल जाइए अपने इस अभागे पुत्र को भी ... सदा-सर्वदा के लिए। मैं जल-समाधि ले लूँगा या आत्म-दाह करके प्राण त्याग दूँगा। फिर आप अपने महामन्त्री के परामर्श पर राज्य का जी भर सुख भोगिएगा।"

"ऐसा कटु वचन न बोलो पुत्र।" धृतराष्ट्र ने रुँधे कण्ठ से कहा, "तुम्हारे लिए ही तो मैं इस राज्य पर कुण्डली मारे बैठा हूँ... इतने वर्षों से। क्या दु:ख है तुम्हें... अपने इस अभागे पिता को तो बताओ।"

"एक दु:ख हो तो कहूँ पिताश्री..." दुर्योधन ने क्रोधित स्वर में कहना प्रारम्भ किया, "मैं जल रहा हूँ... सुना आपने? पाण्डवों की राज्य-लक्ष्मी देखी नहीं जाती मुझसे। उनकी सम्पत्ति दिन-रात चुभती है मेरी दृष्टि में। इतनी सम्पत्ति... इतने रत्न मिले उन्हें, कि समेटते-समेटते भुजाएँ थक जाती थीं मेरी। आँखें फटी रह जाती थीं मेरी। इतनी सम्पदा है उनके पास, जो मैंने एक साथ कभी नहीं देखी... ऐसे-ऐसे बहुमूल्य रत्न, जिनका नाम भी नहीं सुना था मैंने। और शक्ति इतनी कि नीप, चित्रक, कौकुर, कारस्कार तथा लौहजंघ जैसे राजा, चाकरों की भाँति, विनीत भाव से वहाँ

सेवा-टहल करते रहते थे। अनेक देशों के राजाओं की भेंट तो मात्र इस कारण अस्वीकार कर दी गयी कि वे कुछ विलम्ब से पहुँचे थे।

"यज्ञ में मुक्त-हस्त से ब्राह्मणों, शूद्रों आदि को धन, गऊ एवं अन्य वस्तुओं का दान दिया गया। लाखों लोगों ने दीर्घकाल तक जी-भरकर राजसी भोजन का स्वाद लिया। सभी एक स्वर में पाण्डवों का यश गा रहे थे और उन पर आशीर्वाद लुटा रहे थे।

"उपहार में उन्हें लाखों उत्तम जाति के गज, अश्व, गौ आदि प्राप्त हुए कि मैं गणना ही भूल गया।

"यह उनका ही आतंक था कि सहस्रों राजाओं की उपस्थिति में कृष्ण ने निर्दयतापूर्वक शिशुपाल का सिर काट डाला... और किसी ने चूँ भी नहीं की।"

"पुत्र!" धृतराष्ट्र ने अवसर पाते ही दुर्योधन को टोकते हुए कहा, "तुम भी अपनी शक्ति बढ़ा सकते हो। तुम भी अपार सम्पत्ति एकत्रित कर सकते हो। तुम बलवान हो, समर्थ हो, सौ अनुजों के अग्रज हो। चाहो तो तुम भी कोई यज्ञ कर लो... किन्तु किसी दूसरे की सम्पत्ति से ईर्ष्या तुम्हें शोभा नहीं देती।"

"नहीं पिताश्री .. नहीं," दुर्योधन ने हताश स्वर में खीझते हुए कहा, "मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं कुछ नहीं जानता.. मैं तो बस उन्हें धूल मे मिलाना चाहता हूँ। उन्हें दाने दाने के लिए रोते-बिलखते देखना चाहता हूँ।"

धृतराष्ट्र अवाक् रह गये...

"किन्तु पुत्र!" उन्होंने घुमड़ते हुए सन्नाटे को सप्रयास तोडते हुए कहा, "उसके लिए द्यूत क्यों?"

"यह आप नहीं समझेंगे... क्योंकि..."

धृतराष्ट्र को लगा कि यदि पुत्र का वाक्य पूरा हुआ होता तो वे शब्द उन्हें पुनः उनकी विकलांगता का स्मरण ही कराते।

"अच्छा पुत्र! जैसा तुम चाहते हो, वही होगा..." धृतराष्ट्र ने हारकर कहा, "किन्तु एक वचन देना होगा तुम्हें ..."

"कितने बन्धनों में बाँधेंगे अपने निर्बल युवराज को पिताश्री?" दुर्योधन ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा, "आपके आदेश के बिना तो मैं वैसे भी नहीं हिल सकता।"

"बस यह..." धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "कि कहीं कोई बल-प्रयोग नहीं होगा।"

"द्यूत में निर्णय तो पाँसे करते हैं पिताश्री..." दुर्योधन ने हँसते हुए कहा, "पाँसे ही करेंगे भाग्य का निर्णय।"

"और यह कि..." धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "वहाँ सभा-मण्डप में मेरे तथा विदुर के अतिरिक्त पितामह भीष्म भी होंगे और तुम्हारे आचार्य कृप तथा द्रोण भी।"

"और कोई बचा हो..." दुर्योधन ने व्यंग्य से कहा, "तो उसे भी ले

आइएगा... किन्तु सावधान करके कि व्यर्थ ही हस्तक्षेप न करें, अन्यथा..."

"अन्यथा?" धृतराष्ट्र चिन्तित हो उठे।

"अन्यथा या तो उनका सम्मान धूल में मिलेगा, या मुझे ही आत्मघात करना होगा..." कहते हुए दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को अकेला छोड़कर अपने भवन की राह पकडी।

धृतराष्ट्र ने विदुर को, युधिष्ठिर के लिए निमन्त्रण लेकर, इन्द्रप्रस्थ जाने का आदेश दिया। उन्होंने कहा, "युधिष्ठिर से कहना कि मेरे पुत्रों ने स्फटिकतोरण नामक एक रत्न-जटित सभामण्डप का निर्माण कराया है, जो अत्यन्त दर्शनीय है। वे अपने सभी अनुजों-सहित आकर उसे देखें और यहाँ द्यूत-क्रीड़ा का सुख प्राप्त करें।"

आदेश सुनकर विदुर ठिठके। उन्होंने अपने तर्कों का पुन: उल्लेख करते हुए अपना विरोध दुहराया। किन्तु धृतराष्ट्र ने सोचे-समझे स्वर में कहा, "तुम्हारे तर्कों से मैं सहमत हूँ, विदुर! किन्तु विधि के विधान पर किसी का वश नहीं चलता। यदि भाग्य हमारे साथ है, तो सब कुछ सकुशल सम्पन्न हो जाएगा... अन्यथा, यदि भाग्य ही विपरीत हुआ तो हम द्यूत रोककर भी भला क्या कर लेंगे। अत: तुम व्यर्थ का सोच-विचार त्यागकर मेरा निमन्त्रण लेकर इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करो।"

विवश होकर विदुर इन्द्रप्रस्थ पहुँचे और उन्होंने धृतराष्ट्र का सन्देश युधिष्ठिर से कह सुनाया। वह निमन्त्रणं पाकर युधिष्ठिर को भी आश्चर्य हुआ और द्यूत के अवगुण की चर्चा करते हुए उन्होंने पूछा, "काकाश्री! यह कैसा निमन्त्रण है? मैं क्या करूँ... मुझे तो कुछ समझ ही नहीं आ रहा है।"

युधिष्ठिर की जिज्ञासा पर विदुर ने उन्हें द्यूत-आयोजन की सारी पृष्ठभूमि बता दी।

युधिष्ठिर चिन्तित हो उठे। यह निमन्त्रण ज्येष्ठ पिताश्री का था... उनकी आज्ञा जैसा। यदि दुर्योधन का होता तो वे एक बार किसी बहाने उसे अस्वीकार भी कर सकते थे। उन्होंने विदुर से पूछा, "वहाँ हम लोगों के अतिरिक्त क्या और भी कोई आमन्त्रित है?"

विदुर ने बताया, "शकुनि तो होंगे ही... वे दुर्योधन के प्रबल समर्थक ही नहीं, पाँसों के निर्माता और पाँसे फेंकने में निपुण द्यूत के खिलाड़ी भी हैं। साथ ही विविंशति, चित्रसेन, सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय आदि भी वहाँ विद्यमान हैं।"

दूसरे ही दिन, सभी अनुजों एवं द्रौपदी-सहित युधिष्ठिर हस्तिनापुर के लिए चल

पड़े। वहाँ पहुँचकर वे भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा से विधिपूर्वक मिले। तदनन्तर, सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य, शकुनि, दुःशासन आदि धृतराष्ट्र-पुत्रों तथा जयद्रथ आदि से मिलते हुए, गान्धारी तथा धृतराष्ट्र के पास पहुँचकर उन्होंने प्रणाम किया। वह दिन पारिवारिक मिलन में बीता और रात्रि मे उन्हें सुन्दर एवं सुखद भवनों में ठहराया गया।

अगले दिन, दुर्योधन के विशेष दूत उन्हें नव निर्मित सभा मण्डप में ले गये। उस भवन का शिल्प पाण्डवों को भव्य एवं सराहनीय लगा।

सभा-मण्डप में धृतराष्ट्र, विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म आदि यथास्थान विराजमान थे। शकुनि ने बड़ी तत्परता से, पाण्डवों का स्वागत करते हुए, उन्हें उनके लिए रखे आसनों पर बैठाकर कहा, "धर्मराज, यह सभा आपकी ही प्रतीक्षा में है। आइए, इस भवन में द्यूत क्रीडा आरम्भ करके हम इस भव्य मण्डप की गरिमा बढाएँ।"

"मामाश्री..." युधिष्ठिर ने विनम्र रहते हुए कहा, "शास्त्रों में द्यूत को छल एवं पाप का मूल बताया गया है। द्यूत से कभी किसी की गरिमा नहीं बढ़ी... तो इस भवन की कैसे बढ़ेगी? आप द्यूत के लिए आग्रह न करें... मेरी यह विनती है।"

"अरे धर्मराज!" शकुनि ने बडे सरल स्वर मे हँसते हुए कहा, "परस्पर दो घड़ी सुख से बिताने में कोई अधर्म नहीं होता.. और फिर यदि इसमें कोई पाप अथवा दोष होता तो तुम्हारे ज्येष्ठ पिताश्री क्या इसकी अनुमति देते? क्या तुम्हारे सब गुरुजन यह क्रीड़ा देखने के लिए यहाँ उपस्थित होते?"

"यही तो आश्चर्य है मुझे..."

"अरे छोड़ो अपना आश्चर्य..." युधिष्ठिर का वाक्य काटते हुए शकुनि ने कहा, "यह कोई युद्ध तो है नहीं जहाँ भाइयो के बीच वैमनस्य अथवा रक्तपात की आशंका हो.. यह तो खेल है। और वह भी ऐसा सरल, जिसमें जय-पराजय का निर्णय निष्पक्ष पाँसे करते हैं, जिसका भाग्य हो वह खेल जीता। कोई परस्पर हाथ-पाँव चलाने की भी सम्भावना नहीं है इसमें। ऐसा सरल खेल और भला क्या होगा!"

किन्तु युधिष्ठिर का मन शान्त नहीं हो पा रहा था। उन्होंने द्यूत के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जिन्हें शकुनि ने भाँति भाँति के तर्क देते हुए व्यर्थ बताया। युधिष्ठिर को सुनी हुई भूमिका के आधार पर यह शंका थी कि यह, द्यूत द्वारा, छल-पूर्वक, उन्हें अपमानित करने की योजना है। उन्हें यह भी ज्ञात था कि द्यूत में दाँव पर धन लगाया जाता है... किन्तु उसका निर्णय तो पाँसे करेंगे, जैसा माम्‍ा शकुनि कह रहे हैं... और यदि इसमें थोड़ा-बहुत धन चला भी गया, तो क्या हानि! ज्येष्ठ पिताश्री का मान रखने के लिए यह कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं होगा। उन्होंने हारकर कहा, "अच्छा, यदि यह आवश्यक ही है..."

"नहीं, नही, धर्मराज..." शकुनि ने उनकी बात पुनः काटी, "मेरी ओर से कुछ भी आवश्यक नहीं। अरे यह सब तो तुम्हारे ज्येष्ठ पिताश्री की इच्छा से हो रहा है। यदि उनका आदेश न मानना चाहो तो..."

"ज्येष्ठ पिताश्री का आदेश न मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता मामाश्री!" युधिष्ठिर ने वाक्य समाप्त करते हुए धृतराष्ट्र की ओर देखा, "तो जैसी आपकी आज्ञा, महाराज।"

"नहीं पुत्र!" धृतराष्ट्र ने कोमल स्वर में कहा, "आज्ञा नहीं, मेरी इच्छा मानकर खेल लो.. कुछ देर। दुर्योधन का भी बहुत मन है।"

"आपकी इच्छा तो मेरे लिए आदेश ही है, ज्येष्ठ पिताश्री!" युधिष्ठिर ने कहा... और फिर शकुनि से पूछा, "मुझे किसके साथ खेलना है... यह बताएँ मामाश्री।"

उत्तर दुर्योधन ने दिया, "आओ पधारो धर्मराज! दाँव के लिए धन मैं लगाऊँगा और मेरी ओर से पाँसा मातुल फेकेंगे।"

द्यूत प्रारम्भ हो गया। दोनों ओर से कुछ रत्न दाँव पर लगाये गये. और शकुनि ने मुस्कराते हुए पाँसे फेंककर दाँव जीत लिया।

अगला दाँव नियम के अनुसार कुछ अधिक धन-राशि का होना था। दोनो ने पुन. अनेक रत्न दाँव पर लगाये और शकुनि ने फिर मुस्कराते हुए पाँसे फेके। वह दाँव भी शकुनि का ही रहा। इस प्रकार बढ़-चढ़कर दाँव लगते रहे.. और हर बार पाँसे दुर्योधन के पक्ष में ही खुले।

कुछ देर बाद सभी को यह स्पष्ट लगने लगा कि कहीं कुछ छल अवश्य है... अन्यथा यह कैसे हो रहा है कि हर बार, बिना किसी अपवाद के, शकुनि के पाँसे बिल्कुल वही अंक दिखाते हैं जिस पर दुर्योधन की विजय होनी है। यह देखकर विदुर ने उठकर द्यूत समाप्त करने का प्रस्ताव किया, जिसका दुर्योधन ने तुरन्त ही, क्रोध-पूर्वक विरोध किया। उसके पश्चात् जो दाँव लगे, उनका भी वही परिणाम हुआ... अर्थात, हर बार दुर्योधन की विजय... और युधिष्ठिर की पराजय।

विदुर ने पुनः उठकर कहा, "महाराज! अब बहुत हो चुका। अब यह छल एव पाप की लीला समाप्त कीजिए। इसमें स्पष्ट ही आपके प्रिय सम्बन्धी शकुनि की कोई गहरी चाल दिखाई देती है। आप सावधान हो जाइए अन्यथा यह धूर्ततापूर्ण खेल, कुरु-वंश तथा सम्पूर्ण हस्तिनापुर के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा।"

"विदुर!" तभी उन्हें बीच में ही रोष-पूर्वक डपटते हुए दुर्योधन ने कहा, "मामाश्री के विरुद्ध ऐसी भाषा बोलने का तुम्हारा साहस कैसे हुआ? और किसने अधिकार दिया तुम्हें हमारे बीच बोलने का? तुम सदैव ही मेरे प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते रहे हो। मेरी विजय नहीं देख सकते तो दूर हो जाओ यहाँ से।"

विदुर दुर्योधन के कटु वचन सुनने के अभ्यस्त थे। उन्होंने कहा, "युवराज! तुम्हारा दोष यही है कि तुम कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकते, और सदैव अपनी प्रशंसा ही सुनना चाहते हो। मैं तो बस महाराज से अपनी पीड़ा निवेदन कर रहा था... तुम्हारा जो जी चाहे, तुम वह करो।"

तब तक युधिष्ठिर बहुत धन हार चुके थे। अगले दाँव पर उन्होंने अपना सारा शेष धन लगाया... और वे पुनः हार गये।

तब उन्होंने खेल समाप्त करके उठने की अनुमति माँगी... किन्तु दुर्योधन ने उन्हें सहानुभूतिपूर्वक समझाते हुए कहा, "नहीं धर्मराज! ऐसे हारकर नहीं उठना चाहिए। अभी आपका धन ही तो गया है... किन्तु आपके पास भूमि है, राज्य है। एक दाँव और खेलिए। क्या पता, भाग्य साथ दे जाए और आपका सारा हारा हुआ धन आपको पुनः प्राप्त हो जाए।"

क्षुब्ध युधिष्ठिर ने एक बार चारों ओर देखा... और फिर अपने अनुजों पर दृष्टि डाली। वे सभी, दुःख एवं अनिश्चय की प्रतिमूर्ति बने, सिर झुकाये दिखे... और दूसरी ओर था पुनः सारा हारा हुआ धन पा लेने का लोभ। युधिष्ठिर फिर बैठ गये।

उस दाँव पर उन्होंने ब्राह्मणों एवं उनकी सम्पत्ति को छोड़कर, नगर, भूमि तथा राज्य की सारी चल एवं अचल सम्पत्ति लगायी... किन्तु वह दाँव भी शकुनि के पाँसों ने ही जीता।

यह युधिष्ठिर के लिए बहुत बड़ा आघात था। उनका सारा ध्यान ऐसा कुछ ढूँढ़ने पर लगा था, जिसे एक दाँव पर लगाकर वे अपना नगर एवं राज्य की सम्पत्ति वापस पा सकें। घूम-फिरकर उनका ध्यान जहाँ केन्द्रित हुआ, उसकी कल्पना करके वे क्षणभर को विचलित हो उठे। किन्तु अन्य कोई विकल्प न होने के कारण उन्होंने टूटते हुए स्वर में कहा, "मैं दाँव पर अपने प्रिय अनुज नकुल को लगा रहा हूँ।"

सहसा आश्चर्य में सभी आँखें उनकी ओर उठीं... सभा-मण्डप में सन्नाटा छा गया और दूसरे ही क्षण शकुनि ने पाँसे फेंकते हुए वह दाँव भी जीत लिया। दुर्योधन तथा उसके अनुजों की हर्ष-ध्वनि से मण्डप गूँज उठा।

युधिष्ठिर को सहसा अपने हृदय की गति रुकती-सी लगी और नेत्रों के सम्मुख सारी सभा घूमती प्रतीत हुई। तभी कर्ण का व्यग्य-भरा स्वर उनका हृदय बेध गया, "क्या हुआ धर्मराज! अभी तो तुम्हारे तीन भाई और बैठे हैं... लगा दो दाँव पर। कौन जाने, खोया हुआ सब कुछ पुनः प्राप्त हो ही जाए!"

युधिष्ठिर का कण्ठ सूख रहा था और उन्हें लग रहा था कि बहुत हो चुका... किन्तु एक अनुज को गँवाकर उनकी बड़ी विचित्र मनोदशा थी। तभी सहदेव ने उनकी ओर बढ़ते हुए संकेत दिया, "भैया! सोच में न पड़ें। अभी मैं हूँ... आप चिन्ता न करें।"

... और युधिष्ठिर ने सहदेव को दाँव पर लगाया, किन्तु परिणाम वही हुआ।

अपना दाँव खेलकर शकुनि ने पाँसे युधिष्ठिर की ओर बढ़ा दिये। एक बार फिर पाँसे देखकर उनकी दृष्टि के सम्मुख सारा सभा-मण्डप घूम गया और शकुनि, कर्ण दुर्योधन तथा उसके अनुजों की हर्ष-ध्वनि से वह भवन गूँज उठा।

युधिष्ठिर एक भयानक दुष्चक्र में घिर चुके थे। इतनी विपुल हानि! दो अनुज भी हाथ से गये... और दूसरी ओर केवल द्यूत का दाँव ही था जो उन्हें अपना खोया हुआ सब कुछ पुन: प्राप्त करने में सहायक हो सकता था।

"क्यों धर्मराज!" दु:शासन का स्वर उन्हें सुनाई दिया, "अर्जुन को दाँव पर नहीं लगाओगे?"

"नहीं, अर्जुन तो सहोदर है..." कर्ण के स्वर में व्यंग्य था, "नकुल सहदेव की बात अलग थी। वे ठहरे विमाता के पुत्र।"

"नहीं दुर्योधन!" युधिष्ठिर ने स्पष्ट गम्भीर वाणी में कहा, "मैं प्रिय अनुज अर्जुन को दाँव पर लगा रहा हूँ।"

"ये हुई न बात..." शकुनि ने प्रशंसा भरे स्वर में कहा, "अरे भई, ये नाम के ही नहीं, व्यवहार के भी धर्मराज हैं।"

पाँसे फिर फेंके गये... और फिर परिणाम भी वही हुआ। अर्जुन ने अपना धनुष कन्धे से उतार कर भूमि पर रख दिया। और दुर्योधन आदि के ठहाकों के बीच युधिष्ठिर का मस्तक घूम रह गया। उनकी आँखो के आगे रह रहकर अन्धकार छाने लगा। एक बार फिर उनका मन हुआ कि वे सब कुछ छोड़कर उठ खड़े हों किन्तु, सारी सम्पदा... और उससे भी बढ़कर तीन अनुजों को खोकर कैसे उठें? और उस घोर अन्धकार में यदि कोई द्वार था तो बस वही... द्यूत का एक और दाँव।

आशा-निराशा तथा शकुनि, दुर्योधन आदि के व्यंग्यों के बीच उन्होंने भीम को दाँव पर लगाकर एक बार फिर अपना भाग्य परखा। किन्तु वह दाँव भी शकुनि ने ही जीत लिया।

इस पराजय के बाद, निर्णय लेने में युधिष्ठिर को कोई दुविधा नहीं हुई। चारों भाइयों को हारकर, वे स्वयं मुक्त रह भी कैसे सकते थे! और सम्भावना की क्षीण किरण यदि कहीं थी भी, तो द्यूत के दाँव में ही थी। अन्य कोई मार्ग नहीं था . सारा राज्य, सारी सम्पत्ति तथा अपने भाइयों को प्राप्त करने का। बिना कुछ सोचे समझे, युधिष्ठिर ने स्वयं अपने आपको दाँव पर लगाया...

और वह दाँव भी शकुनि ने जीत लिया।

सभा-मण्डप तुमुल हर्ष-ध्वनि से गूँज उठा, जिससे लगा कि सारे भवन की छत काँपकर गिर पड़ेगी। भीष्म, द्रोण आदि सभी गुरुजन विस्मय एवं आतंक में जड़वत् बैठे थे। कुछ बोलना तो दूर... उनसे हिला भी नहीं जा रहा था। विदुर रह रहकर अपना सिर पीट रहे थे, और धृतराष्ट्र उत्सुकता एवं उत्तेजना में रह-रहकर इधर उधर

मुख घुमाकर पूछते रहते थे, "क्या हुआ... कोई मुझे भी तो बताओ... क्या हम जीत गये?"

उस उत्तेजना, हर्ष, विषाद एवं आश्चर्य से भरी सभा के बीच पाँचों पाण्डव, सिर झुकाये बैठे हुए, समझ नहीं पा रहे थे कि उन्हें अब क्या करना चाहिए! सब कुछ लुटाकर अचानक एक समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य का शासक स्वयं अपने आपको, युवराज, सेनापति एवं अनुजों-सहित हार गया। पाण्डव अपनी इस स्थिति मे इतना आक्रान्त थे कि स्पष्ट रूप से समझ नहीं पा रहे थे कि उनकी क्या स्थिति है! सेवक की, क्रीत दास की अथवा... अथवा उससे भी किसी निम्न कोटि के प्राणी की। उन्हें स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं था कि उन्हें क्या करना चाहिए! किसकी आज्ञा में, किसके अनुशासन में रहना चाहिए! वे दुर्योधन के दास हैं अथवा महाराज धृतराष्ट्र के? उनके अनुज पुत्र के नाते, जो उसका जन्मजात सम्बन्ध था, उसका अब क्या होगा...? उन पाँचों के मस्तिष्क में, अलग-अलग, भाँति-भाँति के चिन्ताजनक विचार उठ रहे थे।

दुश्चिन्ताओं के गहन भार से झुके अपने मस्तक से, युधिष्ठिर ने काँपते हाथों अपना मुकुट उतारकर अपने सम्मुख भूमि पर रख दिया और भारी कण्ठ से कहा, "युवराज दुर्योधन! मैं अनुजों सहित अपना सब कुछ हार गया... अब मुझे द्यूत से उठने की अनुमति प्रदान करें। मेरे पास अब कुछ भी शेष नहीं है दाँव पर लगाने के लिए।"

"नहीं महाराज! नहीं धर्मराज!" शकुनि ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा, "ऐसा न कहें। आपके पास तो आपका धर्म है, जिसे कोई कभी नहीं ले सकता।"

"अरे, मरा हाथी तो भी सहस्र मुद्राओं का..." दु:शासन ने कहा।

"अभी बड़बोले अर्जुन का अहंकार भी तो होगा उसके पास..." कर्ण ने कहा।

"और मोटे?" दुर्योधन ने भीमसेन को लक्ष्य करके कहा, "तेरा तो सारा बल ही दाँव पर लग गया! अब क्या करेगा तू?"

"किन्तु धर्मराज!" सहसा शकुनि ने कहा, "अभी तो आपके पास एक और अवसर है... लगाइए ,लगाइए, दाँव लगाइए। कौन जाने उसके बदले आपका अब तक हारा हुआ सब कुछ वापस मिल ही जाए।"

"अब क्या बचा मातुल?" दुर्योधन ने आश्चर्य में पूछा।

"अभी तो है..." शकुनि ने कुटिलतापूर्वक मुस्कराते हुए कहा, "एक सुन्दरी पत्नी है..."

"अरे हाँ!" दु:शासन ने उछलते हुए कहा, "मेरा तो ध्यान ही नहीं गया उधर।"

"हाँ! वह भी तो रत्न है..." दुर्योधन ने कहा।

"कहाँ का रत्न?" कर्ण ने घृणा-पूर्वक कहा, "किन्तु दासी बनाने योग्य अवश्य है।"

"तो हो जाए एक और दाँव..." दुर्योधन की मण्डली की हर्षध्वनि के बीच पाण्डवों का मस्तक लज्जा से और भी झुकता चला गया।

एक दाँव...! अर्थात् एक सम्भावना...! घोर अन्धकारमय भविष्य के विपरीत झाँकती हुई, आशा की एकमात्र क्षीण किरण! द्रौपदी...

वैसे भी... क्या होगा द्रौपदी का? क्या स्थिति होगी, समाज में... हस्तिनापुर के राजभवन में, पाँच दासों की पत्नी की? दासों की पत्नी तो वैसे भी दासी ही रहेगी। दाँव हार गये, तब भी... और दाँव पर न लगी, तब भी...

युधिष्ठिर का मस्तक घूम रहा था। वे तर्क-वितर्क करने की स्थिति में नहीं थे। जो गति है... इससे बुरी और क्या होगी? उन्होंने समस्त ऊहापोह को परे ढकेलते हुए कहा, "लो! मैं दाँव पर अपनी प्रिय पत्नी द्रौपदी को लगाता हूँ।"

युधिष्ठिर की स्वीकृति सुनते ही दुर्योधन, शकुनि आदि के हर्षोल्लास से सभा भवन पुनः गूँज उठा। उस कोलाहल में भी ये शब्द विदुर, भीष्म, द्रोण आदि के कानों तक पहुँचे और वे सब अपना माथा पीटकर रह गये। उधर धृतराष्ट्र उत्तेजना एवं कौतूहल में इधर-उधर सिर घुमाकर पूछे जा रहे थे, "अरे मुझे भी तो बताओ.. क्या हम जीत गये?"

इसी बीच शकुनि ने पाँसे फेंके और... सामूहिक हर्षध्वनि के बीच चिल्लाकर अपनी विजय की घोषणा की।

सभा-मण्डप में कोलाहल कुछ थमा ही था कि आदेशात्मक ऊँचे स्वर में दुर्योधन ने कहा, "जाओ विदुर! पाण्डवों की प्यारी द्रौपदी को शीघ्र यहाँ लेकर आओ. कि वह अब हमारी सेवा-टहल करे और अन्य दासियों के साथ रहे।"

आदेश सुनकर विदुर और भी अवाक् रह गये। उन्होंने कहा, "युवराज दुर्योधन, न तो मैं तुम्हारा दास हूँ और न तुम्हारे इस कुकृत्य में भागीदार। अरे मूर्ख! अब भी चेत जा। पाण्डवों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार न कर... अन्यथा तेरा कुकर्म तुझे ही नहीं, सारे कुरु-वंश को ले डूबेगा।"

"बस विदुर! बस..." दुर्योधन ने क्रोधित स्वर में कहा, "अनर्गल प्रलाप मत करो। तुमसे तो मैं बाद में निपट लूँगा..."

यह कहते हुए उसने पास ही खड़े प्रातिकामी को आदेश दिया, "पाण्डवों से भयभीत हुए बिना जाओ, और द्रौपदी को मेरे सम्मुख उपस्थित करो।"

भयभीत प्रातिकामी ने दुर्योधन का आदेश स्वीकार करते हुए सभा-मण्डप से प्रस्थान किया। मण्डप में सहसा सन्नाटा घिर आया था। सभी किंकर्तव्यविमूढ़ बने बैठे थे। सभी के मन-मस्तिष्क में एक ही प्रश्न अनेकानेक रूप लेकर घुमड़ रहा था,

'अब क्या होगा?' सबकी दृष्टि मण्डप के उस द्वार पर टिकी थी जिधर से प्रातिकामी गया था।

कुछ देर पश्चात् प्रातिकामी ने अकेले ही सभा-मण्डप में प्रवेश किया और बताया, "महारानी द्रौपदी ने द्यूत में अपने पतियों सहित अपनी हार को, दुर्भाग्य कहकर स्वीकारते हुए, धर्म पर दृढ़ रहने का निश्चय किया है। उन्होंने कहा कि सभा में उपस्थित गुरुजनों से पूछकर मुझे बताओ... कि इस स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए!"

द्रौपदी के प्रश्न का उत्तर किसी को भी देते नहीं बना। स्थिति ऐसी आ पड़ी थी कि किसी को स्वयं ही नहीं पता था कि क्या उचित है, और क्या अनुचित! और अधिकांश लोग वहाँ ऐसे थे, जो दुर्योधन से भयभीत भी थे। कोई कुछ नहीं बोल पाया।

तब सभा में व्यापे मौन को तोड़ते हुए दुर्योधन ने ही पुनः कहा "अरे मूर्ख! मैंने तुझे द्रौपदी को यहाँ लाने के लिए भेजा था... उसका सन्देश लाने के लिए नहीं। जा, और जाकर द्रौपदी को ला... द्रौपदी को।"

किन्तु प्रातिकामा को भय था... एक ओर दुर्योधन का, तो दूसरी ओर पाण्डवों का अथवा कौन जाने स्वयं अपने ही मन का। उसने दुर्योधन के आदेश को अनसुना करते हुए सभा में उपस्थित गुरुजनों को सम्बोधित किया, "मान्यवरो! मैं द्रौपदी से क्या कहूँ?"

दुर्योधन को प्रातिकामी की यह अवहेलना बुरी लगी.. किन्तु उस समय उसके पास उसे दण्डित करने का समय नहीं था। उसने दुःशासन से कहा, "लगता है यह मूर्ख अब भी भीमसेन से भय खा रहा है। छोडो इसे... और तुम स्वयं जाकर द्रौपदी को पकड़ लाओ। अब ये पाण्डव हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।"

अग्रज की आज्ञा पाकर, उत्साह मे भरा दुःशासन द्रौपदी के पास पहुँचा... और उद्दण्डतापूर्वक बोला, "कृष्णा! तुझे हमलोगों ने जीत लिया है। चल, और हमलोगों की सेवा कर... अब हम कौरव ही तेरे स्वामी हैं।"

अपने सम्मुख क्रूरता की मूर्ति बने दुःशासन को देख... और ऐसे कटु वचन सुनकर द्रौपदी को पाँव तले की भूमि खिसकती लगी और सिर चकराता हुआ प्रतीत हुआ। वे घबराकर धृतराष्ट्र के रनिवास की ओर भागीं। किन्तु तभी दौड़कर दुःशासन ने उनके घुँघराले केश पकड़कर उन्हें खींचते हुए कहा, "अरी दासी! अब मुझसे भागकर कहाँ जाएगी?"

द्रौपदी का रोम-रोम काँप रहा था। उन्होंने रुँधे कण्ठ से कहा, "अरे मूढ़ दुःशासन! मैं इस समय रजस्वला हूँ... एक वस्त्र में हूँ। इस अवस्था में मेरा सब के सम्मुख जाना उचित नहीं होगा।"

वह चीख़-पुकार सुनकर रनिवास की अनेक महिलाएँ, दास-दासियाँ निकल आयीं। किसी को देखकर विश्वास नहीं हुआ कि... कुरु-कुल की वधू, इन्द्रप्रस्थ की महारानी... और उसकी यह गति! सभी स्तम्भित खड़े रह गये, जैसे उन्हें लकवा मार गया हो...

द्रौपदी की बात पर ध्यान न देते हुए दुःशासन ने केश द्वारा ही द्रौपदी को घसीटते हुए कहा, "अरे अब तू रजस्वला हो अथवा निर्बला, एक-वसना... या निर्वसना, तू हमारी दासी है। न्याय-पूर्वक द्यूत में जीती हुई एक वस्तु... अब तो तुझे हमारी आज्ञा में ही रहना होगा," यह कहते हुए वह द्रौपदी को सभा-मण्डप में घसीट लाया।

द्रौपदी के केश बिखर गये थे। शरीर का कुछ भाग वस्त्र खिसक जाने के कारण अनावृत्त हो गया था। वह लज्जा एवं क्रोध से काँपती हुई बोलीं, "अरे धूर्त! इस सभा में मेरे गुरुजन बैठे हैं..." फिर उन्होंने पुकारते हुए धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर आदि की ओर देखकर कहा, "आप सब देख रहे हैं... कि मेरे साथ कैसा अन्याय हो रहा है।"

उनमें से कोई बोलता, उससे पहले ही दुःशासन ने कहा, "व्यर्थ का प्रलाप बन्द कर दासी... तुझे तेरा पति दाँव पर लगाकर हार चुका है। अब तू हमारी दासी है।"

तब तक द्रौपदी कुछ सँभल चुकी थीं। उन्होंने ऊँचे स्वर में प्रश्न किया, "मुझे ज्ञात हुआ कि मुझे दाँव पर लगाने से पहले ही, धर्मराज स्वयं अपने आप को हार चुके थे। अब आप सभी विद्वान बताएँ कि क्या धर्मानुसार, स्वयं हारने के बाद, उन्हे मुझे दाँव पर लगाने का अधिकार था?"

इस स्थिति में सहसा यह प्रश्न सुनकर सभी क्षणभर को हत्प्रभ रह गये। सभी को मौन पाकर, दुर्योधन के एक अनुज विकर्ण ने कहा, "सभासदो! द्रौपदी का यह प्रश्न ध्यान देने योग्य है। आप लोग राग-द्वेश एवं पक्षपात छोड़कर पहले इस प्रश्न का उत्तर दें।"

अन्य किसी का उत्तर न पाकर, क्षण भर बाद, स्वयं विकर्ण ने ही कहा, "आप सब भले ही मौन रह लें... किन्तु जो मैं उचित समझता हूँ, वह अवश्य कहूँगा। मेरी दृष्टि में, स्वयं अपने आप को हारने के पश्चात्, धर्मराज को कोई अधिकार नहीं था कि वे अन्य किसी को दाँव पर लगाएँ।"

विकर्ण के मत पर सभा में उपस्थित लोगों की सामूहिक सहमति सुनाई पड़ी। शकुनि को धिक्कारते हुए भी कुछ स्वर सुनाई दिये। किन्तु तभी कर्ण ने उसे आँखें दिखाते हुए कहा, "क्या हो गया है तुम्हें? तुम अपने अग्रज का ही विरोध कर रहे हो? और वह भी उस स्त्री के लिए, जो नारी-जाति के नाम पर कलक है। अरे नारी का एक ही पति होता है... यही धर्म है। किन्तु इसके तो पाँच-पाँच पति हैं... ये तो वेश्या है वेश्या।" और फिर उसने दुःशासन से कहा, "विकर्ण तो बालक है... छोड़ो इसे... और इन सभी दासों और दासी के वस्त्र उतार लो।"

यह सुनकर दु:शासन ने तुरन्त झपटकर द्रौपदी का वस्त्र पकडा... तो हताश स्वर में उसे धिक्कारते हुए द्रौपदी ने कहा, "इस कुकर्म से कुछ तो डर, तुझे अपना जीवन प्यारा नहीं है क्या?"

"मुझे भय दिखाती है..." दु:शासन ने ढिठाई से हँसते हुए पाण्डवों की ओर संकेत करके कहा, "इन हारे हुए योद्धाओं का भय! अरे अब कुछ नहीं कर सकते ये। ये सब तो दास हैं हमारे।"

सहसा द्रौपदी ने ऊँचे स्वर में सबको सुनाते हुए कहा, "ये कुछ नहीं करेंगे तो... तो क्या? क्या मैं अनाथ हो गयी? कृष्ण दण्ड देंगे तुझे... कृष्ण नहीं छोड़ेंगे तुझे..."

यह सुनते ही क्षण भर के लिए सभा-मण्डप में सन्नाटा छा गया। किन्तु द्रौपदी पर जैसे विक्षिप्तता छाती जा रही थी... "कृष्ण!" उन्होंने फिर ऊँचे स्वर में पुकारकर कहा, "कहाँ हो तुम कृष्ण..."

जाने कैसा बल होता है असहाय की विश्वास भरी पुकार में, कि उसका एकाकी स्वर प्रतिध्वनित होकर अनेक स्वरों में गूँज उठता है। द्रौपदी का स्वर भी सभा-मण्डप में बारम्बार प्रतिध्वनित होकर भवन की भीतों एवं स्तम्भों को ही नहीं, वहाँ उपस्थित समस्त जनों के हृदय को भी कँपाने लगा। ...और सहसा कहीं से उछला हुआ एक वस्त्र आकर द्रौपदी पर गिरा। उसे देख वहाँ उपस्थित लोग कुछ समझें कि सहसा यह क्या हुआ। क्या गिरा! कि किसी दूसरी ओर से एक और वस्त्र वहाँ आ गिरा। और फिर लगभग सभी दिशाओं मे, एक के बाद एक, अनेक वस्त्र द्रौपदी पर गिरते चले गये। रंग-बिरंगे वस्त्रों का द्रौपदी के तन पर, तथा उनके आस-पास, ढेर लगता चला गया। उनमें कुछ रानियों के वस्त्र थे तो कुछ दासियों के.. कुछ प्रतिहारियों के वस्त्र थे तो कुछ ब्राह्मण-पुरोहितों के... कुछ राजाओं के तो कुछ रंकों के...

यह देखकर सहसा विक्षिप्त की भाँति चिल्लाकार दुर्योधन ने कहा, "यह क्या हो रहा है? कौन फेंक रहा है इन्हें ...? सैनिको! पकडो उन्हें। हाथ काट दो उनके।"

. किन्तु कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सभी सैनिक जड़वत् खड़े रहे। सभासद आदि ठगे से बैठे रहे। और भला किसके हाथ काटता दुर्योधन! कहीं कोई हाथ दिखाई नहीं दे रहा था। ये वही असंख्य, अदृश्य हाथ थे जो अन्याय के विरुद्ध वासुदेव कृष्ण का साथ देकर, कहीं उन्हें कंस जैसे आततायी से टक्कर लेने का बल प्रदान करते थे... तो कहीं कोई पर्वत उठा लेने का। सभी सभासद देखकर चमत्कृत थे कि मात्र उनका नाम लेने से ही वे हाथ, निर्बल का बल ब[illegible]र, साथ आ खड़े होते हैं...

अपने और द्रौपदी के बीच वस्त्रों का ढेर देख चमत्कृत दु:शासन ने कुछ वस्त्र तो उठाकर अलग फेंके... किन्तु शीघ्र ही वह लज्जित होकर बैठ गया। उसने खीझते

हुए दुर्योधन से कहा, "ये तो किसी और से हटवाओ भैया! मैं तो इन्हें हटाते-हटाते थक जाऊँगा।"

तभी भीमसेन ने अपने दाँत पीसते हुए क्रोधित स्वर में कहा, "तू इन्हें हटा या न हटा, दु:शासन! किन्तु मैं यह कभी नहीं भूलूँगा कि तूने द्रौपदी के केश खींचे थे... उसके वस्त्रों का तूने स्पर्श किया था। मैं तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पियूँ तो परमात्मा मुझे कभी सद्‌गति न प्रदान करे।"

ऐसा भयंकर प्रण सुनकर सभी सभासद काँप उठे। उन्हें शान्त करते हुए विदुर ने कहा, "महाराज! मुझे इसी बात का भय था। इसी कारण मैं द्यूत का प्रारम्भ से ही विरोध कर रहा था। अब जो होना था वह हो चुका... और जो इसका परिणाम होगा वह भी सामने आ ही जाएगा। किन्तु इस समय, इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रकरण को समाप्त करने की आज्ञा दीजिए।"

"तुम जानते हो विदुर..." धृतराष्ट्र ने बड़े निरीह स्वर में कहा, "द्यूत के पक्ष मे तो स्वयं मैं भी नहीं था।"

"किन्तु फिर भी आपने द्यृत की आज्ञा दी, महाराज!" विदुर ने कहा, "यह भी सत्य है। किन्तु इस ममय उससे भी बड़ा एक प्रश्न आपके सम्मुख खडा है। कृपया उत्तर दें द्रौपदी के प्रश्न का, कि क्या धर्मत: युधिष्ठिर को अधिकार था... स्वय हार जाने के बाद, अपनी पत्नी को दाँव पर लगाने का?"

धृतराष्ट्र वह प्रश्न सुनकर मौन रह गये... तो भीष्म ने कहा, "कल्याणी! धर्म की गति अत्यन्त गहन है। धर्म का रूप एवं उसकी परिभाषा परिस्थितियों के साथ परिवर्तित भी होती रहती है। सम्भवत: यहाँ भी कोई निश्चित रूप से तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं जानता... इमी कारण सब चुप हैं। मेरी दृष्टि में, तुम स्वयं युधिष्ठिर से ही पूछो... वे जो भी उत्तर देंगे, वही सत्य होगा।"

यह सुनकर भी सब दुविधा में ही पड़े रह गये। सबको मौन देख दुर्योधन ने ही व्यंग्य से मुस्कराते हुए द्रौपदी से कहा, "अब पूछती क्यों नहीं? अच्छा चल अपने शेष चार पतियों से ही पृछ ले। यदि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव ही कह दें कि युधिष्ठिर का तुझ पर कोई अधिकार नहीं था, तो मैं तुझे तुरन्त ही मुक्त कर दूँगा... अन्यथा..." यह कहते हुए उसने भीमसेन की ओर देखते हुए अपनी बायीं जंघा उघारकर निर्लज्जतापूर्वक द्रौपदी की ओर देखा।

भीमसेन की आँखें क्रोध से भड़क उठीं और उन्होंने अपनी ललकार से सभा को प्रतिध्वनित करते हुए कहा, "दुर्योधन! ले मेरी एक प्रतिज्ञा और सुन ले। यदि मैंने तेरी यह जंघा अपना गदा से नहीं तोड़ी तो मैं सदा-सर्वदा के लिए शस्त्र त्यागकर संन्यास ले लूँगा।"

"अरे धूर्त!" दुर्योधन ने भी नेत्रों से अंगार उगलते हुए कहा, "अपने स्वामी से

कैसे बात करते हैं, यह शीघ्र ही सीख ले... अन्यथा तुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।"

दुर्योधन और कुछ कहे, इसके पूर्व ही विदुर ने खड़े होकर धृतराष्ट्र से कहा, "महाराज! द्यूत से प्रारम्भ हुई यह कटुता बढ़ती ही जा रही है। इसका तुरन्त ही हल न निकला तो परिणाम कुरु-वंश के लिए घातक होगा। महाराज, आज जो हुआ उससे स्पष्ट है कि वह धर्म-सम्मत नहीं था। और द्रौपदी का प्रश्न भी अभी तक अनुत्तरित है। इस विषय में आप पुत्र-प्रेम एवं पक्षपात त्यागकर निर्णय सुनाएँ जिससे कुल में कलह न हो। अन्यथा मुझे तो लक्षण अच्छे नहीं लग रहे हैं। और... और यह देखिए महाराज! इस सभा में आपके सम्मुख अन्याय, अनाचार, दुर्व्यवहार एवं कुल-द्रोह देखकर महात्मा भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, सोमदत्त तथा बाह्लीक आदि सभा-मण्डप छोड़कर जा रहे हैं।"

इसी बीच धृतराष्ट्र के पास गान्धारी का सन्देश पहुँचा... उधर, स्वयं धृतराष्ट्र को भी अशुभ शकुन व्यग्र कर रहे थे। उनका मन घबरा रहा था। उन्होंने उसी क्षण एक निश्चय किया और द्रौपदी से कहा, "पुत्रवधू! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो हममें से किसी के पास नही है... किन्तु तुम्हारे साथ जो दुर्व्यवहार हुआ उससे हम सभी दु:खी हैं। उसे मेटना तो किसी के वश मे नहीं है, किन्तु उसके परिशोधन-स्वरूप मेरा अनुरोध है कि तुम जो जी चाहे माँगो, तुम्हारी इच्छा पूरी करने में मुझे प्रसन्नता होगी।"

द्रौपदी ने कहा, "महाराज! आप मुझे वर दे ही रहे हैं... तो धर्मराज सम्राट युधिष्ठिर दासत्व से मुक्त हों।"

"कल्याणी! युधिष्ठिर स्वतन्त्र हुए..." धृतराष्ट्र ने कहा, "मेरी इच्छा है कि अपने लिए भी कुछ माँगो... एक और वर माँगो।"

"पिताश्री!" सहसा क्रोध में पुकारते हुए दुर्योधन ने कहा, "यह क्या कह रहे हैं आप? क्या हो गया है आपको?"

"तुम चुप रहो दुर्योधन!" धृतराष्ट्र ने दृढ़तापूर्वक कहा, "मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, बहुत सोच-विचारकर कर रहा हूँ।"

"आपकी कृपा, महाराज!" द्रौपदी ने दुर्योधन की ओर अवहेलना से देखते हुए कहा, "मैं अपने ही लिए यह प्रार्थना करती हूँ कि अपने रथ एवं अस्त्र-शस्त्र के साथ भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव भी मुक्त किए जाएँ।"

"तुम्हारी यह इच्छा भी पूर्ण हुई..." धृतराष्ट्र ने कहा, "किन्तु मेरा मन अभी भी अपराध-बोध से मुक्त नहीं हुआ पुत्री! कुछ और माँगो..."

"और माँगकर मैं स्वयं लोभ के मार्ग पर नहीं बढ़ना चाहूँगी महाराज!" द्रौपदी ने कहा, "वैसे भी, धर्मानुसार क्षत्रिय-स्त्री को दो वरदान प्राप्त करने की ही अनुमति है। अधिक लोभ से धर्म का नाश होता है। अब, जब कि मेरे पति दासत्व से मुक्त

हो गये हैं, मुझे विश्वास है कि वे अपने पराक्रम से संसार के सब सुख प्राप्त कर लेंगे।"

मुक्त होते ही भीमसेन का मन दुर्योधन एवं दु:शासन पर प्रहार करने का था, किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें आग्रहपूर्वक रोका... और धृतराष्ट्र के सम्मुख जाकर कहा, "महाराज! अब हमारे लिए क्या आज्ञा है! हम आपके ऋणी तथा आज्ञाकारी हैं।"

धृतराष्ट्र के मुख पर उस समय अपार शान्ति विराजी थी। उनका मन संसार के सभी बन्धनों से, लोभ, घृणा, कपट आदि से ऊपर उठकर एक अवर्णनीय सुख का अनुभव कर रहा था। उन्हें सहसा लगा कि जो सुख देने में है, वह पाने में कभी नहीं मिल सकता। उन्होंने गद्‌गद कण्ठ से कहा, "तुम्हारा कल्याण हो युधिष्ठिर! तुमने तो मेरी आज्ञा मानकर द्यूत-क्रीड़ा भी स्वीकार कर ली। जहाँ तुम मुझ जैसे मन्द-भागी की इतनी आज्ञा मान लेते हो, वहीं एक अनुरोध और मान लो। क्षमा कर दो दुर्योधन को। तुम्हारे जैसे उत्तम पुरुष किसी से वैर नहीं करते। तुम पाँचों भाई धर्म, धैर्य, सद्व्यवहार एवं पराक्रम की प्रतिमूर्ति हो... तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम अपने राज्य इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करो।"

पाण्डवों के सभा-मण्डप से निकलते ही दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण, दु:शासन एवं अपने कुछ अन्य अनुजों-सहित धृतराष्ट्र को घेर लिया।

"यह आपने क्या किया जीजाश्री...?" शकुनि ने रुआँसे स्वर में कहा।

"हमारे सारे किये-धरे पर पानी फेर दिया..." दु:शासन ने कहा।

"इतनी युक्ति एवं परिश्रम से पाया था हमने वह धन..." दुर्योधन ने दाँत पीसते हुए कहा, "और आपने सब का सब किसी महादानी की भाँति लुटा दिया।"

"आपको कुछ तो सोचना चाहिए था, महाराज!" कर्ण ने भी जोड़ा।

"सच यही है वत्स!" धृतराष्ट्र ने कहा, "कि मैंने सोचा था... और सोच समझकर ही निर्णय लिया।"

"तो किसने कहा था आपसे..." दुर्योधन ने कटुतापूर्वक कहा, "इतना सोचने को?"

"शान्त हो जाओ, पुत्र दुर्योधन!" शकुनि ने ज्ञानियों की शैली में कहा, "सोचो यह, कि अब क्या होगा?"

"और क्या होगा?" कर्ण ने खीझते हुए कहा, "वे योजना बनाकर आक्रमण करेंगे और बदला लेंगे दुर्योधन से, अपने अपमान का।"

"हमने उनसे बिगाड़ तो कर ही लिया है..." दु:शासन ने कहा, "वे भला क्यों छोड़ेंगे हमको?"

"तो मैं क्या करूँ?" धृतराष्ट्र के धैर्य की सीमा सहसा टूटने लगी, "क्यों वैर किया उनसे... तुम सबने?"

"वैर उन्होंने किया पिताश्री..." दुर्योधन ने प्रताड़ित करने-से स्वर में कहा, "सदैव ही, राज्य पर अधिकार पाने के लोभ में। वह अन्याय मैं कैसे सह लेता पिताश्री? क्यों सहता? और आज भी नहीं सहूँगा... जब तक जीवित हूँ, तब तक नहीं सहूँगा।"

"तो मैं क्या करूँ पुत्र?" धृतराष्ट्र ने पुनः टूटते हुए, रुँधे कण्ठ से कहा, "भूल कहो मेरी... मूर्खता कहो मेरी, अब तो मैं उन्हें मुक्त कर चुका।"

"करिए यह जीजाश्री..." शकुनि ने दुर्योधन की ओर देखते हुए, मनुहारते स्वर में कहा, "बस एक बार... केवल एक दाँव खेलने के लिए, उन्हें फिर बुला लीजिए।"

"उससे क्या होगा?" धृतराष्ट्र ने असमंजस में पूछा।

"केवल एक दाँव?" कर्ण के स्वर में भी विस्मय था, "भला एक दाँव में हम क्या कर लेंगे?"

"वह तुम मुझ पर छोड़ो..." शकुनि ने एक ही वाक्य में उन सभी को समझाते हुए कहा, "बुलाइए जीजाश्री। जल्दी बुलवाइए उन्हें।"

"किन्तु यह आग्रह क्यो शकुनि?" धृतराष्ट्र ने मनुहारते स्वर में पूछा, "यह भी तो सम्भव है कि यह एक दाँव युधिष्ठिर जीत जाए।"

"ऐसा कदापि नहीं होगा पिताश्री!" दुर्योधन ने, उतावलेपन में, चिल्लाते हुए कहा, "बुलवाइए... शीघ्र बुलवाइए उन्हे।"

"किन्तु एक वचन-बन्ध मेरा भी..." धृतराष्ट्र ने पराजित होते हुए कहा, "कि यह दाँव उनकी धन-सम्पत्ति लूटने के लिए नहीं होगा।"

"चलिए माना..." शकुनि ने उतावले स्वर में कहा, "नहीं होगा।'

"और यह भी..." धृतराष्ट्र ने गम्भीर होते हुए कहा, "कि कोई व्यक्ति दाँव पर नहीं लगेगा।"

"चलिए यह भी माना..." शकुनि ने कुछ सोचते हुए कहा, "किन्तु शीघ्र... शीघ्र बुलाइए उन्हें।"

"किन्तु मातुल...!" दुःशासन ने शंका व्यक्त की, "यह भी नहीं... वह भी नहीं! तब बचेगा क्या द्यूत में?"

"दुःशासन ठीक कह रहा है मातुल!" दुर्योधन ने चिन्तित होते हुए कहा, "तो क्या हम मुट्ठीभर चबेना दाँव पर लगाकर खेलेंगे? या युधिष्ठिर के श्वान पर दाँव लगाएँगे।"

"शान्त वत्स, शान्त..." शकुनि ने उसे संयमित करते हुए कहा।

"हम उनके सभी शस्त्र दाँव पर क्यों न लगवा लें...!" कर्ण ने प्रस्ताव किया।

"यह भी ठीक है..." शकुनि ने सराहती दृष्टि कर्ण पर डाली और मुस्कराते हुए कहा, "किन्तु क्यों न हम उनका सारा सुख-चैन हर लें? उनके नेत्रों से निद्रा चुरा लें?"

"यह कैसे होगा, मातुल...?"

"होगा वत्स, होगा..." शकुनि ने, रहस्यमय मुस्कान के साथ, फूलते हुए कहा, "तुम देखते तो जाओ।"

... और शकुनि की योजना सुनकर वे सभी चमत्कृत रह गये।

"आज्ञा दें महाराज!" युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँच कर, हाथ जोड़ते हुए निवेदन किया।

"पुत्र युधिष्ठिर..." धृतराष्ट्र ने कुछ अटकते स्वर में कहा, "जहाँ तुमने इतने दाँव खेले, इतना कुछ खोया और सब कुछ पुनः प्राप्त किया, वहीं, अपने अनुज दुर्योधन का मन रखने के लिए, एक दाँव और खेल लो... बस एक बार और... मेरी प्रार्थना पर।"

"ऐसा न कहें, ज्येष्ठ पिताश्री!" युधिष्ठिर ने कहा, "आपका एक बार कह देना ही मेरे लिए आदेश है। आपकी आज्ञा का पालन ही मेरे लिए सर्वोपरि धर्म है। किन्तु जो द्यूत ऐसी विषम स्थिति प्रस्तुत कर देता है... उसका सेवन मैं बस आपकी आज्ञा से ही कर रहा हूँ।"

"नहीं वत्स, नहीं..." धृतराष्ट्र ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा, "इस बार ऐसा कोई भय नहीं। दुर्योधन वचन-बद्ध है कि अब दाँव पर न तो कोई बड़ी धनराशि लगेगी और न कोई व्यक्ति... बस, एक बार और सही।"

देखते-ही-देखते बिखरते हुए दर्शक पुनः जुट गये... द्यूत पट फिर बिछ गया और, उसके दोनों ओर, कौरव तथा पाण्डव बैठ गये।

शकुनि ने अपनी हथेलियों के बीच पाँसे मसलते हुए रहस्यमय मुस्कान के साथ कहा, "तो सुनो धर्मराज! न धन और न कोई व्यक्ति... बस एक ऐसा दाँव। ...और दाँव पर लगा है बारह वर्ष का वनवास... और एक वर्ष का अज्ञातवास।"

"अर्थात्!" युधिष्ठिर ने आश्चर्य में पूछा।

"अर्थात् यह..." दुर्योधन ने मुस्कराते हुए कहा, "जो भी दाँव हारे, वह बारह वर्ष तक राज्य तथा नगर त्यागकर वन में रहे... और फिर एक वर्ष अज्ञातवास में व्यतीत करे। और यदि अज्ञातवास के बीच पकड़ में आ जाए... अथवा पहचान लिया जाए, तो..."

"तो पुनः बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास झेले..." दुर्योधन

का वाक्य उत्तेजना में झपटकर, किलकारते हुए, दु:शासन ने पूरा किया।

"यह कैसा खेल है, पुत्र!" धृतराष्ट्र ने आश्चर्य एवं चिन्ता में पूछा। तभी उनके मन में कौंध गया स्वयं अपना यह प्रश्न कि 'यदि दुर्योधन हार गया तो!' जिसका उत्तर दुर्योधन ने बड़े विश्वास के साथ दिया था कि ऐसा कदापि नहीं होगा। 'कैसे कह रहा था वह? क्या आधार था उसके विश्वास का?'

"इसी को तो क्रीड़ा कहते हैं, धर्मराज!" शकुनि ने कुटिल मुस्कान बिखेरते हुए कहा, "क्रीड़ा वह, जिसमें भरपूर मनोरंजन हो... कौतूहल बना रहे। कोई नहीं जानता कि इस एक दाँव का अन्त तेरह वर्ष में होगा, या छब्बीस वर्ष में, उन्तालीस वर्ष में अथवा... उसके भी बाद।"

"अपने खेल की महिमा आप ही जानें, मामाश्री!" युधिष्ठिर ने विवंश स्वर में कहा, "मैं यहाँ क्रीड़ा अथवा मनोविनोद के लिए नहीं, ज्येष्ठ पिताश्री की आज्ञा का पालन करने के लिए बैठा हूँ।"

"तो फिर विलम्ब कैसा, मातुल!" दुर्योधन ने चमकते नेत्रों से पाण्डवों की ओर दृष्टि घुमाते हुए कहा . और क्षण भर में ही हथेलियों के बीच मसलकर, किट-किट ध्वनि करते हुए, शकुनि ने पाँसे फेंके... और अपनी विजय से पूर्णतया आश्वस्त दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण आदि की हर्ष-ध्वनि से वह सभा-मण्डप फिर गूँज उठा।

अथाह पीड़ा से विदुर के नेत्र मुँदने लगे... और धृतराष्ट्र ने एक बार फिर जिज्ञासा में अपना सिर इधर-उधर घुमाते हुए प्रश्न किया, "क्या हुआ? मुझे भी तो बताओ कि क्या हुआ? कौन जीता...?"

दु:शासन हर्षोन्माद में उछलता-कूदता हुआ गया और कुछ ही समय में पाण्डवों तथा द्रौपदी के लिए वनवासियों जैसे मृगचर्म आदि वस्त्र लेकर लौटा। वे वस्त्र दुर्योधन तथा कर्ण ने पाण्डवों का उपहास करते हुए उन्हें दिये और निरन्तर व्यंग्य करते हुए उन्हें वे वस्त्र पहनने के लिए प्रेरित करते रहे। दु:शासन ने तो द्रौपदी से यह भी कह डाला कि 'अब तू कहाँ इन दीन-हीन वनवासियों के साथ रहेगी! अब तो यही अच्छा होगा कि तू कोई और वर चुन ले।'

यह सब सुनकर पाण्डवों में सर्वाधिक भीमसेन का ही रक्त खौलता था। युधिष्ठिर द्वारा संयमित किये जाने पर भी वे निरन्तर दुर्योधन तथा दु:शासन को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते रहे।

पाण्डवों ने जब धृतराष्ट्र के सम्मुख जाकर, द्यूत में अपनी पराजय स्वीकार करते हुए, वन जाने की बात सुनायी तो धृतराष्ट्र-सहित सभी दु:खी हो गये।

तभी, दु:खी मन से, विदुर ने साग्रह अनुरोध करते हुए कहा, "धर्मराज! ससार में सभी जीवधारियों के लिए भाग्य प्रधान है। जो सुख-दु:ख भाग्य में लिखे हैं, उनसे पार पाना मानव के वश में नहीं है। आप धर्म पर अडिग हैं, अतः मुझे विश्वास है

कि वन का कष्ट-भरा जीवन आपको अधिक विचलित नहीं करेगा। आप अनुजों-सहित, ये कष्ट-भरे बारह वर्ष सम्मानपूर्वक काटकर, अपना राज्य पुनः प्राप्त करेंगे।

"किन्तु आपसे एक विनम्र अनुरोध है... कि कुन्ती भाभी अब, अपनी आयु के कारण, वन के दुःख सहने योग्य नहीं हैं। इस बीच वे सत्कारपूर्वक मेरे घर रहे तो मैं अपना सौभाग्य मानूँगा। वत्स, मेरी यह विनती अस्वीकार न करना।"

पाण्डवों ने विनीत भाव से विदुर का प्रस्ताव स्वीकार किया... और कुन्ती ने अश्रुपूरित नयनों से, बिलखकर, स्वस्तिवाचन करते हुए, पुत्रों तथा पुत्रवधू को विदा दी।

पाण्डवों के वन-गमन को लेकर धृतराष्ट्र का मन अत्यन्त दुःखी था। रह-रहकर उनके कानों में दुर्योधन का विश्वास-भरा वाक्य गूँज उठता था, "ऐसा कदापि नहीं होगा।" उसे ऐसा विश्वास क्यों था, कि द्यूत का वह अन्तिम दाँव भी उसी के पक्ष में रहेगा? और, पहले भी, हर बार यह कैसे हुआ कि सारे पाँसे दुर्योधन के पक्ष में ही पड़ते रहे! कैसे... कैसे...?

उन्होंने विदुर से कहा, "लौटा लाओ पाण्डवों को... यह जो भी हो रहा है, अनुचित है, अन्याय है..."

विदुर ने हताश होते हुए कहा, "महाराज! अब वे क्यो लौटेंगे? किस आधार पर लौटेंगे? और क्या उनका लौटना दुर्योधन को स्वीकार्य होगा? क्या आप नये सिरे से उसके आत्म-दाह की धमकी का सामना कर पाएँगे?"

निरुत्तर होकर धृतराष्ट्र ने विवश स्वर में कहा, "विदुर! यदि वे जा ही रहे हैं तो उनके साथ शस्त्रधारी सैनिक और सेवक भेज दो... कुछ ऐसा प्रबन्ध करो कि मेरे अनुज-पुत्रों को वन में कोई कष्ट न हो।"

दुःखी मन से धृतराष्ट्र अपने भवन लौट गये... वहाँ भी उनका हृदय रह रहकर टीसता रहा। 'यह अच्छा नहीं हुआ। इस वैर का अन्त अच्छा नहीं होगा... मैंने विदुर का परामर्श क्यों नहीं माना! मैं... अभागा मैं, दुर्योधन की हठधर्मी के आगे इतना अशक्त, इतना विवश क्यों हो जाता हूँ?'

उधर, विदुर के भवन में, अपने पुत्रों तथा पुत्रवधू को विदा देकर बैठी कुन्ती के आँसू नहीं थम रहे थे। वे अपने दुर्भाग्य के पीछे अपने किसी पाप को खोजने का निरन्तर प्रयास कर रही थीं... जिसका परिणाम स्वयं उन्हें ही नहीं, उनके निरपराध पुत्रों को भी निरन्तर भोगना पड़ रहा था। कैसे... कैसे भोगेंगे वन की पीड़ा उनके पुत्र, जो कल तक एक विशाल एवं समृद्ध राज्य के शासक एवं कर्ता-धर्ता थे। कैसे काटेंगे वे वन में, बारह वर्षों का दीर्घ समय? और उनकी सुकुमारी बहू... पांचाल की राजकुमारी और इन्द्रप्रस्थ की महारानी बहू, जिसने सम्भवतः कभी वन्य जीवन की कल्पना भी न की हो।

विदुर कुन्ती को दैव की महिमा समझाकर शान्त रहने को कहते तो थे... किन्तु उन्हें शान्त करते-करते स्वयं ही अशान्त हो उठते थे। भाग्य का लेखा स्वयं उन्हें अपनी ही समझ से परे लगने लगता था। किन्तु धैर्य धारण करने के अतिरिक्त विकल्प भी क्या था!

पाण्डवों के वन-गमन के साथ ही, प्रश्न उठा कि इस बारह वर्ष की अवधि में इन्द्रप्रस्थ की व्यवस्था का भार कौन ग्रहण करेगा। द्यूत के उस अन्तिम दाँव में यह प्रावधान तो था कि जो पराजित होगा उसे वनवास के लिए जाना होगा, किन्तु उसके राज्य पर विजयी खिलाड़ी का अधिकार होने जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी।

यह समस्या धृतराष्ट्र के सम्मुख गयी तो उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पाण्डवो की अनुपस्थिति में इन्द्रप्रस्थ की शासन-व्यवस्था विदुर के अधीन रहे। किन्तु इस विषय में दुर्योधन को घोर आपत्ति थी। बहुत सोच विचारकर शकुनि, दुर्योधन, कर्ण आदि ने द्रोणाचार्य के नाम का प्रस्ताव रखा... जिसे धृतराष्ट्र ने स्वीकृति प्रदान की।

द्रोणाचार्य को यह सुनकर बडा आश्चर्य हुआ... विशेषतया यह जानकर कि उनके नाम का [illegible] दुर्योधन, शकुनि आदि ने किया। उन्होंने पाण्डवों के प्रति स्नेह के नाते, तथा इन्द्रप्रस्थ में सुशासन की दृष्टि मे, यह उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया।

वनवास

हस्तिनापुर के सामनेवाले वर्धमानपुर द्वार से निकलकर पाण्डवों ने उत्तर की दिशा में प्रस्थान किया। उनके पीछे इन्द्रसेन आदि चौदह सेवक भी, अपनी स्त्रियों के साथ उनके पीछे चले।

ऐसी अप्रत्याशित एवं अकल्पनीय घटना से राज्य के सभी नागरिक दुःखी एव हतप्रभ थे। वे दबे स्वरों में, स्थान-स्थान पर, दुर्योधन, शकुनि आदि की निन्दा कर रहे थे। उनमें से कुछ बहुत दूर तक पाण्डवों के पीछे गये... किन्तु युधिष्ठिर के समझाने पर, भारी मन से, अपने घरों को लौटे।

पाण्डवों ने सन्ध्या-समय गंगातट पर पहुँचकर एक विराट वट-वृक्ष के नीचे रात बिताने का निश्चय किया। कुछ नगरवासी ब्राह्मण, जो युधिष्ठिर के आग्रह पर भी अपने घरों को नहीं लौटे थे, उन्होंने भी वहीं रात बितायी। युधिष्ठिर को विशेष दुःख यह था कि वे उन ब्राह्मणों का यथोचित सत्कार नहीं कर पाएँगे। किन्तु उन विद्वान ब्राह्मणों ने, जिनमें महर्षि शौनक भी थे, ज्ञान का उपदेश देकर पाण्डवो की चिन्ता ही नहीं दूर की, उन्हें वनवास के कष्ट सहने का मनोबल भी प्रदान किया।

कुछ दिन बाद, युधिष्ठिर ने सभी ब्राह्मणों एवं सेवकों-सहित काम्यक वन के लिए प्रस्थान किया। राह में उन पर किर्मीर नामक एक राक्षस ने आक्रमण किया जो स्वयं को बकासुर का भाई तथा हिडिम्ब का मित्र बताकर, भीमसेन से बदला लेना चाहता था। उन दोनों का द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें भीमसेन ने किर्मीर को मार गिराया।

जैसे-जैसे पाण्डवों के वनवास के दिन बीत रहे थे, धृतराष्ट्र के मन में आत्म ग्लानि का भाव भी बढ़ता जा रहा था। उन्हें लगता था कि वे अनुज-पुत्रों के प्रति ही नही अपने आज्ञाकारी एवं स्नेही अनुज के प्रति भी अन्याय कर रहे हैं... अपने कुल की कीर्ति में कलंक लगा रहे हैं। अपने मन की व्यथा अन्य किसी से न बाँट पाना उनकी उससे भी बड़ी विवशता थी। हारकर उन्होंने एक दिन विदुर से ही चर्चा छेड दी।

"मैं बहुत दुःखी हूँ विदुर..." उन्होंने टूटे हुए स्वर में कहा, "चिन्ता की अग्नि में जलता रहता हूँ। रात-रात भर सो नहीं पाता। मेरे अनुज-पुत्र वन में कैसे रह पाते होंगे, यह सोच-सोचकर मेरा मन हर पल अशान्त रहता है। तुम्हीं बताओ मै क्या करूँ?"

"महाराज!" विदुर ने सोचते-विचारते हुए गम्भीर स्वर में कहा, "आपने अपने मन की व्यथा मुझसे बाँटकर मुझे बड़ा सम्मान दिया। मुझे फिर लग रहा है कि मैं मात्र इस राज्य का एक पदाधिकारी ही नहीं, आपका स्वजन हूँ... आपका स्नेह-भाजन हूँ। तथापि आपके प्रश्न का उत्तर देने में मुझे भय ही लग रहा है। आपने पूछा ही है, तो स्पष्ट एवं सत्य उत्तर देना मेरा धर्म है... किन्तु सत्य कभी-कभी कटु भी होता है, बहुत कटु भी हो सकता है... जो कह डालना कभी नीति-विरुद्ध हो जाता है। मैं दुविधा में हूँ महाराज! मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मुझे उस स्थिति में क्या करना चाहिए।"

"आत्मीय भी कहते हो... स्वजन भी मानते हो..." धृतराष्ट्र ने किंचित व्यंग्य से मुस्कराते हुए कहा, "और स्पष्ट कहने से भी भय खाते हो! अरे विदुर, मैंने चिन्ता के अथाह सागर में डूबते हुए, तुमसे सहायता माँगी है। यहाँ तो अपने नीति-शास्त्र को बीच में लाकर विलम्ब न करो। चिन्ता से मुक्ति का कोई मार्ग हो तुम्हारे पास तो बताओ, तुरन्त बताओ।"

"तो सुनिए, महाराज!" विदुर ने सुस्पष्ट गम्भीर स्वर में कहा, "आपके आदेश पर, द्यूत के नाम पर जो कुछ हुआ वह हस्तिनापुर के नाम पर कलंक है। उस दिन जो कुछ हुआ वह द्यूत नहीं, छल था। युधिष्ठिर द्यूत के लिए सहमत नहीं थे, उन्होंने आपके आदेश पर द्यूत खेला। आपने द्यूत-क्रीडा का वह आदेश स्वेच्छा से नहीं, अपने पुत्र दुर्योधन के दुराग्रह के सम्मुख विवश होकर दिया था। दुर्योधन को द्यूत की प्रेरणा देने वाला अन्य कोई नहीं, आपका सुसम्बन्धी शकुनि है, जो अकारण ही अपना देश छोड़कर वर्षों-वर्षों तक अपनी बहन के घर पड़ा रहता है।"

"बस विदुर, बस.." धृतराष्ट्र ने अपने कानों पर हाथ रखते हुए, प्रताड़ित करते-से स्वर में कहा, "मैंने तुमसे अपने दुःखते मन पर औषध का लेप लगाने को कहा था, न कि अन्धा-धुन्ध शल्य-चिकित्सा करने के लिए। अरे बता सको तो यह बताओ कि अब मैं क्या करूँ... अपने आग्रहों-पूर्वाग्रहों के आधार पर अभियोगों की सूची न बाँचो।"

"सुन नहीं पाए महाराज!" विदुर ने कुछ निराश, व्यंग्य भरी वाणी में कहा।

"सुन रहा हूँ विदुर, पूरी तरह सुन रहा हूँ..." धृतराष्ट्र ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा, "जहाँ अक्षम हूँ वहाँ हूँ... किन्तु सुनने की शक्ति मुझे कुछ अधिक ही मिली है। जीवन भर सुनता ही तो आया हूँ।"

"तो शान्त होकर सुनिए, महाराज!" विदुर ने भी उतनी ही दृढ़ता के साथ कहा, "नीति शास्त्र का प्रारम्भिक सिद्धान्त है कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले उसका आधार दृढ़ होना ही चाहिए। इसी आधार पर, अपनी बात कहने से पहले, मैं भूमिका स्पष्ट कर रहा था। अब यदि आप भूमिका से सहमत हैं तो, अपने धर्म एवं कुल की

मर्यादा तथा अपने वंश के सौभाग्य के हित में, गान्धारराज शकुनि को तुरन्त ही अपमानित करके निष्कासित करें। दुर्योधन यदि पाण्डवों तथा द्रौपदी से भरी सभा में क्षमा याचना करके, उनके साथ हिल-मिलकर प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहे तब तो ठीक है, अन्यथा उस कुलांगार को भी कारागार में डालकर हस्तिनापुर के राज्य पर युधिष्ठिर का अभिषेक कर दीजिए। मेरे परामर्श से यह तो स्पष्ट ही है कि, उस दिन द्यूत के खेले हुए परिणाम को निरस्त्र करते हुए, आप पाण्डवों को वन से तुरन्त वापस बुला लें। और क्या कहूँ...! इतना करने से ही आप कृत-कृत्य हो जाएँगे।"

विदुर का परामर्श विष के घूँट की भाँति पीकर, धृतराष्ट्र कुछ मौन रहने के पश्चात् बोले, "यह तो स्पष्ट है विदुर कि तुम पाण्डवों का हित चाहते हो... मैं भी उनका शत्रु नहीं हूँ। किन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि तुमको दुर्योधन के प्रति इतना द्वेष क्यों है? मैं जानता हूँ कि वह स्वभाव से कुछ हठी है, कुछ उग्र है. किन्तु वह मन का बुरा नहीं है। आवश्यकता है उसे समझने की... उसे समझाने की न कि उसे कारागार में डाल देने की। अरे, मैं उसका पिता हूँ... मैं उसके लिए ऐसी बात सोच भी कैसे सकता हूँ?"

किन्तु वह पहला अवसर तो नहीं था जब दुर्योधन के दुराचार ने प्रेरित किया हो विदुर को। फिर भी, कुछ था जो हर बार रोक लेता था उन्हें.. कौन जाने मात्र उनकी गोपनीयता की शपथ, या धृतराष्ट्र का निरीह पुत्र-प्रेम!

'उसका पिता...' विदुर के कर्ण-कपाट पर ये शब्द बड़ी कटुता के साथ खटके। मन ने क्षणांश के लिए विद्रोह किया... उन्हें प्रेरित किया कि वे कह ही डाले वह कटु सत्य कि मुझे ज्ञात है कैसे पिता हैं आप!'

"महाराज!" विदुर ने पुनः दृढ़तापूर्वक कहा, "चलिए... मैं नहीं समझता, किन्तु आप तो समझते हैं उसे! और बचपन से ही उसे समझाते भी आ रहे हैं। क्या आपको नहीं लगता कि वह तर्क नहीं सुनता... शान्ति की भाषा उसके कानों के समीप भी नहीं पहुँच पाती। आप मानें, न मानें.. दुर्योधन, शकुनि की संगत में, दुराग्रह की हर सीमा पार कर चुका है। अब वह केवल भय की भाषा समझ सकता है... कठोर दण्ड द्वारा ही उसे सुमार्ग पर लाया जा सकता है।"

"जब तुम समझना ही नहीं चाहते विदुर!" धृतराष्ट्र ने क्रोधित होते हुए कहा, "और अपने दुराग्रह पर अड़े हो तो मुझे तुम्हारा कोई परामर्श नहीं चाहिए। अरे मैं तुम्हारा इतना सम्मान करता हूँ, और तुम मेरे पुत्रों का अहित चाहते हो... तो यह भी स्पष्ट सुन लो कि मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रहो अथवा जहाँ चाहो, चले जाओ।"

क्रोध में तमतमाये हुए धृतराष्ट्र उठे और स्वयं ही अपना मार्ग टटोलते हुए अपने भवन की ओर चले गये।

विदुर के लिए भी धृतराष्ट्र के कटु-वचन असहनीय थे। उन्होंने भी खिन्न मन से अपने भवन की ओर प्रस्थान किया। अतीत से मुक्त होकर उन्हें भविष्य के लिए अपना नया मार्ग चुनना था। किन्तु उससे भी पहले उनका मन पाण्डवों से मिलने का हो रहा था... पता नहीं वे कैसे होंगे! वन्य-जीवन की यातनाएँ किस प्रकार झेल रहे होंगे?

दूसरे ही दिन उन्होंने काम्यक वन के लिए प्रस्थान किया।

... और दूसरे ही दिन से, विदुर से मन्त्रणा एवं संवाद के अभ्यस्त धृतराष्ट्र को, विदुर का रिक्त आसन कचोटने लगा। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे पाण्डवों से मिलने के लिए काम्यक वन गये हैं तो उन्हें और भी आघात लगा... 'चले गये! पाण्डवों से मिलने! मुझसे पूछे बिना?'

यह अनुभूति धृतराष्ट्र के लिए और भी कष्टप्रद थी। अब क्या होगा? यह प्रश्न उन्हें नयी पीड़ा देने लगा। कौन भरेगा इस रिक्त आसन को? उनके मस्तिष्क में अनेक विद्वानों, मन्त्रियों, सेवकों आदि के चरित्र उभरे और मन के असन्तोष को और भी बढ़ाते हुए तिरोहित होते चले गये। मन मे कहीं यह भय भी हुआ कि विदुर जैसे नीतिज्ञ का साथ पाकर पाण्डवों को और भी बल मिलेगा। पाण्डवो का बल... अर्थात् दुर्योधन की दुविधा... उसकी हानि।

क्या होगा विदुर के बिना? उनके ज्ञान, उनके स्नेहपूर्ण परामर्श एवं उनके अपनत्व के बल पर ही तो वे जैसे-तैसे अपना राज्य चला रहे थे। चिन्ता उन्हें दिन-रात मथती रही। रात-भर वे करवटें बदलते स्वयं अपने तथा हस्तिनापुर के भविष्य के विषय में सोचते रहे।

इस प्रकार दो दिन बीते... और तीन दिन... फिर चार दिन। किन्तु समय उनके घाव तनिक भी नहीं भर पाया। चिन्ता का बोझ समय के साथ बढ़ता ही गया। तब एक दिन, हारकर, उन्होंने संजय से कहा, "सूत! जाओ और जाकर विदुर को बुला लाओ। उनसे कहना कि अग्रज की बात पर क्रोध करना अनुज को शोभा नहीं देता... और अग्रज न भी मानो, तो बाल-सखा होने के नाते ही स्नेह का बन्धन ऐसी निर्दयतापूर्वक न तोड़ो और यह भी न मानें तो कहना कि किसी नेत्रहीन को बीच मार्ग में असहाय छोड़ जाना कहाँ की नीति है!"

धृतराष्ट्र का सन्देश पाकर विदुर लौट पड़े। मार्ग में वे निरन्तर पाण्डवों के विषय मे सोच रहे थे। कैसा अकल्पनीय परिवर्तन! कैसा विचित्र है विधि का विधान! किन्तु वन में भी पाण्डवों का मनोबल क्षीण नहीं हो पाया था... यह धर्मनिष्ठा ही थी जो उन्हें विपत्ति के समय में भी आत्म-विश्वास के साथ खड़े होने का बल प्रदान कर रही थी। कैसी विचित्र बात... वे पाण्डवों को समझाने गये थे, और स्वयं ही उनसे बहुत कुछ सीखकर आये। जो भी हो, धर्म-चर्चा में समय अच्छा बीता।

विदुर ने जब धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँचकर प्रणाम किया तो बड़े ही गम्भीर एवं औपचारिक स्वर में उन्होंने पूछा, "मिल आये पाण्डवों से? यह समय तो बड़े सुख में बीता होगा तुम्हारा! कभी मेरा स्मरण भी हुआ तुम्हें?"

"भ्राताश्री!" विदुर ने संकोच के साथ कहा।

"क्यों विदुर..." धृतराष्ट्र ने उसी औपचारिक स्वर में पूछा, "अब महाराज नहीं कहोगे मुझे?"

"मेरे लिए तो आप पहले भ्राता ही हैं..." विदुर ने विनम्र स्वर में कहा।

"झूठ न बोलो विदुर!" धृतराष्ट्र का कण्ठ सहसा रुँध गया, "अग्रज से कोई ऐसे रूठकर जाता है!"

"क्षमा करें भ्राताश्री..." विदुर ने आगे बढ़कर उनका हाथ पकड़ते हुए कहा तो सहसा धृतराष्ट्र ने उन्हें खींचकर अपनी भुजाओं में भर लिया और वे फूट-फूटकर रो पड़े।

कुछ देर बाद, भुजाओं का बन्धन ढीला करके, कक्ष के सिसकियों भरे मौन को तोड़ते हुए, धृतराष्ट्र ने मुस्कराकर कहा, "विदुर! नेत्रहीन के निष्ठुर नेत्र भी एक उपकार तो करते ही हैं... मन में भरी हुई पीड़ा जब निकलने का मार्ग ढूँढ़े, तब वे बड़ी तत्परता से उसके सहायक बन जाते हैं।"

निरुत्तर होकर, विदुर ने पुनः धृतराष्ट्र को अपनी भुजाओं में भर लिया।

पाण्डवों से मिलकर विदुर के लौटने का समाचार पाकर दुर्योधन को कुछ चिन्ता हुई, 'हो-न-हो, यह विदुर पिताश्री को फिर कोई उल्टी पट्टी पढ़ाएगा। पाण्डवों का वनवास समाप्त कराने की युक्ति सुझाएगा।'

उसकी चिन्ता में शकुनि, कर्ण तथा दुःशासन बराबर के भागीदार थे। परस्पर विचार-विमर्श के बाद, कर्ण ने परामर्श दिया, "क्यों न हम लोग सेना लेकर वन में चलें और पाण्डवों को वहीं मार डालें! वहाँ मरेंगे, तो यहाँ किसी को पता भी नहीं लगेगा और हमारी चिन्ता सदा-सर्वदा के लिए समाप्त हो जाएगी।"

कर्ण का परामर्श उन सभी को उपयुक्त लगा और दुर्योधन ने गुप्त रूप से एक सेना जुटाना प्रारम्भ कर दिया। उन्हीं दिनों महर्षि व्यास हस्तिनापुर आये। उनके साथ महर्षि मैत्रेय भी थे। संयोग से व्यास को दुर्योधन की योजना का पता चल गया और उन्होंने धृतराष्ट्र से अपना दुःख व्यक्त करते हुए दुर्योधन को समझाने का परामर्श दिया। सुनकर धृतराष्ट्र को भी दुःख हुआ और उन्होंने विवशता दिखाते हुए अपने पुत्र को वहीं बुलवाकर कहा, "महर्षियो! अब आप ही समझाइए इसे... मैं तो हार गया।"

व्यास तथा मैत्रेय, दोनों ने ही दुर्योधन को भाँति-भाँति के तर्क देकर, धर्म का सन्देश बताकर, तथा पाण्डवों के बल की चर्चा करके भी समझाने का प्रयास किया किन्तु वह, निरन्तर उद्दण्डतापूर्वक मुस्कराते हुए, अपनी जंघा ठोंकता रहा।

"वत्स! तुम कुछ सुन रहे हो?" व्यास ने उद्विग्न स्वर में पूछा।

उत्तर में मुस्कराकर उनकी ओर देखते हुए दुर्योधन ने फिर अपनी ताल ठोंकी।

"क्या भीमसेन ने तुम्हारी इसी जंघा को तोड़ने का प्रण किया था?" महर्षि मैत्रेय ने पूछा. "वत्स, सावधान रहना। तुम्हारा यही व्यवहार रहा तो उसको अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने से सम्भवतः कोई भी न रोक पाये।"

कपट द्यूत में पाण्डवों के पराभव तथा वनगमन की बात सुनकर भोज, वृष्णि, अन्धक आदि वंशों के यादव, पांचाल के धृष्टद्युम्न, चेदि के धृष्टकेतु आदि दुःखी हुए और कृष्ण-सहित काम्यक वन पहुँचकर पाण्डवों से मिले। उन सभी का मत था कि पाण्डवों को [illegible] अन्याय चुपचाप नहीं सह लेना चाहिए। वे सभी दुर्योधन पर आक्रमण के पक्ष में थे। उनका मत था कि अन्यायी का वध कर देना भी धर्म ही है।

उनको अत्यन्त क्रोधित देखकर जहाँ एक ओर अर्जुन ने कृष्ण से शान्त रहने का अनुरोध किया, वहीं द्रौपदी ने रो-रोकर, अपने अपमान का विवरण देते हुए, उन्हें प्रतिशोध के लिए उकसाया। क्रोध में उन्होंने अपने पतियों को भी धिक्कारा, जिनके सम्मुख उनकी पत्नी का अपमान हुआ था।

कृष्ण ने द्रौपदी को शान्त करते हुए समझाया कि उचित समय आने पर उनके अपमान का प्रतिशोध अवश्य लिया जाएगा... और अन्यायियों को उनकी करनी का दण्ड अवश्य मिलेगा।

कृष्ण ने यह भी कहा कि यदि वे उस समय हस्तिनापुर में होते तो कभी द्यूत न होने देते... क्योंकि द्यूत सभी अनर्थकारी कृत्यों में सर्वाधिक हानिकारक है। दुर्भाग्य से उस समय वे शाल्व से युद्ध के लिए सागर के बीच एक द्वीप पर गये हुए थे, जो, अपने मित्र एवं सम्बन्धी शिशुपाल के वध का प्रतिशोध लेने के लिए, द्वारका पर आक्रमण करके वहाँ बहुत उत्पात मचा गया था।

कुछ दिन पाण्डवों के साथ काम्यक वन में बिताकर सभी अतिथियों ने विदा ली और अपने-अपने नगरों के लिए प्रस्थान किया। लौटते समय कृष्ण, पाण्डवों की अनुमति से, अपनी बहन सुभद्रा तथा उसके पुत्र अभिमन्यु को अपने साथ द्वारका ले गये। धृष्टद्युम्न भी अपनी बहन द्रौपदी के पुत्रों को साथ लेकर पांचाल चले गये। इसी प्रकार, शिशुपाल के पुत्र धृष्टकेतु ने भी अपनी बहन करेणुमती को, जिसका विवाह

नकुल से हुआ था, लेकर अपनी राजधानी शुक्तिमती के लिए प्रस्थान किया।

इन्द्रप्रस्थ के सैकड़ों नागरिक पाण्डवों के साथ काम्यक वन तक चले आये थे... और सैकड़ों की संख्या में अन्य नागरिक यदा-कदा उनके दर्शनार्थ आते रहते थे। सब के होंठों पर कपट-द्यूत के लिए निन्दा के साथ ही दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन आदि के लिए क्रोध होता था। युधिष्ठिर ने इस प्रतिदिन की दुःखद-वार्ता से बचने तथा प्रजाजनों का कष्ट बचाने के लिए किसी सुदूर वन में जाने का निश्चय किया और अपने साथ वन में निवास करने वाले नागरिकों से अनुरोध किया कि वे अपने घरों को लौटकर अपने वर्ण धर्म का पालन करें। उन्हें समझाने में बहुत कठिनाई हुई.. किन्तु, जैसे-तैसे, वे दुःखी-हृदय से लौटने के लिए सहमत हो गये।

तब साथ बचे हुए अग्निहोत्री, संन्यासी, स्वाध्याय में लगे भिक्षुक, वानप्रस्थी, तपस्वी, व्रती तथा अनेक विद्वान ब्राह्मणों के साथ पाण्डवों ने द्वैतवन के लिए प्रस्थान किया। द्वैतवन के आश्रमवासियों, तपस्वियों आदि ने वहाँ पाण्डवों का स्वागत-सत्कार किया। वहाँ समय-समय पर अनेक विद्वान ऋषि-मुनि आकर पाण्डवों से मिलकर उनका मनोबल बढ़ाते रहते थे। उन्हीं में एक बार महर्षि मार्कण्डेय ने आकर उन्हें समझाया कि मनुष्य का भाग्य बड़ा बलवान होता है। अयोध्या के राजकुमार राम को भी भाग्य के कारण ही, बिना किसी अपराध के, वनवास झेलकर अनेक कष्ट सहने पड़े थे। किन्तु यदि धर्म में आस्था अडिग रहे तो दुःख के दिन बीत ही जाते हैं और सुख की पुनः प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार महात्मा याज्ञवल्क्य ने उन्हें एक और दृष्टि कोण दिया—"राजन्! देखो यहाँ इतने महात्मा, विद्वान आकर तुमसे मिल रहे हैं... और दोनों को एक दूसरे से वैचारिक आदान-प्रदान का लाभ मिल रहा है। जब विद्वानों का ज्ञान एवं क्षत्रियों का बल एक साथ मिलकर सक्रिय होता है, तभी देश की प्रगति होती है। वनवास का दुःख भूलकर, इस सुखद पक्ष की ओर भी तो देखो... यह संयोग भविष्य को उज्ज्वल बनाने में सहायक होगा।"

पाण्डवों ने अपने भाग्य से समझौता करके वन्य-जीवन को अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु द्रौपदी दिन-रात, दुःख की ही नहीं, अपमान की अग्नि में जलती रहती थीं। यदा-कदा उन्हें अपने पतियों पर क्रोध भी आता रहता था कि वे सब यह अन्याय तथा अपनी पत्नी का अपमान सहकर भी चुप क्यों हैं! दुर्योधन, कर्ण, शकुनि तथा उस धूर्त दुःशासन को प्राण-दण्ड क्यों नहीं देते? वे रह-रहकर अपनी खीझ युधिष्ठिर पर निकालती थीं—"किस काम का है तुम्हारा धर्म? धूर्तों को क्षमा करते रहना कहाँ की महानता है? तुम्हारे ही दूषित प्रभाव के कारण भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव

चुप बैठे हैं... अन्यथा मेरे अपमान के बदले वे उन दुष्टों का वहीं-के-वहीं नाश कर चुके होते।"

युधिष्ठिर, जब भी अवसर मिलता, द्रौपदी को क्षमा का महत्त्व समझाते और शान्त रहने का परामर्श देते... किन्तु द्रौपदी उनकी सहनशीलता को कायरता का पर्याय बताते हुए उन्हें प्रतिशोध के लिए उकसाती रहती थीं–

"महात्मा प्रह्लाद ने भी अपने पौत्र राजा बलि को समझाते हुए स्पष्ट रूप से कहा था कि क्षमा तथा क्रोध का अपना-अपना स्थान है... यदि अत्यधिक क्रोध बुरा है तो अत्यधिक क्षमा भी अनुचित है। अत्यधिक क्षमा से तो सारी व्यवस्था ही बिगड़ जाती है, दुर्व्यवहार एवं दुष्प्रवृत्तियों का उदय होता है। और फिर कुटिल व्यक्ति को तो कभी क्षमा नहीं करना चाहिए। कुटिल व्यक्ति को क्षमा करना, पाप-वृत्ति को और भी बढ़ावा देना है।"

किन्तु हर बार युधिष्ठिर, पत्नी द्वारा तिरस्कार सहकर भी, उन्हे क्षमा की महिमा ही समझाते थे–"मनुष्य को क्रोध के वश में न पड़कर, क्रोध को अपने वश में करना चाहिए। क्रोध से विवेक का नाश होता है। जो व्यक्ति क्रोध करने वाले पर भी क्रोध नहीं करता, वह स्वयं अपने को ही नहीं, क्रोध करने वाले को भी महासंकट से बचाता है। झूठ की अपेक्षा सत्य कल्याणकारी है, क्रूरता की अपेक्षा दया उत्तम है और क्रोध की अपेक्षा क्षमा का स्थान ऊँचा है। क्षमा धर्म है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा वेद है, क्षमा स्वाध्याय है। क्षमा ब्रह्म है, क्षमा तप है और क्षमा ने ही इस जगत को धारण कर रखा है... क्षमा ही सनातन धर्म है।"

द्रौपदी को यह धारणा अव्यावहारिक लगती थी। उनका तर्क था, "मैं स्वयं अपने लिए उतनी दुःखी नहीं हूँ जितना कि आप सब के लिए। आप धर्म के मार्ग पर चलने वाले हैं, सदैव परोपकार में लगे रहे और आज वन-वन भटकते हुए, दीन हीनों-जैसा जीवन बिता रहे हैं। पेट भर अन्न भी नहीं पा रहे हैं। आप महा-शक्तिशाली होते हुए भी अपमान एवं पीड़ा झेल रहे हैं... वह धर्म किस काम का जिसका फल कर्ता को ही न प्राप्त हो!"

और दूसरी ओर युधिष्ठिर अपनी धारणा पर दृढ़ थे–"मैं अनुकूल फल पाने के लिए कर्म नहीं करता... दान देना धर्म है, बस इसलिए देता हूँ। फल मिले या न मिले, मनुष्य को अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए। धर्मज्ञ व्यक्ति के लिए धर्म के साथ मोल-तोल करना अत्यन्त निन्दनीय है। जो धर्म को दुहना चाहता है, उसे कर्म का फल नहीं मिलता। धर्म पर शंका न करो। धर्म पर शंका वह करता है जो लौकिक वस्तुओं की उपलब्धि तथा इन्द्रिय-सुख को ही सफलता मानता है। ऐसा व्यक्ति काम-पूर्ति एवं लोभ के मार्ग पर चलने लगता है... जिससे अन्त में दुःख की ही प्राप्ति होती है। धर्म ही सनातन सत्य है, द्रौपदी! मैं धर्म का त्याग नहीं कर सकता।"

युधिष्ठिर की व्याख्या से मूल-रूप से सहमत होते हुए भी द्रौपदी को पाण्डवों की सहनशीलता वेधती रहती थी। उनका तर्क था कि व्यक्ति को व्यावहारिक भी होना चाहिए। उन्हें धूर्त एवं कपटी दुर्योधन को तुरन्त दण्ड देना ही चाहिए... द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध लेना ही चाहिए। अपने तर्क द्वारा अपने पतियों को प्रभावित करने में स्वयं को असमर्थ पाकर द्रौपदी ने एक अनोखा मार्ग अपनाया था। उन्होंने दु:शासन द्वारा खींचे हुए अपने केश खुले छोड़ दिये थे... इस प्रतिज्ञा के साथ कि वे दु:शासन के रक्त से भिगोकर ही उन्हें पुन: बाँधेंगी। उनके खुले केश पाण्डवों के मन में उस अपमान की स्मृति निरन्तर बनाये रहते थे।

द्रौपदी की पीड़ा तथा उनके व्यावहारिक तर्क भीमसेन को सर्वाधिक क्लेश दिया करते थे। वे विचलित हो जाते थे और यदा-कदा अग्रज युधिष्ठिर के पास जाकर तर्क कर बैठते थे, "दुर्योधन ने जो कुछ हमसे छीना वह युद्ध में, अथवा धर्मत:, नहीं प्राप्त किया... कपट-द्यूत द्वारा छीना है। तब हम लोग यह दु:खमय जीवन क्यों सहें? हममें बल है... क्यों न हम दुर्योधन पर आक्रमण करके अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त कर लें। यदि इस उद्योग में हम मारे भी गये तो वह सम्मानजनक मृत्यु होगी, क्षत्रियोचित वीरगति होगी। माना कि धर्म का मार्ग श्रेष्ठ है, किन्तु धर्म-पालन के लिए धन भी तो नितान्त आवश्यक है... वह दुर्योधन से अपना राज्य छीने बिना हमें नहीं मिल सकता।"

ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते-देते, युधिष्ठिर स्वयं अपना धैर्य खो बैठते थे... किन्तु वे जानते थे कि धैर्य खोने से कुछ भी नहीं होता। वे यह भी जानते थे कि यदि उन्होंने ही धैर्य खो दिया तो उनके पराक्रमी अनुजों को कोई भी नहीं रोक पाएगा। साथ ही युधिष्ठिर को यह भी ज्ञात था कि, कारण कुछ भी हों, अपना राज्य गवाँने और अनुजों तथा पत्नी को वनवासी बनाने में हेतु स्वयं वे ही रहे हैं। इस स्थिति में उनकी पत्नी का प्रलाप तथा अनुजों की व्यग्रता में अस्वाभाविक कुछ भी नहीं था। फिर भी, जो स्थिति बनी, वह उनकी सहमति से बनी... और उसे अस्वीकार कर देने का उनके पास कोई कारण नहीं था... वैसे ही, जैसे अनुजों के तर्क काटने के लिए उनके पास सहनशीलता के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।

उनके पास इसका कोई विकल्प नहीं था कि वे शान्त बने रहें और यथासम्भव तर्कों द्वारा, स्नेह एवं मनुहार द्वारा, अनुजों को शान्त रखें।

वनवास के कष्ट झेलते हुए पाण्डवों को एक वर्ष से अधिक हो चुका था। तभी एक दिन भ्रमण करते हुए महर्षि व्यास उनसे आकर मिले। युधिष्ठिर की मनोव्यथा का अनुमान लगाते हुए उन्होंने पाण्डवों को वह स्थान छोड़कर किसी अन्य वन में जाने

का परामर्श दिया—"वनवासियों के लिए लम्बी अवधि तक किसी एक स्थान पर टिकना मानसिक दुःख का कारण बनने लगता है। वातावरण का परिवर्तन भी कभी-कभी मन को स्वस्थ रखने में सहायक होता है।"

साथ ही उन्होंने युधिष्ठिर को यह भी संकेत दिया कि, "सम्भवतः तुम्हारे बारह वर्ष के वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास के बाद भी स्थिति तुम्हारे अनुकूल नहीं होगी। दुर्योधन ने जो कुछ किया... और जिस प्रकार किया, उससे संकेत यही मिलता है कि वह, यह अवधि समाप्त होने के बाद, तुम्हारे मार्ग में कोई नयी बाधा खड़ी करेगा... बहुत सम्भव है कि तुम्हें युद्ध करना पड़े.."

"युद्ध?" युधिष्ठिर ने चिन्तित होते हुए प्रश्न किया, "भाइयों से...?"

"न हो तो अच्छा ही है..." व्यास ने कहा, "किन्तु तुम लोग क्षत्रिय हो। तुम्हारे अनुज अत्यन्त पराक्रमी हैं। यह वन्य जीवन उनकी प्राकृतिक प्रतिभा को कुण्ठित कर रहा है। उनके शस्त्र-प्रयोग के अभ्यास में शिथिलता नहीं आनी चाहिए... विशेषतया अर्जुन के, जिस पर युद्ध की स्थिति में सर्वाधिक भार होगा। आजकल धनुर्विद्या में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। इधर नये-नये शस्त्र विकसित किये जा रहे हैं। अर्जुन को अपने साथ बाँधकर न रखो। उससे कहो कि उत्तर दिशा की ओर जाए और वहाँ के तपस्वियों, योद्धाओं, राजाओं आदि मे मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके आधुनिक शस्त्र-विद्या प्राप्त करे और अपने अभ्यास में कोई शिथिलता न आने दे।"

कुछ समय पश्चात् युधिष्ठिर, अनुजों तथा साथ में निवास करने वाले तपस्वी ब्राह्मणों-सहित, सरस्वती तटवर्ती काम्यक वन में चले गये। वहाँ उन्होंने अर्जुन को महर्षि व्यास का प्रस्ताव सुनाया। अर्जुन नये शस्त्र प्राप्त करने तथा उनके उपयोग की विधि सीखने के लिए सहर्ष तैयार हो गये... और कुछ ही समय में भाइयों तथा द्रौपदी से विदा लेकर उत्तर दिशा की ओर चल पड़े।

उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सुदूर पर्वतीय क्षेत्रों में तथा उसके दुर्गम वनों में अनेक ऐसे तपस्वी एवं धनुर्वेद के निपुण आचार्य हैं जिनके युद्धकौशल की उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। उनमें से अनेक ऐसे थे जिन्होंने अर्जुन का नाम सुना था... किन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अर्जुन को अपना ज्ञान देने से पहले, उनकी कड़ी परीक्षा ली... और उन्हें शस्त्र प्राप्त करने के लिए सुयोग्य पात्र समझने के पूर्व उनसे लम्बी तपस्या करायी।

इसी बीच अर्जुन का परिचय चित्रसेन नामक एक श्रेष्ठ गन्धर्व से भी हुआ, जिसकी संगीत एवं नृत्य विद्या ने अर्जुन को अत्यन्त प्रभावित किया। एक बार तो उनको लगा कि संगीत ही सब कुछ है... उन्होंने अब तक का जीवन व्यर्थ ही शस्त्रों की मरीचिका में गँवाया, जिसका मार्ग व्यक्ति को निरन्तर हिंसा, द्वेष एवं रक्तपात की ओर ही ले जाता है। और वे मन लगाकर चित्रसेन से विधिवत् संगीत एवं नृत्य

की शिक्षा प्राप्त करने लगे।

संगीत में पूरी तरह मन लगाते हुए भी, रह-रहकर उनके क्षत्रिय संस्कार उभरकर उनकी एकाग्रता भंग करते रहते थे। वीणा, स्वरतन्त्री तथा पखावज आदि के बीच जब कभी उनकी दृष्टि अपने धनुष तथा तूणीर पर पड़ती तो मन की हलचल उन्हें बड़ी दुविधा में डाल देती थी। रह-रहकर उन्हें यह भी स्मरण होता कि उनके भाइयों ने, बड़ी आशा के साथ, उन्हें शस्त्र-ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से उत्तर दिशा की ओर भेजा है। और यदि, जिस सम्भावना की ओर महर्षि व्यास ने संकेत किया था, वह यथार्थ बनकर सामने आ खड़ी हुई तो वे, अपनी नव-उपार्जित संगीत विद्या द्वारा, उसका सामना कैसे कर पाएँगे! अपने भाइयों को युद्ध के लिए अकेला कैसे छोड पाएँगे?

लगभग तीन वर्ष, शस्त्रों से उदासीन रहकर, संगीत की शिक्षा ग्रहण करने के बाद, अर्जुन ने गुरु चित्रसेन से अपने मन की दुविधा कह सुनायी। चित्रसेन ने उनकी दुविधा समझते हुए कहा, "एकाग्रता के बिना संगीत की शिक्षा सम्भव नहीं है अर्जुन। वैसे ही जैसे कि तुम्हारे गुरु की मान्यता में पक्षी की आँख पर दृष्टि टिकाये बिना लक्ष्य-सन्धान सम्भव नहीं होता..."

"मुझ पर परिवार की इस संकट-वेला में बड़ा उत्तरदायित्व है, गुरुवर!" अर्जुन ने स्पष्टीकरण देते हुए कहा, "अन्यथा संगीत में मेरा मन रमता है... मुझे सुख प्राप्त होता है।"

"दु:ख न करो वत्स..." चित्रसेन ने कहा, "संगीत एव नृत्य की यह अल्प कालीन शिक्षा भी व्यर्थ नहीं जाएगी। यह तुम्हारे मन को, कठिन परीक्षा की घड़ियों में भी, शान्त एवं अनुशासित रखने में सहायक होगी... और इस प्रकार जीवन के हर क्षेत्र में, शस्त्र-संचालन में भी, एकाग्रता देगी... एक विलक्षण लय प्रदान करेगी।"

और पुन: अपने शस्त्र उठाकर अभ्यास प्रारम्भ करते ही अर्जुन को लगा कि चित्रसेन के कथन में कही कोई अतिशयोक्ति नहीं थी। अपने धनुष की टंकार मे भी उन्हें संगीत सुनाई दिया और शख-ध्वनि में भी मन को स्फूर्ति प्रदान करने वाला स्वर मिला। तूणीर से बाण निकालने तथा प्रत्यंचा खींचने मे भी उन्हें लय का अनुभव हुआ और लक्ष्य की ओर दौड़ने तथा बाण के सन्धान में भी उन्हें नृत्य-जैसी मोहक क्रिया का आभास हुआ... जैसे वह सारी क्रिया मृदंग अथवा पखावज की ताल पर ऐसे हो रही हो कि उसमें झूमता हुआ हर अंग कह रहा हो कि चलने दो, चलने दो यह क्रिया... हम कभी नहीं थकेंगे।

एक बार महर्षि बृहदश्व पाण्डवों से मिलने पहुँचे। युधिष्ठिर ने जब उनसे दुर्भाग्यवश

प्राप्त होने वाले अपने दुर्दिन की चर्चा की तो महर्षि ने नल तथा दमयन्ती की कथा सुनाते हुए उन्हें समझाया, कि 'आपके पास तो बहुत कुछ है... चार भाइयों के अतिरिक्त पत्नी तथा इतने सन्तों-महात्माओं का साथ है। महाराज नल को तो द्यूत के कारण सभी कुछ खोकर और नितान्त अकेले रहकर ही बहुत ही बुरे दिन देखने पड़े थे। जब नल का बुरा समय बीत गया तो आपका भी बीत जाएगा।'

अपने मन को समझाते हुए भी, अर्जुन की अनुपस्थिति का दुःख भी उनके भाइयों को रहता ही था। इन सभी दुःखों से मुक्ति पाने के लिए महर्षि नारद तथा पुरोहित धौम्य ने उन सब को तीर्थों का माहात्म्य बताते हुए तीर्थ-यात्रा करने का परामर्श दिया। इसी बीच महर्षि लोमश, अर्जुन से भेंट करके, युधिष्ठिर के पास उनका सन्देश लेकर आये। पाण्डवों को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अर्जुन ने अनेक शस्त्र प्राप्त करने के साथ ही गन्धर्व-वेद का भी अध्ययन किया है... और वहाँ स्वर्ग जैसे वातारवण में वे सुखपूर्वक रह रहे हैं।

युधिष्ठिर द्वारा तीर्थ-यात्रा का विचार सुनकर महर्षि लोमश तथा अनेक अन्य स्थानीय तपस्वी आदि भी, तीर्थ के लोभ-वश उनके साथ हो लिये। तीर्थों का दीर्घ कण्टकाकीर्ण मार्ग, विद्वानों की संगत तथा सेवकों की उपस्थिति के कारण.. सुगम, सुरक्षित तथा सुखदायी बन गया।

देश में चारों ओर तीर्थों का दर्शन करते हुए वे सब जब पश्चिमी सागर तट पर प्रभास क्षेत्र में पहुँचे तो, उनके आगमन का समाचार पाकर, बलराम तथा कृष्ण उनसे मिलने गये। वहाँ उन्हें फटे वस्त्रो में तथा धूल-धूसरित अवस्था में भूमि पर शयन करते देख उन दोनों को बड़ा ही दुःख हुआ। साथ ही कृष्ण ने उनकी धर्म-निष्ठा की सराहना भी की, कि वे इतना दुःख सहकर भी, क्रोध से बचते हुए, धर्म-मार्ग पर अडिग हैं।

किन्तु कृष्ण के साथ आये हुए अनेक – सात्यकि, प्रद्युम्न, साम्ब आदि–यादव योद्धाओं का मत था कि अन्याय को सहते जाना ससार में दुराचार की प्रवृत्ति को बढ़ावा देगा। साधारणजन, धर्म की राह पर चलने वालों को दुःख उठाते और दुर्योधन जैसे पापियों को राज करते देखकर, यही सोचेंगे कि धर्माचरण की अपेक्षा पाप का मार्ग ही श्रेष्ठ है।

यादवों का, विशेष रूप से सात्यकि का, मत था कि वे सब मिलकर दुर्योधन पर आक्रमण करके उसे परास्त करें... और जब तक पाण्डव अपने वनवास का समय पूरा करें तब तक इन्द्रप्रस्थ पर अभिमन्यु का शासन रहे। किन्तु युधिष्ठिर इसके लिए सहमत नहीं थे। उन्होंने यादवों को शान्त करते हुए कहा, "यदि यही आवश्यक हुआ... तो युद्ध भी किया जाएगा। किन्तु अभी उसका समय नहीं आया है।"

कृष्ण, बलराम-सहित सभी यादवों को सादर विदा करके पाण्डव, अपनी

तीर्थयात्रा के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए, पयोष्णी नदी के तट पर पहुँचे। फिर उन्होंने विनशन, विष्णुपद, कश्मीर-मण्डल, मानसरोवर, उज्जानक, बदरिकाश्रम, कैलास आदि अनेक तीर्थों और पवित्र सरिताओं तथा सरोवरों का पुण्यलाभ प्राप्त किया। महर्षि लोमश उनके साथ चलते हुए उन्हें सभी तीर्थों का विस्तृत परिचय देते जाते थे।

युधिष्ठिर मन्दराचल पर्वत पर होते हुए गन्धमादन पहुँचे ही थे कि वहाँ अर्जुन से उनकी भेंट हुई। अर्जुन, पाँच वर्ष के प्रवासकाल में, शस्त्र-उपार्जन तथा संचालन मे आशातीत सफलता प्राप्त करके लौटे थे। उनके सभी भाई तथा पत्नी द्रौपदी को उन्हे पुनः अपने बीच पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके अनुरोध पर अर्जुन ने अपने प्रवास की घटनाओं तथा प्राप्त किये हुए अस्त्र-शस्त्रों के विषय में विस्तार से बताया।

गन्धमादन पर्वत पर वे सब सुखपूर्वक चार वर्ष रहे। वहाँ अच्छी व्यवस्था हो जाने के कारण समय ऐसे व्यतीत हुआ जैसे कि चार दिन कटे हों। तभी एक दिन महर्षि लोमश ने पाण्डवों से विदा लेकर अन्यत्र जाने का निर्णय लिया। उनके जाने के पश्चात् पाण्डवों ने भी गन्धमादन छोडकर किसी अन्य स्थान पर वनवास के शेष दो वर्ष बिताने का विचार किया। वे पहले देखे हुए अनेकानेक तीर्थों का पुनः दर्शन करते हुए यात्रा करने लगे। वे विशाला नगरी तथा राजा सुबाहु के नगर होते हुए यमुना के उद्गम स्थल पर पहुँचे और सुन्दर विशाखयूप वन में पहुँचकर लगभग एक वर्ष तक वहीं रहे।

अपने वनवास का अन्तिम वर्ष बिताने के लिए पाण्डव पुनः काम्यक वन लौट आये। वहाँ के तपस्वी महात्माओ ने उनका स्वागत किया। उनके काम्यक वन पहुँचने का समाचार पाकर कृष्ण, अपनी पत्नी सत्यभामा सहित, पाण्डवों से मिलने आये। कृष्ण ने द्रौपदी को उनके पुत्रों का कुशल समाचार सुनाते हुए बताया कि वे सब मन लगाकर धनुर्वेद का अभ्यास कर रहे हैं। द्रौपदी अपने पुत्रों के विषय मे जानकर प्रसन्न हुईं।

कृष्ण ने पाण्डवों को विश्वास दिलाया कि यदि, वनवास तथा अज्ञातवास के तेरह वर्षों के बाद भी, युद्ध आवश्यक हुआ तो अनेक शक्तिशाली शासक उनके पक्ष में युद्ध करेंगे और इन्द्रप्रस्थ पर पुनः उनका शासन स्थापित होगा।

उन्हीं दिनों महर्षि मार्कण्डेय पधारे और, पाण्डवों का मनोबल बढ़ाते हुए, उन्होने अनेक ज्ञान-वर्धक कथाएँ सुनायीं। उन्होंने बताया कि शिष्ट व्यक्ति वे ही होते हैं जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता को जीत लेते हैं... जो यज्ञ, तप, दान, वेदों के अध्ययन और सत्य को ही अपना व्यवहार बना लेते हैं। उन्होंने भी युधिष्ठिर को

आश्वस्त किया कि शीघ्र ही उनके दुःख के दिन बीत जाएँगे और उन्हें राज्य-लक्ष्मी प्राप्त होगी।

उधर, प्रवास से लौटे एक ब्राह्मण द्वारा, धृतराष्ट्र को पाण्डवों के वनवास सम्बन्धी कष्टों के विषय में जानकर दुःख हुआ। संयोग कि कुछ ही समय बाद शकुनि उनसे मिलने पहुँचे और धृतराष्ट्र अपने मन की पीड़ा छिपा नहीं पाये।

"यह अच्छा नहीं हुआ, बन्धु शकुनि!" उन्होंने आहत स्वर में कहा, "तुम लोगों ने मिलकर मेरे अनुज-पुत्रों के साथ बड़ा अन्याय कर डाला। देखो तो... वे निर्दोष होते हुए भी बारह वर्षों से दीन-हीन अवस्था में वन-वन भटक रहे हैं... और तुम्हें भी क्या दोष दूँ! न जाने क्या हो गया था मुझे, कि मैं तुम सब की बातों में आ गया। इस घोर अनर्थ के लिए मेरा मन मुझे कभी क्षमा नहीं कर पाएगा।"

शकुनि ने धृतराष्ट्र का वह एकालाप वहाँ चुपचाप सुना... और शीघ्र ही दुर्योधन, कर्ण तथा दुःशासन के साथ मिलकर उसकी चर्चा की–"जीजाश्री की यही मनोदशा रही तो मुझे भय है कि वे कहीं हमारा खेल बीच ही में न चौपट कर दें।"

उन चारों ने मिलकर मन्त्रणा की... उन्हें यह भी स्मरण था कि पाण्डवों के वनवास के बारह वर्ष बीतने वाले हैं और उन्हें निरन्तर राज्य से दूर रखने के लिए यह आवश्यक था कि अज्ञातवास के तेरहवें वर्ष में उन्हें खोज निकाला जाए। इस उद्देश्य से, पाण्डवों की अज्ञातवास सम्बन्धी योजना का कोई संकेत पाने के लिए, उन्हें द्वैतवन जाकर, पाण्डवों से मिलना आवश्यक लगा।

कर्ण ने भी कहा, "मित्र दुर्योधन! क्यों न हम सब, तुम्हारे भाइयों तथा उनकी पत्नियों-सहित, राजसी ठाठ बाट के साथ सुन्दर वस्त्राभूषण में सज-धजकर द्वैत वन चलें और मृगचर्म तथा फटे-पुराने वस्त्रों में रहने वाले पाण्डवों को लज्जित करें... उनके मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करें!"

दुर्योधन ने प्रसन्न होते हुए कहा, "यह विचार तो बड़ा सुन्दर है... मुझे भी उन अहंकारी पाण्डवों को दरिद्रता में पड़ा देखकर हर्ष होगा... उस गर्वीली कृष्णा को गेरुए वस्त्रों में देखकर मेरे मन को बड़ी शान्ति मिलेगी। किन्तु मुझे भय है कि पिताश्री हमें वहाँ जाने की अनुमति नहीं देंगे।"

बहुत सोच-विचार के बाद कर्ण ने कहा, "मित्र! आजकल तुम्हारी गौओं के गोष्ठ द्वैतवन में आये हुए हैं। क्यों न हम लोग घोष-यात्रा के बहाने द्वैतवन चलें!"

शकुनि को भी यह युक्ति पसन्द आयी। उन्होंने उछलते हुए कहा, "और इसमें जीजाश्री को भी कोई आपत्ति नहीं होगी। उनकी आज्ञा हमें सहज ही में मिल जाएगी। हो सकता है वे हमें यह भी समझाएँ... कि जब वहाँ जा ही रहे हो तो पाण्डवों से

भी मिल लेना... उनके साथ, वैर-भाव भुलाकर, मेल करने का उपाय करना।"

फिर भी, अपना पक्ष साधिकार रखने के लिए शकुनि, दुर्योधन आदि ने द्वैतवन के एक ग्वाले को अपने साथ मिलाकर उसे धृतराष्ट्र के पास भेजा। उस ग्वाले ने ही जाकर धृतराष्ट्र से निवेदन किया, "महाराज! आजकल आपकी गौयें निकट के एक वन में आयी हुई हैं। यदि आप उचित समझें तो उनका निरीक्षण करवा लें।"

यह सुनकर कर्ण ने कहा, "कुरुराज! यह तो अच्छा समाचार है। यह समय गाँओ तथा बछड़ों की गणना तथा उनकी आयु आदि के विवरण के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।"

यह सुनते ही शकुनि ने जोड़ा, "तो विलम्ब क्या है, जीजीश्री! आप दुर्योधन को आज्ञा दीजिए कि वह अपने निरीक्षण में यह कार्य सम्पन्न कराए।"

किन्तु धृतराष्ट्र को ज्ञात था कि आजकल उसी वन में पाण्डव ठहरे हुए है। उन्होंने कहा कि वहाँ जाने से इस बात की आशका है कि, कारण-अकारण, दुर्योधन उन सबके प्रति कुछ अशिष्ट व्यवहार कर बैठे। वे नहीं चाहते थे कि बात आर बिगड़े।

"अरे जीजीश्री!" शकुनि ने उन्हें समझाते हुए कहा, "द्वैतवन बहुत बडा हे उसमें पाण्डव एक ओर पड़े हं। और दुर्योधन को उधर जाने की भला क्या आवश्यकता! इसलिए दोनों में टकराव होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। और हॉ यदि ऐसा कोई भय हो आपको, तो पुत्र दुर्योधन के साथ मैं भी चला जाऊँगा। वह यदि चाहेगा भी, तो मैं उसे उधर नहीं जाने दूँगा।"

दुर्योधन, शकुनि आदि के अनुरोध पर, न चाहते हुए भी, धृतराष्ट्र ने उन्हे द्वैतवन जाने की अनुमति दे दी। आज्ञा मिलते ही दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण, दु:शासन तथा अपने अन्य भाइयों तथा उनकी पत्नियो, दासियों आदि के साथ, राजसी वेभव मे, सेना-सहित, द्वैतवन पहुँचकर एक सुन्दर स्थान पर डेरा डाल दिया।

अपनी सहस्रों गायों को देखकर उसने, उनकी आयु के आधार पर श्रेणीबद्ध करके तथा दूध उत्पन्न करने की क्षमता के अनुसार गणना करके, उन्हें चिह्नित कराया और फिर ग्वालों के साथ वन में विहार करने लगा। घूमते घूमते वह उस सरोवर के पास पहुँचा, जहाँ पाण्डव कुटी बनाकर निवास कर रहे थे।

दुर्योधन ने उन पर अपने राजसी वैभव की धाक जमाने के उद्देश्य से वही एक क्रीड़ा भवन बनाने के लिए अपने कुछ सेवकों को भेजा। किन्तु उन सेवको ने कुछ ही समय बाद लौटकर सूचना दी कि इस समय वहाँ चित्रसेन नामक एक गन्धर्व, अनेक महिलाओं के साथ, जल-विहार के लिए आया हुआ है और उसके सेवक इस समय सरोवर के चारों ओर घेरा डाले हुए है। यह सुनकर दुर्योधन को क्रोध आ गया और उसने सेवकों को आज्ञा दी कि वे उस गन्धर्व के सेवकों को बताएँ कि यहाँ

हस्तिनापुर के युवराज क्रीड़ा-भवन बनाना चाहते हैं... यदि वे फिर भी न मानें तो उन्हें बल-पूर्वक हटाकर अपना क्रीड़ा-भवन बनाया जाए।

इस टकराव का परिणाम आशा के विपरीत हुआ। उलटे, चित्रसेन के सेवकों ने ही दुर्योधन के सेवकों को मार भगाया। यह देख दुर्योधन की क्रोधाग्नि भड़क उठी। वह अपने विश्वस्त सैनिकों को लेकर सरोवर पर पहुँचा... उसके साथ शकुनि, दु:शासन, कर्ण के अतिरिक्त विकर्ण, दुर्विषह, दुर्मुख, दुर्जय आदि भी थे। उधर चित्रसेन ने भी अपनी सेना को सावधान कर रखा था। उसने दुर्योधन के सैनिकों को चकमा देकर अचानक उन पर इस प्रकार आक्रमण किया कि वे घबराकर भाग खड़े हुए। दुर्योधन, शकुनि, दु:शासन भी असावधानी की अवस्था में उस आक्रमण द्वारा घायल हो गये। कर्ण का रथ भी टूट गया था और उसके शरीर पर ऐसे घाव लगे थे कि वह सहसा कूदकर विकर्ण के रथ पर जा बैठा और उसने अपने प्राण बचाने के लिए घोड़े दौड़ा दिये।

दुर्योधन के सैनिकों एवं साथियों को तितर-बितर होते देख चित्रसेन के सैनिकों ने दुर्योधन को, दु:शासन एवं कुछ अन्य योद्धाओं-सहित, झपटकर बन्दी बना लिया।

सहसा इस घटना-क्रम से चिन्तित होकर दुर्योधन के सैनिक युधिष्ठिर के पास पहुँचे और उन्हें दुर्योधन, दु:शासन आदि पर आयी हुई विपत्ति की सूचना दी। यह सुनकर भीमसेन को तो प्रसन्नता ही हुई, किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें रोककर समझाते हुए कहा, "अनुज! तुम्हें ऐसा विचार शोभा नहीं देता। भाइयों में भले ही कैसा भी मतभेद क्यों न हो, किन्तु जब कोई बाहर वाला उन पर आक्रमण करे तो उन्हें, अपना पारस्परिक रोष भुलाकर, मिल-जुलकर संकट का सामना करना चाहिए। इस समय गन्धर्वराज का यह आक्रमण दुर्योधन तथा दु:शासन पर ही नहीं, हमारे कुल पर है। इस विपत्ति में दुर्योधन को मुक्त कराना ही हमारा कर्तव्य है।"

अग्रज की आज्ञा मानकर चारों-भाई, दुर्योधन के सैनिकों के साथ, दुर्योधन के रथ मे पड़े अस्त्र शस्त्र साथ में लेकर, उस स्थान पर गये जहाँ दुर्योधन आदि बँधे पड़े थे। भीमसेन ने वहाँ पहुँचते ही गन्धर्व सैनिकों से दुर्योधन को मुक्त करने का अनुरोध किया। किन्तु जब वे नहीं माने... तो बात बल-प्रयोग पर आ गयी। उन दोनों दलों मे युद्ध छिड़ा ही था कि सहसा गन्धर्वराज चित्रसेन ने सामने आकर अर्जुन को पहचाना और, युद्ध रोकते हुए, आगे बढ़कर उन्हें अपने को हृदय से लगा लिया। अर्जुन भी सहसा, अनेक वर्ष बाद, अपने मित्र एवं गुरु चित्रसेन को देखकर आश्चर्य एवं प्रसन्नता से भर गये।

"अरे आप यहाँ?" अर्जुन को सहसा अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था।

"संयोग ही समझो मित्र!" चित्रसेन ने कहा, "कि मैं यहाँ आ गया और अकारण

ही मेरी दुर्योधन से ठन गयी... अन्यथा, तुम जानते हो कि वह यहाँ क्यों आया था?"

अर्जुन की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। तब चित्रसेन ने ही बताया कि, "बन्धन में पड़े दुर्योधन, दु:शासन आदि की परस्पर वार्ता से ही मुझे ज्ञात हुआ कि वे सब, तुम लोगों को अपना वैभव दिखाकर, तुम लोगों में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करने तथा तुम्हें लज्जित करने के लिए यहाँ आये थे। यह तो विचित्र संयोग ही है कि मेरे सैनिकों ने उन्हें बन्दी बनाकर स्वयं उन्हें ही लज्जाजनक स्थिति में डाल दिया।"

भीमसेन ने चित्रसेन का आभार मानते हुए, उन्हें अपने अग्रज का आदेश सुनाकर दुर्योधन आदि को मुक्त करने की प्रार्थना की।

"महात्मा युधिष्ठिर को ज्ञात नहीं होगा..." चित्रसेन ने कहा, "कि ये लोग यहाँ क्यों आये थे! चलो, उन्हें दुर्योधन का मन्तव्य तो बताएँ... फिर वे जो कुछ कहेंगे, वही किया जाएगा।"

सारी बात सुनकर भी युधिष्ठिर ने, चित्रसेन का आभार मानते हुए, उनसे दुर्योधन, दु:शासन आदि को मुक्त करने का अनुरोध किया। उनका अनुरोध मानकर गन्धर्वराज ने बन्दी बनाये हुए कौरवों को मुक्त कर दिया।

दुर्योधन को अपने सम्मुख पाकर युधिष्ठिर ने कहा, "प्रिय भाई! जो हुआ उसे दु:स्वप्न समझकर भूल जाओ... और सीख यह लो कि भविष्य में कभी, अपने बल के अहंकार में, किसी पर अकारण आक्रमण नहीं करोगे।"

दुर्योधन ने लज्जा में सिर झुकाये हुए ही युधिष्ठिर को प्रमाण करके हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया। किन्तु युधिष्ठिर के सामने खडे होकर उनको प्रणाम करते समय वह अपमान से गड़ा जा रहा था . अश्रु उसकी आँखो से फूट पडने के लिए मचल रहे थे और उसें लग रहा था कि उसका हृदय बैठ जाएगा।

अपनी सेना एवं परिवार-सहित हस्तिनापुर लौटते समय, मार्ग मे, दुर्योधन एक रमणीक स्थान पर विश्राम के लिए रुका। तभी कर्ण वहाँ आकर उससे मिला और बोला, "युवराज! बड़े सौभाग्य की बात है कि आप मुक्त हो गये और आपके शरीर को भी कोई बड़ा घाव नहीं लगा। दुष्ट गन्धर्वों ने छल पूर्वक जो आक्रमण किया था उसके कारण मुझे दूसरा रथ लेने तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने के लिए वह स्थान छोड़ना पडा। जब मैं पुन: वहाँ पहुँचा तो आपके हस्तिनापुर लौटने का समाचार पाकर दौड़ा चला आ रहा हूँ।"

दुर्योधन के मन में तो क्रोध यह भी था कि कर्ण उसे युद्ध में अकेला छोडकर क्यों भाग गया.. किन्तु उस समय उसका ध्यान युधिष्ठिर के सम्मुख अपमानित होने पर केन्द्रित था। उसने कहा, "राधेय! यह मुझे जीवित अथवा घाव-रहित देखकर

प्रसन्न होने का अवसर नहीं है। मेरे लिए यह घोर अवसाद एवं अपमान का क्षण है। यह जीवन मुझे उन लोगों की कृपा से मिला है जिनका मैं जीवन भर निरादर एवं अपमान करता रहा। इस प्रकार जीवित रहने से तो अधिक अच्छा यही होता कि मैं गन्धर्वों से युद्ध करता हुआ, क्षत्रिय की भाँति, वीरगति पाता... तब मुझे पुण्यलोक तो प्राप्त होता।

"अब मेरे मन में जीने के लिए उत्साह नहीं है। मैंने निश्चय किया है कि मैं यहीं अन्न-जल त्यागकर प्राण त्याग दूँगा।" फिर उसने दु:शासन की ओर देखकर कहा, "भैया! तुम हस्तिनापुर लौटकर मेरे स्थान पर युवराज बनो... मैं यह पद तुम्हें दे रहा हूँ।"

दुर्योधन की यह मनोदशा देखकर दु:शासन का गला भर आया। उसने रोते हुए दुर्योधन के पैर पकड़ लिये और कहा, "भैया, संसार चाहे इधर से उधर हो जाए... सूर्य एवं चन्द्र रहें, न रहें, किन्तु मैं आपका साथ नहीं छोड़ सकता। मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा।"

तब कर्ण ने उन दोनों को ही धैर्य बँधाते हुए कहा, "इस प्रकार दु:ख करके अपने शत्रुओं को हर्षित होने का अवसर न दो... और दुर्योधन! मैं भी तुम्हारे बिना जीवित नहीं रहना चाहता। उठो... देखो, तुम्हारे सारे भाई तुम्हें देखकर दु:खी हैं। मेरे लिए, अपने अनुजों के लिए, अपने शत्रुओं को दण्ड देने के लिए उठो, मेरे मित्र!"

शकुनि ने भी उसे समझाया, "अरे तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हें नया जीवन प्राप्त हुआ। और यदि तुम यह मानते हो कि यह जीवन पाण्डवों की कृपा से मिला... तो उनका उपकार मानो... चाहो तो इसके बदले उनका राज्य उन्हें लौटा दो। इससे तुम्हें भी सुख मिलेगा। पर यह प्राण त्यागने वाली बात मन से निकाल दो।"

इस प्रकार सबके आग्रह एवं अनुरोध पर, बड़ी कठिनाइ से, दुर्योधन प्राण त्यागने का निश्चय त्यागकर उठा और सबके साथ हस्तिनापुर के लिए प्रस्थित हुआ।

हस्तिनापुर लौटकर भी दुर्योधन के मन को कहीं शान्ति नहीं मिलती थी। गन्धर्वों द्वारा उसकी पराजय, तथा पाण्डवों की कृपा से उसकी जीवन-मुक्ति की चर्चा सभी को ज्ञात हो चुकी थी... और उसका भीष्म, द्रोण आदि से तो आँख मिलाने का भी साहस नहीं होता था...

स्वयं कर्ण के मन में भी अपने पलायन को लेकर कहीं चोर था। साथ ही उसे यह भी लग रहा था कि वनवास की अवधि समाप्त होने के पश्चात पाण्डवों से युद्ध तो होकर ही रहेगा, जिसमें काँटे की टक्कर रहेगी। राजसूय यज्ञ के समय पाण्डव जिन राजाओं को अपने पक्ष में मिला चुके थे, वे सम्भवत: युद्ध में उन्हीं का साथ

देंगे। इस स्थिति में परिवर्तन के लिए, तथा भीष्म, द्रोण आदि की दृष्टि में उठकर दुर्योधन का मनोबल बढ़ाने के लिए, कर्ण ने दिग्विजय की योजना बनायी।

इस कार्य के लिए दुर्योधन की अनुमति लेकर, वह कौरव सेना-सहित देश की चारों दिशाओं में युद्ध का डंका बजाता हुआ गया और बलपूर्वक अनेक राजाओं से कर-रूप में अपार धन, रत्न, गज, अश्व आदि लेकर हस्तिनापुर लौटा। इस उद्योग मे उसने अनेक ऐसे राजाओं को भी पराजित करके उनसे कर प्राप्त किया जो पहले पाण्डवों के पक्ष में थे।

कर्ण द्वारा लायी हुई अपार सम्पत्ति देखकर दुर्योधन का मन प्रसन्नता से फूल उठा। उसने उत्साह में कर्ण को गले से लगाया और कहा, "कर्ण! तुमने मुझे वह उपहार दिया है जो मैं पितामह भीष्म, गुरु द्रोण तथा आचार्य कृप आदि के सामूहिक उद्योग द्वारा भी कभी प्राप्त नहीं कर सकता था।"

इतना धन... और साथ ही कर्ण की शक्ति द्वारा चारों दिशाओं मे अनेक शक्तिशाली राजाओ पर विजय पाकर दुर्योधन के मन में वह सोयी हुई इच्छा बलवती हो गयी जो पाण्डवों का राजसूय यज्ञ देखकर उत्पन्न हुई थी। उसने भी राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया... किन्तु उसे ज्ञात हुआ कि एक राजसूय यज्ञ करने वाले सम्राट के जीते-जी किसी अन्य के लिए राजसूय यज्ञ का शास्त्रों में निषेध है। तब हारकर, दुर्योधन ने वैष्णव यज्ञ करने का निश्चय किया... जो प्रभाव मे, लगभग राजसूय यज्ञ के समकक्ष ही माना जाता था।

दुर्योधन ने बडी धूमधाम से वैष्णव यज्ञ किया और देशभर के राजाओ के साथ ही पाण्डवों को भी उसमें भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया। दुर्योधन का वह यज्ञ अत्यन्त उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ... यद्यपि उसमें पाण्डवों ने भाग नही लिया था। निमन्त्रण के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहलवा दिया था कि बारह वर्ष तक वन मे रहने की बाध्यता के कारण वे नगर में प्रवेश नहीं कर सकेगे।

उधर, पाण्डव द्वैतवन त्यागकर पुनः काम्यक वन पहुँचे। कर्ण की दिग्विजय के माध्यम से धन पाकर तथा अपने वैष्णव यज्ञ द्वारा उत्साहित होकर दुर्योधन का मन पुनः पाण्डवों के अहित का मार्ग ढूँढने लगा। वह शकुनि, दु:शासन तथा कर्ण के साथ मिलकर यदा-कदा यह सोचता रहता था कि किस प्रकार पाण्डवों को नीचा दिखाया जाए! किस प्रकार उनका मनोबल तोड़ा जाए और उन्हें ऐसी स्थिति में डाला जाए कि उन्हें पुनः तेरह वर्ष के लिए वनवास भोगना पड़े।

तभी एक दिन महर्षि दुर्वासा अपनी विशाल शिष्य-मण्डली के साथ हस्तिनापुर पहुँचे। उनके शाप के भय से दुर्योधन ने, दिन-रात एक करते हुए, उनकी सेवा की। उसकी सेवा मे प्रसन्न होकर उन्होने दुर्योधन से कुछ माँगने को कहा।

उन दिनों दुर्योधन के मन में अपने हित से कहीं बढ़कर पाण्डवों के अहित की

अभिलाषा सर्वोपरि थी। उसने बड़ी विनम्रता के साथ कहा, "ऋषिवर! आपकी सेवा करके मुझे संसार के सभी सुख प्राप्त हो गये। यदि आप कुछ और देना ही चाहते हैं तो मेरे अग्रज महात्मा युधिष्ठिर को भी अपनी सेवा का अवसर प्रदान कीजिए। वे आजकल वन में निवास कर रहे हैं। वे ही हमारे परिवार में ज्येष्ठ हैं। आप उन्हें अपनी सेवा का अवसर प्रदान करें तो उन्हें भी अपार सुख मिलेगा।"

महर्षि दुर्वासा 'एवमस्तु' कहकर युधिष्ठिर से मिलने चले। दुर्वासा पाण्डवों के पास जाएँगे... यह सोचकर दुर्योधन का मन बल्लियों उछल रहा था। उसे पता था कि वन में, पाण्डव दुर्वासा तथा उनकी शिष्य-मण्डली का सत्कार नहीं कर पाएँगे... और तब उनका शाप पाण्डवों का विनाश करके ही छोड़ेगा।

काम्यक वन में पाण्डवों ने महर्षि दुर्वासा तथा उनके शिष्यों का बड़े सम्मान के साथ, अपना परिचय देते हुए स्वागत किया। परिचय में कुन्ती-पुत्र सुनते ही महर्षि दुर्वासा की स्मृति उन्हें अतीत के दुःखदायी प्रसंग की ओर खींच ले गयी।

"कुन्ती!" दुर्वासा ने अपनी स्मृति को कुरेदते हुए पूछा, "महाराज कुन्तिभोज की पुत्री, पृथा?"

"हाँ मुनिवर!" हाथ जोड़कर युधिष्ठिर ने कहा।

"आजकल कहाँ है वह?" दुर्वासा ने जिज्ञासा की। "उसने मेरे एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य में मेरी बड़ी सहायता की थी।"

"आजकल वे महात्मा विदुर के आश्रय में, हस्तिनापुर में ही निवास कर रही हैं।"

इस घटना-क्रम का कुछ ज्ञान दुर्वासा को पहले ही था... और शेष युधिष्ठिर को अनुजों-सहित वन में देखकर प्राप्त हो गया। उन्हें यह समझने में भी विलम्ब नहीं हुआ कि दुर्योधन ने उनसे पाण्डवों का आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध क्यों किया! उन्होंने कहा, "कुन्ती-नन्दन! सुख-दुःख तो आता-जाता रहता है। प्रसन्नता का विषय यह है कि तुम धर्म के मार्ग पर अडिग हो। तुम्हारे सत्कर्म का फल तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा।"

यह कहते हुए दुर्वासा चलने के लिए उठे तो युधिष्ठिर ने विनम्रता-पूर्वक उन्हें शिष्यों-सहित अर्घ्य-पाद्य के लिए आमन्त्रित किया, "मुनिवर! इस वन में हमारे पास जो भी फल-मूल उपलब्ध हैं... उन्हें ग्रहण करके हमें सत्कार का अवसर प्रदान कीजिए।"

दुर्वासा मुस्कराये। उन्हें ज्ञात था कि युधिष्ठिर की कुटिया में ही क्या, उनके आस-पास की भूमि पर भी जो फल-मूल होंगे उनसे उनकी विशाल शिष्य मण्डली का कहीं कोई भला नहीं हो सकता। किन्तु वे यह कटु सत्य कहकर युधिष्ठिर को दुःखी नहीं करना चाहते थे। उन्होंने कहा, "जैसी तुम्हारी इच्छा, वत्स! किन्तु हम लोग पहले पास के सरोवर में स्नान तो कर आएँ..."

उधर, यह निमन्त्रण सुनकर द्रौपदी पर चिन्ता का पर्वत टूट पड़ा। इतने अतिथियों

को निमन्त्रण... और कुटिया में दस व्यक्तियों का भोजन भी उपलब्ध नहीं। युधिष्ठिर ने इस यथार्थ का आभास पाते ही अनुजों तथा सेवकों को यथा-शीघ्र फल मूल एकत्रित कर लाने के लिए भेजा।

किन्तु कुछ ही देर में... दुर्वासा के एक शिष्य ने आकर युधिष्ठिर को सूचना दी, "गुरुवर को स्नान करते-करते स्मरण हुआ कि उन्हें इस समय एक आवश्यक कार्यवश अन्यत्र कहीं जाना है। क्षुधा भी नहीं थी... इस कारण वे यहाँ आ नहीं सकेंगे। आपके प्रेम-पूर्ण निमन्त्रण से ही उनका सत्कार हो गया। उन्होंने तृप्त होकर आप सबके लिए आशीर्वाद भेजा है।"

चिन्ता के भार से मुक्त होकर द्रौपदी ने अनुतोष में गहरी श्वास ली और मन ही मन प्रणाम किया उस पराशक्ति को जो कुसमय में उनके पक्ष में आ खड़ी हुई।

द्रौपदी अपने आश्रम पर अकेली थीं... और उधर सिन्धुराज जयद्रथ अपने अनुजो तथा अनेक अन्य राजाओं के साथ शाल्वराज के यहाँ आयोजित स्वयवर में एक नयी पत्नी पाने की अभिलाषा से जा रहा था। काम्यक वन होकर निकलते समय उसकी दृष्टि अपनी कुटिया के द्वार पर खड़ी द्रौपदी पर पड़ी। वह उनका सरल सौन्दर्य देखकर बहुत प्रभावित हुआ, 'ऐसा विलक्षण सौन्दर्य, वन में क्यों पड़ा है?'

सोच-विचारकर वह द्रौपदी के पास पहुँचा और बोला, "सुन्दरी! तुम कौन हो और यहाँ वन में क्यों रह रही हो?"

"आजकल हम लोगों का निवास यहीं है, श्रीमन्!" द्रौपदी ने कहा, "मै पाण्डवो की पत्नी कृष्णा हूँ और अपने पतियो के साथ वनवास का समय बिता रही हूँ।"

"अहा... तो तुम द्रौपदी हो?" जयद्रथ ने कहा, "तुमने सम्भवत: मुझे पहचाना नहीं। मैं हूँ सिन्धु-नरेश, जयद्रथ।"

"अरे आप!" द्रौपदी ने विस्मय में मुस्कराते हुए कहा, "अहो भाग्य, जो आप पधारे। मैंने तो कल्पना भी नहीं की थी कि यहाँ आपके दर्शन होंगे। आप लोग पधारें... इधर पाँव धोने के लिए जल रखा है। कुछ ही देर में मेरे स्वामी आते होंगे। वे सब भी आपसे मिलकर बड़े प्रसन्न होंगे।"

"अब वे बाहर गये हैं तो..." जयद्रथ ने कुटिल मुस्कान के साथ कहा, "तो कुछ देर उन्हें वहीं रहने दो। आकर तनिक मेरे पास बैठो तो इस बीहड मार्ग में थके यात्री को कुछ तुम्हारी मनोहारी संगत का सुख मिले।"

द्रौपदी को जयद्रथ की बात... और, उससे भी बढ़कर, उसकी दृष्टि आपत्तिजनक लगी। उन्होंने कहा, "श्रीमन्! आप हमारे सत्कार योग्य सम्बन्धी हैं, आपको ऐसी बात शोभा नहीं देती।"

"अरे... तुम मुझसे कह रही हो, सुमुखि!" जयद्रथ ने कृत्रिम आश्चर्य में कहा, "शोभा तो तुम्हारी छीन ली है इन मूर्ख पाण्डवों ने। कहाँ तुम्हारे जैसी सुन्दर एवं कोमल नारी, और कहाँ वन का यह कष्टमय जीवन! तुम्हारा स्थान तो बस राज-प्रासाद में ही है। अब इन पाण्डवों में कुछ नहीं रहा... इनका कोई भविष्य नहीं। तुम मेरे साथ चलो और वैभवशाली सिन्धु-प्रदेश की पटरानी बनकर मेरे साथ रहो।"

"आप भूल रहे हैं सिन्धुनरेश!" द्रौपदी ने क्रोधित होते हुए कहा, "कि मैं पांचालनरेश की पुत्री और कुरुवंश की कुलवधू हूँ। मेरे सम्मुख ऐसा अभद्र प्रस्ताव आपके लिए न केवल अशोभनीय है, आपके लिए दुर्भाग्यपूर्ण भी सिद्ध हो सकता है। मेरे पति, जहाँ सम्बन्ध के नाते आपका सम्मान करते हैं, वहीं इस दुर्व्यवहार के लिए आपको दण्डित करने से भी नहीं चूकेंगे।"

"मुझे अपने पतियों का भय न दिखाओ सुन्दरी!" जयद्रथ ने व्यंग्य से कहा, "उनमें यदि तनिक भी बल होता तो वे यों वन-वन न भटक रहे होते। अब तो तुम्हारे पास दो ही विकल्प हैं... या तो सीधे मेरी बात मानकर स्वेच्छा से मेरे रथ पर आ बैठो, अन्यथा पाण्डवों के परास्त होने पर तुम्हे स्वय ही गिडगिड़ाकर मेरे पैरों पर आ पड़ना होगा।"

"इस भ्रम में न रहना, जयद्रथ!" द्रौपदी ने क्रोध में काँपते हुए कहा, "न तो तुम कभी पाण्डवों को परास्त कर सकते हो.. और न मैं उनमें से हूँ जो गिड़गिड़ाकर किसी के पैरों पर पड़ती हैं। तुम, इस समय, भले ही मुझे बल-पूर्वक घसीट ले चलो... पाण्डवों के पराक्रम से नहीं बच पाओगे... ससार के किसी कोने में भी जा छिपो, कृष्ण तथा अर्जुन तुझे ढूँढ ही निकालेंगे।"

"अच्छा... तो तू ऐसे नहीं मानेगी..." जयद्रथ को भी क्रोध आ गया' उसने अपने साथ के राजाओं तथा अपने छहों भाइयों को बुलाकर, द्रापदी को बल-पूर्वक रथ पर बिठाने का आदेश दिया।

तभी हाथ में कमण्डल लिये आते हुए धौम्य मुनि ने, स्थिति समझकर, उन सबको ललकारा, "दुष्टो! यह अन्याय न करो... अन्यथा परिणाम तुम्हारे हित में नहीं होगा।"

किन्तु उनकी बात को अनसुना करते हुए जयद्रथ द्रौपदी को रथ पर लेकर चला, तो धौम्य मुनि भी रथ के पीछे, उसके सैनिकों के बीच ही दौड़ चले।

द्रौपदी-हरण के कोलाहल से चिन्तित एवं भयभीत होकर अनेक प्रतिवासी वनवासी पाण्डवों को ढूँढ़ने तथा उन्हें सूचना देने के लिए इधर-उधर दौड़ पड़े। कुछ ही समय में सूचना पाकर पाण्डवों ने वेगपूर्वक अपने रथ दौड़ाते हुए, जयद्रथ का पीछा किया... और बाणं-वर्षा द्वारा, उसके सैनिकों को हताहत करते हुए, जयद्रथ के अनेक साथियों तथा अनुजों को भी मार गिराया।

अपनी स्थिति निर्बल पड़ती देख, जयद्रथ द्रौपदी को रथ से उतारकर भाग खड़ा हुआ। द्रौपदी को धौम्य मुनि के साथ आता देख पाण्डवों का रोष कुछ थमा। किन्तु भीमसेन ने तमतमाते हुए कहा, "भैया! आप सब कृष्णा को लेकर आश्रम लौटें... मैं तो दुष्ट जयद्रथ को दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ूँगा।"

"दण्ड तो ठीक है, अनुज!" युधिष्ठिर ने समझाते हुए कहा, "किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह, हमारी बहन दु:शला का पति होने के नाते, हमारा सम्माननीय सम्बन्धी है। अत: दु:शला तथा माता गान्धारी का ध्यान रखते हुए उसके जीवन पर कोई आँच न आने देना।"

क्रोध में भरे भीमसेन जब जयद्रथ के पीछे चले तो अर्जुन भी उनके साथ हो लिए। अपने तीव्रगामी रथ पर पीछा करते हुए वे शीघ्र ही जयद्रथ के पास जा पहुँचे और उन्होंने उसके रथ के एक घोड़े को मार गिराया, जिससे जयद्रथ का रथ निष्क्रिय हो गया। तभी उन दोनों ने रथ से कूदकर भागते हुए जयद्रथ को जा दबोचा। भीमसेन ने अपनी दोनो भुजाओं में उठाकर घुमाते हुए उसे भूमि पर पटक दिया। यदि अर्जुन ने न रोका होता तो, कौन जाने, भीमसेन उसे मार ही डालते।

जयद्रथ जब गिड़गिड़ाकर, उन दोनों के पाँव पड़ते हुए, प्राणों की भीख माँगने लगा तो भीम ने, क्षुर जाति के एक बाण से, उसका सिर पाँच चोटियाँ छोड़ते हुए मूँड़ दिया, और कहा, "अब जीवित रहना चाहो तो सदैव राजाओं की सभा में अपने-आप को हमारा दास ही बताना।"

जयद्रथ ने भीमसेन का यह दण्ड स्वीकार कर लिया। किन्तु जब उसे पकड़कर युधिष्ठिर के सम्मुख लाया गया तो, युधिष्ठिर तथा द्रौपदी, दोनों ने ही हँसते हुए उसे मुक्त कर दिया और कहा, "आज तो तुम्हें मुक्त किया, किन्तु भविष्य में कभी ऐसा खोटा काम न करना।"

जयद्रथ, रुँधे कण्ठ से, उनसे क्षमा माँगता हुआ चला गया... किन्तु उसका हृदय अपमान की ज्वाला में धधक रहा था। वह छटपटा रहा था कि क्या करूँ... कैसे करूँ, कि इन धूर्त पाण्डवों से अपने अपमान का प्रतिशोध ले सकूँ... जिन्होंने तनिक-सी बात पर मेरा यह हाल कर डाला! यह भी भुला दिया कि मैं इनकी बहन का पति हूँ...!

इस स्थिति में वह किसी को अपना मुँह भी नहीं दिखा सकता था... अत: सबसे छिपता हुआ वह हरिद्वार चला गया, और वहाँ तब तक रहा जब तक उसके केश, पुन: बढ़कर, सामान्य आकार के नहीं हो गये। इस बीच उसके प्रतिशोध की भावना निरन्तर भड़कती ही रही। वह निरन्तर अनेक देवी-देवताओं की आराधना में समय बिताता रहा कि वरदान में उसे कोई ऐसी चमत्कारी शक्ति प्राप्त हो जाए, जिससे वह पाण्डवों का विनाश कर सके।

काम्यकवन में मार्कण्डेय मुनि आये हुए थे। युधिष्ठिर उनके दर्शन के लिए गये... यद्यपि उन दिनों द्रौपदी-हरण के अप्रिय प्रसंग के कारण उनका चित्त अशान्त था। मुनिवर ने उनके दुःख का कारण पूछा, तो युधिष्ठिर ने अपनी विपदाओं का वर्णन करते हुए कहा, "मुनिवर! संसार के सारे दुःख मुझ पर ही क्यों आ पड़े हैं? ऐसा भी क्या जघन्य पाप हो गया मुझसे?"

मार्कण्डेय ने मुस्कराते हुए कहा, "वत्स! दुःख-सुख तो आते ही रहते हैं। भला कौन है संसार में जिस पर विपत्ति न आयी हो! जिस पर विपत्ति आती है... जिसे दुःख मिलता है, वह अज्ञानी यही समझता है कि संसार में मात्र उसी को दुःख प्राप्त हुआ है... और उसका दुःख ही, ससार का सबसे बड़ा दुःख है।"

"किन्तु मुनिवर!" युधिष्ठिर ने आहत स्वर में कहा, "मेरे साथ ऐसा नहीं है। आप तो जानते ही हैं... जो कुछ मेरे साथ हुआ। और अब दुर्गति यहाँ तक आ पहुँची कि मेरी पत्नी के अपहरण का भी प्रयास हुआ। भला ऐसी विपत्तियाँ संसार में और किस पर आयी होंगी!"

सुनकर मुनि मार्कण्डेय मुस्कराये। "तुम्हारे ऊपर जो विपत्तियाँ आयीं, वह तो कुछ भी नहीं हैं... उन विपत्तियों की तुलना में, जो दशरथ-पुत्र राम को झेलनी पड़ी थीं... अकारण ही। तुम्हारे साथ तो तुम्हारे चार अनुज हैं, अनेक सेवक एवं मन्त्री हैं, गुरु धौम्य तथा अनेक वेदपाठी ब्राह्मण हैं... और धन का भी अभाव नहीं है, किन्तु उन दो रघुवंशी भाइयों को तो वन-वन भटकना पड़ा था... और राम की पत्नी का हरण भी हुआ था, जिन्हें भयकर युद्ध करके उन्होंने मुक्त कराया था।" यह भूमिका देकर मुनि मार्कण्डेय ने उन्हे राम की सारी कथा कह सुनायी।

युधिष्ठिर, अनुजो सहित, मार्कण्डेय मुनि को प्रणाम कर के लौट पड़े। राम के कष्टों का स्मरण करके कभी कभी उन्हें लगता था कि, वास्तव में, उन पर आयी हुई विपत्तियाँ तो कुछ भी नहीं है... किन्तु, दूसरे ही क्षण, जब वे स्वय अपने जीवन में घटित घटनाओं के विषय मे सोचने लगते तो पुनः व्याकुल हो उठते थे। उन्हें लगता, राम तो अवतार थे, कोई दिव्य पुरुष, जो उन्होंने अपने दुःख झेल लिये... अन्यथा कोई साधारण मानव ऐसे दुःख क्या कभी झेल सकता है... कदापि नहीं।

विराट

वनवास के बारह वर्ष बीत रहे थे। युधिष्ठिर ने अपने अनुजों के साथ बैठकर विचार-विमर्श किया कि आगामी अज्ञातवास का वर्ष किस प्रकार और कहाँ रहकर बिताया जाए। सबके सम्मुख पहला प्रश्न यह था कि इस एक वर्ष की अवधि में वे साथ मिलकर रहें, अथवा अलग-अलग! उनकी वास्तविक इच्छा तो यह थी कि वे साथ ही रहें... एक-दूसरे से अलग रहने का विचार भी उन्हें विचलित कर रहा था। किन्तु, दूसरी ओर, चिन्ता यह भी थी कि उन पाँचों को, विशेषतया एक पत्नी के साथ, देखकर कोई भी उनकी पहचान का संकेत पा सकता था। उन्हें ज्ञात था कि दुर्योधन के अनुजों तथा गुप्तचरों की आँखें, इस अवधि में, उन्हें ढूँढ़ निकालने का निरन्तर प्रयास करेंगी ...जिससे उनके वनवास की अवधि बारह वर्ष के लिए पुन: बढ़ायी जा सके।

बहुत सोच-विचार कर, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे किसी एक ही नगर मे रहेंगे, अपनी-अपनी अलग पहचान बनाते हुए... ऐसे, जैसे कि एक-दूसरे से अपरिचित हों। उन्हें लगा कि इस प्रकार कम-से-कम वे एक-दूसरे की दृष्टि में तो रहेंगे... और कभी-कभी, किसी-न-किसी बहाने, एक-दूसरे से भेंट भी कर सकेंगे।

उसके पश्चात्, सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि वे इस अवधि में कहाँ रहें! उनके ध्यान में पांचाल, चेदि, मत्स्य, पटच्चर, दशार्ण, नवराष्ट्र, मल्ल, युगन्धर, सुराष्ट्र, अवन्ती आदि अनेक क्षेत्र आये... किन्तु सोच-विचार कर, मैत्री, सुरक्षा तथा स्थानीय वातावरण आदि के आधार पर उन्होंने मत्स्य राज्य में ही रहने का मन बनाया, क्योंकि उनकी दृष्टि में वहाँ का राजा विराट बलवान ही नहीं, पाण्डुवंश के प्रति स्नेह-दृष्टि रखने वाला था, और धर्मात्मा तथा उदार भी था।

मत्स्य राज्य के निकट पहुँचकर पाण्डव रात व्यतीत करने के लिए एक धर्मशाला में रुके। वहाँ उनकी भेंट एक दुखियारी महिला से हुई। द्रौपदी ने सहानुभूतिपूर्वक उससे पूछा, तो उसने बताया कि वह मत्स्य राज्य की रानी सुदेष्णा की प्रमुख दासी थी और उसे, दो दिन पूर्व, मात्र इसलिए निकाल दिया गया कि वह बिन-बुलाये ही महाराज के सम्मुख जा पहुँची थी।

उसी से द्रौपदी को ज्ञात हुआ कि राजा विराट आजकल बहुत चिन्तित रहते हैं... बड़े चिड़चिड़े हो गये हैं, जिसका मूल कारण राजकुमारी उत्तरा है। वह चौदह वर्ष की हो चुकी है और विराट उसके स्वयंवर के लिए चिन्तित हैं। किन्तु, दूसरी

ओर, उत्तरा की रुचि संगीत एवं नृत्य में है और आजकल उस पर पखावज सीखने की भी धुन सवार है। किन्तु पखावज सिखाने के लिए कोई महिला मिल नहीं रही है और विराट अन्तःपुर में किसी पुरुष को जाने नहीं देते। उनकी चिन्ता का एक कारण यह भी है कि उन्होंने पुत्री को विवाह के समय देने के लिए बहुत-सा पशुधन एकत्रित कर लिया है... और इस समय उन्हें पशुओं की देख-रेख करने वाले पर्याप्त संख्या में नहीं मिल रहे हैं।

लौटकर द्रौपदी ने जब पाण्डवों को सारी बात बतायी तो उन्हें अपनी आजीविका की समस्या का हल निकलता दिखाई दिया।

मत्स्य क्षेत्र में उन पाँचों भाइयों तथा द्रौपदी ने, अलग-अलग समय पर, छद्म वेश में जाने का निर्णय लिया। सब ने, एक-दूसरे की सहायता करते हुए, अलग-अलग वेश बनाये और सोच-विचारकर अपने लिए कोई ऐसा काम चुना जिसके आधार पर उन्हें आजीविका के साधन-रूप कोई काम मिल जाए। युधिष्ठिर ने ब्राह्मण का वेश बनाया... कुछ दिन मुख पर दाढ़ी बढ़ायी, माथे पर चन्दन लगाया और भुजाओं में रुद्राक्ष बाँधते ही उनका रूप बदल गया। उनको आशा थी कि मत्स्य क्षेत्र में उन्हें राजा विराट के यहाँ धर्मोपदेश आदि के लिए कोई कार्य मिल जाएगा।

गदा-युद्ध के बाद, भीमसेन की विशेष रुचि भोजन में थी। वे सुस्वादु भोजन करने में ही नहीं, पाक-विद्या में भी रुचि लेते रहे थे। किन्तु उनकी सबसे बड़ी समस्या थी उनकी हृष्ट-पुष्ट देह... उसे कहाँ छिपाएँ, कैसे छिपाएँ? उन्हें यह भी लगा कि यदि उन्हें राजगृह में रसोइये का कार्य मिल जाए तो वे सम्भवतः सबकी दृष्टि से बचकर छिपे रह सकेंगे। उन्होंने अपनी केशराशि को पीछे खींचकर बाँधा तो सहसा उनकी मुखाकृति बदली हुई लगने लगी। घुटने तक धोती और खुले श्यामल शरीर पर यज्ञोपवीत ने प्रकट होकर उन्हें छिपने का मार्ग दिखाया।

अर्जुन के सम्मुख कोई चिन्ता नहीं थी। उन्होंने अपने प्रवास काल में सीखे हुए संगीत एवं नृत्य को ही आजीविका का साधन बनाने का निश्चय किया। उन्हें विश्वास था कि उनके परिवार के अतिरिक्त अन्य कोई यह नहीं जानता कि अर्जुन ने प्रवासकाल में संगीत भी सीखा था... कोई कल्पना भी नहीं कर पाएगा कि यह संगीत का शिक्षक महाधनुर्धर अर्जुन हो सकता है। तभी द्रौपदी ने परिहास में ही उन्हें स्मरण कराया, "क्यों! संगीत ही क्यों, नृत्य की शिक्षा भी तो प्राप्त की थी तुमने! वह किस दिन काम आएगी? और हाँ, यदि नारी का रूप धारण करके नृत्य सिखाओ तो संसार में तुम्हें कभी, कोई पहचान ही नहीं पाएगा।"

द्रौपदी के परिहास पर क्षण-भर हँस लेने के बाद सहसा सभी ने वह प्रस्ताव बड़ी गम्भीरता से लिया। क्षण भर में ही उस प्रस्ताव के परीक्षण के लिए द्रौपदी की साड़ी आ गयी... और उस रूप में देखकर सबने उनके रूप एवं अभिनय के लिए

अर्जुन को उत्तीर्ण कर दिया, किन्तु एक नारी के रूप में नहीं... किसी किन्नरी के रूप में। उस भूमिका को अपनाते हुए अर्जुन को दुःख था तो बस यह कि उन्हें अपनी मूँछों से हाथ धोना पड़ेगा।

इसी प्रकार नकुल तथा सहदेव ने भी अपनी-अपनी भूमिकाएँ निश्चित कर लीं। नकुल ने अपने अश्व-प्रेम को देखते हुए विराटनरेश की अश्वशाला में कार्य करने का निर्णय लिया। उन्हें विश्वास था कि उनका घोड़ों के रोगों एवं उनके उपचार का ज्ञान, और विशेषकर घोड़ों को चाल की शिक्षा देना तथा उनका पालन, किसी को भी प्रभावित कर सकेगा।

सहदेव ने सीधे-सादे ग्रामीण का वेश अपनाया। उन्हें गायों से प्रेम था... चाहे उनकी रक्षा एवं पालन हो अथवा उन्हें दुहना और उनके रोगों का उपचार। सहदेव को गायों से सम्बन्धित हर कार्य का ज्ञान भी था और उसमें रुचि भी थी।

पाण्डवों के सम्मुख प्रमुख चिन्ता द्रौपदी को लेकर थी। वे जहाँ भी रहें, जिस रूप में भी रहें... उन्हें अकेले ही रहना होगा। अपने पतियों से अपना सम्बन्ध छिपाते हुए। किन्तु समाज में किसी भी महिला से पहला प्रश्न तो यही होता है... कि क्या तुम्हारा विवाह हो गया? और भला कौन मानेगा कि इस आयु की और ऐसी सुन्दर महिला का विवाह नहीं हुआ! और हुआ, तो पति कहाँ हैं? अकेली क्यों हो? और इन प्रश्नों का कोई उत्तर सोचा भी जाए तो अपने केश खुले रखने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध महारानी किस रूप में रहेगी... और क्या कार्य करेगी? मानसिक रूप से भी, वे पाँचो भाई ऐसी कोई कल्पना नहीं कर पा रहे थे कि उनकी पत्नी कोई दासी जैसा कार्य करे।

स्वयं द्रौपदी की दृष्टि रानी की उस सेविका के रिक्त स्थान पर थी, जो उन्हे धर्मशाला में मिली थी। उन्होंने सोचा कि यदि उन्हें महारानी की व्यक्तिगत सेविका का वह कार्य प्राप्त हो जाए तो वे उनके प्रसाधन, शृंगार, केश-विन्यास आदि में उनकी सहायता कर सकती हैं। एक विद्वान सखी की भाँति, समय-असमय आने वाली समस्याओं से निपटने में, उन्हें सहयोग दे सकती हैं। पाण्डवों को भी लगा कि यदि रनिवास में सेवा का ऐसा कोई कार्य प्राप्त हो सके तो वह उनकी पत्नी की गरिमा के बहुत प्रतिकूल नहीं होगा और वहाँ उनके पहचाने जाने की सम्भावना भी कम होगी।

अपनी योजना को एक निश्चित रूप देकर वे सब अपने राजगुरु धौम्य से मिले। धौम्य मुनि ने उनकी योजना का अनुमोदन करते हुए कहा, "वत्स! यह वर्ष हम सबके लिए कठिन परीक्षा का समय है। हम लोगों की एक छोटी-सी भूल तुम्हें पुनः तेरह वर्ष के वनवास एवं अज्ञातवास के दुश्चक्र में ढकेल सकती है। मुझे दुःख है कि मैं तुम लोगों के साथ नहीं चल सकता, किन्तु मेरा मन सदैव तुम लोगों के साथ

रहेगा...। मुझे विश्वास है तुम सब ऐसा कोई कार्य नहीं करोगे, जो तुम्हें शत्रुओं की दृष्टिपथ में ले आये।

"किन्तु हाँ..." धौम्य मुनि ने सावधान करते हुए कहा, "एक लम्बी अवधि तक राज्य का शासन करने के कारण जो मानसिकता तुम्हारा स्वभाव बन चुकी है... उसमें तुम्हें आमूल परिवर्तन करना होगा। यह निरन्तर स्मरण रखना होगा कि अब तुम शासक नहीं, एक राजा के दास हो। अभी... इसी समय से, सोच-विचारकर यह ध्यान में बसा लो कि एक दास को, राजा के सम्मुख, अथवा राज-भवन में, किस प्रकार रहना चाहिए ...क्या कहना एवं करना चाहिए, और क्या नहीं! मानसिकता में यह आमूल परिवर्तन, कठिन होते हुए भी परम आवश्यक है।"

गुरुवर धौम्य का यह सुझाव पाण्डवों को अत्यन्त उपयोगी लगा... अन्यथा असम्भव नहीं था कि वे कभी अवचेतन में बसे शासक के अनुरूप कोई बात बोल जाते, अथवा कभी किसी राजपुरुष की भाँति चलते हुए राजा विराट के सम्मुख जा खड़े होते। उन्होंने परस्पर मिलकर, उन स्थितियों की चर्चा की जिनमें उन्हें आगामी एक वर्ष बिताना था और उस आचरण पर विचार किया जो उनसे अपेक्षित होगा। उन्होंने अपने लिए चर्चा करके नये नाम भी निश्चित किये और एक-दूसरे को सावधान करते हुए ध्यान दिलाया कि कभी, कैसी भी स्थिति में, यदि कोई उन्हे उनके वास्तविक नाम से पुकारे, अथवा उनके नाम की चर्चा करे, तो वे भूलकर भी कभी कोई प्रतिक्रिया न व्यक्त करें।

सब निश्चित हो जाने पर यह निर्णय लिया गया कि इस अवधि में धौम्य मुनि, सेवकों तथा रसोइयों के साथ महाराज द्रुपद के पास जाकर रहेंगे। इन्द्रसेन आदि सारथि एवं सेवकगण उनके रथ लेकर द्वारका चले जाएँगे तथा सभी स्त्रियाँ तथा द्रौपदी की दासियाँ, रसोइयों तथा अन्य सेवकों-सहित पांचाल लौट जाएँगी। पाण्डवों के विषय में, यदि कभी कोई प्रश्न करे तो, उन सभी को मात्र यह कहना था कि वे, उन सबको द्वैतवन में ही छोड़कर, न जाने कहाँ चले गये।

रात के घने अन्धकार में चुपचाप निकलकर पाण्डव यमुना के निकट पहुँचे और उसके दक्षिण तट पर चलने लगे। उनके साथ मात्र उनके शस्त्रों का बोझ था। वे दिन का समय गुफ़ाओं, कन्दराओं में अथवा पर्वतीय वनों में व्यतीत करते हुए, रात्रि के अन्धकार में ही यात्रा करते थे। राह में जो फल-मूल मिल जाते, वही खाकर सन्तोष करते थे। श्रम एवं कुपोषण के कारण उनके वस्त्र एवं शरीर मलिन हो चले, किन्तु वे दशार्ण, शूरसेन आदि क्षेत्रों को पार करते हुए मत्स्य क्षेत्र के निकट जा पहुँचे।

वहाँ छिपकर एक वर्ष बिताने के लिए यह भी आवश्यक था कि वे अपने

अस्त्र-शस्त्र त्यागकर ही नगर में प्रवेश करें... अन्यथा, शस्त्रों के साथ देखकर सभी का ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता, और कोई न कोई उन्हें पहचान ही लेता। किन्तु वे अपने शस्त्र त्यागना भी नहीं चाहते थे, क्योंकि शस्त्रों के बिना उन्हें अपना जीवन व्यर्थ लगता था। इसी उलझन में, वे एक श्मशान के निकट पहुँचे, जहाँ कुछ दूर पर, ऊबड़-खाबड़ भूमि के पार टीले पर, कुछ शमी के सघन वृक्ष थे। उसके चारों ओर जंगली जीव-जन्तुओं से भरा बीहड़ जंगल भी था। पाण्डवों को लगा कि वहाँ किसी के पहुँचने की सम्भावना नहीं थी। सारे अस्त्र-शस्त्र उन वृक्षों पर छिपाये जा सकते थे। परस्पर सोच-विचारकर उन्होंने यही करने का निर्णय लिया और, पेड़ पर चढ़कर, तने के कोटरों में भरकर तथा घने पत्ते वाली डालियों में बाँधकर, अपने सारे अस्त्र-शस्त्र छिपा दिये।

नगर में प्रवेश करने के लिए, परस्पर अलग होने के पूर्व युधिष्ठिर ने सभी भाइयों को एक छद्म नाम दिया... जिससे, वे संकेत रूप में ही, एक-दूसरे से सम्पर्क बनाये रह सकते थे। युधिष्ठिर ने स्वयं अपना नाम जय रखा और भीमसेन को जयन्त नाम दिया। अर्जुन का नाम विजय रखा गया और नकुल तथा सहदेव को जयत्सेन तथा जयद्बल नाम प्राप्त हुआ। फिर एक-दूसरे के लिए स्वस्तिवाचन करके, शुभकामनाएँ देते हुए वे अलग-अलग मार्गों पर चल पड़े।

युधिष्ठिर सरिता-जल में स्नान करके, यथा-सम्भव स्वच्छ होकर, राजा विराट के सम्मुख गये... और दुर्भाग्य के कारण सर्वस्व लुट जाने पर आजीविका के लिए भटकते हुए कंक नामक ब्राह्मण के रूप में उन्हें अपना परिचय दिया।

विराट ने जब उनके विषय में अधिक जानना चाहा तो युधिष्ठिर ने उत्तर, जान-बूझकर विद्वानों वाली भाषा में दिया... वेद, उपनिषद् आदि के उद्धरण देते हुए। विराट उनके उत्तर की भाषा से प्रभावित हुए।

उन्होंने पूछा, "कंक! तुम क्या कार्य कर सकते हो?"

संयोग की बात... उस समय विराट के सम्मुख द्यूत का पट बिछा था, और वे एक मित्र के साथ द्यूत क्रीड़ा में मग्न थे। जब उन्होंने प्रश्न किया, तब वे पाँसे फेंककर अपनी एक गोट की ओर हाथ बढ़ा रहे थे।

तभी युधिष्ठिर ने कहा, "आप जो भी आदेश दें स्वामी... आपकी चाकरी से लेकर अंग-रक्षक तक का कार्य कर सकता हूँ। आप आज्ञा करें तो व्याकरण, नीति-शास्त्र आदि पर चर्चा भी कर सकता हूँ। किन्तु इस समय राजन्... यदि आप धृष्टता क्षमा करें तो मेरा एक परामर्श मानें, कृपया यह गोट न चलें। अन्यथा, विपक्षी की आगामी चाल में आपकी दूसरी गोट संकट में पड़ सकती है। अभी यदि उसे बचा लें, तो आपकी विजय सुनिश्चित हो जाएगी।"

"तुम द्यूत में भी पारंगत हो?" विराट ने द्यूत-पट पर पड़ी अपनी गोटों का पुनः अध्ययन करते हुए पूछा...और कहा, "तुम्हारे परामर्श में बल है।"

"द्यूत में तो मैं बड़ा उपयोगी परामर्श दे सकता हूँ..." युधिष्ठिर ने बड़े आत्म-विश्वास के साथ कहा, "इस प्रारम्भिक परामर्श के साथ, कि द्यूत से नितान्त दूर रहना ही सर्वोत्तम है।"

"हाँ धर्म-शिक्षा तो यही है..." विराट ने मुस्कराते हुए कहा।

"मात्र धर्म-शिक्षा नहीं राजन्!" युधिष्ठिर ने तत्परता के साथ जोड़ा, "व्यावहारिक शिक्षा भी यही है। सुना तो होगा आपने भी, महाराज युधिष्ठिर के विषय में! सम्राट थे, एक बलशाली साम्राज्य के। अब वन वन भटक रहे हैं। और न जाने कब तक भटकते रहेंगे!" कहते-कहते युधिष्ठिर का कण्ठ भर आया और स्वर के साथ एक दीर्घ निश्वास निकल गयी।

"हाँ, वह तो एक दुःखद प्रसंग था, कंक..." विराट ने कहा, "किन्तु तुम तो उससे आज तक दुःखी प्रतीत होते हो!"

"कैसे न होऊँ, राजन्!" युधिष्ठिर ने दुःखी स्वर में कहा, "उस प्रसंग ने तो मेरा भाग्य ही पलट दिया... वे मेरे अन्नदाता थे, मेरे स्वामी थे। मैं उनका व्यक्तिगत सचिव था। बड़ा सम्मान देते थे वे मुझे। मैं तो वनवास में भी उनका साथ न छोड़ता, किन्तु उन्होंने आज्ञा देकर मुझे अपने साथ चलने मे मना कर दिया।"

"कैसे सचिव थे तुम, कंक!" विराट ने मुस्कराते हुए व्यंग्य से कहा, "तुमने उन्हें द्यूत से नहीं रोका?"

"नहीं राजन्!" युधिष्ठिर ने कहा, "महाराज युधिष्ठिर तो स्वयं ही द्यूत के महाविरोधी थे... बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने तो स्वयं ही द्यूत का बड़ा विरोध किया... किन्तु पिता तुल्य महाराज धृतराष्ट्र के आदेश के सम्मुख वे विवश हो गये।"

"और द्यूत का विरोध करते हुए भी, स्वय तुम द्यूत में कैसे प्रवीण हो गये?" विराट के स्वर में फिर व्यंग्य था।

"द्यूत तो मैंने जान-बूझकर सीखा, राजन्!" युधिष्ठिर ने बड़े विश्वास के साथ कहा, "यह जानने के लिए कि मेरे स्वामी के साथ छल कैसे किया गया..."

"यह जानते हुए भी कि द्यूत धर्म-विरुद्ध है?" विराट ने प्रश्न किया।

"मुझे विश्वास था राजन्! स्वयं अपने ऊपर..." युधिष्ठिर ने पुनः आत्म-विश्वास के साथ कहा, "कि लोभ मुझे कभी अधर्म के मार्ग पर नहीं ले जाएगा।"

"इतना विश्वास है तुम्हें अपने ऊपर!" विराट ने कहा, "तो कंक, तुम राज-भवन मे रह सकते हो।"

"मैं आपका आभारी हूँ, राजन्..." युधिष्ठिर ने विनीत स्वर में कहा, "आदेश दें स्वामी, मुझे क्या कार्य करना होगा?"

"अभी तो कोई विशेष कार्य नहीं है..." विराट ने कुछ सोचते हुए कहा, "तुम मेरे अवकाश के क्षणों में मुझे द्यूत के गुर बताना... मेरा मनोरंजन होगा।"

"नहीं राजन्!" युधिष्ठिर ने दृढ़ता-पूर्वक कहा, "यह कार्य न दें। यह धर्म विरुद्ध है। वेद-शास्त्र कहते हैं कि इसमें व्यसन एवं भटकने का भय बना ही रहता है। इससे तो मैं बिना आजीविका के ही भला।"

युधिष्ठिर की दृढ़ता से विराट प्रभावित हुए। उन्होंने कहा, "अच्छा कंक। तुम्हीं बताओ, यदि मैं तुम्हें रख लूँ तो तुम क्या करना चाहोगे?"

"धृष्टता क्षमा करें राजन्!" युधिष्ठिर ने गम्भीर स्वर में कहा, "पहले तो मैं आपको द्यूत से विमुख करना चाहूँगा।"

"मुझे? अपने स्वामी को?" विराट ने आश्चर्य में कहा, "तुम्हें दण्ड का भय नहीं है?"

"दण्ड के भय से यदि मैं अपने स्वामी को पतन के मार्ग पर जाने से न रोकूँ तो वह महान अधर्म होगा..." युधिष्ठिर ने दृढ़तापूर्वक कहा, "मैं स्वयं अपनी दृष्टि में गिर जाऊँगा। उससे बड़ा और क्या दण्ड होगा राजन्?"

"तब तो तुम सेवक बनने योग्य नहीं हो कंक!" विराट ने स्पष्ट स्वर में कहा "जिसके लिए राजा की इच्छा का कोई महत्त्व नहीं, और जिसे दण्ड का भी भय न हो... ऐसा सेवक किस काम का..?"

"आपकी जैसी इच्छा राजन्!" युधिष्ठिर प्रणाम करके मुड़ने को उद्यत हुए।

"तुम तो मेरे मित्र बनने योग्य हो, कंक!" तभी मुस्कराते हुए विराट ने अपनी बात पूरी की—"तुम मेरे साथ मित्र बनकर रहोगे। उसी सम्मान के साथ, जैसे तुम महाराज युधिष्ठिर के साथ रहते थे।"

"अहोभाग्य..." युधिष्ठिर ने भी विस्मित होते हुए मुस्कराकर कहा, "आप मुझे जो भी समझें, मैं सदैव आज्ञाकारी चाकर की भाँति आपकी सेवा में उपस्थित रहूँगा।"

उधर भीमसेन राज-भवन के व्यवस्था प्रमुख से मिले। उन्होंने कहा, "श्रीमन्! मुझे ज्ञात हुआ है कि राज-भवन में एक रसोइये की आवश्यकता है। मैं भाँति भाँति के स्वादिष्ट भोजन बनाता हूँ, आप चाहें तो मेरी परीक्षा ले लें.. और यदि मुझे महाराज की सेवा का अवसर दें तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

व्यवस्था-प्रमुख ने भीमसेन की विधिवत् परीक्षा ली... उनसे भाँति भाँति के पकवान बनवाकर देखे... और उन्हें पाक विद्या में निष्णात पाकर राजा विराट के सम्मुख प्रस्तुत किया।

"तुम शरीर से तो मल्ल-युद्ध के धुरन्धर लगते हो..." विराट ने व्यंग्य में कहा "रसोई घर में क्या करोगे? चाहो तो सेना में तुम्हें कोई स्थान मिल सकता है।"

भीमसेन को कुछ चिन्ता हुई। सेना में गये तो न जाने कहाँ रहना पडे। कौन जाने कभी भाइयों से मिलना भी सम्भव हो, न हो! और फिर वहाँ पहचाने जाने का भी भय रहेगा। सोचते हुए, वे तुरन्त ही बोले, "राजन्! आप सत्य भाषण की अनुमति दे

तो निवेदन करूँ। भोजन बनाने के साथ ही मुझे भोजन करने का भी लोभ है... बहुभोजी हूँ मैं। जो भोजन आपकी सेवा में प्राप्त होगा, वह भला सेना में कहाँ मिलेगा! और यहाँ रहकर यदि कभी आवश्यकता पड़ी तो मैं अपने बाहुबल से आपकी रक्षा करके अन्न का ऋण चुकाऊँगा। दस-बीस व्यक्तियों से अकेला युद्ध कर सकता हूँ मैं। कभी अवसर आ पड़े तो जंगली जन्तुओं से भी निहत्था लड़ सकता हूँ।"

"क्या नाम है तुम्हारा?" विराट ने मुस्कराते हुए पूछा।

"मुझे वल्लभ कहें, स्वामी!"

"अच्छा वल्लभ..." विराट ने कहा, "आज अपने मन का कोई पकवान बनाओ। तनिक हम भी तो देखें तुम्हारी पाक विद्या।"

"जो आज्ञा स्वामी..."

भीम ने सोच-विचारकर अपनी प्रिय खीर बनायी... और भोजन के साथ विराट को परोसी। राज-भवन के पुराने रसोइयों को विश्वास था कि विराट को वह तनिक भी नहीं भाएगी, क्योंकि भीम ने उसमें न तो कोई मेवा डाला था और न कोई परिमल अथवा पौष्टिक औषधि। किन्तु संयोग कि विराट को वह खीर अत्यन्त स्वादिष्ट लगी और उन्होंने वह प्रशंसा कर करके खायी।

"खीर का तो आनन्द आ गया, वल्लभ!" विराट ने प्रसन्न होते हुए कहा, "सच पूछो तो लग रहा है कि आज पहली बार खीर खा रहा हूँ... अब तक तो दूध में मेवे और न जाने कौन कौन-से पदार्थ खाकर मैं वास्तविक खीर का स्वाद ही भूल गया था। किन्तु जो अपूर्व आनन्द दूध में पके शुद्ध देवान्न में है, वह आज मिला... बरसों बाद।"

"मैं धन्य हुआ स्वामी!" भीमसेन ने हाथ जोड़ते हुए कहा।

दो दिन बाद, अर्जुन ने नारी वेष में आकर विराट के सम्मुख सिर झुकाया...

"राजन्!" उन्होंने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया, "मैंने सुना है कि हमारी राजकुमारी जी की पखावज में रुचि है.. आप मुझे अवसर प्रदान करें तो दो-तीन वर्षों में ही मैं उन्हें इस कला में पारंगत बना दूँगी।"

"तुम?" विराट ने असमंजस में कहा, "किन्तु मुझे तो किसी महिला संगीतज्ञ की आवश्यकता है।"

"मैं क्या किसी महिला से कम हूँ राजन्!" अर्जुन ने लजाते हुए कहा, "मेरी ओर से कोई चिन्ता न करें... मुझे तो परमात्मा ने ही ऐसा सरल बनाया कि न तो नर को भय और न नारी को।"

"संगीत का ज्ञान कहाँ पाया?" विराट ने जिज्ञासा की, "और क्या नाम है तुम्हारा?"

"नाम बृहन्नला है राजन्..." अर्जुन ने मुस्कराते हुए कहा, "और शिक्षा पायी गन्धर्व शिरोमणि चित्रसेन से। संगीत का ही नहीं राजन्! नृत्यकला का भी ज्ञान है मुझे। पखावज की तालों के साथ नृत्य-विद्या में भी पारंगत बना दूँगी अपनी राजकुमारी को।"

"तुम्हारे विषय में अन्तिम निर्णय तो राजकुमारी ही लेंगी..." विराट ने कुछ सोचते हुए कहा, "दो दिन शिक्षा देकर देखो। यदि तुम्हारा ज्ञान, तुम्हारा शिक्षा देने का ढंग उसे रुचा, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।"

उधर, नकुल तथा सहदेव ने, ग्रन्थिक तथा तन्तिपाल नाम से, अनेक अन्य अभ्यर्थियों के साथ खडे होकर, राजकीय पशुधन विभाग के व्यवस्थापक से सम्पर्क साधा। इन्द्रप्रस्थ में उनके पास जितनी जातियों के पशु थे, उसका ज्ञान ही व्यवस्थापक को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त था। फिर जहाँ एक ओर उसे नकुल के अश्व-नियन्त्रण तथा अश्वारोहण ने चमत्कृत किया वहीं, दूसरी ओर, सहदेव के गौ प्रेम से भी वह प्रसन्न हुआ। उसने जब सहदेव से दूध दुहने को कहा तो उन्होंने प्रश्न किया था, 'इसका बछडा कहाँ है?' उसके बछडे के, इच्छा भर दूध पीकर, तृप्त होने के बाद ही वे उस गाय को प्रणाम करके दुहने बैठे।

अपनी योजना के अनुरूप, द्रौपदी ने रानी सुदेष्णा से मन्दिर परिसर मे ही भेंट की। उनके मन्दिर जाने का समय पता लगाकर वे उनके मार्ग में जा बैठी और लौटते समय जब सुदेष्णा वहाँ उपस्थित याचकों को दान देने लगी तो, अपनी बारी आने पर, द्रौपदी ने विनम्रतापूर्वक वह दान अस्वीकार कर दिया, और कहा, "देवि! मेरे पति ने मुझे भिक्षा अथवा दान स्वीकार करने का निषेध कर रखा है। यदि मुझे कुछ देना ही चाहे तो सेवा का अवसर दें..."

एक स्वस्थ एवं सर्वांग सुन्दर नारी से ऐसे सुसंस्कृत एवं आत्म सम्मान भरे विचार सुनकर सुदेष्णा को बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। उन्होने जब विस्तार से जानना चाहा तो द्रौपदी ने कहा, "देवि, मेरे पति ने महात्मा द्रोणाचार्य से अनेक शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था और वे पाँच सिंहो के समान बलशाली माने जाते थे। बाद मे उन्होंने एक राज्य में सेनापति का पद प्राप्त किया, किन्तु राजा की मुझ पर कुदृष्टि के कारण उसे, द्वन्द्व में ललकार कर, मौत के घाट उतार दिया। उस अपराध से रानी ने तो उन्हे क्षमा कर दिया किन्तु आत्म-शुद्धि के लिए वे इस समय एक वर्ष की तपस्या कर रहे हैं।"

"तुम क्या कार्य कर सकती हो...?" सुदेष्णा ने द्रौपदी की व्यथा कथा से प्रभावित होकर पूछा, "वैसे तुम्हें देखकर तो नहीं लगता कि तुम्हारी जैसी लावण्यमयी

कोमलांगी कोई सेवा-कार्य कर सकती है।"

"नहीं देवी..." द्रौपदी ने विनम्रतापूर्वक कहा, "आप कोई भी काम देकर परीक्षा कर देखें। वैसे तो मैं हर कार्य कर सकती हूँ... किन्तु केश-सज्जा, रूप-सज्जा, अंग राग आदि सौन्दर्य प्रसाधन सम्बन्धी सब कार्यों मे मेरी विशेष रुचि है। यदि कभी आपको मेरे कार्य में त्रुटि दिखे तो आप मुझे तुरन्त ही हटा दें।"

"और इस सेवा के बदले तुम कितना धन प्राप्त करना चाहोगी?"

"भोजन, आवास सुरक्षा... और स्वामिनी का स्नेह ..." द्रौपदी ने कहा, "इससे अधिक कुछ भी नहीं चाहिए मुझे। किन्तु दो कार्य हैं, जिनका मेरे पति ने निषेध कर रखा है।"

"वे क्या?" सुदेष्णा को जिज्ञासा हुई।

"किसी का जूठा भोजन, और किसी के पाँव धोना।"

"आश्वस्त रहो... ऐसी स्थिति तुम्हारे आगे कभी नहीं आएगी।"

रानी ने द्रौपदी को अपनी सेवा में रख लिया।

विराट के राज भवन में गुप्त रूप मे रहते हुए पाण्डवों को लगभग तीन माह बीत चुके थे.. तभी मत्स्य में ब्रह्ममहोत्सव का आयोजन हुआ, जिसमें दूर दूर से अनेक शक्तिशाली मल्ल योद्धा भी आये थे। विराट की मल्ल युद्ध में विशेष रुचि थी और वे उनमें भाग लेने वाले मल्लों का, तथा उसके विजेता का बहुत सम्मान करते थे।

चौड़ी छाती, पुष्ट स्कन्धों तथा बलशाली आकृति वाले अनेक मल्ल उस उत्सव में आकर्षण का केन्द्र बने हुए थे। अनेक बाहुयुद्धों के बाद, जो मल्ल अपराजेय निकला, वह था एक निकटवर्ती राज्य का, जीमूतवाहन। अन्य सभी आये हुए मल्लों को बाहुयुद्ध में पराजित करके, वह अखाड़े में गर्जना करता हुआ ललकारने लगा "है कोई माई का लाल, जो मुझसे टक्कर लेने का साहस करे!"

उसकी ललकार सुनकर विराट को सहसा अपने नये रसोइये, वल्लभ का स्मरण हुआ। उसका विशाल एवं गठीला शरीर उनकी आँखों के आगे घूम गया... और उसके शब्द उनके कानों में गूँज उठे, "दस बीस योद्धाओ का बल है मेरी भुजाओं में... जंगली जन्तुओं से भी निहत्था ही लड़ सकता हूँ..."

विराट ने तुरन्त ही भीमसेन को बुलवाया... और उनके आते ही जीमूत की ललकार के विषय में बताया, "बोलो वल्लभ! इसकी चुनौती स्वीकार कर सकोगे? मत्स्य राज्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न है..."

"स्वामी!" भीमसेन ने आत्म-विश्वास के साथ कहा. "आप आदेश दें तो मैं किसी सिंह अथवा गजराज से भी भिड़ जाऊँगा... यह तो साधारण-सा जीव है।"

इस संवाद से, विराट के ही पास खड़े हुए युधिष्ठिर चिन्तित हो रहे थे। उन्हें

यह भय नहीं था कि कहीं भीमसेन उस जीमूत से पराजित न हो जाएँ! भय यह था कि इस भीड़ में कोई उन्हें पहचान न ले। उन्होंने अनुज को यह चुनौती स्वीकार न करने के लिए संकेत भी किया... जो पता नहीं भीमसेन ने देखा नहीं, या देखकर भी अनदेखा कर दिया। एक तो भीमसेन वैसे भी मल्ल-युद्ध का अवसर चूकने वालों में नहीं थे... और फिर विराट ने मत्स्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न उठाकर उनके सम्मुख कोई विकल्प नहीं छोड़ा था।

अपनी गोपनीयता बनाये रखने की ओर सम्भवत: भीमसेन का भी ध्यान था, वे विराट को प्रणाम करके रसोइये वाली वेश-भूषा में ही अखाड़े की ओर गये... बस उन्होंने अपनी धोती घुटनों तक ऊँची करके कस ली, अँगोछे को सिर पर लपेट लिया और मुख तथा शरीर पर अखाड़े की मिट्टी लगा ली।

उन्हें इस वेष में देखकर कई दर्शक हँस रहे थे। जीमूत ने भी व्यंग्य करते हुए कहा, "अरे मूर्ख! ये वस्त्र लपेटकर मल्ल-युद्ध करने चला है। ला मैं ही उतार दूँ इन्हें .."

यह कहते हुए जीमूत ने जब उनकी ओर हाथ बढ़ाये तो भीमसेन ने तत्परतापूर्वक उसके दोनों पंजे अपने पंजों में जकड़ लिये। फिर तो बड़ी देर तक वह मल्ल युद्ध पंजों में ही उलझा रह गया। जीमूत ने बहुत बल लगाया, बहुत हाथ झटके किन्तु भीमसेन की पकड़ में कोई अन्तर नहीं आया। कुछ देर बाद उसे छकाकर, अपने पंजों से जीमूत को झटके के साथ अपनी ओर खींचते हुए, भीमसेन ने अपनी पकड़ में ढील दी। जीमूत बरबस खिचता हुआ मुँह के बल धरती पर जा गिरा। सभी दर्शक साँस खींचकर रह गये।

इस आघात से क्रोधित होकर जीमूत ने उठते ही दौड़कर भीमसेन की छाती पर अपने पैरों से प्रहार किया... तो उन्होंने, गिरने से सँभालते हुए, उसे दोनो पैरों से पकड़कर घुमाते हुए ऐसे छोड़ा कि वह अखाड़े के बाहर जा गिरा। इससे, चोट खाये हुए सिंह की भाँति दहाड़ता हुआ उठकर, वह भीमसेन की ओर झपटा और सारा बल सारा जीवन दाँव पर लगाते हुए उनसे भिड़ गया। दो-क्षण को तो विराट को लगा कि इस बार वल्लभ नहीं टिक पाएगा... किन्तु कुछ देर कड़ी टक्कर के बाद अवसर पाते ही भीमसेन ने उसे दोनो हाथों से ऊपर उठाकर घुमाते हुए बड़े धमाके के साथ भूमि पर पटक दिया... जहाँ गिरकर जीमूत के अस्थि-पंजर ढीले हो गये।

दर्शकों की हर्ष-ध्वनि के बीच, विराट ने भीमसेन को विजयी घोषित करते हुए अश्रु-गद्गद वाणी में कहा, "वल्लभ! तुमने न केवल अपनी बात को सच कर दिखाया... मत्स्य का मान भी रख लिया।"

उस दिन से भीमसेन विराट के विशेष स्नेह भाजन बन गये।

उधर अर्जुन भी अन्त:पुर में अपने संगीत एवं नृत्य कला के लिए लोकप्रिय होते जा रहे थे। वे उत्तरा के साथ ही अन्त:पुर की अनेक महिलाओं को संगीत तथा नृत्य

की शिक्षा देने लगे थे। कभी-कभी रानी सुदेष्णा भी उनके नृत्य का आनन्द लेती थीं। इसी प्रकार, विराट युधिष्ठिर के व्यवहार तथा उनके परामर्श से प्रसन्न थे... और नकुल तथा सहदेव के कार्य से पशुशाला के व्यवस्थापक प्रभावित एवं सन्तुष्ट थे। द्रौपदी ने भी अपने व्यवहार द्वारा, सैरन्ध्री से बढ़कर, सुदेष्णा के लिए सखी जैसा स्थान पा लिया था।

सभी पाण्डव भाई यदा-कदा, किसी-न-किसी बहाने, एक-दूसरे से मिलते रहते थे और एक-दूसरे का कुशल समाचार प्राप्त करके सन्तुष्ट रहते थे। समय बीतता जा रहा था और अज्ञातवास का वर्ष पूरा होने में कुछ ही समय शेष बचा था...

तभी एक दिन द्रौपदी पर कीचक की दृष्टि पड़ी।

कीचक महारानी सुदेष्णा का भाई होने के साथ ही, मत्स्य राज्य का सेनापति भी था। द्रौपदी पर उसकी दृष्टि पड़ी तो सहसा उसका दृष्टि हटाने का मन नहीं हुआ... किन्तु क्षण-भर में ही वह दृष्टि से ओझल हो चुकी थीं। उसका मन तो हुआ कि वह तुरन्त उन्हें पुकारकर उनसे पूछे... और ऐसा करने से उसे रोकता भी भला कौन! किन्तु चमत्कृत-सा वह उधर देखता रह गया।

"यह महिला कौन थी, बहन?" उसने उत्सुकता में सुदेष्णा से ही पूछा, "इसे पहले नहीं देखा।"

"मेरी सैरन्ध्री है भैया!" सुदेष्णा ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

"कब से?" कीचक की जिज्ञासा संक्षिप्त नहीं थी–"कौन है यह? कहाँ से आयी है?"

"वह सब तो लम्बी कहानी है भैया!" सुदेष्णा ने कहा, "किन्तु काम में अच्छी है, सुसंस्कृत है और व्यवहार-कुशल भी।"

"सुन्दर है... बहुत सुन्दर..."

सुदेष्णा अपने अग्रज की आँखों में देख सकती थीं... जहाँ मात्र सौन्दर्य की प्रशंसा नहीं, वासना का कलुष भी था। वह चुप रहीं।

"अब तक कहाँ छिपा रखा था इसे, बहन!" क्षण-भर बहन की प्रतिक्रिया के लिए प्रतीक्षा करने के बाद कीचक ने स्वयं ही पूछा।

"छिपाना क्या, भैया!" सुदेष्णा ने व्यस्तता का भाव ओढ़े हुए कहा, "यह तो यहीं है, सब के सम्मुख।"

"तो मेरी दृष्टि कैसे नहीं पड़ी!" कीचक ने खीझने के स्वर में कहा।

"क्योंकि तुम एक व्यस्त सेनापति हो..." सुदेष्णा ने मुस्कराते हुए कहा, "और सभ्य तथा सुसंस्कृत भी।"

"अरी मेरी बहन! सभ्य पुरुष अन्धा तो नहीं हो जाता..." कीचक ने निर्लज्ज होते हुए कहा, "और न उसका हृदय पत्थर का हो जाता है।"

"क्या बात है भैया!" सुदेष्णा ने गम्भीर होते हुए कहा, "तुम्हारी दृष्टि में कोई विकार तो नहीं आ रहा है?"

"बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं..." कीचक ने मुस्कराते हुए कहा और फिर अर्थपूर्ण दृष्टि से बहन की ओर देखते हुए जोड़ा, "मैं उसे उसकी सेवा का भरपूर मूल्य दूँगा।"

"मेरे सम्मुख ऐसी बात न करो भैया!" सुदेष्णा ने रूठते हुए कहा, "यह तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"शोभा तो तुम्हें भी नहीं देता..." कीचक ने नाटकीय रोष के साथ कहा, "ऐसी सुन्दर नारी से अपनी सेवा करवाना। इसे तो किसी सम्माननीय पदाधिकारी के भवन में रहना चाहिए... उसके हृदय की साम्राज्ञी बनकर।"

तभी संयोग से उसे सामने से निकलती हुई द्रौपदी दिखाई दीं। कीचक सुदेष्णा से बिना कुछ कहे ही लपककर उनके पास जा पहुँचा और राह रोकते हुए बोला, "अरे सुन्दरि! यह तो बड़ा अन्याय है कि तुमको यहाँ सेवा-कार्य करना पड़ रहा है.. तुम्हारी जैसी सुन्दरियों को तो परमात्मा ने, राजसी सुविधाओं के साथ, सुख से जीवन बिताते हुए, अन्य दासियों की सेवा प्राप्त करने के लिए बनाया है। तुम चलो मेरे साथ... बड़े सुख से रहोगी।"

सुनकर द्रौपदी क्षण भर के लिए हतप्रभ रह गयीं। उन्होंने सुदेष्णा की ओर देखा तो उन्हें भी विवश एवं असहज पाया। तब द्रौपदी ने ही कहा, "मान्यवर! मैं परायी स्त्री हूँ... आपको मुझसे यह व्यवहार शोभा नहीं देता।"

"ऐसी निर्मम न बनो सुन्दरि!" कीचक ने मनुहारते हुए कहा, "अब जो कामाग्नि तुमने मेरे हृदय में लगायी है, वह तो तुम्हें ही बुझानी होगी।"

"ऐसा दुराग्रह न करें, श्रीमन्!" द्रौपदी ने पुन: विनम्रतापूर्वक कहा, "यह व्यवहार आपको संकट में डाल सकता है।"

"मेरे संकट की चिन्ता न करो..." कीचक ने आत्म-विश्वास से भरे स्वर में हँसकर कहा, "किसी का साहस नहीं जो सेनापति कीचक की ओर उँगली भी उठाये... राजा विराट भी भयभीत रहते हैं मुझसे। और यदि ऐसे ही चलना तुम्हे स्वीकार न हो, तो चलो मैं विवाह करने को तैयार हूँ। पटरानी बनकर रहोगी... सारे ऐश्वर्य एवं भोग तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर दूँगा।"

"आपका भोग एवं ऐश्वर्य मेरे किसी काम का नहीं है..." द्रौपदी ने दृढ़ता-पूर्वक कहा, "आप कृपया मेरे मार्ग से हट जाएँ।"

द्रौपदी को जाते देख कीचक पर घड़ों पानी पड़ गया। उसने निश्चय किया कि

अब जो भी हो, जैसे भी हो, इस अहंकारी महिला का अहंकार तोड़ना ही है... इसे प्राप्त करना ही होगा।

वह अपमान एवं काम की ज्वाला में दो दिन जलता रहा... जितना वह उसके विषय में सोचता, वे उसे और भी सुन्दर प्रतीत होती जाती थीं। अन्य कोई सहज राह न पाकर उसने अपनी बहन सुदेष्णा के पास ही जाने का निश्चय किया।

"अरे सुदेष्णा! कैसी बहन है तू..." उसने पहुँचते ही कहा, "तुझे अपने भाई के सुख-दुःख का कुछ ध्यान ही नहीं।"

"क्या हुआ भैया!" सुदेष्णा ने अनजान बनते हुए पूछा, यद्यपि उसे भय था कि कीचक का संकेत सैरन्ध्री की ओर ही होगा, "कौन बहन होगी जो..."

"अरे और सब की छोड़..." कीचक ने उतावलेपन के साथ कहा, "प्राण बचा ले मेरे... उस अमृत की एक घूँट पिलवा दे, बस एक घूँट।"

"वह अमृत नहीं... विष है, विष," सुदेष्णा ने क्रोध से रूठतें हुए कहा, "उसे भुला दो अन्यथा..."

"अन्यथा क्या?"

"उसका पति बड़ा विख्यात योद्धा है, और अब शीघ्र ही लौटने वाला है," सुदेष्णा ने बताया, "अपनी पत्नी की ओर देखने वाले एक राजा को, द्वन्द्व में ललकार कर, मृत्यु के घाट उतार चुका है।"

"मुझे डराती हो... मुझे?" कीचक ने उपहास स्वर में कहा, "सेनापति कीचक को? जिसकी टक्कर का योद्धा दूर-दूर के किसी राज्य में भी नहीं है... जिसके आगे स्वयं मत्स्यनरेश भी बोलने का साहस नहीं करते!"

अपने भाई के इस स्पष्ट उल्लेख से सुदेष्णा सकपका गयीं–"नहीं भैया! तुम्हें डराने की बात नहीं है। बात यह है कि वह बहुत ही स्वाभिमानिनी नारी है। उसने मुझसे सब कुछ पहले ही बता दिया था। तुम्हें पता है, उसने मेरे, अथवा अन्य किसी के पैर नहीं धोये, आज तक!"

"तो उसकी यह अकड़ भी तोड़नी होगी..." कीचक ने दाँत पीसकर कठोर स्वर में कहा, "तू बस भेज दे उसे, एक बार मेरे पास..."

"भैया देख लो..." सुदेष्णा भयभीत थीं।

"देखना मुझे नहीं, तुझे है," कीचक ने क्रोधित दृष्टि से अपनी बहन की ओर देखा–"यह काम तो तुझे करना ही होगा। अन्यथा कुछ अनिष्ट हो जाए तो मुझे दोष न देना।"

"अनिष्ट..." सुदेष्णा ने आशंकित स्वर में कहा, "भैया, मैं तो किसी का भी अनिष्ट नहीं चाहती... और तुम्हारा तो बिल्कुल नहीं। तुम तो इस राज्य के सुरक्षा-कवच हो। किन्तु भैया! सैरन्ध्री पर बल-प्रयोग न करना। तुम्हारा यही आग्रह

है तो मैं अवसर पाते ही उसे किसी बहाने तुम्हारे पास भेज दूँगी। तुम अपना प्रस्ताव उसके आगे रख देना... और यदि वह सहमत हो तो उसे अपने भवन में ही रख लेना।"

"वह तुम मुझ पर छोड़ दो बहन!" कीचक ने प्रसन्न होकर कहा, "मैं जानता हूँ कि नारी को कैसे वश में किया जाता है।"

और वह विजेता की भाँति पाँव बढ़ाता हुआ अपने भवन चला गया।

दूसरे ही दिन, कीचक से संकेत पाकर, सुदेष्णा ने सैरन्ध्री को बुलवाया और कहा, "भैया मेरे लिए एक औषध लाये हैं... तनिक जाकर उनसे ले आओ।"

द्रौपदी का माथा ठनका। वे कल ही तो यहाँ आये थे, तब क्यों नहीं दे गये? आज भी आकर दे सकते थे... अथवा किसी के भी हाथों भेज सकते थे। रानी सुदेष्णा के पास भी अनेक दासियाँ हैं... ये अन्य किसी को क्यों नहीं भेज रही हैं?

"देवि!" उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा, "आपको तो ज्ञात ही है कि सेनापति कीचक का भाव मेरे प्रति अच्छा नहीं है। मुझे भय है कि मेरे वहाँ जाने से कोई कटुता न उत्पन्न हो। इसलिए अच्छा यही होगा कि आप अन्य किसी को..."

"सैरन्ध्री !" सुदेष्णा ने डपटते हुए द्रौपदी को बीच में ही चुप करा दिया–"यह मत भूलो कि तुम मेरी दासी हो... केवल दासी। मेरे भाई ने एक बार तुम्हारी प्रशंसा क्या कर दी, तुम अपने को कोई अप्सरा ही समझ बैठीं। तुम्हारी जैसी सहस्रों सुन्दरियाँ उनके आगे-पीछे घूमती रहती हैं। यदि वह कोई प्रेम-निवेदन भी करें तो शान्त होकर सुन लेना। मन हो तो स्वीकार करना, अन्यथा मना कर देना। इतने भर से तो तुम्हारा शीलभंग नहीं हो जाएगा!"

सुदेष्णा ने समझा दिया कि उन्हें कहाँ जाना है। राज-भवन के पास प्रमुख राज-कर्मियों का एक कार्यालय था... और उसके निकट ही उन पदाधिकारियों के लिए बने हुए विश्राम-स्थल भी थे। उन्हीं में एक विशाल विश्राम-कक्ष सेनापति कीचक का था, जहाँ उस समय बैठा वह व्यग्रतापूर्वक द्रौपदी की प्रतीक्षा कर रहा था।

अपनी इच्छा के विरुद्ध, डरती हुई द्रौपदी सेनापति कीचक के कक्ष में पहुँचीं तो कीचक ने उनका बड़ा स्वागत किया और उन्हें भाँति-भाँति के प्रलोभन देकर अपने वश में करना चाहा। जब द्रौपदी किसी भी प्रकार नहीं मानीं, तो उसने बल प्रयोग प्रारम्भ किया। किन्तु वे किसी प्रकार, कीचक को धक्का देकर, उसके कक्ष से निकल भागीं और विराट के भवन की ओर दौड़ीं। कीचक ने भी क्षणभर में ही सँभलते हुए उनका पीछा किया।

द्रौपदी राजा विराट के सम्मुख पहुँची ही थीं कि कीचक ने पीछे से आते हुए

उनके केश पकड़कर उन्हें भूमि पर गिरा दिया... और पैर से उनकी पीठ पर आघात किया। उस समय विराट के पास उनके कुछ मन्त्रिगण बैठे थे... और युधिष्ठिर तथा भीमसेन भी वहाँ उपस्थित थे। सभी यह दृश्य देखकर हत्प्रभ रह गये।

"महाराज!" द्रौपदी ने दुःख में कराहते एवं विलाप करते हुए कहा, "देखिए तो... आपके राज्य में मेरे साथ यह कैसा दुर्व्यवहार हो रहा है! क्या यह अधर्म सह लेना आपको शोभा देता है?"

कीचक क्षण-भर तो आग्नेय नेत्रों से सभासदों को देखता रहा और फिर ढिठाई के साथ बोला, "झूठ बोल रही है यह दुराचारिणी... इसका इतना साहस कि यह मेरी आज्ञा का उल्लंघन करे! मेरी आज्ञा का...? सेनापति कीचक की आज्ञा का?"

इस प्रकार बड़बड़ाता हुआ वह विराट के सभा-कक्ष से जाने लगा। यह देख युधिष्ठिर तथा भीमसेन का रक्त खौल रहा था... भीमसेन तो उठकर कीचक को मार ही डालते, किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें संकेत द्वारा शान्त रहने का आदेश दिया। उन्हें भय था कि उनकी एक छोटी-सी भूल उन लोगों को पुनः तेरह वर्षीय वनवास के दुश्चक्र में ढकेल सकती है। किन्तु उन्हें आश्चर्य एवं दुःख यह था कि अपनी आँखों के सम्मुख यह दुष्कर्म देखकर भी विराट चुप थे। वहाँ बैठे अन्य मन्त्रियों ने यद्यपि इस कार्य के लिए कीचक की निन्दा की, किन्तु किसी का भी साहस नहीं हुआ कि उसके विरुद्ध उठकर खड़ा हो।

द्रौपदी को उस असहाय स्थिति में देखकर युधिष्ठिर ने ही वह मौन भंग किया मानो वे राजा की ओर से ही बोल रहे हों—"सैरन्ध्री! इस प्रकार दीन अवस्था में न पड़ी रहो। उठकर रानी सुदेष्णा की सेवा में जाओ। समय आने पर तुम्हारे अपराधी को समुचित दण्ड प्राप्त होगा.. विश्वास रखो।"

उसी रात, सबसे छिपते हुए, द्रौपदी पाकशाला के निकट भीमसेन से मिलीं और दुःख से रोती हुई बोलीं, "मैं बारम्बार अपमान के घूँट पीकर टूट चुकी हूँ... तुम सबका दुःख भी मुझसे अब और नहीं देखा जाता।"

"थोड़ा और धैर्य धरो कृष्णा..." भीमसेन ने उन्हें समझाते हुए कहा, "हमारे अज्ञातवास में बस डेढ़ महीना ही शेष है। फिर कोई दुःख नहीं रहेगा।"

किन्तु द्रौपदी का धैर्य टूट चुका था। उन्होंने कहा, "डेढ़ महीना तो बहुत है, स्वामी! इस पापी कीचक को तो मैं अब और एक दिन भी नहीं सह सकती। अब यह धूर्त एक दिन भी जीवित रह गया, तो मैं विष पीकर प्राण त्याग दूँगी।"

द्रौपदी की मनःस्थिति देखकर भीमसेन ने एक योजना बनायी...

दूसरे दिन ही, प्रातःकाल, कीचक पुनः राज-भवन पहुँचा और द्रौपदी को देखकर

ढिठाई के साथ बोला, "राजा के आगे भी रोकर देख लिया? और यह भी समझ लिया होगा कि भरी सभा में मैंने तुम्हें गिराकर लात मार दी... किन्तु साहस नहीं हुआ किसी का कि मेरे विरुद्ध चूँ भी करे। अरे मैं कहने भर का सेनापति सही, वास्तव में मत्स्य राज्य का स्वामी तो मैं ही हूँ। अब भी मान ले मेरी बात... चुपचाप स्वीकार ले मुझे, तो बड़े सुख में रहेगी।"

अपनी योजना के अनुसार द्रौपदी ने कीचक से कहा, "अब तो यही एक मार्ग है... महाराज ने जो नयी नृत्यशाला बनवायी है, वह रात को सूनी पड़ी रहती है। आज रात, दूसरे प्रहर वहाँ आ जाना... अकेले, मैं वहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।"

अपनी सफलता के मद में उछलता हुआ कीचक जब रात्रि के समय सज-धजकर नृत्यशाला में पहुँचा तो वहाँ भीमसेन से उसकी भेंट हुई। अपने सम्मुख एक हृष्ट-पुष्ट, पर्वताकार मल्ल को खड़ा देख कीचक को वह सारा षड्यन्त्र समझ में आ गया। उसने तुरन्त ही म्यान से अपना खड्ग खींचा और साथ ही अपने अंगरक्षकों को भी गुहार लगायी। किन्तु भीमसेन ने अकेले ही, उन सबसे टक्कर लेते हुए, उन्हें मार गिराया और कीचक को अपनी बलिष्ठ भुजाओं में बाँधकर ऐसा दबाया कि वह संज्ञा-शून्य होकर धराशायी हो गया।

महाबली कीचक तथा उसके अनेक अंगरक्षकों के वध का समाचार दावानल की भाँति राज्य में फैल गया। और शीघ्र ही, सैरन्ध्री के विरुद्ध कीचक के दुर्व्यवहार का स्मरण करके, तथा द्रौपदी के मुख पर सन्तोष की झलक पाकर, उन सभी को यह लगने लगा कि हो-न-हो कीचक का वध सैरन्ध्री के ही किसी हितैषी ने किया है। अन्यथा कौन था ऐसा जो कीचक जैसे शक्तिशाली सेनापति की ओर आँख उठाकर भी देखता! रानी सुदेष्णा तथा राजा विराट को यह भय भी हुआ कि सैरन्ध्री का वह हितैषी क्रोधित होकर कहीं उन पर भी आक्रमण न कर बैठे। उन्होंने सैरन्ध्री को सेवा-मुक्त करते हुए उससे मत्स्य राज्य त्यागकर अन्यत्र कहीं चले जाने को कहा। इस पर द्रौपदी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि उन्हें ऐसी कोई आशंका नहीं होनी चाहिए। उन्होंने सुदेष्णा से राज-भवन में कुछ समय और रहने की अनुमति माँगी।

उधर हस्तिनापुर में, जैसे-जैसे पाण्डवों के अज्ञातवास की अवधि बीतती जा रही थी, दुर्योधन की व्यग्रता भी बढ़ती जा रही थी। पाण्डवों को ढूँढ़ निकालने वाले को बड़े-बड़े पुरस्कार का प्रलोभन भी उसे सफलता नहीं दे पा रहा था।

उन्हीं दिनों, कीचक के वध का समाचार भी दुर्योधन को प्राप्त हुआ, जिसे सुनकर सभी को बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि कीचक की शक्ति का आतंक दूर-दूर तक के राज्यों पर था। उस समय दुर्योधन के पास त्रिगर्त का राजा सुशर्मा भी उपस्थित

था। जिसे कीचक पर विशेष रूप से क्रोध था। पाण्डवों को खोजने के लिए पुनः गुप्तचर भेजने की आवश्यकता का अनुमोदन करते हुए सुशर्मा ने कहा, "आपको ज्ञात ही होगा कि मत्स्य के शाल्ववंशी राजाओं की ओर से त्रिगर्त पर अनेक आक्रमण हुए, जिनमें कीचक ने मुझे तथा मेरे भाइयों को बहुत कष्ट दिया था। वह स्वभाव से ही बड़ा दुष्ट एवं क्रूर था। अब उसकी मृत्यु से मत्स्य राज्य अवश्य ही निर्बल हो गया होगा। मेरा मन अब मत्स्य पर आक्रमण करके प्रतिशोध लेने का है। यदि आप और कर्ण साथ दें तो हमारी विजय सुनिश्चित है। वहाँ से जो धन प्राप्त होगा उसे हम आपस में बाँट लेंगे।"

दुर्योधन तथा कर्ण को सुशर्मा का प्रस्ताव हितकर लगा और उन्होंने मत्स्य पर आक्रमण करने का निर्णय लिया।

आक्रमण का सारा प्रबन्ध करके सुशर्मा ने विशाल सेना लेकर मत्स्य पर दक्षिण-पूर्व की ओर से धावा बोला। वहाँ सीमा पर विराट की जो थोड़ी सी सेना थी, उसको आक्रमणकारियों से जूझने में व्यस्त देखकर, सुशर्मा ने विराट के गो धन को लक्ष्य बनाया और वह उनकी लगभग एक लाख गायें हाँककर ले चला।

यह सूचना पाते ही विराट ने अपने अनुज शतानीक से कुछ योद्धा एकत्रित करके सुशर्मा को टक्कर देने की योजना बनायी। राज्य पर सहसा आयी विपत्ति को देखकर अनेक नागरिक, जिनमें नवयुवक भी थे और कुछ वृद्ध भी, सुशर्मा के सैनिकों से भिड़ने को निकल पड़े।

मत्स्य पर यह संकट की स्थिति देखकर युधिष्ठिर ने भी अपना वेदपाठी परिधान बदलकर शस्त्र उठाये और विराट से कहा, "राजन्, वल्लभ को भी साथ चलने की आज्ञा दीजिए। और आपकी पशुशाला में ग्रन्थिक तथा तन्तिपाल नामक दो सेवक हैं। वे भी युद्ध-कर्म में निपुण हैं। आप उन्हें भी साथ ले चलें।"

देखते-ही देखते युधिष्ठिर के नेतृत्व में एक छोटी सी सेना की टुकड़ी तैयार हो गयी, जिसने आगे बढ़कर सुशर्मा को ललकारा... और उसकी सेना के साथ भीषण युद्ध करते हुए विराट की गायों को मुक्त कराया। इसी बीच राजा विराट को सुशर्मा के सैनिकों ने बन्दी बना लिया था, किन्तु भीमसेन ने उनसे भयंकर युद्ध करते हुए विराट को मुक्त कराया। इतना ही नहीं, सुशर्मा के सैनिकों को अपनी बाण-वर्षा द्वारा पीछे ढकेलते हुए उन्होंने सुशर्मा को ही घेर लिया और पकड़कर युधिष्ठिर के सम्मुख प्रस्तुत किया। सुशर्मा लज्जित ही नहीं, अपने जीवन के लिए भी चिन्तित था। युधिष्ठिर के कहने पर उसने विराट से क्षमा-प्रार्थना की और विराट ने उसे भविष्य में ऐसा कोई कार्य न करने की चेतावनी देते हुए छोड़ दिया। लज्जित होकर सुशर्मा अपनी सेना पीछे हटाता हुआ लौट गया।

पाण्डवों की युद्ध-क्षमता देखकर विराट विस्मित भी थे और उनके आभारी भी। वे उन्हें मुँह-माँगा उपहार देना चाहते थे किन्तु युधिष्ठिर ने विनम्रता-पूर्वक कहा,

"राजन्! इससे बड़ा उपहार क्या होगा कि हम लोग सानन्द आपके राज्य में जीवन बिता रहे हैं। आपका राज्य उन्नति करता रहे तो हम लोगों का जीवन भी सुखमय बनेगा।"

विराट अपनी विजय की घोषणा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक अपने राज्य की ओर लौट चले।

दूसरी ओर, कौरवों ने उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर से मत्स्य पर आक्रमण किया था। उनकी सेना में दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण एवं शकुनि के अतिरिक्त भीष्म, द्रोण आदि अनेक महारथी भी थे। विराट की सेना उस समय विपरीत दिशा में सुशर्मा की सेना से जूझ रही थी। स्वयं विराट भी वहीं व्यस्त थे।

विराट की अनुपस्थिति में जब राजकुमार भूमिंजय, जो उत्तर भी कहलाते थे, को राज्य की दूसरी सीमा पर आक्रमण की सूचना मिली तो वह अपने मुट्ठी भर अंगरक्षकों तथा राज-भवन के रक्षक सैनिकों की टुकड़ी लेकर युद्ध के लिए चल पड़ा। किन्तु जब वह रथ पर बैठा तो उसे ज्ञात हुआ कि वहाँ कोई सुशिक्षित सारथि नहीं है जो उसका रथ लेकर चले।

उसने चिन्तित होकर सबसे कहा, "जैसे भी हो, कहीं से एक सारथि का प्रबन्ध करो, बिना सारथि के मैं कौरव सेना से टक्कर कैसे लूँगा?"

सारथि की खोज के विषय में अर्जुन को पता चला तो उन्होंने राजकुमार के सम्मुख जाकर निवेदन किया, "कुमार उत्तर! मुझे रथ चलाने का अनुभव है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपका सारथि बनने के लिए तैयार हूँ।"

राजकुमार उत्तर एक बार तो बृहन्नला के रूप में अर्जुन को देखकर चिन्तित हुआ किन्तु कोई विकल्प न देखकर बोला, "बृहन्नला! यह कार्य नृत्य एवं संगीत जैसा खेल नहीं है। क्या तुम्हें विश्वास है कि तुम शस्त्रों की बौछार के बीच रथ के घोड़ों पर नियन्त्रण रख सकोगे?"

"हाँ कुमार!" अर्जुन ने किन्नर-वेश में ही वीरोचित विश्वास के साथ कहा, "मैंने पहले भी अनेक युद्धों में सारथि-कर्म किया है... आप निश्चिन्त रहें।"

"वह तो ठीक है, बृहन्नला!" कुमार भूमिंजय ने कहा, "किन्तु यह कोई साधारण युद्ध नहीं है... मैं शक्तिशाली कौरव सेना के महारथियों से टक्कर लेने जा रहा हूँ। उनपर विजय पाकर मेरा नाम अमर हो जाएगा। पिताश्री मुझे बालक समझना छोड़कर, महान योद्धा की भाँति मेरा सम्मान करने लगेंगे। कहीं ऐसा न हो कि बीच युद्ध में तुम भयभीत होकर भाग जाओ, और महान योद्धा बनने का यह अवसर मेरे हाथ से निकल जाए।"

"आप देखते जाएँ कुमार!" यह कहते हुए अर्जुन उछलकर रथ पर जा बैठे और

क्षण भर में ही लगाम पकड़कर अश्वों को अनेक दिशाओं में दौड़ाते हुए लौटकर उत्तर के सम्मुख आ खड़े हुए। उत्तर को चमत्कृत देख, अर्जुन ने उसे रथ पर बैठाया और अस्त्र-शस्त्रों को भी एक निश्चित क्रम में रखने में उनकी सहायता करके... उत्तर-पश्चिम की सीमा की ओर रथ दौड़ा दिया।

अर्जुन को कौरव सेना का कुछ आभास था... साथ ही उन्हें राजकुमार उत्तर का आत्म-विश्वास देखकर भी आश्चर्य हो रहा था। किन्तु वह समय उन्हें चिन्ता में व्यर्थ गवाँने का नहीं लगा। उन्हें लग रहा था कि यह उस राज्य पर संकट की घड़ी है, जिसने उन्हें पत्नी एवं भाइयों-सहित, वर्ष भर आश्रय दिया। कर्तव्य की यह भावना उन्हें मुट्ठी भर सैनिकों तथा एक अनुभव-हीन किशोर सेनापति के साथ युद्ध क्षेत्र की ओर लिए जा रही थी।

कौरवों की आक्रामक सेना के निकट पहुँचते ही जब उत्तर ने शत्रु-सेना का अनुमान लगाया और उसमें अनेक रथ देखे, सैकड़ों अश्व देखे, तो वह भयभीत हो उठा।

"ये... ये क्या है?" उत्तर ने भयभीत स्वर में पूछा, "ये तो अनेक सेनाएँ लगती हैं बृहन्नला! मैं तो एक सेना से युद्ध करने आया था। इन सबसे अकेले युद्ध करना सम्भव नहीं है। लौट चलो बृहन्नला.. सुना तुमने!"

"अरे कुमार!" अर्जुन ने कहा, "ये आपके शत्रु हैं, जो अकारण ही आपके राज्य पर आक्रमण करके आपके खेतों को नष्ट कर रहे हैं और आपके सहस्रों पशु लिये जा रहे हैं। इन्हें दण्ड देना आपका धर्म है। साहस न छोड़िए।"

"नहीं बृहन्नला..." राजकुमार ने मनुहारते हुए कहा, "थोड़े से पशुओं के लिए प्राण दे देने में कोई बुद्धिमानी नहीं है। अभी लौट चलो... बाद में पूरी सेना लेकर हम लोग हस्तिनापुर पर आक्रमण करेंगे और इससे भी दुगुने पशु उनसे छीन लाएँगे।"

अर्जुन ने स्थिति को समझते हुए उत्तर को समझाया, "कुमार! अब युद्ध क्षेत्र से पीठ दिखाकर लौटना आपको शोभा नहीं देगा। क्षत्रिय के लिए तो युद्ध करते हुए प्राण त्यागने में भी गौरव है। आप चिन्ता न करें... आप रथ के अश्वों को सँभालें, शत्रुओं से युद्ध मैं करूँगा।"

यह कहते हुए अर्जुन ने रथ श्मशान भूमि की ओर मोड़ दिया और उन शमीवृक्षों के पास रोका जिन पर उनके अस्त्र-शस्त्र टँगे थे। अर्जुन ने उन अस्त्र-शस्त्रों को उतारकर अपना गाण्डीव निकाला और अनेक शस्त्र लेकर रथ पर रख लिये।

यह सब देखकर उत्तर को बड़ा विस्मय हो रहा था। उसने आश्चर्य-चकित होकर अर्जुन से पूछा तो उन्होंने अपना वास्तविक परिचय देते हुए भीमसेन, नकुल, सहदेव आदि के विषय में भी बताया जो वल्लभ, ग्रन्थिक तथा तन्तिपाल नाम से मत्स्य में रह रहे थे।

अर्जुन का वास्तविक परिचय पाकर उत्तर को बड़ी प्रसन्नता हुई, और वह उनका सारथि बनने के लिए सहर्ष तैयार हो गया।

अपने शस्त्रों-सहित रथ लेकर कौरव सेना के निकट पहुँचते ही जब अर्जुन ने शंख बजाया तो भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि ने उसका स्वर पहचानते हुए कहा, "यह तो अर्जुन के शंख का स्वर प्रतीत होता है।"

तभी उनकी दृष्टि दूर रथ पर बैठे हुए एक योद्धा पर पड़ी। उसके विचित्र परिधान एवं रूप-सज्जा में भी उन्हें अर्जुन की छवि स्पष्ट दिखाई दी।

"यह तो अर्जुन ही लगता है..." द्रोणाचार्य ने कहा।

"अर्जुन है तो क्या कर लेगा?" कर्ण ने वितृष्णा से कहा।

"इतना निर्बल भी न समझो अर्जुन को..." भीष्म ने कर्ण की ओर देखते हुए कहा, "वह अकेले भी बड़ा संकट उपस्थित कर सकता है हम लोगों के लिए।"

"कैसा भी संकट खड़ा कर ले पितामह!" दुर्योधन ने कटुता के साथ कहा, "इतनी बड़ी सेना से अकेला जीत तो नहीं पाएगा... मारा जाएगा। और बच भी निकला, अथवा उसने हमें परास्त भी कर दिया, तब भी हमारे लिए प्रसन्नता का ही विषय है, कि अज्ञातवास काल में पहचाने जाने के कारण पुनः भाइयों सहित तेरह वर्ष के लिए वनवास भोगने के लिए निकल जाएगा।"

"वह भी होगा मित्र!" कर्ण ने उत्साह भरे स्वर में कहा, "किन्तु पराजय की बात न करो... यद्यपि इस समय हम लोग अपरिचित क्षेत्र में हैं और ग्रीष्म-ऋतु के कारण वातावरण कष्टप्रद है, फिर भी हम यदि एक-जुट होकर युद्ध करें तो शत्रु को परास्त कर सकते हैं। बस तुम पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि को पीछे रखो... जो सदैव अर्जुन का गुणगान करते हुए अपनी ही सेना का मनोबल गिराते रहते हैं।"

बात केवल भीष्म तथा द्रोणाचार्य की ही नहीं थी। सामने की ओर से बढ़ते हुए अर्जुन को देखकर कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि भी चिन्तित दिखाई दे रहे थे, यद्यपि अर्जुन के साथ बहुत थोड़े सैनिक थे। दुर्योधन ने उन सबको शान्त करते हुए कहा, "इस समय तो सारे मतभेद भुलाकर युद्ध करना ही आवश्यक है... क्योंकि, विजय हो अथवा पराजय, यदि यह अर्जुन है तो इस समय उसे बताना होगा कि वह अज्ञातवास के बीच पहचान लिया गया है... और अब उन सभी पाण्डवों को पुनः बारह वर्ष के लिए वन जाना होगा।"

"किन्तु वत्स दुर्योधन!" भीष्म ने दुर्योधन को टोकते हुए कहा, "वनवास की अवधि तो पहले ही पूरी हो चुकी..."

"अभी नहीं हुई पितामह!" दुर्योधन ने दृढ़तापूर्वक कहा, "यदि हो चुकी होती तो पाण्डव न जाने कब के दौड़े हुए आ चुके होते... अपना राज्य वापस प्राप्त करने के लिए।"

"वत्स!" भीष्म ने समझाते हुए कहा, "अब तो ग्रीष्म ऋतु आ चुकी। पाण्डु-पुत्र तो ग्रीष्म से पहले ही वनवास के लिए निकल गये थे।"

"मात्र निकलने से क्या होता है पितामह!" दुर्योधन ने पुन: ढिठाई के साथ कहा, "पहले वे जिस वन में रुके थे, वह तो हस्तिनापुर में ही है... राज्य की सीमा त्यागने के बाद से ही तो उनके वनवास का प्रारम्भ माना जाएगा।"

"काल-निर्धारण के अनेक नियम हैं, वत्स!" "भीष्म ने हत्प्रभ होते हुए कहा, "किन्तु ऐसा द्वेषपूर्ण काल-निर्धारण तो न करो दुर्योधन! उन्होंने धर्म-पूर्वक अपने वचन का निर्वाह किया है। अब तो उन्हें न सताओ।"

"पितामह! पाण्डवों को मैं राज्य तो दूँगा नहीं, काल का गणित आप जो भी चाहे लगा लें..." दुर्योधन ने उद्दण्डतापूर्वक कहा, "हाँ, युद्ध के लिए सब तैयार हो जाएँ...? अर्जुन का रथ अब पास आ चुका है।"

"अच्छा तो पहले यह युद्ध ही सही..." भीष्म ने कहा, "दुर्योधन! मेरा मत है कि चौथाई सेना लेकर तुम हस्तिनापुर लौट जाओ। और चौथाई सेना यहाँ का गो-धन लेकर चली जाए। शेष आधी सेना लेकर मैं, द्रोण, कृप, कर्ण और अश्वत्थामा के साथ, यहाँ युद्ध करूँगा, फिर चाहे स्वयं विराट आयें या अर्जुन।"

कुछ ही क्षणों में उस रथ के निकट आते ही किसी को शंका न रही कि छद्म वेषधारी वह रथी अर्जुन ही है।

अर्जुन ने जब कौरव सेना पर दृष्टिपात किया तो उन्हें कहीं दुर्योधन का रथ नहीं दिखाई दिया। बाण वर्षा करते हुए आगे बढ़कर उन्होंने अन्य रथियों-महारथियों को ललकारा। तभी अपने एक सैनिक से उन्हें ज्ञात हुआ कि दुर्योधन सारी गाएँ हाँककर हस्तिनापुर की दिशा में चला गया है। यह सुनकर अर्जुन ने सारथि उत्तर से अपना रथ हस्तिनापुर की दिशा में दौड़ाने को कहा... और कुछ ही समय में गोखुर के चिह्नों का अनुसरण करते हुए वे दुर्योधन के पास जा पहुँचे।

अर्जुन की बाण-वर्षा से दुर्योधन तथा उसके सैनिकों का गायों से नियन्त्रण टूटा तो वे सभी गाएँ, रँभाती हुई, मत्स्य की ओर लौट पड़ीं।

उधर, कौरव महारथियों ने जब अर्जुन को दुर्योधन की ओर बढ़ते देखा तो वे भी अपना मोर्चा छोड़कर अर्जुन के पीछे दौड़े। उनमें सबसे आगे कर्ण को देखकर अर्जुन ने रथ कर्ण की ओर ही घुमाने की आज्ञा दी। उन्हें कर्ण से टकराते देख, दुर्योधन के अनुज – चित्रसेन, संग्रामजित, शत्रुसह तथा जय – कर्ण के साथ आ खड़े हुए। अर्जुन ने अकेले ही उन सब को व्यथित कर दिया। तब विकर्ण ने आकर उन्हें टक्कर दी, किन्तु वह भी अर्जुन के बाणों के सम्मुख ठहर नहीं पाया। इतने में कर्ण के अनुज संग्रामजित ने आकर अर्जुन पर प्रहार किया, किन्तु अर्जुन ने कुछ ही क्षणों में उसे मार गिराया। अनुज की मृत्यु से व्यथित एवं क्रोधित होकर कर्ण ने प्रलयाग्नि की

भाँति अर्जुन को अपने बाणों से बींधना प्रारम्भ किया। किन्तु अर्जुन के वज्र-तुल्य प्रहार के आगे उसकी एक न चली। कर्ण को उस समय पीछे हट जाने में ही अपना हित लगा।

इतने में दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, दु:सह, अश्वत्थामा आदि अनेक महारथियों ने मिलकर अर्जुन को घेर लिया। उस समय उत्तर का कुशल रथ-संचालन अर्जुन के काम आया और वे आँधी की भाँति इधर-उधर घूमते हुए सभी विरोधियों को हताहत करने लगे।

उन सबको छिन्न-भिन्न करके, अर्जुन ने रथ कृपाचार्य की वाहिनी की ओर घुमवाया। उनके पास ही द्रोणाचार्य भी थे। अर्जुन ने रथ द्वारा उनकी परिक्रमा की और उन दोनों को प्रणाम करते हुए कहा, "आचार्य, जब तक आप प्रहार नहीं करते, मैं आप पर बाण नहीं चलाऊँगा।"

यह सुनकर जब उन दोनों ने, बे-मन से ही बाण चलाये तो अर्जुन केवल उन बाणों को काटते रहे... उन्होंने अपनी ओर से आचार्यों पर कोई प्रहार नहीं किया।

दोनों ओर से यह खेल-जैसा युद्ध देखकर कर्ण तथा अश्वत्थामा को बड़ा क्रोध हुआ और वे दोनों एक साथ ही अर्जुन पर टूट पड़े। अर्जुन ने उनके प्रहारों का भरपूर उत्तर दिया। कुछ ही देर में अश्वत्थामा को अपने बाण समाप्त हो जाने के कारण पीछे हट जाना पड़ा और कर्ण भी, घायल होकर भाग खड़ा हुआ।

अपनी स्थिति निर्बल पड़ती देख, पितामह भीष्म के परामर्श पर, दुर्योधन ने सेना-सहित पीछे हटकर हस्तिनापुर लौट जाने का निर्णय लिया।

कौरव सेना को लौटते देख अर्जुन ने पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण तथा आचार्य कृप को प्रणाम किया और अपना शंख बजाकर, विजय घोष करते हुए, राजकुमार उत्तर से अपना रथ अपने नगर की ओर लौटाने को कहा। राह में श्मशान-भूमि की ओर मुड़कर उन्होंने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र पुन: उन्हीं शमी-वृक्षों की डाल पर बाँध दिये।

अग्नि कोण के मोर्चे पर सुशर्मा को परास्त करके, राज-भवन लौटते ही राजा विराट को वायव्य कोण पर कौरव सेना के आक्रमण तथा पुत्र उत्तर द्वारा उन्हें परास्त करके अपना गोधन मुक्त कराने का समाचार प्राप्त हुआ... वे फूले नहीं समाये। यह उनके लिए बड़ा सुखद आश्चर्य था कि पुत्र इतना बड़ा हो गया... और इतना वीर एव पराक्रमी भी! वे तुरन्त ही उसे हृदय से लगाने के लिए व्याकुल हो उठे... और युद्ध-भूमि से उसके लौटने की प्रतीक्षा करने लगे;

विराट ने उत्साह में भरकर विजयी पुत्र के स्वागत में बन्दनवार लगवाये... मंगल-ध्वनि भी प्रारम्भ करायी तथा रात होते ही नगर को दीप-मालाओं से अलकृत

करने का आदेश दिया।

पुत्र के लौटने में होने वाला विलम्ब उन्हें प्रतिक्षण विचलित कर रहा था। तभी उत्तर ने आकर उनके चरण छुए तो उन्होंने लपककर उसे हृदय से लगा लिया। मन्त्रियों ने राजकुमार भूमिंजय की जय-जयकार द्वारा सारा राज-भवन गुँजा दिया।

तभी, उन सबको शान्त करते हुए, राजकुमार उत्तर ने कहा, "पिताश्री! वास्तव में यह विजय मेरी नहीं... इस महारथी की है, जिसे आप बृहन्नला नाम से जानते हैं।"

बृहन्नला की! सुनकर विराट को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ।

"यह तुम क्या कह रहे हो, कुमार?"

"मैं सत्य कह रहा हूँ पिताश्री!" उत्तर ने विनम्रतापूर्वक कहा, "इनका आग्रह तो यही था कि मैं इनके रहस्य को गोपनीय ही रखूँ... किन्तु यह विजय मात्र इनके पराक्रम के कारण सम्भव हुई। इस सम्मान के अधिकारी ये ही हैं, मैं नहीं।"

"कुमार उत्तर!" अर्जुन ने राजकुमार को रोकने का प्रयास किया, किन्तु उत्तर ने उनका विरोध बीच में ही काटते हुए कहा, "अब इस छद्म वेष की क्या आवश्यकता? अज्ञातवास की अवधि तो कभी की समाप्त हो चुकी।"

छद्म वेष... अज्ञातवास की अवधि...! ये सभी शब्द राजा विराट को और भी व्यग्र कर रहे थे—"स्पष्ट कहो कुमार!" उन्होंने अर्जुन की ओर कुरेदती दृष्टि डालते हुए कहा, "ये पहेलियाँ छोड़ो।"

"पिताश्री.." कहते हुए उत्तर ने युधिष्ठिर की ओर बढ़कर उनके चरण छुए—"ये जिन्हें आप कंक बनाकर अपनी सेवा में रखे हुए हैं, ये इन्द्रप्रस्थ के चक्रवर्ती सम्राट महाराज युधिष्ठिर हैं... और ये हैं..." उसने बृहन्नला रूपी अर्जुन की ओर बढ़कर सकेत करते हुए कहा, "विश्व के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर, कुन्तीपुत्र अर्जुन... अब आप अनुमान से ही महाबली भीमसेन, नकुल तथा सहदेव को भी पहचान लेंगे, जो एक वर्ष मे आपकी सेवा में हैं।"

सुनकर विराट की आँखें फटी रह गयीं... ऐसे महान महारथी, मेरे राज्य में! और इस अवस्था में! आश्चर्य एवं उत्तेजना में उनकी आँखों से प्रेमाश्रु छलक पड़े। उन्होंने दौड़कर युधिष्ठिर के सम्मुख पहुँचते हुए विनम्रतापूर्वक प्रणाम किया और कहा, "महाराज! अनजाने में यदि मुझसे कोई त्रुटि हुई हो मुझे क्षमा कीजिएगा।"

इस रहस्य के उद्घाटित होने का समाचार क्षण-भर में ही मन्त्रियों, सेनापतियों तथा सेवकों में होता हुआ सारे राज भवन में फैल गया। देखते-ही-देखते वे सब द्रौपदी-सहित भीमसेन, नकुल तथा सहदेव को वहाँ ले आगे। विराट ने बड़े सम्मान के साथ उन सबका स्वागत किया... और क्षमा याचना-सहित सेवकों के आवास-गृहों मे निकालकर उनके लिए राज-भवन में रहने की व्यवस्था करायी।

उत्तर के मुख से अर्जुन के पराक्रम का विस्तृत वर्णन सुनकर विराट इतने प्रभावित थे कि आभार-स्वरूप उनपर कुछ भी न्योछावर करने को तैयार थे। उन्होंने हाथ जोड़कर युधिष्ठिर से कहा, "धर्मराज! मेरा यह राज्य, कोष, प्रजा तथा स्वयं मैं भी... सभी कुछ आप का है। आप निःसंकोच मत्स्य पर राज करें और मुझे इस योग्य समझें तो..."

"तो...!" युधिष्ठिर ने उनका संकोच-निवारण करते हुए कहा, "आप निःसंकोच कहें, राजन्! हम तो आपके सेवक बने रहकर भी प्रसन्न ही रहेंगे।"

"तो मेरा निवेदन यह है कि... मत्स्य एवं इन्द्रप्रस्थ की मैत्री को पारिवारिक सम्बन्ध का रूप प्रदान करें।"

"अर्थात्!" युधिष्ठिर ने विस्मय में पूछा।

"मेरी पुत्री विवाह योग्य है..." विराट ने संकोच के साथ कहा, "उसके मन मे सर्वगुण-सम्पन्न अर्जुन के लिए बड़ा सम्मान है। यदि वह आपके परिवार में कुलवधू बन सके, तो यह मेरे लिए बड़ा सम्मान होगा।"

यह प्रस्ताव सुनकर सभी पाण्डव आश्चर्य-चकित रह गये... सब ने ही, दुविधा में, एक-दूसरे की ओर देखा। युधिष्ठिर से दृष्टि मिलते ही, अर्जुन ने, विनम्रतापूर्वक उनके पास जाकर धीरे से कुछ कहा, जिसे सुनकर वे प्रसन्न हो उठे।

"राजन्!" युधिष्ठिर ने मुस्कराते हुए विराट से कहा, "यह तो अत्यन्त सुखद विषय है। यदि मत्स्य तथा भरतवंश में सम्बन्ध स्थापित हो तो हम सबको भी प्रसन्नता होगी। सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु भी विवाह-योग्य आयु प्राप्त कर चुका है। मेरा प्रस्ताव है कि राजकुमारी उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से हो।"

अभिमन्यु के विषय में जानकर विराट ने प्रसन्न-मन से वह प्रस्ताव स्वीकार किया। उन्होंने अर्जुन की इस भावना की भी सराहना की कि एक वर्ष तक उत्तरा के सान्निध्य में रहकर भी वे उसे, शिष्या के नाते, पुत्रीवत् स्नेह ही देते रहे।

राजा विराट ने, राजकुमारी उत्तरा के विवाह का प्रस्ताव लेकर दूत को कृष्ण के पास भेजा... और साथ ही यह समाचार भी पहुँचाया कि पाण्डव अपने अज्ञातवास का समय पूरा करके अब उपप्लव्य नगर में निवास कर रहे हैं।

पाण्डवों का समाचार पाकर कृष्ण, बलराम, कृतवर्मा, सात्यकि, अक्रूर, साम्ब, आदि-सहित, अभिमन्यु तथा सुभद्रा को लेकर मत्स्य पहुँचे। उनके साथ वृष्णि, अन्धक तथा भोज वंश के अनेक राजकुमार तथा योद्धा भी थे। उधर, पांचाल से, राजा द्रुपद भी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा पाण्डव-पुत्रों के साथ आये। मत्स्य में उत्सव जैसा वातावरण छाया हुआ था।

उन सबकी उपस्थिति में अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह हुआ।

उद्योग

विराट की राजसभा की शोभा देखते ही बनती थी। स्वयं विराट भी अत्यन्त प्रसन्न एवं उत्साहित दिखाई दे रहे थे। वे कभी अपने मन्त्रियों अथवा सेवकों को कुछ आदेश देते और कभी स्वयं ही अपने विशिष्ट अतिथियों की सेवा के लिए दौड़ पड़ते थे।

उन्होंने कभी यह कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसे गण्य-मान्य अतिथि एवं राजा-महाराजा उनके राज्य में पधारेंगे... और फिर उनमें सर्वोपरि थे उनके सुसम्बन्धी, एवं कौरवों के आक्रमण से मत्स्य की रक्षा करने वाले, महापराक्रमी पाण्डव। यह उन पाण्डवों का ही बल एवं पराक्रम था कि उनका राज्य, दुर्योधन तथा सुशर्मा की संयुक्त गिद्ध-दृष्टि से बचा रह गया।

उस सभा मे अनेक यदुवंशी वीरों-सहित कृष्ण तथा बलराम, और द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि का उपस्थिति मत्स्य को और भी गरिमा प्रदान कर रही थी। विराट ने कृष्ण के विषय में इतना कुछ सुन रखा था कि उन्हें अपने सम्मुख पाकर वे धन्य हुए जा रहे थे।

अवसर पाकर विराट ने कृष्ण से कहा, "यदुनन्दन! पाण्डवों को अपना राज्य छोड़कर भटकते हुए तेरह वर्ष से अधिक का समय हो चुका है... इन्होंने द्यूत के नियमानुसार बारह वर्ष वन में निवास करने के पश्चात्, एक वर्ष पूर्ण रूप से अज्ञात रहकर भी व्यतीत कर लिया, किन्तु इन्हें अब भी सन्देह है कि वापस लौटने पर इनका राज्य इन्हें प्राप्त होगा।

"दुर्योधन के प्रति इनके सन्देह की परीक्षा के लिए मैंने कुछ गुप्तचर हस्तिनापुर भेजे थे... वे भी इस सन्देह की पुष्टि करते हैं। वे विश्वस्त सूत्रों से यह सुनकर आये है कि महाराज धृतराष्ट्र तो पाण्डवों को पुनः इन्द्रप्रस्थ पर स्थापित करने के लिए सहमत हैं, किन्तु पुत्र दुर्योधन के हठ के सम्मुख वे कुछ कर नहीं पाएँगे। शकुनि, कर्ण, दुःशासन तथा अपने अनेक अनुजों के बल पर, दुर्योधन इस बात पर अड़ा है कि वह पाण्डवों को राज्य प्राप्त नहीं करने देगा।"

कृष्ण इस स्थिति से अनभिज्ञ नहीं थे। इस विषय पर वे कई बार वृष्णिवंशी योद्धाओं से ही नहीं, अनेक अन्य राजाओं से भी विचार-विमर्श करते रहे थे। उनमें से अनेक ऐसे थे जिनकी इच्छा तो प्रारम्भ मे ही द्यूत पर आधारित वनवास का विरोध करते हुए, दुर्योधन पर आक्रमण करके, पाण्डवों को वनवास से लौटाकर इन्द्रप्रस्थ भेजने की थी, किन्तु स्वयं कृष्ण ही इससे सहमत नहीं थे... क्योंकि जो भी हुआ हो,

जैसे भी हुआ हो वह, चाहे-अनचाहे, युधिष्ठिर की सहमति से ही हुआ था। किन्तु उस द्यूत-क्रीड़ा के फलस्वरूप तेरह-वर्षीय दण्ड भुगतने के बाद का अन्याय कृष्ण को भी स्वीकार्य नहीं था। विराट से सहमत होते हुए, उन्हें भी सभी उपस्थित राजाओं तथा योद्धाओं के साथ इस विषय पर चर्चा कर लेना उचित लगा।

सभा को सम्बोधित करके पाण्डवों के वनवास की पृष्ठभूमि का वर्णन करते हुए कृष्ण ने कहा, "जिस प्रकार कपट-द्यूत का आश्रय लेकर पाण्डवों को राज्य से भ्रष्ट किया गया वह सब आपको विदित ही है। हममें से अनेक तब भी इस निर्णय के पक्ष में नहीं थे कि पाण्डव अपना राज्य त्यागें... और स्वयं पाण्डव भी यदि चाहते तो अपनी शक्ति के बल पर, वह दण्ड अस्वीकार करके, दुर्योधन को उसके कुचक्र का उत्तर दे सकते थे... किन्तु उन्होंने पिता-तुल्य महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा का पालन करना ही श्रेयस्कर समझा।

"अब, जबकि वह द्यूत द्वारा निर्धारित तेरह वर्ष की अवधि भी पूरी हो चुकी है, तो धर्मत: पाण्डवों को उनका राज्य पुन: मिल जाना चाहिए। किन्तु दुर्योधन की दुर्बुद्धि देखते हुए भय यह है कि वह कोई नया बहाना बनाकर पाण्डवों को उनका राज्य देने में बाधा उपस्थित करेगा। राजा विराट के गुप्तचर भी कुछ ऐसा ही समाचार लेकर आये हैं। किन्तु अभी तक हमें यह ज्ञात नही है कि यदि वह ऐसा करना भी चाहता है तो किस आधार पर करेगा, किस तर्क का आश्रय लेगा। इस स्थिति में मेरा मत यह है कि हम लोगों के प्रतिनिधि-स्वरूप कोई दूत पाण्डवों का सन्देश लेकर जाए... और दुर्योधन का मन जानकर, उसका तर्क सुनकर, पारम्परिक एवं वंशगत शान्ति एवं सद्भाव के हित में, उसे समझाने का प्रयास करे। तभी पाण्डवों को न्यायत: उनका राज्य प्राप्त हो सकेगा और अनावश्यक युद्ध की सम्भावना को भी टाला जा सकेगा।"

कृष्ण के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए बलराम ने कहा, "कृष्ण का यह प्रस्ताव समयानुकूल है। यदि दुर्योधन के मन में कोई शंका है अथवा पाण्डवों को उनका राज्य देने में कोई बाधा है तो उसे इस प्रकार दूत भेजकर सुलझा लेना ही दोनो पक्षों के हित में होगा। किन्तु अच्छा होगा कि दूत अपनी बात राजसभा में महाराज धृतराष्ट्र पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर, शकुनि, अश्वत्थामा, कर्ण तथा पुरवासियो की उपस्थिति में विनम्र होकर कहे . किसी भी प्रकार दुर्योधन आदि पर दोषारोपण किये बिना कहे... क्योंकि कौरव बलशाली हैं, और पहले भी एक बार पाण्डवों से उनका राज्य छीनने में सफल हो चुके हैं। बलशाली को अकारण ही कुपित करने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं होगी।"

बलराम का यह कथन सात्यकि को तर्क संगत नहीं लगा। उन्होंने बलराम को टोकते हुए कहा, "यह सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि कौरवों ने पाण्डवों से

उनका राज्य बल द्वारा नहीं, द्यूत के छल द्वारा छीना था। यह समय उनसे भयभीत होकर भिक्षा के रूप में राज्य प्राप्त करने का नहीं, न्यायत: अपना अधिकार प्राप्त करने का है।"

"मेरी बात काटने की धृष्टता न करो सात्यकि..." बलराम ने कठोर स्वर में उन्हें बरजते हुए कहा, "क्या यह सत्य नहीं कि युधिष्ठिर ने स्वेच्छा से द्यूत में भाग लिया था? क्या यह सत्य नहीं है कि युधिष्ठिर ने स्वयं ही लोभ में पड़कर अपने राज्य तथा अपने अनुजों को दाँव पर लगाया था? क्या यह सत्य नहीं कि..."

"सब सत्य है..." सात्यकि ने उग्र होते हुए ऊँचे स्वर में कहा, "किन्तु उस सबसे बड़ा सत्य यह है कि उन्होंने द्यूत के विरोध में अनेक तर्क दिये... और अन्त में महाराज धृतराष्ट्र के आग्रह को, ज्येष्ठ-पिता की आज्ञा मानकर ही, द्यूत खेलना स्वीकार किया। और उससे बड़ा सत्य यह है कि शकुनि ने वे सारे दाँव मात्र अपने द्यूत-कौशल के बल पर नहीं, छल द्वारा पासे फेंककर ही जीते थे।"

सात्यकि का ऐसा उग्र विरोध देखकर बलराम को मौन साधना ही हितकर लगा। सभा में उपस्थित अन्य राजाओं तथा वीरों का मत भी सात्यकि के पक्ष में था। वे सब उनके तर्कों से सहमत लग रहे थे और बीच-बीच में उसके समर्थन में कुछ बोलते भी जा रहे थे।

सभा में कटुता उपजती देख द्रुपद ने उठकर कहा, "मैं शान्ति के हित में दूत भेजने के प्रस्ताव से पूर्णतया सहमत हूँ, यद्यपि अपने दूतों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर मुझे पूरा सन्देह है कि इसका कोई सार्थक परिणाम निकलेगा। फिर भी, शान्ति के हित में, एक बार यह प्रयास कर देखना आवश्यक है। किन्तु मेरा प्रस्ताव है कि दूत भेजने के साथ ही हमें मिलकर युद्ध की तैयारी भी प्रारम्भ कर देनी चाहिए। हमें, बिना विलम्ब किये, मित्र राजाओं के पास सन्देश भेजना चाहिए कि वे हमारे लिए अपनी सेनाएँ तैयार रखें। अन्यथा यदि उनके पास दुर्योधन का प्रस्ताव पहले पहुँच गया तो सम्भावना यह है कि वे, उससे वचन-बद्ध होकर, हमारे पक्ष में युद्ध करने मे असमर्थ हो जाएँगे।

"और जहाँ तक दूत भेजने का प्रश्न है, मेरा प्रस्ताव है कि हमारे राज-पुरोहित इस कार्य के लिए उपयुक्त रहेंगे। यदि आप लोगों की दृष्टि में कोई अन्य सुपात्र न हो तो आप इन्हें निश्चिन्त होकर भेज सकते हैं।"

द्रुपद के प्रस्ताव से सभी सहमत थे।

विवाह सम्बन्धी सभी संस्कार पूर्ण करके कृष्ण तथा अन्य सभी अतिथि जब लौट गये, तब विराट ने द्रुपद के पुरोहित से, पाण्डव वनवास की सारी पृष्ठभूमि बताते

हुए, कहा, "मुझे विश्वास है कि आप नीति-युक्त बातें बताकर धृतराष्ट्र का मन बदल सकते हैं। वहाँ विदुरजी भी आपकी बातों का समर्थन करेंगे। अतः आप पारिवारिक शान्ति के हित में वहाँ जाकर पाण्डवों का पक्ष प्रस्तुत करें।"

द्रुपद का सन्देश लेकर उनके पुरोहित हस्तिनापुर पहुँचे और सबके सम्मुख उन्होंने पाण्डवों की ओर से शान्ति प्रस्ताव रखा।

"यह तो बड़ा शुभ समाचार है..." भीष्म ने हर्षित होते हुए कहा, "कि पाण्डु-पुत्र सकुशल हैं और धर्म पर दृढ़ हैं। मैं जानता हूँ उन्होंने शान्ति के हित में ही यह प्रस्ताव भेजा है... यद्यपि वे सभी वीर हैं और बल द्वारा भी सब कुछ प्राप्त करने में समथ हैं।"

"उनका यशोगान बन्द कीजिए पितामह!" भीष्म की बात काटते हुए, कर्ण ने तमककर कहा, "उनका गुणगान तो आप सदैव ही करते रहते हैं। किन्तु बात इस समय यह है कि वे द्यूत में पराजित होकर वनवास तथा अज्ञातवास के लिए गये थे। अब जब कि वे अज्ञातवास की अवधि में पहचाने जा चुके हैं, तो उन्हें धर्मतः द्यूत के नियमानुसार पुनः बारह वर्ष का वनवास ग्रहण करना चाहिए... इस प्रकार द्रुपद एवं विराट के बल पर उन्हें निर्लज्जतापूर्वक अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त करने की धृष्टता नहीं करनी चाहिए। दुर्योधन भयभीत होने वालों में नहीं हैं। यदि पाण्डवों को अपने बल पर अभिमान है तो यह उनकी भूल है। दुर्योधन उनके भय से तो उनके राज्य का चौथाई भाग भी नहीं देंगे। और यदि उन्हें अपने बल का ऐसा ही घमण्ड है तो अवश्य आएँ... हम उन्हें ऐसा युद्ध प्रदान करेंगे कि वे फिर कभी कोई दुःसाहस न कर सकेंगे।"

कर्ण का क्रोधपूर्ण सम्भाषण सुनकर भीष्म ने हँसकर व्यंग्य करते हुए उसे अनेक उन युद्धों का स्मरण कराया, जिनमें कर्ण ने, पाण्डवों के सम्मुख भयभीत होकर, अथवा घायल होकर युद्ध भूमि से पलायन किया था। उन्होंने समझाते हुए कहा, "राधेय! अपने बल का मिथ्या अहंकार तुम्हें कहीं का नहीं छोड़ेगा.. और तुम्हे शिष्टाचार का यह पाठ भी अवश्य पढ़ना चाहिए कि जहाँ बड़े लोगों में संवाद चल रहा हो, वहाँ बीच में बोल पड़ना उचित नहीं होता।"

भीष्म की बात से सहमत होते हुए, धृतराष्ट्र ने भी कर्ण को समझाया, "कर्ण। पितामह भीष्म ठीक कह रहे हैं। युद्ध न हो, इसी में हमारा तथा पाण्डवो का हित है।"

फिर उन्होंने द्रुपद के पुरोहित को सम्मान-सहित यह कहकर विदा किया कि वे, सबके साथ परामर्श करके, अपने किसी दूत को युधिष्ठिर के पास भेजेंगे।

पाण्डव युद्ध के लिए तैयारी कर रहे हैं... यह समाचार शीघ्र ही दुर्योधन तक पहुँच

गया। दुर्योधन ने भी तत्काल सभी राजाओं के पास अपने अनुजों तथा कर्ण, अश्वत्थामा आदि को दूत बनाकर भेजा, कि निकट भविष्य में पाण्डवों से उनका युद्ध होने वाला है... और, उस स्थिति में वे पाण्डवों के विरुद्ध, उसके पक्ष में युद्ध करें।

इसी उपक्रम में उसका ध्यान कृष्ण की ओर भी गया। वह जानता था कि कृष्ण का अर्जुन के प्रति विशेष स्नेह है। तथापि उसने सोचा कि यदि उसके निवेदन पर कृष्ण निष्पक्ष रहने का ही निर्णय ले लें, तब भी उसका हित हो सकता है। वह कम-से-कम इस स्थिति से बचना चाहता था कि बाद में कृष्ण कहें कि 'तुमने तो मुझसे सहायता माँगी ही नहीं ।'

जब दुर्योधन कृष्ण के पास पहुँचा, तब वे शयनागार में थे। दुर्योधन उनके सिरहाने की ओर रखे हुए एक आसन पर बैठ गया और उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगा। संयोग, कि तभी अर्जुन भी वहाँ जा पहुँचे और वे कृष्ण को सोता देखकर उनके पैरों के पास पड़े एक भद्रासन पर बैठ गये।

कुछ ही देर में कृष्ण जागे... और अर्जुन को सामने देख, मुस्कराकर उनका कुशल समाचार पूछने लगे। तभी दुर्योधन ने भी उन्हें प्रणाम करते हुए अपनी उपस्थिति का भान कराया।

"अरे! तुम दोनों एक साथ...! बिना किसी पूर्व-सूचना के!"

कुछ ही क्षणों में कृष्ण को ज्ञात हुआ कि वे दोनों ही, एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध के लिए, उनकी सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से आये हैं।

"कैसी विचित्र बात है!" कृष्ण ने अपनी दुविधा व्यक्त करते हुए कहा, "मैं अकेला, भला दो परस्पर विरोधी पक्षों की सहायता कैसे कर सकता हूँ?"

"देवकीनन्दन!" दुर्योधन ने बडी विनम्रता के साथ कहा, "पहले मैं आया था... आप चाहें तो अपने सेवकों से पूछकर देखें। वैसे इस बात का विरोध तो अर्जुन भी नहीं करेंगे। सज्जन पुरुष पहले आने वाले की विनती पर पहले विचार करते हैं।"

इस तर्क से अर्जुन निरुत्तर हो गये।

"तुम पहले मेरे भवन में भले ही आये होगे, दुर्योधन!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "किन्तु मेरी दृष्टि में तो पहले अर्जुन ही आये। अब मैं किसे पहले मानूँ... और किसे पीछे? वैसे भी, मेरी दृष्टि में तुम दोनों का स्थान बराबर है। मुझे तो दोनों की ही सहायता करनी होगी।"

"वह कैसे द्वारकाधीश?" दुर्योधन ने पूछा।

"वह इस परामर्श द्वारा..." कृष्ण ने मुस्कराकर दुर्योधन की ओर देखते हुए कहा, "कि यह युद्ध ही न हो।"

"उसके लिए तो आपको धनंजय को ही समझाना होगा..." दुर्योधन ने निर्णायक स्वर में कहा, "कि ये अपने भाइयों-सहित पुनः बारह वर्ष के वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए चले जाएँ।"

"वह क्यों दुर्योधन?" कृष्ण ने कहा, "तेरह वर्ष का समय तो कभी का पूरा हो चुका, पितामह भीष्म भी इसकी पुष्टि कर चुके हैं।"

"मैं पितामह को भी स्पष्ट रूप से समझा चुका हूँ..." दुर्योधन ने कठोर स्वर में कहा, "वनवास का समय तो वास्तव में तब से प्रारम्भ हुआ, जब ये हस्तिनापुर के राज्य की सीमा के पार स्थित वन में पहुँचे। उसके पूर्व कई माह तक तो ये सब हमारे राज्य में स्थित वनों में ही रहे थे।"

"इस हठ का निर्णय कौन करेगा गान्धारीनन्दन?" कृष्ण ने कहा, "फिर भला मैं तुम्हारी सहायता कैसे करूँगा?"

"आप वचन-बद्ध हैं..." दुर्योधन ने विजयी मुस्कान के साथ कहा, "अभी आप कह चुके हैं कि आप हम दोनों की ही सहायता करेंगे। श्रेष्ठ पुरुष वचन देकर पीछे नहीं हटते।"

"तब तो मुझे दोनों की ही सहायता करनी होगी..." कृष्ण ने कुछ सोचते हुए कहा, "एक ओर मैं रहूँगा... अकेला.. और शान्ति के हित में इस प्रतिज्ञा के साथ, कि इस युद्ध में मैं कभी शस्त्र नहीं उठाऊँगा। और दूसरी ओर रहेगी मेरी नारायणी सेना। अब तुम दोनों चुन लो कि तुम्हें क्या चाहिए! वैसे मेरी दृष्टि में अर्जुन को, छोटा होने के कारण, चुनाव करने का अधिकार पहले मिलना चाहिए।"

अर्जुन को निर्णय लेने में तनिक भी देर नहीं लगी, "मैं आपका सहयोग चाहूँगा... अपनी नारायणी सेना आप प्रसन्नतापूर्वक दुर्योधन को दे दें।"

यह विभाजन सुनते ही दुर्योधन की बाँछें खिल गयीं। स्थिति स्वयं ही इतनी सरलतापूर्वक उसके पक्ष में आ जाएगी, इस बात की तो दुर्योधन ने कल्पना ही नहीं की थी। उसे कृष्ण की विशाल नारायणी सेना के युद्ध-कौशल का ज्ञान था। अर्जुन अकेले कृष्ण को लेकर भला क्या कर लेगा! और वह भी निहत्थे... शस्त्र न उठाने के लिए वचनबद्ध कृष्ण को लेकर! उसे लगा, उसने यह दाँव भी जीत लिया।

दूसरी ओर, अर्जुन को कृष्ण पर विश्वास था। कृष्ण ने जब अपने आप को दो भागों में विभाजित करने की बात कही थी, तब उनका तात्पर्य समान विभाजन से ही था... असमान विभाजन का तो कोई अर्थ नहीं। अब यह तो समझने की बात है कि एक ओर अकेले कृष्ण और दूसरी ओर उनकी विशाल नारायणी सेना... यह दोनों भला बराबर कैसे हुए?

कृष्ण ने अर्जुन का निर्णय सुनकर पूछा, "पार्थ! मुझ अकेले को लेकर तुम भला क्या करोगे...? विशेषकर तब, जब कि मैं कह रहा हूँ कि मैं शस्त्र ही नहीं उठाऊँगा।"

अर्जुन ने कहा, "तुम मुझे विश्वास प्रदान करते रहना केशव... मेरा मार्ग-दर्शन करते रहना। मेरे लिए यही बहुत है।"

"क्या यह पर्याप्त होगा?" कृष्ण ने मुस्कराते हुए पूछा, "चाहो तो अब भी सोच लो।"

"सोच लिया मित्र!" अर्जुन ने भी मुस्कराकर कहा, "और हाँ, मुझे एक सुयोग्य सारथि की भी आवश्यकता है। यह उत्तरदायित्व यदि तुम ही ले लो, तो मुझे विश्वास भी रहेगा और मेरा मार्ग भी तुम्हीं निर्धारित करोगे।"

"निश्चित हो जाओ पार्थ!" कृष्ण ने कहा, "यह दायित्व मैंने स्वीकार किया।"

कृष्ण से मिलकर दुर्योधन तथा अर्जुन बलराम के पास गये। बलराम ने पहले उनसे कृष्ण से हुई भेंट के विषय में पूछा।

"तब तो मुझे भी इस युद्ध में निरपेक्ष ही रहना होगा..." बलराम ने कहा।

"क्यों यदुनन्दन?" दुर्योधन ने व्यग्र होते हुए पूछा।

"एक तो मैं कृष्ण जैसी स्वयं को विभाजित करने की कला नहीं जानता.." बलराम ने मुस्कराते हुए कहा, "और फिर न तो मैं उसके विरुद्ध युद्ध कर सकता हूँ, और न उसके पक्ष में रहकर युद्ध करते हुए दूसरे पक्ष को नितान्त निर्बल ही बनाना चाहता हूँ।"

दुर्योधन ने अनेक तर्क देकर उनसे अपने पक्ष में युद्ध करने का अनुरोध किया, किन्तु बलराम निष्पक्ष रहने का निर्णय ले चुके थे।

युधिष्ठिर ने युद्ध की सम्भावना देखते हुए अपने मामा शल्य के पास भी दूत भेजा था। वे तुरन्त ही अपनी कुछ सेना लेकर अपने भानजों से मिलने के लिए मत्स्य राज्य के उपप्लव्य नगर की ओर चल पड़े। उन्हें बहुत दिनों के बाद अपने भानजों का समाचार प्राप्त हुआ था... और यह कैसे सम्भव था कि उनके संकट काल में वे उनका साथ न देते!

उधर, जब दुर्योधन को ज्ञात हुआ कि शल्य युधिष्ठिर से मिलने के लिए जा रहे हैं तो उसने, उनके मार्ग में, दिन में विश्राम करने तथा रात्रि व्यतीत करने के लिए सुविधा सम्पन्न विश्राम-स्थलों की व्यवस्था की। वहाँ सेवकों को आदेश था कि वे शल्य तथा उनके सैनिकों का ऐसा राजोचित सत्कार करें कि वे अपना सारा श्रम भूल जाएँ। अपने मार्ग में ऐसा विलक्षण प्रबन्ध देखकर शल्य प्रसन्न हो उठे। दिन-प्रतिदिन अत्यन्त सम्मानजनक आव-भगत देखकर शल्य ने एक बार पुरस्कार देने के लिए वहाँ के प्रबन्धक को बुलाया और पुरस्कार देकर, बातों-ही-बातों में, युधिष्ठिर द्वारा की हुई व्यवस्था का उल्लेख किया, तब उचित अवसर जानकर दुर्योधन ने शल्य से भेंट की।

"मामाश्री!" उसने विनम्र होकर उनका चरण स्पर्श करते हुए कहा, "आप कहीं

यात्रा पर जा रहे हैं, यह सुनकर आपके मार्ग में विश्राम का प्रबन्ध मैंने कराया था। यह तो मेरा कर्तव्य था, मामाश्री।"

"कर्तव्य तो ठीक है वत्स..." शल्य ने गद्‌गद होते हुए कहा, "किन्तु अब कितने लोग हैं जिन्हें अपने कर्तव्य का ध्यान रहता है!"

"जो नहीं करते मामाश्री, उनसे मुझे क्या लेना-देना," दुर्योधन ने अतिरिक्त विनम्रता के साथ मुस्कराते हुए कहा, "मुझे तो बस यह आशीर्वाद दीजिए कि मुझमें अपने बड़ों का सम्मान करने की सद्‌बुद्धि बनी रहे।"

"तुम धन्य हो वत्स!" शल्य ने प्रसन्न होकर कहा, "आज मेरा मन तुम्हें कुछ देने का हो रहा है... माँगो, जो जी चाहे माँग लो।"

दुर्योधन को इसी अवसर की प्रतीक्षा थी। उसने कहा, "मामाश्री, वैसे तो आपके आशीर्वाद से मुझे सभी कुछ प्राप्त है... किन्तु यदि आप देना ही चाहें तो यह वरदान दें कि, यदि निकट भविष्य में कभी हस्तिनापुर को किसी से युद्ध करना पड़े तो, आप हस्तिनापुर की सेना का संचालन करेंगे... हस्तिनापुर के पक्ष में युद्ध करेंगे।"

दुर्योधन की यह माँग सुनकर शल्य चकराये... यह क्या हो गया! किन्तु बाण धनुष से छूट चुका था। वे अपना वचन वापस भी नहीं ले सकते थे।

"क्या तुम्हें विश्वास है..." शल्य ने खोजती दृष्टि दुर्योधन पर डाली, "कि मै अपनी अनुजा के पुत्रों के विरुद्ध तुम्हारे पक्ष में युद्ध कर सकूँगा?"

"अब वरदान तो आप दे ही चुके हैं, मामाश्री!" दुर्योधन ने अपनी दृष्टि से ही शल्य को तौलते हुए कहा, "वीर तो जो वचन एक बार दे दें, प्राण देकर भी निभाते हैं।"

"तो तुम मेरे प्राणों के ग्राहक हो दुर्योधन?" शल्य ने कुछ कटु होते हुए कहा, "तो चलो ऐसा ही सही। किन्तु मेरे मन पर मेरा वश न चले, तो मुझे दोष न देना।"

"दोष क्यों दूँगा मामाश्री!" दुर्योधन की आँखों मे विजयोल्लास की चमक थी। मेरे लिए तो यही बहुत है कि आप पाण्डवों के पक्ष में मेरे विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे।"

अपनी इस कूटनीतिक विजय पर प्रसन्न होकर दुर्योधन को एक बार फिर लगा कि उसने एक और बड़ा दाँव जीत लिया।

कुछ दिनों की यात्रा के बाद शल्य जब, इस अपराध-बोध के साथ युधिष्ठिर से मिले तो अपने मन की व्यथा छिपा नहीं पाये।

"पुत्र युधिष्ठिर!" उन्होंने कुशल-प्रश्नों के बाद तुरन्त ही कहा, "मैं निकला तो था तुमसे मिलकर तुम्हारा मनोबल बढ़ाने के लिए... किन्तु राह में ही बटमारों ने मुझे लूट लिया। मैं तुम्हारा अपराधी बनकर तुम्हारे सम्मुख खड़ा हूँ।" यह कहकर उन्होंने दुर्योधन के साथ घटी सारी घटना, और उसे दिये हुए अपने वचन की बात कह सुनायी।

"दु:ख न करें मामाश्री!" युधिष्ठिर ने शान्त स्वर में कहा, "एक बार वचन देकर उसका निर्वाह करना ही आपको शोभा देता है। किन्तु मुझे विश्वास है कि आपका आशीर्वाद हम लोगों के ही साथ रहेगा।"

"कैसा विचित्र विभाजन है!" शल्य ने दु:खी स्वर में कहा, "एक ओर स्वयं मैं... और दूसरी ओर मेरा आशीर्वाद।"

"है तो विचित्र संयोग ही..." युधिष्ठिर ने मुस्कराकर कहा, "कुछ ऐसा ही विचित्र विभाजन कृष्ण ने भी किया है..." यह कहते हुए युधिष्ठिर ने कृष्ण द्वारा स्वयं को विभाजित करने की बात बतायी।

"किन्तु मैं युद्ध कैसे करूँगा वत्स?" शल्य ने हताश होते हुए कहा, "जब मेरा मन तुम्हारे साथ होगा।"

"जब आपका मन ही हमारे साथ होगा, मामाश्री!" अर्जुन ने मुस्कराते हुए कहा, "तो फिर चिन्ता कैसी... आप हमारा मनोबल बढ़ाते रहिएगा।"

"अर्थात्..." शल्य ने मुस्कराकर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा, "दुर्योधन का मनोबल गिराता रहूँ?"

"यह निर्णय तो आपका मन करेगा, मामाश्री!" भीमसेन ने कहा, "यदि आप दुर्योधन के प्रति वचन बद्ध हों... तब भी, उसकी सेना में अन्य महारथी भी होंगे, जिन्हें आप हम लोगों के प्रति अन्याय करने से रोक सकते हैं। उनका मनोबल तो गिरा ही सकते हैं..."

इस प्रकार पाण्डवों से मिलकर, उन्हें आशीर्वाद देते हुए शल्य लौट गये।

युद्ध की घटाएँ घिरती जा रही थीं। कौरवों तथा पाण्डवों में अपनी-अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए अनेक राजा अपनी सेना-सहित दोनों ओर एकत्रित होते जा रहे थे।

युधिष्ठिर की ओर से युद्ध करने का बीड़ा उठाकर यादव महारथी सात्यिक, चेदिराज धृष्टिकेतु, मगधराज जयत्सेन, सागरतटवर्ती पाण्ड्यराज आदि अपनी विशाल सेनाएँ लेकर आ पहुँचे। मत्स्यराज विराट की सेना के साथ ही उनके अनेक सहयोगी पर्वतीय राजा आ जुड़े।

दूसरी ओर राजा भगदत्त, कृतवर्मा, भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशीय यादव, दुर्योधन को सहायता देने के लिए पहुँचे। सिन्धु-सौवीर से जयद्रथ, काम्बोजनरेश सुदक्षिण, माहिष्मतीपुरी के राजा नील, अवन्ति से विन्द और अनुविन्द, तथा केकयनरेश अपने भाइयों-सहित दुर्योधन को सहयोग देने के लिए पहुँच गये।

इस प्रकार जहाँ पाण्डवों को समर्थन देने के लिए कुल सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित हुई, वहीं दुर्योधन के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना आ जुटी। दुर्योधन का

मन अपने पक्ष में एकत्रित सेनाओं को देखकर बल्लियों उछल रहा था। उन सेनाओं की रंग-बिरंगी ध्वजा-पताकाओं को देखकर वह उत्साह से भर उठता था... और पाण्डवों के प्रति उसका मन उग्र से उग्रतर होता चला जाता था।

धृतराष्ट्र ने, अपने सूत एवं सहयोगी संजय को युधिष्ठिर के पास उपप्लव्य नगर भेजने का निर्णय लिया। किन्तु जब संजय उनके सम्मुख आकर खड़े हुए तो धृतराष्ट्र उलझन में पड़ गये... कि क्या कहें! वे कहना तो बहुत कुछ चाहते थे किन्तु समस्या अपने मन का भार उतार फेंकने की नहीं, युधिष्ठिर को उनके प्रस्ताव का उत्तर देने की थी। द्रुपद के पुरोहित स्पष्ट रूप से पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ का राज्य वापस माँगने आये थे... वह राज्य जो उनका प्रिय पुत्र दुर्योधन देने के पक्ष में नहीं था।

समय बड़ा बलवान होता है... धृतराष्ट्र सदैव सुनते ही नहीं मानते भी आये थे। समय के... भाग्य के निर्णय को उनसे बढ़कर भला किसने झेला होगा! उन्होंने सुना था कि समस्या जब विकट रूप धारण कर के आ खड़ी हो, तब उससे टकराने के स्थान पर, कभी-कभी निर्णय टाल देना ही हितकर होता है। समय अपने आप ही कोई न कोई हल ढूँढ़ निकालता है। यही तो किया था उन्होंने... बारम्बार... अनेक बार।

"संजय!" धृतराष्ट्र ने गम्भीर स्वर में कहा, "तुम्हें युधिष्ठिर के पास जाना है... मेरा सन्देश लेकर। तुम्हें ज्ञात ही है कि आजकल वे मत्स्य राज्य के उपप्लव्य क्षेत्र में ठहरे हुए हैं।"

"मुझे ज्ञात हुआ था महाराज!"

"उनका कुशल-क्षेम पूछना..." धृतराष्ट्र ने कुछ सोचते विचारते हुए कहा, "और उन सब को मेरा आशीर्वाद देना।"

संजय को कुछ प्रतीक्षा के उपरान्त लगा कि सम्भवत: महाराज यह भूल गये कि उन्हें अपने अनुज-पुत्रों के लिए कोई सन्देश भी भेजना है। उन्होंने कुछ प्रतीक्षा के बाद मौन भंग करते हुए पूछा, "और क्या कहना है, महाराज?"

उस प्रश्न से धृतराष्ट्र जैसे सोते से जागे। कहना बहुत कुछ है... जैसे यह कि तुम्हारा कोई दोष नहीं था, फिर भी तुम तेरह वर्षों से राज्य से भ्रष्ट होकर वन-वन भटक रहे हो। तुम तो सदाचारी और गुण-सम्पन्न हो... धर्म का पालन करते रहे हो। दुर्योधन तथा कर्ण को छोड़कर सभी तो तुम्हारा सम्मान करते हैं। मैंने भी बड़ा प्रयत्न किया, तुममें कोई दोष ढूँढ़ने का... किन्तु तुममें तो कोई विकार है ही नहीं। अब तुम यह तेरह-वर्षीय दण्ड झेलकर भी लौट आये हो... और अपना राज्य पाना चाहते हो। तुम्हारी यह अपेक्षा भी ठीक है। किन्तु दुर्योधन नहीं मान रहा है... कारण! बस कुछ नहीं...

"उनसे कहना संजय!" धृतराष्ट्र की वाणी फिर लड़खलड़ायी। 'क्या कहना?' संजय से कुछ कहने के स्थान पर वे मन-ही-मन स्वयं अपने आप से प्रश्न कर रहे थे।

"तुम तो स्वयं बुद्धिमान हो संजय!" धृतराष्ट्र को स्वयं अपना मौन लम्बा खिंचता लगा, "तुम तो जानते ही हो कि राजाओं के बीच क्या संवाद होता है, कैसे होता है। उनसे बात करना। इस विषय में बात करना।

"मैं तो बस यह चाहता हूँ कि पारस्परिक कटुता न बढ़े। युद्ध की स्थिति न उत्पन्न हो। उनका मन जानने का प्रयत्न करना। उनसे बात करके समस्या का कोई हल निकालने का प्रयत्न करना। युधिष्ठिर अत्यन्त सरल-स्वभाव का तथा धर्मनिष्ठ है। वह स्वयं ही युद्ध नहीं चाहेगा... कभी नहीं।"

"युद्ध तो कोई भी नहीं चाहेगा, महाराज!" संजय ने विनम्रतापूर्वक कहा, "किन्तु मात्र चाहने अथवा न चाहने से क्या होगा?"

"बहुत कुछ हो सकता है संजय!" धृतराष्ट्र को अपना संवाद बढ़ाने के लिए एक नयी दिशा प्राप्त हुई। "सुना नहीं तुमने... इच्छा में बड़ी शक्ति होती है, बड़ा बल होता है।"

"आप की इच्छा सफल हो महाराज!" संजय ने गम्भीर स्वर में कहा, "तो मैं आपकी ओर से क्या उत्तर दूँ उन्हें?"

"मेरी ओर से?" धृतराष्ट्र पुनः उलझन में पड़ गये। "कह तो दिया तुमसे। बस यही कह देना। युधिष्ठिर स्वयं ही कोई मार्ग निकाल लेंगे। तुम जाओ संजय! एक बार उनसे बात करके तो देखो... उनका मन जानने का प्रयास तो करो।"

संजय धृतराष्ट्र को प्रणाम करके चले गये... तब धृतराष्ट्र को स्वयं ही अपने संदेश की निरर्थकता का आभास हुआ। किस काम का यह सन्देश! कि कटुता न हो, युद्ध न हो, बिना यह बताये हुए कि वे अब अपना राज्य किस प्रकार प्राप्त करें? तेरह वर्ष वन-वन भटकने के पश्चात् अब क्या करें... कहाँ जाएँ? यह अपेक्षा किस अर्थ की कि युधिष्ठिर इस समस्या का हल ढूँढ़े! वे स्वयं कोई हल क्यों नहीं ढूँढ़ते? कोई मार्ग क्यों नहीं सुझाते? दुर्योधन को क्यों नहीं समझाते?

किन्तु उसे क्या समझाएँ? कैसे समझाएँ? उसे तो वे बचपन से ही समझाते आ रहे हैं... बस, वह नहीं समझ रहा है, तो नहीं समझ रहा है। तो वे क्या करें? उन्हें स्मरण हुआ, कि एक बार उन्होंने विदुर से पूछा था... कोई उपाय, इस पारस्परिक कटुता से उबर पाने का कोई उपाय। किन्तु क्या हाथ लगा! विदुर ने अपने स्वभाव के अनुरूप स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि दुर्योधन को हठ त्यागने का आदेश दिया जाए... और यदि वह न माने तो उसे कारागार में डाल दिया जाए...

यह भी कोई हल हुआ! धृतराष्ट्र का मन सोचते-सोचते ही विदुर के प्रति कटुता

से भर गया। कारागार में? पुत्र को कारागार में? विदुर को क्या बिलकुल ही नहीं पता कि पुत्र का स्नेह क्या होता है! पुत्र के प्रति ऐसे व्यवहार की कोई कल्पना भी कैसे कर सकता है!

किन्तु विकल्प क्या है? धृतराष्ट्र को लगा कि वे चलते हुए किसी पाषाण स्तम्भ से जा टकराये हैं। कहाँ से आ जाते हैं ये निर्मम स्तम्भ, जो बारम्बार उनकी राह रोककर उन्हें आहत करते रहते हैं?

कैसा स्तम्भ है यह...? दुर्योधन! क्यों इतना हठी है वह? अपना हठ त्याग क्यों नहीं देता? और वे अपने पुत्र के आगे इतने निर्बल क्यों हो जाते हैं... इतने विवश क्यों हो जाते हैं?

संजय के मन में भी कुछ ऐसी ही उथल-पुथल चल रही थी। हस्तिनापुर से उपप्लव्य पहुँचने तक, मार्ग में, वे निरन्तर यही सोचते रहे थे कि युधिष्ठिर से जाकर क्या कहेंगे! उनके स्वामी ने उन्हें कोई सुनिश्चित संदेश दिये बिना ही संदेशवाहक बनाकर भेजा था, 'मैं परिवार में पारस्परिक वैमनस्य नहीं चाहता.. मैं युद्ध की स्थिति नहीं उत्पन्न होने देना चाहता....' यही तो कहा था उन्होंने और बस यह, 'कि जाओ... जाओ तो, और युधिष्ठिर का मन जानने का प्रयत्न करो... कि वह क्या चाहता है।'

यह तो कोई जानने योग्य बात नहीं थी। वे जानते थे.. और महाराज धृतराष्ट्र स्वयं भी जानते थे कि युधिष्ठिर अपना राज्य वापस चाहते हैं। द्यूत में जो भी हुआ हो, जैसे भी हुआ हो, उसके नियमानुसार बारह वर्ष वन में, तथा एक वर्ष अज्ञातवास में व्यतीत करने के बाद, वे पुनः अपना राज्य प्राप्त करना चाहते हैं। नियमानुसार इतने कष्ट झेलने के बाद, कोई भला और क्या चाहेगा! इसी उद्देश्य से तो उन्होंने एक दूत भेजा था... जिसे महाराज ने यह कहकर वापस भेज दिया कि वे अन्य सभी से परामर्श करके दूत द्वारा अपना उत्तर भेजेंगे। किन्तु यह तो कोई उत्तर नहीं हुआ।

फिर भी, संजय अपने महाराज के आदेश पर उनके दूत बनकर जा रहे थे। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए उन्हें अपने स्वामी का पक्ष प्रस्तुत करना था। उनकी इच्छा को ध्यान में रखते हुए स्थिति का आकलन करना था... उनका निहित संदेश युधिष्ठिर तक पहुँचाना था।

निहित सन्देश! अर्थात्... 'मैं सहमत हूँ कि अब तुम्हें राज्य प्राप्त हो जाना चाहिए। किन्तु दुर्योधन तुम्हें राज्य नहीं देना चाहता... मैं उसकी हठ-धर्मी के आगे विवश हूँ। तुम उसका यह हठ स्वीकार कर लो, अन्यथा परस्पर कलह होगी... परस्पर रक्त-पात होगा... वंश का विनाश होगा... जो मैं नहीं चाहता। तुम तो धर्म-पालक हो... इस अप्रिय स्थिति से मुझे उबार लो। वंश को नष्ट होने से बचा लो।'

युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डवों से मिलकर औपचारिक कुशल-प्रश्नों के बाद संजय मौन होकर बैठ गये... जैसे सोच रहे हों कि कर्तव्य का निर्वाह किस प्रकार किया जाए। युधिष्ठिर भी मौन थे... इस प्रत्याशा में कि पूर्व सूचना के अनुसार, संजय उनके लिए महाराज धृतराष्ट्र का सन्देश लेकर पधारे हैं। अत: संवाद की पहल संजय को ही करनी थी।

"भविष्य के विषय में क्या योजना है, धर्मराज?" संवादहीनता से ऊबकर संजय को ही पहल करनी पड़ी, "आपके ज्येष्ठ पिताश्री आप लोगों के विषय में चिन्तित हैं... आप सबसे मिलने को भी उत्सुक हैं।"

"योजना?" युधिष्ठिर को संजय के सन्देश का संकेत स्पष्ट हो गया, "हमारी योजना क्या हो सकती है... इसके अतिरिक्त, कि हमलोग लौटकर अपने राज्य में रहें। प्रजा-पालन में भविष्य का समय व्यतीत करें। इसी अनुरोध के साथ तो हमने दूत भेजा था, ज्येष्ठ पिताश्री के पास।"

"वे तो पहुँचे थे महाराज के पास..." संजय को पुन: एक अवरोध ने घेर लिया। "महाराज ने उस विषय में बड़ा सोच-विचार किया। किन्तु वे किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाये। आप जानते ही हैं धर्मराज कि महाराज दूरदर्शी हैं... और वे परिवार के बडे भी हैं। जहाँ एक ओर उनकी हार्दिक इच्छा है कि परिवार में सद्भाव बना रहे, सम्बन्धों में कटुता न आये... वहीं वे यह भी चाहते हैं कि राज्य में शान्ति बनी रहे.. कहीं कोई युद्ध न हो, हिंसा न हो।"

"निर्णय लेने मे क्या बाधा है?" युधिष्ठिर ने शान्त रहते हुए पूछा, "मेरे निवेदन में क्या कहीं कुछ अनुचित दिखा उन्हें?"

"बात मात्र उन्हें उचित अथवा अनुचित लगने की नहीं है धर्मराज!" संजय ने भी उस निहित सन्देश के अनुरूप शब्द खोजते हुए कहा, "प्रस्ताव को व्यावहारिक भी होना चाहिए। महाराज को आपका प्रस्ताव व्यावहारिक नहीं लगा... उससे व्यापक हिंसा होने की सम्भावना है।"

"इसमें अव्यावहारिक क्या है श्रीमन्!" युधिष्ठिर के मुख पर ही नहीं, स्वर में भी आश्चर्य उभर आया था। "द्यूत के नियम-बन्ध का पालन करते हुए, हमलोग वनवास तथा अज्ञातवास का समय व्यतीत करके लौटे हैं... और अब अपना राज्य प्राप्त करना चाहते हैं।"

"यह व्याख्या तो आपकी है, धर्मराज!" संजय ने कूटनीतिक मार्ग अपनाते हुए कहा, "दृष्टियों में मत-भेद भी हो सकते हैं... कभी-कभी हो ही जाते हैं। सम्भव है कि कोई इस स्थिति को दूसरी ही दृष्टि से देखे... जैसे-जैसे..."

"जैसे?" युधिष्ठिर ने सहज ही प्रश्न किया।

"जैसे यह कि आपके वन-गमन का समय कब से प्रारम्भ होता हुआ माना जाए..."

"स्पष्ट है..." भीमसेन ने कहा, "द्यूत के दिन से... जिस दिन महाराज युधिष्ठिर ने अपना मुकुट उतारकर, तन पर तपस्वियों जैसे वस्त्र धारण किये थे।"

"मैंने तो बस उदाहरण दिया था..." संजय ने कहा, "यहीं तो मतभेद उत्पन्न होते हैं। किसी के मतानुसार वन-गमन वन में पहुँचने के दिन से प्रारम्भ होगा और किसी की दृष्टि में राज्य की सीमा पार करने के दिन से... और किसी की दृष्टि में..."

"सम्भवत: उस दिन से..." नकुल ने कुछ उग्र होते हुए व्यंग्य में कहा, "जिस दिन दुर्योधन ने हमें पहली बार स्वयं वन में देखा!"

"मैं तो बस उदाहरण दे रहा था..." संजय ने संकोच भरे स्वर में कहा, "ऐसे ही तो मतभेद उत्पन्न होते हैं... और महाराज को राज-प्रमुख होने के नाते ही नहीं, कुल-ज्येष्ठ होने के कारण भी, सभी पक्षों के मत को सम्मान देना होता है।"

"जो महाराज को करना हो, वे अवश्य करें..." युधिष्ठिर ने हताश होते हुए कहा, "मैंने तो बस यह निवेदन किया था कि, उनके आदेशानुसार, तेरह वर्ष की अवधि राज्य से दूर बिताकर अब हमलोग लौट आये हैं... अब हमें हमारा राज्य प्राप्त हो जाना चाहिए। आप कृपया बताएँ कि हमारी इस माँग में क्या अनुचित है? और यदि कुछ अनुचित नहीं है, तो इस कार्य में बाधा क्या है?"

संजय निरुत्तर थे... यही तो वह प्रश्न था जिसका उत्तर दिये बिना धृतराष्ट्र ने उन्हें युधिष्ठिर के पास भेजा था।

"स्थिति इतनी सरल नहीं है..." संजय ने विषय को उलझाते हुए कहा, "सभी पक्षों पर विचार करते हुए महाराज को लगता है कि यह सम्भव नहीं है, वे विकल्प खोज रहे हैं... और इस विषय में आपका मन जानना चाहते हैं। किन्तु एक बात पर वे स्पष्ट हैं, और वह यह कि युद्ध कोई विकल्प नहीं होता।"

"श्रीमन्!" युधिष्ठिर ने निराश स्वर में क्या, "आप जो कुछ कह रहे हैं, उसके बाद मेरे पास विकल्प ही क्या रह जाता है! यदि कोई विकल्प हो तो कृपया आप सुझाएँ... अथवा यदि ज्येष्ठ पिताश्री ने बताया हो तो कृपया मुझे सुनाएँ।"

"उन्होंने कुछ बताया तो नहीं..." कहते-कहते संजय को एक सूत्र मिला, "किन्तु वे यह सुनकर बड़े आहत एवं दु:खी हैं कि आप युद्ध द्वारा अपना राज्य प्राप्त करने के विषय में सोच रहे हैं। युद्ध अधर्म का मार्ग है, धर्मराज! युद्ध में व्यापक हिंसा होती है... निर्दोष प्राणियों का भी रक्त-पात होता है। और फिर यह युद्ध तो अपने ही वंश का नाश करेगा।"

"मैं सहमत हूँ..." युधिष्ठिर ने कहा, "मैं भी युद्ध नहीं चाहता।"

"तो युद्ध का विचार त्याग दीजिए धर्मराज!" संजय ने विषय का सूत्र पकड़ते हुए साग्रह कहा, "युद्ध का विचार आपको शोभा नहीं देता। हिंसा एवं रक्त-पात द्वारा यदि आपको राज्य प्राप्त भी हुआ तो निरन्तर दु:ख ही देगा... आपकी धवल कीर्ति पर कलंक लगाकर लोक-परलोक दोनों ही बिगाड़ेगा।"

"युद्ध की स्थिति न आये..." युधिष्ठिर ने शान्त रहते हुए कहा, "इसी उद्देश्य से तो हमने शान्तिपूर्वक राज्य प्राप्त करने के लिए दूत भेजा था। किन्तु यदि सहज रूप में अपना अधिकार प्राप्त न हो तो विकल्प ही क्या रह जाता है?"

"विकल्प कुछ भी हो धर्मराज!" संजय ने अपने प्रत्येक शब्द पर बल देते हुए कहा, "युद्ध नहीं होना चाहिए। चाहे इसे महाराज का परामर्श समझ लें... अथवा ज्येष्ठ पिताश्री का आदेश।"

"मैं तो स्वयं ही अधर्म से भय करता हूँ..." युधिष्ठिर ने चिन्तित स्वर में कहा, "अधर्म द्वारा संसार का बड़े-से-बड़ा सुख भी नहीं पाना चाहूँगा। कोई मुझे यह तो बताए कि धर्म-पूर्वक तेरह वर्ष का दण्ड भुगतने के पश्चात् अपना खोया हुआ राज्य वापस माँगने में भला अनुचित क्या है!"

इसी बीच कृष्ण आकर उन सबके बीच बैठ चुके थे। युधिष्ठिर ने उनकी ओर मुड़ते हुए कहा, "यदुनन्दन! ज्येष्ठ पिताश्री को मेरे द्वारा इन्द्रप्रस्थ की माँग व्यावहारिक नही लगती और उनकी यह भी इच्छा है कि युद्ध न हो। इस विषय में मेरा मत जानने के लिए उन्होंने इन्हें भेजा है।" युधिष्ठिर ने संजय को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं सब कुछ वासुदेव कृष्ण से परामर्श करके ही करता हूँ।"

संजय ने कृष्ण के सम्मुख भी वह सारी पृष्ठभूमि दुहरायी... यह जानते हुए भी कि जो कुछ वे कह रहे हैं उसका यथार्थ स्वयं उन्हें ही स्पष्ट नहीं है। किन्तु उन्हें अपने कर्तव्य का निर्वाह करना था... अपने स्वामी का निहित सन्देश पाण्डवों तक पहुँचाना था, यह बताए बिना कि महाराज की वास्तविक विवशता क्या है। उन्हें लगा था कि जैसे तैसे वे युधिष्ठिर को, उनके धर्माचरण के बन्धन में बाँधकर, कुछ सीमा तक अपना मन्तव्य समझाने में सफल हुए थे। किन्तु अब उनका सामना कृष्ण से था.

कृष्ण ने शीघ्र ही वह प्रसंग उठाया जिधर युधिष्ठिर, संकोच के कारण अथवा संजय के वाक्जाल में उलझकर, संकेत नहीं कर पा रहे थे।

"यह तो महाराज की दूरदर्शिता है, संजय!" कृष्ण ने कहा, "जो वे सभी पक्षों को ध्यान में रखकर निर्णय लेना चाहते हैं। किन्तु क्या उन्होंने यह बताया कि पाण्डवों की माँग में अनुचित अथवा अव्यावहारिक क्या है? और क्या है वह पक्ष, अथवा क्या हैं वे बाधाएँ जिनके चलते महाराज पाण्डवों को उनका राज्य नहीं दे पा रहे हैं?"

संजय इस स्पष्ट प्रश्न-प्रहार के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने कहा, "वासुदेव! दूत का कर्तव्य अपने स्वामी का सन्देश पहुँचाना होता है... बस उतना, जितना उसे प्राप्त हुआ हो।"

"तो तुम अपूर्ण सन्देश लेकर आ गये संजय!" कृष्ण ने पुनः स्पष्ट शब्दों में कहा,

"जानने योग्य बात यह है कि महाराज पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का राज्य वापस क्यों नहीं देना चाहते? स्वयं उनकी दृष्टि में इस माँग में क्या है, जो उन्हें अनुचित लगता है... अथवा कोई अन्य है जो उन्हें पाण्डवों की यह माँग अस्वीकार करने के लिए विवश कर रहा है।"

"आपको स्वयं महाराज से यह प्रश्न पूछना होगा, वासुदेव!" संजय ने विनम्र स्वर में कहा।

"अवश्य संजय! वह तो मैं पूछूँगा ही..." कृष्ण ने दृढ़तापूर्वक कहा, "किन्तु पूरी बात जाने बिना यह जो तुमने युधिष्ठिर को धर्म का भय दिखाया, यह बात मुझे उचित नहीं लगी। धर्म-पालन सभी का कर्तव्य है। जब धर्म का पालन सभी करें, तभी समाज में धर्म सधता है। किसी को धर्म के उल्लंघन की छूट देकर, अन्य किसी को धर्माचरण का उपदेश देना न्याय नहीं होता संजय!"

निरुत्तर होकर संजय ने अपना सिर झुका लिया।

"संजय!" कृष्ण ने सुस्पष्ट गम्भीर स्वर में कहा, "यदि वास्तव में तुम्हें यह न पता हो कि वह अन्य पक्ष क्या है, अथवा वह विवशता क्या है, जिसके कारण महाराज को पाण्डवों का अपना राज्य माँगना अव्यावहारिक लग रहा है, तो वह तुम्हें मैं बताए दे रहा हूँ। यदि साहस हो तो तुम स्वयं निष्पक्ष होकर इस पर विचार कर देखना। वह है दुर्योधन का हठ... उसका दुराग्रह, जिसे वह शकुनि, कर्ण, दुःशासन जैसे अपने समर्थकों के बल पर त्यागना नहीं चाहता। और वह विवशता है महाराज धृतराष्ट्र का पुत्र-प्रेम, जिसके वशीभूत होकर वे अपने अनुज-पुत्रों के प्रति अन्याय करने में भी नहीं संकोच कर रहे हैं।"

"आप जो चाहें, कहने में समर्थ हैं, देवकीनन्दन!" संजय ने विनम्र वाणी मे कहा, "मैं तो दास हूँ अपने स्वामी का... अपने धर्म से बँधा हूँ। मेरे कर्म की सीमा आदेश पालन करने तक ही है। मेरा धर्म मुझे प्रश्न पूछने का अधिकार नहीं देता।"

"तो प्रश्न पूछने के लिए मुझे ही आना होगा!" कृष्ण ने कहा, "यद्यपि मुझे सन्देह है कि मेरे प्रश्न करने का कोई सार्थक परिणाम निकलेगा... किन्तु शान्ति के हित मे मैं एक बार प्रयास अवश्य करूँगा, और यदि सफल हो सका तो अपने आप को धन्य मानूँगा। संजय! बता देना अपने महाराज को कि पाण्डव हर स्थिति के लिए तैयार हैं, शान्तिपूर्वक अपना राज्य पाकर उनकी सेवा करने के लिए भी और, यदि विवश किया गया तो, युद्ध के लिए भी। अब निर्णय उन्हीं के हाथों में है।"

इस स्पष्ट वार्ता के पश्चात्, संजय ने युधिष्ठिर से हस्तिनापुर लौटने के लिए औपचारिक आज्ञा माँगी, "धर्मराज! अब मुझे आज्ञा दें। अपने स्वामी का सन्देश सुनाते

समय यदि अनजाने में मुझसे कोई अविनय हुआ हो, तो मैं उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

"संजय!" युधिष्ठिर ने मुस्कराते हुए कहा, "तुम्हारे जैसे व्यवहार-कुशल एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति से अविनय होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। और इस समय तो तुम महाराज धृतराष्ट्र के दूत बनकर आये हो... उनका सन्देश, उनके हित को सर्वोपरि रखते हुए, यथावत् पहुँचाना तुम्हारा कर्तव्य था। इस पर भी, अर्जुन के प्रिय सखा होने के नाते, तुम मेरे अनुजवत् हो। मेरे मन में तुम्हारे प्रति कोई कटुता नहीं है।

"हस्तिनापुर जाकर सभी गुरुजनों को मेरा कर-बद्ध प्रणाम कहना और मेरी ओर से निवेदन करना कि मैं स्वयं ही युद्ध नहीं चाहता। किन्तु यदि दुर्योधन के दुराग्रहवश, तेरह वर्ष तक वनों में कष्ट भोगने के बाद भी, हमें हमारा राज्य नहीं दिया गया तो, जैसा वासुदेव कृष्ण ने अभी तुमसे कहा, हमें शस्त्र उठाने पर विवश होना पड़ेगा। सब गुरुजनों से मेरी विनती है कि वे ऐसी स्थिति न आने दें।

"दुर्योधन से कहना कि वह हम लोगों के प्रति शत्रुता का भाव त्याग दे, जिससे हम मिलकर अपने पूर्वजों के राज्य को एक शक्तिशाली एवं आदर्श राज्य बना सकें। उससे कहना कि अकारण द्वेष वश वह कुरु-वंश के नाश का कारण न बने।

"महाराज से कहना, यदि हमें हमारा सम्पूर्ण राज्य लौटाने में कोई विशेष बाधा हो तो वे हम लोगों को अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत और पाँचवाँ कोई भी एक गाँव दे दें। हम पाँचों भाई पाँच गाँव पाकर ही सन्तोष कर लेंगे... क्योंकि हम युद्ध नहीं चाहते, शान्ति चाहते हैं।"

युधिष्ठिर के प्रस्ताव से संजय को आश्चर्य हुआ... अपना राज्य छोड़कर ये केवल पाँच ग्राम पाकर ही सन्तोष कर लेंगे! किन्तु क्यों? क्या मात्र शान्ति बनाये रखने के लिए? कहीं ये दुर्योधन के बढ़ते हुए सैन्य बल से भयभीत तो नहीं हो रहे हैं!

उन्होंने पाण्डवों को प्रणाम करके हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

अपनी उलझन में धृतराष्ट्र ने संजय को युधिष्ठिर के पास भेज तो दिया था किन्तु उनका मन शान्त नहीं हो पा रहा था। अपनी चिन्ताओं में घिरे, उन्होंने विदुर से विस्तार में चर्चा की। विदुर ने अपना परामर्श देने के पश्चात् महर्षि सनत्सुजान का धर्मोपदेश भी धृतराष्ट्र को सुनाया, जिसमें उनकी अनेक समस्याओं तथा चिन्ताओं पर चर्चा थी...

वह सब जानने के बाद भी, धृतराष्ट्र का मन दुर्योधन के हठ पर आकर अटक जाता था... कहीं कोई ऐसा ज्ञान क्यों नहीं है जो पुत्र-प्रेम का विवशता से उबरने का मार्ग दिखा सके! कहीं कोई ऐसा ज्ञानी क्यों नहीं है जो दुर्योधन को हठ त्यागने का मन्त्र दे सके!

संजय ने भरी सभा में धृतराष्ट्र को युधिष्ठिर का सन्देश सुनाया। उस समय सभा में भीष्म, विदुर, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शकुनि, दुर्योधन, कर्ण आदि के अतिरिक्त शल्य, कृतवर्मा, जयद्रथ, अश्वत्थामा, सोमदत्त, दुःशासन, उलूक, विविंशति आदि उपस्थित थे।

युधिष्ठिर तथा कृष्ण के साथ अपनी वार्ता का विस्तार से वर्णन करते हुए संजय ने कहा, "धर्मराज ने कहा कि 'हमने जो माँगा है वह न्यायोचित तथा धर्म-सम्मत है। यदि इस पर भी अकारण, अथवा दुर्योधन के लोभ तथा हठ के कारण, हमारे साथ अन्याय किया गया तो हमें युद्ध करने के लिए विवश होना पड़ेगा। ज्येष्ठ पिताश्री से कहना कि मैं स्वयं ही युद्ध नहीं चाहता... हमारे कुल के गुरुजनों से कहना कि वे कुछ ऐसा करें कि हमें राज्य में हमारा न्यायोचित भाग मिल जाए और युद्ध की स्थिति उत्पन्न न हो... हमारे वंश का विनाश बच जाए। हम शान्ति चाहते हैं किन्तु यदि हमारे साथ अन्याय हुआ तो हम युद्ध करने में भी समर्थ हैं।'

"महाराज! वासुदेव कृष्ण ने भी, युद्ध की विभीषिका से बचने का परामर्श देते हुए, आपसे न्याय का मार्ग अपनाने का अनुरोध किया है। अन्यथा, अपने बल का वर्णन करते हुए, उन्होंने भयंकर परिणाम की चेतावनी दी है। वे इस सम्बन्ध में स्वय ही आपसे बात करने आना चाहते हैं।

"स्वामी! शान्ति के पक्ष में धर्मराज ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि किसी विवशता के कारण उन्हें इन्द्रप्रस्थ का साम्राज्य देना आपके लिए सम्भव न हो, तो आप उन्हें अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा अपनी इच्छानुसार पाँचवाँ कोई एक ग्राम दे दें... वे पाँचों भाई उसी में सन्तोष कर लेंगे।"

संजय द्वारा सुनाया हुआ युधिष्ठिर का सन्देश सुनकर भीष्म ने कहा, "युधिष्ठिर का प्रस्ताव अत्यन्त धर्म-सम्मत है। पाण्डव पहले भी बल-सम्पन्न थे। वे चाहते तो वनवास के लिए जाने का विरोध करके, बल-प्रयोग द्वारा ही राज्य पर बने रह सकते थे। किन्तु धर्म एवं शान्ति के हित में उन्होंने तेरह वर्ष का कष्ट झेलना स्वीकार किया। अब उन्हें उनका राज्य देने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए, अन्यथा हस्तिनापुर को उनका क्रोध झेलना होगा, जो हमारे राज्य तथा कौरव कुल दोनों के ही लिए विनाशकारी होगा। पाण्डवों की शक्ति को किसी भी प्रकार कम समझना भारी भूल होगी। वे पहले भी महान शक्तिशाली थे... और अब तो कृष्ण की सहायता पाकर वे सर्वथा अजेय हो गये हैं।"

"आप व्यर्थ ही पाण्डवों की शक्ति का भय दिखा रहे हैं, पितामह!" कर्ण ने गम्भीर स्वर में उन्हें टोकते हुए कहा, "पाण्डव न तो कभी अजेय थे... और न हैं। यदि स्वयं उन्हें ही अपने बल पर विश्वास होता तो वे इतनी सरलता से भयभीत

होकर इन्द्रप्रस्थ पर अपना अधिकार न छोड़ देते... राज्य के बदले पाँच गाँव के लिए न गिड़गिड़ाने लगते। उनका बल क्या है, यह मैं भली-भाँति जानता हूँ। उन पाँचों को तो युद्ध में मैं अकेला ही मारने में समर्थ हूँ।"

"वत्स धृतराष्ट्र!" भीष्म ने विहँसते स्वर में कहा, "इस बड़बोले की बातों पर न जाओ। यह तो बारम्बार उनसे हारता रहता है, और फिर भी बढ़-चढ़कर डींग मारता रहता है। कोई इससे पूछे कि अभी, मत्स्य में ही, जब अर्जुन ने इसे घायल करके इसके छोटे भाई का वध कर दिया था, तब ही इसने क्या कर लिया?"

"महाराज! गंगापुत्र भीष्म ठीक कह रहे हैं..." द्रोणाचार्य ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा, "पाण्डवों से वैर बाँधना हमें भारी पड़ेगा। धर्म का आग्रह भी यही है कि पाण्डवों को उनका राज्य लौटा दिया जाए।"

धृतराष्ट्र ने उन सबके परामर्श की अवहेलना करते हुए कहा, "संजय! क्या युधिष्ठिर को ज्ञात है कि हमारे पास कितनी विशाल सेना है! हमें किस-किस का सैन्य सहयोग प्राप्त है! और युधिष्ठिर ने अपने हित में कितना सैन्य बल एकत्रित किया है?"

"महाराज!" संजय ने कहा, "धर्मराज को हमारी सैन्य-शक्ति का ज्ञान है। उनके साथ पांचाल एवं मत्स्य साम्राज्य तो हैं ही, केकय के पाँचों धनुर्धर राजकुमार भी हैं, महारथी काशिराज हैं, शिशुपाल का पुत्र भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर उन्हीं के पक्ष में युद्ध करेगा। जरासन्ध-नन्दन सहदेव और जयत्सेन भी उन्हीं के साथ हैं और पूर्व तथा उत्तर दिशाओं के सैकडों राजाओं ने युद्ध में धर्मराज को समर्थन दिया है। इन सबके अतिरिक्त उनके पक्ष में यदुवंशी वीर हैं, जिनमें सात्यकि का अतुलनीय बल विक्रम सर्व-विदित है।"

युधिष्ठिर के सैन्य-बल का विवरण सुनकर धृतराष्ट्र चिन्तित हो गये।

"तो युधिष्ठिर ने भी इतनी विशाल सेना जुटा ली!" धृतराष्ट्र ने अपनी निस्तेज आँखों की पुतलियाँ घुमाते हुए कहीं दूर ऐसे देखा जैसे युधिष्ठिर की विशाल सेना को अपने सम्मुख खड़ा देख रहे हों। "यह तो बहुत है . मुझे तो वे पाँच भाई ही बहुत बलशाली लगते हैं। तुम सब अर्जुन के शस्त्रों तथा उसके पराक्रम का बखान करके भयभीत होते हो, किन्तु मुझे तो सबसे अधिक भीमसेन का भय सताता रहता है। कैसा बलशाली एवं क्रूर कर्मा है वह... कि मैं तो उसे स्मरण करके निरन्तर अपने पुत्रों के जीवन के लिए प्रार्थना करता रहता हूँ। जिसने महाबली जरासन्ध को निर्ममतापूर्वक मार डाला था... उससे तो बचकर रहने में भी बुद्धिमानी है।

"मैं ही बड़ा मन्द-मति हूँ... जो लोभ एवं पुत्र-प्रेम में पड़कर मैंने द्यूत का आयोजनकर डाला, जो महाविनाश की जड़ है। अब तो पाण्डवों के साथ युद्ध न करने मे ही मुझे कौरव-कुल का हित दिखाई देता है।"

"महाराज! आप चिन्ता त्याग दें।" धृतराष्ट्र को युद्ध के विषय में चिन्तित देखकर दुर्योधन ने कहा, "अभी आपको हमारी सैन्य-शक्ति का पूरा ज्ञान नहीं है। हमारे साथ अनेक शक्तिशाली योद्धा हैं और हमारे पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। इसके विपरीत पाण्डव, सारे प्रयत्न करके भी, केवल सात अक्षौहिणी सेना जुटा पाये हैं।

"भीमसेन को लेकर आप कोई भय न करें। आपको पता नहीं है, पिताश्री! कि इस समय मेरे जैसा गदा-युद्ध करने वाला संसार भर में कहीं कोई नहीं है। फिर हमारे साथ पितामह भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा जैसे महावीर हैं, जिनमे से प्रत्येक पाण्डवों को मारने में समर्थ है।

"पिताश्री! यह हमारे सैन्यबल तथा हमारे योद्धाओं के पराक्रम का ही प्रभाव है जो पाण्डव, अपना राज्य पाने का स्वप्न भूलकर, अब मात्र पाँच गाँव प्राप्त करने के लिए प्रार्थना कर रहे हैं।"

"तब समस्या क्या है पुत्र?" धृतराष्ट्र ने मनुहारते हुए कहा, "वैसे मेरी दृष्टि मे तो पाण्डवों को उनका सारा राज्य देना ही उचित है... किन्तु यदि वे सहमत है तो अब उन्हें पाँच गाँव देने में क्या आपत्ति है? वत्स, युद्ध तो कभी भी अच्छा नही होता... फिर यह स्वजनों के बीच युद्ध की बात तो मुझे और भी चिन्तित कर रही है। देखो, न तो मैं युद्ध कर सकता हूँ और न बाह्लीक उसके पक्ष में हैं। गंगा पुत्र भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, संजय, सत्यव्रत, पुरुमित्र, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा आदि भी तो युद्ध नहीं चाहते।"

"पिताश्री!" दुर्योधन ने गम्भीर एवं कठोर स्वर में कहा, "इन सबके चाहने से क्या होता है! मैंने इनके भरोसे नहीं, स्वयं अपने, कर्ण के तथा अनुज दुःशासन के बल पर युद्ध ठाना है। हम तीनों पाण्डवों को समाप्त कर देंगे या स्वयं वीर-गति प्राप्त करेंगे। पिताश्री, बारम्बार वही बात दुहराने से कोई लाभ नहीं, आप मेरा स्पष्ट मत सुन लें। मैं अपनी सम्पदा, अपना राज्य और अपना जीवन... सभी कुछ छोड़ सकता हूँ, किन्तु पाण्डवों के साथ रहना मेरे वश की बात नहीं। उन्हें पाँच गाँव तो क्या, सुई की नोक के बराबर भूमि भी मैं नहीं दे सकता।"

"और मेरे रहते युवराज दुर्योधन को कभी कोई क्षति नहीं होगी..." कर्ण ने सहसा उत्साह में अपना स्वर गुँजाते हुए कहा, "यह मेरा प्रण है। आप चिन्ता त्याग दें, महाराज! मेरे पास गुरुवर परशुराम द्वारा प्राप्त शिक्षा है... अकाट्य अस्त्र-शस्त्र हैं, जो अर्जुन के लिए सुरक्षित हैं। अर्जुन को मुझसे कोई नहीं बचा पाएगा। उसके बाद तो पाण्डव स्वयं ही निष्प्राण हो जाएँगे। उन सबको यम-लोक पहुँचाने का भार मुझ पर रहा। पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि को आप अपने पास ही रखें। उनके बिना भी इस युद्ध में विजयश्री हमें ही प्राप्त होगी।"

"अरे मूर्ख!" भीष्म ने उसे फटकारते हुए कहा, "अपने पिछले अनुभव से कुछ तो सीख। तेरा यह बड़बोलापन तुझे ले डूबेगा। जब अर्जुन से तेरा सामना होगा तो तेरा सारा शस्त्र-ज्ञान धरा रह जाएगा... तू पाण्डवों के बल के सम्मुख दो दिन भी नहीं टिक पाएगा। अपने साथ दुर्योधन तथा कौरव-वंश का विनाश तो न कर।"

"बहुत हो गया पितामह!" कर्ण ने उत्तेजित होकर गरजते स्वर में कहा, "मैंने बहुत सह लिये आपके व्यंग्य... अब या मैं नहीं या आप नहीं।"

फिर उसने दुर्योधन को सम्बोधित करते हुए कहा, "मित्र! बस तुम्हारे कारण मैं आज तक इनके दुर्वचन सहता रहा। किन्तु अब क्षमा करना... अब चाहे राज-सभा हो और चाहे रणभूमि, जहाँ ये रहेंगे... मैं कदापि नहीं आऊँगा।"

यह कहकर क्रोध में पैर पटकता हुआ कर्ण राज-सभा से बाहर चला गया। दुर्योधन ने आग्नेय नेत्रों से भीष्म की ओर देखा और अपना स्वर यथासम्भव सन्तुलित रखते हुए कहा, "पितामह! कर्ण एक महान योद्धा है, इसमें सन्देह नहीं। वह मेरा विश्वास-पात्र मित्र भी है। फिर आप क्यों निरन्तर उसका अपमान करते रहते हैं?"

उत्तर विदुर ने दिया, "वत्स दुर्योधन! बात उसके अपमान की नहीं... उसके वृथा अहंकार एवं पाण्डवों के प्रति द्वेष की है। स्वयं ही नहीं, उसने तुम्हारे मन में भी पाण्डवों के प्रति घृणा को निरन्तर बढ़ाया ही है। पुत्र, तुम पाण्डवों के साथ हिल-मिलकर सद्भाव-सहित रहो तो तुम्हारा राज्य, एक अपराजेय एवं आदर्श साम्राज्य बनकर, तुम्हारे कुल की कीर्ति को अमरत्व प्रदान करेगा। अन्यथा पारस्परिक द्वेष सारे वंश को ले डूबेगा।"

"ये ठीक कह रहे हैं वत्स दुर्योधन!" धृतराष्ट्र ने स्नेहभरी वाणी में कहा, "तुम अनजाने में ही, भ्रम में पड़कर, कुमार्ग को ही सुमार्ग समझ रहे हो। पाण्डवों को निर्बल समझना तुम्हारी भूल है, विशेषकर तब... जबकि कृष्ण उनके साथ मिल गये हैं। मैं तो तुम्हारा हितैषी हूँ। तुम्हारे तथा समस्त कौरव वंश के हित में तुमसे कह रहा हूँ कि पाण्डवों से सन्धि कर लो... उन्हें उनका राज्य दे दो।"

अपने परामर्श की प्रतिक्रिया में कोई उत्तर न पाकर धृतराष्ट्र ने पुनः कहा, "तुम सुन तो रहे हो पुत्र?"

यह सुनकर भी दुर्योधन प्रस्तर-मूर्ति बना चुप बैठा रहा। राज-सभा में सन्नाटा गहराने लगा तो धीरे-धीरे भीष्म, द्रोण, कृप के साथ सभा में उपस्थित सभी राजा, मन्त्री आदि चले गये।

उन सबके जाने की आहट पाकर धृतराष्ट को लगा कि वे अकेले हैं.. उनका मन तो हुआ कि दुर्योधन को पास बुलाकर, स्नेहपूर्वक, उसे एक बार फिर समझाएँ... किन्तु साहस नहीं हुआ। वे समझ नहीं पाए कि वह वहाँ है भी... या बिना प्रणाम किये, बिना आज्ञा लिये ही उठकर चला गया!

शान्ति-दूत बनकर कृष्ण के जाने के निश्चय से, युधिष्ठिर चिन्तित थे। उन्हें विश्वास था कि दुर्योधन अब तक हठ पर अड़ा रहा है, तो आगे भी नहीं मानेगा। उन्हें यह भी भय था कि उनके विनम्र प्रस्ताव को कहीं कायरता का संकेत न मान लिया जाए... और कहीं दुर्योधन कृष्ण का अपमान न कर बैठे।

"ऐसी कोई चिन्ता न करें भैया!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "मैं दोनों पक्षों के हित के लिए कौरव सभा में जाऊँगा... और यदि सम्मानजनक सन्धि करा सका तो अपने आप को धन्य मानूँगा।"

"मधुसूदन!" भीमसेन ने कृष्ण से शान्त स्वर में कहा, "तो हम लोगों की सैन्य-शक्ति की चर्चा किये बिना कुछ ऐसे बात कीजिएगा कि दुर्योधन के अहम् को ठेस न लगे... और वह सन्धि के लिए सहमत हो जाए।"

"अरे भैया!" कृष्ण ने हँसते हुए भीमसेन से पूछा, "यह अचानक क्या हो गया। आप तो दुर्योधन पर इतना क्रोधित थे... अब क्या युद्ध से भय लगने लगा?"

"नहीं वासुदेव!" भीमसेन ने शिथिल स्वर में कहा, "अन्य कहीं सारे संसार से भी मुझे युद्ध करना पड़ जाए, तो मैं अकेले ही लड़ लूँगा... किन्तु यहाँ अपने ही वंश के विनाश की बात सोचकर, अपने ही भाइयों के वध की कल्पना से मन काँप उटता है।"

अर्जुन तथा नकुल ने भी युद्ध की सम्भावना को बचाते हुए सन्धि के लिए परामर्श दिया, किन्तु सहदेव तथा सात्यकि का मत था कि सन्धि की बात भूलकर युद्ध का मार्ग ही उत्तम होगा, क्योंकि उसके बिना पापात्मा दुर्योधन को दण्ड नहीं दिया जा सकता। पाण्डवों के अधिकांश अन्य सहयोगी भी इसी पक्ष में थे कि युधिष्ठिर दुर्योधन के आगे और न झुकें... वह युद्ध चाहता है तो उसे युद्ध ही प्रदान किया जाए।

कृष्ण जब चलने को हुए तो, आँखो में आँसू भरे, द्रौपदी ने उनसे कहा, "जनार्दन! दुर्योधन को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। वह पापात्मा, दण्ड का भागी है। अब यदि वह जीवित बचा रह जाता है तो अर्जुन की धनुर्धरता और भीमसेन की बलवत्ता को धिक्कार है।"

दूसरे ही क्षण द्रौपदी ने अपने काले, घुँघराले बाल खींचकर दिखाते हुए कहा, "क्या मेरे यह केश आजीवन खुले ही रह जाएँगे। यदि मैंने दु:शासन की साँवली, मोटी भुजा को कटकर धूल में पड़ा न देखा तो कभी मेरे हृदय की ज्वाला शान्त नहीं होगी..." कहते-कहते उनके नेत्रों से आँसुओं की झड़ी लग गयी और उनके अधर काँपने लगे।

कृष्ण ने द्रौपदी को सान्त्वना देते हुए कहा, "पांचाली! इस समय मेरी दृष्टि मात्र

तुम्हारे केश पर नहीं टिक रही है। मुझ पर महाविनाश बचाने का उत्तरदायित्व भी है और धर्म की रक्षा करने का भी... आँसू पोंछ लो कल्याणी, यदि मेरा प्रयास विफल हुआ तो इन्हें बहाने के और भी अनेक अवसर आएँगे। मत भूलो कि तुम्हारे हृदय की ज्वाला से कहीं अधिक मूल्यवान है तुम्हारे पतियों, पुत्रों, भ्राताओं, पिता तथा अन्य सम्बन्धियों का जीवन। विश्वास रखो मुझ पर कि मैं वही प्रयास करूँगा जिसमें सबका हित हो।"

युधिष्ठिर ने कृष्ण को रथ पर बैठाते हुए अंजलि बाँधकर कहा, "आपका मनोरथ सफल हो, यदुनन्दन!"

"कार्तिक मास का रेवती नक्षत्र है, भैया!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "और मैत्री मुहूर्त में यात्रा प्रारम्भ कर रहा हूँ मैं। यदि अब भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ, तो समझिएगा कि विधि के विधान में यह युद्ध अवश्यम्भावी है।"

हस्तिनापुर के मार्ग में कृष्ण को परशुराम आदि अनेक ऋषि, मुनि मिले। उन्होंने युद्ध रोकने के प्रयास के लिए कृष्ण को साधुवाद दिया और उनमें से कुछ ने स्वयं भी हस्तिनापुर चलने की इच्छा व्यक्त की। कृष्ण ने उन्हें अपने साथ ले लिया।

उधर, जब धृतराष्ट्र को कृष्ण के आगमन की सूचना मिली तो उत्साह में भरकर उन्होंने नगर द्वार आदि को सजाने की आज्ञा दी और विदुर तथा दुर्योधन को बुलाकर, उनके भव्य-स्वागत का प्रबन्ध करने को कहा। दुर्योधन ने कृष्ण के मार्ग में जगह जगह पर कुछ विश्राम स्थल बनवाये, जिनमें राजकीय स्वागत सम्मान की समुचित व्यवस्था थी। किन्तु उसे शीघ्र ही सूचना मिली कि कृष्ण उन विश्राम-स्थलों का उपयोग न करते हुए, हस्तिनापुर की ओर चले आ रहे हैं। यह सूचना पाकर उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि मन-ही-मन वह जानता था कि कृष्ण पाण्डवों के पक्ष में हैं।

"पिताश्री!" दुर्योधन ने गम्भीर तथा स्पष्ट स्वर में कहा, "मेरा मत तो यह है कि कृष्ण जब यहाँ आएँ तो उन्हें बल-पूर्वक बन्दी बना लिया जाए। वो हमारे वश में आ गये तो सारा यादव साम्राज्य हमारी मुट्ठी में आ जाएगा।"

दुर्योधन का विचार सुनकर भीष्म तथा धृतराष्ट्र दोनों ही हत्प्रभ रह गये।

"यह क्या कहा पुत्र!" धृतराष्ट्र ने चिन्तित स्वर में कहा, "ऐसी बात कहना तो दूर, मन में भी न लाना दुर्योधन! कृष्ण हमारे सम्बन्धी एवं सुहृद तो हैं ही, वे इस समय दूत बनकर भी आ रहे हैं। उन्होंने कौरवों का क्या अहित किया जो तुम उन्हें बन्दी बनाने का विचार कर बैठे?"

"कृष्ण ने चाहे अन्यथा कोई अहित न किया हो," दुर्योधन ने ढीठ स्वर में कहा, "पाण्डवों के प्रति मित्रता घोषित करने के कारण वे कभी मेरे सम्मान के पात्र नहीं हो सकते। पाण्डवों का प्रत्येक मित्र, मेरा घोर शत्रु है... चाहे वह कोई भी हो, कहीं भी हो।"

यह बोलते हुए उसकी दृष्टि चारों ओर घूमती हुई भीष्म पर टिक गयी।

"धृतराष्ट्र!" कुछ असहज होते हुए भीष्म ने क्रोध में भरकर कहा, "तुम्हारे इस मन्दमति पुत्र पर तो..." उन्होंने आग्नेय नेत्रों से दुर्योधन की ओर देखा।

क्षणभर को उनका मन हुआ कि कहें, 'कहाँ का पुत्र! कैसा पुत्र? पुत्र के नाम पर तो यह तुम्हें तुम्हारा काल ही प्राप्त हुआ है...' किन्तु अपनी दूसरी भीष्म प्रतिज्ञा के स्मरण ने उन्हें रोक लिया।

"दुर्योधन पर तो... उन्होंने फड़कते होंठों से अपना वाक्य पूरा किया, "मृत्यु मँडरा रही है। यह अपने हितैषियों के परामर्श को ठुकराते हुए सदैव अनर्थ को ही अपनाता है। और तुम भी, इसके प्रेम में पड़कर, अन्य किसी का परामर्श नही सुनना चाहते।"

भीष्म अपनी बात समाप्त करते-करते आवेश में उठकर सभा-कक्ष से निकल गये।

हस्तिनापुर के राज-द्वार पर भीष्म, द्रोण, कृप, विदुर तथा दुर्योधन को छोड़कर अन्य सभी धृतराष्ट्र-पुत्रों ने, बड़े सम्मान-सहित, कृष्ण का स्वागत किया। राज्य के सभी महात्माओं, मन्त्रियों तथा नगरवासियों में भी कृष्ण के दर्शन पाने की लालसा थी।

सब से प्रेम-सहित मिलते हुए वे धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँचे, जहाँ उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार हुआ। वहाँ भी दुर्योधन को न देख कृष्ण, धृतराष्ट्र से आज्ञा लेकर, दुर्योधन के भवन में गये।

कृष्ण को सहसा अपने भवन में देखकर दुर्योधन अपने मित्रों-मन्त्रियों-सहित उठ खड़ा हुआ और औपचारिक स्वागत करते हुए, उसने उन्हें एक बहुमूल्य सिंहासन पर बैठाया। देखते-ही-देखते, उसके संकेत पर कृष्ण के सम्मुख स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों के ढेर लग गये, किन्तु मुंस्कराकर धन्यवाद देते हुए कृष्ण ने उन्हें अस्वीकार कर दिया।

"द्वारकाधीश!" दुर्योधन ने व्यंग्य से मुस्कराकर उलाहना देते हुए कहा, "आप तो महाराज धृतराष्ट्र के सम्बन्धी एवं स्नेही हैं... आप यह भी कहते हैं कि आप दोनो ही पक्षों के हितैषी एवं शुभ-चिन्तक हैं। फिर आप मेरा आतिथ्य क्यों अस्वीकार कर रहे हैं?"

"युवराज!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए ही कहा, "इस समय मैं दूत बनकर आया हूँ। यह शाश्वत नियम है कि दूत, अपना उद्देश्य पूर्ण होने तक, कोई सत्कार, पुरस्कार आदि स्वीकार न करे। भोजन तो प्रेम-वश किया जाता है, अथवा कोई विपत्ति आने पर... अभी तो ऐसी कोई भी स्थिति नहीं दिखाई देती, बन्धु! जब मेरा कार्य सफल हो जाए, तब मेरे मन्त्रियों-सहित मेरा जी-भरकर सत्कार कर लेना।"

कुछ कुशल-प्रश्नों तथा औपचारिकताओं के पश्चात् कृष्ण ठहरने के लिए विदुर के भवन चले गये।

बुआ कुन्ती को देखकर कृष्ण अपने आँसू नहीं रोक पाये। वृद्धावस्था से जीर्ण तन, और पुत्र-वियोग से त्रस्त मन... वे दु:ख एवं करुणा की प्रतिमूर्ति दिखाई दीं। कुन्ती ने रो-रोकर अपने बेटों का कुशल-समाचार पूछा और कृष्ण से बताया कि द्यूत में पराजय, वनवास तथा राज्य छिन जाने से भी अधिक, वे पुत्र वधू के अपमान को लेकर व्यथित हैं। उन्होंने कहा कि लगता है अब युद्ध का समय आ गया है। मेरे बेटों से कह देना, 'कि अधर्म को अब और न सहो।'

भोजन के पश्चात् विदुर से उनकी विस्तार में बात हुई। विदुर ने बताया कि दुर्योधन मात्र अपने हठ के कारण पाण्डवों को राज्य नहीं देना चाहता। उसे शकुनि, कर्ण, दु:शासन-सहित अपने सभी अनुजों का समर्थन प्राप्त है। वह सन्धि नहीं चाहता, क्योंकि उसे विश्वास है कि कर्ण के पराक्रम एवं उसकी सहायता से वह समस्त पाण्डवों को पराजित कर देगा। उसे सन्धि का कोई भी प्रस्ताव मान्य नहीं होगा।

"जनार्दन!" विदुर ने अपना मत बताते हुए कहा, "पहले जिन राजाओं ने आपसे वैर ठाना था, उन सबने अब दुर्योधन का आश्रय लिया है। इस समय आप उन सबके सम्मुख जा रहे हैं... यह न भूलिएगा।"

"विदुरजी!" कृष्ण ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "मुझे पहले से ही सन्देह था कि मेरे शान्ति-प्रस्ताव का कोई सकारात्मक परिणाम निकलेगा। किन्तु फिर भी मैं एक बार पुन: यह प्रयास करने आया हूँ कि युद्ध न हो। मन चाहा परिणाम भले ही न निकले, किन्तु मनुष्य को सद्भाव के हित में प्रयास तो करना ही चाहिए। दुर्योधन माने, न माने, मैं निष्कपट भाव से, कौरव-पाण्डव तथा समस्य क्षत्रियों के हित में, प्रयत्न करके अपने कर्तव्य से तो उऋण हो जाऊँगा... मूढ-अधर्मी लोग यह तो नहीं कह सकेंगे कि मैं सन्धि करा सकता था, किन्तु मैंने क्रोध एवं आवेश में भरे कौरवों-पाण्डवों को रोका ही नहीं।"

स्थिति एवं सम्भावनाओं पर चर्चा करते हुए, वह रात उन दोनों की आँखों में ही कट गयी।

विदुर एवं सात्यकि के साथ कृष्ण ने धृतराष्ट्र की राज-सभा में प्रवेश किया, जहाँ उन्हें महाराज के निकट ही सर्वतोभद्र नामक स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाया गया। उनके साथ आये अन्य यादव वीरों तथा ऋषि-मुनियों को भी आदर-सत्कार-सहित आसन दिये गये।

"राजन्!" राजकीय औपचारिकताओं के बाद कृष्ण ने उठकर सभा को सम्बोधित करते हुए गम्भीर वाणी में कहा, "इस समय मेरे आने का उद्देश्य यह है कि,

क्षत्रिय-कुल का संहार हुए बिना, कौरवों तथा पाण्डवों में सन्धि हो जाए। आपको ज्ञात ही है कि इस समय कौरव वंश पर भयंकर विपत्ति आयी हुई है। यदि इसकी उपेक्षा की गयी तो व्यापक विनाश होगा। इस संकट का निवारण असम्भव नहीं है... आप प्रयास करें तो शान्ति हो सकती है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा में रखें और पाण्डवों को सन्मार्ग पर रखने का उत्तरदायित्व मेरा रहा। महाराज, आपके पुत्र तथा अनुज-पुत्र मिलकर रहें तो विश्व का कोई साम्राज्य आपकी ओर कभी आँख उठाने का भी साहस नहीं करेगा।

"राजन्! पाण्डवों ने आपको सादर प्रणाम भेजते हुए यह कहलवाया है कि हमने आपके आदेश पर, द्यूत के नियमानुसार, बारह-वर्षीय वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास का दुःख झेल लिया। अब हमें आपके आशीर्वाद-सहित अपना राज्य मिल जाना चाहिए।

"सारी स्थिति को देखते हुए, मैं तो बस यही कह सकता हूँ कि आप पाण्डवों को उनका राज्य दे दीजिए... और पुत्रों सहित आनन्द भोगिए।"

मधुर वाणी में कृष्ण के स्पष्ट विचार सुनकर सभी प्रभावित हुए। किसी को कोई उत्तर नहीं सूझ रहा था। तभी महात्मा परशुराम ने उठकर कहा, "धृतराष्ट्र! युद्ध निवारण करने से तुम्हें जो धर्म एवं अर्थ का लाभ होगा, वह तो वासुदेव ने बताया ही... किन्तु उनकी बात न मानने से जो भयंकर स्थिति उत्पन्न होगी उसकी कल्पना भी कर लो।

"पाण्डवों के बल को भूलकर भी कम न आँकना। वे स्वयं तो पराक्रमी हैं ही, कृष्ण को पाकर और भी अजेय हो गये हैं। अपने पुत्रों का कुशल चाहो तो युद्ध की स्थिति न उत्पन्न होने देना।"

तभी महर्षि कण्व ने उठकर कहा, "राजन्! तुम्हें पाण्डवों को उनका न्यायोचित राज्य-भाग देकर सन्धि कर लेनी चाहिए। इसी में सबका हित है। दुर्योधन, तुम यह न समझना कि तुम्हीं सर्वाधिक बलवान हो और यह कि तुम्हारी सेना पाण्डवों की सेना से अधिक विशाल है। जिनके साथ धर्म का बल हो, उनके विरुद्ध बड़ी से बड़ी सेना को भी ध्वस्त होते देर नहीं लगती।"

महर्षि कण्व की बात समाप्त होते-होते, दुर्योधन ताल ठोककर, उद्दण्डता-पूर्वक हँसता हुआ खड़ा हो गया... और कर्ण की ओर देखता हुआ बोला, "आप लोगों के बहकाने से मैं भयभीत होने वाला नहीं हूँ, महर्षियो! मुझे अपने बल का ज्ञान है और जो मेरी गति होनी है, उसी के अनुसार विधि ने मुझे रचा है... वैसा ही मेरा आचरण भी है। आपके हस्तक्षेप से उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।"

दुर्योधन की यह उद्दण्डता देखकर सभी चकित रह गये। कुछ क्षण सभा में सन्नाटा छाया रहा। तब महर्षि व्यास तथा भीष्म ने, नीति-अनीति की चर्चा करते हुए

उसे समझाने का प्रयास किया। कृष्ण, द्रोण, विदुर आदि ने भी हर प्रकार कुटुम्ब की शान्ति के हित में हठ छोड़ने के लिए उससे अनुरोध किया... किन्तु वह उन सबकी ओर ढिठाई के साथ देखता हुआ बस मुस्कराता रहा।

"आप कुछ कहते क्यों नहीं कुरुराज!" कृष्ण ने कुछ खीझते हुए धृतराष्ट्र से कहा, "कुटुम्ब का भविष्य आप के हाथ में है।"

"वासुदेव!" धृतराष्ट्र ने हताश स्वर में कहा, "आप जो कुछ कह रहे हैं, वही सत्य है। स्वयं मैं भी वही करना चाहता हूँ... किन्तु कितना अशक्त, और कितना असमर्थ हूँ मैं, आप यह भी देख लें। मैं स्वाधीन नहीं हूँ। मेरा पुत्र मेरे अनुकूल आचरण नहीं करता... और न शास्त्रोक्त आचरण में ही विश्वास रखता है, यह मेरा दुर्भाग्य है।"

समय बीतता जा रहा था... सभी गुरुजनों, ऋषियों महर्षियों का तर्क सुनकर भी दुर्योधन ऐसे अविचल खड़ा था जैसे सागर-तट पर खड़ी कोई पर्वत शिला हो, जो सिर टकराकर बिखरती लहरों को देखते हुए निरन्तर मौन खड़ी रहती है।

"दुर्योधन!" कृष्ण ने अधीर होते हुए कहा, "तुम्हारा यह मौन स्थिति को और भी गम्भीर बना रहा है। तुम अपने पिता की विवशता देख रहे हो न! यह जानते हुए भी कि सारा दोष तुम्हारा है, वे ऐसा कुछ भी करने में असमर्थ हैं जो तुम्हें न भाए। तुम्हारी उद्दण्डता तुम्हारे कुल को ही नहीं, सम्पूर्ण क्षत्रिय समाज को महाविनाश के गर्त में ढकेल रही है।"

"यह अपना हठ नहीं त्यागेगा, वासुदेव!" विदुर ने कहा, "इन सबका जो होगा वह तो होगा ही, मुझे तो महाराज तथा भाभीश्री के विषय में सोचकर दुःख होता है... कि उन्हें इस आयु में अपने प्रिय पुत्रों का विनाश देखना होगा।"

"आप सब केवल अपने दुराग्रह के कारण सारा दोष मुझ पर मढ़ रहे हैं..." सहसा मौन बैठे दुर्योधन ने फुफकारते स्वर में कहा, "आप सब पाण्डवों का कोई दोष नहीं देखते, देखना ही नहीं चाहते। आप सबका यह दुराग्रह ही मेरे हठ का प्रमुख कारण है। पाण्डव यदि लोभ में पड़कर सब कुछ दाँव पर लगाते गये... और निरन्तर हारते गये, तो इसमें मेरा क्या दोष? मैंने भली-भाँति सोचकर देख लिया, मुझे तो कहीं भी अपना कोई ऐसा अपराध नहीं दिखाई देता जिसके लिए निरन्तर मेरी भर्त्सना की जाए। भीमसेन अनुज दुःशासन के रक्त पीने जैसी घिनौनी एवं अमानवीय प्रतिज्ञा करता है, तब तो कोई कुछ नहीं कहता। अर्जुन जब मेरे विरुद्ध युद्ध की योजना बनाकर शस्त्र प्राप्त करने के लिए भीख माँगता घूमे, तब मैं कैसे चुप बैठा रहूँ?"

"भैया! इन सबका वश चले तो..." सहसा दुःशासन ने कहा, "ये मिलकर तुम्हारे साथ मुझे और कर्ण को बन्दी बनाकर पाण्डवों को सौंप दें।"

"इनके सोचने से क्या होता है, अनुज!" दुर्योधन ने अपनी भुजाएँ ठोंकते हुए

कहा, "मेरे पास बल है... मेरे साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना हैं। ये सब मिलकर भी मेरा बाल बाँका नहीं कर सकते। बस, इसीलिए बढ़-चढ़कर मुझ पर आक्षेप लगा रहे हैं, महाविनाश का भय दिखा रहे हैं मुझे।"

"वासुदेव!" उसने गर्जते स्वर में कृष्ण की ओर मुड़ते हुए कहा, "अब तो युद्ध ही होगा। तनिक मैं भी तो देखूँ कितना बल है भीमसेन की भुजाओं में? कितने अस्त्र-शस्त्र एकत्रित किये हैं अर्जुन ने? अपनी माँ का कितना दूध पिया है पाण्डवों ने! कह देना उनसे कि अब तो युद्ध के बिना मैं पाँच ग्राम क्या, एक सुई की नोक-भर भूमि भी नहीं दूँगा उन्हें। अब तो पाण्डवों को यमलोक भेजूँगा अथवा क्षत्रिय की भाँति युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करूँगा।"

"दुर्योधन!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "बड़ा आश्चर्य है कि तुम्हें ढूँढ़ने पर भी अपना कोई दोष नहीं दिखाई दिया। मैं गिनाने बैठूँ तो सूची बड़ी लम्बी हो जाएगी। किन्तु नेत्र रहते हुए भी उन्हें बन्द रखकर, जो यथार्थ देखना ही न चाहे, उसे कुछ दिखाने से भला क्या लाभ! और रही तुम्हारे वीरगति प्राप्त करने की बात, तो तनिक धैर्य
रखो... तुम्हारी वह इच्छा शीघ्र ही पूर्ण होगी।"

"यह सब क्या हो रहा है?" धृतराष्ट्र ने करुण स्वर में धैर्य खोते हुए कहा, "यशोदानन्दन! क्षमा करो इसे। इसकी बातों पर ध्यान न दो..." यह कहते हुए उन्होंने विदुर को भेजकर गान्धारी को सभा में बुलवाया और दुर्योधन को समझाने के लिए कहा।

"स्वामी! आप मुझसे कह रहे हैं इसे समझाने को...?" गान्धारी ने विवश स्वर में कहा, "जब कि आप जानते हैं कि आपका अत्यधिक स्नेह ही इसे निरन्तर हठी एवं दुराग्रही बनाता रहा है।"

"माताश्री!" दुर्योधन ने विहँसते स्वर में कहा, "अब आप भी मुझ पर आरोप लगाएँगी?"

"नहीं पुत्र!" गान्धारी ने दुर्योधन की ओर घूमते हुए कहा, "बात केवल आरोप-आक्षेप की नहीं है। बात तो स्वयं तुम्हारे हित की है... हम सबके हित की है... कौरव-कुल के भविष्य की है। तुम्हारा मन चाहे तो तुम सारे आरोप मुझ पर लगा लेना, किन्तु इस समय जो तुम्हारे पिता, पितामह, आचार्य और महात्मा विदुर कह रहे हैं, वह मान लो। यदि तुम पाण्डवों से सन्धि कर लो, तो सभी को प्रसन्नता होगी... इसमें सभी का हित होगा। पाण्डवों को तेरह वर्ष तक वन-वन भटकाकर पहले ही उनके प्रति बड़ा अन्याय हो चुका है... अब उन्हें उनका राज्य देकर उस भूल का परिमार्जन कर लो।"

"बस, बहुत हो गया माताश्री!" दुर्योधन के नेत्र अंगारे उगलने लगे थे। वह पाँव

पटकते हुए सभा-भवन के बाहर निकल गया। दुःशासन ने भी उसका साथ दिया।

सभा के बाहर निकलते ही दुर्योधन ने कर्ण और शकुनि को बुलवाकर कहा, "दुःशासन का सन्देह आधारहीन नहीं है... कृष्ण का प्रयास होगा कि वह पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर आदि के सहयोग से मुझे बन्दी बनाकर पाण्डवों को सौंप दें। इस स्थिति में यदि हम पहले ही कृष्ण को बन्दी बना लें तो पाण्डवों का सारा उत्साह ठण्डा पड़ जाएगा।"

"तो विलम्ब कैसा, मित्र!" कर्ण ने उत्साहपूर्वक कहा।

उधर, क्षणभर में ही, विदुर के एक गुप्तचर ने इस षड्यन्त्र की सूचना सात्यकि तक पहुँचा दी। सात्यकि ने देखते-ही-देखते सभा-भवन से निकलकर अपनी सेना को सतर्क किया और लौटकर कृष्ण को इस स्थिति के प्रति सावधान रहने के लिए कहा।

"कुरुराज!" कृष्ण ने दुर्योधन के षड्यन्त्र की सूचना देते हुए धृतराष्ट्र से कहा, "आपके पुत्र की यह। इच्छा है तो वह यह भी कर देखे। वैसे मैं अकेले ही दुर्योधन को उसके दुष्ट मन्त्रियों-सहित बाँधकर युधिष्ठिर के हवाले करने में समर्थ हूँ, और इस स्थिति में वह अनुचित भी नहीं होगा... किन्तु मैं तनिक उसकी सामर्थ्य देखना चाहता हूँ।"

तभी सबने दुर्योधन को, दुःशासन तथा कर्ण-सहित, शस्त्र ताने हुए सभा-भवन मे प्रवेश करते देखा। कोई कुछ समझे, इससे पहले ही सभा में उपस्थित अनेक राजा शस्त्र निकालकर खड़े हो गये... साथ ही, सभा-भवन के सभी द्वारों से अनेक शस्त्र-धारी सैनिक प्रकट होकर अपने शस्त्र निकालने लगे।

कृष्ण ने सभा-भवन में चारों ओर दृष्टि घुमाकर दुर्योधन से कहा, "मूर्ख दुर्योधन! मैं तुझसे यह नहीं कहूँगा कि दूत के प्रति कैसा व्यवहार शास्त्र-सम्मत है, क्योंकि तू सभ्यता की कोई भाषा नहीं समझ सकता। मैं चुनौती देता हूँ तुझे कि ललकार अपने कायर मित्रों को, कि तनिक मुझे छूकर भी दिखाएँ... और मैं भी देखूँ कि कितना बल है तुम्हारी और तुम्हारे मित्रों की भुजाओं में! मैं अब जा रहा हूँ... नितान्त निहत्था। तुम जो कर सको... कर देखो।"

यह कहते हुए, आत्म-विश्वास एवं साहस की प्रतिमूर्ति बने कृष्ण, भीष्म, विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि को प्रणाम करते हुए, चल पड़े। उनका तेजस्वी स्वरूप देखकर सभी मन्त्र-मुग्ध, पाषाणवत् खड़े के खड़े रह गये। दुर्योधन को समझ नहीं आया कि वह क्या करे... क्या कहे... किससे कहे!

हस्तिनापुर छोड़ने से पहले कृष्ण अपनी बुआ कुन्ती से विदा लेने गये। शान्ति-वार्ता

का क्या परिणाम निकला, यह जानने के लिए भी वे उत्सुक थीं।

"अब तो युद्ध होकर ही रहेगा बुआ!" कृष्ण ने निराश स्वर में कहा, "धूर्त दुर्योधन किसी भी मूल्य पर अपना हठ त्यागने के लिए तैयार नहीं है।"

"तुमने उसे समझाया तो होगा वत्स!" कुन्ती ने भविष्य में आने वाले संकट की कल्पना करते हुए कहा, "पितामह तथा ज्येष्ठश्री ने उसे क्यों नहीं समझाया?"

"सबने समझाया..." कृष्ण ने कहा, "सभी समझाकर हार गये।"

"क्या वह युद्ध के परिणाम से नहीं डरता?" कुन्ती ने कठोर होते हुए कहा, "क्या वह यह नहीं जानता कि जब मेरे पुत्र अपने आग्नेय शस्त्रों से क्रोध-पूर्वक प्रहार करेंगे तो वह उनके सम्मुख ठहर नहीं पाएगा! यदि यही होना है केशव, तो तुम मेरे पुत्रों से कहना कि अब वह समय आ गया है, जिस दिन के लिए क्षत्राणियाँ पुत्रों को जन्म देती हैं। उनसे कह देना कि अब माँ के दूध का मूल्य चुकाने की वेला आ गयी है..."

कहते-कहते कुन्ती का मुख तमतमाने लगा था... होंठ फड़कने लगे।

"वही होगा बुआ!" कृष्ण ने उन्हें शान्त करने के प्रयास में विहँसते स्वर में कहा, "यद्यपि इसमें महाविनाश होगा... जो मैं बचाना चाहता था। मुझे विश्वास है कि पाण्डव अपने बल-पराक्रम से कौरव सेना को तहस-नहस कर डालेंगे, किन्तु..."

"किन्तु क्या वत्स?" कुन्ती ने उत्सुक स्वर में पूछा, "तुम्हें कुछ सन्देह है क्या?"

"नहीं, सन्देह तो नहीं..." कृष्ण ने दूर कहीं शून्य में निहारते हुए कहा, "किन्तु युद्ध के परिणाम का पूर्व-ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता। कोई नहीं जानता कि इस महा-संग्राम में किस-किस को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी।"

"यह चिन्ता तो ज्येष्ठश्री को भी होनी चाहिए कृष्ण!" कुन्ती ने गम्भीर होते हुए कहा, "उनके तो सौ पुत्रों का जीवन दाँव पर लगेगा। वे क्यों नहीं समझाते दुर्योधन को?"

"समझाते हैं... बहुत समझाकर हार गये..." कृष्ण ने निराश स्वर में कहा, "किन्तु वह अपनी हठ पर अड़ा है, तो बस अड़ा है। और वह भी सम्भवत: मान जाता. किन्तु उस धूर्त कर्ण के भरोसे वह इस भ्रम में है कि अकेला कर्ण ही पाण्डवों को समाप्त कर देगा।"

"उसे धूर्त न कहो वत्स!" कुन्ती का स्वर सहसा टूटकर गम्भीर हो गया था, "वह मातृ-पितृ-विहीन बालक भटक गया लगता है।"

"पता नहीं कैसा कलुषित रक्त है उसकी धमनियों में कि..."

"नहीं, नहीं वत्स!" कुन्ती के मुख पर करुणा साकार होकर आ बैठी, "वह तो कुलीन है... सूर्य का पुत्र है। क्षत्राणी का रक्त है उसमें..."

कृष्ण सहसा कुन्ती की ओर आश्चर्य में देखते रह गये।

"इतना सब...!" कृष्ण ने विस्मय में पूछा, "बुआ! इतना कुछ जानती हो तुम... कैसे जानती हो यह सब कर्ण के विषय में? इतना तो स्वयं वह भी नहीं जानता।"

कुन्ती जैसे सोते से जागीं... क्षण भर उलझन में कृष्ण की ओर अपलक देखते हुए उन्होंने पलकें झुका लीं।

"बोलो बुआ..." कृष्ण ने आग्रह-भरे स्वर में पूछा, "तुम्हें कैसे..."

"मैं नहीं जानती वासुदेव कि मैं कैसे जानती हूँ...!" कुन्ती ने आँखें चुराते हुए कहा, "मुझसे और कुछ न पूछो।"

"किन्तु क्यों बुआ?" कृष्ण की आँखों में भी कुरेदता हुआ प्रश्न-चिह्न था।

"क्योंकि..." कुन्ती को लगा कि कृष्ण की जिज्ञासु दृष्टि से बच पाना सम्भव नहीं होगा। उन्होंने सोचते हुए, कुछ रुककर कहा, "क्योंकि मैं महर्षि दुर्वासा को दिये हुए वचन से बँधी हूँ। मैं उनके क्रोध से भी डरती हूँ और... और उनके उपकारों से भी।"

"महर्षि दुर्वासा!" कृष्ण ने वह सूत्र पकड़ते हुए सम्भावनाओं को टटोला।

"हाँ वत्स!" कुन्ती को तब तक प्रसंग बदलने का एक मार्ग मिल चुका था—"उन दिनों.. जब वे एक महान यज्ञ कर रहे थे, हमारे भवन में ही ठहरे थे। उन्हीं के प्रयोग द्वारा भगवान सूर्य ने कर्ण को जीवन प्रदान किया था।"

"तुम तो बहुत कुछ जानती हो बुआ!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "तब तो तुम्हें यह भी ज्ञात होगा कि सूर्य का वह गर्भ किसने धारण किया था?"

"वह..." सहसा कुन्ती के मुख से लालिमा तिरोहित हो गयी... उनका स्वर काँपने लगा—"यह न पूछो वत्स! मैंने कहा न, मैं वचन से बँधी हूँ।"

किन्तु कुन्ती के नेत्रों में घुमड़ते अश्रु कण कृष्ण की पारखी दृष्टि से नहीं छिप पाये। उनका मन हुआ कि कहें, 'नहीं पूछूँगा बुआ! पूछने को बचा ही क्या है?'

वे प्रणाम करके उठ खड़े हुए... सोचने लगे कि अब क्या करना उचित होगा!

कृष्ण को पाण्डवों की युद्ध-क्षमता पर पूरा विश्वास था... किन्तु यह भला कौन जान सका है कि विजय मिली भी, तो किस मूल्य पर मिलेगी? पाण्डव उन्हें प्रिय थे, अपने सद्भाव के कारण और अपने आचरण के कारण। उनका सामना स्पष्ट रूप से एक उद्दण्ड एवं हठी धूर्त के साथ था। वे निश्चय ही पाण्डवों की विजय चाहते थे... किन्तु चिन्तित भी हो उठते थे, किसी भावुकता के क्षण में, कि कहीं पाण्डवों को युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए किसी भाई के प्राणों की बलि न देनी पड़े! वैसे तो उन्हें पाँचों भाई प्रिय थे, किन्तु अर्जुन के प्रति उनके मन में एक

विशेष स्थान था... एक महान योद्धा, एक निकट सम्बन्धी, एक स्नेही मित्र...

और उसी अर्जुन के प्राणों पर संकट था... कर्ण की ओर से जिसका अर्जुन के प्रति द्वेष, दुर्योधन का प्रश्रय पाकर, उसके जीवन का एक प्रमुख लक्ष्य बन गया था। कृष्ण अर्जुन के पराक्रम के प्रति आश्वस्त होते हुए भी यह जानते थे कि युद्ध में सभी कुछ अनिश्चित होता है।

कृष्ण ने सारथि दारुक से अपना रथ कर्ण के भवन की ओर होकर निकालने को कहा। कौन जाने! संयोग से वह मिल ही जाए... उन्होंने सोचा। और संयोग, कि वही हुआ जो कृष्ण चाहते थे। कर्ण को सम्मुख देख उन्होंने रथ रुकवाया और मुस्कराते हुए उस पर दृष्टि डाली। कर्ण के हाथ भी, औपचारिकतावश, प्रणाम की मुद्रा में उठ गये।

"तुमसे तो वार्तालाप का समय ही नहीं मिला, कौन्तेय!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए ही कहा, "राजसभा में तो सारा संवाद दुर्योधन से ही हुआ।"

"आपने मुझे सम्बोधित किया केशव?" कर्ण ने उलझन में पड़ते हुए प्रश्न किया। दूसरे ही क्षण एक व्यंग्य भरी मुस्कान उसके अधरों पर दौड़ गयी, "पाण्डवों को सम्बोधित करते-करते, आप सभी को उनके नाम से पुकारने लगे!"

"नहीं कर्ण!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "वह सम्बोधन किसी असावधानी का परिणाम नहीं... एक रहस्य का उद्घाटन है।"

"कैसा रहस्य?" कर्ण के मुख पर कौतूहल उभर आया।

"वह जानने की इच्छा हो तो तुम्हें कुछ समय के लिए मेरे पास आकर बैठना होगा। आ सकोगे न! जब तक युद्ध न हो, तब तक तो हमलोग एक-दूसरे के निकट बैठ ही सकते हैं।"

कृष्ण के शान्त स्वर में भी एक चुनौती थी... और फिर रहस्य? क्षण-भर सोच-विचार के पश्चात् कर्ण कृष्ण के रथ पर आ बैठा, कृष्ण ने दारुक को रथ चलाने का संकेत दिया।

"राधेय को वासुदेव से न तो कोई वैर है, और न भय..." कर्ण ने कृष्ण की ओर प्रश्न-वाचक दृष्टि से देखते हुए कहा, "जो चाहें आज्ञा करें।"

"तुम तो जानते ही हो कर्ण!" कृष्ण ने स्नेह-युक्त वाणी में कहा, "मैं यहाँ आज्ञा अथवा आदेश देने के लिए नहीं, शान्ति का प्रस्ताव लेकर आया था... युद्ध टालने का प्रयास करने आया था।"

"उसका निर्णय तो राजसभा में ही हो गया, केशव!" कर्ण ने सहज स्वर में कहा, "अब निर्णय तो युधिष्ठिर तथा दुर्योधन को लेना है।"

"और क्या तुम यह नहीं जानते..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए अपनी दृष्टि कर्ण के नेत्रों पर टिका दी, "कि दुर्योधन का निर्णय मूलतः तुम्हारी शक्ति पर आधारित है।"

"यह मेरा सौभाग्य है..." कर्ण से सहज, गम्भीर स्वर में कहा, "कि युवराज दुर्योधन को मुझ पर इतना विश्वास है।"

"तुम्हारा यह सौभाग्य तुम्हें किस दुर्भाग्य की ओर ले जाएगा..." कृष्ण ने रहस्यमयी मुस्कान के साथ कहा, "क्या तुम्हें इसका ज्ञान है?"

"आपका प्रश्न भ्रामक ही नहीं, असंगत है द्वारकाधीश!" कर्ण ने व्यंग्य से विहँसते स्वर में कहा, "सौभाग्य तो सौभाग्य की ओर ही ले जाता है।"

"प्रश्न भ्रामक नहीं... कभी-कभी स्थितियाँ अवश्य भ्रामक हो जाती हैं।"

"आप किस स्थिति की बात कर रहे हैं, यदुनन्दन?" कर्ण ने गम्भीर स्वर में पूछा।

"यही तो रहस्य है कौन्तेय..."

"फिर कौन्तेय?" कर्ण के माथे पर विस्मय की कुछ रेखाएँ उभर आयीं, "आप फिर भूल रहे हैं... आपके सम्मुख अर्जुन नहीं है, वासुदेव! मैं हूँ... राधेय।"

"यह मेरी नहीं..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "यह तुम्हारी भूल है कर्ण।"

"मेरी भूल?" कर्ण के मुख पर विस्मय के स्थान पर चिन्ता की रेखाएँ उभरने लगीं। "हम यहाँ पहेलियाँ बुझाने के लिए तो नहीं बैठे हैं, केशव!"

"नहीं, कर्ण!" कृष्ण ने रहस्य पर एक और पट डालते हुए कहा, "यह जीवन स्वयं ही एक विचित्र पहेली है... जिसमे कभी दुर्भाग्य, सौभाग्य का रूप लेकर भ्रमित करता है, और कभी स्वयं अपना अस्तित्व एक प्रश्न-चिह्न बनकर सामने आ खड़ा होता है।"

"जो कहना हो, आप स्पष्ट कहें..." कर्ण का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया था।

"तो सुनो कर्ण..." कृष्ण ने उसकी आँखों में झाँकते हुए कहा, "तुमने बड़ा पराक्रम प्राप्त किया... मुक्त हस्त दान करके समाज में दानवीर की उपाधि पायी.. इस सबने क्या कभी तुम्हें यह संकेत नहीं दिया कि तुम्हारा जन्म किसी क्षत्राणी की कोख से हुआ होगा। और क्या तुम्हें कभी यह जिज्ञासा हुई कि निकट भविष्य में जो महा-संग्राम होने वाला है, जिसमें आर्यावर्त के सभी क्षत्रिय सक्रिय होकर भाग लेंगे, उसमें तुम्हारे सहोदर किस ओर खड़े होकर युद्ध कर रहे होंगे!"

कृष्ण के प्रत्येक शब्द के साथ अनेकानेक सम्भावनाएँ कर्ण के सम्मुख प्रकट होकर उसके हृदय को मथने लगीं। कृष्ण का वह विचित्र सम्बोधन उसके जन्म पर पड़े रहस्य के पट उघारने लगा। एक भयावह सम्भावना उसके मस्तक पर स्वेद बनकर झिलमिलाने लगी।

"आप जो कहना चाहते हैं..." कर्ण ने भारी कण्ठ से कहा, "वह न ही कहें, तो हितकर होगा। मैं सम्भावनाओं के आधार पर जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय न तो लेता हूँ, और न अब उन्हें बदलने को तैयार हूँ।"

"मैं सम्भावना का नहीं... यथार्थ का उल्लेख कर रहा हूँ कर्ण," यह कहते हुए उन्होंने कर्ण का जन्म-सम्बन्धी घटनाक्रम कह सुनाया... जो कुछ सर्व-विदित था, वह सब... उस कथा के आधार पर जो कुन्ती की आँखों में घुमड़ते अश्रुओं ने उन्हें सुनाई थी।

सुनकर कर्ण अवाक् रह गया...

"किस दुविधा में पड़ गये कौन्तेय?" कृष्ण को ही मौन तोड़ना पड़ा।

"मुझे राधेय ही कहें, वासुदेव!" कर्ण ने विवश दृष्टि से कृष्ण की ओर देखकर गम्भीर स्वर में कहा, "अब आपने बहुत देर कर दी।"

"इससे पहले इस रहस्य का उद्घाटन स्वयं मेरे भी वश में नहीं था, कर्ण!" कृष्ण ने समझाते हुए कहा, "कुछ वास्तविकता तो होगी ही, जिसके आधार पर हमारे महाज्ञानी, ऋषि-मुनिगण कहते आये हैं कि हर कार्य अपने निश्चित समय पर ही होता है।"

"बहुत विलम्ब कर दिया आपने वासुदेव!" कर्ण ने हताश स्वर मे कहा, "अब कुछ नहीं हो सकता।"

"और कुछ भले ही न हो सके..." कृष्ण ने कर्ण पर पारखी दृष्टि डालते हुए कहा, "यह तो हो ही सकता है कि तुम चलकर अपने अनुजो को गले लगाओ।"

सुनकर कर्ण के माथे पर पुनः स्वेद कण उभर आये और चिन्ता की रेखाएँ गहरा गयीं...

"मैंने कहा न!" कर्ण ने सूखे हुए कण्ठ से प्रयत्नपूर्वक कहा, "अब बहुत विलम्ब हो चुका... अब कुछ भी नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता कर्ण?" कृष्ण ने एक बार फिर प्रयास किया, "ऐसा क्या है जो पुत्र को माँ से न मिलने दे... जो अग्रज को अपने बिछुड़े हुए अनुजों से न मिलने दे। जो, ज्येष्ठ पाण्डव होने के नाते, तुम्हारा इन्द्रप्रस्थ पर अभिषेक होने में बाधा खड़ी करे!"

"वही, जो अब तक बाधा बना हुआ था..." कर्ण ने निर्णायक स्वर में कहा।

"अब तक तो बीच में यदि कुछ थी, तो अज्ञानता थी।"

"अज्ञानता?... माँ के लिए...?" कर्ण के स्वर में व्यंग्य था।

"हाँ, कर्ण!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "प्रकृति का यही नियम है... प्रसव के बाद कुछ समय तक माँ सर्वथा अज्ञान रहती है, अपनी सन्तान के प्रति। चेत होने पर ही, उसके सुहृद, सन्तान से उसका परिचय कराते हैं। इस क्रम में यदि कोई चूक हो जाए, तो उसके लिए माँ को अपराधी नहीं कहा जा सकता।"

"मुझे भ्रम में न डालो केशव!" कर्ण ने विचलित होते हुए कहा, "अब मैं प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ... दुर्योधन की सहायता के लिए भी और अर्जुन के विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए भी।"

"यह जानते हुए भी... कि वह तुम्हारा अनुज है?" कृष्ण ने फिर कर्ण के मर्म को छूते हुए मुस्कराकर पूछा।

"दुर्योधन ने मुझ जैसे अनाम, निम्नवर्गीय, अकुलीन को अपनाकर जो उपकार मुझ पर किये, उसके सम्मुख कोई सम्बन्ध नहीं आ सकता..." कर्ण ने दृढ़ स्वर में कहा, "मैं कृतघ्न नहीं हो सकता... कभी नहीं।"

उसने उठकर कृष्ण को गले से लगाया... और वह उनके रथ से उतरकर अपने रथ पर जा बैठा। और उसका रथ हस्तिनापुर की ओर चला गया।

गंगा में स्नान करने के पश्चात्, सूर्य को अर्घ्य चढ़ाकर, कर्ण जैसे ही तट की ओर मुडा, उसकी दृष्टि तट पर मौन खड़ी कुन्ती पर पड़ी। कृष्ण के साथ हुई भेंट-वार्ता के सन्दर्भ में, कर्ण को कुन्ती की उपस्थिति पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ।

"मैं, अधिरथ तथा राधा का पुत्र कर्ण, आपको प्रणाम करता हूँ, देवि!" कर्ण ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा, "मैं आपकी क्या सेवा करूँ?"

"तुम राधा के नहीं..." कुन्ती के नेत्र डबडबाने लगे... स्वर कम्पित हो उठा, "मेरे पुत्र हो..."

"तुम्हें यह भ्रम कैसे हुआ, देवि!" कर्ण ने गम्भीर रहते हुए ही, कुछ व्यंग्य-भरे स्वर में कहा।

"भ्रम नहीं पुत्र!" कुन्ती का स्वर और करुण हो गया, "माँ अपने शिशु को पहचानने में क्या कभी कोई भूल कर सकती है... और, तुम्हारे कानों में पड़े हुए ये कुण्डल कभी मैं धारण करती थी। और मैं उस कवच को भी कैसे भूल सकती हूँ जिसे धारण करके तुम रंगशाला में पहुँचे थे, अर्जुन को चुनौती देने के लिए। सूर्य की आकृति से सजा, वह वही कवच था जिसे तुम्हें विदा देते समय, पालने का रूप दिया गया था।"

यह कहते हुए उन्होंने कर्ण को उसके जन्म तथा उन स्थितियों के विषय में संक्षेप में बताया, जिनके कारण उन्हें उसे त्यागने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

"तो आज यह बताने की क्या आवश्यकता आ पड़ी देवि!" कर्ण ने विचलित हुए बिना गम्भीर स्वर में कहा।

"आवश्यकता नही..." कुन्ती ने रुँधे कण्ठ से कहा, "विवशता है पुत्र! अपने हृदय पर पत्थर रखकर मैं जैसे-तैसे तुमसे दूर तो रह ली... किन्तु यह देखना मेरे लिए सम्भव नहीं, कि सहोदर एक-दूसरे के विरुद्ध शस्त्र उठाएँ... एक दूसरे का रक्त बहाएँ।"

"तो एकबार फिर तुम मेरे लिए नहीं..." कर्ण ने आहत स्वर में कहा, "अपने पाँच पुत्रों के हित-साधन के लिए आयी हो। किन्तु देवि.."

"मुझे माँ कहो कर्ण!" कुन्ती वाक्य पूरा करते हुए बिलख पड़ीं।

"अच्छा..." कर्ण ने गम्भीर रहते हुए ही कहा, "माँ ही सही। तुम यह तो नहीं चाहोगी माँ, कि मैं अपना प्रण तोड़कर स्वयं अपने तथा अपने वंश के नाम पर कलंक लगाऊँ। दुर्योधन के उपकारों के बदले, उसे सहायता का जो वचन मैंने दिया है... वह मैं कैसे तोड़ दूँ?"

"किन्तु पुत्र!" कुन्ती ने कहा, "तुम अपने अनुजों के विरुद्ध शस्त्र कैसे उठाओगे?"

"माँ!" कर्ण ने और भी गम्भीर स्वर में कुन्ती का मर्म वेधते हुए कहा, "क्या यही प्रश्न तुम अपने अन्य पुत्रों से कर सकती हो? क्या तुम अर्जुन से कह सकती हो कि वह मेरे विरुद्ध शस्त्र न उठाए?"

"पुत्र कर्ण! यदि अर्जुन का उपक्रम किसी भी दृष्टि से धर्म-विरुद्ध होता..." कुन्ती ने किसी प्रकार अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहा, "तो मैं अवश्य ही कहती उससे।"

"किन्तु अब, पाण्डवों के विरुद्ध शस्त्र न उठाना मेरे धर्म का नाश करेगा। मैं विवश हूँ..." कर्ण ने कहा, "किन्तु माँ! तुम्हारा मेरे पास आना व्यर्थ नहीं जाएगा। यद्यपि मैं सभी पाण्डवों को मारने में समर्थ हूँ... किन्तु तुम्हारा मन देखकर, अर्जुन के अतिरिक्त और किसी पर प्रहार नहीं करूँगा। तुम्हारे पाँच पुत्र अवश्य जीवित रहेंगे माँ... यदि अर्जुन मारा गया, तो मैं जीवित रह जाऊँगा, और यदि मुझे वीर गति प्राप्त हुई तो अर्जुन बचा रहेगा।"

"ऐसे निष्ठुर न बनो पुत्र!" कुन्ती ने बिलखते हुए कहा, "मैं अपने पुत्रों के बीच विकल्प नहीं चुन पाऊँगी... यदि अर्जुन मुझे लम्बी अवधि तक साथ रहने के कारण प्रिय है तो तुम भी मुझे, वर्षों बाद प्राप्त हुई निधि के समान, उतने ही प्रिय हो। मुझे तो अब अपने छहों पुत्र चाहिए।"

"मन तो बहुत कुछ चाहता है!" कर्ण ने अश्रु-पूरित नेत्रों से कुन्ती को देखते हुए कहा, "यह मुझसे अधिक और कौन जानेगा माँ! जिसे कुलीन होते हुए भी सूत-पुत्र की संज्ञा प्राप्त हुई, जिसकी माँ ने भी आकर बस उसे तब पूछा जब उसके अन्य पुत्रों पर उसे विपदा के घन घिरते दिखाई दिये... जिसे मित्रता भी मिली तो बस उसकी जो उसे अनर्थ के मार्ग पर लिये चला जा रहा है। माँ, कभी तुम्हारी विवशता रही होगी... आज मैं विवश हूँ।"

कुन्ती ने बिलखते हुए बढ़कर कर्ण को हृदय से लगाया... और कर्ण कुन्ती के पाँव छूकर, बिना कुछ कहे, बिना मुड़कर पीछे देखे, अपने भवन की ओर चला गया।

"कौन्तेय...!"

रह-रहकर अपने लिए यह विलक्षण सम्बोधन कर्ण के कर्ण-कपाटों पर बज उठता था... कुछ ऐसे कि उसका मार्ग धुँधलके में डूबने लगता था और पाँव लड़खड़ाने लगते थे।

साथ ही, रह-रहकर स्मृति में उभर आती थी कुन्ती की मनुहारती हुई छवि... उनकी अश्रु-प्लावित दृष्टि...

कैसे मान लूँ मैं...? और कैसे अस्वीकार कर दूँ इस सम्भावना को? किन्तु क्यों रहस्य बना रहा यह सब, आज तक! और क्यों उद्घाटित हुआ मेरे सम्मुख, अचानक... जीवन के इस मोड़ पर?

और कैसे ज्ञात हो गया कृष्ण को? कब ज्ञात हुआ? किसने बताया उन्हें? क्या स्वयं माँ... उस हृदयहीन जन्म-दात्री ने, जो अपने ही जाये... नवजात शिशु को दो दिन भी अपनी ममता की छाया नहीं दे सकी।

किन्तु इसमें क्या दोष पाण्डवों का? युधिष्ठिर और भीमसेन का... अर्जुन और...

अर्जुन का ध्यान आते ही कर्ण का विचार-क्रम लड़खड़ाया... जैसे समतल धरा पर तीव्र गति से दौड़ते रथ का चक्र किसी शिला से टकराया हो। क्यो आतुर है वह अर्जुन के प्राण लेने के लिए? कब पड़ा था, कैसे आ पड़ा था उसके मन में वैमनस्य का बीज?

अपने भवन में पहुँचते ही कर्ण ने अपने कक्ष के कपाट बन्द कर लिये... पत्नी ने बहुत प्रयास किया उसका दु:ख जानने-समझने का, उसकी चिन्ता बाँटने का, किन्तु वह आक्रान्त था स्वयं अपने मन में घुमडते प्रश्नों से। वह कुछ देर एकान्त चाहता था, सम्पूर्ण एकान्त...

मन की उथल-पुथल उसे अनेक प्रश्नों से मर्माहत करते हुए, स्मृतियों की वीथिओं में खींचे लिये जा रही थी...

वह नये कुण्डल पाकर प्रसन्न था। दर्पण में अपने कानों में झिलमिलाते कुण्डल देख उसे कर्ण-वेध की पीड़ा बिसर गयी... जैसे कोई मनचाहा खिलौना प्राप्त हुआ हो।

"माँ! ये किसका है? कहाँ से आया?"

'तेरी माँ का होगा...' कहते-कहते राधा का कण्ठ अवरुद्ध हो गया... हृदय पर भार बढ़ने लगा। "तेरा ही है पुत्र..." राधा ने मुस्कराकर उसकी आँखों में झाँकते हुए कहा था, "ये तो जन्म से ही तेरा है... तू इन्हें लेकर ह। आया था, भगवान के घर से. .."

"ये क्या है...?" ऐसे ही उसने पूछा था एक दिन... दीवार पर टँगे एक बड़े से

कवच को देखकर।

"ये तेरा ही है पुत्र!" अधिरथ ने स्नेह से उसका गाल थपथपाते हुए कहा था।

"मेरा?" उसे आश्चर्य हुआ था, "किसने दिया था..."

"ये तो तेरा ही है... जन्म से ही," अधिरथ की मुस्कान रहस्यमयी थी, "श्री हरि ने जब तुझे भेजा तो इसके साथ ही भेजा था। इस कवच और इन कुण्डलों के साथ।"

"तो दे दो न...! दे दो मुझे..." वह मचल उठता था कभी-कभी, "ये मेरा है।"

यह धारणा-मात्र उसके कोमल मन में निरन्तर व्याप्त होती रही थी कि कुण्डल और कवच उसे जन्म से ही प्राप्त हुए हैं। किन्तु आयु के साथ उस धारणा ने कुछ नया ही रूप लिया... वह बहुत रोया था, उस दिन... जिस दिन उसे अपने कवच और. कुण्डलों की वास्तविकता ज्ञात हुई थी। ममतामयी माँ ने... राधा ने, यदि उसे भुजाओं में भरकर साथ ही अश्रु बहाते हुए यदि बारम्बार अपनी ममता का विश्वास न दिलाया होता, तो पता नहीं वह क्या कर बैठता! कौन जाने, विक्षिप्त ही हो जाता...

स्वयं पिता अधिरथ ने ही उसके सुकोमल बाल्य-मन को प्रेरित किया था योद्धा बनने के लिए। क्यों प्रेरित किया था...? क्या मात्र दीवार पर टँगे उस कवच से कोई संकेतं-सूत्र पाकर? और कब... जाने कब, आचार्य कृप से शस्त्र-ज्ञान प्राप्त करते हुए उसे लगा था कि राजकुमारों की अपेक्षा उस पर कम ध्यान दे रहे हैं गुरुवर... और धीरे-धीरे, सूत-पुत्र सुनने के अभ्यस्त उसके कान, उस चिर-परिचित सम्बोधन के प्रति संवेदनशील होते चले गये थे... वह यथार्थ उसे अपमानजनक लगने लगा था। अधिकांश राजकुमारों के बीच, विद्या एवं शस्त्र-संचालन में उनसे अधिक सक्षम होते हुए भी, उसे वह सम्मान नहीं मिलता था, जिसका अधिकारी वह अपने को समझता था।

और फिर एक दिन, गुरु द्रोण से भी कुछ शिक्षा ग्रहण करने के बाद, निर्णय लिया था उसने महर्षि परशुराम के पास जाकर उनसे शस्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का। किन्तु वहाँ, कुल-गोत्र आदि के विषय में उत्तर देते समय, सहसा उसे हस्तिनापुर के कटु अनुभव ने स्वयं को ब्राह्मण घोषित करने की प्रेरणा दी... उस मिथ्याभाषण की, जिसने कालान्तर में उसे महर्षि परशुराम के शाप का भागी बनाया।

उच्च-कोटि के शस्त्र-ज्ञान से सम्पन्न हो, लौटकर जब वह हस्तिनापुर पहुँचा तो अर्जुन की ख्याति से उसका परिचय हुआ... और परिचय हुआ दुर्योधन के मन में पनपते पाण्डवों के प्रति द्वेष का, जो विशेषकर भीमसेन तथा अर्जुन पर केन्द्रित था।

कर्ण की सर्वश्रेष्ठ कहलाने की महत्त्वाकांक्षा तथा दुर्योधन के द्वेष को एक-दूसरे में अवलम्ब मिलता चला गया... और सहसा रंगशाला के प्रदर्शन में, दुर्योधन से उसे वह मिल गया, जिसके लिए वह वर्षों से निरन्तर छटपटा रहा था – सूत-पुत्र के

सम्बोधन से मुक्ति और अंगराज होने का गौरव।

और सहसा... इतने वर्षों के उपरान्त यह अकल्पनीय सम्बोधन!... 'कौन्तेय'? पहले कृष्ण द्वारा और फिर आज ...

'कौन्तेय...'

'कैसे... कैसे मान लूँ मैं कि मेरी माँ, मेरी ममतामयी माँ मेरी जननी नहीं है...! कैसे स्वीकार कर लूँ?' सोचते-सोचते ही कर्ण अपनी शैया पर व्याकुल होकर छटपटाने लगा। उसकी स्मृति में वे दृश्य सजीव हो उठे जिसमें उसने स्वयं अपनी पत्नी को शिशुओं का पालन-पोषण करते देखा था।

'वह स्नेहमयी माँ राधा! जिसने कभी रात रातभर जागकर भी उसे बाँहों में झुलाया होगा, उपस्थ में उसके मल-मूत्र को भी बिना किसी क्षोभ अथवा सन्ताप के ही स्वीकार किया होगा, तोतली भाषा बोलकर शब्द ज्ञान दिया होगा... संस्कार दिये होंगे..

'उसे भुलाकर, कैसे मान लूँ उसको अपनी माँ, जो कितना भी विवश क्यों न हो, स्वयं अपने ही जाये शिशु से मुक्त होकर नये नये शिशुओं को जन्म देती रही?

'कैसे स्थापित कर लूँ युधिष्ठिर को.. भीमसेन को, अर्जुन को.. और नकुल तथा सहदेव को अपने आज्ञाकारी अनुजों के स्थान पर? कैसे मान लूँ कि संग्रामजित, शत्रुंजय, विपाट, सुदृढ़ और चित्रसेन मेरे अनुज नहीं हैं...?

'... और दुर्योधन! कौन भूल सकता है ऐसे उपकारी मित्र का ऋण?'

अतीत की घटनाओं का स्मरण.. सारा तर्क-वितर्क, कर्ण के मन को और अधिक उद्वेलित करता चला गया।

कृष्ण द्वारा अपने शान्ति अभियान की असफलता के विषय में सुनकर पाण्डवों के पास युद्ध के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं बचा।

युधिष्ठिर ने, सबके साथ विचार-विमर्श करके, अपनी सात अक्षौहिणी सेना के लिए सात सेनाध्यक्ष निर्धारित किये, द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और भीमसेन। प्रधान सेनापति के लिए सभी सेनापतियों के नामों पर विचार के पश्चात्, सहमति धृष्टद्युम्न के पक्ष में बनी... और उनके कुशल नेतृत्व में सैन्य गतिविधियाँ पूरे उत्साह के साथ प्रारम्भ हो गयीं।

सेना के आगे भीमसेन, नकुल, सहदेव, अभिमन्यु, द्रौपदी के पुत्र, धृष्टद्युम्न, तथा अन्य पांचाल वीर कुरुक्षेत्र की ओर चले। युधिष्ठिर भी विशाल वाहिनी के साथ निकले। केकय के पाँचों राजकुमार, धृष्टकेतु, काशिराजकुमार अभिभू, श्रेणिमान, वसुदान, शिखण्डी आदि कवच, आभूषण आदि से सुसज्जित होकर निकले। पिछले

भाग में विराट, धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तिभोज और धृष्टद्युम्न के पुत्र चल रहे थे। अनाधृष्टि, चेकितान, धृष्टकेतु तथा सात्यकि, कृष्ण तथा अर्जुन के आस-पास रहकर चले।

युधिष्ठिर ने कुरुक्षेत्र के एक चौरस भाग में, जहाँ घास और ईंधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे, अपनी सेना को स्थापित किया। सेनापतियों तथा सैनिकों के लिए सुविधाजनक शिविर बनवाये गये। प्रत्येक शिविर में धनुष, प्रत्यंचा, कवच, शस्त्र, मधु, लाख का चूर्ण, जल, घास-फूस, विशाल यन्त्र, बाण, तोमर, फरसे, ऋष्टि, तरकस आदि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। काँटेदार कवच धारण किये सहस्रों योद्धाओं के साथ, युद्ध करने वाले अनेकानेक हाथी पर्वतों की भाँति खड़े दिखाई देते थे।

पाण्डवों के कुरुक्षेत्र पहुँचने का समाचार पाकर उनसे मित्रभाव रखनेवाले अनेकानेक राजा सेना-सहित उनके पास पहुँचने लगे।

उधर दुर्योधन की सेना भी कुरुक्षेत्र में एकत्रित हो रही थी। उसने अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना के लिए जो ग्यारह सेनाध्यक्ष चुने, वे थे – कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, जयद्रथ, सुदक्षिण, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण, भूरिश्रवा, शकुनि और बाह्लीक। दुर्योधन प्रतिदिन बारम्बार स्वयं उनका सम्मान-सत्कार करता था।

उनके शिविरों में, धनुष-बाण, रस्सियाँ, पाश, तेल, गुड़, बालू, विषधर सर्पों से भरे घड़े, खड्ग, भिन्दिपाल, मुग्दर, काँटों वाली लाठियाँ, हल, विष-लगे बाण, दराँत, तोमर, कुठार, कुदाल, आदि प्रचुर मात्र में जमा थे। लाखों सजे हुए हाथी-घोड़ों से उसकी सेना भरी थी। .

दुर्योधन के आगे प्रधान-सेनापति नियुक्त करने का प्रश्न समस्या बनकर आ खड़ा हुआ। उसे सर्वाधिक विश्वास कर्ण पर था... वश चलता तो वह कर्ण को ही प्रधान सेनापति बनाता, किन्तु द्रोण तथा कृप जैसे वयोवृद्ध आचार्यों के रहते कर्ण को प्रधान के पद पर स्थापित करना उसे व्यावहारिक नहीं लगा।

दूसरी ओर, उसकी कूटनीतिक दृष्टि का आग्रह यह भी था कि कुल-वृद्ध भीष्म का उपयोग भी अपने हित में किया जाए। भीष्म का युद्ध-कौशल एवं पराक्रम निर्विवाद था और कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, बाह्लीक आदि सभी उनका सम्मान करते थे। किन्तु भीष्म ने युद्ध में भाग लेने के लिए, और विशेष-रूप से सेनापति का पद स्वीकार करने के लिए, दो शुल्क-बन्ध लगा दिये। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा, "एक तो यह कि मैं इस युद्ध में पाण्डवों को नहीं मारूँगा... और दूसरी बात यह कि यदि इस युद्ध में कर्ण भाग ले रहा है तो मैं युद्ध नहीं करूँगा।"

"यह कैसा शुल्क-बन्ध है, पितामह!" दुर्योधन की त्योरियाँ चढ़ गयीं, "आप दोनों ही तो मेरी दो भुजाएँ हैं, जिनके भरोसे मैंने यह युद्ध ठाना है। इस प्रकार तो लगता है आप मुझे अशक्त करने पर तुले हैं।"

"सोच लो वत्स!" भीष्म ने दो-टूक शब्दों में कहा, "निर्णय तुम पर है। मुक्त कर दो मुझे इस युद्ध से।"

"नहीं पितामह!" दुर्योधन ने भीष्म की आँखों में झाँकते हुए कहा, "मुक्त तो आपको कराना होगा, पाण्डवों को, उनके अहंकार एवं उनकी बल-सम्पदा से।"

दुर्योधन ने मन-ही-मन सोचा कि इस आयु में, सम्भवतः पितामह बहुत समय तक युद्ध न झेल पाएँ... उनकी मृत्यु के उपरान्त, शीघ्र ही, कर्ण युद्ध के लिए उपलब्ध हो जाएगा। साथ ही उसे यह भी आशा थी कि पाण्डव, पितामह भीष्म को अपने विरुद्ध देखकर शिथिल पड़ जाएँगे और कौन जाने युद्ध का विचार ही त्याग दें!

स्थिति की अनिवार्यता देखते हुए उसने भीष्म की दोनों ही बातें मान लीं...

युद्ध की बढ़ती हुई हलचल धृतराष्ट्र को उद्विग्न कर रही थी. गान्धारी भी चिन्तित थी।

"हमारे पुत्र तो सुरक्षित रहेंगे न।" गान्धारी धृतराष्ट्र से पूछतीं, "प्राणनाथ! हमारी ही विजय होगी न!"

"युद्ध का परिणाम कभी सुनिश्चित नहीं होता..." धृतराष्ट्र के नेत्रों की चंचल मांस-पेशियाँ उनके हृदय में उठती हुई हलचल को प्रतिबिम्बित करती रहती थीं।

"क्या कोई और विकल्प नहीं बचा है?" गान्धारी पूछतीं।

"विकल्प तो एक ही है..." धृतराष्ट्र पहले भी अनेक बार यह चर्चा कर चुके थे, "कि दुर्योधन पाण्डवों को उनका राज्य दे दे... और यदि अड़ना ही चाहे, तो कम-से-कम पाँच गाँव ही दे दे, जो उन्होंने समझौते के रूप में माँगे हैं।"

"तो आप ही दे दीजिए न!" गान्धारी अधीर स्वर में कहतीं... वही, जो वे पहले भी कह चुकी थीं, "महाराज तो आप ही हैं। आप दुर्योधन को समझाते क्यों नहीं?"

"मैं कैसे समझाऊँ प्रिये!" धृतराष्ट्र अधीर होकर कहते, "समझाकर तो तुम भी देख चुकी हो। और कौन है जो उसे बारम्बार समझाकर हार नहीं चुका है? और स्वयं मैं न जाने कितनी बार दृढ़ संकल्प के साथ गया... कि स्पष्ट कह दूँगा दुर्योधन से, कि मुझे उसका हठ स्वीकार नहीं है। किन्तु न जाने क्या हो जाता है मुझे, उसे अपने सम्मुख पाकर... कि मैं उसका विरोध नहीं कर पाता।"

"किन्तु हम..." गान्धारी का स्वर लड़खड़ाया, "अपने पुत्रों पर मँडराता मृत्यु का संकट भी तो नहीं देख सकते।"

"नहीं देखेंगे गान्धारी! कभी नहीं देखेंगे..." इतने अभिशापों के बीच एक यही तो वरदान प्राप्त हुआ है हमें, कि मृत्यु का संकट क्या... यदि दुर्भाग्य से हमारे किसी पुत्र की मृत्यु भी हुई तो हम उसे मृत अवस्था में कभी नहीं देखेंगे।"

शकुनि, कर्ण, दु:शासन आदि से परामर्श करके दुर्योधन ने, पाण्डवों का मनोबल गिराने के उद्देश्य से, उनके पास एक दूत भेजने का निश्चय किया।

उसने शकुनि-पुत्र उलूक को समझाते हुए कहा, "पाण्डवों को मेरी ओर से ललकारते हुए कहना... कि जिस बल-पराक्रम की तुम वर्षों से डींग हाँकते रहे हो, उसे प्रदर्शित करने का समय आ गया है। मेरे पक्ष में, अपने से डेढ़ गुनी सेना देखकर भाग न जाना। और कुछ नहीं तो यह स्मरण करके ही युद्ध का साहस जुटाना कि मैंने ही तुम्हें लाक्षागृह में जलाने की योजना बनायी थी, मैंने ही छल द्वारा तुम्हें द्यूत में पराजित किया था, मैंने ही द्रौपदी को केश से खींचकर बुलवाया था, मैंने ही तुम्हे तेरह वर्ष वन-वन भटकाया था और मैं ही हूँ जो तुम्हें पाँच गाँव भी नहीं दे रहा हूँ।

"अब जो तुमसे करते बने कर लो... मैंने तुम्हें वन भेजकर तेरह वर्ष राज-सुख भोगा था, अब तुम्हें युद्ध में मारकर जीवनभर राज करूँगा।"

उलूक द्वारा दुर्योधन का सन्देश सुनकर कृष्ण ने मुस्कराकर कहा, "अब तो युद्ध ही होगा... किन्तु दुर्योधन का स्वप्न कभी पूरा नहीं हो पाएगा।"

भीमसेन और सहदेव ने क्रोध में भरकर दुर्योधन की चुनौती स्वीकार करते हुए अपनी प्रतिज्ञा दुहरायी... शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न ने भी दुर्योधन की चुनौती स्वीकार करते हुए उसका दर्प चूर्ण करने का सन्देश भिजवाया। किन्तु अर्जुन ने कहा, "ऐसी धमकियों का उत्तर बातों से तो नपुंसक ही दिया करते हैं... मैं तो इन बातों का उत्तर युद्ध-भूमि में अपने गाण्डीव से ही दूँगा।"

उलूक द्वारा पाण्डवों का उत्तर पाकर दुर्योधन ने हँसते हुए अपनी सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी।

उधर, युधिष्ठिर ने भी, धृष्टद्युम्न के नेतृत्व में, अपनी चतुरंगिणी सेना को कूच का संकेत दिया। भीमसेन, अर्जुन आदि सभी ओर से सेना की रक्षा करते चल रहे थे। सेनापति धृष्टद्युम्न ने अपनी सेना के प्रमुख योद्धाओं को शत्रु-सेना के कुछ प्रमुख योद्धाओं के साथ टक्कर लेने का उत्तरदायित्व दिया। अर्जुन को कर्ण, भीमसेन को दुर्योधन, धृष्टकेतु को शल्य, उत्तमौजा को कृपाचार्य, नकुल को अश्वत्थामा, शैव्य को कृतवर्मा, सात्यकि को जयद्रथ और शिखण्डी को भीष्म के साथ विशेष रूप से युद्ध के लिए नियुक्त किया गया। इसी प्रकार सहदेव को शकुनि से, चेकितान को शल से, द्रौपदी-पुत्रों को त्रिगर्त के योद्धाओं से तथा अभिमन्यु को वृषसेन आदि से टक्कर

लेने का आदेश मिला... और द्रोणाचार्य से टक्कर लेने का भार धृष्टद्युम्न ने स्वयं अपने ऊपर लिया।

गुप्तचरों द्वारा प्राप्त यह सूचना भीष्म को पहुँचाते हुए, दुर्योधन ने कहा, "पितामह अब युद्ध का शंख फूँकिए। आप जैसा पराक्रमी सेनापति, और पाण्डवों से डेढ़-गुनी हमारी सेना, अब हमारी विजय सुनिश्चित है।"

"संख्या ही सब कुछ नहीं होती वत्स..." भीष्म ने मुस्कराते हुए कहा, "विजयश्री तो उसी पक्ष की ओर जाती है, जिधर धर्म होता है। और हाँ, यह तो तुम्हें ज्ञात ही है कि शल्य ने कहा है कि वे अपनी अनुजा के पुत्रों के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएँगे... और मैं भी तुम्हें यह तो बता ही चुका हूँ कि मैं पाण्डवों को कदापि नहीं मारूँगा। मेरी विवशता यह भी है कि मैं शिखण्डी के सम्मुख भी शस्त्र नहीं उठाऊँगा।"

"अब शिखण्डी भी...!" दुर्योधन के मस्तक पर बल पड़ गये। "वह क्यों पितामह?"

"वह एक लम्बी पृष्ठभूमि है..." भीष्म ने गम्भीर स्वर में कहा, "यदि जीवन ने समय दिया, तो वह प्रसंग फिर कभी ."

भीष्म पितामह

कुरुक्षेत्र के दो छोरों पर कौरवों तथा पाण्डवों की सेनाएँ एकत्रित हो चुकी थीं। योद्धाओं में कुलबुलाहट थी कि कब रणभेरी बजे और कब उन्हें अपना रण-कौशल दिखाने का अवसर मिले।

"अब विलम्ब कैसा, पितामह?" दुर्योधन ने उत्तेजित स्वर में पूछा। "मैं आपका पराक्रम देखने के लिए लालायित हो रहा हूँ।"

"अब युद्ध तो ठन ही गया है, वत्स!" भीष्म ने विवश स्वर में मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "किन्तु उसके लिए पाण्डवों से मिलकर कुछ नियम बना लो।"

"नियम?" दुर्योधन ने आश्चर्य में पूछा, "युद्ध के लिए?"

"हाँ, दुर्योधन!" भीष्म ने गम्भीर स्वर में कहा, "इस युद्ध को शक्ति-परीक्षण का मानक बनने दो... पाशविकता तथा घृणा की अभिव्यक्ति का नहीं।"

"यह कैसे होगा पितामह!" दुर्योधन ने बिफरते हुए कहा, "शत्रु के प्रति घृणा ही न उपजी तो हम प्रहार उस पर कैसे करेंगे?"

"तो मत करना प्रहार..." भीष्म ने मुस्कराकर कहा, "वही सर्वोत्तम होगा। किन्तु यदि युद्ध होना ही है... और मुझे भी उसमें भाग लेना है, तो उसके कुछ नियम भी होंगे... जो योद्धाओं को धर्म-सम्मत ढंग से शक्ति-परीक्षण के लिए प्रेरित करे।"

दुर्योधन के पास विकल्प नहीं था... न तो भीष्म का और न उनके तर्क का। उसे उनका निर्णय मानना पड़ा।

कौरव, पाण्डव और सोमवंशी योद्धाओं ने, भीष्म के अनुरोध पर विचार-विमर्श करके, युद्ध के लिए नियम बनाये :

– प्रतिदिन युद्ध समाप्त होने पर, दोनों पक्ष परस्पर प्रेमपूर्ण व्यवहार करेंगे... कोई किसी के साथ छल-कपट नहीं करेगा।

– जो वाग्युद्ध कर रहे हों, उन्हें वाग्युद्ध द्वारा ही टक्कर दी जाएगी।

– जो सेना से बाहर निकल गये हों, अथवा भयभीत हों, उनपर प्रहार नहीं किया जाएगा।

– रथी रथी के साथ, अश्वारोही अश्वारोही के साथ, गजारोही गजारोही के साथ और पैदल सैनिक पैदल के साथ ही युद्ध करेंगे।

– सभी योद्धा, अपनी टक्कर वाले योद्धा के साथ ही युद्ध करेंगे।

– योद्धा, विपक्षी को पुकारकर और उसे सावधान करके ही प्रहार करें।
– जो किसी एक के साथ युद्ध कर रहा हो, उस पर कोई दूसरा प्रहार न करे।
– जो शरण में आया हो, युद्ध छोड़कर भाग रहा हो अथवा जिसके अस्त्र-शस्त्र, कवच आदि नष्ट हो गये हों, ऐसे निहत्थों का वध न किया जाए।
– सूत, भार-वाहक, भेरी तथा शंख बजाने वालों पर प्रहार न किया जाए।

संजय ने यह समाचार धृतराष्ट्र को जा सुनाया।

"ये नियम तो ठीक हैं संजय..." धृतराष्ट्र ने गम्भीर स्वर में कहा, "किन्तु योद्धाओं को उन नियमों से बाँधकर कौन रखेगा?"

"कुछ लोग भले ही पालन न करें..."

तभी महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र के कक्ष में प्रवेश करते हुए कहा, "किन्तु नितान्त उच्छृंखलता की अपेक्षा कुछ नियमों का अस्तित्व युद्ध की विभीषिका को सम्भवत: कुछ तो कम करेगा।"

"प्रणाम तात!" धृतराष्ट्र ने महर्षि को सादर बैठाया और अर्घ्य-पाद्य द्वारा उनका सत्कार किया।

"कुछ समय के लिए हस्तिनापुर मे विदा ले रहा था... सोचा तुम्हें देखता चलूँ।" व्यास ने कहा, "अब यहाँ जो महाविनाश होने वाला है, उसे मैं अपनी आँखों से तो नही देख पाऊँगा।"

"देख तो मैं भी नहीं पाऊँगा मुनिवर!" धृतराष्ट्र ने निराश स्वर में कहा, "किन्तु दुर्भाग्य मेरा, कि उससे बचने के लिए मैं कहीं दूर भी नहीं जा सकता।"

"तुमने बचने का समुचित प्रयास भी तो नहीं किया वत्स।" व्यास के स्वर में न व्यग्य था, न कोई उपालम्भ, "मेरे वश में होता तो मैं तुम्हे अपने नेत्र दे जाता... अपनी दृष्टि दे जाता... कि जी भरकर देखो, अपने पुत्र प्रेम का परिणाम।"

"यह भी मेरे लिए वरदान है मुनिवर!" विवश धृतराष्ट्र ने कहा, "कि मेरे नेत्र नही है... और यह भी, कि कोई मुझे अपने नेत्र नहीं दे सकता। किन्तु मैं तो सुनकर भी सब कुछ देख लेता हूँ... सम्भवत: उतना ही स्पष्ट, जितना कोई अपने नेत्रों से देखता हो। किन्तु युद्ध का समाचार मुझे घड़ी-घड़ी आकर कौन सुनाएगा? दिन भर, आशकाओ तथा चिन्ताओं में डूबा अकेला बैठा मैं प्रतीक्षा करूँगा, यह जानने के लिए कि क्या हो रहा है... मेरे पुत्र सुरक्षित तो हैं!"

"तो यह उत्तरदायित्व संजय को ही क्यों नहीं देते?" व्यास ने परामर्श दिया और फिर संजय की ओर घूमते हुए कहा, "वत्स संजय! तुम भी तो निरन्तर रण-क्षेत्र में रहोगे, यह दायित्व तुम पर ही रहा कि तुम प्रत्येक दिन, एक बार पूर्वाहन में, एक बार मध्याहन में और एक बार अपराहन में आकर महाराज को युद्ध-भूमि के समाचार

से अवगत कराते रहोगे। किन्तु हाँ, मेरा एक अनुरोध है... युद्ध-क्षेत्र में घटने वाली घटनाओं को महाराज को सुनाने के लिए नियुक्त सेवक की भाँति न देखना, नितान्त निर्मल एवं निष्पक्ष दृष्टि से देखना..."

"इस व्यवस्था से मेरी कुछ चिन्ता तो अवश्य दूर होगी तात!" धृतराष्ट्र ने कातर स्वर में कहा, "किन्तु मेरी वास्तविक चिन्ता का क्या होगा? आप मेरे पुत्रों की रक्षा के लिए कोई आशीर्वाद नहीं देंगे?"

"दे पाता तो अवश्य देता वत्स!" व्यास ने गम्भीर होते हुए कहा, "जैसे मैं तुम्हें अपनी दृष्टि नहीं दे सकता... वैसे ही दुर्योधन को सुमार्ग पर लाना मेरे वश में कभी नहीं था। मेरा कोई उपदेश, कोई आशीर्वाद उस पर कभी कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाया। कौन जाने, मेरी तपस्या में ही कहीं कोई कमी रही हो... और सच पूछो तो हम, स्वय अपने सन्तोष के लिए, जिसे जो चाहे वरदान दे लें... विधि के विधान को बदल पाना किसी के वश में नहीं होता।"

व्यास गये... तो अपने पीछे गहन सन्नाटे के बीच, प्रश्नों से जूझने के लिए धृतराष्ट्र को छोड़ गये।

"महाराज!" कुछ देर बाद सन्नाटा तोड़ते हुए संजय ने पूछा, "मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

"तुम्हारे लिए?" धृतराष्ट्र ने जैसे तन्द्रा से जागते हुए कहा, "जैसा महर्षि व्यास कह गये हैं, वही करो। दुर्योधन से कह देना कि रण-भूमि में, युद्ध करने के साथ ही, तुम्हारे ऊपर मुझ तक समाचार पहुँचाते रहने का भी दायित्व है।"

•

युद्ध का दिन आ पहुँचा...

कुरुक्षेत्र में कौरवों की विशाल सेना पूर्व दिशा की ओर खड़ी थी। उनकी विपरीत दिशा में, पूर्वाभिमुख होकर, पाण्डवों की सेना डटी थी।

युधिष्ठिर को रह-रहकर यह चिन्ता आ घेरती थी कि पितामह भीष्म जैसे अनुभवी एवं पराक्रमी योद्धा की विशाल सेना से उनकी छोटी सी सेना भला कैसे युद्ध करेगी! भीमसेन तथा अर्जुन कभी उनका मनोबल बढ़ाते और कभी स्वय ही चिन्ता में डूब जाते। अपनी सैन्य संख्या कम होने के कारण, युधिष्ठिर ने सूचीमुख व्यूह बनाने का प्रस्ताव किया, किन्तु अर्जुन ने उनसे विचार-विमर्श करके वज्र व्यूह बनाया।

दुर्योधन ने अनेक पराक्रमी योद्धाओं की सेनाएँ भीष्म के चारों ओर खड़ी करके अपने सेनापति की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध किया... और, उनके इस निर्णय को देखते हुए कि वे शिखण्डी के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठाएँगे, शिखण्डी को मारने की भी विशेष योजना बनाई।

पूर्व के क्षितिज पर लालिमा फैलने लगी थी... सभी सैनिक सन्ध्योपासना करके अपने लिए निर्दिष्ट स्थान पर आ डटे थे...

"वह देखो धनंजय!" कृष्ण ने रथ की डोर थामे हुए, घूमकर अर्जुन से कहा, "वह श्वेत अश्वों वाला रथ पितामह भीष्म का है, जिस पर श्वेत पगड़ी बाँधे भीष्म धनुष लिये खड़े हैं। उनके चारों ओर नियुक्त सेनाओं को छिन्न-भिन्न करने के पश्चात् ही तुम पितामह पर प्रहार कर सकते हो..."

"प्रहार?" अर्जुन जैसे सोते से जागे, "पितामह पर...?"

क्षेत्र के उस पार खड़ी विशाल सेना की अस्पष्ट छवि, क्षितिज पर फैले उजास की पृष्ठभूमि में, अर्जुन की दृष्टि में उभरने लगी। उसके मध्य में खड़ा भीष्म का रथ भी सहसा उनकी दृष्टि-पथ में आया।

तो ये पितामह हैं... विरोधी सेना के बीच उनकी उपस्थिति के विषय में जानते हुए भी, अर्जुन को जैसे पहली बार वास्तव में चेत हुआ कि पितामह... उनके आदरणीय, परम-पूज्य पितामह, उसके सम्मुख धनुष ताने खडे हैं.. और उसे धनुष उठाकर उन्हीं पितामह पर प्रहार करना होगा।

'यह कैसे होगा? यह कदापि नहीं हो सकता...' अर्जुन को लगा उनकी भुजाएँ शिथिल हो रही हैं। गाण्डीव पर संग्राह की पकड़ ढीली पड़ने लगी है। उनको अपना सिर घूमता हुआ लगा।

अर्जुन ने प्रयास करके अपनी दृष्टि उठायी तो उस धुँधलके में भी पितामह भीष्म की आकृति उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगी। उनसे दृष्टि चुराने के प्रयास में उन्होंने अपना सिर घुमाया तो, कुछ ही दूर पर उन्हें आचार्य द्रोण की आकृति भी स्पष्ट दिखाई दी।

'तो मुझे अपने गुरुवर... अपने आचार्य से भी युद्ध करना होगा... जिन्होंने मुझे पुत्रवत् स्नेह दिया! अपने पुत्र से भी बढ़कर धनुर्वेद का ज्ञान दिया!'

इतना ही नहीं, सहसा उनकी कल्पना में आचार्य कृप, मित्र अश्वत्थामा, मातुल शल्य आदि न जाने किस-किस की आकृति घूम गयी... 'सभी तो होंगे यहाँ! सभी के साथ युद्ध करना होगा मुझे! और ये दुर्योधन, दुःशासन आदि भी तो भाई ही हैं मेरे। इनको मारने के लिए भी युद्ध करूँगा मैं? क्यों... मैं इन्हें समझा क्यों नहीं पाया? और ये नहीं ही माने, तो मैंने ही अपना हठ क्यों नहीं त्याग दिया? इतने व्यापक नर संहार के पश्चात् जो मिलेगा भी, क्या वह वास्तव में सुख दे पाएगा...?'

"अर्जुन!" कृष्ण ने अर्जुन को अन्यमनस्क स्थिति में प [illegible] कहा, "तुम सुन तो रहे हो, मैंने क्या कहा!"

"क्या कहा..?" अर्जुन ने जैसे सोते से जागते हुए पूछा, "कुछ कहा केशव?"

"लक्ष्य की आँख पर सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करने वाले योद्धा का ध्यान इस समय

किधर है?" कृष्ण ने खोजती दृष्टि से अर्जुन के नेत्रों में झाँकते हुए पूछा।

"और कहीं नहीं केशव..." अर्जुन ने कातर होते हुए कहा, "मैं सामने खड़ी सेना को देख रहा था।"

"और... क्या देखा तुमने?"

"पितामह को देखा..." अर्जुन ने काँपते स्वर में कहा, "गुरुवर को देखा. मित्रों-सम्बन्धियों को देखा।"

"देखा तो पहले भी होगा..." कृष्ण ने अर्जुन को अपनी दृष्टि से तौलते हुए कहा, "किन्तु उन्हें जी-भरकर देख लो... ठीक से पहचान लो। और जान लो कि तुम्हे उनका वध करना है।"

"नहीं वासुदेव!" अर्जुन का कण्ठ सहसा रुँध गया। मुख पर करुणा की घटाएँ घिर आयीं और आँखें बरस पड़ने को व्याकुल दिखाई दीं। "यह मुझसे नहीं होगा... अपने गुरुजनों का, सगे-सम्बन्धियों का विनाश मुझसे नहीं होगा।"

"पार्थ!" कृष्ण ने आश्चर्य भरे स्वर में अर्जुन को बरजते हुए कहा, "तुम कहीं कौरवों की विशाल सेना देखकर भयभीत तो नहीं हो गये? यह विचित्र व्यवहार महान धनुर्धर अर्जुन को शोभा नहीं देता।"

"हाँ, मैं भयभीत हूँ कृष्ण!" अर्जुन ने दयनीय स्वर में कहा, "बहुत भयभीत हूँ... किन्तु विशाल सेना देखकर नहीं। भयभीत हूँ इस कल्पना से कि मुझे अपने पूज्य सम्बन्धियों तथा बन्धु-बान्धवों पर प्रहार करना पडेगा।"

"तो तुम युद्ध में क्यों आये?" कृष्ण हत्प्रभ थे।

"मैं भ्रम में पड़ गया था..." अर्जुन ने गाण्डीव कृष्ण के सम्मुख रखते हुए, हाथ जोड़कर कहा, "इन सबको मारकर यदि मुझे राज्य प्राप्त भी हुआ, तो वह किस काम का! नहीं केशव, मुझे युद्ध नहीं करना है... मुझे क्षमा करो।"

कृष्ण को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ... 'यह क्या हो गया अर्जुन को? पाण्डवों की तो सारी शक्ति अर्जुन ही के पराक्रम पर निर्भर है। यदि इसे ही कुछ हो गया... तो क्या होगा उनके धर्म-युद्ध का? क्या होगा मेरे इतने दिनों के उद्योग का? क्या दुर्योधन का हठ-धर्म विजयी हो जाएगा?'

"क्या तुम समझते हो, अर्जुन!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में तर्क दिया, "कि तुम इन्हें नहीं मारोगे, तो ये मृत्यु से बचे रह जाएँगे? अमरत्व प्राप्त कर लेंगे?"

"अमर? अमर कौन हुआ है केशव!" अर्जुन ने सम्मोहन की स्थिति से उबरते हुए तर्क दिया, "किन्तु उनकी हत्या का आरोप मुझ पर तो नहीं आएगा।"

"और क्या तुम वास्तव में यह समझते हो कि तुम उन्हें मार सकते हो?"

"मैं...?" अर्जुन उस प्रश्न से भ्रमित हो उठे थे।

"कोई किसी को नहीं मारता अर्जुन!" कृष्ण ने विद्वत्तापूर्ण गम्भीर स्वर में कहा,

"जीवन और मृत्यु तो दैव के अधीन हैं। यहाँ यदि कोई यह सोचे कि वह किसी को जन्म दे रहा है, किसी की रक्षा कर रहा है अथवा किसी को मृत्यु प्रदान कर रहा है, तो वह उसका भ्रम ही होगा पार्थ! क्योंकि हम सब तो एक विराट दैवी योजना मे निमित्त मात्र हैं।"

"मुझे शब्दों में न उलझाओ वासुदेव!" अर्जुन ने कातर स्वर में कहा, "इस युद्ध में तो मेरे लिए अनिवार्य हो जाएगा कि मैं अपने गुरुजनों, सम्बन्धियों एवं मित्रों की हत्या करूँ। उन्हें मारकर यदि राज्य मुझे मिला भी, तो क्या मैं सुखी हो पाऊँगा?"

"सुखी तो तुम आज भी नहीं हो पार्थ..." कृष्ण ने अर्जुन के उत्तर से ही तर्क का सूत्र ढूँढ़ते हुए कहा, "और वास्तविक सुख क्या है यह भला कौन जान पाया है! आज जो सुख प्रतीत होता है, वह बहुधा व्यक्ति को विनाश के मार्ग पर ले जाता है . और आज दुःखद प्रतीत होने वाली, कष्टप्रद प्रतीत होने वाली तपस्या ही सुखद भविष्य का द्वार खोलती है। वास्तविक सुख तो अपने कर्तव्य का पालन करने में है.. फल की चिन्ता किये बिना, पूरे मनोयोग से, अपने कर्तव्य-पालन में है।"

"और मेरा कर्तव्य क्या है, वासुदेव?"

"तुम क्षत्रिय हो धनजय!" कृष्ण ने स्पष्ट स्वर में कहा, "और क्षत्रिय का धर्म युद्ध क्षेत्र में आकर अपने शस्त्र त्यागना नहीं होता। जब एक बार तुमने अपने मित्रो सम्बन्धियों के साथ मिलकर युद्ध का निर्णय ले लिया, तो अब संशय क्यों? और यह प्रश्न क्यों, कि अपने विरोधियों को मारकर तुम्हें क्या मिलेगा... और क्या नही। यह दर्प क्यों कि तुम ही उन्हें मारोगे? युद्ध का परिणाम भला किसे ज्ञात होता है कौन जानता है कि युद्ध में तुम उन्हें मारोगे, अथवा वे तुम्हारा वध करेंगे। यह दुविधा ही क्यों? यह चिन्ता क्यों कि तुमने उनका वध किया तो क्या होगा, अथवा यह भय क्यों कि वे तुम्हारा वध भी कर सकते हैं। कर्तव्य का पालन समस्त भय एव आशंकाओं से परे, उनसे ऊपर उठकर ही सम्भव है।"

"किन्तु केशव!" अर्जुन ने अपनी भ्रमित मानसिकता में ही उलझते हुए कहा, "मैं यह कैसे भूल जाऊँ कि मैं जिस पर प्रहार कर रहा हूँ..."

"तुम किसी पर प्रहार नहीं कर रहे हो अर्जुन..." कृष्ण ने बरजते स्वर में कहा, "यह भ्रम मन से निकाल दो कि तुम कुछ कर रहे हो। भूल जाओ कि तुम कुछ कर सकते हो। तुम तो मात्र निमित्त हो उस सबका, जो हो रहा है... जो अवश्यम्भावी है। करने वाला तो कोई और है..."

"कौन है वह माधव?" अर्जुन ने हताश स्वर मे पूछा।

"इस समय तो तुम यही समझो अर्जुन!" कृष्ण ने आत्मविश्वास भरे स्वर में कहा, "कि वह मैं हूँ... तुम मेरे आदेश पर युद्ध कर रहे हो। मैं तुम्हें इस युद्ध के लिए सुपात्र समझकर शस्त्र उठाने का आदेश दे रहा हूँ। तुम किसी का वध नहीं कर रहे

हो... तुम्हारे बाणों से होने वाले सारे वध मैं कर रहा हूँ। तुम तो बस मेरे आदेश का पालन कर रहे हो। यदि इस युद्ध में तुम्हारा वध होता है तो वह कर्तव्य-पालन के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होने वाला तुम्हारा पुरस्कार है... जो क्षत्रिय के लिए सम्मानजनक वीरगति कहलाता है।"

कृष्ण की वाणी में ऐसा अभूतपूर्व सम्मोहन था और उनके मुख पर ऐसा अलौकिक तेज था कि अर्जुन मन्त्र-मुग्ध होकर सुनते चले गये।

"जो कर्म, फल की आशा में किया जाता है वह कभी पूरे मनोयोग से नहीं हो पाता... कर्ता को सदैव भय बना रहता है कि यदि उसे सफलता नहीं प्राप्त हुई तो क्या होगा! उसका सारा उद्योग निष्फल हो जाएगा... वह अन्य लोगों की दृष्टि में उपहास का पात्र बन जाएगा। इसके विपरीत, निष्काम कर्म कर्तव्य-पालन का सन्तोष प्रदान करता है, जो कर्ता के लिए सबसे बड़ा उपहार है।"

"किन्तु गोविन्द!" अर्जुन ने एक और प्रश्न किया, "किन्तु मेरा मन तो विचलित हो रहा है। मेरी बुद्धि मुझे क्यों रोक रही है? क्यों कह रही है कि यह अनुचित है? यह बुद्धि भी तो भी उसी दैवी योजना के अन्तर्गत प्राप्त हुई है मुझे।"

"बुद्धि की भी उपयोगिता है मित्र!" कृष्ण इस प्रश्न के लिए भी तैयार थे। "किन्तु उसकी भी एक सीमा है। बुद्धि का कार्य है कर्तव्य का निर्धारण करना, कर्म का मार्ग दिखाना। व्यक्ति को भली-भाँति सोच-विचारकर अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए... और उसके अनुरूप साधन जुटाकर कर्म में लग जाना चाहिए, क्योंकि इससे अधिक वह कुछ कर ही नहीं सकता। बुद्धि तो बस लक्ष्य निर्धारण में सहयोग दे सकती है। कर्तव्य-पालन में बाधा उत्पन्न करना बुद्धि का नहीं, भ्रम का काम है। अत: भ्रम से उबरकर अपने कर्तव्य का पालन करो, पार्थ।"

"और मेरे कर्तव्य-पालन में जो प्राणियों का रक्त बहेगा..." अर्जुन के मन में कुछ संशय शेष था। "वह पाप किसके..."

"वह मुझ पर छोड़ दो..." कृष्ण ने फिर आत्मविश्वास भरे स्वर में कहा, "जिस किसी का भी वध होता है, वह मेरे सिर रहा, धनंजय! जहाँ कहीं कोई भी मृत्यु को प्राप्त होगा, वह हर बार मेरी ही मृत्यु होगी... और मृत्यु कोई ऐसी बड़ी त्रासदी भी नहीं होती, कि उसके लिए दु:खी होकर कर्तव्य को त्यागने के लिए बाध्य होना पड़े। मृत्यु भी बाल्यकाल, यौवन तथा वृद्धावस्था की भाँति शरीर की एक गति है। जैसे व्यक्ति पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा अपना जीर्ण-शीर्ण शरीर त्यागकर नया शरीर अपनाती है। मृत्यु शरीर की होती है, व्यक्ति की नहीं... आत्मा तो अमर है... और उस आत्मा को सम्मान केवल वही प्रदान करता है, जो निष्काम भाव से अपने सोच-समझकर निर्धारित किये हुए कर्तव्य का पालन करता है।"

कृष्ण के तर्क-सम्मत ज्ञान से मन्त्र मुग्ध अर्जुन ने हाथ जोड़कर कृष्ण के सम्मुख मस्तक झुकाया और... दूसरे ही क्षण, दृढ़ निश्चय के साथ, अपना धनुष उठा लिया।

अर्जुन को पुनः गाण्डीव उठाते देख पाण्डव पक्ष के महारथियो ने हर्ष में भरकर सिंहनाद किया। भेरी, पेशी, क्रचक, नरसिंगों आदि के अकस्मात् बज उठने से युद्ध-भूमि पर तुमुलनाद होने लगा।

तभी एक बड़ी विचित्र घटना हुई। युधिष्ठिर अपना कवच उतारकर और अस्त्र शस्त्र छोड़कर अपने रथ से उतरे और, हाथ जोड़े हुए ही, शत्रु सेना की दिशा में चल पड़े। उन्हें जाते देख उनके चारों अनुज भी उसी प्रकार अपना रथ त्यागकर उनके पीछे चले। उनको इस स्थिति में देखकर पाण्डव सेना के सभी महारथी दंग रह गये। किसी की समझ मे नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है। वे सब चिन्तित एव आश्चर्यचकित होकर एक-दूसरे की ओर देख रहे थे और पूछ रहे थे कि इसका क्या अर्थ हो सकता है! उधर, यह दृश्य देखकर कौरव सेना मे भी कोलाहल होने लगा.. कुछ योद्धा एव सैनिक हर्ष मे भरकर यह सोचने लगे कि पाण्डव, भयभीत होकर, भाइयों-सहित दुर्योधन के सम्मुख आत्म समर्पण करने आ रहे हैं। अपनी विजय की इस कल्पना मे हर्षित होकर वे दुर्योधन की जय जयकार करते हुए अपनी ध्वजाएँ फहराने लगे।

उधर, प्रणाम मुद्रा में, अपने हाथ बाँधे हुए, अनुजों सहित युधिष्ठिर पितामह भीष्म के सम्मुख पहुँचे और बोले, "पितामह! हम लोगों का दुर्भाग्य है कि हमें आपके विरुद्ध युद्ध करना पड़ रहा है। किन्तु यह कार्य भी मैं आपकी अनुमति एवं आपके आशीर्वाद के बिना नहीं कर सकता। कृपया मुझे बताएँ कि इस विषम स्थिति में मैं क्या करूँ?"

युधिष्ठिर का ऐसा विनम्र व्यवहार देखकर भीष्म सुखद आश्चर्य से भर उठे। उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु छलक आये और वे गद्गद कण्ठ से बोले, "वत्स! यह ऐसा दुःखद संयोग उपस्थित हुआ है, जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। तुम धर्म की राह पर हो, फिर भी मैं हस्तिनापुर की रक्षा के लिए वचनबद्ध होने के कारण तुम्हारे विरुद्ध शस्त्र उठाने के लिए विवश हूँ। किन्तु मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है... परमात्मा तुम्हें विजय प्रदान करे।"

"किन्तु आप जैसे महापराक्रमी योद्धा के विरुद्ध युद्ध करके मैं विजयी कैसे हो सकता हूँ?"

"कोई अमर नहीं होता वत्स..." भीष्म ने निस्तेज मुस्कान के साथ कहा, "समय

आने पर तुम्हें, मुझे अपनी राह से हटाने का मार्ग भी मिल जाएगा। तुम धर्म पर दृढ़ रहे तो तुम्हारा मार्ग स्वयं ही प्रशस्त होता चला जाएगा।"

भीष्म को प्रणाम करके युधिष्ठिर ने अनुजों-सहित आचार्य द्रोण के सम्मुख जाकर उन्हें प्रणाम किया और उनसे भी क्षमा माँगते हुए उनके विरुद्ध शस्त्र उठाने की आज्ञा माँगी।

युधिष्ठिर के विनम्र व्यवहार से गद्‌गद होते हुए द्रोण ने भी उन्हें विजय का आशीर्वाद दिया और कहा, "वत्स! मैं हस्तिनापुर के प्रति अपने कर्तव्य से बँधा हूँ... अतः मुझे तुम्हारे विरुद्ध युद्ध तो करना ही होगा, किन्तु मेरा मन सदैव तुम्हारे साथ रहेगा... सदैव तुम्हारी विजय की कामना करेगा।"

इसी प्रकार युधिष्ठिर ने आचार्य कृप तथा मातुल शल्य के सम्मुख जाकर भी प्रणाम करके, क्षमा-याचना करते हुए, उनके विरुद्ध युद्ध करने के लिए आज्ञा माँगी। उन दोनों ने भी अपनी विवशता बताते हुए पाण्डवों को आश्वस्त किया कि वे मन से उन्हीं के साथ हैं और, उनके विरुद्ध युद्ध करते हुए भी, सदैव उनकी विजय की कामना करते रहेंगे।

अपने गुरुजनों से आशीर्वाद लेकर युधिष्ठिर लौटे और दोनों सेनाओं के बीच में पहुँचकर उन्होंने कौरव सेना को सम्बोधित करते हुए उच्च स्वर मे कहा, "वीरो! दुर्भाग्य से हम लोगों के बीच युद्ध की स्थिति आ बनी है। मैंने शान्ति के हित मे हर सम्भव प्रयास किया, फिर भी युद्ध टल नहीं सका। अब भी, यदि आप लोगो मे से किसी को यह लगे कि मेरी माँग अनुचित नहीं थी तो वह, मेरे विरुद्ध युद्ध करने का विचार त्यागकर, मेरे हित में युद्ध करने के लिए आ सकता है। मैं ऐसे सभी योद्धाओं का हार्दिक स्वागत करूँगा।"

युधिष्ठिर का यह आह्वान सुनकर कौरवों की सेना से निकलकर युयुत्सु का रथ बाहर आता दिखाई दिया। उन्होने युधिष्ठिर के पास पहुँचकर कहा, "महाराज! यदि आप मेरी सेवा स्वीकार करें तो मैं, आपकी ओर से, कौरव सेना के विरुद्ध युद्ध करना चाहूँगा।"

पाण्डवों ने हर्ष-सहित आगे बढकर युयुत्सु को हृदय से लगाया और उन्हे साथ लेकर वे अपनी सेना में आ मिले। अपनी सेना के हर्षनाद के बीच उन्होंने अपने रथो पर बैठकर कवच तथा अस्त्र-शस्त्र धारण किये।

देखते-ही-देखते दोनों ओर, अपनी सेनाओ की व्यूह-रचना करके सेनापतियो ने अपने शंख फूँके। दुर्योधन, भीष्म को आगे रखते हुए, सेना-सहित आगे बढा। उधर भीमसेन के नेतृत्व में, पाण्डव भी भीष्म से टक्कर लेने के लिए बढ़े। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध छिड़ गया।

बड़ी विचित्र स्थिति आ पड़ी थी। वे सभी अपने सम्बन्ध, स्नेह बन्धन, आयु

एवं दायित्व की मर्यादा भुलाकर, एक-दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। भीष्म और अर्जुन के बीच युद्ध ठना था, तो कोसलराज बृहद्बल से अभिमन्यु भिड़ गया। भीमसेन तथा दुर्योधन के बीच संग्राम हो रहा था। दु:शासन का नकुल से और दुर्मुख का सहदेव से युद्ध हो रहा था।

उधर युधिष्ठिर और शल्य के बीच संग्राम छिड़ गया। धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य को टक्कर दी। शंख ने उत्साह में भरकर सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा पर आक्रमण किया। बाह्लीक और चेदिराज धृष्टकेतु क्रोध में भरकर उलझ गये। राक्षसराज अलम्बुष के साथ घटोत्कच का भयंकर युद्ध छिड़ गया। शिखण्डी का अश्वत्थामा से युद्ध होने लगा।

दूसरी ओर जयद्रथ और द्रुपद एक-दूसरे को अपने प्रहारों से आहत कर रहे थे। इसी प्रकार सारे महारथी एवं रथी अपनी टक्कर के योद्धाओं से उलझे हुए, अपने प्राणों की चिन्ता त्याग कर, भयंकर युद्ध में जुट गये।

इस प्रकार युद्ध के प्रथम दिवस का मध्याह्न होते-होते अनेक रण बाँकुरे वीरों का संहार हो गया। तब भीष्म, दुर्योधन, दुर्मुख, कृतवर्मा, कृप, शल्य और विविंशति क्रोधातुर होकर पाण्डवों की सेना में घुसने लगे। यह देखकर अभिमन्यु ने आगे बढ़कर उन सब को टक्कर दी। उनके बाणो से बिधकर भी अभिमन्यु ने विचलित हुए बिना उन सब पर भी अपने बाणों की झड़ी लगा दी।

दूसरी ओर, विराट-पुत्र उत्तर ने हाथी पर चढ़कर बडे वेग के साथ शल्य पर धावा किया। किन्तु, टक्कर के भीषण युद्ध के बाद, शल्य ने उत्तर को मार गिराया। अपने भाई को मृत देख, श्वेत ने क्रोध में भरकर शल्य पर आक्रमण किया किन्तु अनेक महारथियो ने श्वेत को घेरकर शल्य को तो उसके प्रहार से बचा लिया, किन्तु इस रोमांचकारी युद्ध में श्वेत के हाथों कौरव सेना के अनेक योद्धा मार गये। भीषण मार-काट देखकर बाह्लीक, कृतवर्मा, शल, शल्य, जलसन्ध, विकर्ण, चित्रसेन, विविंशति, आदि अनेक महारथी, भीष्म को चारो ओर से घेरकर, श्वेत पर बाण-वर्षा करने लगे। श्वेत का अभूतपूर्व पराक्रम देखकर भीष्म ने पैने बाणों से उसके रथ के पहिये तोड़ डाले और सारथि को भी मार गिराया। यह देख रथ से कूदकर श्वेत ने भी, भीष्म के रथ को खण्डित करके, उनका धनुष काट दिया और अपने पैने बाणों से उनकी छाती पर प्रहार किया। उसका रण कौशल देखकर स्वयं भीष्म भी स्तब्ध रह गये और दुर्योधन ने पुकारकर अनेक महारथियों को भीष्म की रक्षा के लिए नियुक्त किया। उन सबसे घिरे श्वेत ने भीष्म को कड़ी टक्कर दी, किन्तु अन्त में उनके एक पैने बाण से आहत होकर अपने प्राण त्याग दिये।

सूर्य सिर पर चढ़ आया था... और युद्ध का उन्माद भी आकाश छूता प्रतीत होता था। श्वेत को गिरते देख, राजकुमार शंख ने क्रोध में भरकर मद्रराज शल्य पर आक्रमण

किया। उसका प्रबल आक्रमण देख, बृहद्बल, जयत्सेन, रुक्मरथ, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण तथा जयद्रथ, शल्य को घेरकर शंख पर शस्त्र-वर्षा करने लगे। किन्तु शंख अकेला ही उन सातों पर भारी पड़ रहा था। यह देख, भीष्म ने भी आगे बढ़कर शंख पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। तब शंख की रक्षा के लिए अर्जुन जा पहुँचे और, देखते-ही-देखते, भीष्म तथा अर्जुन के बीच भयंकर युद्ध छिड़ गया। इसी बीच शल्य ने अपने रथ से उतरकर गदा-प्रहार द्वारा शंख के रथ के चारों अश्वों को मार डाला। रथ-विहीन होते ही शंख हाथ में खड्ग लिये उछलकर अर्जुन के रथ पर जा बैठा।

उधर भीष्म अर्जुन को छोड़कर पांचाल, मत्स्य और केकय योद्धाओं पर बाणो की वर्षा करते हुए व्यापक संहार करने लगे। दिन ढलते-ढलते पाण्डव सेना का व्यूह भंग हो चुका था और वह भीष्म के प्रहार से त्रस्त एवं व्याकुल थी।

तभी, सूर्यास्त होता देख, पाण्डवों ने अपनी सेना को पीछे हटा लिया।

युद्ध के प्रथम दिवस की उपलब्धि से जहाँ दुर्योधन प्रसन्न एवं उत्साहित था, वहीं पाण्डव भीष्म के सम्मुख कुछ न कर पाने के कारण दुःखी थे। कृष्ण ने सान्त्वना देकर पाण्डवों का मनोबल बढ़ाया... और प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न ने अपनी युद्ध की नयी रणनीति बताते हुए उन्हें आश्वस्त किया।

दूसरे दिन, धृष्टद्युम्न ने क्रौंचारुण व्यूह बनाकर अर्जुन को सेना के अग्र भाग में रखा। द्रुपद अपनी विशाल सेना के साथ व्यूह के शिरोभाग में स्थित हुए। कुन्तिभोज और चेदिराज नेत्रों के स्थान पर रखे गये।

उधर, पाण्डवों के क्रौंच-व्यूह से टकराने के लिए, व्यूह बनाकर, भीष्म अनेक योद्धाओं के साथ आगे बढ़े। उनके पीछे द्रोणाचार्य थे और शकुनि, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, शिवि और वसाति योद्धाओं के साथ, उनकी रक्षा करता चल रहा था। उसके पीछे दुर्योधन, अपने सभी भाइयों के साथ, सेना लेकर बढ़ रहा था। भूरिश्रवा, शल, शल्य, भगदत्त, विन्द-अनुविन्द बायीं ओर थे और अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा दायीं ओर से आक्रमण कर रहे थे।

सूर्योदय होते ही शंख-ध्वनि और रणभेरियों के साथ दोनो सेनाएँ टकरायीं और भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया। भीष्म की बाण-वर्षा के आगे पाण्डवों का व्यूह अधिक देर नहीं ठहर सका और धीरे-धीरे बिखरने लगा। तब अर्जुन ने कृष्ण से कहकर अपना रथ भीष्म की ओर बढ़ाया।

अर्जुन को देख, भीष्म के साथ ही, द्रोण, कृप, दुर्योधन, शल्य, जयद्रथ, और विकर्ण भी एक साथ ही टूट पड़े और बाण- वर्षा द्वारा उन्हें आहत करने लगे... किन्तु अर्जुन बाणों से सारा शरीर बिंध जाने पर भी विचलित हुए बिना उन सब के विरुद्ध

युद्ध करते रहे। कुछ ही समय में सात्यकि, विराट, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु आदि ने पहुँचकर, अर्जुन की रक्षा करते हुए, युद्ध प्रारम्भ कर दिया। देखते-ही-देखते अर्जुन के बाणों से कौरव सेना का भीषण विनाश होने लगा।

यह देख, दुर्योधन ने क्रुद्ध होकर भीष्म को ललकारा, "आप क्या कर रहे हैं पितामह! मारते क्यों नहीं अर्जुन को? वह हमारी सेना को नष्ट किये जा रहा है, और आप उसे रोकते ही नहीं। कर्ण अकेला ही अर्जुन पर भारी पड़ सकता था, किन्तु केवल आपके कारण वह युद्ध नहीं कर रहा है। अब अर्जुन को रोकने का सारा उत्तरदायित्व आप पर है... मारिए उसे, पितामह! मारिए उसे।"

यह सुनकर, अपने क्षत्रिय-धर्म को धिक्कारते हुए, भीष्म ने रथ अर्जुन की ओर बढ़ाया... किन्तु बीच में ही, धृष्टद्युम्न ने उनकी राह रोककर उन्हें टक्कर दी। दोनों में घमासान युद्ध हुआ... द्रोण भी उसपर शस्त्र-वर्षा करने लगे। जब धृष्टद्युम्न कुछ निर्बल पड़ने लगा तो भीमसेन उसकी सहायता के लिए दौड़े। उधर दुर्योधन ने भीमसेन से टकराने के लिए कलिंग की विशाल सेना भेजी। भीषण युद्ध के बाद कलिंगराज के पुत्र शक्रदेव ने बाण-वर्षा द्वारा भीमसेन के रथ के अश्वों को मार दिया। किन्तु रथ-विहीन होकर भी भीमसेन ने, एक विशाल गदा फेंककर, शक्रदेव को मार गिराया।

पुत्र को मरता देख, कलिंगराज ने विशाल सेना लेकर भीमसेन पर आक्रमण किया। किन्तु भीमसेन ने उस सेना से टकराते हुए ही भानुमान पर धावा किया, और वे उनके हाथी के दोनों दाँत पकड़कर उसके मस्तक पर चढ़ गये। वहाँ खड्ग-युद्ध करते हुए उन्होंने भानुमान को काट गिराया। उस समय भीमसेन का पराक्रम देखते ही बनता था... वे हाथ में खड्ग लिये, अकेले ही दौड़-दौड़कर, कौरव सेना का विनाश कर रहे थे।

भीमसेन को शत्रु सेना के बीच खड़ा देख, उनका सारथि विशोक एक रथ लेकर जा पहुँचा। उस पर आरूढ़ हो, भीमसेन ने कलिंग योद्धा श्रुतायु पर धावा किया और, कड़ी टक्कर के बाद, उसे अपने बाणों से बींध डाला... और फिर केतुमान को भी यमलोक पहुँचा दिया। उनका अद्भुत पराक्रम देखकर कौरव सेना में त्राहि-त्राहि मच गयी।

तभी भीष्म ने आगे बढ़कर भीमसेन को टक्कर दी और उनके रथ के अश्वों को मार गिराया। भीमसेन अपना रथ नष्ट होते ही गदा लेकर धरती पर कूद पड़े। उधर, उनकी रक्षा के लिए, सात्यकि ने आकर भीष्म के सारथि को मार गिराया। सारथि के मरते ही भीष्म के रथ के अश्व दौड़ते हुए उनके रथ को रणभूमि से बाहर भगा ले गये। तभी सात्यकि भी भीमसेन को अपने रथ में बिठाकर पाण्डव-सेना की ओर ले गया।

दूसरे दिन का मध्याह्न काल आते आते धृष्टद्युम्न ने अकेले ही अश्वत्थामा,

शल्य तथा कृपाचार्य पर आक्रमण किया। धृष्टद्युम्न को उन तीनों से घिरा देख, अभिमन्यु ने उनके पास पहुँचकर उन तीनों पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। इतने में ही, दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण ने धृष्टद्युम्न के सामने पहुँचकर, अभिमन्यु पर बाणों की झड़ी लगा दी।

उनका भीषण संग्राम सूर्यास्त तक चलता रहा।

तीसरे दिन, भीष्म ने कौरव सेना को गरुड़ व्यूह में स्थापित किया। उसके अग्रभाग में वे स्वयं स्थित हुए। दोनों नेत्रों के स्थान पर द्रोणाचार्य और कृतवर्मा थे, और शिरोभाग में अश्वत्थामा और कृपाचार्य स्थापित थे। अपने अनुजों तथा अनुचरों के साथ दुर्योधन पृष्ठ भाग में था।

दूसरी ओर, अर्जुन तथा धृष्टद्युम्न ने मिलकर अर्धचन्द्राकार व्यूह बनाया, जिसके उत्तर एवं दक्षिण शिखर पर क्रमशः अर्जुन तथा भीमसेन थे। भीमसेन के पीछे नील, नल तथा धृष्टकेतु के साथ विराट और द्रुपद थे। धृष्टद्युम्न एवं शिखण्डी, पांचाल तथा प्रभद्रक योद्धाओं के साथ, मध्य-भाग में स्थित हुए। अपनी गज-सेना के साथ युधिष्ठिर भी वहीं थे।

सूर्योदय होते ही, शंखनाद एवं रणभेरियों की गूँज के साथ युद्ध प्रारम्भ हो गया। कौरव सेना के प्रारम्भिक प्रहार से पाण्डव सेना के पाँव उखड़ गये और उसमें भगदड मच गयी। तब भीमसेन, घटोत्कच, सात्यकि, चेकितान और द्रौपदी के पुत्र उनको कड़ी टक्कर देते हुए पीछे ढकेलने लगे। अर्जुन ने भीषण बाण-वर्षा करके भीष्म तथा द्रोण को ऐसी टक्कर दी कि बढ़ती हुई कौरव सेना भाग खड़ी हुई।

अपनी सेना की यह स्थिति देख दुर्योधन ने क्रोधित होकर भीष्म तथा द्रोण से कहा, "आप लोगों के रहते यह क्या हो रहा है? यह तो मानने योग्य बात नहीं है कि पाण्डव योद्धा आपसे अधिक शक्तिशाली हैं! लगता यही है कि आप उन पर कृपा-दृष्टि के कारण पूरे मन से प्रहार नहीं कर रहे हैं।"

"और अब तुम यह भी कह लो दुर्योधन!" भीष्म ने भी क्रोधित स्वर में कहा, "कि यदि मेरे स्थान पर कर्ण होता, तो तुम पहले ही दिन युद्ध जीत लेते। यदि तुम्हें अब भी यह विश्वास हो तो बुला लो उसे... किन्तु बारम्बार व्यंग्य न करो। लाछन न लगाओ मुझ पर। मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि पाण्डवों को जीत लेना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो है ही।"

दुर्योधन को उस समय चुप रहना ही श्रेयस्कर लगा। उसने मुस्कराकर विनम्र होते हुए कहा, "नहीं पितामह! यह सत्य नहीं है। आप जैसे महारथी के लिए कुछ भी कठिन है, यह मैं नहीं मान सकता। आप आगे बढ़ें... विजयश्री आप ही को प्राप्त होगी।"

दिन का प्रथम भाग बीत चुका था... और सूर्य पश्चिम की ओर ढलने लगा था। भीष्म ने तीव्रगामी रथ पर बैठ कर, पाण्डव सेना पर सक्रोध आक्रमण करके, व्यापक संहार प्रारम्भ कर दिया। पाण्डव सेना में भगदड़ मचती देख, कृष्ण ने, उन्हें टक्कर देने के लिए अर्जुन को प्रेरित किया और रथ भीष्म की ओर बढ़ाया। भयंकर युद्ध करते हुए उन दोनों ने ही कई बार एक-दूसरे के धनुष और कवच काट गिराये... और एक-दूसरे को अपने बाणों से बींध दिया।

उनका प्रयलकारी द्वन्द्व देख जहाँ भीष्म की रक्षा के लिए द्रोण, कृपाचार्य, जयद्रथ, विकर्ण, विन्द, अनुविन्द तथा भूरिश्रवा आ पहुँचे, वहीं सात्यकि ने अर्जुन के पास पहुँचकर उनकी ओर से बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी... किन्तु भीष्म का पक्ष निरन्तर भारी पड़ता जा रहा था।

फिर भी, भीष्म के प्रचण्ड वेग से टकराने के लिए कृष्ण निरन्तर अर्जुन तथा सात्यकि को प्रेरित कर रहे थे। उनकी दृष्टि कभी रथ को सँभालने के लिए अश्वों पर जाती थी तो कभी अर्जुन का उत्साह बढ़ाने के लिए पीछे मुड़ जाती थी। कभी वे सात्यकि को उत्साहित करते थे तो कभी विरोधियो के प्रहार के विरुद्ध उन दोनों को सावधान करते थे। किन्तु उन दोनों के विरुद्ध अपने रथियों महारथियो के सामूहिक प्रहार से जूझते हुए, कृष्ण स्वयं भी उस घात-प्रतिघात में ऐसे उलझ गये कि अनजाने में ही अश्वों की लगाम उनके हाथो से फिसल गयी... और उनका दाहिना हाथ अपने सुदर्शन चक्र पर चला गया। दूसरे ही क्षण वे चक्र उठाये हुए, रथ से कूदकर, भीष्म की ओर दौड़े.

इस दृश्य की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। कृष्ण अपना चक्र घुमाकर छोड़ते, इससे पहले ही उन्होंने भीष्म को धनुष रखकर हाथ जोड़ते हुए देखा।

"आओ चक्रधारी माधव!" भीष्म ने पुकारते हुए कहा, "यह तो मेरे लिए बड़े सम्मान की बात है कि पाण्डव सेना को मेरे सम्मुख असहाय मानकर, स्वयं तुमने शस्त्र उठा लिया... अपनी प्रतिज्ञा भूलकर... कि तुम इस युद्ध में शस्त्र नहीं उठाओगे।"

इसी बीच अर्जुन ने भी दौड़कर कृष्ण को रोका और उन्हें उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराया। कृष्ण को सहसा चेत हुआ और वे गम्भीर स्वर में बोले, "अर्जुन! प्रतिज्ञा तो तुमने भी की थी कि तुम सारे सम्बन्ध भुलाकर, सारा संकोच त्यागकर, पूरी शक्ति के साथ युद्ध करोगे।"

"ऐसा ही होगा, केशव!" अर्जुन ने मनुहारते हुए कहा, "अब आप मेरा यथार्थ पराक्रम देखेंगे। मेरे लिए आप अपनी प्रतिज्ञा न तोड़ें।"

कृष्ण अपना चक्र सहेजते हुए पुनः रथ पर आ बैठे और.. देखते-ही-देखते

अर्जुन ने भीषण बाण-वर्षा प्रारम्भ करके कौरव सेना के पाँव उखाड़ दिये।

सूर्यास्त होने पर अपने शिविरों को लौटती हुई सेनाओं में अर्जुन के विस्मयकारी पराक्रम की ही चर्चा हो रही थी। भीष्म के शिविर में एकत्रित अनेक योद्धा, देर रात तक, अर्जुन से निपटने की रणनीति पर विचार-विमर्श करते रहे।

चौथे दिन, युद्ध प्रारम्भ होते ही, भीष्म ने द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, शल्य, विविंशति, दुर्योधन, भूरिश्रवा आदि को साथ लेकर, अर्जुन पर धावा किया। यह देख अभिमन्यु ने आकर भीष्म के साथ खड़े सभी योद्धाओं को टक्कर दी और, दूसरी ओर, भीष्म तथा अर्जुन के बीच भयंकर द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। अभिमन्यु भी, अकेले ही, अनेक महारथियों पर भारी पड़ रहा था।

यह देख दुर्योधन ने त्रिगर्त, मद्र और केकय की सेनाओं को उन दोनों को घेरने के लिए भेजा। किन्तु, दूसरी ओर, धृष्टद्युम्न अपनी सेना-सहित अर्जुन तथा अभिमन्यु की सहायता के लिए आ पहुँचा।

देखते-ही-देखते वह समर-केन्द्र ही सारे रण-क्षेत्र का प्रमुख केन्द्र बनता चला गया। वहीं अनुजों-सहित दुर्योधन ने भी आकर युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया और भीमसेन भी उधर ही खिंचे चले आये। दुर्योधन अपने अनुज नन्दक-सहित भीमसेन पर टूट पड़ा। किन्तु भीमसेन ने बुरी तरह घायल हो जाने पर भी उन दोनों को मार भगाया।

इतने में धृतराष्ट्र के चौदह पुत्रों ने भीमसेन को चारों ओर से घेर लिया। किन्तु वे भी उनके सम्मुख नहीं टिक पाये। भीमसेन ने उनमें से जलसन्ध, सेनापति, सुषेण, उग्र, वीरबाहु, भीम, भीमरथ और सुलोचन को मार गिराया। शेष छः किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भाग खड़े हुए।

भीमसेन का यह प्रचण्ड रूप देखकर भगदत्त ने बड़ी सेना लेकर उन पर आक्रमण किया और उन्हें घायल कर दिया। तभी घटोत्कच ने भगदत्त पर आक्रमण करते हुए उन्हें बुरी तरह घायल कर दिया। भगदत्त को विपत्ति में देखकर भीष्म और द्रोण उनकी सहायता के लिए आये, किन्तु घटोत्कच के पराक्रम के आगे वे भी टिक नहीं पा रहे थे।

कुछ ही देर में भीष्म को यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। उन्होंने युद्ध-विराम की घोषणा करते हुए अपनी सेना को शिविर की ओर लौटने का आदेश दिया।

शिविर की ओर लौटते समय कौरव-सेना लज्जित थी... और दुर्योधन अपनी पराजय के साथ ही अनेक अनुजों की मृत्यु से शोकाकुल एवं चिन्तित था। अपनी

चिन्ता के इन क्षणों में दुर्योधन को घूम-फिरकर पितामह भीष्म तथा आचार्य द्रोण पर ही क्रोध आ रहा था... 'क्यों? क्यों इनके रहते भी पाण्डव सेना परास्त नहीं हो पा रही है?' किन्तु वह जानता था कि उसके सम्मुख कोई विकल्प नहीं है... वह जीते-जी पितामह को सेना से न तो हटा ही सकता था, और न उनके रहते कर्ण को ही युद्ध करने के लिए मना सकता था।

तब तो इस दुविधा का हल सम्भवत: समय ही निकाले... दुर्योधन ने सोचा। 'होने दो, पाण्डव कुछ दिन और प्रबल हो लें। कौन जाने वे स्वयं ही पितामह को मार्ग से हटाकर कर्ण का मार्ग प्रशस्त करें...'

पाँचवें दिन, जहाँ भीष्म ने कौरव सेना को मकर-व्यूह में खड़ा किया वहीं पाण्डव सेना ने श्येन-व्यूह रचा था।

भीमसेन ने, मकर-व्यूह का मुख वेधते हुए, आगे बढ़कर भीष्म पर भीषण बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी। उधर, अपने भाइयों के वध से त्रस्त दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को गम्भीरता के साथ युद्ध करने के लिए उकसाया। वे पाण्डवों का व्यूह तोड़ने को बढ़े, तो सात्यकि ने उनके सामने पहुँचकर उन्हें टक्कर दी... और उन दोनों के बीच भयंकर संग्राम छिड़ गया। कुछ ही देर मे, जहाँ सात्यकि की ओर से भीमसेन आकर युद्ध करने लगे वहीं द्रोण की सहायता के लिए भीष्म और शल्य जा पहुँचे।

दिन चढ़ते-चढ़ते वह स्थल ही प्रमुख समर केन्द्र बन गया। अर्जुन ने भी वहीं पहुँचकर भीष्म के बाणों का उत्तर देना प्रारम्भ किया। किन्तु भीष्म का पराक्रम अद्वितीय था। जहाँ वे अपने बाणो से पाण्डव सेना का व्यापक संहार कर रहे थे, वहीं भीमसेन जयद्रथ के साथ, युधिष्ठिर शल्य के साथ, विकर्ण सहदेव के साथ, चित्रसेन शिखण्डी के साथ, विराट दुर्योधन तथा शकुनि के साथ, द्रुपद और सात्यकि आचार्य द्रोण एवं अश्वत्थामा के साथ और कृपाचार्य तथा कृतवर्मा धृष्टद्युम्न के साथ युद्ध में लग गये।

मध्याह्न का समय हो चुका था, किन्तु युद्ध की गति थमने का नाम नहीं ले रही थी। रह-रहकर महारथियों के धनुष कटते थे, कवच टूटकर गिरते थे और उनके शरीर बाणों से बिंधकर रक्त बहाते रहते थे... किन्तु उनका युद्ध शिथिल नहीं पड़ता था। कहीं रथों के अश्व बाणों अथवा गदा-प्रहार से मरकर गिरते, तो कही चक्र टूटने के कारण रथ निष्क्रिय हो जाते... कहीं सारथि की मृत्यु के कारण योद्धा अपना रथ त्यागने को विवश हो जाते और कहीं बिना सारथि एवं रथी के, दिशा-हीन दौड़ते-हिनहिनाते हुए, अश्व रण-भूमि में हलचल मचाते दिखाई देते थे।

इसी बीच दुर्योधन ने अपने पुत्र लक्ष्मण-सहित भीमसेन को टक्कर देते हुए, उन्हें अपने बाणों से बींध दिया। किन्तु भीमसेन किसी के रोके नहीं रुक रहे थे और रौद्र

रूप धारण किये, चारों ओर मार-काट मचाते घूम रहे थे। तभी, अभिमन्यु ने भीमसेन के पास पहुँचकर दुर्योधन तथा लक्ष्मण पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। अभिमन्यु ने लक्ष्मण के रथ के चारों घोड़ों को मारकर उस पर भी बाणों की झड़ी लगा दी। तब कृपाचार्य, उसे बचाते हुए, अपने रथ पर बैठाकर रणभूमि के बाहर ले गये।

उधर भीष्म, पाण्डवों पर सीधे प्रहार न करते हुए, पाण्डव-सेना के विनाश में लगे थे और इधर सात्यकि कौरव सेना का व्यापक संहार कर रहा था। तभी, भूरिश्रवा ने आगे बढ़कर सात्यकि को टक्कर दी। भूरिश्रवा की विशाल सेना द्वारा अपने पिता को घिरा देख सात्यकि के दस पुत्र अपने रथ दौड़ाते हुए आये और भूरिश्रवा पर बाण-वर्षा करने लगे। किन्तु वे भूरिश्रवा के सम्मुख अधिक देर टिक नहीं पाये। कुछ देर तक भीषण संग्राम करते हुए वे सभी धराशायी हो गये।

अपने दस पुत्रों की मृत्यु से आहत एवं क्रोधित होकर सात्यकि ने भूरिश्रवा पर आक्रमण किया और उसके रथ के घोड़ों को मार डाला। उधर, भूरिश्रवा ने भी सात्यकि के रथ के अश्वों को मार दिया। वे दोनों ही रथ हीन होकर खड्ग एवं ढाल उठाये एक-दूसरे से भिड़ गये। कुछ ही देर में भीमसेन ने सात्यकि को अपने रथ पर चढ़ा लिया। इसी प्रकार दुर्योधन ने भी रथ दौड़ाते हुए आकर भूरिश्रवा को अपने रथ पर बैठा लिया।

दूसरी ओर पाण्डव सेना महारथी भीष्म से युद्ध कर रही थी। एक ओर भीष्म पाण्डव सेना का विनाश कर रहे थे और दूसरी ओर, अर्जुन कौरव सेना को अपने आग्नेय बाणों मे ध्वस्त कर रहे थे। व्यापक विनाश का यह क्रम सूर्यास्त होने तक चलता रहा।

युद्ध के छठे दिन, धृष्टद्युम्न ने पाण्डव-सेना का मकर-व्यूह बनाया, जिसमे भीमसेन मुख स्थान पर, द्रुपद तथा अर्जुन शिरोभाग में, और नकुल तथा सहदेव नेत्र स्थान पर स्थित हुए।

पाण्डवों की व्यूह-रचना देखकर भीष्म ने कौरव सेना का क्रौंच-व्यूह बनाया, जिसकी चोंच के स्थान पर द्रोणाचार्य खड़े थे। अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य नेत्र स्थान पर, काम्बोज और बाह्लीक के साथ कृतवर्मा शिरोभाग में और शूरसेन तथा अन्य अनेक योद्धाओं के साथ दुर्योधन कण्ठ स्थान में स्थित था।

सूर्योदय होते ही भीमसेन ने द्रोणाचार्य की सेना पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम करते हुए द्रोण के सारथि को धराशायी कर दिया। सारथि के मरते ही द्रोण, स्वयं ही अश्वों की बागडोर सँभालते हुए, बाण-वर्षा द्वारा शत्रु-सेना का संहार करने लगे। दूसरी ओर, महारथी भीष्म पाण्डव-सेना पर भयंकर बाण-वर्षा कर रहे थे। दोनो

ओर से घिर जाने के कारण सृंजय तथा केकय-सेनाओं में भगदड़ मच गयी। किन्तु भीमसेन ने, अर्जुन के साथ मिलकर, कौरव सेना पर ऐसी भयंकर बाण-वर्षा की कि कौरव-सेना में भी खलबली मच गयी। दोनों सेनाओं के व्यूह टूट गये और दोनों ओर के सैनिक दिशा-हीन होकर, जो जहाँ मिला, उसी से युद्ध करने लगे।

इसी बीच, धृतराष्ट्र-पुत्रों ने अपने भाइयों की मृत्यु का ध्यान करके, भीमसेन को चारों ओर से घेर लिया। यह देख भीमसेन को भी क्रोध हुआ और वे, रथ पर अपने सारथि विशोक को छोड़कर, हाथ में मात्र एक गदा लिये, दौड़-दौड़कर उन सब पर प्रहार करने लगे। उधर, धृष्टद्युम्न ने सहसा भीमसेन के रथ पर अकेले विशोक को देखा तो वे आशंका एवं दुःख से द्रवित होकर क्षण भर को अचेत हो गये... किन्तु, दूसरे ही क्षण, जब उन्होंने भीमसेन को रौद्र रूप से शत्रुओं पर प्रहार करते देखा, तो वे प्रसन्नतापूर्वक दौड़कर उनके पास पहुँचे और उनके साथ मिलकर धृतराष्ट्र-पुत्रों के साथ युद्ध करने लगे।

धृतराष्ट्र-पुत्रों को दो महारथियों से घिरा देख, द्रोणाचार्य उनकी रक्षा के लिए पहुँचे। उसी समय युधिष्ठिर ने भीमसेन तथा धृष्टद्युम्न की सहायता के लिए अभिमन्यु, धृष्टकेतु तथा द्रौपदी पुत्रों को भेजा। उधर, द्रोण को सामने पाकर भीमसेन ने धृतराष्ट्र पुत्रों को छोड़ दिया और द्रोणाचार्य से ही युद्ध करने का निश्चय किया।

दूसरी ओर, भीष्म अपनी बाण-वर्षा द्वारा पाण्डव-सेना का विनाश करते घूम रहे थे, जिससे पाण्डव दल के पाँव उखड़ रहे थे। इसी बीच दुर्योधन को देख, भीमसेन ने, अन्य सभी को छोड़कर, उस पर आक्रमण किया और उसे घायल करके कौरव सेना को व्यथित करना प्रारम्भ किया।

एक बार फिर, अपनी सेना को अव्यवस्थित होते देख, भीष्म ने अपनी सेना का मण्डल व्यूह बनाया... और यह देखकर, धृष्टद्युम्न ने भी वज्र-व्यूह बनाकर अपनी सेना को नयी व्यवस्था प्रदान की। अनेक समर-केन्द्रों पर विनाश लीला चल निकली। वही घात प्रतिघात , कहीं रथ के अश्वों का गिरना, कभी रथ-चक्र तोड़कर रथों को निष्क्रिय करना, तो कहीं रथियों, महारथियों, अश्वारोहियों के साथ ही पैदल सैनिकों का विनाश।

ऐसी ही एक विनाशलीला में, द्रोण ने राजकुमार शंख को मार गिराया। पुत्र की मृत्यु से दुःखी एवं आक्रांत होकर विराट ने युद्धस्थल छोड़ दिया। उनकी मनःस्थिति देख, कुछ योद्धाओं को तो यह लगा कि वे अब युद्ध क्षेत्र में फिर कभी नहीं लौटेंगे।

उस समय शिखण्डी अश्वत्थामा के साथ युद्ध में उलझे हुए थे। उन्होंने अश्वत्थामा को अपने बाणों से बींधकर उसका रथ भी ध्वस्त कर दिया। किन्तु, कुछ समय बाद, स्वयं अपना रथ खण्डित हो जाने पर, उन्हें सात्यकि के रथ पर बैठकर दूसरे समर-केन्द्र की ओर जाना पड़ा।

सात्यकि ने, शिखण्डी के साथ मिलकर, अलम्बुष को इतना आहत किया कि उसे भाग जाना पड़ा। फिर सात्यकि ने अपना रथ धृतराष्ट्र-पुत्रों की ओर बढ़ाकर उन पर बाण वर्षा प्रारम्भ की। कुछ ही देर में वे सभी भयभीत होकर भाग खड़े हुए।

उधर, धृष्टद्युम्न और भीमसेन कौरव-सेना के विनाश में लगे हुए थे। इसी प्रकार घटोत्कच का भगदत्त के साथ युद्ध हो रहा था। किन्तु भगदत्त के पराक्रम एवं अनुभव के आगे घटोत्कच की नहीं चली। उसके जैसे मायावी योद्धा को भी भगदत्त के सामने से विवश होकर हटना ही पड़ा। उसके हटते ही भगदत्त ने अपना हाथी पाण्डव सेना की ओर बढ़ाया और उसका व्यापक संहार प्रारम्भ किया।

दूसरी ओर नकुल तथा सहदेव, शल्य से युद्ध कर रहे थे। कड़ी टक्कर के बाद उन दोनों ने शल्य को एक बाण से ऐसा आहत किया कि वे रथ पर अचेत होकर गिर पड़े और उनके सारथि को रथ रणभूमि से बाहर ले जाना ही हितकर लगा।

एक ओर, युधिष्ठिर ने श्रुतायु का धनुष काटकर उसकी छाती बाणों से बींध दी और उसका रथ भी तोड़ दिया। रथहीन होकर उसे रणक्षेत्र से भागना पड़ा। श्रुतायु को इस प्रकार भागते देख, उसकी सारी वाहिनी भागने लगी।

इसी प्रकार, कुछ देर चेकितान ने आचार्य कृप को बाणों से आच्छादित किया। किन्तु कुछ ही देर में कृपाचार्य ने चेकितान को घायल करके उसके सारथि को मार गिराया और रथ को भी तोड़ दिया। देखते ही देखते वे दोनों रथहीन होकर, खड्ग उठाये हुए, एक दूसरे से भिड़ गये।

इन सब छिट-पुट योद्धाओं की टक्कर के बीच जहाँ भीष्म, भीमसेन दुर्योधन धृष्टद्युम्न, अर्जुन, द्रोणाचार्य आदि होते थे वही स्थल, देखते ही देखते, भयंकर युद्ध का केन्द्र बन जाता था। छूटते हुए बाणों, टूटते हुए रथों, घोड़ों की हिनहिनाहट, हाथियों की चिंघाड, खड्ग टकराने के स्वर तथा योद्धाओं की हुंकार के बीच, व्यूह बनते-बिगड़ते थे... योद्धा रथ बदलते थे और स्थान तथा विरोधी बदलते हुए घात-प्रतिघात में लगे रहते थे।

सातवें दिन, दुर्योधन ने भीष्म, विविंशति और द्रोणाचार्य के साथ मिलकर कौरव सेना का सागर-जैसा व्यूह बनाया, जिसमें भीष्म के साथ, उनके आगे, दक्षिण भारत तथा उज्जैन के योद्धा थे। उनके पीछे कुलिन्द, पारद, क्षुद्रक आदि के साथ आचार्य द्रोण थे। फिर मगध तथा कलिंग योद्धाओं को साथ लेकर भगदत्त चल रहे थे। उनके पीछे थे बृहद्बल, त्रिगर्तराज सुशर्मा, अश्वत्थामा... और सबसे पीछे अपने अनुजो सहित दुर्योधन।

कौरवों का वह महाव्यूह देखकर धृष्टद्युम्न ने शृंगाटक-व्यूह बनाया, जिसमें दोनो

शृंगों के स्थान पर भीमसेन तथा सात्यकि स्थित हुए, मध्य में अर्जुन, युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव और उनके पीछे अभिमन्यु, विराट, घटोत्कच तथा द्रौपदी-पुत्र रखे गये।

युद्ध प्रारम्भ होते ही भीष्म ने आगे बढ़कर पाण्डव-सेना का संहार प्रारम्भ किया। अनेक धृतराष्ट्र पुत्र भी उनके साथ थे। जहाँ भीष्म के प्रहार से सभी योद्धा विचलित होकर पीछे हट गये, भीमसेन उनके सम्मुख अडिग रहकर टक्कर देते रहे। भीष्म तथा अपने अनुजों की रक्षा के लिए दुर्योधन ने वहाँ पहुँचकर भीमसेन पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की, किन्तु इसी बीच भीमसेन ने भीष्म के सारथि को मार गिराया और उनके रथ के अश्व उन्हें रथ-सहित लेकर भाग गये।

तभी युद्ध-क्षेत्र में उन्मत्त घूमते हुए भीमसेन ने दुर्योधन के एक अनुज, सुनाभ का सिर काट गिराया। यह देखकर, क्रोध में भरे वहाँ उपस्थित उसके सात भाइयो ने मिलकर भीमसेन पर आक्रमण किया और उन्हें बुरी तरह घायल कर दिया। किन्तु कुछ ही देर में, भयंकर युद्ध करते हुए, भीमसेन ने उन सातों को बाणों से मार मारकर धराशायी कर दिया।

अपने अनजों की मृत्यु से दुःखी होकर दुर्योधन भीष्म के पास गया और फूट फूटकर रोते हुए बोला, "मेरे अनुज इतनी निर्दयता-पूर्वक मारे जा रहे हैं.. भीमसेन स्वच्छन्द घूमता हुआ विनाशलीला मचा रहा है, और आप न जाने क्या कर रहे हैं? आप इस प्रकार हम लोगों की उपेक्षा क्यों किये जा रहे हैं, पितामह?"

दुर्योधन के कटु-वचन सुनकर भीष्म की आँखों में भी अश्रु भर आये। उन्होंने कहा, "तुम कभी नहीं समझ पाओगे वत्स, कि मैं पूरे मन से... अपनी पूरी शक्ति लगाकर युद्ध कर रहा हूँ। किन्तु वास्तविकता यही है कि पाण्डवों का पराक्रम अद्वितीय है। मुझे पता था कि कौरव सेना की हानि होने के साथ, प्रतिदिन, आक्षेप मुझ पर आएगा। इसीलिए मैंने पहले ही कहा था कि इस युद्ध में मुझसे और द्रोण से भाग लेने का आग्रह न करो.. किन्तु मेरी बात तुम्हारी समझ में नहीं आयी।

"मेरे वश में जो है, वह तो मैं कर ही रहा हूँ, और करता ही रहूँगा... किन्तु अब भी मान सको तो मेरी बात मान लो। अब भी पाण्डवों से सन्धि कर लो और उन्हें उनका राज्य दे दो।"

दुर्योधन ने एक झटके के साथ, दुःख में झुका हुआ अपना सिर उठाते हुए, दृष्टि पितामह के मुख पर टिका दी। उसकी आँखें अंगारे उगल रही थीं।

"क्षत्रिय शूरवीर कुछ आघातों से भयभीत होकर अपने पाँव पीछे नहीं हटाते पितामह!" उसने रोषपूर्ण स्वर में कहा, "यह बात क्या मुझे आपको बतानी होगी? मेरे पास अथाह सेना है... बस कमी है तो आपकी इच्छा-शक्ति की पितामह! शूरवीर वह है जो शत्रु को भारी पड़ते देख स्वयं ही रुद्र की मूर्ति बन जाए... वह नहीं जो, उत्तरदायित्व स्वीकार करके शत्रुओं की पराक्रम-गाथा गाता रहे।"

भीष्म कुछ कहें, उसके पहले ही दुर्योधन पाँव पटकता हुआ अपने रथ की ओर चला गया... और उसने द्रोणाचार्य को निश्चयपूर्वक पाण्डव-सेना पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। द्रोण ने क्रुद्ध होकर सोमक और सृंजय सेनाओं पर धावा बोल दिया।

दूसरी ओर युधिष्ठिर के आदेश पर अर्जुन, चेकितान, अभिमन्यु, घटोत्कच तथा द्रौपदी-पुत्रों ने कौरव-सेना का विनाश आरम्भ किया।

प्रमुख पाण्डव-वीरों को एक समरांगण में जूझते देख, शकुनि ने अपने अनुजों तथा कृतवर्मा को लेकर एक विशाल सेना के साथ पाण्डव-सेना पर आक्रमण किया। यह देख उनसे टक्कर लेने के लिए इरावान बढ़ा। उसने शकुनि की सेना का बड़ी वीरता के साथ सामना किया। शकुनि के अनुज उसे चारों ओर से घेरकर उस पर बाण बरसाते रहे किन्तु वह अकेला ही उन सबको छकाता रहा। कुछ समय बाद अपने बाण समाप्त हो जाने पर, वह खड्ग लेकर रथ से कूदा और दौड़ दौड़कर शत्रुओं का वध करने लगा। एक-एक कर द्वन्द्व युद्ध करते हुए उसने शकुनि के भाइयों का वध करना प्रारम्भ किया। उनमें केवल एक, वृषभ ही भागकर अपने प्राण बचा सका।

इरावान की विनाशलीला देखकर दुर्योधन ने मायावी अलम्बुष को इरावान से युद्ध करने के लिए भेजा। इरावान ने, अन्य सभी योद्धाओं से लड़ते हुए ही, अलम्बुष को भी कड़ी टक्कर दी। किन्तु कुछ समय बाद, अलम्बुष की माया ने उसे भ्रम में डाल ही दिया...और उसके असावधान होते ही, उस राक्षस ने झपटकर इरावान का मस्तक काट गिराया।

इरावान की मृत्यु का समाचार पाकर घटोत्कच को बड़ा क्रोध हुआ.. और वह अपनी राक्षसी सेना के साथ भीषण गर्जना करता हुआ कौरव-सेना पर टूट पड़ा। उसे बढ़ता देख, दुर्योधन ने स्वयं सेना-सहित आगे बढ़कर टक्कर दी। दोनो में बड़ा भयंकर संग्राम छिड़ गया। जब घटोत्कच के पराक्रम के आगे दुर्योधन के सारे प्रयास व्यर्थ होने लगे, तब भीष्म ने द्रोण, सोमदत्त, बाह्लीक, जयद्रथ आदि को उसकी रक्षा के लिए भेजा। उन सबके विरुद्ध घटोत्कच ने बड़े आत्मविश्वास के साथ युद्ध किया... और सभी को घायल करते हुए वह दुर्योधन की ओर बढ़ा। किन्तु कौरव सेना ने उसे चारों ओर से घेर रखा था और वह बुरी तरह घायल हो चुका था। यह सुनकर युधिष्ठिर ने भीमसेन को, कुछ अन्य महारथियों के साथ, उसकी प्राण-रक्षा के लिए भेजा।

भीमसेन को सेना-सहित आता देख कौरव-सेना के पाँव उखड़ने लगे। तब दुर्योधन ने स्वयं ही आगे बढ़कर भीमसेन पर आक्रमण किया। उधर, द्रोणाचार्य ने, दुर्योधन की प्राण-रक्षा के लिए अनेक महारथियों को उसके पास भेजा।

देखते-ही-देखते, उस समर-केन्द्र ने एक भयंकर एवं प्रमुख रूप धारण कर लिया। सभी रथी-महारथी अपने प्राणों का मोह छोड़कर शत्रु पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा कर रहे थे। किसी को पता नहीं चला कि कब सूर्य पश्चिम की ओर बढ़ने लगा और कब अस्ताचल तक जा पहुँचा।

उस समय तक कौरव-सेना के पाँव उखड़ चुके थे और वे, विशेषतया घटोत्कच के मायावी प्रहारों से, भयभीत हो चले थे।

युद्ध का आठवाँ दिन प्रारम्भ हो रहा था। दुर्योधन के मन में घटोत्कच के प्रति क्रोध की आग, जो रात भर भड़कती रही थी, उसे प्रतिशोध के लिए व्याकुल कर रही थी। किन्तु भीष्म ने उसे समझाया कि पद एवं गरिमा के अनुरूप, उसे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन अथवा किसी अन्य राजपुरुष के साथ ही युद्ध करना चाहिए... अन्य छोटे-मोटे योद्धाओं से युद्ध करना तो उसके समकक्ष किसी अन्य योद्धा को ही शोभा देगा। दुर्योधन को इस प्रकार समझाकर उन्होंने घटोत्कच के साथ युद्ध करने के लिए अन्य अनेक योद्धाओ के साथ भगदत्त को भेजा।

घटोत्कच को आक्रमण का प्रमुख केन्द्र बनते देख अनेक पाण्डव योद्धाओं ने उसकी रक्षा का प्रबन्ध किया। भीमसेन, अभिमन्यु, सत्यधृति, सहदेव, चेदिराज, वसुदान आदि ने बढ़कर भगदत्त को टक्कर दी। भयंकर युद्ध छिड गया। भगदत्त ने अपने हाथी को वेगपूर्वक बढाकर ही कई रथों को उसके पाँव तले रौंद डाला और पाण्डव योद्धाओं पर बाण बरसाना प्रारम्भ किया। अपने पक्ष को निर्बल पड़ता देख, अर्जुन भी रथ दौड़ाते हुए वहाँ आ पहुँचे। वहीं उन्हे अपने पुत्र इरावान की वीरगति का समाचार ज्ञात हुआ।

पुत्र-शोक को अपने हृदय में दबाये हुए वे प्रलयाग्नि के समान कौरव-सेना पर टूट पडे। उनका रौद्र रूप देखकर भीष्म, कृप, भगदत्त और सुशर्मा उनके सामने पहुँचे। कृतवर्मा तथा बाह्लीक ने सात्यकि को टक्कर दी और अम्बष्ठ ने अभिमन्यु को घेरा। चारो ओर भीषण युद्ध छिड़ गया। दूसरी ओर अनेक धृतराष्ट्र-पुत्र भीमसेन को घेरे हुए थे। उन्होंने मिलकर भीमसेन को बहुत आहत किया, जिससे क्रोधित होकर उन्होंने व्यूढोस्क को एक बाण से मार गिराया और दूसरे से कुण्डली को धराशायी कर दिया। देखते-ही-देखते अनाधृष्टि, कुण्डभेदी, वैराट, दीर्घलोचन, दीर्घबाहु, सुबाहु और कनकध्वज भी निष्प्राण होकर गिर पड़े। अन्य सभी भयभीत होकर पीछे हट गये अन्यथा, कौन जाने, उनका भी वही अन्त होता।

दूसरी ओर भीष्म, भगदत्त और कृपाचार्य मिलकर अर्जुन को रोकने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु अर्जुन का वेग उनके सँभाले नहीं सँभल रहा था।

कुछ ही दूर पर, अभिमन्यु का अम्बष्ठ के साथ युद्ध ठना था। उसने कुछ ही देर में अम्बष्ठ का रथ तोड़ दिया। रथ-हीन होते ही, अम्बष्ठ ने रथ से कूदकर अभिमन्यु पर खड्ग का वार किया और, दूसरे ही क्षण, कूदकर वह कृतवर्मा के रथ पर चढ़ गया।

युद्ध-क्षेत्र में, स्थान-स्थान पर अनेकानेक समर-केन्द्र खुले थे और वहाँ निरन्तर भीषण मार-काट चलती रही। दिन भर के घोर संघर्ष के पश्चात्, सूर्यास्त होते ही दोनों थकी हुई सेनाएँ अपने शिविरों की ओर लौट गयीं।

शिविर में लौटकर भी दुर्योधन को विश्राम नहीं था। युद्ध में अपने अनुजों की मृत्यु, और उससे कहीं बढ़कर, पाण्डवों द्वारा अपनी सेना का व्यापक विनाश उसे उद्वेलित कर रहा था। वह शकुनि, दुःशासन और कर्ण के साथ बैठकर परामर्श करने लगा।

"हमारे सैनिकों की सख्या बड़ी तीव्रता के साथ घट रही है..." दुर्योधन ने भारी कण्ठ से अपनी चिन्ता का उद्घाटन किया। "पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, शल्य तथा भूरिश्रवा जैसे पराक्रमी योद्धाओं के होते हुए भी हमें रह रहकर पराजय का मुँह देखना पड़ता है। अपने पच्चीस अनुजों की आहुति देने के बाद मैं किस मुँह से पिताश्री के सम्मुख जाऊँ, किन शब्दों में माताश्री को सान्त्वना दूँ.. मेरी समझ में कुछ नहीं आता।"

"अब जब तुमने बूढ़े पितामह को प्रधान सेनापति .."

"उन्हें न बनाता, तो क्या करता?" दुर्योधन ने मामा शकुनि की बात काटते हुए, खीझकर कहा, "चाहता तो मैं कर्ण को ही था... किन्तु क्या आचार्य द्रोण और कृप खड़े होते उसके सेनापतित्व में?"

"चिन्ता न करो कुरुश्रेष्ठ!" कर्ण ने सयमित स्वर मे कहा, "वह समय दूर नहीं जब तुम्हारे पितामह स्वयं ही लज्जित होकर शस्त्र रख देंगे... अथवा मारे जाएंगे। उन्होंने पाण्डवों को न मारने का प्रण भले ही लिया हो, पाण्डवों के सम्मुख ऐसी कोई बाधा नहीं। उन्हें अपने मार्ग से हटाने का निर्णय पाण्डवों को लेना ही होगा। उनके हाथों अपनी सेना का विनाश वे भला कब तक देखते रहेंगे?"

"यह इतना सरल नहीं है मित्र!" दुर्योधन ने हताश स्वर में कहा, "और पाण्डव भी सम्भवतः पितामह के वध के स्थान पर, उन्हें सेना विहीन करने का प्रयास ही करेंगे... किन्तु तब तक, रक्त के अश्रु बहाता हुआ, चुपचाप, मैं अपने अनुजों का वध तो नहीं देख सकता।"

"तब तो बस एक ही उपाय है..." शकुनि ने अर्थपूर्ण दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखा।

"अर्थात्...!" दुर्योधन की आँखों में प्रश्न से अधिक आश्चर्य और अविश्वास था।

"अच्छा यह होगा..." दुर्योधन का ध्यान शकुनि की ओर से हटाते हुए कर्ण ने कहा, "कि तुम पितामह के पास जाकर दो-टूक शब्दों में बात कर लो। वे पाण्डवों पर प्रहार न करने का अपना प्रण त्यागें... अथवा... प्रधान सेनापति का पद त्याग दें।"

इस गम्भीर प्रश्न पर, सब की मौन सहमति के बीच, सन्नाटा घना हो आया।

"तो यही ठीक है..." दुर्योधन ने दृढ़ निश्चय के साथ कहा, "हम लोग अब पितामह के छल को और नहीं झेलेंगे।"

दुर्योधन अपने मन का क्रोध छिपाये हुए भीष्म के पास गया और आँखों मे आँसू भरकर बिलखता हुआ बोला, "पितामह! मैं पिताश्री को... माताश्री को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। अपने पच्चीस अनुजों के जीवन की बलि देकर तो मुझे स्वयं अपना जीवन ही व्यर्थ लग रहा है।"

भीष्म उसका सिर अपने वक्ष से लगाकर सान्त्वना देने लगे। कुछ कहने के लिए उनके पास शब्द नहीं थे।

"पितामह! अब मैं जीना नहीं चाहता..." दुर्योधन ने फिर बिलखते हुए कहा।

"ऐसा न कहो वत्स..."

"कैसे न कहूँ पितामह!" दुर्योधन का स्वर सहसा कठोर हो गया, "आप पाण्डवों को मारेंगे नहीं... और... कर्ण, जो उन्हें परास्त कर सकता है, उसे युद्ध करने नहीं देंगे। तब तो मुझे मरना ही होगा। आज नहीं तो कल ..."

"मैंने तो कर्ण को कभी नहीं रोका..." भीष्म ने विचलित होते हुए कहा, "वह तो स्वयं ही..."

"और कैसे रोका जाता है पितामह?" दुर्योधन का स्वर आक्रामक होता जा रहा था। "मैं वह सारा कटु-प्रसंग दुहराना नहीं चाहता.. उससे कुछ लाभ भी नहीं। बस अब तो यही विकल्प है कि या तो आप पाण्डवों को न मारने वाला अपना दुराग्रह त्यागें या कर्ण को सम्मानपूर्वक अपने साथ युद्ध करने के लिए आमन्त्रित करें।"

"यह सम्भव नहीं है..." भीष्म का स्वर सहसा प्रखर हो गया, जैसे वे किसी व्यूह में अकेले पड़कर चीत्कार उठे हों।

"तब क्या सम्भव है?" दुर्योधन ने भी उतने ही उग्र स्वर में प्रश्न किया।

"जो सम्भव है, वत्स!" भीष्म ने कुछ क्षण मौन रहते हुए शान्त स्वर में उत्तर दिया, "वह मैं पहले ही कह चुका हूँ... और सत्यनिष्ठा के साथ निरन्तर कर रहा हूँ। तुम्हारी सेना कम हो रही है, यह तो तुमने देखा.. किन्तु पाण्डवों की सेना के विनाश का अनुमान तुमने नहीं किया। मैं पाण्डु पुत्रों पर प्रहार नहीं करूँगा, यह तो मैंने पहले ही कह दिया था... और रही तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होने की बात, तो वह युधिष्ठिर के सेना विहीन हो जाने पर भी प्राप्त हो सकता है.. जब उनके पास सेना ही नहीं

रहेगी, तो वे स्वयं ही पराजय स्वीकार कर लेंगे।"

"किन्तु मैं तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता, पितामह!" दुर्योधन ने आग उगलते हुए कहा, "तब तक अपने निर्दोष अनुजों का वध होते नहीं देख सकता।"

"वत्स..." भीष्म ने मनुहारते स्वर में कहा, "तुम अपने अनुजों का वध नहीं देख सकते... तो मुझसे अपने पौत्रों का वध करने की अपेक्षा कैसे कर सकते हो?"

"क्योंकि वे हमारे शत्रु हैं..."

"हमारे नहीं वत्स..." भीष्म ने तुरन्त ही दुर्योधन को टोकते हुए कहा, "केवल तुम्हारे वत्स, केवल तुम्हारे। और तुम यह शत्रुता त्याग क्यों नहीं देते?"

"जो मैं नहीं कर सकता पितामह!" दुर्योधन ने भयभीत करने वाले, गम्भीर स्वर में कहा, "वह मुझसे करने को न कहिए।"

"तो तुम मुझसे वह करने को क्यों कहते हो, जो मैं नहीं कर सकता?" भीष्म ने शान्त, रुँधे हुए स्वर में कहा।

दुर्योधन को लगा कि सवादहीनता की स्थिति आ चुकी है। वह दो-क्षण मौन बैठा, खा-जाने वाली दृष्टि से भीष्म को देखता रहा... और फिर झटके के साथ उठकर, बिना उन्हें प्रणाम किये ही चला गया।

युद्ध के नवें दिन भीष्म ने सर्वतोभद्र-व्यूह बनाया। कृपाचार्य, कृतवर्मा, शैब्य, शकुनि, जयद्रथ, सुदक्षिण और अनुजों-सहित दुर्योधन, भीष्म के साथ, सेना के अग्रभाग मे खड़े हुए। द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा, शल्य और भगदत्त दाहिनी ओर... और अश्वत्थामा, सोमदत्त और दोनों अवन्तिकुमार व्यूह के बायीं ओर रखे गये।

दूसरी ओर युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल और सहदेव, सेना के मुहाने पर खड़े हुए। धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, शिखण्डी, अर्जुन, घटोत्कच, चेकितान, कुन्तिभोज, अभिमन्यु, द्रुपद और युधामन्यु उनकी सहायता के लिए डटे हुए थे।

युद्ध प्रारम्भ होते ही, अभिमन्यु ने तीव्र गति से बढ़कर दुर्योधन पर आक्रमण किया। अपनी राह में आने वाले जाने कितने योद्धाओं को उसने यमलोक पहुँचा दिया। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, बृहद्बल, जयद्रथ आदि अनेक महारथी भी उसे रोकने में असफल रहे। अनुभवी योद्धाओं की भाँति युद्ध करता हुआ वह द्वितीय अर्जुन जैसा दिखाई दे रहा था।

हारकर, उसे माया द्वारा रोकने के लिए दुर्योधन ने अलम्बुष को पुकारा। अलम्बुष ने आते ही पाण्डव-सेना में खलबली मचा दी, किन्तु अभिमन्यु पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। द्रौपदी-पुत्रों ने भी एक साथ उस पर बाणों की झड़ी लगा दी। अलम्बुष ने कई प्रकार की मायाओं का प्रयोग किया, किन्तु अभिमन्यु के आगे उसकी

एक न चली। अन्त में उसे अपना रथ छोड़कर भागना ही पड़ा।

उसे भागता देख, अनेक महारथियों से घिरे हुए भीष्म ने आगे बढ़कर अभिमन्यु को टक्कर दी। उधर अर्जुन, अपने पुत्र की रक्षा के लिए, भीष्म के सम्मुख जा पहुँचे।

दूसरी ओर, सात्यकि तथा अश्वत्थामा का घोर युद्ध ठना हुआ था। अपने पुत्र का पक्ष निर्बल पड़ते देख, द्रोणाचार्य उसकी रक्षा के लिए जा पहुँचे। वे दोनों एक-दूसरे को बाणों से बींध ही रहे थे कि अर्जुन भी सात्यकि के पास पहुँचे और सुशर्मा ने भी वहाँ पहुँचकर द्रोणाचार्य की सहायता की। कुछ देर के भीषण सग्राम के बाद सुशर्मा को युद्धस्थल छोड़कर भागना पड़ा।

सूर्य मध्याकाश में प्रकाशित था... और युद्ध भी अपनी चरम-गति पर जा पहुँचा था। सभी रथी-महारथी एक-दूसरे से भिडते हुए, आवश्यकतानुसार अपने विरोधी बदलते हुए, रण-भूमि में चक्कर काट रहे थे। भीष्म, अपनी प्रतिज्ञानुसार पाण्डव-सेना का विनाश करते घूम रहे थे। तभी शिखण्डी ने उनके सम्मुख पहुँचकर उन पर बाण वर्षा प्रारम्भ की। किन्तु भीष्म ने उसे सामने देखकर दूसरी ओर मुँह फेर लिया। उसके द्वारा छोड़े हुए बाणों से बिंधते हुए भी, उन्होंने उसकी बाण-वर्षा का प्रतिकार नहीं किया। यह देख कौरव-सेना के अनेक योद्धा भीष्म की रक्षा के लिए जा पहुँचे और शिखण्डी को लक्ष्य बनाकर प्रहार करने लगे। तब शिखण्डी की रक्षा के लिए द्रुपद, भीमसेन, सात्यकि, युधिष्ठिर, धृष्टद्युम्न आदि दौड़ पड़े और वहाँ भीषण विनाशलीला का एक नया समर-केन्द्र खुल गया।

दूसरी ओर अर्जुन तथा सुशर्मा के बीच भयंकर युद्ध ठना था। धीरे-धीरे वहाँ अन्य योद्धा भी उनकी सहायतार्थ पहुँचने लगे और वह समर-केन्द्र प्रबल रूप लेता चला गया। कुछ ही समय में, भीष्म भी वहाँ पहुँचकर सुशर्मा की सहायता करते हुए अर्जुन के बाण काट-काटकर गिराने लगे।

एक अन्य स्थान पर द्रुपद और द्रोणाचार्य के बीच युद्ध ठना था। देखते ही-देखते सात्यकि और कृतवर्मा भी वहीं जा पहुँचे।

युधिष्ठिर, नकुल तथा सहदेव एक साथ युद्ध करते हुए कौरव सेना का विनाश करते घूम रहे थे। बढ़ते-बढ़ते, उन्होंने भीष्म को घेर लिया। अपने प्रधान सेनापति को निर्बल पड़ते देख, दुर्योधन ने शल्य तथा शकुनि को एक विशाल सेना-सहित भीष्म की रक्षा के लिए भेजा। वहाँ भी जीवन का मोह छोड़कर प्रलयकारी युद्ध होने लगा।

सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ने लगा था। तभी कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "पार्थ! अब अपना वचन सत्य कर दिखाने का समय आ गया है। स्मरण है न! तुमने विराट की सभा में कहा था कि तुम युद्ध-क्षेत्र में कौरव-सेना का बिना किसी संकोच अथवा भय के विनाश करोगे... चाहे भीष्म अथवा द्रोण ही क्यों न तुम्हारे सम्मुख आ जाएँ। अब अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर दिखाने का समय आ गया है... देखो भीष्म तुम्हारे सामने हैं...

यह सुनकर अर्जुन ने, दुःखी स्वर में, कृष्ण को भीष्म की ओर रथ बढ़ाने की अनुमति प्रदान की। कुछ ही समय में भीष्म और अर्जुन के बीच भीषण द्वन्द्व छिड़ गया... किन्तु कृष्ण ने देखा कि, उनके बारम्बार प्रेरित करने पर भी, अर्जुन पूरे मन के साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं... वे भीष्म पर सीधे प्रहार न करते हुए, बस उनके बाण काटने में ही सारा समय बिता रहे हैं। सूर्य अस्त होने का समय निकट आता जा रहा था और अर्जुन अनेक अवसर पाकर भी उन्हें व्यर्थ गवाँते जा रहे थे। उन्हें बारम्बार प्रहार के लिए प्रेरित करते हुए, क्रोध एवं खीझ में कृष्ण, अश्वों की लगाम छोड़कर चाबुक हाथ में लिये ही, भीष्म की ओर दौड़ पड़े।

कृष्ण को अपनी ओर आता देख, भीष्म ने अपना धनुष रखते हुए व्यंग्य से मुस्कराकर कहा, "आओ वासुदेव! बहुत व्यग्र हो मेरा वध देखने के लिए! आओ, तुम्हीं मेरा वध कर दो। तुम्हारे हाथों मृत्यु पाकर मुझे इस दुविधा से मुक्ति ही प्राप्त होगी, मेरा मान ही बढ़ेगा..."

कृष्ण को अपनी स्थिति का भान हुआ तो वे जड़वत्, चाबुक-सहित अपना हाथ ताने हुए ही, खड़े रह गये। तभी अर्जुन ने दौड़ते हुए उन्हें लौटाकर रथ पर बैठाया।

कृष्ण, बिना कुछ कहे ही, विवश होकर रथ पर आ बैठे... किन्तु उनका मन उचाट हो चुका था। मोह में फँसे हुए अर्जुन का पराक्रम उन्हे व्यर्थ लग रहा था और अर्जुन के पराक्रम के बल पर ही तो टिका था पाण्डवों का वह धर्म युद्ध

उधर, भीष्म उग्र रूप धारण करके पाण्डव-सेना के विनाश में लगे थे। कुछ ही समय पहले तक कौरव-सेना में भगदड़ मची थी, किन्तु सूर्यास्त होते-होते स्थिति में सुस्पष्ट अन्तर आ चुका था। पाण्डव सेना भयभीत होकर बिखरती चली जा रही थी। सूर्यास्त ने युद्ध-विराम की स्थिति उत्पन्न करके उन्हें लज्जाजनक पराजय से बचाया।

रात्रि के समय पाण्डव शिविर में वातावरण निराशाजनक था। सभी ओर से आहत सैनिकों के कराहने का स्वर सुनाई दे रहा था, जिसे सुनकर युधिष्ठिर का हृदय विदीर्ण हो रहा था। हताहतों की उपचार-व्यवस्था के पश्चात्, रात्रि के द्वितीय प्रहर में, पाण्डवों ने कृष्ण तथा अपने प्रमुख सेनानायकों के साथ मिलकर युद्ध की स्थिति पर चर्चा की। युधिष्ठिर ने दुःखी स्वर में कहा, "हमारी सेना निरन्तर घट रही है हमारी शक्ति क्षीण होती जा रही है। पितामह के रहते मुझे युद्ध में विजय पाने की कहीं कोई आशा नहीं दिखाई देती। अपनी आँखों के आगे सेना का विनाश और अपनी पराजय देखने से अच्छा तो यह होगा कि मैं राज्य का मोह त्यागकर वनवास ग्रहण कर लूँ... मेरे अनुज भी इस युद्ध में नित नये आघात झेल रहे हैं। मैं इनका जीवन भी इस प्रकार दाँव पर नहीं लगा सकता.."

"इतना निराश होने की आवश्यकता नहीं है, भैया!" कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "चाहे युद्ध हो, अथवा जीवन, सब दिन एक समान नहीं होते। किसी दिन सुख तो किसी दिन दु:ख... यही सनातन सत्य है। हमारी दृष्टि को एक दिन की असफलता पर रुककर निराशा का सन्देश नहीं देना चाहिए। दृष्टि को अन्तिम लक्ष्य पर टिकाकर निरन्तर संघर्ष करना ही जीवन जीने का वास्तविक ढंग है। आज हमारी पराजय हुई... किन्तु अनेक दिन ऐसे भी तो रहे जब हमारी सेनाओं ने कौरव दल को रौंद दिया था।

"फिर भी, यदि आपको कुछ और सैनिकों की आवश्यकता दिखे तो बताइए... मैं स्वयं भी युद्ध करूँगा।"

"नहीं वासुदेव!" युधिष्ठिर ने विनम्र स्वर में कहा, "मैं आपकी शक्ति एवं आपके पराक्रम से परिचित हूँ। आप अकेले ही वह कर सकते हैं, जो अन्य दस महारथी मिलकर भी नहीं कर सकते.. पर आप शस्त्र न उठाने के लिए वचन-बद्ध हैं। मैं नहीं चाहूँगा कि आप मेरे तुच्छ मनोरथ के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़ें।"

"किन्तु समस्या तो पितामह भीष्म को लेकर है.." कृष्ण ने पुन: गम्भीर स्वर में कहा, "हमारी सेना में सम्भवत: अकेले अर्जुन ही हैं जो भीष्म को मार्ग से हटा सकें.. किन्तु ये उनके सम्मुख पहुँचते ही, मोहवश, निष्क्रिय हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमें प्रति दिन सहस्रों सैनिको की बलि देनी पड़ रही है... और भी देनी पड़ेगी, जब तक पितामह को अपने मार्ग से हटाने का कोई साधन हमें नहीं प्राप्त होता। किन्तु अर्जुन के इस व्यवहार के चलते यह समस्या हल हो भी तो कैसे?"

"मैं अर्जुन को दोष भी तो नहीं दे सकता केशव।" युधिष्ठिर ने निराश स्वर में कहा, "मैं स्वयं ही पितामह के विरुद्ध शस्त्र नहीं उठा सकता।"

"तब तो वास्तव में कुछ नही हो सकता..." कृष्ण ने उलाहना देते हुए कहा, "कोई कुछ नहीं कर सकता।"

"ऐसा न कहो जनार्दन!" भीमसेन ने मनुहारते हुए कहा, "कोई मार्ग तो होगा।"

"मैं मार्ग ही तो दिखा सकता हूँ, भैया!" कृष्ण ने खीझते हुए कहा, "किन्तु यदि मेरी बात माननी ही न हो तो मुझसे पूछने का भला क्या अर्थ!"

"ऐसा न कहो जनार्दन!" अर्जुन ने दु:खभरी वाणी में कहा, "हम तुमसे न पूछें तो भला और क्या करें! तुम ही तो हमारे मार्गदर्शक हो। एक तुम... और एक पितामह और कौन है हमारा हितैषी?"

"तो जाओ..." कृष्ण ने फिर उलाहना देते हुए कहा, "पितामह से ही पूछो।"

"क्या?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य में कहा, "पितामह से?"

"उन्हीं को मार्ग से हटाने का उपाय?" भीमसेन की आँखें भी विस्फारित रह गयी।

"हाँ, क्यों नहीं?" कृष्ण ने सरल स्वर में कहा, "उन्होंने आपके पक्ष में युद्ध करने से मना किया था, परामर्श देने के लिए तो नहीं।"

क्षण भर सन्नाटा छाया रहा...

"कहा तो यही था..." युधिष्ठिर ने भावुक होते हुए बताया, "कि मैं तुम्हारे विरुद्ध युद्ध करने के लिए विवश हूँ, किन्तु मन से सदा तुम्हारी विजय ही चाहूँगा। यदि कभी मेरी सहायता की आवश्यकता हो तो निःसंकोच मेरे पास चले आना।"

"तब तो मिल गया मार्ग..." कृष्ण ने उल्लसित होते हुए कहा, "भैया! तुरन्त चलिए उनके पास... और पूछिए उनसे कि हम कौरव-सेना पर कैसे पार पाएँ? उनके पराक्रम का समाधान कैसे करें?"

बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। वहाँ उपस्थित सभी को वातावरण असहज होता लग रहा था। कैसे...? कैसे पूछा जाएगा एक योद्धा से कि हम उसके प्रहारों का प्रतिकार कैसे करें! किन्तु अन्य कोई विकल्प सूझ भी तो नही रहा था।

भीष्म के शिविर में पहुँचकर पाण्डवों ने चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। औपचारिक कुशल-प्रश्नों के बाद अपनी वेदना सुनाते हुए युधिष्ठिर ने कहा, "पितामह! आपके आशीर्वाद से, हम सब कौरव-सेना को झेलने में तो समर्थ हैं, किन्तु आपके पराक्रम के कारण हमारी सेना बड़े वेग से नष्ट हो रही है... हम आपका वेग नहीं सह सकते। आपने विजयी होने का आशीर्वाद तो हमें दिया, किन्तु जब तक आप दुर्योधन के पक्ष में युद्ध कर रहे हैं, हम कभी विजयी नहीं हो सकते।"

"तो मैं क्या करूँ वत्स?" भीष्म ने हताश स्वर में कहा, "मैं विवश हूँ... जो मुझे इस अधर्म-युद्ध में अपने ही पौत्रों के विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़ रहा है।"

"तो आप हट क्यों नहीं जाते, पितामह?" अर्जुन ने विनम्र स्वर में कहा।

"यह मैं कैसे बताऊँ?" भीष्म ने हँसते हुए कहा, "मैं युद्ध से हटने लगा तो वासुदेव को वह सब पुनः मुझे सुनाना होगा, जो इन्होंने तुमसे कहा था।"

सब की दृष्टि सहसा कृष्ण की ओर उठी... और कृष्ण स्वयं निर्वाक् होकर भीष्म की ओर देखते रह गये। कोई कुछ नहीं कह पा रहा था।

"तो क्या इसी प्रकार क्षत्रियों का संहार होता रहेगा, पितामह!" युधिष्ठिर ने कातर स्वर में कहा, "तब तक ... जब तक कि हमारी सेना में कोई नहीं बचता... अथवा जब तक हम लोग पराजय स्वीकार करके दुर्योधन की दासता स्वीकार नहीं कर लेते!"

"वह तो बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण दिन होगा वत्स!" भीष्म ने दूर कहीं अन्तरिक्ष में निहारते हुए कहा, "स्वयं मेरे लिए भी... जो निरन्तर तुम्हारी विजय की कामना करता रहता है।"

"तो आपकी कामना पूर्ण कैसे हो, पितामह?" कृष्ण ने बड़ी निर्दयतापूर्वक, स्पष्ट शब्दों में पूछा, "आपका विजयश्री प्राप्त करने का आशीर्वाद कैसे सफल हो?"

"उसकी सफलता के लिए पराक्रम तो तुम्हें ही करना होगा..." भीष्म ने कहा, "अपने मार्ग में आयी हर बाधा को हटाते हुए..."

"किन्तु पितामह!" युधिष्ठिर ने बड़े संकोच के साथ प्रश्न किया, "हमारे सम्मुख तो आप ही सबसे बड़ी बाधा हैं... हम आपको भला कैसे हटा सकते हैं? न तो हममें आप जैसे योद्धा से टकराने की सामर्थ्य है और न आप पर प्रहार करने का उत्साह।"

"ओहो..." भीष्म ने पुनः हँसते हुए कहा, "तो मुझे ही बताना होगा, स्वयं अपने आप को मार्ग से हटाने का मन्त्र। तो चलो यह भी सही... संसार में सम्भवतः पहले कभी यह न हुआ हो, किन्तु अब सही..."

शिविर में सन्नाटा सहसा घना हो गया। सबकी कौतूहलभरी दृष्टि वृद्ध भीष्म पर जा टिकी।

"तो छोड़ दो... त्याग दो सारा सकोच..." भीष्म ने क्षण-भर विराम देते हुए अपना वाक्य पूरा किया, "हटा दो मुझे अपने मार्ग से... वध कर दो मेरा।"

"ऐसी निर्दयतापूर्ण अपेक्षा न कीजिए हमसे, पितामह!" युधिष्ठिर ने पुनः कातर वाणी में कहा, "यह कैसे हो सकता है?"

"अर्जुन।" भीष्म ने गम्भीर उद्घोष जैसे स्वर मे पुकारा।

"नहीं पितामह, नहीं..." अर्जुन की घिग्घी बँध गयी। आँखों से अश्रु फूट निकले और करुणा में डूबकर वाणी भयावह हो गयी, "मैं यह नहीं कर पाऊँगा।"

"वत्स! मैं भी तो नहीं जा पाऊँगा... तुम सबको छोड कर..." भीष्म का स्वर भी भीग चला, "कम से-कम तब तक नहीं, जब तक तुम्हें विजयी न देख लूँ। तब क्या हल निकलेगा इस गुत्थी का..? कोई हल तो निकालना ही होगा..."

कोई हल नहीं था वहाँ उपस्थित किसी भी योद्धा के पास... असहाय बने, वे सब मौन धारण किये हुए निर्निमेष दृष्टि से भीष्म की ओर देखे जा रहे थे।

"कि मेरा आशीर्वाद भी फलीभूत हो..." भीष्म का करुण-गम्भीर स्वर उस भयावह सन्नाटे को बड़ी निर्ममता के साथ चीरता जा रहा था, "और मुक्ति मिले मुझे इस अधर्म युद्ध से... अपना कर्म पथ त्यागे बिना ही!"

"अपनी मृत्यु की बात न कीजिए पितामह!" कृष्ण ने शिविर के उस कक्ष में घिरते मौन को तोड़ते हुए संवाद बढ़ाया, "जब तक आपके हाथ में धनुष है... आपका वध तो दूर, कोई आप पर प्रहार करने का साहस भी नहीं कर सकता..."

"हाँ... यह ठीक कहा..." भीष्म ने बड़ी तत्परता के साथ संवाद का सूत्र पकड़ा, "जब तक मेरे हाथ में धनुष है, तभी तक न!"

उत्सुकतापूर्वक सब की दृष्टि फिर भीष्म के मुख पर जा टिकी।

"तो उत्पन्न करो वह स्थिति..." उन्होंने अपना वाक्य पूरा किया, "कि मैं धनुष अलग रख दूँ..."

"यह क्यों कर होगा पितामह?" भीमसेन ने विनम्र स्वर में पूछा।

"वैसे ही... जैसे तब हुआ था, जब कृष्ण मेरी ओर दौड़ पड़े थे बिना शस्त्र के ही," भीष्म ने कुछ सोचते हुए, मुस्कराकर कहा, "यह तो सभी जानते हैं कि मैं शस्त्र-विहीन योद्धा पर प्रहार नहीं करता... युद्ध-भूमि से भागते हुए, अथवा मेरे सम्मुख अस्त्र-शस्त्र डाल देने वाले पर भी प्रहार नहीं करता... और किसी स्त्री के विरुद्ध भी शस्त्र नहीं उठाता..."

"किन्तु पितामह!" कृष्ण ने विवश मुस्कान के साथ कहा, "युद्ध भूमि में स्त्री कहाँ से आएगी।"

"यह न कहो वासुदेव!" भीष्म ने बड़े ही नाटकीय स्वर में मुस्कराकर कहा, "है तुम्हारी सेना में एक योद्धा... बिल्कुल स्त्री जैसा। उसे देखकर सदैव मुझे एक स्त्री का स्मरण हो आता है। मेरा मन कहता है, वह पिछले जन्म में... या कौन जाने उससे भी पूर्व किसी जन्म में स्त्री रहा होगा।"

"कौन पितामह?" अनेक स्वर उभरे... और सभी की दृष्टि में वही प्रश्न उभर आया।

"शिखण्डी..." भीष्म ने बड़ी गम्भीरता से अपना वाक्य पूरा किया, "उसे देखकर मुझे सदैव एक अनाम-सा भय लगता है... जैसे उसका जन्म ही मुझसे कोई वैर चुकाने के लिए हुआ हो... किसी पिछले जन्म का वैर..."

"कैसा वैर पितामह?" युधिष्ठिर ने जिज्ञासावश प्रश्न किया, "आपसे किसी को भला क्या वैर होगा!"

"हो जाता है वत्स..." भीष्म ने अन्तर्मुखी होते हुए धीमे स्वर में कहा, "वैर भी, स्नेह की भाँति ही, बहुधा अकारण ही हो जाता है।"

कौरव शिविर में पूरी तरह सन्नाटा व्याप्त था.. और भीष्म के शिविर कक्ष मे भी मौन पसरने लगा था। तभी भीष्म ने स्वयं ही मौन भंग करते हुए कहा, "कल तुम्हे युद्ध करना है... जाओ, रात्रि गहरा चुकी है, कुछ देर विश्राम भी कर लो।"

उन्हें प्रणाम करके कृष्ण, पाण्डव तथा साथ आये अन्य सभी योद्धा जाने लगे तो सहसा भीष्म ने उन्हें पुकारकर कहा, "और हाँ... विजयी भव।"

उन सबने लगभग एक साथ पीछे मुड़कर देखा... भीष्म के मुख पर एक अर्थ-गर्भित मुस्कान थी।

शिखण्डी...! पाण्डवों के विदा लेते ही धुँधलायी स्मृतियों ने सजीव होकर भीष्म को घेर लिया।

"... और ये है मेरा बड़ा पुत्र, शिखण्डी..." महाराज द्रुपद ने भीष्म से सैन्य वेष में उपस्थित शिखंडिनी का परिचय कराया और फिर, उसकी ओर देखते हुए, भीष्म की ओर संकेत किया था – "पितामह भीष्म की चरण रज लो, पुत्र. "

भीष्म को क्षणभर के लिये लगा इस युवक को वे पहले कहीं देख चुके हैं... 'किन्तु कहाँ...?'

"आयुष्मान भव..." उन्होंने अपने पाँवों पर झुके शिखण्डी को हाथों से कन्धा थामते हुए उठाया और उसके खड़े होते ही उनकी दृष्टि फिर उसके मुख पर पड़ी। 'हाँ देखा है... अवश्य देखा है, किन्तु कहाँ ..?'

"आयु के साथ ही यश पाओ। शत्रुओं पर विजय पाओ और..." सहसा भीष्म का ध्यान नवयुवक के मुख पर फैली सलज्ज मुस्कान पर गया। वह तब भी पलकें झुकाये, जैसे उनके पाँवों की ओर ही देखे जा रहा था। "अरे वत्स! शूरवीरों की तरह दृष्टि उठाकर देखो। यह बालिकाओं जैसी लज्जा तुमने कहाँ से प्राप्त की.. ?"

क्षण भर के लिए शिखण्डी ने अपनी दृष्टि उठाकर भीष्म की ओर देखा और दूसरे ही क्षण ... दृष्टि झुका ली। भीष्म को पुनः लगा.. यह दृष्टि भी परिचित है। बिल्कुल पहचानी हुई. जैसे कई बार सम्मुख आ चुकी हो। 'किन्तु कब.. कहाँ?'

"वत्स! तुम पहले कभी हस्तिनापुर आये थे?"

अचानक उनका प्रश्न सुनकर शिखण्डी ने क्षण-भर के लिए फिर दृष्टि उठाते हुए उनकी आँखों में देखा, "नहीं तो. "

उसकी दृष्टि किसी चपल मीन की तरह, जैसे तैर कर, क्षणांश के लिए जल की सतह पर आयी हो... पुनः गहराई में उतर जाने के लिए। उसके स्वर में भी किसी क्षत्रिय महारथी वाले आत्म-विश्वास का अभाव भीष्म को खटका। उसका स्वर भी परिचित सा लगा। 'किन्तु कहाँ सुना था.. ?'

"तो हम कहाँ मिले थे, वत्स..! मुझे स्मरण नहीं हो रहा है," भीष्म ने अपना स्मरण पट मन की दृष्टि से बुहारते हुए पूछा।

शिखण्डी की दृष्टि की मछलियाँ फिर जल की सतह छूकर गहराई में जा छिपीं, किन्तु साथ में उभरी हुई सलज्ज मुस्कान उसके अधरों पर ही छूट गयी।

"तुम्हें तो स्मरण होगा, वत्स!" उसे मौन देखकर भीष्म ने खोये से स्वर में फिर पूछा।

"तातश्री..." द्रुपद ने कहा, "आपके दर्शन पाने का तो पहली बार ही सौभाग्य मिला है इसे... आशीर्वाद दीजिए इसे कि यह आप जैसा महान योद्धा बने। गुरु द्रोणाचार्य से यह प्रारम्भिक शस्त्र विद्या तो प्राप्त कर चुका है, आप अपने चरणों में स्थान देकर कुछ विशेष मन्त्र प्रदान करें तो इसका जीवन धन्य हो जाए।"

तभी शिखण्डी की दृष्टि उठी... उसी सलज्ज मुस्कान के साथ... जैसे कह रही

हो, 'मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिए...'

अपने चरणों में स्थान दीजिए...

भीष्म के कानों में दूर, बहुत दूर से आता वाक्य सुनाई दिया, 'मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिए...' कब सुना था उन्होंने? किसने कहा था...? यह वाक्य जो वर्षों से गूँजता हुआ, उन्हें विचलित करता रहा...

उनके कानों में वह वाक्य फिर गूँजा, और स्मृति पटल पर 'मुझे अपने चरणों में स्थान दीजिए...' बोलती हुई एक धुँधली-सी, अश्रु-पूरित सुनयना-छवि भी उभरी...

कौन है यह? शिखण्डी...! और कन्या के वेष में?

तभी स्मृति-पटल पर उभरती छवि ने कुछ और स्पष्ट आकार लेते हुए कहा, 'नहीं कुमार देवव्रत! इतनी जल्दी भूल गये मुझे? मैं हूँ अम्बा... जिसे उसके अतीत से बड़ी निर्ममतापूर्वक काटकर ले आये थे तुम... अपनाने के लिए नहीं... मात्र ठुकराने के लिए।'

भीष्म सहसा चौंककर जैसे नींद से जागे... अम्बा! और ये शिखण्डी. ? इतना साम्य? यह कैसा चमत्कार है!

"परमात्मा तुम्हें दण्ड देगा... कभी क्षमा नहीं करेगा इस अपराध के लिए ." भीष्म के स्मृति-पटल पर अम्बा की तमतमायी हुई छवि पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी थी, "और वह क्षमा कर भी दे, मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं करूँगी... मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी, कुमार देवव्रत!"

'मेरी बात तो सुनो, अम्बा...' वह कहते-कहते रह गये। स्मृति पट से अम्बा की छवि वैसे ही तिरोहित हो चुकी थी, जैसे उस दिन अम्बा अपने आग्नेय नेत्र, झटके के साथ फेरकर, उनके सामने से हट गयी थी। वे निरुत्तर, निर्वाक् खड़े रह गये थे।

क्यों इतनी कुपित थी अम्बा...? ऐसा क्या कह दिया था उन्होंने...? क्या वास्तव में उनका कोई अपराध था?

वर्षों बाद... अतीत में कई बार उन्हें उद्वेलित करने वाले प्रश्न एक बार फिर उन्हें अतीत की ओर खींचने लगे...

चित्रांगद की आकस्मिक मृत्यु के बाद, हस्तिनापुर पर अल्पायु में ही विचित्रवीर्य का राज-तिलक हुआ था। किन्तु माता सत्यवती के आदेश पर राज्य का शासन भीष्म ही सँभालते थे।

समय बीता... विचित्रवीर्य ने युवावस्था में प्रवेश किया तो माता सत्यवती को राजभवन में कुलवधू का अभाव रह-रहकर सताने लगा। उनके आग्रह पर भीष्म अनुज

विचित्रवीर्य के लिए किसी उपयुक्त वधू की खोज करने लगे।

उन्हीं दिनों सुना था उन्होंने कि काशिराज की तीन कन्याएँ हैं... तीनों ही सुन्दर हैं। कुछ ही दिनों में, एक आखेट से लौटते हुए, वे काशी जा पहुँचे। वहाँ उन्हें सुनकर आश्चर्य हुआ कि दो ही दिनों में काशी में स्वयंवर होने वाला है... तीनों कन्याओं का एक साथ, एक ही दिन...

किन्तु विचित्र बात! उन्हें आश्चर्य हुआ कि इसकी सूचना हस्तिनापुर क्यों नहीं पहुँची? उनके पास विधिवत् निमन्त्रण क्यों नहीं पहुँचा?

काशीराज ने उनका औपचारिक स्वागत किया। व्यावहारिक कुशल-क्षेम के बाद भीष्म ने उनसे सीधा प्रश्न किया, "क्या कारण है कि स्वयंवर का निमन्त्रण हस्तिनापुर नही पहुँचा..."

काशीनरेश के मुख पर मुस्कान फैल गयी। विवशता की... या व्यंग्य की! भीष्म सहसा परख नहीं पाये। कनखियों से उनकी ओर देखते हुए काशिराज क्षणभर बाद बोले थे, "ध्यान आया था हमें... हस्तिनापुर को कोई कैसे भूल सकता है! एक समय में सशक्त साम्राज्य रहा है किन्तु एकमत होकर सभी मन्त्रियों का निर्णय था कि रहा होगा कभी, किन्तु अब हस्तिनापुर में कुछ रहा नहीं... विशेषतया, चित्रांगद के निधन के बाद। निर्बल, अव्यवस्थित राज्य, जहाँ एक अनुभवहीन बालक का शासन है। और फिर रहे आप...! आप भी तो वृद्ध हो चले। केशों का रंग उतर चला और तन पर त्वचा का कसाव भी जाता रहा... और हाँ, सुना यह भी था कि आप गृहस्थाश्रम को अपनाने के पूर्व ही तिलांजलि दे चुके हैं। कुल मिलाकर मन नहीं बना किसी का. फिर व्यर्थ का निमन्त्रण...।"

सुनते सुनते भीष्म की भुजाएँ फड़कने लगी थीं। वे स्वर को यथा-सम्भव नियन्त्रण में रखते हुए बोले, "काशिराज! बडे भ्रम में हैं आप.. जो मूर्ख मन्त्रियो के संकेत पर नाचते हुए विवेक खो बैठे.."

"भीष्म...।" उनकी बात काटते हुए सहसा काशिराज ऊँचे स्वर मे बोल उठे, जिसमे वर्जना ही नहीं, चेतावनी भी थी, "मत भूलो कि तुम किसके सम्मुख बोल रहे हो।" उनका मुख क्षण भर में ही मुस्कान को विदा देकर तमतमा उठा था।

"ज्ञात है मुझे काशिराज..." भीष्म का स्वर भी अतिथि की विनम्रता त्यागकर दृढ हो गया था, "मैं उस मूर्ख शासक से संवाद करने पर विवश हूँ जो महामूर्ख मन्त्रियों के आकलन के आधार पर हस्तिनापुर को निर्बल एवं अव्यवस्थित समझ बैठा है...। किसमें साहस है जो, देवव्रत के रहते हस्तिनापुर को निर्बल समझे अव्यवस्थित कहे?"

"भीष्म...!" ऊँचे स्वर में दहाड़ते हुए काशिराज का हाथ अपने खड्ग की मूठ पर जा पहुँचा। कुछ दूर पर खड़े मन्त्रियों के खड्ग भी खिंच आये।

"अच्छा..." भीष्म ने स्वर को शान्त करके कुछ हँसते हुए कहा, "तो सत्य बड़ा कटु लगा, आप सब को। शक्ति-परीक्षण के लिए आतुर हैं आप सब! सम्भवतः इस भ्रम में कि निर्बल राज्य का एक अकेला-असहाय व्यक्ति खड़ा है आपके भवन में। किन्तु भूल है तुम्हारी... मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ कुछ शूरवीर योद्धा भी हैं... और वे न होते, तो भी क्या! मैं अकेला ही पर्याप्त हूँ तुम सबसे निपटने के लिए।"

दूसरे ही क्षण काशिराज के संकेत पर कुछ सैनिक बढ़े थे उनकी ओर... और भीष्म का हाथ भी अपने खड्ग की मूँठ पर जा पहुँचा, "अच्छा तो इस उतरे रंग की केशराशि तथा शिथिल त्वचा वाले वृद्ध योद्धा का पराक्रम भी देख ही लो..."

देखते-ही-देखते काशिराज का विशाल अतिथि-कक्ष युद्ध स्थल का रूप ले चुका था। भीष्म के साथ आखेट के लिए निकले उनके अंग-रक्षक भी उस कक्ष में पहुँच चुके थे। भीष्म की शक्ति का परिचय देने के लिए उनके कुछ प्रारम्भिक प्रहार ही पर्याप्त थे।

आतंकित काशिराज ने भीष्म के आदेश पर अपनी तीनों पुत्रियों को बुलाया और भीष्म ने उन्हें निर्भय होकर अपने रथ पर बैठने का आदेश दिया। चलते चलते वे काशिराज को ललकारते हुए कह आये थे, "अब इनका स्वयंवर नहीं, मेरे अनुज द्वारा इनमें से अपनी वधू का चयन होगा... हस्तिनापुर में।" सब कुछ बड़े नाटकीय ढंग से कुछ ही समय में ऐसे हुआ कि काशिराज के मन्त्री, सैनिक आदि असहाय खड़े देखते ही रह गये। अतिथि-कक्ष में घटे इस काण्ड का भवन के बाहर खड़ी उनकी सेना को कोई आभास ही नहीं मिला।

तीनों राजकुमारियों को लेकर जब भीष्म का रथ राजभवन के बाहर पहुँचा तब कहीं काशिराज की सेना को सूचना मिली। सेनापति ने एक सेना की टुकड़ी लेकर भीष्म का पीछा भी किया... किन्तु भीष्म की बाण-वर्षा से परास्त होकर उन्हे निराश लौटना पड़ा।

तभी अपने मार्ग पर विजय-मद में भरे भीष्म के मन में एक प्रश्न कौंधा था, 'अपने आवेश में यह क्या किया तुमने? क्या यह ठीक है?'

किन्तु प्रश्नों के लिए बहुत देर हो चुकी थी। उनका तत्कालीन कर्तव्य था, रथ में भयभीत बैठी, अश्रु बहाती राजकुमारियों को आश्वस्त करना... उन्हें भय मुक्त करना, कि किसी भी प्रकार का अनिष्ट नहीं होगा उनका... उनमें से एक को स्वस्थ, सुरूप एवं सम्पन्न पति मिलेगा... और शेष दो को ससम्मान लौटा दिया जाएगा।

और इसी प्रयास में सामना हुआ था उनका अम्बा की बड़ी-बड़ी, अश्रुप्लावित आँखों से। बड़ी ही कातर वाणी में, अनुनय-विनय भरे स्वर में, अश्रु बहाते हुए उसने कहा था, "नहीं... मुझे विवाह नहीं करना है... मैं तो पहले ही वर चुकी हूँ, राजा शाल्व को... मन से पति मान चुकी हूँ उन्हें।" भीष्म के पाँव पड़ते हुए कहा था उसने,

"मुक्त कर दो मुझे, यह पाप न लो अपने सिर। मैं पहले ही शाल्व की हो चुकी हूँ।"

भीष्म ने उसे अभय दिया, "चिन्ता त्याग दो, अम्बा! तुम स्वतन्त्र हो। मैं तुम्हें शीघ्र ही लौटाने का प्रबन्ध करूँगा... किन्तु अभी तो..."

उस समय तुरन्त कोई व्यवस्था सम्भव नहीं थी। एक बार हस्तिनापुर पहुँचकर ही वे कुछ प्रबन्ध कर सकते थे। साथ ही, अम्बिका तथा अम्बालिका के विषय में भी निर्णय होना था। पता नहीं, दोनों में से किसका वरण करे विचित्रवीर्य!

हस्तिनापुर में, स्थिति की गम्भीरता समझते हुए राजमाता सत्यवती ने तीनों राजकुमारियों का स्नेहपूर्वक स्वागत करते हुए, भीष्म को इस आवेशपूर्ण कार्य के लिए कुछ झिड़का भी था, "क्या यह नीति-संगत है? इन सुकुमार राजकुमारियों का भी तो सोचा होता. "

वे क्षमा माँगकर मौन खड़े रह गये थे। माँ के सम्मुख यह तर्क देने का साहस नहीं कर पाये कि क्षत्रिय-धर्म के अनुकूल ही था उनका कार्य... और फिर विवाह तो कन्या की स्वीकृति से ही होगा। वहाँ सोचने का कोई समय भी तो नहीं था। हस्तिनापुर के सम्मान के प्रश्न ने भी उनके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ा था।

सत्यवती ने अपने स्नेह-पूर्ण व्यवहार से तीनों राजकुमारियों को निर्भय करते हुए, उनका मन जानने का प्रयास किया। अम्बा की कथा सुनकर उन्होंने भी तुरन्त उसे सम्मानपूर्वक काशी भेजने का निर्णय सुनाया।

अम्बिका एवं अम्बालिका का मन हस्तिनापुर में रम रहा था। काशी लौटने के सम्बन्ध में भी उनमें कोई उत्साह नहीं था। जो हो चुका उसके बाद... उनके मन का ऊहापोह उनके मुखमण्डल पर गहराने लगता था। माता सत्यवती को भी वे दोनों ही अपनी कुलवधू के अनुरूप लग रही थीं...

भीष्म ने अपने वचन के अनुसार, अम्बा को सम्मान-सहित विदा किया... उसकी इच्छानुसार सीधे शाल्व के पास ही भेज दिया। अम्बा के मुस्कराते हुए अधरों के साथ ही उसके विशाल नेत्रों से भी मुस्कान छलक रही थी... आभार की, सुखद स्वप्न की मुस्कान। भीष्म को लगा जैसे उनके वक्ष:स्थल से कोई बहुत बड़ा भार उतर गया।

हस्तिनापुर में हर्षोल्लास का वातावरण था. महाराज विचित्रवीर्य के विवाह पर राज्य में सभी ओर मंगलगान गूँज रहे थे। सारा नगर सजा हुआ था। राजभवन में विशेष चहल पहल थी। सजे हुए मण्डप के तले कुल पुरोहित तथा विद्वान पण्डितों ने आकर मन्त्रोच्चार प्रारम्भ कर दिया था...

तभी भीष्म के सम्मुख आ खड़ी हुई... वही विशालाक्षी अम्बा। किन्तु इस बार उसकी आँखों में आभार तथा मुस्कान के स्थान पर रोष था... और मुख-मण्डल पर अकल्पनीय दृढ़ता।

"तुमने मेरे स्वप्नों पर पानी फेर दिया कुमार देवव्रत..." वह तमतमाये स्वर में बोली थी।

"मैंने...?" भीष्म हत्प्रभ रह गये थे। "मैंने तो तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हें ससम्मान विदा कर दिया था... शाल्व के पास भेज दिया था।"

"हाँ... भेजा तो था..." वह क्रोधित स्वर में बोली, "किन्तु मेरे जीवन में विष घोलने के बाद..."

"क्या हुआ बालिके?" भीष्म कुछ समझ नहीं पा रहे थे।

"वही जो मुझे शंकित कर रहा था... शाल्व ने मुझे अस्वीकार कर दिया। तुम्हारे द्वारा हरकर ले जायी हुई कन्या अब उसे स्वीकार्य नहीं है।"

भीष्म ने स्थिति समझते हुए अम्बा को आश्वस्त किया था, "तुम चिन्ता न करो अम्बा! मैं तुम्हें लेकर चलूँगा शाल्व के पास। वह मेरी बात टालने का साहस नहीं करेगा।"

"नहीं... अब बहुत हो चुका कुमार!" वह दृढ़ता के साथ बोली थी, "तुम्हारे भय से मिली हुई उसकी स्वीकृति मुझे स्वीकार नहीं है। अब तो मैं ही त्यागकर आयी हूँ शाल्व को... मैं द्यूत के पटल पर पड़ी हुई कोई गोट नहीं हूँ, जिसे जो भी चाहे उठाकर बैठा दे... कहीं भी।"

भीष्म ने शान्त करना चाहा था उसे। व्यस्तता उन्हें मंगलकार्य में भाग लेने के लिए मण्डप की ओर खींच रही थी.. किन्तु अम्बा उसी समय उनका अनुमोदन चाहती थी, अपने विचित्र प्रस्ताव पर...

"अब तो बस एक ही मार्ग है..." उसने स्पष्ट शब्दों में अपना प्रस्ताव रखा था, "अम्बिका तथा अम्बालिका के साथ ही, इसी मुहूर्त में, मेरा भी विवाह हो . तुम्हारे साथ, कुमार देवव्रत!"

भीष्म चौंक उठे थे। एक कन्या के मुख से ऐसा प्रस्ताव...। उन्हें लगा था कि निराश मनःस्थिति में अम्बा अपना विवेक खो बैठी है। उन्होंने उसे समझाने का, शान्त करने का, बहुत प्रयास किया। किन्तु वह अड़ी ही रही अपने आग्रह पर, "जीवन के इस मोड़ पर मुझे ला फेंकने के लिए तुम्हीं उत्तरदायी हो कुमार देवव्रत... अब तो तुम्हीं को वरण करना होगा मेरा।"

उसकी दृढ़ता भीष्म को दुविधा की ओर ढकेल रही थी। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की बात बताते हुए अपनी विवशता दुहराई... किन्तु उस पर कोई प्रभाव नहीं पड रहा था। कुछ देर बाद, भीष्म द्वारा बारम्बार अपनी असमर्थता दुहाराने पर, अन्तर पड़ा तो बस यह कि अम्बा की आँखें डबडबा उठीं और उसके मुख पर क्रोध के स्थान

पर करुणा उमड़ पड़ी। दूसरे ही क्षण वह दौड़कर भीष्म के पैरों पर गिरकर कहने लगी, "मुझे इस प्रकार न ठुकराओ कुमार! मुझे अपने चरणों में स्थान दे दो..."

विलम्ब होता देख... मण्डप से उठकर सत्यवती स्वयं भीष्म के कक्ष में पहुँची तो अम्बा को उनके चरणों में पड़े हुए, बिलखते देखकर अवाक् रह गयीं। उन्होंने स्नेह सहित अम्बा को उठाकर हृदय से लगाया और उसके आँसू पोंछते हुए उसकी कथा सुनी।

"वत्स! इसकी प्रार्थना विचारणीय तो है... जो कुछ हुआ, उसमें इसका भला क्या दोष था?" सारी बात सुनकर, सब कुछ जानते-बूझते हुए भी, एक बार सत्यवती को भीष्म से यह कहना आवश्यक लगा।

"किन्तु माताश्री..." भीष्म के स्वर में आश्चर्य भी था और विवशता भी। "आप यह कह रही हैं... मेरी प्रतिज्ञा जानते हुए भी...?"

"तो फिर मेरी प्रतिज्ञा भी सुन लें आप सब..." सहसा अम्बा के स्वर में दृढ़ता लौट आयी थी, "मैं विवाह करूँगी तो बस कुमार देवव्रत से, अन्यथा... अपने जीवन का अन्त कर दूँगी।"

आश्चर्य में भीष्म का हाथ वर्जना के संकेत में अम्बा की ओर फैला रह गया, "ऐसी कठोर न बनो बालिके.. मुझे ऐसी दुविधा में न डालो.."

"ऐसी प्रतिज्ञा न करो बेटी..." सत्यवती की विवश दृष्टि कभी भीष्म की ओर उठती थी तो कभी अम्बा की ओर।

"तो ठीक है माताश्री .." वह पूर्ववत् दृढ़ स्वर में बोली, "मैं वन में तपस्या के लिए जा रही हूँ... निराश और अपमानित होकर ."

और चलते-चलते, पीछे मुड़ते हुए, भीष्म की ओर देखकर वह बोली, "तुम्हारे कारण कुमार... और हाँ, मैं यह अपमान कभी नहीं भूलूँगी क्षत्रिय की बेटी हूँ इसका प्रतिशोध लूँगी .. चाहे मुझे सौ जन्म ही क्यों न लेने पड़ें।"

अपने पीछे गहन सन्नाटा छोड़ती हुई वह गयी . तो कुछ क्षण बाद, कर्तव्यवश, विवाह मण्डप की ओर बढ़ते हुए भीष्म तथा सत्यवती के कानों में पड़ने वाली मंगल-ध्वनि धीरे-धीरे मन पर जमी चिन्ता एवं गम्भीरता की पर्तों से उन्हें मुक्ति दिलाने लगी।

... और फिर, समय के साथ उस घटना पर विस्मृति की पर्तें चढ़ाते हुए, वर्तमान नित नयी घटनाओं से उनका साक्षात्कार कराने लगा।

भीष्म से मिलकर लौटते समय कृष्ण, पाण्डव, द्रुपद, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि आदि सभी गम्भीर थे। उनके मुख झुके हुए थे और किसी का एक-दूसरे की ओर देखने का भी साहस नहीं हो रहा था।

अपने शिविर में लौटकर, अपने-अपने कक्ष की ओर मुड़ते समय उन्होंने बड़े संकोच के साथ दृष्टि एक-दूसरे की ओर उठायी... सम्भवतः दूसरों के मन की स्थिति का अनुमान लगाने के लिए, किन्तु उनसे कतराकर उन्हें पुनः अपनी दृष्टि झुका लेना ही हितकर लगा।

जब वे पुनः अनिर्णय की स्थिति में, बिना कुछ बोले ही, एक दूसरे से विदा लेने के लिए उद्यत हुए तो कृष्ण ने धृष्टद्युम्न को सम्बोधित करते हुए कहा, "धृष्टद्युम्न!" धृष्टद्युम्न ने सहसा ठिठकते हुए मुड़कर देखा। "कल शिखण्डी को प्रमुख भूमिका निभानी है... आशा है, तुम्हारी व्यूह-रचना उसी के अनुरूप होगी।"

"किन्तु देवकीनन्दन!" धृष्टद्युम्न की आँखों में शंका थी, "क्या यह उनके वश में होगा। उनको पितामह भीष्म पर आक्रमण करते देख सारी कौरव-सेना उन पर टूट नहीं पड़ेगी?"

"वह मुझ पर छोड़ दो, वत्स!" कृष्ण ने आत्म-विश्वास के साथ कहा, "शिखण्डी को सुरक्षा प्रदान करने का उत्तरदायित्व मुझ पर रहा।"

अन्य सभी को विदा करके, कृष्ण पाण्डवों सहित अपने कक्ष की ओर चले। उन्हें कक्ष तक पहुँचाकर पाण्डवों ने उनसे विदा ली तो कृष्ण ने कहा, "अर्जुन! कल तुम्हें शिखण्डी की रक्षा करनी है..."

अर्जुन को इस बात का आभास था। उन्होंने रुँधे कण्ठ से, अपने उमड़ते अश्रुओं को रोककर कहा, "किन्तु केशव! यह तो स्वयं पितामह की हत्या करने जैसा ही हुआ।"

"करना... और करने-जैसा में बड़ा अन्तर होता है, पार्थ!"

"कैसा अन्तर!" अर्जुन ने उन्हें नकारते हुए कहा।

"यदि नहीं होता..." कृष्ण ने दृढ़तापूर्वक कहा, "तो भूल जाओ शिखण्डी को... वह अन्य किसी केन्द्र पर युद्ध कर लेगा। पितामह पर बाण तुम स्वयं ही चला लेना।"

"ऐसे निर्दयी न बनो मित्र..." अर्जुन का रुदन फूट पड़ा।

"युद्ध-भूमि में खड़े क्षत्रिय के तूणीर में दया-ममता का कोई स्थान नहीं होता अर्जुन!" कृष्ण की दृढ़ता में कुछ रोष भी आ समाया था। "तुम्हारे मन में अब भी कोई दुविधा हो, तो कल युद्ध-भूमि में न आना... मैं स्वयं ही शस्त्र-धारण करके शिखण्डी की रक्षा के लिए पहुँच जाऊँगा।"

यह कहते हुए कृष्ण पाण्डवों को औपचारिक रूप से विदा किये बिना ही अपने कक्ष में चले गये।

जड़वत् खड़े, अश्रु बहाते अर्जुन को सान्त्वना देते हुए युधिष्ठिर अपने कक्ष की ओर चल दिये।

पाण्डवों की वह रात आँखों में ही कटी। उन पाँचों को रह रहकर पितामह के साथ बिताये वह क्षण स्मरण हो आते थे, जब उनके वरद् हस्त के तले वे अपने पिता का अभाव भूल गये थे। जिनके आश्रय में वे दुर्योधन तथा उसके आक्रामक अनुजों के बीच भी अपने को सुरक्षित पाते थे... जिनके पास वे, छोटी सी चोट खाकर, रोते हुए भी पहुँच सकते थे और, किसी बड़े से बड़े संकट के समय भी, परामर्श के लिए जा सकते थे।

अर्जुन को यह दुविधा और भी मथ रही थी। उन्हें रह-रहकर यह स्पष्ट हो रहा था कि शिखण्डी तो मात्र बहाना है... पितामह का वध उन्हीं से कराया जा रहा है। उन्हे शिखण्डी की नहीं, पितामह के हत्यारे की रक्षा करनी है। वह पितामह, जिनकी गोद मे उन्होंने बचपन के न जाने कितने दिन चरम आनन्द की.... सुख की स्थिति में बिताये। जिनसे उन्होंने बाण विद्या के न जाने कितने मन्त्र सीखे... जिनसे उन्होंने सदैव प्रोत्साहन और दीर्घ जीवन तथा विजय का आशीर्वाद ही पाया।

किन्तु आज... यह कैसा प्रतिकार होगा वृद्ध एवं स्नेही शुभचिन्तक के उपकारों का। 'धिक्कार है ऐसे क्षत्रिय धर्म को...' अर्जुन रह-रहकर स्वयं से ही कह उठते थे।

उधर, सारी रात आँखों में काटकर, भीष्म ने सूर्योदय के पूर्व ही शैया त्यागकर, शुद्ध होकर, सन्ध्योपासना की और प्रतिदिन की भाँति ही सेवकों की सहायता से शरीर पर कवच बाँधा... और शिरस्त्राण धारण किया।

रथ पर अस्त्र-शस्त्र भेजकर उन्हें सजाते समय भी उनके हाथ तो नहीं काँपे.. किन्तु मन बहुत चंचल हो रहा था.. निरन्तर प्रश्न किये जा रहा था।

'यह कैसा निमन्त्रण है?... तुम्हें यह अधिकार किसने दिया?'

'क्या यह पलायन नहीं है?'

'एक बार पुनः सोच लो शान्तनु-नन्दन। तुम सोचते क्यों नहीं?'

'यदि निश्चय कर ही लिया है... तो ये अस्त्र-शस्त्र ले जाने का क्या औचित्य?'

'क्या इस प्रकार हस्तिनापुर बच जाएगा?'

'क्या वास्तव में, अर्जुन तुम पर प्रहार करेगा? उस पर, जिसके स्नेह की छाया तले वह पला-बढ़ा?'

भीष्म के पास ऐसे किसी प्रश्न का उत्तर नहीं था। उन सभी प्रश्नों को अनसुना करते हुए उनकी उँगलियाँ कवच के बन्ध बाँधती रहीं। अन्य दिनों की अपेक्षा मौन रहते हुए ही वे, अन्य दिनों की भाँति ही, रण-भूमि में जाने का सारा प्रबन्ध करते रहे।

दूसरी ओर, उनके मन में कुछ और प्रश्न भी थे जो रह-रहकर सिर उठाते थे।

'कब तक...? और कब तक चलेगा यह महाविनाश? इतनी हत्याओं का बोझ

अपने मन पर लेकर और कब तक जीना होगा? कैसे जिया जाएगा? क्या लाभ उस दीर्घ जीवन का जो मात्र अपनी सन्तति का पारस्परिक वैमनस्य ही दिखाता रहे...?'

प्रश्नों को प्रश्नों से उलझता छोड़, भीष्म सूर्योदय होते-होते अपने रथ पर आरूढ़ होकर युद्ध-भूमि में जा पहुँचे... उन्हें बहुत कुछ करना था।

युद्ध का दसवाँ दिन था...

सूर्यास्त होने ही वाला था, कि तीव्र गति से अपना रथ दौड़ाते हुए, संजय ने धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँचकर अशान्त स्वर में कहा, "महाराज...!"

"क्या हुआ संजय?" धृतराष्ट्र अशान्त होकर उठ खड़े हुए। वे संजय का स्वर भली-भाँति पहचानते थे। उनका ध्यान इस बात पर भी नहीं गया कि संजय ने अपना समाचार 'महाराज की जय हो...' कहे बिना ही प्रारम्भ कर दिया। पिछले नौ दिनों में, अपने पच्चीस पुत्रों के वध का समाचार पाकर वे पहले ही चिन्तित थे और किसी बड़े अनिष्ट की सम्भावना से वे काँप उठे।

"क्या हुआ मेरे पुत्रों को?" वे चिन्ताकुल स्वर में बोल उठे, "कौन... कौन? किसका समाचार लाये हो संजय?"

"शान्तनु-नन्दन भीष्म नहीं रहे..." संजय के स्वर में दुःख भी था, और अपने पक्ष के लिए चिन्ता भी।

"अरे..." धृतराष्ट्र जैसे दुःख के भार से बोझिल होकर अपने आसन पर बैठ गये। उनके स्वर में कुछ वेदना थी, तो कुछ अविश्वास। किन्तु कहीं, मन की पृष्ठभूमि में, किसी दारुण विपत्ति से मुक्त हो जाने का सुख भी था। उन्हें लगा कि सहसा आशंका से बढ़ी हुई उनकी हृदय-गति स्वस्थ हो रही है।

"यह कैसे हुआ संजय?" उनके मन में अब दूसरी चिन्ता गहराने लगी थी, "पितृवर भीष्म पर घातक प्रहार करने का साहस किसने किया? उनके तूणीर में बाण चुक गये थे या... या असावधानीवश दुर्योधन ने उनकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं की?"

"सब कुछ था महाराज! सब कुछ..." संजय ने हताश स्वर में समाचार सुनाते हुए कहा, "किन्तु शिखण्डी ने उन्हें अपने विषैले बाणों से बींध दिया।"

"शिखण्डी ने?" धृतराष्ट्र को जैसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। संजय ने देखा उनकी निर्जीव आँखें उछल-उछलकर उसी अविश्वास को दुहरा रही हैं। "उस बालक ने...! द्रुपद के उस बालक ने, जिसने चार दिन पूर्व ही धनुष पकड़ना सीखा था?"

"हाँ महाराज! उन्हीं ने..."

"यह कैसे सम्भव हुआ, संजय?" धृतराष्ट्र के स्वर में उत्तेजना के साथ ही अविश्वास भी था।

"उस समय..." संजय का कण्ठ भर आया था और आँखें छलकने लगी थीं, "उस समय गंगा-पुत्र ने धनुष रख दिया था... वे नेत्र बन्द किये हाथ जोड़े खड़े थे... जैसे प्रार्थना कर रहे हों किसी परा शक्ति के सम्मुख, मृत्यु के देवता को अपने पास भेजने के लिए।"

"यह... यह क्या कह रहे हो संजय?" धृतराष्ट्र के स्वर का आश्चर्य उनके दृष्टि-हीन नेत्रों को कुछ देख पाने के लिए मचलने पर बाध्य कर रहा था। "और मेरे पुत्र उन्हें इस प्रकार बाणों से बिंधता देखते रहे? दुर्योधन कहाँ था? उसने कुछ नहीं किया? दुःशासन ने... शकुनि ने, शल्य ने... द्रोण, कृप और अश्वत्थामा ने भी कुछ नहीं किया?"

"किया महाराज..." संजय ने हताश स्वर में कहा, "सब ने किया... सब ने अपने वश भर शिखण्डी को युद्ध से विमुख करने का प्रयास किया... सबने अपनी शक्ति भर, अपनी सामर्थ्य भर उनका वध करने का प्रयास किया... मैं भी अपने जीवन का मोह त्यागकर शिखण्डी पर भाँति-भाँति के शस्त्र चला रहा था। किन्तु पाण्डवों की सारी सेना अन्य रथियों-महारथियो से युद्ध करना भूलकर प्राण-पण से शिखण्डी की रक्षा कर रही थी। वे हर उस योद्धा को निर्बल एवं युद्ध-विमुख करने में लगे थे, जो शिखण्डी पर प्रहार करने पहुँचता था।"

"किन्तु..." जो कुछ सुना वह अब भी धृतराष्ट्र के लिए समझ से परे था, "किन्तु पितृवर भीष्म ने धनुष क्यों रख दिया? उन्होंने युद्ध क्यों नहीं किया?"

"वास्तविकता कोई नहीं जानता, महाराज!" संजय ने दुःख एवं विवशता में कहा, "किन्तु भाँति-भाँति के अनुमान लगा रहे थे वे सब। कोई कहता था कि गंगा पुत्र युद्ध करते-करते थक गये थे... वध करते-करते विरक्ति को प्राप्त हो चुके थे। कोई कहता था कि वे पाण्डवों के पक्ष को और निर्बल नहीं करना चाहते थे। कोई कहता था नित्य-प्रति युवराज दुर्योधन द्वारा प्रताड़ित होने के कारण खिन्न थे... और कोई कहता था कि अपनी मृत्यु का पूर्वाभास पाकर उन्होंने पूरी गरिमा के साथ मृत्यु का वरण करने का निर्णय लिया था..."

"यह तो कोई कारण नहीं हुआ..." धृतराष्ट्र ने स्वयं ही अपने मन को कुरेदते हुए कहा, "वे तो प्रारम्भ से ही युद्ध के विरुद्ध थे। पाण्डु पुत्रों के स्नेह मे बँधा उनका मन सदैव पाण्डवों का हित ही देखता था... मैंने तो दुर्योधन को बहुत समझाया कि युद्ध न करो, और यदि छेड़ ही दिया है तो महात्मा भीष्म को युद्ध के लिए विवश न करो। किन्तु ..."

धृतराष्ट्र का वह किन्तु बड़ी देर तक राज-प्रासाद के उस विशाल कक्ष में गूँजता रहा। स्वयं धृतराष्ट्र ही नहीं समझ पाये कि अपना वाक्य कैसे पूरा करें। संजय के मन में बहुत कुछ था जो सम्भवतः उस किन्तु को गति प्रदान करके बात को यथार्थ तक ले जाता... किन्तु उसकी व्याख्या निश्चित ही उसे महाराज के कोप का भाजन बनाती। उस कटु सत्य से भलीभाँति परिचित होते हुए भी धृतराष्ट्र अपने तुच्छ सेवक के मुख से वे आरोप कदापि स्वीकार न कर पाते।

"संजय!" कुछ देर अन्तर-मन्थन में मौन रहकर बिताने के बाद, धृतराष्ट्र ने ही प्रश्न किया, "उनका रथ युद्ध-भूमि में खड़ा कैसे रह गया? दुर्योधन ने उसे वहाँ से हटाने का आदेश क्यों नहीं दिया? हमारी सेना के महारथी शिखण्डी के रक्षकों को मार क्यों नहीं पाये?"

"महाराज! लगता है आज प्रारम्भ से ही गंगा-पुत्र पर आक्रमण की योजना थी। पाण्डव, व्यूह बनाकर, शिखण्डी को आगे करके ही, युद्ध के लिए निकले थे। भीमसेन तथा अर्जुन जैसे योद्धा शिखण्डी के रथ-चक्रों की रक्षा कर रहे थे... और पिछले भाग की रक्षा में अभिमन्यु तथा द्रौपदी-पुत्रों के साथ ही सात्यकि तथा चेकितान थे।

"इधर, हमारी ओर, युवराज दुर्योधन, अन्य राजकुमारों-सहित, गंगापुत्र की रक्षा कर रहे थे। उन्हीं के साथ आचार्य द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा राजा भगदत्त भी थे। कहीं कोई समस्या नहीं दिखाई दे रही थी। गंगा-पुत्र की बाण वर्षा से पाण्डव-सेना के अनेक योद्धा धराशायी हुए ही थे कि उनके सम्मुख शिखण्डी जा पहुँचा। महात्मा भीष्म ने उस पर दृष्टि पड़ते ही अपना रथ दूसरी ओर मोड़ दिया... जैसे उससे कतरा रहे हों... अथवा भयभीत हों। किन्तु लगा जैसे शिखण्डी केवल उन्हीं से युद्ध करने को लालायित है, उन्हीं को टक्कर देने के लिए कटिबद्ध है। उसका रथ भी मुड़कर पुनः महात्मा भीष्म के सम्मुख जा पहुँचा।

"गंगापुत्र ने शिखण्डी की ओर दृष्टि डाले बिना ही उसकी सेना पर कुछ बाण छोड़े, किन्तु शिखण्डी के बाणों का कोई उत्तर नहीं दिया। तभी शिखण्डी ने महात्मा भीष्म की छाती में तीन बाण मारे। उसकी पीड़ा से कराहते हुए भी उन्होंने कहा, 'तेरी जैसी इच्छा हो, मुझ पर प्रहार कर ले... किन्तु मैं तुझसे कदापि युद्ध नहीं करूँगा।'

"यह सुनकर, शिखण्डी ने भी क्रोधपूर्वक कहा, 'महाबाहो! तुम कैसे भी महान धनुर्धर क्यों न हो, आज मैं प्राणों का मोह त्यागकर तुमसे युद्ध करने आया हूँ। तुम युद्ध करो, न करो... किन्तु आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा।'

"महामना भीष्म ने शिखण्डी को उत्तर दिये बिना फिर अपना रथ दूसरी ओर घुमा दिया और वे पाण्डव-सेना पर भीषण बाण वर्षा करने लगे। किन्तु शिखण्डी तो मात्र उन्हीं का पीछा करने का निश्चय करके आया था। वह फिर गंगा-पुत्र के सम्मुख पहुँचकर उन पर विषैले बाण बरसाने लगा। हमारी सेना के योद्धाओं ने

भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि आदि की बाण-वर्षा झेलते हुए भी शिखण्डी पर आक्रमण किया, किन्तु ऐसे पराक्रमी अंग रक्षकों की भीत को तोड़कर उस तक पहुँच पाना सम्भव नहीं था।

"महाबाहु भीष्म अवसर पाते ही शिखण्डी के सामने से हटकर, अन्य किसी युद्ध-स्थल पर, पाण्डव-सेना का विनाश प्रारम्भ करते थे... किन्तु देखते-ही-देखते, वे शिखण्डी को अपने सम्मुख पाते थे।

"इस बीच, सात्यकि पर अलम्बुष तथा भगदत्त ने आक्रमण करके भीषण युद्ध किया। अश्वत्थामा ने विराट तथा द्रुपद को अपने बाणों से बुरी तरह आहत किया। आचार्य द्रोण ने पाण्डवों की रक्षा पंक्ति को वेधते हुए उनकी सेना का महाविनाश किया। भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, कृतवर्मा, विन्द, अनुविन्द, जयद्रथ, विकर्ण आदि मिलकर भीमसेन पर टूट पड़े। युवराज दुर्योधन का अभिमन्यु के साथ भयंकर युद्ध हुआ... किन्तु, यह सब होते हुए भी, वे शिखण्डी को गंगा-पुत्र के सम्मुख पहुँचने से नहीं रोक पाते थे।

"चारों ओर रथ दौड़ाकर भी, शिखण्डी से पार न पाकर, महाबाहु गंगापुत्र ने अपना धनुष माथे से लगाते हुए रथ की पीठिका में रख दिया... और वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये... उनका यह व्यवहार सभी योद्धाओं को आश्चर्य में डाल रहा था।

"तभी उन्हें पुकारते हुए शिखण्डी ने कहा, 'धनुष उठाओ शान्तनु-नन्दन! अथवा पराजय स्वीकार करके युद्ध-भूमि त्याग दो.'

"यह सुनकर भी महात्मा भीष्म का ध्यान नहीं टूटा.. जैसे वे समाधिस्थ हो चुके हों। उन्हें मौन देख, कुछ प्रतीक्षा के बाद, 'सावधान गंगा पुत्र!' कहते हुए शिखण्डी ने पुनः उनपर बाण-वर्षा आरम्भ कर दी। उन्हें निहत्थे योद्धा पर बाण चलाते देख युवराज दुर्योधन और आचार्य द्रोण ने बहुत धिक्कारा, किन्तु उन्हें बाण-वर्षा से विरत न कर सके।

"शिखण्डी के बाण वृद्ध गंगापुत्र की देह को जहाँ-तहाँ वेधते रहे . किन्तु प्रत्येक आघात को, एक करुण कराह के साथ झेलते हुए भी, वे हाथ जोड़े हुए दूर अन्तरिक्ष की ओर निहारते रहे। शिखण्डी का कान तक प्रत्यंचा खींचकर मारा हुआ प्रत्येक बाण ऐसा प्रतीत होता था जैसे उनके शरीर को अपने साथ उड़ा ले जाएगा... किन्तु वे, दूसरे ही क्षण, सँभालते हुए पुनः अपनी स्थिति में लौट आते थे। देखते-ही-देखते उनका सारा तन बाणों से बिंध गया और कवच भी टूट गिरा। उनका सारा शरीर बहते हुए रक्त से रँग गया था।

"इस बीच, अन्तिम समय तक, शिखण्डी तक पहुँचकर उसे बाण-प्रहार से रोकने के लिए हमारी सेना के रथी-महारथी प्राणों का मोह त्यागकर युद्ध करते रहे... जिनमें कुमार दुःशासन का युद्ध लोग कभी नहीं भुला पाएँगे। वे स्वयं, ऊपर

से नीचे तक बाणों से बिंधकर भी, महात्मा भीष्म की रक्षा में लगे थे... उनकी ओर आने वाले प्रत्येक शस्त्र को काटने का निरन्तर प्रयास कर रहे थे...

"किन्तु सूर्यास्त होते-होते हमारे पूज्य, प्रधान सेनापति, शान्तनु-नन्दन भीष्म एक बाण के आघात के साथ लड़खड़ा कर, रथ से फिसलते हुए, भूमि पर ऐसे जा गिरे जैसे आकाश से कोई जलती हुई उल्का धमाके के साथ पृथ्वी पर आ गिरी हो।

"विचित्र... रोंगटे खड़े कर देने वाला दृश्य था। महात्मा भीष्म का शरीर भूमि पर गिरकर भी भूमि से बहुत ऊपर था... उनके शरीर को वेधने वाले बाण उन्हें, शैया के पाये बनकर, धरती से ऊपर ही थामे हुए थे। उन्हें गिरता देख न कहीं हर्षोल्लास की ध्वनि सुनाई पड़ी और न कहीं कोई रुदन। सब आश्चर्य एव आतंक से ग्रस्त, आँखें फाड़े उनकी ओर देख रहे थे। किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। दोनों सेनाओं का युद्ध सहसा थम गया और सारे योद्धा, पारस्परिक वैमनस्य भूलकर, विषाद से जड़वत् खड़े रह गये।

"और महाराज!" संजय ने टूटते स्वर में कहा, "मैं आपको यह हृदय-विदारक समाचार सुनाने के लिए दौड़ा चला आया।"

"चलो... शीघ्रता करो..." भीड़ में सहसा दुर्योधन का स्वर गूँज उठा, "पितामह को चिकित्सा के लिए ले चलो... शीघ्र चलो।"

दुर्योधन की पुकार सुनकर सभी योद्धा उस आकस्मिक विस्मय-तन्द्रा से जागे। दुर्योधन के साथ ही वे सब भीष्म को उठाने के लिए दौड़े... किन्तु भीष्म ने कराहते हुए, हाथ उठाकर उन्हें रोक दिया।

"पराजित योद्धा की भाँति..." उन्होंने प्रयत्न करते हुए रुक-रुककर कहा, "युद्ध-भूमि से न ले चलो मुझे।"

"पितामह!" दुर्योधन ने उत्तेजित स्वर में कहा, "आपका उपचार..."

"मेरा उपचार..." भीष्म के मुखपर एक फीकी मुस्कान तैर गयी, "मेरा उपचार चाहो, तो अपना हठ त्याग दो वत्स..."

सुनकर दुर्योधन के सिर की शिराएँ तड़क उठीं... जैसे वे फट पड़ेंगी। भीष्म के प्रति करुणा का भाव क्षण-भर में ही तिरोहित हो गया और मन में कहीं यह विचार उठा, 'यह बूढ़ा मरते-मरते भी मुझे उपदेश देने से नहीं चूकेगा।'

"पितामह!" दुर्योधन ने बड़ी कठिनाई से अपनी कटुता को दबाकर समयोचित शब्द जुटाते हुए कहा, "आपका जीवन हमारे लिए अनमोल है... हमें आपको तुरन्त वैद्यराज के पास ले जाना होगा।"

"इस संसार में... सब कुछ..." भीष्म ने प्रयास करते हुए धीरे-धीरे कहा, "चाहे

वह कितना ही अनमोल क्यों न हो... एक दिन इसी पृथ्वी में धूल बनकर मिल जाता है, वत्स! अब कोई चिकित्सक मुझे बचा नहीं पाएगा।"

"पितामह!" बिलखते हुए अर्जुन ने उनके पास पहुँचकर कहा, "यह आपने क्या किया? आपने धनुष क्यों रख दिया? आपने तो सदैव मुझे अन्तिम श्वास तक युद्ध करते रहने का पाठ पढ़ाया था..."

रोते हुए अर्जुन के पीछे, युधिष्ठिर, भीमसेन, नकुल तथा सहदेव, पाला-मारे पौधों की भाँति, मुरझाये खड़े थे। उनसे कुछ कहते अथवा करते नहीं बनता था। तभी कृष्ण ने, हाथ जोड़े हुए, भीष्म की ओर बढ़कर उनके चरण छुए।

"बड़े छलिया हो, वासुदेव!" भीष्म के मुख पर बाल-सुलभ मुस्कान तैरने लगी, "मैंने तो बहुत चाहा कि तुम्हारे हाथों मेरा वध हो... मैं मुस्कान अधरों पर लिये, व्यंग्य से तुम्हें प्रण तोड़ने का उलाहना देता हुआ संसार से विदा लूँ... किन्तु तुमने इतना सा उपकार भी नहीं किया मुझ पर! ऐसा अनाम योद्धा लाकर खड़ा कर दिया मेरे सम्मुख कि मैं युद्ध करके वीरगति पाने का गौरव भी न पा सकूँ।"

"आपको कौन मार सकता था पितामह!" अर्जुन ने पूर्ववत् बिलखते हुए कहा, "आपने तो स्वयं ही हमारे विजय-यज्ञ में अपनी आहुति दे दी... और अभागे हम, कि हमने दोनों हाथ पसारकर स्वीकार कर लिया आपकी उस आत्मघाती भेंट को।"

"मुझे तो जाना ही था वत्स!" भीष्म ने कष्टपूर्वक अर्जुन से कहा, "बस इच्छा यह थी कि तुम सब को हिल-मिलकर हस्तिनापुर की गौरव पताका फहराते देख लूँ। किन्तु जीवन बड़ा क्रूर होता है पुत्र! किसी को भी मनचाहा सुख नहीं देता।"

"पितामह की हत्या करके..." तभी बीच में आकर अर्जुन को परे ढकेलते हुए दुर्योधन ने कहा, "यह रोने-धोने का ढोंग बाद में कर लेना... अभी तो इन्हें ले जाने दो वैद्यराज के पास।"

"मुझे कहीं न ले जाना पुत्र दुर्योधन!" भीष्म ने दुर्योधन को बरजते हुए कहा, "मैं आज तक रणभूमि से कभी युद्ध जीते बिना नहीं लौटा, युद्ध अधूरा छोड़कर नहीं भागा . आज अन्तिम समय में मुझे यह कलंक न लगाओ। मेरी यह विनती, मेरी अन्तिम इच्छा मानकर, स्वीकार कर लो पुत्र!"

"पितामह..." दुःशासन ने चिन्तित स्वर में कहा, "हम आपको इस स्थिति में भी तो नहीं देख सकते!"

"तो चलो... ले चलो मुझे," भीष्म ने करुण दृष्टि से दुर्योधन की ओर देखते हुए कहा, "युद्ध समाप्ति की घोषणा करके ले चलो। पाण्डवों से सन्धि करके... उन्हें उनका राज्य लौटाने का संकल्प करके ले चलो।"

सुनकर दुर्योधन के मुख का भाव सहसा कठोर हो गया। क्षण-भर उसने भीष्म की ओर आग्नेय दृष्टि से देखा और झटके के साथ उठकर वहाँ से चला गया। कुछ

क्षण असमंजस में वहाँ बिताकर दु:शासन भी चुपचाप उठा और दुर्योधन की दिशा में ही चल पड़ा।

उस दिन का युद्ध समाप्त हो चुका था... और भीष्म के वध का समाचार चारों ओर दावाग्नि की भाँति फैल गया। द्रोणाचार्य यह समाचार सुनकर मूर्च्छित पड़े थे और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, जयद्रथ आदि दु:ख एवं निराशा के कारण एक-दूसरे से दृष्टि भी नहीं मिला पा रहे थे। जहाँ कौरव-सेना में विषाद छाया था वहीं पाण्डव-सेना के सृंजय, सोमक आदि कुछ सहयोगियों में हर्षोल्लास की लहर दौड़ गयी थी। वे शंखनाद एवं जय-जयकार करते हुए प्रसन्नता से झूम रहे थे।

देखते-ही-देखते, भीष्म के चारों ओर दोनों ही सेनाओं के योद्धा जमा होने लगे। उनकी स्थिति देखकर वे सभी, आतंकित-से, मौन खड़े रह जाते थे।

भीष्म बाणों की शैया पर किसी हठ-योगी की भाँति पड़े थे... बस, उनका सिर किसी आधार के अभाव में नीचे की ओर लटका हुआ था, जिससे उन्हें कुछ असुविधा हो रही थी, विशेषतया अपने सम्मुख आने वाले व्यक्तियों को देखने में।

उन्होंने कहा, "मेरा सिर पीछे गिरा जा रहा है... इसके नीचे कुछ लगा दो... कुछ ऐसा कि मैं तुम सब को जी भरकर देख तो सकूँ।"

अनेक योद्धा, सेवक आदि कोई कोमल अवलम्ब लेने के लिए दौड़े। किन्तु भीष्म ने उन्हें रोकते हुए कहा, "अरे अब अवलम्ब कहाँ सोहेगा... मेरी इस विचित्र शैया के साथ!" फिर उन्होंने अर्जुन को पुकारते हुए कहा, "वत्स धनंजय! कुछ उपाय करो कि मैं तुम सब से विदा लेने तक सिर उठाकर तो जी सकूँ।"

"आपका मस्तक कभी किसी के सम्मुख नहीं झुक सकता पितामह!" अर्जुन ने तुरन्त ही उठते हुए, रुँधे कण्ठ से कहा और अपने तूणीर से कुछ पंखवाले सायक निकालकर, भीष्म के सिर के नीचे इस प्रकार टिकाकर खड़े किये कि उनका सिर, शरीर के समतल होकर, सुविधापूर्वक स्थिर रह पाए।

"मैं जानता था..." भीष्म ने मुस्कराते हुए कहा, "यह कार्य अर्जुन ही कर सकता है।" फिर उन्होंने इधर-उधर सिर घुमाया तो अनेक योद्धाओं के साथ युधिष्ठिर को भी आँसू बहाते देखा।

"यह क्या धर्मराज!" भीष्म ने मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए। तुम्हारे राह की सबसे बड़ी बाधा..."

"नहीं पितामह!" युधिष्ठिर दौड़ते हुए उनके पैरों पर गिरे और बिलखते हुए बोले, "आप तो हमारे सबसे बड़े हितैषी हैं... आपको बाधा बनाकर तो हमारे दुर्भाग्य ने खड़ा किया... दुर्योधन के हठ ने खड़ा किया..."

"यह रुदन बन्द करो वत्स!" भीष्म ने, कराहते हुए भी, स्नेहपूर्वक कहा, "मैं तुम्हें... तुम सबको प्रसन्न देखना चाहता हूँ... विजयश्री से अलंकृत देखना चाहता हूँ।"

"किन्तु उसके लिए इतना बड़ा बलिदान... हमें कभी सुखी नहीं रहने देगा, पितामह!" भीमसेन ने करुणा में भीगे स्वर में कहा।

"मेरा दुःख न करो पुत्र!" भीष्म ने शान्त रहते हुए कहा, "मेरी आयु तो यों भी पूर्ण हो चुकी थी। जाना ही था मुझे। अच्छा अब जाओ तुम सब... कुछ विश्राम कर लो। कल तुम सबको पुनः युद्ध करना है। मन लगाकर... मेरा दुःख भुलाकर, युद्ध करना। देखो, मेरा बलिदान व्यर्थ न जाए। तुम्हें इस युद्ध में विजयी होना है।"

"आपको इस अवस्था में छोड़कर हम कैसे जा सकते हैं पितामह?" युधिष्ठिर ने रुँधे कण्ठ से कहा।

"तुम्हें जाना ही होगा वत्स!" भीष्म ने गम्भीर स्वर में आदेश दिया, "एक मरणासन्न वृद्ध के मोह में तुम युद्ध से मुख नहीं मोड़ सकते। यही जीवन है... यही क्षत्रिय धर्म है।"

"किन्तु पितामह..."

"किन्तु कुछ नहीं... मुझे कुछ भी नहीं होगा। मेरे आस-पास खाई खुदवा दो और कुछ सैनिक यहाँ छोड़कर अपने शिविर लौट जाओ। यह भूमि बहुत विस्तृत है... तुम्हारा युद्ध इस भू-भाग को छोड़कर अन्यत्र भी चलता रह सकता है। मैं युद्ध समाप्त होने तक प्राण रोके रखूँगा... इस आशा में कि यह शीघ्र ही समाप्त हो... और तुम शीघ्र ही विजयश्री का वरण करो।"

कुछ देर पश्चात्, आवश्यक प्रबन्ध कराके, युधिष्ठिर अनुजों-सहित अपने शिविर को लौट गये।

अन्य योद्धा भी धीरे-धीरे भीष्म को प्रणाम करके लौट गये...

तभी दुःख एवं चिन्ता के भार से सिर झुकाये हुए कर्ण भीष्म के पास पहुँचा और प्रणाम करके उनके निकट बैठ गया।

"आओ कौन्तेय!" भीष्म ने शिथिल स्वर में कहा।

"मैं कौन्तेय नहीं, गंगापुत्र! राधेय हूँ मैं..." कर्ण ने तुरन्त ही भीष्म का सम्बोधन सुधारते हुए कहा।

"कर्ण!" भीष्म ने धीमे स्वर में रुकते हुए कहा, "मैं जानता हूँ कि सूत-पत्नी राधा ने तुम्हारा पालन पोषण किया... किन्तु वास्तविकता यह भी है कि तुम्हारा जन्म कुन्ती के गर्भ से ही हुआ था। इस नाते तुम कौन्तेय ही नहीं, पाण्डु-पुत्र भी हो.. युधिष्ठिर, भीम आदि के अग्रज हो।"

"वह कथा सुनाकर मुझे विचलित करने का प्रयास न करें, पूज्यवर!" कर्ण ने सुस्पष्ट, गम्भीर स्वर में कहा, "मेरे लिए तो सबसे बड़ी वास्तविकता यही है कि एक

त्यागी हुई सन्तान को अपनी ममतामयी गोद देकर, उसपर अपार स्नेह लुटाकर, जिसने पाल-पोसकर बड़ा किया... वही राधा मेरी माँ है।"

"किन्तु कर्ण!" भीष्म ने पुनः मनुहारते हुए कहा, "रक्त सम्बन्ध के नाते ही, यदि तुम पारस्परिक वैमनस्य भुलाकर यह महाविनाश रोकने में सहायता कर सको, तो भरत वंश पर तुम्हारा बड़ा उपकार होगा।"

"पितामह! यह तो पूर्णतया दुर्योधन पर निर्भर है..." कर्ण ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "दुर्योधन के उपकारों में बँधा हुआ, मैं तो उनका क्रीत-दास हूँ... मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता।"

"मैं तुम्हारी दुविधा समझ सकता हूँ, वत्स!" भीष्म ने शान्त स्वर में कहा, "तुम उपकारी का आभार मानने वाले सुकृतार्थ हो... इस गुण के लिए मैं तुम्हारा सम्मान करता हूँ। तुम अर्जुन-जैसे ही पराक्रमी योद्धा हो, इसके लिए भी मैं तुम्हारा सम्मान करता रहा, किन्तु यदा-कदा मैंने जो तुम्हें हतोत्साहित करने के लिए अपमानजनक बातें कहीं, वे मात्र इस उद्देश्य से थीं कि मैं तुम्हें दुर्योधन एवं शकुनि के षड्यन्त्र में भागीदार नहीं बनने देना चाहता था।"

"पितामह!" कर्ण ने सच्चे हृदय से पश्चात्ताप भरी वाणी में कहा, "मैं भी अन्य सभी की भाँति आपका सम्मान करना चाहता था... आपका स्नेह पाना चाहता था... किन्तु दुर्योधन का हित मुझे बहुधा आपका विरोध करने पर विवश करता रहा। मैं लज्जित हूँ अपने उस व्यवहार के लिए... मुझे क्षमा कर दीजिएगा, पितामह!"

"तुम्हारा यह व्यवहार ही दैव के विधान का प्रमाण है..." भीष्म ने कहा, "वही विधि का विधान, जिसके कारण मैं सारे प्रयास करके हार गया... किन्तु यह युद्ध नहीं रोक पाया। पुत्र! जब तुमने निश्चय कर ही लिया है तो जाओ... पूरे मन से.. एक क्षत्रिय की भाँति युद्ध करो।" भीष्म थककर मौन हो गये।

कर्ण ने उन्हें प्रणाम किया और, उनकी आज्ञा लेकर, अपने रथ पर आरूढ़ हो, दुर्योधन के पास चला गया।

द्रोणाचार्य

रात बीतते ही, सूर्योदय होते होते, कौरव और पाण्डव अपने दलों के प्रमुख योद्धाओं के साथ भीष्म की बाण-शैया के निकट उपस्थित हुए और अपने कवच तथा अस्त्र शस्त्र उतारकर, उन्हें सादर अभिवादन करके, अपनी अवस्था के क्रम से उनके पास बैठ गये। उनके अतिरिक्त निकटवर्ती ग्रामों के नागरिक – नर, नारी, वृद्ध, बालक आदि, सभी सहस्रों की संख्या में वहाँ उपस्थित हुए और भीष्म के चरणों पर रोली, खील, चन्दन, फूल-मालाएँ आदि चढ़ाकर उनका पूजन एवं सत्कार करने लगे।

वे सब अपने साथ भीष्म के लिए उत्तम एवं स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ भी लाये थे किन्तु भीष्म ने, सादर स्वीकारते हुए भी, उन्हे ग्रहण करने से मना कर दिया।

"अब मैं सामान्य मानव-जीवन त्यागकर, बाण-शैया ग्रहण कर चुका हूँ.. अतः अब मैं किसी भी प्रकार का लौकिक भोग ग्रहण नहीं करूँगा।" यह कहते हुए भीष्म ने अर्जुन की ओर देखा, "किन्तु पुत्र अर्जुन! मेरा कण्ठ सूख रहा है.. और जो जल मुझे अभीष्ट है वह केवल तुम ही मुझे पिला सकते हो।"

"आप आज्ञा करें पितामह. " अर्जुन ने तत्परतापूर्वक भीष्म के निकट पहुँचकर कहा।

"वत्स!" भीष्म की दृष्टि कहीं दूर आकाश पर टिकी थी, "कुछ ऐसी व्यवस्था कर दो कि गंगा पुत्र को, जीवन के अन्तिम दिनों में प्रतिदिन गंगा का दर्शन होता रहे पीने को गंगा जल प्राप्त होना रहे।"

"जो आज्ञा पितामह..." अर्जुन अपना धनुष बाण लेकर, रथ पर आरूढ़ हो, निकटवर्ती गंगा तट की ओर चल पड़े। चलते चलते उन्होंने दो कोस लम्बी नहर खोदने की योजना बनाकर उत्तरदायित्व नकुल तथा सहदेव को सौंप दिया।

देखते ही देखते, सहस्रों सैनिक कार्य में जुट गये. और मध्याहन से पूर्व ही वह नहर खुदकर तैयार हो चुकी थी.. और उधर अर्जुन ने अपने पैने बाणों से काट काटकर अनेक वृक्ष तथा प्रस्तर खण्ड गंगा की धारा में इस प्रकार गिराये कि सरिता जल का एक बड़ा भाग वेग पूर्वक उस नहर में प्रवाहित हो चला। अर्जुन ने पात्र में गंगा जल लेकर भीष्म को पिलाया तो उनका मुख अलौकिक शान्ति से उद्दीप्त हो उठा। उन्होंने आभार एवं आशीर्वाद भरी दृष्टि से अर्जुन की ओर देखा। "वत्स अर्जुन! यशस्वी भव..."

सूर्य मध्याकाश पार कर चुका था... किन्तु योद्धाओं के मन में यह अनिश्चय बना ही हुआ था, कि अब क्या होगा! युद्ध होगा भी कि नहीं! सबके मन में भाँति भाँति की शंकाएँ थीं... भाँति-भाँति के प्रश्न थे...

जब भीष्म ने गंगा-जल से अपना कण्ठ भिगोते हुए, तृप्त होकर, अर्जुन को आशीर्वाद दिया तो दुर्योधन के मन में दबी निराशा, क्रोध का रूप लेकर भड़क उठी...

"उसे आशीर्वाद दे रहे हैं पितामह! जिसने छल-पूर्वक युद्ध करके आपकी यह दुर्दशा की?"

"पितामह की दुर्दशा का उत्तरदायित्व अर्जुन पर नहीं..." उत्तर भीमसेन ने उच्च स्वर में उसे प्रताड़ित करते हुए दिया, "तुम पर है दुर्योधन, तुम पर... जिसने उनका सारा परामर्श ठुकराकर इस युद्ध की भूमिका बनायी, और उन्हें हमारे विरुद्ध शस्त्र उठाने पर विवश किया।"

"दुर्योधन पर आरोप लगाने से कुछ नहीं होगा भीमसेन!" शकुनि ने तुरन्त ही व्यंग्यात्मक शैली में उन्हें धिक्कारते हुए कहा, "वास्तविकता यह है कि युद्ध तुमने छेड़ा है, अपनी राज्य की लोलुपता के लिए... दुर्योधन ने नहीं।"

"तेरह वर्ष भटकने के बाद, कपट द्वारा छिने हुए अपने राज्य को प्राप्त करने की इच्छा..." सहदेव ने उत्तेजित होते हुए कहा, "राज-लोलुपता नहीं होती, गान्धारनरेश!"

"तेरह वर्ष भटककर किसी पर उपकार नहीं किया..." दु:शासन ने उत्तर में ललकारते हुए कहा, "वह वचन तुम्हारे अग्रज ही हारे थे।"

इस अप्रिय वाद-विवाद से भीष्म विचलित दिखे। अपना सिर इधर उधर झटकते हुए, उन्होंने कराहते स्वर में कहा, "फिर वही कटु संवाद... अन्तहीन तर्क..." उनके स्वर से कौरवों-पाण्डवों के बीच उठा वह आरोप प्रत्यारोप सहसा थम गया। तभी भीष्म ने कुछ शान्त होते हुए कहा, "इस वाक्-युद्ध से तो अच्छा यही होगा... कि तुम बाण-युद्ध द्वारा ही अपनी समस्या हल करो... मुझे छोड़ दो, मेरे भाग्य पर... मेरी इस काँटों भरी शैया पर..."

भीष्म का करुण स्वर धीमा होते होते थम गया। दोनों ही सेनाओ के योद्धा, एक-दूसरे को आग्नेय नेत्रों से देखते हुए, चुपचाप वहाँ से खिसकने लगे। अंत मे वहाँ से पाण्डवों ने भी भीष्म को प्रणाम करते हुए विदा ली।

कौरव-सेना में विशेष हलचल थी... सब के मन में यही प्रश्न था कि अब उनकी सेना का नेतृत्व कौन करेगा! घूम-फिरकर सबका ध्यान कर्ण पर ही जाता था। कर्ण न केवल अमित पराक्रमी था, वह दुर्योधन का विश्वस्त मित्र भी था... और उसमें

अर्जुन से युद्ध करने का उन्माद भी था।

उधर कर्ण ने दुर्योधन के पास पहुँचकर भीष्म की करुण अवस्था पर दुःख व्यक्त करते हुए, उसे धैर्य बँधाकर कहा, "कुरुनन्दन! इस दुःख की घड़ी में भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मुझे खेद है कि मैं अब तक युद्ध में भाग नहीं ले सका.. किन्तु अब मैं तुम्हारे साथ हूँ। मैं रक्त की अन्तिम बूँद तक तुम्हारे लिए युद्ध करूँगा... आश्वस्त रहो।"

"मुझे तुम पर विश्वास है मित्र!" दुर्योधन ने उसे बाँहों में भरकर हृदय से लगाते हुए अपना वाक्य पूरा किया, "उतना ही, जितना स्वयं अपने ऊपर है। किन्तु इस समय तो प्रश्न यह है कि कौरव-सेना का प्रधान सेनापति किसे बनाया जाए?"

"मेरी दृष्टि में तो..." कर्ण ने कहा, "हमारी सेना के अनेक महारथी इस कार्य के लिए उपयुक्त हैं... किन्तु प्रधान के लिए तो किसी एक को ही चुनना होगा। इस दृष्टि से, मेरे मतानुसार, आचार्य द्रोण ही इस पद के लिए सर्वोत्तम रहेंगे। वे हममें से अनेक योद्धाओं के गुरु हैं और आयु में भी हमसे बड़े हैं। उनके रहते, अन्य किसी को प्रधान सेनापति बनाना उचित नहीं होगा।"

दुर्योधन ने कृपाचार्य, कर्ण, शकुनि, दुःशासन, शल्य, जयद्रथ आदि के साथ जाकर, आचार्य द्रोण को प्रणाम किया और सबका निर्णय सुनाया। द्रोण ने यह उत्तरदायित्व सहर्ष स्वीकार कर लिया, विशेषकर यह स्मरण करके कि, पाण्डवों के वन गमन के समय, दुर्योधन ने इन्द्रप्रस्थ का शासन भार उन्हें ही प्रदान किया था। दुर्योधन ने उनका, प्रधान सेनापति के पद पर विधिवत् अभिषेक किया और समस्त सेनापतियों के हर्षोल्लास के बीच, स्वस्तिवाचन, सूत एवं मागधों के स्तुतिगान तथा पुष्प वर्षा से उनका सम्मान किया।

ग्यारवें दिन का युद्ध, अपराह्न काल में, आचार्य द्रोण के शंखनाद के साथ प्रारम्भ हुआ। वे अपनी सेना का शकट-व्यूह बनाकर स्वयं उसके केन्द्र में रहते हुए आगे बढ़े। उनकी रक्षा के लिए शकुनि-सहित गान्धार की सेना उनके पीछे चल रही थी। जयद्रथ, कलिंगनरेश और विकर्ण उनकी दाहिनी ओर चले... और बायीं ओर कृपाचार्य, कृतवर्मा, विविंशति और दुःशासन थे। पृष्ठ भाग में, दुर्योधन तथा अन्य योद्धाओं तथा उनकी विशाल सेना के साथ कर्ण भी था, जो बड़े उत्साह के साथ अन्य सभी का मनोबल बढ़ाता हुआ चल रहा था। उसका उत्साह देखकर कुछ योद्धा भीष्म का अभाव भूलने लगे... और कुछ तो परस्पर यहाँ तक कह रहे थे कि 'गंगा-पुत्र भले ही बड़े पराक्रमी रहे हों, वे पाण्डवों के प्रति स्नेह-भाव के कारण उन्हें बचाते ही रहते थे... अब कर्ण अपने तीखे बाणों से उन्हे छिन्न भिन्न कर देंगे।'

दूसरी ओर, पाण्डवों ने अपनी सेना के लिए क्रौंच-व्यूह बनाया, जिसके प्रमुख स्थान पर अर्जुन खड़े हुए। कर्ण की दृष्टि अर्जुन पर ही थी। इसी प्रकार अर्जुन भी कर्ण को प्रमुख लक्ष्य मानकर बढ़ रहे थे, किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि कर्ण आज उन्हें युद्ध में उलझाकर कहीं दूर हटा ले जाना चाहता है... मात्र इसलिए कि द्रोणाचार्य युधिष्ठिर को बन्दी बना सकें।

द्रोण द्वारा प्रधान सेनापति का पद सँभालते ही, दुर्योधन ने उनसे युधिष्ठिर को जीवित ही बन्दी बनाने का अनुरोध किया था... उसकी योजना थी कि युधिष्ठिर को बन्दी बनाकर द्यूत के लिए प्रेरित किया जाए, और उन्हें हराकर, पुनः वन में भेज दिया जाए। इस प्रकार युद्ध में, अपनी सेना का विनाश कराये बिना, उसे पाण्डवो से मुक्ति प्राप्त हो सकती थी। किन्तु इस योजना में अर्जुन को बाधा बताते हुए द्रोण ने कहा था, "यदि तुम अर्जुन को किसी प्रकार वश में कर लो, तो मैं युधिष्ठिर को बन्दी बना लूँगा। अन्यथा, अर्जुन के रहते, यह कार्य मेरे लिए भी असम्भव ही है।"

"यह तो आपने कठिन बन्द लगा दिया आचार्य!" दुर्योधन ने चिन्तित स्वर में कहा, "किन्तु मैं उसका भी कुछ प्रबन्ध करूँगा।"

सुनकर द्रोण मुस्कराये। वे जानते थे कि अर्जुन को वश में कर लेना किसी के लिए भी सरल नहीं होगा। अर्जुन उनका प्रिय शिष्य था... और वे न केवल उसके पराक्रम के प्रति आश्वस्त थे, वे यह भी जानते थे कि पाण्डव यथा-सम्भव एक दूसरे की रक्षा करते हुए ही युद्ध में घूमते हैं। उन्हें विश्वास था कि अर्जुन जैसा स्नेही अनुज किसी प्रकार भी युधिष्ठिर को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देगा।

दूसरी ओर, कर्ण को अपने बीच पाकर दुर्योधन का आत्म-विश्वास बढ़ने लगा था। वह अर्जुन को युद्ध-भूमि से हटा ले जाने का उत्तरदायित्व कर्ण को सौंपने के लिए तैयार था, किन्तु वह कर्ण का जीवन किसी भी प्रकार संकट में नहीं डालना चाहता था... और यदि कर्ण ही अर्जुन का वध करने में समर्थ हो जाए तब तो कोई चिन्ता ही नहीं थी। अर्जुन-विहीन पाण्डव-सेना केवट-विहीन नाव जैसी हो जाएगी।

सब सोच-विचारकर दुर्योधन ने कूटनीति का मार्ग पकड़ा। यह समझते हुए कि द्रोण का भी पाण्डवों के प्रति स्नेह कम नहीं है, उसने पाण्डव-सेना में यह घोषणा करा दी कि आचार्य द्रोण ने युधिष्ठिर को बन्दी बनाने की प्रतिज्ञा की है। उसे विश्वास था कि इस प्रकार सर्व-विदित हो जाने पर यह बात द्रोणाचार्य के लिए आत्म-सम्मान का प्रश्न बन जाएगी... और वे प्राण-पण से युधिष्ठिर को बन्दी बनाने में जुट जाएँगे।

दोनों ओर की सेनाएँ शंख, भेरी आदि के तुमुल नाद के साथ व्यूह बनाकर बढ़ीं और पारस्परिक विनाश में उलझ गयीं। सृंजय वीरों ने पूरी शक्ति के साथ आचार्य द्रोण को घेरकर शस्त्र-प्रहार प्रारम्भ किया, किन्तु वे उनके व्यूह को वेध न सके। और दूसरी ओर, दुर्योधन द्वारा भेजे हुए, अर्जुन को घेरने वाले महारथी भी अपने लक्ष्य में सफल नहीं हुए। दोनों ओर से भयंकर एवं महाविनाशकारी युद्ध होता रहा।

शकुनि ने सहदेव पर धावा किया... और भीषण युद्ध के बाद उन्होंने एक दूसरे के सारथियों को मार गिराया। दोनों, रथहीन होकर, गदा उठाये, एक-दूसरे पर टूट पड़े और पैंतरे बदलते हुए भयंकर प्रहार करने लगे।

एक ओर द्रुपद ने द्रोण पर आक्रमण किया और दूसरी ओर विविंशति ने भीमसेन पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की और शल्य ने, अपने भानजे नकुल को बाणों से बींधना प्रारम्भ किया। इसी प्रकार कृपाचार्य एवं धृष्टकेतु और सात्यकि तथा कृतवर्मा के बीच युद्ध ठन गया।

अन्यत्र, भूरिश्रवा तथा शिखण्डी परस्पर उलझे हुए थे और अलम्बुष तथा घटोत्कच अपनी मायावी विद्याओं द्वारा एक-दूसरे पर घातक प्रहार किये जा रहे थे।

इसी बीच, भीषण गर्जना करते हुए पौरव ने अभिमन्यु पर आक्रमण किया। अभिमन्यु, स्वयं घायल होकर भी, ढाल एवं खड्ग लिये पौरव के रथ के जुए पर कूद पड़ा और पैरों से उसके सारथि को गिराते हुए, पौरव को बाल पकड़कर झकझोरने लगा। जयद्रथ से पौरव की यह दुर्दशा नहीं देखी गयी और, ढाल-खड्ग लिये अपने रथ से कूदकर, उसने अभिमन्यु पर आक्रमण किया। जयद्रथ को आते देख, अभिमन्यु ने पौरव को छोड़कर, जयद्रथ पर ही वार किया। कुछ देर के भीषण युद्ध के बाद अभिमन्यु के एक प्रहार से जयद्रथ का खड्ग दो टूक हो गया... और वह तुरन्त ही दौड़कर अपने रथ पर जा पहुँचा। समय पाकर, अभिमन्यु भी अपने रथ पर लौट आया।

अभिमन्यु को रथ पर देख, कौरव पक्ष के कई योद्धाओं ने मिलकर उसे घेर लिया। शल्य भी वहीं पहुँचकर उस पर प्रहार करने लगे... किन्तु अभिमन्यु ने उनके सारथि को मार गिराया। तभी अभिमन्यु को घिरा देख विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी आदि अनेक योद्धा सहायता के लिए जा पहुँचे।

रथहीन शल्य गदा उठाकर अभिमन्यु की ओर झपटे, किन्तु भीमसेन अपनी गदा ताने, उनके बीच जा खड़े हुए। देखते ही देखते, शल्य तथा भीमसेन के बीच, मण्डलाकार चक्कर काटते हुए, भयंकर गदा-युद्ध प्रारम्भ हो गया। लम्बे द्वन्द्व के बाद, वे दोनों थककर गिर पड़े। शल्य को कृतवर्मा अपने रथ पर डालकर ले गया और कुछ देर विश्राम करके भीमसेन भी पुनः युद्ध के लिए तत्पर हो गये।

शल्य को युद्धभूमि से बाहर जाते देख कौरव सेना का मनोबल गिरा और उनके सैनिक इधर उधर भागने लगे। तब द्रोणाचार्य ने उन्हें समझाकर लौटाया और वे

बाण-वर्षा करते हुए पाण्डव-सेना में घुस गये। अनेक योद्धाओं से भयंकर युद्ध करके, स्वयं आहत होकर भी, वे युधिष्ठिर के सम्मुख जा पहुँचे और युधिष्ठिर से उनका युद्ध ठन गया। पाण्डव सैनिक उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण करके चिन्तित हो उठे किन्तु तभी अर्जुन का रथ दौड़ता हुआ वहाँ आ पहुँचा और अर्जुन तथा द्रोण का भयंकर युद्ध सूर्यास्त की वेला तक चलता रहा।

सूर्यास्त के बाद कौरव शिविर में निराशा का वातावरण था। दुर्योधन अपनी सेना का पराभव देखकर भी द्रोणाचार्य पर आरोप लगाने की स्थिति में नहीं था... क्योंकि स्वयं वही था जो अर्जुन को युद्धभूमि से नहीं हटा पाया था। उल्टा द्रोण ने ही उस पर उनकी योजना की घोषणा करके, सारा प्रयास विफल करने का आरोप लगाया।

उनका वार्तालाप सुनकर त्रिगर्तराज ने अर्जुन को युद्धभूमि से दूर ले जाने का भार अपने ऊपर लिया। उसका तथा उसके अनुजों का कहना था कि अर्जुन सदैव ही उन्हें अनेक अवसरों पर नीचा दिखाकर, अपमानित करता रहा है। सत्यरथ, सत्यवर्मा सत्यव्रत, सत्येषु तथा सत्यकर्मा, पाँचों त्रिगर्त बन्धुओं ने अर्जुन को युद्ध भूमि से अलग ले जाकर उससे प्राणान्तक युद्ध करने की प्रतिज्ञा की। त्रिगर्त देशीय प्रस्थलेश्वर सुशर्मा ने भी मालव और तुण्डिकेर योद्धाओं की सेना-सहित उनका साथ देने का प्रण लिया।

सूर्योदय होते ही, ललकार सुनकर अर्जुन ने उनका आक्रन्दन स्वीकार करके उनके पीछे कुरुक्षेत्र की दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया।

संशप्तकों ने अर्जुन को घेरने के लिए अर्ध-चन्द्राकार व्यूह बनाया। अर्जुन को आता देख वे सभी, एक-साथ बाण वर्षा करते हुए, उन पर टूट पड़े. किन्तु अर्जुन ने उन सभी के बाणों को झेलते एवं काटते हुए कड़ी टक्कर दी। कुछ ही समय में उन्होंने सुधन्वा के धनुष को काटकर, उसका मस्तक काट गिराया। उसको धराशायी देख उसके सभी अनुयायी भयभीत होकर कौरव सेना की ओर भाग चले। तब त्रिगर्तराज ने उन्हें उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए रोका और युद्ध के लिए प्रेरित किया। उनका पुनः घमासान युद्ध हुआ, किन्तु अर्जुन ने उन सब को मार मारकर शवों के ढेर लगा दिये।

उधर, अर्जुन के जाते ही, द्रोणाचार्य ने गरुड़-व्यूह बनाकर, युधिष्ठिर को बन्दी बनाने के उद्देश्य से आक्रमण किया। उनके साथ, व्यूह के शिर:स्थान में अपने अनुजों-सहित दुर्योधन था, नेत्र-स्थान पर कृतवर्मा और कृपाचार्य थे और ग्रीवा स्थान पर भूतशर्मा, क्षेमशर्मा तथा कलिंग, सिंहल, शक, यवन, काम्बोज, मद्र और केकय राज्यों के योद्धा थे। उन सब के पीछे अनेकानेक रथियों-महारथियों के साथ उनकी

विशाल सेनाएँ थीं। वह व्यूह हिलोरें लेते हुए सागर की भाँति जान पड़ता था।

द्रोण को टक्कर देने के लिए बाण बरसाते हुए धृष्टद्युम्न उनके सामने जा पहुँचा। दोनों में बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। धृष्टद्युम्न का पक्ष निर्बल पड़ते देख, सत्यजित तथा पांचालदेशीय वृक ने द्रोण पर आक्रमण किया। सत्यजित ने द्रोण का धनुष काट गिराया और उनके रथ के घोड़ों को भी घायल कर दिया। किन्तु तभी द्रोण दूसरा धनुष लेकर एक पैने बाण द्वारा उसका वध करके युद्ध क्षेत्र से भागने लगे। उन्हें भागते देख मत्स्यराज के अनुज, शतानीक ने उनका मार्ग रोका और उनपर बाणों की झड़ी लगा दी। किन्तु कुछ ही देर में द्रोण ने उसे भी मार गिराया। यह देख, मत्स्य की सारी सेना भाग खड़ी हुई।

युधिष्ठिर ने जब द्रोण का यह पराक्रम देखा तो, अनेक योद्धाओं को साथ लेकर, वे उनपर टूट पड़े। किन्तु द्रोण ने अदम्य पराक्रम दिखाते हुए पहले दृढसेन को धराशायी किया, फिर क्षेम को मार गिराया और शिखण्डी तथा उत्तमौजा को घायल करते हुए, एक भल्ल से वसुदान का वध कर दिया। दूसरे ही क्षण, क्षात्रदेन को रथ के नीचे गिराकर, युधामन्यु तथा सात्यकि को बाणों से बींधते हुए, वे युधिष्ठिर के सामने जा पहुँचे। उनकी बाण वर्षा से घबराकर युधिष्ठिर रण-भूमि से भाग खड़े हुए। तब सात्यकि, चेकितान, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, वृद्धक्षेम आदि ने उन्हें टक्कर देने का प्रयास किया... किन्तु कुछ ही देर में वे सब भी आहत होकर साहस छोड़ने लगे।

तभी चारों ओर से आकर पाण्डव-सेना ने द्रोणाचार्य को घेर लिया... और दूसरी ओर से कौरव-सेना उनकी रक्षा के लिए उनके साथ आकर युद्ध करने लगी। धृतराष्ट्र-पुत्र दुमर्षण ने बाण बरसाते हुए भीमसेन पर आक्रमण किया। किन्तु भीमसेन के बाणों से घायल होकर स्वयं उसे ही युद्धभूमि छोड़नी पड़ी।

उधर, युयुत्स को द्रोणाचार्य पर आक्रमण करते देख, सुबाहु ने उसे रोका। किन्तु युयुत्स ने क्षुरप्र बाणों द्वारा उसकी दोनों भुजाएँ काट गिरायीं। नकुल के पुत्र शतानीक ने भी बाण बरसाते हुए द्रोण पर आक्रमण किया तो भृतकर्मा ने उसे रोका... किन्तु शतानीक ने तीखे बाणों द्वारा उसका मस्तक काट गिराया।

इस प्रकार अनेकानेक योद्धा, रथी एवं महारथी द्रोण को मारने तथा बचाने के प्रयास में एक-दूसरे पर क्रूरतापूर्वक प्रहार करते रहे।

एक ओर द्रोण पाण्डव-सेना का विनाश कर रहे थे, तो दूसरी ओर भीमसेन अपने पराक्रम द्वारा कौरव-सेना को हताहत किये जा रहे थे। तब भीमसेन को टक्कर देने के लिए दुर्योधन ने गजारोहियों की सेना लेकर धावा किया। किन्तु भीमसेन की बाण-वर्षा ने गजों के व्यूह को तोड़ दिया। सारे हाथी मुँह फेरकर भागने लगे। गज-व्यूह टूटते ही, दुर्योधन ने भीमसेन पर बाण वर्षा प्रारम्भ की, किन्तु कुछ ही देर में भीमसेन के बाणों से आहत होकर उसे युद्ध-भूमि से हटना पड़ा।

तब भीमसेन को रोकने के लिए, प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त ने हाथी पर चढकर आक्रमण किया। उनके हाथी ने अपने दो आगे के पैरों के भार से भीमसेन के रथ के घोड़ों को कुचल दिया। भगदत्त ने अपने हाथी के पाँव तले उन्हें भी कुचलने का प्रयास किया, किन्तु भीमसेन चपलतापूर्वक उसे भ्रम में डालते हुए बच निकले। वह हाथी पाण्डव-सेना को जहाँ-तहाँ कुचलता हुआ घूमने लगा।

अपनी सेना में भगदड़ देख, युधिष्ठिर ने अनेक योद्धाओ के साथ आकर भगदत्त को घेर लिया... किन्तु वे सब मिलकर भी भगदत्त की विनाशलीला में कोई बाधा नही डाल पाये। तब दशार्णनरेश हाथी पर चढकर आया, और उन दोनो के हाथियो मे भयंकर युद्ध छिड गया। कुछ देर में ही भगदत्त के हाथी ने दशार्णनरेश के हाथी को गिराकर कुचलते हुए उसकी पसलियाँ तोड दी... और दूसरी ओर, भगदत्त ने तोमरो के प्रहार से दशार्णराज का वध कर दिया।

युधिष्ठिर ने पुन: वेग से बढ़कर भगदत्त को रोकने का प्रयास किया, किन्तु उनके हाथी ने सहसा बढ़ते हुए सात्यकि के रथ को उलट दिया। सात्यकि को अपनी प्राण-रक्षा के लिए कूदकर दूर भागना पडा। तभी भगदत्त ने बाण वर्षा द्वारा रुचि के पुत्र वृषपर्वा को बाण द्वारा मार गिराया। अभिमन्यु तथा द्रौपदी पुत्रो ने भगदत्त के हाथी पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की, किन्तु उससे विचलित हुए बिना उसने बढकर युयुत्सु के रथ के घोड़ो एव सारथि को कुचल दिया। वह पाण्डव-सेना के योद्धाओ को उठा-उठाकर दाएँ-बाएँ फेकता हुआ सब को भयभीत कर रहा था।

अपनी सेना मे भगदड देख और हाथी की चिघाड सुनकर, अर्जुन को स्थिति का आभास हुआ। वे भगदत्त की ओर जाना चाहते थे, किन्तु पीछे से उन्हे सशप्तको तथा त्रिगर्तों की सेना ललकार रही थी। इस दुविधा मे उन्होने पहले त्रिगर्तो आदि से युद्ध करना ही हितकर समझा। साथ ही, दूसरी ओर भगदत्त की समस्या को देखते हुए उन्होने पूर्ण मनोयोग से भीषण बाण-वर्षा करते हुए ऐसा भयकर युद्ध किया कि देखकर कृष्ण भी चमत्कृत रह गये।

इस प्रकार, अधिकाश सशप्तको तथा त्रिगर्तों को मारकर, वे तत्परतापूर्वक रथ दौड़ाते हुए भगदत्त की ओर चले। यह देख सुशर्मा ने उनका पीछा किया तो अर्जुन ने पुन: लौटते हुए बाणो द्वारा सुशर्मा को मूर्छित किया और उसके भाइयो को सारथि एवं घोडों-सहित मार गिराया।

अपनी सेना में लौटते ही, कौरव-सेना पर भीषण बाण-वर्षा करते हुए, अर्जुन भगदत्त के सम्मुख पहुँचकर डट गये। भगदत्त ने अर्जुन के रथ पर, रथ के अश्वो पर सारथि कृष्ण एव स्वयं अर्जुन पर अनेक बाणों, तोमरों, शक्तियो आदि से प्रहार किया... अर्जुन बड़ी तत्परता के साथ उन सभी शस्त्रों को काटते हुए गजारूढ भगदत्त को अपने बाणों से वेधते रहे। कृष्ण भी रथ को भाँति-भाँति से घुमाकर, अर्जुन की

रक्षा करते हुए, उन्हें भगदत्त पर प्रहार करने का अवसर देते रहते थे। इस बीच, एक बार अर्जुन पर आते भगदत्त के एक बाण को कृष्ण ने स्वयं अपने वक्ष:स्थल पर झेल लिया।

कृष्ण को आहत देख, अर्जुन क्रोध में भरकर तीक्ष्ण बाणों की वर्षा करने लगे। उन्होंने एक बाण, कान तक प्रत्यंचा खींचकर, हाथी के कुम्भस्थल के बीच मारा, जो उसके मस्तक में इस प्रकार धँसा कि उसने चिंघाड़ते हुए वहीं प्राण त्याग दिये। भगदत्त लड़खड़ाकर पृथ्वी पर जा गिरा और वृद्ध आयु के कारण सँभल नहीं पाया। जब तब वह धनुष उठाए और बाण का सन्धान करे, अर्जुन ने बाण वर्षा से उसका वक्ष:स्थल छलनी कर दिया। भगदत्त की मृत्यु देख, कौरव सेना में भगदड़ मच गयी।

उस समय, विनाश मूर्ति बने अर्जुन पर शकुनि के वृषक एवं अचल नामक अनुजों ने आक्रमण किया। किन्तु कुछ देर के सग्राम के पश्चात्, गान्धार सेना को हताहत करते हुए, उन्होंने उन दोनों गान्धारकुमारों को मार गिराया।

अपने मामाओं को मृत देख दुर्योधन को बड़ा दु:ख हुआ। शकुनि ने क्रोध मे भरकर, एक विशाल सेना-सहित अर्जुन पर धावा किया। उसकी सेना के योद्धाओं ने अनेकानेक शस्त्रों से प्रहार करते हुए उन्हे चारो ओर से घेर लिया.. किन्तु अर्जुन ने उन सभी के साथ भीषण युद्ध करते हुए उनके अनेक योद्धाओ को मार गिराया। स्वय शकुनि आहत एवं भयभीत होकर रण भूमि से भाग गया।

दूसरी ओर, द्रोणाचार्य तथा धृष्टद्युम्न का भयकर युद्ध चल रहा था, और पास ही नील तथा अश्वत्थामा द्वन्द्व मे उलझे हुए थे। जहाँ धृष्टद्युम्न पर द्रोण भारी पड़ रहे थे, वहीं अश्वत्थामा ने एक भल्ल के प्रहार से नील का मस्तक काट गिराया।

धृष्टद्युम्न को निर्बल पड़ते देख, अर्जुन ने उनकी ओर जाकर द्रोण पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। उन दोनों के सम्मिलित प्रहार से कौरव दल में खलबली मच गयी और सैनिक इधर उधर भागने लगे। तब कर्ण ने आगे बढकर अर्जुन को टक्कर दी। कर्ण को द्रोण की ओर से युद्ध करते देख, भीमसेन तथा सात्यकि भी वहीं आ पहुँचे। उन दोनो पक्षों में घनघोर युद्ध प्रारम्भ हो गया।

अर्जुन ने भीषण बाण वर्षा करते हुए शत्रुंजय एवं विपाट नामक कर्ण के अनुजों को मार गिराया। कर्ण दु:ख के अथाह सागर में डूब रहा था और अर्जुन के सामने निर्बल पड़ रहा था... कि दुर्योधन, द्रोणाचार्य तथा जयद्रथ ने उसके पास पहुँचकर उसे बचाया।

तभी सूर्यास्त के साथ दोनों सेनाएँ युद्ध को विराम देकर अपने शिविरों की ओर लौट चलीं।

युद्ध होते हुए बारह दिवस बीत चुके थे... और मनचाहे परिणाम के अभाव में दुर्योधन की निराशा, कोप में परिणत होती जा रही थी। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि पाण्डवों की मात्र सात अक्षौहिणी सेना उसकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना के सम्मुख इतने दिन कैसे ठहर गयी! पितामह भीष्म तो पक्षपात करते ही थे... क्या द्रोण भी उनके प्रति स्नेह-भाव बनाये रहेंगे? क्या वे यह भूल गये कि पाण्डवों के वनवास-काल में उसने ही उन्हें इन्द्रप्रस्थ का शासक बनाया था?

"आचार्यवर!" दुर्योधन क्रोध में तमतमाया हुआ द्रोण के सम्मुख पहुँचा, "क्या कारण है कि आप मुझसे ही शत्रुता निभा रहे हैं? मैंने क्या अपकार किया आपका, कि आप मुझे वचन देकर भी उसका पालन नहीं कर रहे हैं?"

"युवराज!" द्रोण आश्चर्य एवं उलझन में पड़ गये, "यह क्या कह रहे हो तुम?"

"वही द्विजश्रेष्ठ! जो आप सुन रहे हैं..." दुर्योधन का स्वर अपने गुरु के प्रति, व्यावहारिकता के नाते, इससे अधिक कठोर नहीं हो सकता था। "आपने मुझे वचन दिया था, युधिष्ठिर को बन्दी बनाने का। मैंने आपकी इच्छानुसार अर्जुन को अन्यत्र हटाने की व्यवस्था भी कर दी... किन्तु आपने युधिष्ठिर के सम्मुख पहुँचकर भी उन्हे बन्दी नहीं बनाया। क्यों नहीं बनाया? मेरे प्रति वैर-भाव के कारण... अथवा युधिष्ठिर के प्रति स्नेह के कारण?"

"यह तुम्हारा भ्रम है, वत्स!" द्रोण ने कहा, "और मेरे पहुँचते ही युधिष्ठिर भाग गया तो..."

"क्यों भागने दिया आपने? अपने स्नेह के कारण ही न?" दुर्योधन के नेत्र अंगार उगल रहे थे, "और यदि यह भ्रम है, तो सत्य क्या है, आचार्य?"

"सत्य सुन सको, तो सुनो..." द्रोण ने उसकी आँखों में झाँकते हुए गम्भीर स्वर में कहा, "सत्य है अर्जुन का पराक्रम... और सत्य है उस पर वासुदेव की कृपा दृष्टि, जो उसको अजेय बना रही है।"

"अर्जुन... अर्जुन... अर्जुन...!" दुर्योधन ने आक्रोश में दहाड़ते हुए कहा, "अर्जुन न हुआ महादेव हो गया! आप ही का तो शिष्य है... आप जब चाहें उसे मार सकते हैं? उसे तो अकेला कर्ण ही मार डालेगा।"

"तो मारता क्यों नहीं...?" द्रोण का स्वर भी उत्तेजित हो चुका था, "कहो उससे कि मात्र बकवाद न करे... कुछ कर के भी दिखाए।"

"वही करेगा.. करके दिखाएगा..." दुर्योधन ने क्रोधित स्वर में कहा, "किन्तु भूल तो स्वयं मैंने कर दी... आपको प्रधान सेनापति बनाकर।"

"क्यों बनाया मुझे?" द्रोण ने गम्भीर स्वर में कहा, "मैंने तो नहीं माँगा था यह पद। और आज चाहो तो आज ही... अभी ही मुक्त कर दो मुझे।"

"आचार्यवर!" दुर्योधन को लगा कि कहीं उससे कुछ अति हो गयी... स्थिति

उसे अपने हाथों से फिसलती लगी। उसका उद्देश्य द्रोण को अपमानित करके मार्ग से हटाने का नहीं, मात्र व्यंग्य द्वारा उन्हें उत्तेजित करके पाण्डवों के प्रति भड़काने का था... कि वे और अधिक तत्परतापूर्वक दृढ़ निश्चय करके युद्ध में डट जाएँ। "यह मेरी विवशता है गुरुवर... कि मैं आपके रहते अन्य किसी पर इतना विश्वास नहीं कर सकता। आप हमारी सेना के सर्वश्रेष्ठ योद्धा ही नहीं, स्वयं मेरे आचार्य एवं गुरु भी हैं... और गुरु का स्थान तो पिता से भी ऊँचा होता है। आपके लिए मेरे मन में जो सम्मान है, वह अन्य किसी के लिए न तो था... और न हो सकता है। आज क्या, तेरह वर्ष पूर्व भी जब इन्द्रप्रस्थ का शासन भार किसी सुयोग्य एवं विश्वस्त व्यक्ति को सौंपने की बात उठी थी..."

"वह सब मुझे स्मरण है..." द्रोण ने बीच में ही बात काटते हुए कहा, "मैं मात्र हस्तिनापुर से कहीं अधिक, उस भार से दबा हूँ। मैं कर रहा हूँ जो कुछ मेरे वश में है और करता भी रहूँगा। बस... तुम मेरी ओर से सन्देह दृष्टि त्याग दो।"

"यह सन्देह नहीं है... चिन्ता और निराशा है गुरुवर!" दुर्योधन ने टूटते हुए स्वर मे कहा, "आज बारह दिन बीत चुके। हमारी सेना आधी रह गयी। मेरे इतने सारे अनुज वीरगति पा चुके... और मेरे पास एक पाण्डव की मृत्यु का समाचार भी नहीं है कि माताश्री को सुनाने के लिए, उनके आँसू पोछने जाने का साहस जुटाऊँ..."

"युद्ध में कुछ भी निश्चित नहीं होता युवराज।" द्रोण ने गम्भीर स्वर में कहा, "न तो युद्ध का परिणाम... और न योद्धाओं का जीवन। इसीलिए तो हम सभी तुम्हें समझाते रहे थे कि युद्ध न ठानो..."

प्रतिक्रिया में दुर्योधन की उद्दण्ड दृष्टि सहसा उठकर द्रोण की आँखों में जा गड़ी।

"मैं जानता हूँ वत्स।" द्रोण ने विषय बदलते हुए कहा, "अब कोई लाभ नहीं उस सबकी पुनरावृत्ति का। अब तो बस यह विश्वास रखो कि मैं वह सब कर रहा हूँ, जो मेरे वश में है... किन्तु हाँ! मैं यह फिर कहूँगा कि यदि मुझसे कुछ अपेक्षा है, तो अर्जुन को मुझसे दूर रखना... बहुत दूर। उसके रहते न तो मैं युधिष्ठिर को बन्दी बना सकता हूँ और न तुम्हारे प्रतिशोध की अग्नि शान्त करने के लिए किसी पाण्डव का वध।"

द्रोण, भावातिरेक में, अपनी बात समाप्त करते-करते दुर्योधन को अकेला छोड़कर चुपचाप चले गये। दुर्योधन को पर्याप्त संकेत मिल चुका था कि अर्जुन कोई साधारण योद्धा नहीं है... ऐसा, कि द्रोण जैसे महापराक्रमी धनुर्धर भी उसके आगे अक्षम हैं। पिछले बारह दिनों में भीमसेन तथा अर्जुन द्वारा ही अधिकांश कौरव-सेना का विनाश हुआ था। अपनी सेना का और अधिक विनाश बचाने के लिए युधिष्ठिर को बन्दी बनाना ही सर्वोत्तम रणनीति थी, किन्तु उसके लिए अर्जुन को भुलावा देकर

रण-भूमि से कहीं दूर भेजना आवश्यक है।

अर्जुन के काट के रूप में सदैव दुर्योधन का ध्यान कर्ण पर जा टिकता था... किन्तु उस समय द्रोण ने अर्जुन को आतंक बनाकर उसके मन पर स्थापित कर दिया था। अर्जुन से टक्कर लेने में इस समय यदि कर्ण की मृत्यु हुई तो उसे दुहरी हानि होगी... एक तो पराक्रमी योद्धा की क्षति, और उससे भी बढ़कर यह, कि शत्रु-सेना का मनोबल बढ़ जाएगा। यदि कर्ण का जीवन दाँव पर लगाये बिना ही काम बन जाए, तो क्या कहना! उसका ध्यान पुनः सुशर्मा पर गया... जो, व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण, आज भी अर्जुन को ललकारने का इच्छुक था। दुर्योधन ने सोचा, यह प्रयोग एक बार फिर कर देखा जाए... कौन जाने, इस बार, आज की इतनी भर्त्सना से लज्जित होकर, आचार्य द्रोण युधिष्ठिर को पकड़ ही लें!

"अर्जुन आज तुम्हारे हाथ से बच कैसे निकला, मित्र?" दुर्योधन ने सुशर्मा के नेत्रों में अर्थपूर्ण दृष्टि से झाँकते हुए पूछा, "यह तुम्हारे लिए लज्जा की बात है, बन्धु। तुम्हें तो अब उससे अपने अनुजों की मृत्यु का प्रतिशोध भी लेना है।"

दुर्योधन की चाल को समझते हुए भी सुशर्मा ने कहा, "युवराज दुर्योधन! मैं तुम्हारा मन्तव्य भली-भाँति समझ रहा हूँ... किन्तु मैं वचन-बद्ध भी हूँ और अपमान की आग में जल रहा हूँ, यह भी सत्य है। तुम निश्चिन्त रहो.. मैं जानता हूँ कि इसमे प्राणों का संकट है... किन्तु कल मैं पुनः अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारूँगा.. और यदि लौटा तो उससे अपने अनुजों की मृत्यु का प्रतिशोध लेकर ही लौटूँगा।"

सुशर्मा की भंगिमा देखकर, आश्वस्त होता हुआ दुर्योधन लौटा और आगामी दिन के लिए योजना बनाने लगा।

सूर्योदय होते ही सुशर्मा ने, संशप्तकों की विशाल सेना लेकर, पुनः अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारा और अर्जुन क्रोध में भरकर उसकी सेना पर आक्रमण करते हुए दक्षिण दिशा की ओर खिंचते चले गये।

उधर, आचार्य द्रोण ने, युद्ध के तेरहवें दिन, सूर्योदय से पूर्व ही कौरव-सेना को चक्र-व्यूह में स्थापित किया था। दुर्योधन स्वयं कर्ण, कृपाचार्य तथा दुःशासन को लेकर उसके मध्य-भाग में खड़ा हुआ... और व्यूह के अरों के स्थान पर उसके अनेक अनुज स्थापित हुए। व्यूह के अग्रभाग में द्रोण और जयद्रथ खड़े हुए और, पास ही, शकुनि, शल्य तथा भूरिश्रवा-सहित तीस अन्य धृतराष्ट्र-पुत्र डट गये।

सूर्योदय होते ही, भीमसेन के नेतृत्व में पाण्डव-सेना ने आक्रमण किया। किन्तु द्रोण द्वारा रचे, निरन्तर घूमकर आगे की ओर बढ़ते, उस चक्र-व्यूह को वेधने का उन्हें कोई मार्ग नहीं मिल रहा था। उनके प्रयास के विपरीत, द्रोण अपनी सेना से सुरक्षित

होकर, भीषण बाण-वर्षा करते हुए, आगे बढ़ते चले आ रहे थे। पाण्डव-सेना हताहत होती हुई पीछे की ओर खिसक रही थी। उनके पास चक्र-व्यूह का कोई काट नहीं था।

अपनी सेना की दुर्दशा देखकर पाण्डव सेना के सभी सेनापति उस व्यूह को वेधने के उपाय पर विचार करने लगे... किन्तु उसकी रचना से अनभिज्ञ होने के कारण किसी को भी कोई युक्ति नहीं सूझी। वे सब निराश होकर एक-दूसरे को कोई उपाय ढूँढ़ने के लिए प्रेरित कर रहे थे... कि तभी अभिमन्यु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए बताया कि उसे चक्र व्यूह का ज्ञान है।

"तब चिन्ता क्या है पुत्र!" भीमसेन ने प्रसन्नता के भावातिरेक में कहा, "चलो तुम ही करो हमारा नेतृत्व... हम सब तुम्हारे आदेश का पालन करेंगे.. या मुझे बताओ उसकी रचना और उसे वेधने का उपाय।"

"उसे वेधने का एक उपाय मैं जानता हूँ.." अभिमन्यु ने कुछ संकोच के साथ कहा, "और बस इतना कि चक्र जिस दिशा मे घूम रहा हो, उसी दिशा में जाकर, चक्र के मध्य भाग पर तीव्र प्रहार करने से उसकी नेमि को तोड़ा जा सकता है..."

"अर्थात्...!" वहाँ उपस्थित अन्य योद्धाओं की भाँति ही युधिष्ठिर ने समझने का प्रयास करते हुए प्रश्न किया।

अभिमन्यु ने बाण की नोक से भूमि पर एक चक्र बनाते हुए कहा, "यह है चक्र की नेमि... और यह है उसकी नाभि.. अर्थात् केन्द्र। और नाभि को नेमि से जोड़ते ये अनेक अर... जहाँ पंक्ति में स्थापित योद्धा, इसी रूप में क्रमबद्ध रहकर, नाभि की परिक्रमा करते हुए, नाभि के साथ ही, प्रधान सेनापति को लेकर बढ़ रहे हैं.."

अभिमन्यु ने बाण की नोक भूतल से हटाते हुए सभी उत्सुक योद्धाओं की ओर देखा। सबकी दृष्टि में कोई अनाम उलझन थी.. अपने उतावलेपन में, चक्र व्यूह से अपरिचित होने के कारण वे कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करने मे असमर्थ दिख रहे थे।

"वह तो ठीक है पुत्र!" सहदेव ने कहा, "वह सब समझने-समझाने का समय नहीं है। तुम बस यह बताओ, कि आक्रमण कहाँ करना है?"

"और कौन सी वाहिनी उपयुक्त रहेगी...?" भीमसेन ने चिन्तित स्वर में जोड़ा, "रथों की, गजों की अथवा अश्वों की?"

"आक्रमण तो उत्तर दिशा की ओर से ही करना होगा.." अभिमन्यु ने विश्वासपूर्वक कहा, "यह चक्र ध्रुवावर्त घूम रहा है न। कारण यह है..."

"कारण को छोड़ो वत्स!" युधिष्ठिर का अधैर्य उनके स्वर में स्पष्ट था, "तुम यह सब जानते हो न! तुम आगे चलो..."

"आज सेना का नेतृत्व तुम्हीं करो..." धृष्टद्युम्न ने शीघ्रता-पूर्वक अपना निर्णय सुना दिया। "हममें से बस तुम्हीं हो जो इस व्यूह से पूर्णतया परिचित हो।"

"पूर्णतया तो नहीं..." अभिमन्यु ने कुछ संकोच के साथ कहा।

"अर्थात्...? युधिष्ठिर की प्रश्न-वाचक दृष्टि अभिमन्यु के मुख पर जा टिकी।

"अर्थात् यह... कि मैं बस व्यूह वेधने की विधि ही सुन पाया था कि मुझे निद्रा ने आ घेरा। उससे निकलने का मार्ग मैं नहीं सुन पाया।"

"यह क्या पहेली है पुत्र!" भीमसेन ने चिन्तित स्वर में पूछा, "वासुदेव ने तुम्हें इसका पूरा ज्ञान नहीं दिया?"

"विधिवत् ज्ञान तो किसी ने भी नहीं दिया..." अभिमन्यु ने ससंकोच मुस्कराते हुए कहा, "मैंने तो ऐसे ही सुन लिया था... जब मैं छोटा-सा था... माँ की कुक्षि से चिपका पड़ा था... और पिताश्री माँ को इस व्यूह के विषय में बता रहे थे।"

"यह किस चक्र में डाल दिया तुमने पुत्र!" युधिष्ठिर के स्वर में निराशा उभर आयी थी, "अब क्या होगा...?"

"कुछ नहीं होगा भ्राताश्री!" भीमसेन ने दृढ़तापूर्वक कहा, "क्षत्रिय-वीरों को तो वैसे भी युद्ध-भूमि से निकलने का मार्ग नहीं बताया जाता। तुम आगे चलो पुत्र! हम सब तुम्हारे पीछे चलेंगे... तुम्हारी रक्षा करते हुए... और चक्र-व्यूह को ध्वस्त करके ही लौटेंगे।"

युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न आदि सभी क्षण-भर को ठगे-से रह गये। उनकी दृष्टि कभी भीमसेन के दृढ़ता भरे मुख की ओर उठती थी तो कभी अभिमन्यु के अबोध किशोर मुख पर ठहर जाती थी।

"विलम्ब का समय नहीं है..." भीमसेन ने पुनः ललकारते हुए स्वर में कहा तो जैसे सहसा सब की तन्द्रा टूटी। वे सब उठ खड़े हुए।

"तो आगे बढ़ो, प्रधान-सेनापति!" धृष्टद्युम्न ने मुस्कराते हुए अभिमन्यु से कहा, "बनाओ अपना व्यूह और संकोच त्यागकर आज्ञा दो हम सभी को।"

देखते-ही-देखते अभिमन्यु ने पाण्डव-सेना को दीर्घाकार पुच्छल तारे के आकार में स्थापित किया, जिसकी नोक पर वह स्वयं था। उसके पीछे भीमसेन तथा धृष्टद्युम्न के विशाल रथ थे और उनके पीछे क्रमशः नकुल, युधिष्ठिर तथा सहदेव स्थापित थे। उनके पीछे, विशाल सेनाओं के साथ सात्यकि, विराट, कुन्तिभोज आदि चक्र व्यूह के द्वार को चीरने के लिए खड़े थे।

चक्र-व्यूह को वेधने के लिए बढ़ते पुच्छल-व्यूह को, और उसके शीर्ष-स्थान पर अभिमन्यु को, देखकर जयद्रथ ने क्षणांश में ही एक योजना बनायी। अपनी आत्म-घाती वाहिनी को उसने आदेश दिया कि पाण्डव सेना जैसे ही चक्र की नेमि के निकट पहुँचे, आत्म-घाती वाहिनी के योद्धा, अभिमन्यु तथा शेष पाण्डव-सेना के बीच से, बल-पूर्वक छोड़े हुए प्रखर भल्ल की भाँति, तीव्र गति के साथ मार काट करते हुए निकल जाएँ। उसकी पिशाच बुद्धि अभिमन्यु को, अकेले ही घेरते हुए

मारकर पाण्डवों से अपने अपमान के प्रशोधन की योजना बना रही थी।

अभिमन्यु चक्र की नेमि के निकट पहुँचा ही था कि, जयद्रथ की योजना के अनुरूप, उसकी भल्ल-वाहिनी ने पाण्डव सेना के बीच विच्छेद उत्पन्न कर दिया। अभिमन्यु के पीछे भल्ल वाहिनी का भयंकर संग्राम था.. तो सम्मुख चक्रव्यूह की नेमि में आबद्ध कौरव-सेना, जिस पर आक्रमण ही उसका लक्ष्य था। सोचने-समझने का समय नहीं था... उसने लक्ष्य पर दृष्टि गड़ाते हुए तीव्र गति से चक्र पर प्रहार किया। उसकी गति तथा आत्म-विश्वास के सम्मुख चक्र की नेमि पर घूमते हुए कौरव योद्धा टिक नहीं पाये। अभिमन्यु ने भयंकर बाण-वर्षा करते हुए, चक्र की दिशा में रथ दौड़ाकर, कौरव-सेना का व्यापक विनाश किया. और धीरे-धीरे नाभि की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। उसके पास पीछे देखने का समय नहीं था... किन्तु उसे आभास हो चुका था कि समूची पाण्डव सेना कहीं बहुत पीछे छूट चुकी है. और चक्र की नेमि का खण्डित भाग भी सम्भवत: पुन: निर्मित हो चुका है।

अभिमन्यु का रथ तीव्रगति से, अरों मे बद्ध योद्धाओं को चीरता, उन्हें धराशायी करता हुआ, नाभि की ओर बढ़ रहा था। उसकी भयंकर बाण-वर्षा से ढेरों कौरव सैनिक धराशायी होकर गिर रहे थे और शेष सब अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भाग रहे थे। अपनी सेना मे भगदड देख रथारूढ़ दुर्योधन ने स्वयं ही पहुँचकर अभिमन्यु का मार्ग रोका... किन्तु उसकी बाणवर्षा के आगे दुर्योधन की एक न चली। उसे अभिमन्यु के सम्मुख निर्बल पडता देख द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शकुनि आदि ने पहुँचकर उसकी रक्षा की।

देखते ही-देखते अनेक रथियो-महारथियों ने वहाँ पहुँचकर अभिमन्यु को चारों ओर से घेर लिया और बाणों की बौछार से उसे आहत करना प्रारम्भ किया। पीठ की ओर से भी आती हुई बाण-वर्षा झेलते हुए अभिमन्यु ने अपने सारथि ने रथ को तीव्रगति से चक्राकार में घुमाने का निर्देश दिया... और घूम-घूमकर चारो ओर खड़े कौरव योद्धाओं पर बाण वर्षा प्रारम्भ की। उसके बाणों से कर्ण, सुषेण, दीर्घलोचन. कुण्डभेदी तथा शल्य गम्भीर रूप से घायल हो गये और अश्मक के राजकुमार तथा शल्य के अनुज धराशायी हुए।

तब कर्ण, अश्वत्थामा और कृतवर्मा ने एक साथ बढ़कर उसे बाणों से वेधना प्रारम्भ किया। दूसरी ओर से दु:शासन ने भी आकर अभिमन्यु के मण्डलाकार दौड़ते हुए रथ का पीछा किया और उस पर बाणों की झड़ी लगा दी। अभिमन्यु ने दु:शासन को उसके कुकर्म के लिए धिक्कारते हुए क्रोधपूर्वक ऐसे तीखे बाण मारे कि वह अचेत होकर रथ की बैठक में गिर गया। दु:शासन को अचेत देख उसका सारथि उसे रणभूमि से हटा ले गया। दु:शासन के हटते ही अभिमन्यु ने कर्ण को अपनी क्रोधाग्नि का लक्ष्य बनाया... और उसके सभी बाण प्रहारों को काटते हुए, उसे अनेक तीखे

बाणों से आहत किया।

कर्ण को शिथिल पड़ता देख, उसके अनुज सुदृढ़ ने बाण-वर्षा करते हुए अभिमन्यु का पीछा किया... किन्तु कुछ ही क्षणों में अभिमन्यु ने एक तीखे बाण से उसकी गीवा को वेधते हुए उसे मार गिराया। अपने अनुज को मृत देख कर्ण को दुःख तो बहुत हुआ किन्तु, स्वयं अत्यन्त पीड़ित होने के कारण, उस समय उसने रणभूमि त्यागना ही श्रेयस्कर समझा।

दूसरी ओर, चक्र-व्यूह के बाहर पाण्डव अपनी विशाल सेना लिये उसमें प्रवेश पाने के लिए भयंकर युद्ध कर रहे थे। जयद्रथ को जब लगा कि उन्हें और अधिक रोके रखना सम्भव नहीं है तो उसने स्वयं ही, योजना बनाकर, इस प्रकार पीछे हटना प्रारम्भ किया कि आक्रमण करती हुई पाण्डव-सेना, चक्र-नाभि की ओर न जाकर, अरों में भ्रमित होती हुई, नेमि के आसपास ही युद्ध करती रहे। उस वामावर्त्त घूमते व्यूह में अर के स्थान पर स्थापित सेना के धराशायी होते ही, हर बार, कोई नयी वाहिनी वहाँ युद्ध करने के लिए आ खड़ी होती थी। इस प्रकार कौरव-सेना का निरन्तर विनाश तो हो रहा था, किन्तु जयद्रथ सन्तुष्ट था कि नाभि के निकट घिरे हुए अभिमन्यु को कहीं कोई सहायता नहीं पहुँच पाएगी। जयद्रथ की पिशाच बुद्धि जहाँ एक ओर उसे अर्जुन को मर्माहत करने के लिए प्रेरित कर रही थी, वहीं दुर्योधन को एक पाण्डव-पुत्र के शव का उपहार देने के लिए व्याकुल थी।

उधर, चक्र में घिरे एकाकी अभिमन्यु का अनेक योद्धाओं के साथ भीषण संग्राम चल रहा था। उसके बाणों से आहत होकर बड़े बड़े रथी-महारथी अचेत हो होकर रण-भूमि छोड़ने को विवश हो रहे थे। तब दुर्योधन ने अपने महारथियो एव अतिरथियों को पीछे हटाते हुए कुछ चुने हुए पराक्रमी योद्धाओं को अभिमन्यु से युद्ध करने के लिए भेजा। उसकी रणनीति थी कि इस प्रकार कौरव-सेना के अग्रणी योद्धाओं को सम्भावित मृत्यु से बचाया जा सकता है और, उनमें से जो इस समय घायल अथवा अचेत हैं, उन्हें उपचार का समय प्राप्त हो सकता है। यदि अन्य योद्धा अभिमन्यु को मारने में सफल न भी हुए तो, कम-से-कम, उसे इतना शिथिल तो कर ही देंगे कि कुछ समय बाद कौरव महारथी उसे मारने में सफल हों।

इस रणनीति के अनुरूप, अनेक योद्धाओं ने कटिबद्ध होकर, एक साथ, अभिमन्यु पर आक्रमण किया। वे सब मिलकर उस पर बाण, शूल, भल्ल, शक्ति, तोमर, गदा आदि की वर्षा कर रहे थे.. और अभिमन्यु मण्डलाकार दौड़ते रथ में खड़ा उन्हीं शस्त्रों को पकड़कर पुनः अपने शत्रुओं की ओर फेंक रहा था। इसी क्रम में उसने बसातीय को मार गिराया, मद्रराजकुमार रुक्मरथ को धराशायी कर दिया और भीषण संग्राम करने वाले रुक्मरथ के पाँच मित्रों को भी बाणों से बींधकर यमलोक पहुँचा दिया... और एक भल्ल से दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण का मस्तक भी काट गिराया।

अपने पुत्र के वध से आहत हो, दुर्योधन ने दारुण चीत्कार करते हुए अपने महारथियों से कहा, "मार डालो इसे... अभी मार डालो... अन्यथा डूब मरो अंजलि भर जल में..."

उसकी चीत्कार हृदय-विदारक थी। उस चीत्कार को चुनौती के रूप में लेते हुए द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा, बृहद्बल तथा कृतवर्मा, एक-जुट होकर, अभिमन्यु पर टूट पड़े। अन्य अनेक कौरव योद्धा उसे पहले ही घेरे हुए थे। उन सबसे नितान्त एकाकी युद्ध करते हुए अभिमन्यु ने अश्वकेतु, कार्तिकावतनरेश भोज, शत्रुंजय, चन्द्रकेतु, मेघवेग, सुवर्चा, सूर्यभास, कोसलनरेश आदि का वध करते हुए कर्ण, अश्वत्थामा, शकुनि, दु:शासन के पुत्र आदि अनेक कौरव योद्धाओं को घायल कर दिया।

तभी पीड़ा से कराहते हुए कर्ण ने द्रोण से कहा, "आचार्य! कुछ कीजिए अन्यथा हम लोग मुँह दिखाने योग्य नहीं रहेंगे।"

"इसका अभेद्य कवच इसे बचा रहा है राधेय!" द्रोण ने हाँफते हुए कहा, "वही, जैसा कि मैंने अर्जुन को सिखाया था। एक ही मार्ग है कर्ण... यदि तुम इसके रथ के अश्वों को मार सको... सारथि का वध कर सको। तुम महान धनुर्धर हो... कर सको तो बस यही करो।"

कर्ण पूरा बल लगाकर, दृढ़ निश्चय के साथ, उठा और द्रोण की आड़ लेकर अभिमन्यु के सारथि तथा रथ के अश्वों पर बाण-वर्षा करने लगा। अनेक योद्धाओं से युद्ध में व्यस्त अभिमन्यु का ध्यान कर्ण के प्रहार की ओर नहीं गया। कुछ देर में उसके रथ के घोड़े बाण-विद्ध होकर शिथिल होने लगे... और सारथि भी अचेत हो चला। धीरे धीरे उसके रथ की गति मन्द पड़ती गयी।

रथ को निष्क्रिय होता देख, अभिमन्यु ढाल एवं खड्ग लेकर कूदा और कौरव योद्धाओं के रथों पर चढ़कर उन पर प्रहार करने लगा। इस बीच अन्य योद्धाओं के बाण उसके शरीर में धँसते जाते थे... और कुछ ही क्षणों में उसका खड्ग टूट गया और ढाल भी खण्डित होकर गिर पड़ी। शस्त्र-विहीन होते ही उसने एक टूटे हुए रथ का पहिया उठाकर बलपूर्वक घुमाते हुए बृहद्बल की ओर फेंका और झपटकर एक गदा अश्वत्थामा पर चलायी। दूसरे ही क्षण उसके हाथ में एक फरसा आया जिससे बलपूर्वक प्रहार करते हुए उसने शकुनि के अनुज कालिकेय तथा उसके अनेक अनुचरों का वध कर दिया।

विनाशलीला में रत, रुद्र का रूप धरे, अभिमन्यु के सम्मुख जो भी आता था वह अपने प्राण गवाँकर धराशायी हो जाता था। ऐसे में, पीछे से जाकर दु:शासन के पुत्र ने उसके सिर पर ऐसा भरपूर प्रहार किया कि अभिमन्यु अचेत होकर भूमि पर जा गिरा। उसी समय, चारो ओर से आते हुए अनेक बाणों ने उसके शरीर को ऊपर से नीचे तक वेध दिया। अभिमन्यु के पराक्रम से आतंकित कौरव योद्धा उसके मृत शरीर

पर भी बड़ी देर तक बाण बरसाते रहे।

कुछ ही क्षणों में, कुछ दूर एक समर-केन्द्र पर, पाण्डव-सेना से युद्ध करते हुए जयद्रथ के पास अभिमन्यु-वध का समाचार पहुँचा... तब, हर्षातिरेक में अट्टहास करते हुए, उसने भीमसेन से कहा, "अब युद्ध छोड़ दो और जाकर आँसू बहाओ... तुम्हारा दुलारा अभिमन्यु मारा गया।"

पाण्डव कुछ समझें, तब तक उसने पुनः अट्टहास करते हुए कहा, "मैंने मैंने मारा उसे। उसे चक्र में अकेले घेरकर... और तुम्हें अलग मार्ग पर भटकाकर, मैंने मरवाया उसे। याद करो भीमसेन... युधिष्ठिर... तुमने दास बनाकर अपमान किया था मेरा... पाँच चोटियाँ बनायी थीं मेरे सिर पर। मैंने प्रतिशोध ले लिया... अब मैं प्रत्येक चोटी के बदले, गिन गिनकर मारूँगा.. तुम पाँचों को मारूँगा।"

अभिमन्यु के वध का दारुण समाचार सुनकर पाण्डवों पर मानो वज्र प्रहार हुआ। वे अवाक् खड़े एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। अपनी सेना को युद्ध में व्यस्त छोड़ वे चारों लौटे और एक रथ पर एकत्रित होकर गुमसुम बैठ गये। एक दूसरे को सान्त्वना देने के लिए उनके पास शब्द नहीं थे।

"मैंने उसे मृत्यु के मुख में ढकेल दिया..." भीमसेन ने रुँधे कण्ठ से कहा।

"हमने उसके साथ रहने का वचन दिया था..." युधिष्ठिर ने अश्रु बहाते हुए कहा "किन्तु नितान्त अकेला छोड़ दिया उसे।"

"वीरगति तो बड़े सम्मान का विषय है," सहदेव ने नेत्रों से अगार उगलते हुए कहा, "किन्तु एक अकेले बालक को घेरकर निर्दयतापूर्वक वध करना तो नृशंस हत्या है। हम इसका प्रतिशोध लेंगे।"

"किस-किस से प्रतिशोध लेंगे?" नकुल निराश थे, "पहले तो यह सोचो कि हम भैया अर्जुन को कैसे मुँह दिखाएँगे? सुभद्रा भाभी के सम्मुख क्या मुँह लेकर जाएँगे?"

उनकी विषाद वार्ता चल ही रही थी कि सूर्य अस्त हो चला। युद्ध को विराम देकर दोनों थकी-माँदी सेनाएँ शिविरों को लौट चलीं। युधिष्ठिर भी अभिमन्यु का शव उठाये, अनुजों-सहित लौट गये।

कुछ ही देर में, महर्षि व्यास युधिष्ठिर के शिविर में पहुँचे। दुःखी मन बैठे पाण्डवों को देखकर और अभिमन्यु के विषय में सुनकर, उन्होंने मरुत, सुहोत्र, शिवि राम, भगीरथ, दिलीप, मान्धाता, ययाति, अम्बरीष, शशबिन्दु, गय, रन्तिदेव, भरत तथा पृथु-जैसे महापुरुषों का दृष्टान्त देकर, मृत्यु की अनिवार्यता बताते हुए, उन्हें शोक त्यागकर कर्मपथ पर डटे रहने का उपदेश दिया... फिर भी, युधिष्ठिर की व्यथा का अन्त नहीं था।

दिनभर के अथक संग्राम के बाद, संशप्तकों का वध करके, अर्जुन हर्षित मन

अपने शिविर की ओर लौटे... किन्तु शिविर में पहुँचकर उन्होंने सबको श्रीहीन एवं दुःखी पाया। उन्हें विषाद की अवस्था में देख कृष्ण का सारा उत्साह ही तिरोहित हो गया। पूछने पर जब उन्हें अभिमन्यु के वध का समाचार मिला तो वे दोनों ही स्तम्भित रह गये।

"कैसे हो गया यह..?" कृष्ण के स्वर में आश्चर्य ही नहीं, अविश्वास भी था।

"वह तो मुझसे भी..." अर्जुन के अवरुद्ध कण्ठ ने उनका वाक्य पूरा नहीं होने दिया। नेत्रों से बरसते अश्रु रोकना उनके लिए कठिन हो रहा था।

युधिष्ठिर ने उन्हें हृदय से लगाते हुए सान्त्वना दी, "तुम्हारा अपराधी मैं हूँ अनुज!" और अश्रु बहाते हुए कहा, "किन्तु सोचता हूँ.. तुम्हे तो मैं सान्त्वना दे लूँगा, मुझे कौन धीरज बँधाएगा?"

"किन्तु यह हुआ कैसे?" कृष्ण ने पुनः आश्चर्य-भरे स्वर में पूछा, "किसने वध किया उसका? कौरव-सेना में कौन ऐसा पराक्रमी उत्पन्न हो गया?"

"सुनकर हमें भी विश्वास नहीं हुआ था केशव!" भीमसेन ने टूटे स्वर में कहा, "अकेले भला उससे कौन लोहा लेता! उसे तो छः महारथियों ने मिलकर धराशायी किया.."

"छः महारथियो ने मिलकर!" आश्चर्य में कृष्ण के नेत्र फैल गये.. उस अकेले को? और हमारे अन्य योद्धा क्या कर रहे थे?"

"यही तो लज्जा का विषय है, हम सबके लिए.." सहदेव ने दीर्घ श्वास छोड़ते हुए कहा, "हम सब व्यूह की बाह्य सीमा पर युद्ध करते हुए, उसे वेधने का प्रयास ही करते रह गये।"

तब धृष्टद्युम्न ने अर्जुन तथा कृष्ण को द्रोण द्वारा चक्र-व्यूह की रचना के विषय मे बताया जिसका ज्ञान, अभिमन्यु के अतिरिक्त अन्य किसी को नही था

"उसने कहा भी था वासुदेव!" भीमसेन ने दुःखी स्वर में कहा, "कि मैं केवल चक्र व्यूह में प्रवेश करने की विधि जानता हूँ... निकलने का मार्ग नहीं। किन्तु मैंने सोचा था कि जब हम सब हैं तो निकलने का मार्ग भी बना ही लेंगे।"

"तब तुम साथ क्यों नहीं गये भैया?" अर्जुन ने द्रवित स्वर में पूछा।

"हमारे बीच से, वेधती हुई एक शत्रुवाहिनी ऐसी तीव्र गति से निकली..." नकुल ने दुःखी स्वर में स्पष्ट करते हुए बताया, "कि उससे संघर्ष मे अभिमन्यु हमारी दृष्टि से ओझल हो गया।"

"जयद्रथ कह रहा था..." युधिष्ठिर का स्वर अवरुद्ध होकर आँसुओं में भीग गया।

"क्या कह रहा था जयद्रथ?" अर्जुन अधीर थे।

"वह धूर्त कह रहा था कि उसने जानते बूझते... योजना बनाकर, वह वाहिनी

भेजी थी," नकुल ने धीरे धीरे बताया, "अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए।"

"उस धूर्त ने..." अर्जुन की आँखें अंगारे उगलने लगीं, "प्रतिशोध तो मैं लूँगा उससे।"

कहते-कहते अर्जुन का हाथ गाण्डीव पर पड़ा और वे झटके के साथ उठ खड़े हुए।

"धैर्य धरो पार्थ!" कृष्ण ने अर्जुन को स्नेह सहित बैठाते हुए कहा, "प्रतिशोध तो लेना ही है... अवश्य लेना। किन्तु इस समय युद्ध विराम की वेला है.. सूर्योदय की प्रतीक्षा तो करनी ही होगी।"

"मैं... मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता देवकीनन्दन!" अर्जुन ने मुक्त होने के प्रयास में लगभग चीख़ते हुए कहा, "सूर्य तो अब और भी विलम्ब से निकलेगा. मेरा उपहास करने के लिए..."

"धैर्य रखो कौन्त्येय!" कृष्ण ने उन्हें समझाते हुए कहा, "सूर्य अपने समय पर ही निकलेगा... विश्वास रखो।"

"तुम तो ऐसे कह रहे हो..." अर्जुन ने क्रोध में कहा, "जैसे सूर्य का उदय एवं अस्त होना भी तुम्हारे वश में है।"

"मेरे ही वश में है पार्थ!" कृष्ण ने आत्म विश्वास भरे स्वर मे कहा, "मैने ही सूर्यास्त किया था कि तुम विश्राम कर सको.. और पुनः शक्ति अर्जित करके दुष्ट जयद्रथ को दण्ड दे सको... और मैं उत्तरदायित्व लेता हूँ, उसे पुनः उदय करने का भी।"

कृष्ण के स्वर में ऐसा सम्मोहन था कि क्षणभर मत्र ओर सन्नाटा छा गया। अर्जुन को लगा जैसे उनके सम्मुख उनका सारथि-सखा नहीं, वह युद्ध प्रारम्भ होने के समय वाला महाज्ञानी उपदेशक आ खड़ा हुआ है।

"इतना सब कर सकते हो मित्र!" अर्जुन ने सहसा टूटकर बिलखते हुए कहा "तो उस अबोध अभिमन्यु को मृत्यु के मुख में जाने से क्यों नहीं रोका?"

"कौन कहता है कि उसकी मृत्यु हुई?" कृष्ण ने ऊँचे स्वर में गम्भीर होते हुए कहा, "उसे तो ऐसी स्पृहणीय वीरगति प्राप्त हुइ है, जो किसी विरले क्षत्रिय को ही प्राप्त होती है। छः महारथियों से अकेला युद्ध करता हुआ वह वीरगति पाया वह तुम्हारा पुत्र था, तो मेरे लिए पुत्र से कहीं बढ़कर था... अनुजा का पुत्र और एक प्रिय शिष्य। उसने गुरु-दक्षिणा में मुझे जो सम्मान दिया, वह मेरे जीवन की एक उपलब्धि है, पार्थ! तुम भी शोक त्याग दो और चलकर वीर माता को सांत्वना दो."

"अभी नहीं मित्र!" अर्जुन ने दृढ़तापूर्वक कहा, "अभी आँसू बहा लेने दो उस अभागी वीर-माता को। मैं भी उसे तब तक मुँह नहीं दिखाऊँगा जब तक अपने पुत्र के अपराधी का वध न कर लूँ।"

"विलम्ब न करो पार्थ!" युधिष्ठिर ने उनसे मनुहारते हुए कहा, "सुभद्रा को इस समय तुम्हारी आवश्यकता होगी।"

"नहीं भैया! विलम्ब नहीं करूँगा..." अर्जुन ने दृढतापूर्वक कहा, "मैं कल ही उसका वध करूँगा।"

"तुम जाओ अनुज..." भीमसेन ने कहा, "उसके वध का उत्तरदायित्व रहा मुझ पर.."

"नहीं भैया... नहीं..." अर्जुन ने आवेश में भरकर भीमसेन की बात काटी, "उसका वध तो मैं ही करूँगा... और वह भी कल ही। यह मेरा वचन है... मेरी प्रतिज्ञा है यदि मैंने कल सूर्यास्त तक दुष्ट जयद्रथ का वध न किया तो..."

"अर्जुन!" कृष्ण ने उन्हें रोकने के लिए हाथ उठाकर कहा।

"तो मैं अग्नि में समाधि लेकर अपने प्राणों का अन्त कर दूँगा.."

अर्जुन का वाक्य पूरा होते होते शिविर में सन्नाटा छा गया। हताश दृष्टि से कृष्ण ने पाण्डवों की ओर देखा। वे सब भी अवाक् होकर अर्जुन की ओर देख रहे थे।

"तुमने प्रण कर ही लिया है, अर्जुन!" कृष्ण ने कुछ चिन्तित स्वर में कहा, "तो उसकी भी कुछ व्यवस्था करनी ही होगी ."

"व्यवस्था कैसी वासुदेव!" भीमसेन ने क्रोधित होते हुए कहा, "उसकी व्यवस्था तो हो चुकी .. अर्जुन ने प्रण न किया होता तो मैं उसे मारता.."

"हम उसे प्राणदण्ड देते. " नकुल ने वाक्यांश छीनते हुए कहा।

"वह तो ठीक है.. किन्तु.."

"किन्तु क्या जनार्दन?" युधिष्ठिर ने जिज्ञासा की।

"किन्तु यह कि इस प्रतिज्ञा में समय सीमा का उल्लेख अनावश्यक था?"

"वह क्यों?" भीमसेन तथा सहदेव ने लगभग एक साथ पूछा।

"वह इस कारण..." कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "वध उसका सम्भव है जो युद्ध के लिए सम्मुख खड़ा हो। कल्पना करो कि वह छिप जाए तो क्या करोगे...? कैसे वध करोगे उसका?"

"कहाँ छिपेगा वह?" अर्जुन ने उग्र होते हुए कहा, "पाताल में या आकाश में? जहाँ भी चाहे वह छिप ले... किन्तु मैं उसका वध किये बिना नहीं रहूँगा, और वह भी कल सूर्यास्त से पहले। मैं स्वयं सन्देश भेजूँगा उसके पास... छिप ले वह, जहाँ भी छिपना चाहे। लौटकर माँ के गर्भ में तो नहीं छिपेगा..."

"इस प्रकार उच्च स्वर में अपनी योजना का उद्घाटन करके तो तुम अपनी समस्या को और बढ़ा लोगे पार्थ!"

"कल तो मेरी एक ही समस्या है, एक ही लक्ष्य है...." अर्जुन ने दृढ़तापूर्वक कृष्ण की आँखों में झाँकते हुए कहा, "अब वह लक्ष्य, अन्यथा मैं..."

"ठीक है, तो ऐसा ही सही...." कृष्ण ने शान्त स्वर में कहा, "किन्तु क्रोध को

अपने लक्ष्य के मार्ग में न आने दो। क्रोध सर्व-प्रथम कर्ता को ही अपना आहार बनाता है। चलो अब दो घड़ी विश्राम कर लो... लम्बी छलाँग के लिए दो पग पीछे हटना भी आवश्यक होता है। थके हुए नेत्र भी अपने लक्ष्य को भली-भाँति नहीं देख पाते।"

शिविर में सन्नाटा छा गया... सारी सेना निद्रा में लीन थी। किन्तु कृष्ण के नेत्रों मे निद्रा बहुत दूर थी... नेत्र मुँदने का नाम ही नहीं ले रहे थे। अर्जुन की इस प्रतिज्ञा का पूर्ण होना आवश्यक था... पाण्डव-सेना के लिए ही नहीं, स्वयं उनके लिए भी... और धर्म के सकारात्मक सन्देश के लिए भी। यदि अर्जुन को कुछ हो गया तो पाण्डव-सेना कभी विजयी नहीं हो पाएगी। फिर क्या सन्देश मिलेगा अन्य सभी को। यही न... कि अन्याय करने वालों की, दुराग्रही दुष्टों की विजय होती है। युद्ध मे अर्जुन को क्रोध-पूर्वक जयद्रथ की ओर बढ़ते देख, सभी को उनके उद्देश्य का संकेत मिल जाएगा... और फिर सारे कौरव योद्धा मिलकर अर्जुन पर टूट पड़ेंगे!

और दूसरी ओर...

जयद्रथ के शिविर में, उसके एक गुप्तचर ने, उसे आग्रहपूर्वक जगाकर अर्जुन का यह प्रण सुनाया। सुनकर जयद्रथ सहसा गम्भीर हो गया।

गुप्तचर के विदा होते ही वह अनायास ही गहन चिन्ता में डूब गया। अब क्या होगा? उसने तो सोचा था कि अपने प्रिय पुत्र अभिमन्यु की मृत्यु से अर्जुन टूट जाएगा... बिखर जाएगा... और सम्भवत: दो एक दिन युद्ध करने की स्थिति मे ही न रहे। किन्तु जो हुआ, उसकी उसने कल्पना भी नही की थी। वह अपने आप को कोसने लगा। क्या आवश्यकता थी, अट्टहास करते हुए उस घोषणा की, कि सारी योजना उसी की थी... अनजाने में ही अपनी प्रसन्नता का आवेग वह रोक क्यो नहीं पाया?

जो भी हो... किन्तु अब!

आधी रात बीत चुकी थी। घड़ी भर आँखों में काटने के बाद, सहसा जयद्रथ ने एक निर्णय लिया। वह उठकर सीधा दुर्योधन के शिविर में पहुँचा और, द्वार रक्षकों से आग्रह करके, उसे जगाकर बोला, "कल मुझे युद्ध के भार से मुक्ति दो, बन्धु दुर्योधन... कल मेरा अज्ञातवास, स्वयं मेरे लिए ही नहीं, सम्पूर्ण कौरव सेना के लिए हितकर होगा।"

दुर्योधन को सुनकर आश्चर्य हुआ। मध्य रात्रि के समय, विजय की सुखमय निद्रा की बलि देते हुए, एक योद्धा का युद्ध-भूमि से दूर रहने का प्रस्ताव! यह कौरव-सेना के लिए हितकारी कैसे हो सकता है? उसके आग्रह पर जयद्रथ ने सारी पृष्ठ-भूमि कह सुनायी। दुर्योधन ने उसकी चिन्ता को हँसी में उड़ाते हुए भय त्याग,

शिविर में लौटकर, शयन करने का परामर्श दिया। किन्तु जयद्रथ का अनुरोध, आग्रह का रूप ले रहा था। उसने अपना भय छिपाते हुए बारम्बार यह तर्क दिया कि, उसके किसी अज्ञात जगह छिप जाने से, अर्जुन की प्रतिज्ञा अपूर्ण रह जाएगी .. और हारकर उसे आत्म-दाह करना होगा।

जयद्रथ के तर्क में दुर्योधन को कुछ व्यावहारिकता का संकेत तो मिला . किन्तु किसी निर्णय पर न पहुँच पाने के कारण उसने निर्णय प्रधान सेनापति पर डालना ही श्रेयस्कर समझा। वे दोनों आचार्य द्रोण के पास पहुँचे और सारी पृष्ठभूमि बताते हुए, जयद्रथ का प्रस्ताव उनसे कह सुनाया। किन्तु स्वय ही एक शूर-वीर होने के नाते, द्रोण को जयद्रथ का प्रस्ताव अत्यन्त कायरतापूर्ण लगा।

"यह तो तुम्हारे जैसे क्षत्रिय को शोभा नहीं देता सिन्धुराज!" उन्होंने आश्चर्य से भरकर, धिक्कारते स्वर में कहा, "इस प्रकार भयभीत होकर क्षत्रिय कहीं छिपने का मार्ग नहीं ढूँढ़ते... मृत्यु की चुनौती को भी स्वीकार करके, वीरतापूर्वक आगे बढ़ते हैं। स्वयं मुझे ही देख लो... हस्तिनापुर के प्रति निष्ठा स्वीकार करने के पश्चात्, यह युद्ध छिड़ने पर, क्या मैं आदेश मिलने पर, इस उत्तरदायित्व से विरत रह सकता था? क्या गंगापुत्र रह सकते थे?"

"किन्तु आचार्य..."

"मेरी दृष्टि में तो, किन्तु का प्रश्न ही नहीं उठता. ." द्रोण ने निर्णायक स्वर में कहा, "और यह भी तो कल्पना करो... कि यदि अर्जुन को तुम्हारे छिपने के स्थान का पता लग गया, और उसने वहाँ जाकर तुम पर आक्रमण किया... तो वहाँ हम लोग भी नहीं होंगे, कि तुम्हारी रक्षा कर सकें।"

"किन्तु यहाँ...?" जयद्रथ की दृष्टि द्रोण के मुख पर टिक गयी।

"यहाँ तुम्हारी रक्षा हम सब मिलकर करेंगे " दुर्योधन ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा।

"वैसे तुम्हें हमारी रक्षा की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, सिन्धुराज!" द्रोण ने कहा, "तुम स्वयं समर्थ हो। यदि अर्जुन के पास पराक्रम है, तो तुम्हारे पास चातुर्य है। फिर लगाओ अपनी भल्ल वाहिनी जैसी कोई युक्ति कि अर्जुन अन्य योद्धाओं से अलग थलग पड़ जाए... और रोको शेष सेना को अन्यत्र कहीं, जैसे आज रोका था।"

"किन्तु आचार्य...!" जयद्रथ की शंका पुनः अनुत्तरित रह गयी।

"और यह भी तो सोचो सिन्धुनरेश!" द्रोण ने उसका वाक्य काटते हुए कहा, "कैसी लज्जाजनक बात होगी तुम्हारे लिए, जब सबको ज्ञात होगा कि तुम अर्जुन से भयभीत होकर कहीं जा छिपे हो!"

"यह सबको कौन बताएगा?"

"कौन बताएगा?" द्रोण ने व्यंग्य भरे आश्चर्य में पूछा, "स्वयं अर्जुन

बताएगा... सब पाण्डव बताएँगे... कौन नहीं बताएगा, यह पूछो!"

"वह तो बड़ी हास्यास्पद स्थिति होगी..." दुर्योधन ने भी जयद्रथ को समझाते हुए कहा, "अच्छा तो यह होगा कि तुम हम सबके पीछे छिप जाओ... युद्ध क्षेत्र में रहते हुए ही। हम सब तुम्हारी रक्षा करेंगे। अर्जुन और तुम्हारे बीच कौरव योद्धाओं की विशाल, अभेद्य भीत होगी। कल हम सब अन्यत्र युद्ध न करके, अर्जुन को निराश करने की योजना बनाकर युद्ध करेंगे... और फिर उसे आत्म दाह के लिए विवश करेंगे... वह बच नहीं पाएगा।"

"यही ठीक रहेगा..." द्रोण ने निर्णय सुनाते हुए कहा, "तुम्हारी रक्षा भी हो जाएगी, तुम्हारा मान भी रह जाएगा और अर्जुन का भय भी मिट जाएगा... सदा सर्वदा के लिए।"

जयद्रथ के पास यह परामर्श स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था।

अन्य दिनों से पहले ही जागकर अर्जुन ने शरीर पर कवच धारण किया, शिर पर शिरस्त्राण रखा और कुल देवी की प्रतिमा के सम्मुख शीश झुकाकर शिविर के बाहर पदार्पण किया। शुभ-शकुन के रूप में, रथ सजाकर खड़े हुए, कृष्ण को सम्मुख देखकर उनका मन सुखद आश्चर्य एवं कृतज्ञता से भर उठा। कृष्ण ने न केवल रथ तैयार किया था, उसमें सभी अस्त्र-शस्त्र, अर्जुन की रुचि एवं अभ्यस्तता के अनुरूप सजाकर रख दिये थे। अर्जुन ने लगभग दौड़ते हुए उन्हें बाँहों में भरकर हृदय से लगा लिया।

"क्षमा करना बन्धु... मेरे सखा, मेरे गुरु!" अर्जुन ने गदगद कण्ठ से कहा "कि मैंने बिना तुम्हारी अनुमति के यह कठिन प्रतिज्ञा कर ली। यदि दुर्भाग्यवश आज मैं सफल न हो पाऊँ तो.."

"प्रश्न ही नहीं उठता अनुज!" भीमसेन ने पीछे से आते हुए स्नेहपूर्वक अपना हाथ अर्जुन के कन्धे पर रखा। "वह दुष्ट किसी बिल में भी छिपा होगा, तो हम उसे खोदकर बाहर तुम्हारे सम्मुख ला खड़ा करेंगे।"

"तुम तो बस अपना कोई प्रिय बाण तैयार रखो.." कहते हुए युधिष्ठिर ने भी आगे बढ़कर उन्हें हृदय से लगा लिया।

तभी घटोत्कच ने अश्रु-पूरित नयनों के साथ आगे बढ़कर अर्जुन का चरण स्पर्श किया, "अनुज अभिमन्यु के अधर्मपूर्वक किये हुए वध का प्रतिशोध हम सब मिलकर लेंगे तातश्री! चिन्ता त्याग दें... आप, सफल मनोरथ होंगे।"

साथ ही नकुल, सहदेव, प्रतिविन्ध्य, शतानीक, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, विराट सात्यकि, द्रुपद आदि को पंक्ति-बद्ध खड़ा देख अर्जुन के नेत्र भर आये।

उन सबने, सेना-सहित, युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान किया... और सूर्योदय होते ही शंख-नाद किया।

आचार्य द्रोण ने, अर्जुन की प्रतिज्ञा तथा जयद्रथ की सुरक्षा को विशेष रूप मे ध्यान में रखते हुए, कौरव-सेना का शकट-व्यूह बनाया। उन्होंने जयद्रथ से कहा कि वह भूरिश्रवा, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य, वृषसेन, कृपाचार्य आदि महारथियों की सुरक्षा में, विशाल अश्वारोही, गजारोही तथा पदातिक सेना के साथ, व्यूह से छः कोस पीछे रहे। दुःशासन तथा विकर्ण, विशेष रूप से अपने सुसम्बन्धी की रक्षा के लिए, जयद्रथ के साथ रहे। शकट-व्यूह के पीछे द्रोण ने पद्मगर्भ-व्यूह और, उसके तथा जयद्रथ के बीच में, सूचीमुख-व्यूह बनाकर अभेद्य भीतें खड़ी कर दी थीं कि पाण्डव-सेना के लिए अथवा अर्जुन के लिए जयद्रथ की छाया भी छूना असम्भव हो जाए।

इधर धृष्टद्युम्न ने, नकुल के पुत्र शतानीक की सहायता से, पाण्डव-सेना की व्यूह-रचना की। अर्जुन ने रण भूमि में प्रवेश करते ही कृष्ण से अपनी इच्छा एवं निर्णय के अनुसार रथ बढ़ाने को कहा, क्योंकि उन्हें आज योद्धाओं से नहीं, सम्पूर्ण कौरव-सेना से युद्ध करके, जैसे भी हो, जयद्रथ के पास पहुँचना था।

"ध्यान रखना अर्जुन..." द्रोण की योजना का संकेत पाकर, कृष्ण ने उन्हे सावधान करते हुए कहा, "तुम्हारे पास समय कम है.. आजकल सूर्यास्त भी शीघ्र ही होता है... और आकाश में घिरते हुए शीतकालीन घन सूर्य को सूर्यास्त से पहले भी छिपा सकते हैं। कौरव योद्धा, तुम्हारा ध्यान भग करने के लिए भी तुम्हें ललकारेंगे... किन्तु उनसे उलझे बिना तुम्हें आगे ही बढ़ना है।"

"आश्वस्त रहें वासुदेव!" अर्जुन ने गम्भीर स्वर में कहा, "रथ तो आप ही को बढ़ाना है। मुझे विश्वास है कि यह रथ बीच में कहीं नहीं रुकेगा... और यदि कहीं रुका, तो मैं दौड़कर ही जयद्रथ तक जा पहुँचूँगा।"

अर्जुन का रथ आगे बढ़ा ही था कि दुर्मर्षण ने गजसेना-सहित उन्हें टक्कर दी... उसे तितर-बितर करके बढ़ते हुए उन्हे दुःशासन का सामना करना पड़ा। अर्जुन ने उसे भी उसके गजों तथा गजारोहियों का वध करके छिन्न-भिन्न करते हुए भगा दिया। वे सब भयभीत होकर लौटे और द्रोण के शकट-व्यूह में जा छिपे।

तब अर्जुन ने अपने मार्ग में आचार्य द्रोण को खड़ा पाया, जो अपने व्यूह के द्वार पर अचल पर्वत की भाँति डटे थे। अर्जुन ने उनसे हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में कहा, "आचार्यवर! आप मेरे पूजनीय हैं... अश्वत्थामा की भाँति मैं भी आपके पुत्र-जसा ही हूँ। कृपया आज मेरा मार्ग छोड़ दें। आज जयद्रथ-वध के लिए मैं प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ।"

"अर्जुन!" द्रोण ने मुस्कराकर कहा, "मुझे परास्त किये बिना तुम जयद्रथ तक नहीं पहुँच सकते। जयद्रथ मेरी शरण में है... और उसकी सुरक्षा के लिए मैं भी वचन-बद्ध हूँ... और फिर जयद्रथ के लिए ही आग्रह क्यों? अभिमन्यु को तो छः महारथियों ने घेरा था... और अन्त में, उसका वध तो दु:शासन के पुत्र ने किया था।"

"मुझे भ्रम में न डालें आचार्य!" अर्जुन ने आग्रहपूर्वक कहा, "उसे योजना बनाकर महारथियों के बीच अकेला भेजनेवाला तो जयद्रथ ही था... उसने स्वयं ही उद्घोष किया था अपने कुकर्म का। और फिर जो भी हो... प्रतिज्ञा तो मैं कर ही चुका हूँ उसके वध की।"

"तो जाओ..." द्रोण ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा, "मेरा वध करके चले जाओ उसके पास... और मुक्ति दो मुझे भी, जैसे गंगा-पुत्र को प्रदान की थी। हाँ, मैं अपना मुक्ति के लिए उनकी भाँति अन्य कोई उपाय तो बता नहीं सकता।"

यह कहते हुए उन्होंने अर्जुन पर भीषण बाण वर्षा प्रारम्भ की... और अर्जुन भी उन पर बाण बरसाने लगे। तब कृष्ण ने उन्हें स्मरण कराते हुए कहा, "आचार्य से मत उलझो। तुम्हारे पास समय नहीं है..." और वे द्रोण से कतराते हुए, रथ बढ़ा ले चले।

अर्जुन ने भी पीछे मुड़कर उनसे कहा, "आप मेरे शत्रु नहीं हैं आचार्य! और आज मैं मात्र एक पिता हूँ... पुत्र के हत्यारे से प्रतिशोध लेने वाला पिता।" यह कहते हुए वे आगे बढ़े और जय, कृतवर्मा, काम्बोजनरेश तथा श्रुतायु से जा भिड़े। उन सबसे भयंकर संग्राम करके उनके रथ तोड़ते, धनुष काटते, उन्हें घायल करते हुए अर्जुन आगे बढ़े। इसी बीच श्रुतायुध ने सामने आकर अर्जुन पर प्रहार किया। अर्जुन उसका रथ-खण्डित करते हुए पुन: आगे बढ़े तो वह गदा हाथ में लेकर उनके पीछे दौड़ा। इसी उपक्रम में वह स्वयं अपनी ही नोकीली गदा पर गिरकर मर गया।

श्रुतायुध की मृत्यु देख, कौरव-सेना के पाँव उखड़ने लगे, तो काम्बोजनरेश का पुत्र सुदक्षिण अर्जुन के सामने पहुँचा। कुछ ही देर में अर्जुन एक बाण द्वारा उसका वक्षःस्थल चीरते हुए आगे बढ़ निकले। तभी श्रुतायु तथा अच्युतायु ने बड़ी विशाल सेना-सहित आकर उनका मार्ग रोका। सारी सेना को भीषण बाण-वर्षा से रौंदते हुए अर्जुन स्वयं बाणों से बिंध गये थे, उनकी आँखों के सम्मुख अन्धकार छाने लगा था... किन्तु अपने मनोबल द्वारा खड़े रहकर उन्होंने श्रुतायु तथा अच्युतायु के सिर अपने पैने बाणों से उड़ा दिये। उन्हें मृत देख उनके पुत्र नियतायु तथा दीर्घायु अर्जुन पर टूट पड़े, किन्तु शीघ्र ही वे भी धराशायी हो गये।

तुरन्त ही गज सेना लेकर अंगदेशीय, पूर्वदेशीय, दाक्षिणात्य तथा कलिंग राजाओं ने अर्जुन का मार्ग रोका, किन्तु वे भी अधिक देर तक ठहर नहीं पाये और धराशायी हुए। तब अम्बष्ठ ने झपटकर उनका मार्ग रोका, किन्तु अर्जुन ने शीघ्र ही उसका मस्तक भी काट गिराया।

मध्याह्न काल हो चला था... अर्जुन द्वारा एक-के-बाद-एक अनेक योद्धाओं का वध तथा सेना में भगदड़ देख दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को ललकारा, "आप क्या कर रहे हैं आचार्य? अर्जुन बड़े-बड़े महारथियों को हताहत करता बढ़ता चला जा रहा है। मैंने आप ही के आग्रह पर जयद्रथ को रोका था... आप ही को कुछ करना चाहिए।"

"अर्जुन को रोकना तो कठिन कार्य है, दुर्योधन!" द्रोण ने दो-टूक शब्दो मे कहा, "यह मैंने पहले ही कह दिया था तुमसे। और मैंने प्रतिज्ञा बस यह की थी कि मैं युधिष्ठिर को बन्दी बनाऊँगा... यदि अर्जुन उनके आसपास न हो। इस समय यह स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि अर्जुन अन्य सबको छोडकर जयद्रथ की ओर जा रहा है... उसे तुम सब मिलकर सँभालो। मैं जा रहा हूँ युधिष्ठिर की ओर..."

दुर्योधन को द्रोण की योजना तर्क-सम्मत लगी... किन्तु अर्जुन के रौद्र-रूप का स्मरण करके उसे चिन्ता भी थी।

"मैं... मैं कैसे सँभालूँगा उसे?" दुर्योधन ने विस्मय में तर्क किया, "जब स्वयं आप ही उसे अजेय बना रहे हैं... और आज तो वह और भी प्रचण्ड रूप धारण किये हुए है।"

द्रोण मुस्कराये... और क्षण-भर बाद बोले, "अच्छा, मैं तुम्हें अपनी विधि से अभेद्य कवच पहनाये देता हूँ... वैसा ही, जैसा मैंने अर्जुन के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं बताया। तुम इसे धारण करके स्वयं अर्जुन के सम्मुख जाओ... निश्चिन्त होकर..."

द्रोण द्वारा वह विशेष कवच पाकर दुर्योधन सहस्रों त्रिगर्तवासी रथी-महारथियों की सेना लेकर अर्जुन की ओर बढ़ा।

उधर धृष्टद्युम्न ने सोमकों की विशाल सेना लेकर द्रोण पर आक्रमण किया। वहाँ भयंकर संग्राम छिड़ गया। पाण्डवों की मार से त्रस्त कुछ कौरव सैनिक कृतवर्मा की सेना में जा मिले और कुछ जलसन्ध की ओर भाग गये। अपने शेष सैनिकों के साथ ही द्रोण सोमकों पर बाण बरसाते रहे।

उसी समय विविंशति, चित्रसेन तथा विकर्ण ने मिलकर भीमसेन को घेर लिया। शिबि के पुत्र गोवाशन ने काशिराज अभिभू के पुत्र पराक्रान्त को रोक दिया... शल्य ने युधिष्ठिर पर आक्रमण किया, दु:शासन सात्यकि पर टूट पड़ा और संजय ने चार सौ योद्धाओं की टुकड़ी लेकर चेकितान का मार्ग रोका। शकुनि ने नकुल को विन्द अनुविन्द ने विराट को घेर लिया और अलायुध ने घटोत्कच का सामना किया। इन सभी केन्द्रों पर भयंकर युद्ध छिड़ा हुआ था।

दिन ढलने लगा था... मार्ग में आये अनेक योद्धाओं तथा उनकी विशाल सेना को हताहत करते हुए अर्जुन निरन्तर जयद्रथ की ओर बढ रहे थे। अर्जुन के बाँस तथा

लोहे के बने बाण शत्रु सेना का विनाश करके रथ के लिए मार्ग बनाते थे और कृष्ण उसे बढ़ाते चले जा रहे थे। तभी अवन्तिराजकुमार विन्द तथा अनुविन्द ने अर्जुन का मार्ग रोका। दोनों ओर से भयंकर बाण-युद्ध के बाद, उन दोनों को धराशायी करते हुए अर्जुन और आगे बढ़े।

उनके रथ के घोड़े थकने लगे थे... और भूखे-प्यासे भी थे। एक सुविधाजनक स्थान देखकर अर्जुन ने कौरव सेना को रोक कर रखा और कृष्ण को परामर्श दिया कि वे अश्वों को जल पिलाकर और कुछ खिलाकर, घड़ी भर विश्राम दे लें... क्योंकि शेष समय में निर्णायक युद्ध प्रारम्भ होना था। तदनुसार कृष्ण ने अश्वों के शरीर से बाण निकालकर उनका उपचार किया और उन्हें विश्राम दिया।

कुछ ही समय में, अर्जुन पुन: रथ पर आरूढ़ होकर, शत्रु-सेना को बींधते रौंदते हुए जयद्रथ की ओर बढ़ चले। तभी उन्हें दूर से ही जयद्रथ की झलक दिखाई दी, जो अनेक महारथियों से घिरा खड़ा था... और तभी, रथ दौड़ाता हुआ दुर्योधन उनके निकट आ गया।

"यह आश्चर्य है धनंजय!" कृष्ण ने कहा, "कि आज दुर्योधन स्वयं सामने आया है। अन्यथा वह प्राणों के भय से कभी तुम्हारे सम्मुख नहीं आया... अन्य योद्धाओं को ही भेजता रहा। वध करो इसका..."

दुर्योधन ने भी उन्हें ललकारते हुए उन पर बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी। अर्जुन ने उस पर प्रहार किया तो अश्वत्थामा भी आकर दुर्योधन की ओर से युद्ध करने लगा। दोनों ओर से भयंकर बाण-वर्षा हो रही थी, किन्तु अपने अभेद्य कवच के कारण दुर्योधन अर्जुन को कड़ी टक्कर दे रहा था। तब अर्जुन ने पैने बाणों से, दुर्योधन की अँगुलियों तथा नखों को अपना लक्ष्य बनाकर उसे व्याकुल कर दिया।

तब भूरिश्रवा, शल, कर्ण, वृषसेन, जयद्रथ, कृपाचार्य, शल्य तथा अश्वत्थामा ने एक साथ ही अर्जुन को घेरकर आक्रमण किया।

उधर, शकट-व्यूह के मुहाने पर द्रोण तथा उनकी सेना का पांचालों के साथ भीषण युद्ध ठना हुआ था। केकय महारथी बृहत्क्षत्र, क्षेमधूर्ति तथा धृष्टकेतु, द्रोण को घेर कर, उन पर बाण-वर्षा कर रहे थे। इसी प्रकार सहदेव को दुर्मुख ने, सात्यकि को व्याघ्रदत्त ने, द्रौपदी-पुत्रों को सोमदत्त के पुत्रों ने तथा भीमसेन को अलम्बुष ने रोका।

इसी बीच द्रोण ने अन्य योद्धाओं को पछाड़ते हुए युधिष्ठिर पर आक्रमण किया। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। दोनों ने ही एक-दूसरे के धनुष काटे और परस्पर शस्त्रों को निरस्त्र करते हुए एक-दूसरे को घायल किया। तभी द्रोण ने युधिष्ठिर के रथ के अश्वों को मार डाला... तब युधिष्ठिर कूदकर नकुल के रथ पर बैठे और रण-भूमि

से बाहर निकल गये।

दूसरी ओर बृहत्क्षत्र तथा क्षेमधूर्ति का युद्ध हुआ, जिसमें क्षेमधूर्ति मारा गया। इसी प्रकार धृष्टकेतु तथा वीरधन्वा के युद्ध में, वीरधन्वा धराशायी हुआ। युद्ध के एक अन्य केन्द्र पर व्याघ्रदत्त तथा सात्यकि मे युद्ध हुआ, जिसमें व्याघ्रदत्त ने प्राण गवाँये... सात्यकि की मार से अपनी सेना को व्यथित देख, द्रोण दल बल-सहित उस पर टूट पड़े।

उधर द्रौपदी-पुत्रों ने शल को घेरकर बाण वर्षा करते हुए उसे मार गिराया। दूसरी ओर भीमसेन के साथ अलम्बुष का युद्ध हो रहा था. वह भीमसेन को अपने भाई बकासुर के हत्यारे के रूप में देखकर और भी भयंकर कर्म करता हुआ, माया फैलाकर, उन पर बलपूर्वक प्रहार कर रहा था। उसने भीमसेन की सेना को बड़ी हानि पहुँचायी ...और जब भीमसेन ने उसे बाणों से व्याकुल किया तो वह भागकर द्रोण की सेना में चला गया। तब घटोत्कच ने जाकर उसे पैने बाणों से बाधना प्रारम्भ किया। दोनों ही विलक्षण मायाएँ फैलाते हुए एक दूसरे पर प्रहार कर रहे थे। तभी भीमसेन आदि अनेक योद्धा भी अलम्बुष पर टूट पड़े। इसी बीच घटोत्कच ने अलम्बुष को दोनों बाँहों से ऊपर उठाकर, तीव्र गति से घुमाते हुए, भूमि पर ऐसा पटका कि उसकी हड्डियाँ चूर चूर हो गयीं।

इधर, यह संकेत पाकर कि अर्जुन सकट मे हैं, युधिष्ठिर ने सात्यकि को उनकी सहायता के लिए भेजा। अर्जुन सात्यकि को अपना शिष्य ही नहीं, मित्र भी मानते थे। किन्तु सात्यकि को दुविधा थी क्योंकि अजुन उस पर ही युधिष्ठिर की रक्षा का भार छोड़ गये थे। युधिष्ठिर के आग्रह पर सात्यकि कौरव-सेना को चीरता हुआ अर्जुन की ओर चला।

सात्यकि के जाते ही, भीमसेन अपने योद्धाओं सहित कौरव सेना पर टूट पड़े। तब उन्हें कृतवर्मा ने अकेले ही टक्कर दी। उसने अकेले ही अद्भुत पराक्रम दिखाते हुए पाण्डवों सहित पांचाल, सृंजय और केकय योद्धाओ के दाँत खट्टे कर दिये।

इसी समय सात्यकि ने लौटते हुए कृतवर्मा पर आक्रमण किया। यह देख अपने विशाल गज पर आरूढ़ हो, बाण वर्षा करता हुआ, जलसन्ध सात्यकि पर चढ आया। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ... किन्तु अन्त मे सात्यकि ने जलसन्ध का मस्तक काट गिराया। फिर भयंकर बाण-वर्षा करके उसने कृतवर्मा को परास्त करते हुए, द्रोण के सारथि का वध किया और उनके अश्वों को भी मार दिया।

द्रोण ने, अपने व्यूह को खण्डित देख, सात्यकि का पीछा करने का विचार त्याग कर, व्यूह की पुनर्रचना प्रारम्भ की।

सात्यकि को भयंकर विनाशलीला करते देख, दुर्योधनकुमार सुदर्शन ने उस पर धावा किया... किन्तु कुछ ही देर में सात्यकि ने उसे मार गिराया और रथ अर्जुन की

ओर बढ़ाया। राह में सहस्रों काम्बोज, शक, शबर, किरात और बर्बरों को धराशायी करता हुआ वह अर्जुन के समीप जा पहुँचा। उसे अर्जुन की रक्षार्थ पहुँचते देख दुर्योधन, चित्रसेन, दु:शासन, विविंशति, शकुनि, दु:सह, दुर्धर्षण और क्रथ ने पीछे से जाकर उसे घेर लिया। किन्तु उनकी सेना का भीषण संहार करके, उन सभी को परास्त करता हुआ, वह अर्जुन के और निकट जा पहुँचा।

उधर, दु:शासन को अपनी सेना के बीच छिपते देख, द्रोण ने उसे बहुत खरी खोटी सुनाई और, पाण्डवों से युद्ध छेड़ने के लिए उसे उत्तरदायी ठहराते हुए, तुरन्त सात्यकि से युद्ध करने के लिए जाने की आज्ञा दी। उनसे अपमानित होकर, दु:शासन यवनो की एक विशाल सेना लेकर पुन: सात्यकि की ओर चला। किन्तु एक बार फिर उसे सात्यकि के हाथों परास्त होना पड़ा। दु:शासन शस्त्रहीन होकर गिर पड़ा... सात्यकि उसे मारने ही वाला था... किन्तु भीमसेन की प्रतिज्ञा का, स्मरण करके, उसे छोड़ दिया।

दूसरी ओर द्रोणाचार्य पांचालों तथा पाण्डवों की सेना पर बाण बरसा रहे थे। इस आक्रमण में उन्हें संघर्ष तो बहुत करना पड़ा, किन्तु उन्होंने पांचालकुमार वीरकेतु को मार गिराया। अपने भाई की मृत्यु देख, चित्रकेतु, सुधन्वा, चित्रवर्मा तथा चित्रसेन ने द्रोण को घेरकर शस्त्र-वर्षा प्रारम्भ की... किन्तु द्रोण के सम्मुख उनकी एक न चली। शीघ्र ही वे चारो भी द्रोण के बाणों का लक्ष्य बने।

अपने अनुजों का वध देख, धृष्टद्युम्न को बड़ा उद्वेग हुआ। क्रोध ने उसके नेत्रो से जल सुखाकर अग्नि बरसाना प्रारम्भ कर दिया। उसने ऐसी भीषण बाण-वर्षा की कि द्रोण अचेत हो गये। वह अपने रथ से कूदकर द्रोण का सिर काटने के लिए बढ़ा ही था कि द्रोण की मूर्च्छा टूटी... और धृष्टद्युम्न को पास आते देख वितस्त बाणों द्वारा उस पर आघात किया। धृष्टद्युम्न को अपने प्राण बचाकर तुरन्त ही अपने रथ पर लौटना पड़ा। इसी बीच द्रोण ने धृष्टद्युम्न के सारथि को मार गिराया। उसके रथ के घोड़े अनियन्त्रित होकर भाग खड़े हुए और धृष्टद्युम्न को दूर कहीं ले गये।

उधर दु:शासन ने, त्रिगर्त सेना के साथ, अर्जुन की ओर बढ़ते हुए सात्यकि का मार्ग रोका। किन्तु उन्हें अपने बाणों से बड़ी निर्दयता के साथ बींधते हुए सात्यकि अपने मार्ग पर बढ़ता रहा।

मध्याह्न का समय बीत रहा था, तभी द्रोण ने अपने लाल घोड़ों वाले रथ को बढ़ाते हुए पाण्डव-सेना पर आक्रमण किया। उनका मार्ग केकयकुमार बृहत्क्षण ने बाण बरसाकर रोका। उसका पराक्रम देखकर कुछ देर तो द्रोण भी हतप्रभ रह गये किन्तु कुछ ही समय में अवसर पाकर, एक घातक बाण मारकर, उसकी छाती चीर

डाली। उसको मृत देख, शिशुपाल के पुत्र धृष्टकेतु ने आगे बढ़कर द्रोण को टक्कर दी। किन्तु कुछ ही देर में द्रोण ने उसके सारथि का वध करके रथ के अश्वों को भी मार गिराया। उसने रथहीन होते ही पृथ्वी पर कूदकर द्रोण पर गदा, तोमर, शक्ति आदि की झड़ी लगा दी... किन्तु द्रोण के पराक्रम के सम्मुख वह अधिक नहीं टिक पाया। द्रोण के एक तीखे बाण ने उसे धराशायी कर दिया। धृष्टकेतु को गिरते देख, उसके पुत्र ने रोष में भरकर द्रोण पर आक्रमण किया... किन्तु कुछ ही क्षणों में वह भी मारा गया। यही गति जरासन्ध के पुत्र की भी हुई, द्रोण साक्षात् काल का रूप धारण किये पाण्डव-सेना का विनाश करने घूम रहे थे।

तब क्षेत्रधर्मा ने पांचाल, चेदि, सृंजय, काशी और कोमल महारथियों के साथ, पूरी शक्ति लगाकर द्रोण पर आक्रमण किया। कुछ देर तो उन्होंने द्रोण को अपने आघात से छकाया, कई बार उनका धनुष काट गिराया और उन्हें तीखे बाणों से बींध दिया, किन्तु कुछ ही देर में द्रोण ने क्षेत्रधर्मा का वध करके अन्य महारथियों को भी रणभूमि छोड़कर भागने पर विवश कर दिया।

द्रोण द्वारा अपनी सेना का महाविनाश देख युधिष्ठिर चिन्तित थे। अर्जुन का समाचार भी उन्हें नहीं मिला था, इस कारण अर्जुन तथा सात्यकि की चिन्ता भी उनको व्याकुल कर रही थी। उन्होंने भीमसेन को अर्जुन की सहायता करने तथा उनका समाचार लाने के लिए भेजा। भीमसेन ने बड़ी अनिच्छा से, युधिष्ठिर की रक्षा का भार धृष्टद्युम्न को सौंपते हुए विदा ली। उनके पीछे कुछ पांचाल एवं सोमक सेनानी भी कौरव-सेना को कुचलते हुए बढ़े।

उनको मार्ग में दुःशल, कुण्डभेदी, विविंशति, दुर्मुख, विकर्ण, सुमुख, सुदर्शन, वृन्दारक, सुहस्त, सुषेण, दीर्घलोचन, अभय, रौद्रकर्मा, सुवर्मा, दुर्विमोचन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रों ने आक्रमण करते हुए घेर लिया। भीमसेन उनका घेरा तोड़कर आगे बढ़े, तो द्रोण ने उन्हें टक्कर दी। साथ ही दुःशासन ने भी उन पर आक्रमण किया। धृतराष्ट्र के अनेक पुत्रों ने भी उन्हें आ घेरा। उन सबसे पराक्रमपूर्वक युद्ध करते हुए भीमसेन ने देखते-ही-देखते, कुण्डभेदी, सुषेण और दीर्घलोचन को मार गिराया। उनकी मृत्यु से क्रुद्ध होकर धृतराष्ट्र-पुत्रों ने और भी वेग से उन पर आक्रमण किया। किन्तु शीघ्र ही वृन्दारक, अभय, रौद्रकर्मा और दुर्विमोचन भीमसेन के बाणों से धराशायी हुए। यही गति विन्द, अनुविन्द, सुदर्शन तथा सुवर्मा की भी हुइ। शेष धृतराष्ट्र-पुत्र भयभीत होकर, अपने प्राण बचाते हुए, भाग खड़े हुए।

अपनी सेना का व्यापक विनाश देख, द्रोण ने भीमसेन के सम्मुख पहुँचकर उन पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की, जिससे उनका रथ खण्डित हो गया। रथहीन होते ही वे गदा लेकर भूमि पर कूद पड़े और उसे फेंककर मारते हुए दौड़कर द्रोण के रथ के पास जा पहुँचे। झटके के साथ उन्होंने द्रोण के रथ का जुआ पकड़कर उठाया और

रथ को उलट दिया। कौरव-सेना उनका यह अभूतपूर्व पराक्रम चकित होकर देखती रह गयी।

भीमसेन एक अन्य रथ लेकर आगे बढ़े तो कृतवर्मा की सेना ने उन्हें रोकने का प्रयास किया। उसे भी नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, आगे बढ़कर उन्होंने सात्यकि को युद्ध करते देखा। उसके साथ मिलकर शत्रु-सेना को छिन्न-भिन्न करके, आगे बढने पर, उन्हें अर्जुन को जयद्रथ की ओर बढ़ने के प्रयास में भयंकर युद्ध करते हुए देखा। तभी कर्ण ने भीमसेन पर आक्रमण किया, किन्तु एक क्षुरप्र द्वारा उसका धनुष काटते हुए वे सात्यकि एवं अर्जुन के पास जा पहुँचे।

उन तीनों को जयद्रथ की ओर बढ़ते देख दुर्योधन ने क्रोध में भरकर द्रोण को ललकारा, "गुरुदेव! ये लोग आपको परास्त करके आगे बढ़े हों, यह तो मानने योग्य बात नहीं है। आप उन्हें बढ़ने का अवसर देकर जयद्रथ के साथ विश्वासघात कर रहे हैं। वह केवल आप पर विश्वास करके युद्ध-क्षेत्र में रुका था। उसके प्राण बचाना आपका कर्तव्य है।"

द्रोण ने भी पलटकर दुर्योधन को फटकारते हुए कहा, "यह आरोप प्रत्यारोप का नहीं, प्राणों की चिन्ता त्यागकर युद्ध का समय है। जयद्रथ तो हमारे इस युद्ध द्यूत का सबसे मूल्यवान मोहरा है... उसे तो बचाना ही होगा। उसे बचाकर ही हम अर्जुन से मुक्ति पा सकते हैं, अन्यथा कभी नहीं। तुम जाकर उसकी रक्षा करो... मैं यहाँ इन तीनों को देखता हूँ।"

दुर्योधन ने योजना बनाकर पांचाल कुमार उत्तमौजा तथा युधामन्यु पर बाण बरसाना प्रारम्भ किया। वे दोनों ही अर्जुन के रथ के चक्र-रक्षक थे। उन दोनों के साथ युद्ध करके दुर्योधन ने उन दोनों के रथों को खण्डित कर दिया... किन्तु उसी बीच उन दोनों ने भी दुर्योधन के सारथि को मारकर उसका रथ खण्ड-खण्ड कर दिया। दुर्योधन, शल्य के रथ पर चढ़कर, बच निकला... और दोनों पांचालकुमार एक अन्य रथ पर बैठकर पुनः अर्जुन के पास जा पहुँचे।

भीमसेन किसी के रोके नहीं रुक रहे थे। कर्ण ने एक बार फिर उन्हें रोकने का प्रयास किया, किन्तु उसे अपना टूटा धनुष लेकर, रथहीन होकर, पुनः पीछे हटना पडा। कर्ण की दुर्गति देख दुर्योधन ने अपने अनुज दुर्मुख को भेजा... किन्तु वह भी कुछ ही समय में अपने रथ एवं सारथि-सहित धराशायी हो गया।

भीमसेन के इस क्रूर कर्म से क्रोधित होकर दुर्योधन के पाँच अनुज – दुर्मर्षण, दुःसह, दुर्मद, दुर्धर और जय, एक-जुट होकर भीमसेन पर टूट पड़े। उनके साथ पहुँचकर कर्ण ने भी भीमसेन पर प्रहार किया... किन्तु वे विकराल रूप धारण किए हुए अकेले ही उन सब पर प्रहार करते रहे। कुछ ही समय में उन पाँचो भाइयों ने, बाणों से आहत होकर, प्राण त्याग दिये।

अपने भाइयों को इस प्रकार धराशायी होते देख चित्र, उपचित्र, चित्राक्ष, चारुचित्र, शरासन, चित्रायुध और चित्रवर्मा बाण-वर्षा करते हुए भीमसेन पर टूट पड़े। किन्तु भीमसेन के पराक्रम के आगे वे कुछ नहीं कर पा रहे थे। उनको निर्बल पड़ते देख दुर्योधन ने शत्रुंजय, शत्रुसह, चित्रवाण, अग्रायुध, दृढ़, उग्रसेन और विकर्ण को भी भाइयों की रक्षा के लिए भेजा। कर्ण भी उनकी रक्षा के लिए भीमसेन पर निरन्तर बाण वर्षा कर रहा था। किन्तु भीमसेन, स्वयं ऊपर से नीचे तक बाणों से बिंध जाने पर भी, अकेले ही उन सबको अपने बाणों, शक्तियों, तोमरों आदि से हताहत कर रहे थे। देखते ही-देखते दुर्योधन के वे चौदहों अनुज भी खेत रहे।

धृतराष्ट्र-पुत्रों का यह भीषण विनाश देखकर कर्ण की आँखों मे आँसू आ गये.. वह लज्जित भी था कि यह दुर्दशा स्वयं उसकी आँखो के सम्मुख हुई। वह क्रोध मे भरकर, सारे अस्त्र शस्त्र लेकर भीमसेन पर टूट पड़ा। किन्तु तभी भीमसेन ने अपने धनुष पर एक कर्णी चढ़ाकर ऐसा मारा कि कर्ण का दाहिना कान कटकर पृथ्वी पर जा गिरा। उस प्रहार से बुरी तरह आहत होकर कर्ण रथ के कूबर को पकड़कर बैठ गया.. उसे कुछ देर के लिए मूर्च्छा आ गयी। कुछ देर में जब उसे चेत हुआ तो उसने देखा कि इस बीच भीमसेन ने सिन्धु, सौवीर और कौरव-सेना के अनेक योद्धा मार गिराये हैं।

कर्ण का क्रोध पुनः भड़क उठा और अपने प्राणों की चिन्ता किये बिना, आगे बढ़कर उसने भीमसेन को अपने दुर्वचनों के साथ ही बाणों से भी घायल करना प्रारम्भ किया। उसने भीमसेन का रथ तोड़कर उन्हें भूमि पर गिरा दिया। इसी बीच अर्जुन तथा सात्यकि वहाँ आ पहुँचे और उन तीनों के सम्मिलित प्रहार से घबराकर कर्ण पीछे हट गया.. और भीमसेन, सात्यकि के रथ पर जा बैठे।

श्वेत अश्वों से जुते रथ पर आरूढ़, सात्यकि की ओर ध्यान जाते ही अर्जुन चिन्तित हो उठे थे.. क्योंकि वे उसे युधिष्ठिर की रक्षा का भार सौंपकर आये थे। साथ ही उन्हें यह भी चिन्ता थी कि सूर्य ढल रहा है, और जयद्रथ को मारने का समय निकलता जा रहा है। भीमसेन तथा सात्यकि ने उन्हें सब चिन्ता छोडकर जयद्रथ की ओर बढ़ने का परामर्श दिया और स्वय वे दोनों अर्जुन के मार्ग में आने वाले योद्धाओं से लड़ने में व्यस्त हो गये।

सात्यकि को अर्जुन की रक्षा में तत्पर देख, भूरिश्रवा ने उस पर आक्रमण किया। भयंकर युद्ध में, दोनों ने ही एक दूसरे के रथ के घोडों को मार डाला, अनेक बार धनुषों को काट गिराया। वे दोनों रथहीन होकर, ढाल-खड्ग हाथ में लिये एक-दूसरे पर टूट पड़े और... पैंतरे बदलते हुए, आविद्ध, आप्लुप्त, सृत, सम्पात और समुदीर्ण

आदि प्रकार के वार करने लगे। उनकी ढालें कटीं और खड्ग टूटे, तो वे बाहु-युद्ध में उलझकर तोमर, अंकुश और लासन आदि बत्तीसों पेंच लगाते हुए गुँथ गये। कुछ देर बाद, भूरिश्रवा ने सात्यकि को पृथ्वी पर गिराया और पास पड़ा एक खड्ग उठा लिया...

किन्तु वह वार करे... इससे पहले ही, सात्यकि को मरणासन्न देख, अर्जुन ने एक पैना बाण मारकर, भूरिश्रवा की खड्ग-प्रहार करती हुई भुजा काट गिरायी। भुजा कटते ही, पीड़ा से कराहते हुए, भूरिश्रवा ने कहा, "अर्जुन! मैं तो सात्यकि से युद्ध कर रहा था... तुमने बीच में मुझ पर प्रहार करके युद्ध के नियम-विरुद्ध ही नहीं, अधर्म का कार्य किया है..."

यह कहते हुए वह, बायें हाथ से भूमि पर बाण बिछाकर, मृत्यु पर्यन्त उपवास का व्रत लेकर बैठ गया। तभी झटके के साथ सात्यकि ने उठकर एक खड्ग उठाया और... अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृष्ण, अर्जुन आदि के रोकते रोकते, बलपूर्वक प्रहार करके भूरिश्रवा का मस्तक काट गिराया। यह निर्मम हत्या देख सभी कौरव योद्धा उसकी तथा कृष्ण एवं अर्जुन की निन्दा करने लगे। उन सभी को धिक्कारते देख सात्यकि ने चिल्लाकर कहा, "अरे धर्म का ढोंग करने वालो! जब तुम लोगो ने एक शस्त्रहीन बालक की हत्या की थी, तब तुम्हारा धर्म कहाँ गया था?... सुन लो.. कान खोलकर सुन लो! धर्म-अधर्म, नीति-अनीति आदि किसी भी प्रकार की चिन्ता किये बिना, मैं अन्तिम श्वास तक तुम सबका विनाश करता रहूँगा।"

भूरिश्रवा के वध के समाचार की अवहेलना करते हुए दुर्योधन ने कर्ण से कहा, "रोको, कर्ण! अर्जुन को रोको। सूर्यास्त में अधिक समय नहीं है... यदि तब तक जयद्रथ बच गया, तो हमें अर्जुन से सहज ही मुक्ति मिल जाएगी। हमारी विजय सुनिश्चित हो जाएगी। हम जीवन भर राज-सुख भोगेंगे..."

कर्ण का शरीर, भीमसेन के बाणो से त्रस्त होने के कारण, हिलने डुलने की स्थिति में भी नहीं था... किन्तु अर्जुन द्वारा आत्म-दाह की कल्पना से प्रेरित होकर वह उठ खड़ा हुआ, और दुर्योधन, वृषसेन, शल्य, अश्वत्थामा, कृपाचार्य आदि के साथ बढ़कर उसने अर्जुन को घेर लिया।

अर्जुन अपनी पूरी शक्ति लगाकर उन सभी महारथियों से युद्ध कर रहे थे . और वे सब विवश होकर पीछे हटते जा रहे थे। उन सबके अड़े हुए रथों के बीच से, कृष्ण को अपना रथ आगे बढ़ाना सहज नहीं लग रहा था... और साथ ही, उनकी दृष्टि रह-रहकर पश्चिम क्षितिज पर ढलते हुए सूर्य की ओर चली जाती थी।

कुछ ही क्षणों में उनकी दृष्टि जयद्रथ पर पड़ी... किन्तु उसके आगे छः महारथियों की अभेद्य रक्षा-पंक्ति थी। कृष्ण ने देखा कि अस्तोन्मुख सूर्य के ऊपर

कुछ बादल घिर आये हैं... और जयद्रथ तथा उसके सभी रक्षक महारथी अर्जुन से युद्ध में ऐसे तल्लीन हैं कि उनका ध्यान सूर्य की ओर नहीं है।

"अर्जुन!" कृष्ण ने पुकारते हुए कहा, "अब क्या होगा... सूर्य अस्त हो गया... तुम्हारा श्रम व्यर्थ हुआ।"

उनका चिन्तित स्वर सुनकर वहाँ सभी महारथियों के हाथ शिथिल पड़ गये... उनकी दृष्टि पश्चिम की ओर उठ गयी। क्षितिज पर सूर्य को न देखकर वे प्रसन्नता में कोलाहल करने लगे।

"हमारा उद्योग सफल हुआ..."

"आत्मदाह करो अर्जुन!"

"गाण्डीव फेंककर आओ, अर्जुन! मैं तुम्हारी चिता बनाऊँगा।"

जयद्रथ भी अट्टहास करता हुआ अर्जुन के सम्मुख आ पहुँचा, "चलो अर्जुन! अपना वचन पूरा करके दिखाओ।"

कौरवों के इस विजयोल्लास के बीच कृष्ण की दृष्टि पश्चिमी क्षितिज पर टिकी थी, वे मन-ही-मन उस तैरते हुए शिशिर कालीन मेघ से और तीव्र गति से हटने के लिए प्रार्थना कर रहे थे...

कि तभी उन्हें अस्ताचलगामी सूर्य का दाहिना भाग उघरता हुआ दिखाई दिया। दूसरे ही क्षणांश में उन्होंने विजयोल्लास में झूमते हुए दुर्योधन तथा उसके सहयोगी योद्धाओं के साथ ही प्रस्तर मूर्ति बने खडे हुए अर्जुन को देखा।

"अर्जुन..." कृष्ण ने अर्जुन को झकझोरते स्वर में कहा, "चलाओ बाण... सूर्य अभी नहीं डूबा... जयद्रथ तुम्हारे सम्मुख है।"

इससे पहले कि कोई कुछ समझे, अर्जुन ने त्वरित गति से एक विशाल अर्धचन्द्राकार बाण चलाकर जयद्रथ का मस्तक काट गिराया।

"यह क्या किया अर्जुन?" दुर्योधन ने विस्मित होते हुए क्रोधित स्वर में पूछा, "सूर्यास्त के बाद..."

किन्तु तब तक उसकी दृष्टि क्षितिज पर दमकते हुए लाल सूर्य की ओर उठ चुकी थी... उसका आक्षेप भरा वाक्य अधूरा ही छूट गया। वे सब दुःख एवं विस्मय मे प्रस्तर मूर्ति बने खड़े रह गये।

दुर्योधन के आँसू नहीं थम रहे थे.. अर्जुन से मुक्ति पाने के लिए उसने जो दाँव खेला, वह सारा उद्योग ही व्यर्थ हो गया। उस दिन के संग्राम में एक ओर तो अनुजा का पति जयद्रथ मारा गया और दूसरी ओर उसके इकतीस अनुजों को प्राणों की बलि देनी पड़ी... सेना का घोर विनाश हुआ, वह अलग। अनुमान था कि लगभग आठ अक्षौहिणी सेना मारी गयी। प्रारम्भ के तेरह दिनों में, पाण्डव-सेना के विनाश से जो उत्साह उसे प्राप्त हुआ था, वह सब एक दिन में ही ध्वस्त हो गया... सारा परिदृश्य

ही बदल गया... सारा गणित ही उलट गया।

इधर, पाण्डव-सेना का उत्साह आकाश छू रहा था। उनका शंखनाद एवं जयघोष सुनकर युधिष्ठिर का मन शान्त हुआ... कि अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई... और उसका जीवन सुरक्षित है। उन्होंने तूर्य और भेरी बजवाकर अपने योद्धाओं को हर्षित किया। अपने हर्षोन्माद में, यह भूलकर कि सूर्यास्त हो चुका है, पाण्डव सेना द्रोणाचार्य पर टूट पड़ी। उधर, द्रोणाचार्य को भीषण युद्ध में संलग्न देखकर अर्जुन ने भी कौरव सेना का संहार प्रारम्भ किया।

जयद्रथ के वध से क्रोधित होकर कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा ने अर्जुन पर आक्रमण किया। अर्जुन उनके घातक बाणो का उत्तर तो दे रहे थे, किन्तु उनका मन उन्हें गुरु एवं गुरुपुत्र पर प्रहार करने से रोक भी रहा था और धिक्कार भी रहा था। कुछ ही देर में कृप घायल होकर पीछे हट गये और अश्वत्थामा भी भाग खड़ा हुआ.. तब कर्ण ने अर्जुन पर आक्रमण किया। कर्ण को बढ़ता देख, सात्यकि तथा पांचालकुमार युधामन्यु तथा उत्तमौजा ने, उसे रोकते हुए, बाण वर्षा प्रारम्भ की। भीषण युद्ध के बाद, सात्यकि ने कर्ण को, ऊपर से नीचे तक घायल करके, रथहीन भी कर दिया। तब कर्णपुत्र वृषसेन, शल्य और अश्वत्थामा ने चारो ओर से आकर सात्यकि को घेर लिया। किन्तु सात्यकि के हस्त-लाघव एवं पराक्रम के आगे उनकी एक न चली।

जब घना अन्धकार घिर आया, तब दोनों सेनाओं ने युद्ध विराम करते हुए अपने शिविरों की ओर प्रस्थान किया।

संग्राम भूमि में धराशायी शत्रु सेना को देखते हुए अर्जुन जब युधिष्ठिर के पास पहुँचे तो प्रसन्नता के मारे अश्रु बहाते हुए युधिष्ठिर ने दौडकर कृष्ण एवं अर्जुन को अपने हृदय मे लगा लिया। उनसे कुछ कहते नहीं बन रहा था। तभी भीमसेन तथा सात्यकि ने भी आकर उन्हे प्रणाम किया। वे सभी एक दूसरे के अभूतपूर्व पराक्रम एवं विजय में योगदान के लिए प्रशसा करते नहीं अघाते थे।

अपने शिविर में विक्षिप्त सा घूमता हुआ दुर्योधन रह रहकर अपने आप को धिक्कार रहा था। इतने अनुजों, सुहृद मित्रों एवं सहयोगियों तथा आधी से अधिक सेना गवाँकर उसे पराजय की छाया स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। रह रहकर उसके कानो मे विदुर व्यास, धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि के चेतावनी भरे तथा मनुहारते हुए स्वर गूँज उठते थे। किन्तु वह कहाँ धोखा खा गया...? कैसे धोखा खा गया..? यह असम्भव गणित कैसे सम्भव हो गया? यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। सात अक्षौहिणी सेना ग्यारह अक्षौहिणी पर कैसे भारी पड़ गयी? और वह भी पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण

जैसे पराक्रमी योद्धाओं के रहते? उसकी आँखों के आगे रह-रहकर अन्धकार छा जाता था... और लगता था जैसे उसके मस्तिष्क की धमनियाँ फटकर रक्त बहाने लगेंगी।

वह उस विक्षिप्त मनःस्थिति में ही द्रोण के पास गया।

"यह क्या हो गया आचार्य?" उसने हताशा में चिल्लाते हुए कहा, "यह कैसे हो गया? आप अर्जुन को रोक कैसे नहीं पाये? हमारी सात अक्षौहिणी सेना एक दिन में, केवल एक दिन में खेत रही... मात्र इस कारण न! कि अर्जुन आपका प्रिय शिष्य है। इसी कारण आप हमारी उपेक्षा करते रहे! अर्जुन को न सही, उस मोटे भीमसेन को तो रोकते, जिसने मेरे इकतीस अनुजों की हत्या कर दी... निर्दयतापूर्वक मार दिया उन्हें। उस सात्यकि का ही वध करते जो काल का अवतार बना हुआ हमारी सेना का संहार करता घूम रहा था। उस पाखण्डी युधिष्ठिर को ही बन्दी बनाकर दिखाते... या जयद्रथ की ही रक्षा करते... कि अर्जुन का आत्म-दाह देखकर मेरे हृदय की ज्वाला शान्त होती। अरे, कुछ तो करते आप! कुछ तो कर ही सकते थे।"

द्रोण ने दुर्योधन की मनःस्थिति समझते हुए, शान्त रहकर ही, उसे समझाने का बहुत प्रयत्न किया... किन्तु वह कुछ भी समझने की स्थिति में नहीं था। हारकर उन्होंने सूर्योदय के बहुत पहले ही, पाण्डवों तथा सृजयों की सेना पर आक्रमण का निर्णय लिया। अपनी विक्षिप्तता एवं रणोन्माद में दुर्योधन ने भी अपनी सेना को युद्ध के लिए निकलने की आज्ञा दी।

कुछ ही समय में, रात्रि की नीरवता भग करते हुए, दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध छिड गया। दुर्योधन ने अपना जीवन दाँव पर लगाकर ऐसी भीषण बाण-वर्षा की कि पाण्डव सेना के पाँव उखड़ने लगे। भीमसेन, नकुल, सहदेव, विराट, द्रुपद, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न तथा द्रौपदी-पुत्रों आदि अनेक योद्धाओं को आहत होकर पीछे हटना पड़ा। तब युधिष्ठिर क्रोध में भरकर स्वय उसके सम्मुख पहुँचे और उन्हे टक्कर दी। भल्ल मारकर उन्होंने दुर्योधन का रथ तोड़ डाला, धनुष काट दिया और तीन तीखे सायकों मे उसका वक्षःस्थल भी बींध दिया। उस आघात से व्याकुल हो वह अचेत होकर रथ की बैठक में लुढ़क गया।

दूसरी ओर, अर्जुन, सात्यकि, भीमसेन, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद, घटोत्कच आदि ने द्रोणाचार्य को जा घेरा। किन्तु द्रोण उस समय ऐसे उन्मत्त होकर युद्ध कर रहे थे कि कोई भी उनके सम्मुख न टिक सका। शिबि ने कुछ साहस करके उनसे टक्कर लेने का प्रयास किया... उनके रथ को खण्डित भी किया, किन्तु तभी द्रोण ने एक तीखा बाण मारकर शिबि का कुण्डल-मण्डित सिर काट गिराया।

उधर कर्ण ने कलिंगराज के पुत्र तथा अपने अनेक भाइयों को लेकर भीमसेन पर आक्रमण किया, किन्तु भीमसेन ने कर्ण के देखते कलिंगकुमार के साथ ही ध्रुव तथा जयरात को भी मार गिराया। यह देखकर दुर्मद तथा दुष्कर्ण ने अनेक योद्धाओं सहित

भीमसेन को घेरना चाहा, किन्तु भीमसेन ने दुर्योधन के उन दो अनुजों को भी कुछ ही क्षणों में मुक्के मार-मारकर यमलोक पहुँचा दिया।

उधर, सात्यकि को ढूँढ़ते हुए आकर सोमदत्त ने आक्रमण किया... उसे सात्यकि से अपने पुत्र भूरिश्रवा के वध का प्रतिशोध लेना था। किन्तु सात्यकि-जैसे युवा एव सिद्ध धनुर्धर के आगे उसकी एक न चली। वह घायल होकर अपने रथ की बैठक में ऐसा गिरा कि उसके सारथि को रथ हटा ले जाना ही हितकर लगा।

सोमदत्त को घायल देख द्रोणाचार्य ने सात्यकि पर आक्रमण किया तभी युधिष्ठिर उसे बचाकर सामने खड़े हो गये। धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव, शिखण्डी विराट, द्रुपद आदि भी वहीं पहुँचकर द्रोण पर शस्त्र-प्रहार करने लगे। पर द्रोण के रण-कौशल एवं पराक्रम के सम्मुख उन सभी को भागने के लिए विवश होना पड़ा।

अपनी सेना में भगदड़ देख, अर्जुन ने कृष्ण से कहकर अपना रथ द्रोण की ओर बढ़ाया। भीमसेन ने भी अपने सारथि विशोक को द्रोण की ओर ही चलने का आदेश दिया। पांचाल, सृंजय, मत्स्य, चेदि, कारूष, कोसल और केकय महारथी भी उनके साथ चल पड़े। देखते ही देखते, वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ गया।

भूरिश्रवा के वध से विचलित अश्वत्थामा भी सात्यकि के वध का निश्चय करके बढ़ा। किन्तु उसे घटोत्कच के पुत्र अजनिपर्वा ने, विशाल राक्षसी सेना के साथ, बीच में ही रोककर टक्कर दी। उनके भीषण युद्ध में अंजनिपर्वा को वीरगति प्राप्त हुई। इससे आहत होकर घटोत्कच ने अनेक प्रकार से माया फैलाते हुए आक्रमण किया किन्तु अश्वत्थामा के पराक्रम के आगे किसी का वश नहीं चल रहा था। अश्वत्थामा ने अभूतपूर्व रण-कौशल दिखाते हुए एक अक्षौहिणी राक्षसी-सेना का संहार कर दिया और पैने नाराचों से पाण्डवों को बींधकर द्रुपद के अनुज शत्रुंजय तथा पुत्र सुरथ को मार डाला। बलानीक, जयानीक तथा जयाश्व को भी धराशायी कर दिया हेममाली पृषघ्न, चन्द्रसेन और कुन्तिभोज के दस पुत्रों को भी यमलोक पहुँचा दिया।

द्रोण तथा अश्वत्थामा के पराक्रम से हताहत होकर पाण्डव-सेना त्राहि-त्राहि कर रही थी। हर प्रकार त्रस्त होने पर भी, निराशा त्यागकर, युधिष्ठिर, भीमसेन, धृष्टद्युम्न और सात्यकि ने युद्ध के लिए नयी रणनीति बनाकर पुनः आक्रमण किया।

उधर, प्रहार का अवसर ढूँढ़ते हुए आकर, सोमदत्त ने पुनः सात्यकि पर आक्रमण किया। किन्तु भीमसेन एवं सात्यकि ने मिलकर बाण-वर्षा करते हुए उसे मूर्छित कर दिया। अपने पुत्र को मूर्छित देख बाह्लीक ने क्रोधपूर्वक उन पर आक्रमण किया किन्तु कुछ देर तक भयंकर युद्ध करने के बाद भीमसेन के एक गदा प्रहार से उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

तभी धृतराष्ट्र के दस पुत्रों ने आकर भीमसेन को घेर लिया और वे बाण-वर्षा

द्वारा उन्हें बींधने लगे। किन्तु भीमसेन ने, एक-एक करके, नागदत्त, दृढ़रथ, महाबाहु, अयोभुज, दृढ़, सुहस्त, विरज, प्रमाथी, उग्र तथा अनुयायी – सभी को मार गिराया।

उन्हें भूमि पर गिरता देख, शकुनि के पाँचों भाई – गवाक्ष, शरभ, विभु, सुभग, और भानुदत्त – वेगपूर्वक भीमसेन पर टूट पडे। किन्तु भीमसेन के तीखे बाणों से आहत होकर उन सबको शीघ्र ही अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा।

दूसरी ओर युधिष्ठिर तथा अर्जुन कौरव-सेना का विनाश किये जा रहे थे।

अपनी सेना का विनाश एवं उसे भयभीत देख, दुर्योधन ने एक बार फिर जाकर द्रोण को कुछ करने के लिए ललकारा। उसके व्यंग्य से आहत एवं विवश होकर द्रोण बलपूर्वक युधिष्ठिर पर टूट पड़े। दोनों में भीषण युद्ध हुआ.. दोनों ही बड़ी देर तक एक दूसरे के घातक शस्त्रों को निष्फल करते रहे। अन्त में हारकर, द्रोण युधिष्ठिर को छोड़कर हटे और द्रुपद की सेना पर बाण बरसाने लगे। तब भीमसेन ने उत्तर की ओर से और अर्जुन ने दक्षिण की ओर से उन पर आक्रमण किया। उनसे घिरकर द्रोण एवं दुर्योधन की एक न चली।

तब दुर्योधन ने कर्ण से कुछ करने को कहा.

"चिन्ता त्याग दो, मित्र दुर्योधन!" कर्ण ने आत्मविश्वास भरे स्वर में उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "और देखो. अब मैं क्या करता हूँ! अर्जुन के लिए ही अब तक मैंने अपना ब्रह्मास्त्र बचा रखा था। आज मैं अर्जुन को मारकर शेष चारो भाइयों को लाकर तुम्हारे चरणों में डाल दूँगा।"

"बहुत हो चुकी आत्म-श्लाघा.." कर्ण की बात सुनकर कृपाचार्य ने व्यंग्य से हँसते हुए कहा, "अरे कर्ण! तुम्हारा बड़बोलापन सुनकर तो हम थक चुके। न कभी तुमसे कुछ हुआ और न कभी कुछ होगा। ये व्यर्थ की डींग हाँकना बन्द करो.. और जो हो सके. वह करो।"

"अरे धूर्त बूढ़े!" कर्ण ने सहसा क्रोधित होते हुए कृप से कहा, "मैं कुछ कहता हूँ तो तुझे क्यों बुरा लगता है! मैं जो कहता हूँ, वह करके भी दिखाता हूँ। ब्राह्मण हो, तो बस शास्त्रों तक ही अपना पाण्डित्य सीमित रखो... यह शस्त्र-संचालन तुम्हारे वश की बात नहीं है। बुढ़ापे के कारण भी तुम व्यर्थ हो चुके हो। फिर कभी मेरे विरुद्ध मुँह खोला तो तुम्हारी जिह्वा काट लूँगा..."

अपने मामा के प्रति ऐसे अपमानजनक शब्द सुनकर, अश्वत्थामा, खरी-खोटी सुनाता हुआ, खड्ग निकालकर कर्ण की ओर झपटा... किन्तु तभी दुर्योधन तथा कृपाचार्य ने किसी प्रकार उसे पकड़कर रोका।

कर्ण को बढ़ता देख, पाण्डव तथा पांचाल योद्धा अपनी सेनाओं-सहित उस पर टूट

पड़े। वे सभी कर्ण को विवाद की जड़ समझते थे। किन्तु कर्ण ने अभूतपूर्व पराक्रम दिखाते हुए उनका विनाश प्रारम्भ किया। यह देख अर्जुन ने आगे बढ़कर उसे टक्कर दी और भीषण युद्ध करते हुए उसे, रथविहीन करके, अपने पैने बाणों से ऐसा बींधा कि उसे विवश होकर कृपाचार्य के रथ पर बैठकर पीछे हटना पड़ा। कर्ण को पराजित देख कौरव-सेना में खलबली मच गयी।

अपनी सेना का विनाश देख दुर्योधन विक्षिप्त हो उठा और, भागते सैनिको को पुनः लौटने के लिए प्रेरित करता हुआ, स्वयं ही अर्जुन से टकराने के लिए बढ़ा। उसका इस प्रकार अर्जुन के सम्मुख जाना कृप तथा अश्वत्थामा को आत्मघात जैसा प्रतीत हुआ। उन्होंने तत्परतापूर्वक उसे रोका, तो निराशा एवं क्रोध में वह बोल पड़ा "जब कोई कुछ नहीं कर रहा है... तो मैं जीकर भी क्या करूँगा? मर जाने दो मुझे। आचार्य द्रोण पाण्डव-प्रेम के कारण निष्क्रिय हैं. कौन जाने तुम भी मन-ही मन उनका हित चाहते हो! अन्यथा कुछ करते क्यों नहीं? मैं जानता हूँ तुम्हारा पराक्रम। तुम चाहो तो अकेले ही मुझे विजय दिला सकते हो... मत रोको मुझे। मर जाने दो मुझे... अन्यथा आगे बढ़कर कुछ करो. कुछ करो.."

"सन्देह न करो गान्धारीनन्दन!" अश्वत्थामा ने उसे शान्त करते हुए कहा "पाण्डवों के प्रति पिताश्री के मन में स्नेह है.. मेरा भी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इस युद्ध में उससे कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा। वे भी अपने प्राणों की चिन्ता त्यागकर युद्ध कर रहे हैं और मैं भी कर रहा हूँ। तुम अन्य किसी से युद्ध करो मैं अर्जुन को देखता हूँ।"

अश्वत्थामा ने प्रबल वेग के साथ, पाण्डव-सेना को चीरते हुए, अर्जुन की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। तभी उसे ललकारते हुए आक्रमण करके धृष्टद्युम्न ने रोका। दोनो में भयंकर युद्ध हुआ.. किन्तु अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न की सेना को निर्ममतापूर्वक हताहत करके धृष्टद्युम्न को पीछे हटने पर विवश कर दिया। सृंजय तथा पांचाल सेनाओं में भगदड़ मच गयी।

अपनी सेना को छिन्न-भिन्न होता देख भीमसेन तथा युधिष्ठिर ने बढ़कर अश्वत्थामा को घेर लिया और अम्बष्ठ, मालवा, बंगाल, शिबि तथा त्रिगर्त सैनिको का व्यापक विनाश किया, जिनमें शूरसेन, अभीषाह जैसे महारथी भी मारे गये। उधर अर्जुन के बाण-प्रहारों से कौरव सेना भी त्रस्त थी।

दूसरी ओर सात्यकि तथा सोमदत्त एक-दूसरे को देखते ही युद्ध में गुँथ गये। बड़ी प्रखर बाण-वर्षा में दोनों ने ही एक-दूसरे के धनुष काट डाले और रथ को भी हानि पहुँचायी। किन्तु कुछ देर बाद, अवसर पाते ही, सात्यकि ने एक अग्नि तुल्य बाण मारकर सोमदत्त की छाती फाड़ दी।

यह देख युधिष्ठिर तथा अन्य प्रभद्रक योद्धा द्रोण पर टूट पड़े। उन्होंने द्रोण को

अपने शस्त्र-प्रहार से ऐसा आहत किया कि वे दो घड़ी के लिए रथ की बैठक में बैठने को विवश हो गये। तब युधिष्ठिर ने भीमसेन को साथ लेकर दुर्योधन पर आक्रमण करने की योजना बनायी।

दुर्योधन ने, अंधकार एवं पराजय से बिखरती हुई अपनी सेना को, पुनः व्यूह-बद्ध करके, हाथों में मशालें देकर आगे बढ़ाया। यह देख पाण्डव सैनिकों ने भी मशालें ले लीं. . और वह युद्ध भूमि जलती हुई मशालों के प्रकाश में और भी भयकर दिखाई देने लगी। दोनो सेनाओं में भयकर युद्ध चलता रहा।

युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर उनकी सेना एकजुट हो द्रोण पर टूट पड़ी। उस समय कृतवर्मा ने युधिष्ठिर को और भूरि ने सात्यकि को टक्कर दी। सहदेव का कर्ण ने और भीमसेन का दुर्योधन ने सामना किया। शकुनि ने नकुल को, कृपाचार्य ने शिखण्डी को और दुःशासन ने प्रतिविन्ध्य को टक्कर दी। अश्वत्थामा ने घटोत्कच को, वृषसेन ने द्रुपद को, शल्य ने विराट को और चित्रसेन ने नकुलनन्दन शतानीक को रोका। राक्षस अलम्बुष द्वितीय, जो जटासुर का पुत्र था, अपनी माया फैलाकर अर्जुन से जा भिड़ा।

इन द्वन्द्वों में कृतवर्मा को पराम्त होकर भागना पड़ा। कुछ देर टक्कर देने के बाद, भूरि को सात्यकि की शक्ति से आहत होकर प्राण गवाँने पड़े। भूरि को गिरता देख, अश्वत्थामा ने बलपूर्वक सात्यकि पर धावा किया। यह देख, घटोत्कच भीषण गर्जना करके बाण, वज्र, क्षुरप्र, अर्धचन्द्र, नाराच, नालीक आदि की वर्षा करता हुआ अश्वत्थामा पर टूट पड़ा। उसने अश्वत्थामा को बहुत पीडित किया, किन्तु कुछ देर बाद अश्वत्थामा ने एक बाण मारकर उसे अचेत कर दिया। उसे अचेत देख उसका सारथि उसे रणभूमि से हटा ले गया।

भीमसेन को द्रोण की ओर बढ़ते देख, दुर्योधन ने बाण-वर्षा करते हुए उन्हें रोका किन्तु भीमसेन ने एक विशाल गदा के प्रहार से उसके रथ को चूर-चूर करके उसके सारथि को भी मार गिराया। दुर्योधन को भागकर नन्दक के रथ पर शरण लेनी पड़ी।

दूसरी ओर, द्रोण की दिशा में बढ़ते सहदेव पर कर्ण ने आक्रमण किया और उसके सारथि तथा रथ के अश्वों को भी मार डाला। सहदेव ने रथहीन होते ही ढाल खड्ग हाथ में लेकर कर्ण पर प्रहार किया। किन्तु कर्ण के सम्मुख उसके सभी अस्त्र शस्त्र व्यर्थ गये। हारकर उसे जनमेजय के रथ पर शरण लेनी पड़ी।

इसी प्रकार, द्रोण की ओर बढते विराट को शल्य ने भयंकर बाण वर्षा करके घायल कर दिया। उनका सारथि उन्हे रणभूमि के बाहर ले गया.. और शल्य उत्साह

में भरकर विराट की सेना का संहार करने लगे। उनकी रक्षा के लिए बढ़ते हुए अर्जुन को अलम्बुष ने रोका, किन्तु अर्जुन उसे घायल करके भागते हुए द्रोण के निकट जा पहुँचे और कौरव-सेना का संहार करने लगे।

दूसरी ओर से द्रोण पर आक्रमण करने के लिए द्रुपद बढ़े, तो कर्णनन्दन वृषसेन ने बाण बरसाते हुए उन पर आक्रमण किया। दोनों ने एक-दूसरे पर भयंकर आघात किये... किन्तु अन्त में जब वृषसेन ने एक भल्ल मारकर उन्हें अचेत कर दिया तो उनका सारथि उन्हें रणभूमि से हटा ले गया। वृषसेन उत्साह में भरकर, सोमक-सेना को रौंदता हुआ, युधिष्ठिर के सम्मुख पहुँचा और भयंकर बाण-वर्षा करने लगा।

प्रतिविन्ध्य को कौरव-सेना का विनाश करते देख दु:शासन ने उसके सम्मुख पहुँचकर बाण बरसाना प्रारम्भ किया। दोनों ने ही एक-दूसरे को घायल करके, एक-दूसरे के रथ तोड़ डाले। फिर भी वे उन्मत्त होकर युद्ध करते रहे। भीषण संग्राम के बाद, नकुल ने एक बाण मारकर शकुनि को अचेत कर दिया... और उसका सारथि उसे रणभूमि के बाहर ले गया। इसी प्रकार शिखण्डी को आहत होकर कृपाचार्य के सामने से हटना पड़ा, और धृष्टद्युम्न ने एक भल्ल के प्रहार से द्रुमसेन का मस्तक काट गिराया।

दूसरी ओर, सात्यकि तथा धृष्टद्युम्न का कर्ण तथा वृषसेन के साथ भयंकर युद्ध हो रहा था। आर्त्त क्रन्दन से रणभूमि गूँज रही थी, जिसमें सात्यकि का रण कौशल देखते ही बनता था। उसने कुछ ही देर में वृषसेन को बाणों से बींधकर अचेत कर दिया... और उनकी रक्षा के लिए बढ़ते हुए दुर्योधन को भी रथहीन करके भागने पर विवश कर दिया।

इसी प्रकार, अर्जुन ने शकुनि को और धृष्टद्युम्न ने द्रोण को परास्त करके कौरव-सेना में भगदड़ मचा दी। उन्हें भागते देख अर्जुन, कृष्ण, शिखण्डी, धृष्टद्युम्न आदि ने उत्साह में भरकर अपने शंख बजाये।

अपनी सेना की पराजय देख दुर्योधन फिर विक्षिप्त हो उठा और, अन्य कोई विकल्प न पाकर, द्रोण तथा कर्ण को धिक्कारने लगा। उन दोनों के पास भी कहने को तो बहुत कुछ था, किन्तु स्थिति की दयनीयता देखते हुए वे, दुर्योधन को आश्वस्त करके, पुन: क्रोध में भरकर पाण्डव-सेना पर टूट पड़े। उनके प्रबल आवेग से प्रताड़ित होकर, पाण्डवी सैनिक अपने हाथ की मशालें फेंककर ऐसे भागे कि कृष्ण, अर्जुन, भीमसेन आदि खड़े देखते ही रह गये।

कृष्ण ने अपने भागते हुए सैनिकों को धैर्य बँधाकर रोका और आक्रमण के लिए नये व्यूह का निर्माण किया। भीमसेन भी अपनी सेना लेकर वहीं आ गये और उस व्यूह में स्थापित हुए। उन्होंने क्रोध में भरकर बाण बरसाते हुए द्रोण तथा कर्ण पर आक्रमण किया। धृष्टद्युम्न ने भी बढ़कर कर्ण को टक्कर दी और भीषण युद्ध करते हुए उसके रथ को तोड़ दिया।

कर्ण दूसरा रथ लेकर दुगुने वेग से सृंजय तथा पांचाली सेनाओं का विनाश करने लगा, तब युधिष्ठिर की प्रेरणा से अर्जुन ने कृष्ण से अनुरोध किया कि वे रथ कर्ण की ओर ले चलें... किन्तु कृष्ण की अपनी अलग ही योजना थी।

"अभी तुम्हारा उसके सम्मुख जाने का समय नहीं आया..." उन्होंने समझाते हुए कहा, "कर्ण के पास एक अकाट्य ब्रह्मास्त्र है... जिसे उसने तुम्हारे, केवल तुम्हारे लिए बचा रखा है। तुम्हारे पास उस शक्ति का कोई काट नहीं है।"

"इस भय से हम अपनी सेना का विनाश भी तो नहीं देखते रह सकते..." अर्जुन ने तर्क किया, "किसी को तो ..."

"किसी को..." कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "किन्तु तुम्हें नहीं। किसी ऐसे को जो उसे झेल सके।"

"ऐसा कौन होगा केशव?"

"इस समय मेरी दृष्टि में घटोत्कच ही उपयुक्त होगा. क्योंकि उसके पास दिव्य ही नहीं, राक्षसी एवं आसुरी अस्त्र भी हैं..." कृष्ण के मन में कोई ऊहापोह नहीं था।

कृष्ण ने घटोत्कच को, कर्ण से द्वैरथ युद्ध करके, उसका वध करने के लिए प्रेरित किया। उनका तर्क था कि, रात्रि का समय तथा घोर अन्धकार होने के कारण, घटोत्कच की मायावी विद्या द्वारा ही कर्ण पर विजय पायी जा सकती है।

"वत्स!" अर्जुन ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा, "सात्यकि तुम्हारे पीछे रहकर तुम्हारी रक्षा करते रहेंगे।"

किन्तु घटोत्कच स्वयं ही आत्म-विश्वास से भरा था। वह उन्हें प्रणाम करके, गर्जना करता हुआ, कर्ण की ओर बढ़ा। उसे बढ़ता देख दुर्योधन ने जटासुर-पुत्र अलम्बुष को भेजा, किन्तु कुछ ही समय में घटोत्कच ने उसे मारकर पुनः कर्ण की ओर अपना आठ पहियों वाला रथ, जिस पर चारों ओर रीछ का चमड़ा मढ़ा हुआ था, बढ़ाया। देखते ही देखते कर्ण तथा घटोत्कच में भयंकर युद्ध छिड़ गया। दोनों ही एक-दूसरे को तीखे बाणों तथा भल्लो, शक्तियों आदि से घायल करने लगे। कर्ण ने अनेक पैने बाण चलाये, किन्तु वे सभी घटोत्कच के चमचमाते हुए काँसे के कवच से टकराकर भूमि पर गिर पड़ते थे।

दूसरी ओर घटोत्कच ने विचित्र माया फैलाते हुए कर्ण को भ्रम में डाल दिया... वह देख ही नहीं पाता था कि वास्तविक शत्रु किधर है... और जो कुछ अन्धकार की प्राचीर के पार उसे दिखाई दे रहा है, उसमे कितना भ्रम है और कितना यथार्थ? कर्ण के इस विभ्रम का लाभ उठाकर घटोत्कच ने कौरव-सेना का व्यापक विनाश प्रारम्भ किया।

अपनी सेना के विनाश से विचलित होकर दुर्योधन ने राक्षस अलायुध को घटोत्कच की माया से निपटने के लिए भेजा। हिडिम्ब, बक तथा किर्मीर का वह सम्बन्धी, स्वयं ही भीमसेन से उनकी मृत्यु का प्रतिशोध लेना चाहता था। वह सहर्ष घटोत्कच से जा टकराया। यह देख भीमसेन ने भी आगे बढ़कर अलायुध की राक्षसी-सेना पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। सात्यकि की बाण-वर्षा भी राक्षसी सेना को रोकने का प्रयास कर रही थी। इसी बीच, घटोत्कच तथा अलायुध ने एक-दूसरे के धनुष काट गिराये, रथों को तोड़ दिया... और वे दोनों बाहु-युद्ध में गुँथ गये। कुछ देर के अभूतपूर्व मल्ल-युद्ध के बाद, घटोत्कच ने अलायुध को उठाकर, घुमाते हुए, पृथ्वी पर ऐसा पटका कि उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

दूसरे ही क्षण, वह कर्ण पर आक्रमण करने जा पहुँचा। कर्ण ने उस पर कर्णी, नाराच, शिलीमुख, नालीक, अशनि, वत्सदन्त, विपाट, क्षुरप्र आदि अनेक शस्त्र चलाये, किन्तु घटोत्कच पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। फिर जब घटोत्कच ने अन्धकार का आश्रय लेकर अपनी माया फैलायी तो कर्ण की बुद्धि फिर भ्रमित हो उठी। उसे लगा कि उसके सारे अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो रहे हैं... और न जाने कैसे छिपकर, घटोत्कच उसकी सेना का विनाश किये जा रहा है। कौरव सैनिक व्याकुल होकर इधर-उधर भागते थे... किन्तु, न जाने कैसे, दौड़ते हुए वे स्वयं ही घटोत्कच के जाल में जा पहुँचते थे। उनकी चीत्कार से रात्रि और भी भयावनी होती चली जा रही थी।

अपनी सेना का ऐसा हृदय विदारक विनाश देख दुर्योधन ने कर्ण को क्रोध-पूर्वक ललकारा, "मारो इसे.. मारते क्यों नहीं?"

"आश्चर्य है, गान्धारीनन्दन!" कर्ण ने विवश स्वर में कहा, "मेरा कोई शस्त्र इस पर सफल नहीं हो रहा है।"

"कैसे नहीं हो रहा है?" दुर्योधन ने दहाडते हुए कहा, "अपनी वह अमोघ शक्ति ही चलाओ।"

"वह तो..." कर्ण दुविधा में पड़ गया, "वह तो सुरक्षित है... अर्जुन के लिए।"

"अर्जुन पर कोई अन्य शस्त्र चला लेना..." दुर्योधन ने उतावले स्वर में कहा, "अभी तो इसका कुछ करो।"

"किन्तु अर्जुन!" कर्ण ने ऊहापोह की स्थिति में कहा, "अर्जुन कोई साधारण योद्धा नहीं है।"

"साधारण तो यह भी नहीं है..." दुर्योधन के तर्क में चिन्ता थी, "आज यदि इसने ही हमारी सेनाएँ समाप्त कर दीं, तो कल अर्जुन को मारकर भी हम क्या कर लेंगे?"

तभी घटोत्कच द्वारा प्रक्षेपित कुछ विस्फोटक शस्त्र सहसा दुर्योधन तथा कर्ण के बीच गिरे। दुर्योधन का रथ उलट गया और वह भूमि पर जा गिरा। कर्ण के रथ को भी झटका लगा... यदि वह अपने रथ का ध्वजदण्ड पकड़कर झूल न गया होता तो

सम्भवत: वह भी रथ से नीचे जा गिरा होता। उन दोनों रथों के बीच खड़े सैकड़ों सैनिक हताहत होकर चीत्कार करते हुए बिखर गये।

"मारो... मारो उसे..." दुर्योधन ने भयभीत स्वर में, चिल्लाते हुए, फिर कहा।

"आग्रह न करो मित्र..." कहते हुए कर्ण ने फिर अनेक घातक बाण धनुष पर चढ़ाये। किन्तु प्रहार करने के लिए घटोत्कच उसे कहीं भी नहीं दिखाई दिया।

"कर्ण!" दुर्योधन के स्वर में आदेश भी था.. और विनती भी, "यह विलम्ब क्यों?"

तभी एक और विस्फोटक शस्त्र उनके पास गिरा और अनेक सैनिकों के साथ दुर्योधन के रथ के अश्वों को भी धराशायी कर गया।

"वैजयन्ती... अपनी वैजयन्ती चलाओ कर्ण!" दुर्योधन ने करुण स्वर में चीत्कारते हुए कहा, "मेरी मृत्यु के बाद ही क्या अर्जुन को मारोगे?"

"ऐसा न कहो मित्र!" कर्ण ने विवश होकर कहा, "मेरा सारा उपक्रम बस तुम्हारे ही लिए तो है।"

अपने धनुष पर अमोघ वैजयन्ती का सन्धान करते हुए कर्ण ने मन को एकाग्र करके अन्धकार में खोजते हुए अपनी दृष्टि उधर दौड़ायी जिधर से विस्फोटक शस्त्र आ रहे थे। उन शस्त्रों द्वारा छोड़ी अग्नि रेखा से संकेत पाकर, कर्ण ने कान तक प्रत्यंचा खींची और वह शक्ति छोड़ दी। आकाशमार्ग को अपनी अग्नि-रेखा से विभाजित करती हुई वह शक्ति दूर गिरकर फटी तो चारों ओर दूर-दूर तक तीव्र अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी और, सहस्त्रों सैनिकों को धराशायी करती हुई रथों, अश्वों, गजों आदि को निगल गयी।

हताहत लोगों की चीत्कार के बीच, दूसरी ओर से, शस्त्र-प्रहार थमा तो दुर्योधन को विश्वास हो गया कि घटोत्कच भी धराशायी हो चुका होगा। कुछ ही क्षणों में कौरव-सेना ने पुन: आक्रमण करके इधर उधर बचे हुए पाण्डव-सेना के आहत सैनिकों को मार भगाया और हर्ष भरे स्वर में आकर घटोत्कच की मृत्यु की सूचना दी।

सुनकर दुर्योधन ने सन्तोष की साँस ली और मुस्कराते हुए कर्ण को साधुवाद दिया। किन्तु कर्ण के मुख पर निराशा पुती हुई थी... ऐसी हताशा, जो अनेक अनुजों की हत्या का समाचार सुनकर भी उस पर नहीं व्यापी थी।

"बढ़ो मित्र!" दुर्योधन ने उल्लसित स्वर में कहा, "अब विजय हमारी है। रौंद दो शत्रुदल को।"

उत्तर में कर्ण ने बड़ी करुण दृष्टि से उसकी ओर देखा... और रथ आगे बढ़ा दिया।

"तुम प्रसन्न नहीं हो मित्र!" दुर्योधन ने कुछ विस्मय में प्रश्न किया, "इतनी बड़ी

बाधा दूर हो गयी... जो हमारी सेना को दावानल की भाँति निगलती हुई, स्वयं हमारे प्राणों का संकट बनी हुई थी!"

"संकट तो अब दिखाई दे रहा है मुझे..." कर्ण ने बुझे स्वर में कहा।

"वह अर्जुन...!" दुर्योधन ने कर्ण का संकेत-सूत्र पकड़ते हुए कहा, "कल की चिन्ता तो कायर करते हैं मित्र! जब आज की इतनी बड़ी बाधा दूर हो गयी, तो कल भी कुछ हो ही जाएगा... अवश्य होगा।"

'किन्तु वैजयन्ती...' कर्ण की चिन्ता उसे ही घेरकर खड़ी रह गयी, दुर्योधन अपने रथ पर अन्य सेनापतियों को आदेश-परामर्श देता हुआ आगे बढ़ चुका था।

घटोत्कच के वध का समाचार सुनते ही सभी पाण्डव शोकाकुल हो उठे... उनकी आँखों में अश्रु भर आये। बस कृष्ण ही थे जो अपने मन की प्रसन्नता नहीं छिपा पाये... मुस्कान उनके अधरों पर ही नहीं फैली थी, नयनों से भी फूटी पड़ रही थी।

विस्मय में सबकी दृष्टि उन पर जा टिकी। कृष्ण ने उठकर सभी को सान्त्वना देते हुए कहा, "निःसन्देह, पुत्र की मृत्यु के समाचार से बढ़कर दुःखद और कुछ नहीं होता... किन्तु महाबली घटोत्कच ने कौरव-सेना का व्यापक विनाश करके, मृत्यु नहीं, अत्यन्त सम्मानजनक वीरगति प्राप्त की है। कर्ण ने उसे नहीं मारा... अपितु घटोत्कच ने अपने जीवन की बलि देकर कर्ण की मृत्यु का द्वार खोला है।"

"मँझले भैया!" उन्होंने शोक-मग्न खड़े भीमसेन के निकट जाकर, उन्हे हृदय से लगाकर सान्त्वना देते हुए कहा, "पुत्र घटोत्कच का बलिदान हमारी विजय का मार्ग प्रशस्त कर गया है। अब अर्जुन को कर्ण की अमोघ-शक्ति से भय नहीं रहा.. और अब कर्ण को कोई नहीं बचा सकता। अब विजय हमारी है।"

घटोत्कच की मृत्यु से उत्साहित होकर कौरव-सैनिक नये आवेग में भरकर पाण्डव सेना पर टूट पड़े। कर्ण तथा द्रोण की बाण-वर्षा से सृंजय तथा पांचाल सेनाओं में त्राहि-त्राहि मच गयी। तब युधिष्ठिर के आदेश पर, अपना दुःख भुलाकर, जनमेजय, शिखण्डी, यशोधर, नकुल, सहदेव, द्रुपद, विराट, सात्यकि, अर्जुन आदि ने एकजुट होकर, द्रोण पर आक्रमण किया। दोनों सेनाओं में पुनः भयंकर युद्ध छिड़ गया, यद्यपि उस समय साधारण सैनिक ही क्या, बड़े-बड़े रथी-महारथी भी निद्रा के कारण दीन एवं शिथिल हो रहे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि कौन-सा शस्त्र उठाएँ और कैसे प्रहार करें... किस पर प्रहार करें? कुछ निद्रा के वशीभूत होकर अश्व से गिर रहे थे और कुछ रथ पर बैठे-बैठे ही सोने लगे थे। कुछ निद्रा में ऐसे बेसुध थे

कि शत्रु के प्रहार से कोई पीड़ा पाये बिना ही प्राण त्याग देते थे।

रात्रि का तीसरा प्रहर बीत रहा था, अर्जुन ने यह स्थिति देख, द्रोण के सम्मुख पहुँचकर प्रस्ताव किया कि कुछ देर के लिए युद्ध-विराम किया जाए। द्रोण स्वयं सैनिकों की दुर्दशा देखकर चिन्तित थे। उन्होंने अर्जुन का प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार किया और युद्ध विराम की घोषणा की। यह घोषणा सुनते ही अधिकांश सैनिक अपने शस्त्र रखकर वहीं, भूमि पर लेटकर ही, निद्रा-मग्न हो गये... और कुछ अपने शिविर की ओर दौड़े।

पूर्व-क्षितिज पर लालिमा देखते ही, समस्त सैनिकों ने रणभूमि में ही सन्ध्या-वन्दन करके अपने शस्त्र उठाये।

दुर्योधन के आग्रह पर द्रोण ने कौरव-सेना को दो भागों में विभक्त किया। उन पर पाण्डवों के प्रति पक्षपात का आरोप दुहराते हुए दुर्योधन ने, कर्ण, दु:शासन, शकुनि को साथ लेकर, आधी सेना-सहित जाकर अर्जुन को मारने का उत्तरदायित्व लिया... और, शेष सेना को साथ लेकर, द्रोण ने सोमक, पाण्डव तथा पांचाल योद्धाओं पर आक्रमण किया।

दुर्योधन ने अनेक महारथियों के साथ बढ़कर अर्जुन को घेर लिया। दोनों ओर से भयंकर बाण चलने लगे। और दूसरी ओर अपनी बाण-वर्षा से पाण्डव-सेना को दग्ध करते हुए द्रोण पर विराट तथा द्रुपद ने आक्रमण किया। द्रुपद के साथ उनके तीन पौत्र भी थे... जो शीघ्र ही द्रोण के बाण-प्रहार से वीरगति को प्राप्त हुए। तब क्रोध में भरकर, दोनों ओर से, विराट तथा द्रुपद ने द्रोण पर तोमरों तथा शक्तियों की वर्षा प्रारम्भ की। किन्तु द्रोण ने, दोनों के शस्त्रों को एक-साथ ही काटते हुए, दो भल्लों के प्रहार से उन दोनों को ही मार गिराया।

अपने पिता तथा अनुज-पुत्रों के वध से दु:खी एवं क्रुद्ध होकर, धृष्टद्युम्न ने प्राणपण के साथ कटिबद्ध होकर द्रोण पर आक्रमण किया। द्रोण पर उसकी भीषण बाण-वर्षा देखकर दुर्योधन, कर्ण तथा शकुनि उनकी रक्षा में आ खड़े हुए। उधर, भीमसेन भी वहाँ पहुँचकर धृष्टद्युम्न की रक्षा करते हुए द्रोण पर शस्त्र-प्रहार करने लगे। भयंकर युद्ध चल रहा था। नवोदित सूर्य के मद्धिम प्रकाश को सैनिकों तथा रथ के पहियों से उड़ी धूल और भी धुँधला बना रही थी। कौन कौरव पक्ष का है और कौन पाण्डव पक्ष का, यह ठीक प्रकार पहचाने बिना ही योद्धा उन्मत्त होकर शस्त्र-प्रहार कर रहे थे।

भीषण संग्राम चल रहा था... कहीं रथियों-महारथियों के धनुष कटते थे, कहीं सारथि तो कहीं रथ के अश्व मरते थे। शस्त्रों से शस्त्र टकराकर नि:स्तेज होते थे, योद्धा

स्थिति के अनुरूप युद्ध-स्थल बदलते हुए नये योद्धाओं से जा टकराते थे... कभी भागकर अपने प्राण बचाते, तो कभी शत्रु को हताहत करके हर्ष में गर्जना करते थे।

धृष्टद्युम्न का लक्ष्य द्रोण थे। वह अपने मार्ग में आये हुए दुःशासन को रथहीन करके भगाता हुआ द्रोण के सम्मुख जा पहुँचा। दूसरी ओर दुर्योधन तथा सात्यकि युद्ध में संलग्न थे। एक-दूसरे पर वाग्बाणों एवं व्यंग्यों का प्रहार करते हुए ही, कभी-कभी बचपन के प्रसंगों का उल्लेख करके वे प्रेम-पूर्वक हँस भी पड़ते थे। फिर भी, उनके बाण बड़ी निर्ममता के साथ एक-दूसरे पर प्रहार करते रहते थे।

कुछ ही देर में, सात्यकि को प्रबल पड़ते देख, कर्ण भी वहाँ जा पहुँचा और सात्यकि पर बाण बरसाने लगा। यह देख भीमसेन भी वहाँ पहुँचकर दुर्योधन तथा कर्ण पर बाण-वर्षा करने लगे।

उधर, द्रोण तथा धृष्टद्युम्न के बीच चल रहे युद्ध में, धृष्टद्युम्न का पक्ष निर्बल पड़ता जा रहा था। पांचाल सेना मशाल पर जलते पतंगों की भाँति नष्ट हो रही थी। द्रोणाचार्य का प्रबल रूप देखकर युधिष्ठिर विजय की आशा त्यागकर चिन्तित होने लगे थे।

तभी कृष्ण ने कहा, "द्रोण का यह रूप तो अकल्पनीय है। इनको रोकने के लिए भी किसी के बलिदान की आवश्यकता है..."

"अब किसकी बलि दोगे, केशव?" भीमसेन ने दुःखी स्वर में कहा, "इरावान, अभिमन्यु, घटोत्कच... ऐसे प्रिय वंशजों की बलि देते रहोगे, तो हम राज्य लेकर भी क्या करेंगे?"

"नहीं मँझले भैया..." कृष्ण ने वीतरागी दार्शनिकता के साथ कहा, "युद्ध में कुछ भी सुनिश्चित नहीं होता... न तो युद्ध का परिणाम और न ही योद्धाओं का जीवन। यह न भूलें कि इस युद्ध में जिन असंख्य योद्धाओं एवं सैनिकों ने आपके पक्ष मे उद्योग करते हुए प्राण गवाँये हैं, वे सभी किसी के प्रिय पुत्र, पति, भाई अथवा पिता थे। और यह भी स्मरण रखें, कि यह युद्ध आप राज्य-प्राप्ति के लिए नहीं, अन्याय के विरुद्ध सम्मानपूर्वक सिर उठाने के लिए कर रहे हैं।"

"तब क्या विकल्प है वासुदेव!" युधिष्ठिर ने विनम्र स्वर में कहा, "मेरी बलि दे दो... मैं प्रस्तुत हूँ।"

"सम्भवतः कभी यह भी करना पड़े..." कृष्ण ने कहा, तो सबकी विस्मयभरी दृष्टि उनकी ओर उठ गयी। "फिर जो मैं कहूँ, उससे मुँह न मोड़ना, भैया!"

"यह क्या कह रहे हो?" अर्जुन के नेत्र आश्चर्य में विस्फारित थे, "हम भैया को..."

"व्यग्र न हो पार्थ!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए स्नेहभरी दृष्टि युधिष्ठिर की ओर डाली, "ये तुम्हारे ही नहीं, मेरे भी ज्येष्ठ हैं।"

"तब क्या करना होगा?" भीमसेन ने उतावले स्वर में पूछा।

"शत्रु को जीतने के लिए किसी नीति का आश्रय लेना होगा..." कृष्ण ने तुरन्त कहा, ऐसे जैसे कोई योजना पहले ही उनके पास हो। "आचार्य द्रोण को निर्बल करने के लिए उनकी एकाग्रता भंग करने के लिए, हमें उन्हें कोई मानसिक आघात देना होगा... जैसे, जैसे अश्वत्थामा की मृत्यु का समाचार। किसी को जाकर उन्हें यह समाचार सुनाना होगा।"

"किन्तु अश्वत्थामा तो..."

"जीवित है... यही न!" कृष्ण ने दृढ़तापूर्वक कहा, "तो रहे जीवित। बात तो बस समाचार सुनाने की है... बस, द्रोण को मानसिक आघात देकर, उन्हें युद्ध-विमुख करने के लिए।"

कृष्ण की यह युक्ति अर्जुन को तनिक नहीं भायी.. युधिष्ठिर को भी इस मिथ्या-भाषण में संकोच था। अन्य सभी इस योजना से सहमत थे।

कृष्ण ने समाचार को सत्य का रूप देने के लिए भीमसेन को भेजा कि वे, मालवा-नरेश इन्द्रवर्मा के अश्वत्थामा नामक गज को मारकर, द्रोण को यह समाचार सुनाएँ।

भीमसेन ने जाकर एक गदा-प्रहार से उस हाथी को मार डाला और... द्रोण के सम्मुख पहुँचकर, अट्टहास करते हुए कहा, "अश्वत्थामा मारा गया।"

सुनकर द्रोण सहसा विक्षिप्त हो उठे... 'अश्वत्थामा मारा गया! मेरा एकमेव पुत्र मारा गया! अद्वितीय पराक्रमी अश्वत्थामा मृत्यु को प्राप्त हुआ...! किन्तु कैसे...?'

क्रोध एवं अविश्वास में उनका मन हुआ कि सारे संसार को आग लगा दें... रौंद दे इन सभी योद्धाओं को, जिनके कारण उनका प्रिय पुत्र मारा गया। वे रथ दौड़ाते हुए, शस्त्र बरसाते घूमने लगे... उन्हें कौरवों और पाण्डवो में कोई भेद नहीं दिखाई दे रहा था और इसी विक्षिप्तता में उन्होंने अपने सम्मुख पांचाल-सेना को रौंदते हुए वसुदान को धराशायी कर दिया।

किन्तु, भीतर-ही-भीतर, दारुण दुःख के कारण उनका मन शिथिल हुआ जा रहा था। वह पुकार-पुकारकर उन्हें संसार की निरर्थकता बता रहा था... सांसारिक द्वेष एवं युद्ध से विरत किये जा रहा था। तभी, सामने ही, उन्हें युधिष्ठिर का रथ दिखाई दिया। युधिष्ठिर को देखते हुए उनके मन में पुनः आशा की एक क्षीण किरण जगी... 'क्यों न युधिष्ठिर से पूछूँ? सम्भवतः यह ही कह दें कि यह समाचार मिथ्या है... कोई तो कह दे कि यह सत्य नहीं है... कोई तो कह दे...'

"युधिष्ठिर!" उन्होंने आर्त स्वर में पुकारकर पूछा, "क्या अश्वत्थामा मारा गया?"

युधिष्ठिर को स्वयं अपने से यह प्रश्न पूछे जाने की आशा नहीं थी... प्रश्न

सुनकर वे हतप्रभ रह गये। कृष्ण की योजना... उनकी रणनीति... दुर्योधन का कपट... स्वयं द्रोण द्वारा छः महारथियों के साथ मिलकर निहत्थे अभिमन्यु का वध... द्रोणाचार्य द्वारा अपनी सेना का विनाश... क्षणांश में ही बहुत कुछ उनकी स्मृति में कौंध गया और उनका मस्तक दुविधा में झुक गया...

"अश्वत्थामा तो मारा गया..." दुविधा की स्थिति में ही उनके मुख से निकला। किन्तु वे जानते थे कि यह सत्य, सत्य होते हुए भी, सन्दर्भ-विशेष में असत्य ही है। अतः अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे कहा, "किन्तु हाथी ..."

शोकाकुल द्रोण को अपने प्रश्न का उत्तर मिल चुका था... युधिष्ठिर के वाक्य का अन्तिम अंश कुछ अपनी मनोदशा और कुछ युद्ध के कोलाहल के कारण द्रोण नहीं सुन पाये। उनका मन पूर्णतया शिथिल हो चुका था... उनके हाथ धनुष का भार वहन नहीं कर पा रहे थे।

उधर पाण्डव-सेना के योद्धा, द्रोण की मनःस्थिति से अपरिचित होने के कारण पूर्ववत्, उन्हें पुकारते हुए, उनपर आक्रमण किये जा रहे थे। धृष्टद्युम्न ने बाण बरसाकर उन्हें ऊपर से नीचे तक बींध दिया। उन बाणों की पीड़ा से, जैसे सोते से जागकर, द्रोण ने अपना धनुष उठाया किन्तु न तो मन उनका साथ दे रहा था . और न बुद्धि। वे धनुष-बाण त्यागकर, रथ की बैठक में ही ध्यानस्थ होकर बैठ गये।

"सावधान आचार्य .." धृष्टद्युम्न ने हाथ में खड्ग उठाये ही अपने रथ से उनके रथ पर कूदते हुए पुकारा, "शस्त्र उठाओ..."

तभी अर्जुन ने उच्च स्वर में पुकारा, "मत मारो आचार्य को... उन्हें जीवित ही उठा लाओ..."

किन्तु अर्जुन आदि के विरोध को अनसुना करते हुए ही धृष्टद्युम्न ने खड्ग के एक भरपूर प्रहार से द्रोण का मस्तक काट गिराया। यह देखकर चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग धृष्टद्युम्न को इस क्रूर कर्म के लिए धिक्कारने लगे।

बाद में यह जानकर सबको और भी क्षोभ हुआ कि, वध से पहले ही, आचार्य द्रोण, योगधारण द्वारा, सत्त्व में स्थित हो, उत्तम गति को प्राप्त हो चुके थे।

द्रोण के वध के समाचार से पाण्डवों में हर्ष भी था और क्षोभ भी। और दूसरी ओर, कौरव-सेना में भय एवं निराशा की स्थिति थी। सैनिक उत्साहशून्य होकर इधर-उधर भाग रहे थे... और योद्धाओं को अपना भविष्य अन्धकारमय लगने लगा था।

दुर्योधन को खड़ा रहना भी असहय लग रहा था... वह अनिश्चय की स्थिति में रणभूमि त्यागकर अन्यत्र कहीं चला गया। कर्ण, शल्य, कृप, दुःशासन, शकुनि, कृतवर्मा आदि भी अपनी सेनाओं को कोई निश्चित निर्देश दिये बिना ही युद्ध-भूमि से चल दिये।

तभी अश्वत्थामा ने कौरव-सेना में अव्यवस्था एवं भगदड़ देख, और दुर्योधन आदि को युद्ध से विरत देखकर पूछा, "यह क्या हो रहा है? हमारी सेना भाग रही है... भागी जा रही है... और आप लोग उदासीन दिखाई दे रहे हैं।"

दुर्योधन से उत्तर न पाकर उसने कृपाचार्य की ओर देखा, "मातुल! यह अव्यवस्था क्यों है... क्या हुआ आप सबको?"

"वत्स..." कृपाचार्य ने सप्रयास अपने अश्रु रोकते हुए भारी कण्ठ से कहा, "तुम पितृ-विहीन हो गये..."

"मैं...?" अश्वत्थामा को सहसा अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ, "क्या हुआ पिताश्री को... क्या उन्हें वीरगति..."

"नहीं... वीरगति नहीं, मित्र!" दुर्योधन ने उसकी बात काटकर क्रोध-पूर्वक दाँत पीसते हुए कहा, "उनकी बर्बरतापूर्वक हत्या की गयी... तब, जबकि वे शस्त्र त्यागकर समाधि में बैठे हुए थे।

"हत्या!... समाधि?" अश्वत्थामा हतप्रभ था। क्रोध एवं पीड़ा में उसका मुख तमतमा रहा था। "यह क्या पहेली है..."

कृपाचार्य ने उसे पूरी घटना कह सुनायी। यह सुनकर कि उसके वध के मिथ्या समाचार के कारण ही द्रोण युद्ध से विरत हुए थे, अश्वत्थामा का क्रोध और भी भड़क उठा। उसका क्रोध मात्र धृष्टद्युम्न पर ही नहीं, समस्त पाण्डवों पर था, क्योंकि वे धर्म के नाम पर ही युद्ध का उपक्रम कर रहे थे। उसने क्रोध में भरकर अपने अकाट्य नारायणाशस्त्र द्वारा पाण्डव-सेना को ध्वस्त करने का निर्णय सुनाया।

द्रोणाचार्य के वध से पाण्डवों के शिविर में नितान्त असहज एवं कटुताभरी शान्ति थी। पाँचो भाइयों के बीच भी मतभेद के कारण कटुता स्पष्ट दिखाई दे रही थी। अर्जुन दु:खी होकर कृष्ण तथा युधिष्ठिर पर आक्षेप लगा रहे थे, युधिष्ठिर लज्जित थे, भीम अपने कर्म का औचित्य स्पष्ट करने में लगे थे... और धृष्टद्युम्न सभी तर्कों से अविचल, दृढ़ एवं नि:शंक दिखाई दे रहा था। उसे अपने किये पर न कोई व्यथा थी और न पश्चात्ताप।

अर्जुन तथा सात्यकि ने जब धृष्टद्युम्न को गुरु की हत्या के लिए धिक्कारा तो उसने भी क्रोध-पूर्वक कहा, "मत भूलो पार्थ, कि गुरु-तुल्य पितामह पर बाण बरसाने मे तुम भी नहीं चूके थे। और सात्यकि, जो तुमने अनशन पर बैठे भूरिश्रवा की हत्या की थी, वह क्या कोई छोटा पाप था? मैंने यदि अपने पिता तथा अनेक अनुजों की हत्या के प्रतिशोध में अपने प्रतिद्वन्द्वी सेनापति का वध किया, तो वह पाप कैसे हो गया? युद्ध छिड़ जाए तो कहाँ का पाप और कहाँ का पुण्य? और वह भी दुर्योधन

जैसे कपटी के विरुद्ध! जो भी दुर्योधन के पक्ष में युद्ध कर रहे हैं, मेरी दृष्टि में वे सभी पापी हैं।"

सात्यकि ने भूरिश्रवा के वध को लेकर अपना स्पष्टीकरण दिया... किन्तु तर्क-वितर्क में, आरोप-प्रत्यारोप बढ़ते ही रहे। क्रोध ने पारस्परिक घात-प्रतिघात की स्थिति भी उत्पन्न कर दी होती, यदि कृष्ण तथा अर्जुन ने बल-पूर्वक उन दोनों को शान्त न कर दिया होता। स्थिति सामान्य होते ही वे सब कौरव-सेना का सामना करने के लिए युद्धभूमि की ओर बढ़े।

युद्धभूमि में अश्वत्थामा ने नारायणास्त्र छोड़ा था, जिससे दूर दूर तक पांचाल तथा पाण्डव सैनिक हताहत हो रहे थे। कृष्ण ने उसे पहचानते ही सभी सैनिकों से तुरन्त भूमि पर लेट जाने को कहा... वे जानते थे कि नारायणास्त्र का प्रहार भूमि से दो तीन हाथ ऊपर ही होता है। उनके आदेश पर सभी योद्धा अपने सैनिकों-सहित भूमि पर लेट गये... बस भीमसेन को ही यह व्यवहार अपने पौरुष के अनुरूप नहीं लगा। उन्होंने अर्जुन से भी पुकारकर कहा, "यह क्या अर्जुन? उठो .. इस प्रकार भूमि पर गिरकर तुम अपना ही नहीं, गाण्डीव का भी अपमान कर रहे हो।"

इतने में, नारायणास्त्र से निकलती एक उल्का भीमसेन की बायीं भुजा से टकरायी। अर्जुन ने दौड़कर उन्हें बल-पूर्वक भूमि पर लिटाया और आहत भुजा का उपचार किया। लेटे हुए आतंकित सैनिकों के ऊपर से लगभग एक घडी तक सरसराती हुई उल्काएँ निकलती रहीं .. किन्तु उनमें से किसी को हताहत नही कर पायीं...

अपने नारायणास्त्र द्वारा मनचाहा शत्रु-विनाश न देखकर अश्वत्थामा मन मारकर रह गया। दुर्योधन ने उससे पुनः नारायणास्त्र चलाने का प्रस्ताव किया, किन्तु उसके पास दूसरा नारायणास्त्र था ही नहीं . और होता, तब भी क्या। कृष्ण तो उसका काट जानते ही थे। समस्त पाण्डव-सेना उससे बचने की विधि जान चुकी थी।

फिर भी, अश्वत्थामा ने अपने पिता की हत्या का स्मरण करके, पाण्डव तथा पांचाल सेनाओं को चीरकर आगे बढ़ते हुए, धृष्टद्युम्न पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। धृष्टद्युम्न को संकट में देख, सात्यकि ने अश्वत्थामा के सम्मुख पहुँचकर उसे अपने पैने बाणों से बींध दिया। दूसरी ओर, अश्वत्थामा की ओर से दुर्योधन, कृपाचार्य, कृतवर्मा, कर्ण, दुःशासन तथा वृषसेन आकर धृष्टद्युम्न पर भाँति-भाँति के शस्त्रों की वर्षा करने लगे, किन्तु रणोन्मत्त धृष्टद्युम्न के सम्मुख उनकी एक न चली। अश्वत्थामा को भी रथ-विहीन होकर उन सबके साथ ही भागना पड़ा।

कुछ ही देर में अश्वत्थामा एक नये रथ पर आरूढ़ होकर, नये शस्त्र लिये,

सात्यकि को ढूँढ़ता हुआ पहुँचा और भीषण युद्ध के बाद उसने एक ऐसा तीखा बाण मारा कि सात्यकि अचेत होकर रथ की बैठक में गिर पड़ा। उसका सारथि उसे उपचार के लिए रणक्षेत्र से बाहर ले गया।

सात्यकि को हटाकर अश्वत्थामा ने अर्जुन पर आक्रमण किया और उनके साथ ही कृष्ण तथा उनके रथ के अश्वों को भी घायल कर दिया। तभी बृहत्क्षत्र, सुदर्शन और भीमसेन ने आकर अश्वत्थामा को अपने बाणों से आहत करना प्रारम्भ किया... किन्तु क्रोध में भरा अश्वत्थामा उस समय काल के सदृश घूमता हुआ सबसे टक्कर ले रहा था। कुछ ही देर में उसने बृहत्क्षत्र तथा सुदर्शन को मार गिराया।

उसका पराक्रम देख सभी आश्चर्य-चकित थे... पाण्डव-सेना में भगदड़ मच गयी थी। तब अर्जुन ने अपनी सेना को पुनः संगठित करके अश्वत्थामा पर आक्रमण किया। अश्वत्थामा ने अपने अनेकानेक दिव्य शस्त्रों द्वारा अर्जुन पर प्रहार किया, किन्तु वह कृष्ण तथा अर्जुन को किसी भी प्रकार आहत नहीं कर पाया। इससे वह निराश हो उठा... अपने दिव्य शस्त्रों पर से उसका विश्वास ही उठ गया और वह युद्ध-भूमि त्यागकर लौट पड़ा।

कर्ण

युद्ध होते हुए पन्द्रह दिवस बीत चुके थे... किन्तु उसके अन्त का कहीं कोई संकेत नहीं दिख रहा था। चारो ओर फैलते अन्धकार से कहीं बढ़कर वह अन्धकार था जो दुर्योधन के मन को भयावना बनाता चला जा रहा था। उसने तो सोचा था कि भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा-जैसे महान योद्धाओं के उद्योग से पाण्डव-सेना कुछ ही दिनों में, नष्ट होती हुई, घुटने टेक देगी... या कौन जाने युद्ध से पहले ही उसकी ग्यारह अक्षौहिणी सेना से भयभीत होकर पराजय स्वीकार कर ले... किन्तु ऐसा कुछ नही हुआ।

भीष्म के पश्चात्, द्रोण के वध से वह विचलित हो उठा था। उनके वध के पश्चात् अश्वत्थामा का क्रोध भी कोई सकारात्मक परिणाम नहीं उत्पन्न कर पाया। पिता की मृत्यु से व्यथित अश्वत्थामा, अपने नारायणास्त्र की असफलता के बाद और भी निर्बल एवं निराश लग रहा था। दुर्योधन, अपने सभी मित्रों-सम्बन्धियों के साथ, उसके पास आचार्य द्रोण के प्रति सम्मान एवं शोक व्यक्त करने के लिए गया और वे सब उसे सान्त्वना देते हुए बड़ी देर तक उसके पास बैठे रहे। रह रहकर दुर्योधन के मन में यह प्रश्न भी उठता था कि द्रोण की मृत्यु से वास्तविक हानि किसकी हुई...! स्वयं उसकी, अथवा उनके पुत्र अश्वत्थामा की?

अश्वत्थामा को सान्त्वना देकर धैर्य बँधाने के बाद, प्रदोष के समय, दुर्योधन तथा उसके साथ आये सभी योद्धा चुपचाप उठकर अपने शिविरों को लौट गये। कर्ण, दुःशासन तथा शकुनि ने वह रात दुर्योधन के शिविर में ही, उस दुःख से उत्पन्न स्थिति पर वैचारिक आदान-प्रदान में व्यतीत की। बीच में रह-रहकर यह प्रश्न भी उठा कि जो कुछ उन्होंने पाण्डवों के साथ किया, क्या वह वास्तव में ठीक था! पिता, माता, पितामह, विदुर, व्यास, कृष्ण आदि द्वारा, परिवार के हित में... शान्ति के हित में... युद्ध न करने का परामर्श क्या वास्तव में ठीक था! चर्चा घूम-फिरकर तर्कों में उलझकर ही रह जाती थी। जो भी हो, उन्हें बार-बार यह भी लगता था कि इन प्रश्नों के लिए अब बहुत देर हो चुकी है... और इतने बहुमूल्य जीवनों की बलि देने के बाद वे किसी को मुँह भी नहीं दिखा सकते... कम से कम तब तक, जब तक कि वे विजयश्री के जयघोष में पिछला समस्त रुदन-क्रन्दन डुबाने में सक्षम न हो जाएँ।

युद्ध को विजय के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए दुर्योधन ने प्रधान-सेनापति के पद पर कर्ण का अभिषेक किया।

सोलहवें दिन के युद्ध के लिए कर्ण ने मकर-व्यूह बनाया, जिसमें मुख-स्थान पर वह स्वयं श्वेत अश्वों से जुते, सर्प-चिह्नित श्वेत ध्वजा वाले, रथ पर आरूढ़ हुआ। व्यूह के दोनों नेत्रों के स्थान पर शकुनि तथा उलूक थे... और मस्तक-भाग में अश्वत्थामा, तथा कण्ठ स्थान पर दुर्योधन के अनुज थे।

अर्जुन ने कौरव-सेना का व्यूह देखकर अर्धचन्द्राकार-व्यूह बनाया, जिसके वाम भाग में भीमसेन, दक्षिण में धृष्टद्युम्न थे। मध्य भाग युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने ग्रहण किया। नकुल तथा सहदेव युधिष्ठिर के पीछे रखे गये।

कर्ण तथा अर्जुन दोनों ही एक-दूसरे को अपने सम्मुख देखकर, क्रोधपूर्वक सेना-सहित बढ़े और भिड़ गये। दोनों की सेनाओं में भीषण युद्ध छिड़ गया।

उधर भीमसेन पर कुलूतदेश के राजा क्षेमधूर्ति ने हाथी पर सवार होकर आक्रमण किया। दोनों ने ही एक-दूसरे को अपने बाणों से बींधा और शक्ति तथा तोमरों से प्रहार किया। दोनों ने ही एक-दूसरे के हाथी को मार गिराया.. और फिर वे दोनों परस्पर गदायुद्ध में भिड़ गये। कुछ ही देर में, भयंकर गदा प्रहारों के बाद, भीमसेन ने क्षेमधूर्ति को यमलोक भेज दिया।

दूसरी ओर कर्ण अपनी बाण-वर्षा से पाण्डव-सेना का विनाश कर रहा था। उस पर नकुल ने धावा किया। इसी प्रकार अश्वत्थामा को भीमसेन ने बढ़कर टक्कर दी। केकय राज्य के विन्द तथा अनुविन्द को सात्यकि ने बाधा दी और श्रुतकर्मा ने चित्रसेन से लोहा लिया। युधिष्ठिर दुर्योधन से युद्ध कर रहे थे और अर्जुन का संशप्तकों से भीषण संग्राम चल रहा था। इसी प्रकार धृष्टद्युम्न का कृपाचार्य से, शिखण्डी का कृतवर्मा से, श्रुतकीर्ति का शल्य से तथा दु:शासन का सहदेव से युद्ध हो रहा था।

बड़ी देर तक छकाने के बाद, सात्यकि ने एक क्षुरप्र द्वारा अनुविन्द का मस्तक काट गिराया। अपने भाई के वध से व्यथित एवं क्रोधित होकर विन्द ने सात्यकि पर वेगपूर्वक आक्रमण किया। दोनों ने ही पूरे मनोयोग से युद्ध करते हुए, एक-दूसरे के धनुष काट गिराये और रथ के घोड़ों को मार गिराया। वे दोनों ही रथहीन होकर, खड्ग एवं ढाल लेकर युद्ध करने लगे। इसी बीच अवसर पाकर सात्यकि ने एक प्रबल प्रहार द्वारा विन्द का शरीर काट गिराया। फिर वह युधामन्यु के रथ पर चढ़कर भाग गया... और नये रथ पर आरूढ़ होकर आते ही केकय-सेना का विनाश करने लगा।

दूसरी ओर श्रुतकर्मा ने एक भल्ल से चित्रसेन को, और प्रतिविन्ध्य ने तोमर के प्रहार से चित्र को मार गिराया। उनको मृत देख कौरव-सेना में भगदड़ मच गयी। उस समय केवल अश्वत्थामा ही निर्भय होकर बढ़ता रहा... और उसने जाकर भीमसेन को टक्कर दी। दोनों में भयंकर बाण-युद्ध होने लगा। ऊपर से नीचे तक बिंध जाने के बाद भी वे दोनों पूरे वेग से एक दूसरे पर तब तक प्रहार करते रहे,

जब तक वे दोनों ही अचेत होकर अपने रथों पर गिर नहीं पड़े। उन दोनों के सारथि उन्हें अचेत देखकर युद्ध-भूमि से बाहर ले गये।

अर्जुन संशप्तकों की दुर्लंघ्य सेना को अपने बाणों से रौंद रहे थे। उनमें भगदड़ देखकर अश्वत्थामा ने आक्रमण किया और कृष्ण तथा अर्जुन को अपने बाणों से बींध डाला, किन्तु अर्जुन ने तुरन्त ही उसके बाणों का प्रतिकार करते हुए उसे पीछे ढकेल दिया। यह देख अंग, बंग, कलिंग और निषाद योद्धा अपनी सेनाएँ लेकर टूट पड़े... किन्तु अर्जुन के बाणों के सम्मुख उनकी एक न चली। अपने असंख्य सैनिक गवाँकर उन्हें भी भागना पड़ा। अश्वत्थामा ने एक बार पुनः अर्जुन पर धावा किया किन्तु, कुछ ही देर में, बुरी तरह घायल होकर उसे पीछे हटकर विश्राम करने के लिए बाध्य होना पड़ा। विश्राम करने के पश्चात् वह कर्ण की सेना में जा मिला।

इसी बीच, उत्तर की ओर मगधराज दण्डधार पाण्डवों की चतुरंगिणी सेना का संहार कर रहा था। कृष्ण ने रथ को उधर ही घुमा दिया। दण्डधार, भगदत्त की तरह ही, मदमत्त गजराज पर आरूढ़ होकर युद्ध करता था और उनके ही समान पराक्रमी समझा जाता था। अर्जुन को देखकर उसने अपने गज के पाँव तले उनका रथ रौंदने का बड़ा प्रयास किया, किन्तु अवसर पाते ही अर्जुन ने एक क्षुर से उसका मस्तक काट गिराया।

दण्डधार के मरते ही उसका भाई दण्ड अर्जुन पर टूट पडा, किन्तु कुछ ही देर मे वह भी अर्जुन के अर्धचन्द्राकार बाण का लक्ष्य बनकर भूमि पर जा पड़ा।

दूसरी ओर राजा पाण्ड्य, कर्ण की सेना का संहार कर रहे थे। उनकी बाण-वर्षा देखकर कर्ण को भीष्म तथा द्रोण का स्मरण हो आता था। वह भाँति-भाँति के शस्त्रो का प्रहार करके भी पाण्ड्य को युद्ध से विरत नहीं कर पा रहा था। उनके द्वारा कौरवी-सेना का व्यापक विनाश देख, अश्वत्थामा ने उन पर आक्रमण किया। दोनो का भयंकर बाण-युद्ध हुआ। दोनों ने ही, एक-दूसरे को ऊपर से नीचे तक बींध कर, एक-दूसरे के अनेक धनुष काट डाले। उनका विशाल बाण-भण्डार बड़ी तीव्र गति से समाप्त हो रहा था... तभी अश्वत्थामा ने, पाण्ड्य के रथ की ध्वजा काटकर, रथ के अश्वों को भी मार गिराया। उधर पाण्ड्य रथ से कूदे और एक योद्धा-विहीन दौड़ते हुए गज को देखकर उस पर आरूढ़ हो गये। उन्होंने अंकुश मारकर गज को आगे बढ़ाया और अश्वत्थामा पर एक तोमर से प्रहार किया। भाग्य से अश्वत्थामा बाल-बाल बच गया... बस उसका मुकुट टूटकर भूमि पर जा गिरा। तब अश्वत्थामा ने क्रोध में भरकर एक तीखा बाण मारकर पाण्ड्य के जीवन का अन्त कर दिया।

उधर दुर्योधन ने हस्ति-युद्ध में निपुण अंग, बंग, पुण्ड्र, मगध, मेकल, कोसल, मद्र, दशार्ण तथा कलिंग योद्धाओं को, विशाल गज-सेना के साथ, धृष्टद्युम्न को मारने के लिए भेजा। धृष्टद्युम्न को हाथियों की सेना से घिरा देख, नकुल, सहदेव, प्रभद्रक,

सात्यकि, शिखण्डी, चेकितान तथा द्रौपदी-पुत्र वहाँ पहुँचकर उन हाथियों को अपने बाणों से बींधने लगे। कुछ ही देर में सात्यकि ने अंगराज के हाथी को मारकर अंगराज को भूमि पर गिरा दिया। वह उठने का प्रयास कर ही रहा था कि नकुल ने एक अर्ध-चन्द्राकार बाण मारकर उसका मस्तक काट दिया।

नकुल का यह कृत्य देख अनेक महावत उन्हें कुचलने के लिए अपने हाथी बढ़ाकर चढ़ आये। नकुल को घिरा देख अनेक पाण्डव, पांचाल तथा सोमक योद्धा उनकी रक्षा के लिए बढ़े... और सहदेव ने अपनी बाण-वृष्टि से आठ हाथियों को आरोहियों-सहित मार गिराया।

सहदेव का यह भयंकर पराक्रम देख, दु:शासन ने वहाँ पहुँचकर उसे टक्कर दी। दोनों में बड़ा भीषण युद्ध हुआ। कुछ देर बाद, सहदेव के एक तीखे बाण से अचेत होकर दु:शासन रथ की बैठक में लेट गया. और उसका सारथि उसे युद्धभूमि से दूर हटा ले गया।

नकुल तथा सहदेव द्वारा कौरव-सेना का विनाश देख, कर्ण ने वहाँ पहुँचकर, क्षण-भर में ही. नकुल का धनुष काट गिराया। नकुल ने भी, दूसरा धनुष लेकर, कर्ण तथा उसके सारथि को बींधते हुए, कर्ण का धनुष काट डाला। कुछ देर तक दोनों का भयंकर युद्ध चलता रहा... और तब कर्ण ने, नकुल के रथ के घोड़ों को मारकर, रथ की भी धज्जियाँ उड़ा दीं... उनका कवच भी काट दिया। रथ और कवच से रहित हो जाने पर नकुल को भागना पड़ा। भागते हुए नकुल का पीछा करके कर्ण ने अपना धनुष उसके गले में डालकर व्यंग्य से कहा, "अब कभी अपने से श्रेष्ठ योद्धा के साथ युद्ध करने का दु:साहस न करना। जाओ, और घर में छिपकर बैठो।"

इस पराजय से दु:खी एवं अपमानित नकुल, लज्जा एवं संकोच के साथ, युधिष्ठिर के रथ पर जा बैठे।

सूर्य मध्याकाश पर जा पहुँचा था... और कर्ण चारों ओर रथ दौड़ाता हुआ, पांचाल तथा सृंजय सेनाओं का विनाश करता घूम रहा था। कर्ण की मार से उनमें भगदड़ मची हुई थी।

इसी बीच, युयुत्सु को कौरव-सेना का संहार करते देख, उलूक ने उसके सम्मुख पहुँच कर, बाण बरसाते हुए, उसका धनुष काट गिराया। दोनों में बड़ी देर तक युद्ध हुआ, जिसमें युयुत्सु को अत्यन्त घायल होने के कारण पीछे हटना पड़ा।

इस प्रकार, एक अन्य युद्ध में धृतराष्ट्र-पुत्र श्रुतकर्मा ने शतानीक का रथ, घोड़ों एवं सारथि-सहित नष्ट कर दिया। शतानीक ने भी श्रुतकर्मा का रथ तोड़ डाला। तब दोनों ही रथहीन होकर, एक-दूसरे को क्रोधपूर्वक देखते हुए, रणभूमि से हट गये। शकुनि और सुतसोम का युद्ध भी बराबरी पर रहा। वे दोनों एक-दूसरे को आहत करते हुए, एक-दूसरे का धनुष काटकर, अन्यत्र जाकर युद्ध करने लगे। उधर कृतवर्मा ने

भीषण युद्ध करते हुए शिखण्डी को ऐसा घायल किया कि उसके सारथि को उसे युद्धभूमि से हटा ले जाना ही हितकर लगा।

एक अन्य युद्ध-स्थल पर त्रिगर्त, शिबि, कौरव, शाल्व, संशप्तक और नारायणी-सेना के योद्धाओं से अर्जुन का युद्ध चल रहा था। अर्जुन ने उन सभी को अपने बाणों से पीड़ित करते हुए शत्रुंजय, सौश्रुत और चन्द्रदेव को मार गिराया। तभी सत्यसेन ने क्रोध में भरकर कृष्ण पर एक तोमर का प्रहार किया, जो उनकी दायीं भुजा को घायल करता हुआ भूमि पर जा गिरा। तब अर्जुन ने क्रोधपूर्वक बाण चलाकर सत्यसेन का मस्तक धड़ से अलग कर दिया... और एक क्षुरप्र से मित्रसेन को भी धराशायी कर दिया। यह देख संशप्तकों के पैर उखड़ गये।

युधिष्ठिर की बाण-वर्षा को रोकने के लिए दुर्योधन आगे बढ़ा, किन्तु वह उनके आगे टिक न सका। उसे रथहीन एवं आहत देखकर, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि पहुँचे, तो दूसरी ओर से भीमसेन, नकुल तथा सहदेव ने भी वहाँ पहुँचकर कौरव-सेना पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। दोनों दलों का विनाशकारी संग्राम सूर्यास्त तक चलता रहा।

कौरव-सेना के योद्धा शिविर को लौटते समय जहाँ दिन की घटनाओं का गम्भीरतापूर्वक लेखा-जोखा कर रहे थे, वहीं पाण्डवों में हर्षोल्लास था। वे गर्जना तथा शंखनाद करते हुए दिन की उपलब्धियों से सन्तुष्ट दिखाई दे रहे थे।

दुर्योधन तथा कर्ण के लिए वह समय विशेष अन्तर्मन्थन एवं चिन्ता का था। मानसिक रूप से, इतने लम्बे युद्ध के लिए तैयार न होने के कारण, दुर्योधन को प्रत्येक दिन भारी लग रहा था। सेना भी दिन-प्रतिदिन घट रही थी... और उसके विश्वास को बल प्रदान करने वाला, पाण्डव-सेना से कहीं अधिक बड़ी सेना रहने का, गणित उल्टा दिखने लगा था। उधर कर्ण के लिए, अपने सेनापतित्व में होने वाली पराजय, उसके लिए लज्जा एवं अपमान का विषय थी। दुर्योधन ने, बड़ी आशा एवं विश्वास के साथ उसे प्रधान-सेनापति बनाया था... जिस पर वह खरा नहीं उतर सका।

'सो जाओ कर्ण...! कुछ तो विश्राम दे लो इस मन को...'

व्याकुल होकर पार्श्व बदलते हुए कर्ण ने स्वयं अपने से ही कहा... किन्तु स्मृतियाँ थीं जो मन को किसी भी प्रकार त्राण नहीं पाने दे रही थीं।

'आज तो निर्णायक युद्ध होना है...'

'निर्णायक, अर्थात्...? या तो अर्जुन... और या...'

'किन्तु क्या होगा अब... उस ब्रह्मास्त्र के बिना? जिसे कितने जतन से प्राप्त किया था मैंने... सब कुछ दाँव पर लगाकर! अपनी जन्म-जात धरोहर को भी दाँव पर लगा कर!'

सोचते-सोचते वह फिर व्यथित हो उठा...

राजर्षि महेन्द्र से उसकी भेंट बहुत महत्त्व रखती थी। उसने निश्चय किया था कि वह, जैसे भी हो, उनसे वह ब्रह्मास्त्र प्राप्त करेगा... वह वैजयन्ती, जो उन्होंने अपने शासन-काल में महर्षि परशुराम से प्राप्त की। किन्तु महेन्द्र ने उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी...

"उसका क्या करोगे वत्स!" उन्होंने सस्नेह समझाते हुए कहा था, "वह तो महाविनाशकारी यन्त्र है... व्यापक विध्वंसकारी।"

"विनाशकारी तो सभी अस्त्र-शस्त्र होते हैं मुनिवर!" कर्ण ने तर्क किया था।

"अन्य शस्त्रों से इसकी तुलना न करो कर्ण!" राजर्षि महेन्द्र के पास प्रतितर्क था, "यदि यह वैजयन्ती भी अन्य शस्त्रों जैसी ही है तो उसे प्राप्त करने का आग्रह क्यों?"

कर्ण को तुरन्त कोई तर्क नहीं सूझा।

"यह किसी योद्धा पर प्रहार करने के लिए नहीं है..." महेन्द्र कोई उत्तर न पाकर स्वयं ही बोले, "उसमें तो अनेक योद्धाओं को, एक माथ, बिना युद्ध किये ही नष्ट करने की क्षमता है। एक बार इसका विस्फोट हो तो सम्भवतः बीस धनुष के व्यास-क्षेत्र में, अथवा उससे भी अधिक में, सभी कुछ क्षणांश में नष्ट हो जाए। इसी कारण गुरुवर महर्षि परशुराम ने मुझे वैजयन्ती वचन-बद्ध करके, इस उपदेश के साथ प्रदान की थी कि इसका उपयोग किसी व्यापक विपत्ति के निवारण के लिए ही होगा।

"और कुछ माँग लो, वत्स!" महेन्द्र ने सस्नेह मुस्कराते हुए कहा था।

"मैं जानता हूँ राजर्षि!" कर्ण ने पुनः याचना की थी, "कि यह वैजयन्ती अनमोल है... किन्तु मैं इसके लिए कोई भी मूल्य चुकाने के लिए तत्पर हूँ..."

"कोई भी मूल्य?" महेन्द्र मुस्कराये, "अच्छा बताओ तो तुम्हारे लिए संसार में सबसे प्रिय वस्तु क्या है? क्या दे सकते हो तुम इसके परिवर्त में?"

तुरन्त ही कर्ण को कोई उत्तर नहीं सूझा। सबसे प्रिय वस्तु? क्षणांश में ही उसके मस्तिष्क में अपना नाम, अपना राज्य, अपनी माँ, अपना शरीर, अपना रूप... बहुत कुछ घूम गये। किन्तु बात थी परिवर्त में देने की! सहसा उसका ध्यान अपने कुण्डलों पर गया, और कवच पर भी... जिनके साथ, बाल्यकाल से ही बारम्बार सुना हुआ, उसका जन्म-जात सम्बन्ध था। जिन्हें धारण करके उसे एक अनाम बल प्राप्त होता था... जिन्हें धारण करके उसे लगता था जैसे कोई अनाम, अपरिचित आशीर्वाद उसके साथ है...माँ का आशीर्वाद। जिन्हें धारण करके उसे लगता था कि वह अजेय है... कोई उसे छू भी नहीं सकता, जब तक वे जन्म-जात वरदान उसके साथ हैं।

"सबसे प्रिय तो मुझे..." कर्ण, न जाने किस प्रेरणा से, अनजाने में ही कह गया, "मुनिवर, अपने कवच और कुण्डल हैं..."

"तो ये ही दे दो मुझे... वैजयन्ती के परिवर्त स्वरूप।"

"किन्तु राजर्षि! इनसे आपका..."

"जो भी हो! तुम्हें भी तो लगे..." महेन्द्र ने गम्भीर स्वर में कहा, "कि जो अपनी प्रिय वस्तु देकर तुम्हें प्राप्त हुई है, उसका भी कुछ मूल्य है। तुम उसका दुरुपयोग करने में संकोच तो करोगे?"

निर्णय की घड़ी अपने सम्मुख देख, क्षणभर के लिए, कर्ण का निश्चय डगमगाया था। वह जन्म-जात सम्बन्ध! वह अनाम आशीर्वाद! वह आत्म-विश्वास...!

किन्तु प्रति-तर्कों के झोके में बिखर गया उसका ऊहापोह... कैसा जन्म? किसका आशीर्वाद? उस जननी का, जो ममता का अर्थ भी नहीं जानती... जन्म देते ही त्यागते समय, कौन जाने, उसके हाथ काँपे भी थे अथवा नहीं....!

क्षण भर को कर्ण के हाथ काँपे तो, किन्तु... उसने अविलम्ब अपने कुण्डल एवं कवच उतारकर महेन्द्र के सम्मुख रख दिये।

वचन-बद्ध राजर्षि महेन्द्र ने वह वैजयन्ती लाकर उसे दी... किन्तु एक वचन-बन्ध के साथ, "वत्स! इसका उपयोग केवल तब करना... केवल तब, जब कोई व्यापक संकट आ पड़ा हो... जब अन्य सभी युक्तियाँ निष्फल हो जाएँ।"

'अब तो कुछ विश्राम कर लो... कर्ण।'

कर्ण ने फिर व्याकुल होकर पार्श्व बदला।

निर्णायक युद्ध...! बिना उस यत्न द्वारा प्राप्त ब्रह्मास्त्र के... और बिना उस अनाम आशीर्वादस्वरूप कवच-कुण्डल के! दोनों ही गये। कैसे चले गये? यह भाग्य नहीं तो और क्या है? वही भाग्य, जिसने क्षत्राणी के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी उसे सूत-पुत्र बनाया, जिसने उसे दुर्योधन-जैसा उपकारी मित्र देकर पाण्डवों का शत्रु बनाया...

किन्तु अब...?

'अब तो सो जाओ कर्ण!' कर्ण ने फिर पार्श्व बदला।

'आज तो निर्णायक युद्ध ही होगा।' कर्ण ने सोचा उसे जैसे भी हो मित्र का ऋण चुकाना है... और जन्मदात्री को दिये हुए वचन का निर्वाह भी तो करना है। उसके पाँच पुत्र ही जीवित रहेंगे... किन्तु कौन? यह उसका भाग्य। किन्तु यदि अर्जुन का वध हुआ और इस प्रकार दुर्योधन ने संग्राम में विजय पायी तो, कौन जाने, दुर्योधन इन्द्रप्रस्थ पर उसी का अभिषेक कर दे...

तब...! सहसा उसके मन में एक विचित्र-सा प्रकाश फैलने लगा। तब मैं अपने

अनुजों के साथ मिलकर रहूँगा... अपनी जननी के आँचल की छाँव तले...

'स्वप्न न देखो कर्ण!' व्याकुल कर्ण ने पार्श्व बदलते हुए एक बार फिर पलकें मूँद लीं और स्वयं से अनुरोध किया, 'कुछ देर तो सो लो...'

सूर्योदय से पूर्व ही उठकर कर्ण ने, मन में दृढ़ निश्चय करके, दुर्योधन के शिविर-कक्ष में प्रवेश किया।

"मित्र दुर्योधन! आज अर्जुन के साथ मेरा निर्णायक युद्ध होगा..." वह क्षण भर दुर्योधन के मुख पर उसकी प्रतिक्रिया देखने के लिए रुका। उसे भय था कि वहाँ कोई निराशा अथवा उलाहना न हो। "यद्यपि उसके वध के लिए जो अमोघ शक्ति मैंने सुरक्षित रख छोड़ी थी, उसे मैं पहले ही खो चुका हूँ... फिर भी, अब और विलम्ब करना हमारे हित में नहीं होगा।"

दुर्योधन मौन होकर सुने जा रहा था... किन्तु उसकी आँखों में अनुमोदन ही था।

"अर्जुन जब तक जीवित रहेगा, निरन्तर हमारी सेना को क्षीण ही करता रहेगा। मैं पाण्डव पक्ष के कितने ही रथियों महारथियों को मार लूँ... उनके कितने ही सैनिकों का वध कर लूँ किन्तु अन्त में मुझे अर्जुन से युद्ध करना ही होगा... परिणाम भले ही जो भी हो। तो वह, युद्ध सैनिको की बलि दिये बिना, आज ही क्यों न हो जाए!"

"यह शंका क्यों मित्र!" दुर्योधन ने विश्वास भरे स्वर में कर्ण का मनोबल बढ़ाते हुए कहा, "इस द्वन्द्व में विजय तुम्हारी ही होगी... तुम अर्जुन की अपेक्षा हर दृष्टि से श्रेष्ठ हो।"

"यह तुम्हारा अनुग्रह है, युवराज!" कर्ण ने पूर्ववत् गम्भीर स्वर में कहा, "मैं मानता हूँ कि मेरे पास भी अर्जुन-जैसे ही उत्तम एवं प्रभावकारी अस्त्र-शस्त्र हैं। युद्ध-कौशल, हस्त-लाघव तथा अस्त्र-सचालन में सम्भवतः अर्जुन मेरी बराबरी न कर पाये... पराक्रम तथा लक्ष्य-सन्धान में भी मैं अपने आप को अर्जुन से श्रेष्ठ मानता हूँ... किन्तु एक बात है जिसमें वह मुझसे कहीं अधिक भाग्यशाली है..."

"वह क्या कर्ण?" दुर्योधन के कान वह रहस्य सुनने को व्याकुल हो उठे।

"वह है सारथि..." कर्ण ने तुरन्त ही स्पष्ट किया। "अर्जुन के पास जैसा अनुभवी और नीतिज्ञ सारथि है, मेरे पास वैसा कुछ भी नहीं है। विश्वास मानो मित्र! यदि मुझे कृष्ण जैसा अनुभवी, शुभचिन्तक तथा युद्ध-कुशल सारथि मिल जाए, तो एक क्या, दस अर्जुन भी मेरे सामने नहीं ठहर पाएँगे।"

दुर्योधन को लगा, इसमें तो असहमति का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इस स्थिति का कोई निराकरण भी उसके पास नहीं था।

"तब क्या किया जाए मित्र?" उसने छूटते ही प्र' न किया, "तुम अपना सारथि चुन लो... जिसे भी कहो, उसे तुम्हारी सेवा में उपस्थित कर दिया जाएगा।"

"यही तो दुर्भाग्य है गान्धारीनन्दन!" कर्ण ने दीर्घ श्वास भरते हुए कहा, "हमारी

समस्त सेनाओं में कृष्ण जैसा कुशल सारथि कहीं है ही नहीं..."

"कोई भी नहीं...?" दुर्योधन की आँखें आश्चर्य एवं कर्ण का अभिप्राय समझने के प्रयास में खुली रह गयीं, "तब क्या चाहते हो तुम? मैं चलूँ तुम्हारा रथ लेकर?"

"नहीं युवराज!" कर्ण ने मुस्कराकर अपनी स्थिति स्पष्ट की, "एक विकल्प है मेरी दृष्टि में। महाराज शल्य, सारथ्य-कर्म में, कृष्ण की बराबरी न कर पाएँ तो उनसे बहुत कम भी नहीं हैं। यदि वे मेरा सारथि बनना स्वीकार करें, और अनेक प्रकार के शस्त्रों से भरे कई ऐसे रथ मेरे लिए उपलब्ध रहें, जिन्हें मैं आवश्यकता पड़ने पर बदल सकूँ... तब मुझे कोई बाधा नहीं रहेगी। तब अर्जुन किसी भी प्रकार मेरे सम्मुख नहीं ठहर सकेगा।"

"किन्तु मद्रराज...! सारथ्य-कर्म?" दुर्योधन के मस्तक पर दुविधा की रेखाएँ स्पष्ट होकर उभर आयीं। "पर चिन्ता न करो मित्र! मैं उनसे कहूँगा... मुझे विश्वास है, वे मेरा अनुरोध अस्वीकार नहीं करेंगे।"

दुर्योधन अत्यन्त विनय एवं प्रेम के साथ शल्य के पास गया और प्रार्थना करता हुआ बोला, "मातुल! आप मेरे हित के लिए... मुझ पर प्रेम एवं अनुग्रह के नाते, कर्ण का सारथ्य स्वीकार कर लीजिए... बस, अर्जुन का वध होने तक। आप ही हैं जो सारथ्य में कृष्ण की टक्कर के हैं... और कर्ण महारथियों में सर्वोत्तम है। आप दोनों का संयोग अभूतपूर्व होगा। विजयश्री हमारी होगी..."

किन्तु यह मधुर भाषण भी शल्य पर अनुकूल प्रभाव नहीं छोड पाया। वे क्रोध एवं अपमान से तमतमा उठे... आँखें क्रोध में लाल हो उठीं। उन्हें अपने कुल, ऐश्वर्य, विद्या एवं बल पर गर्व था।

वे दुर्योधन को फटकारते हुए वहाँ से जाने को उद्यत हुए तो दुर्योधन ने बड़े सम्मान एवं आग्रह से रोककर मनुहारते हुए कहा, "क्षमा करें मातुल! इसमें आपको किसी भी प्रकार नीचा दिखाने का उद्देश्य नहीं था... न तो कर्ण का, और न मेरा। आप तो धर्मज्ञ हैं... और आपने मेरा हित करने का जो वरदान मुझे दिया, उसी के आधार पर प्रार्थना की है मैंने। आप यह कार्य कर्ण की सेवा के लिए नहीं, कृष्ण को नीचा दिखाने के लिए स्वीकार करें, आप तो अश्व-नियन्त्रण में कृष्ण से कहीं श्रेष्ठ हैं।"

शल्य को प्रसन्न करने के लिए दुर्योधन ने एक पौराणिक कथा का उल्लेख किया, जिसके अनुसार आततायियों का वध करने के लिए निकले शिव के रथ का सारथ्य स्वयं ब्रह्माजी ने किया था।

जैसे-तैसे शल्य ने दुर्योधन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया... किन्तु एक पूर्व-बन्ध भी लगा दिया, "किन्तु कर्ण मुझसे यह आशा न करे कि मैं उससे सेवक की भाँति बोलूँगा। मैं जैसे भी बोलूँ... वह मुझसे जो भी कहना चाहे, सम्मानपूर्वक ही कहेगा।"

कर्ण तथा दुर्योधन ने उनका यह पूर्वबन्ध स्वीकार कर लिया।

शल्य जब कर्ण का रथ लेकर चले तो, उन दोनों के लिए स्वस्तिवाचन कराके, दुर्योधन ने कहा, "कर्ण! जो कार्य पितामह तथा आचार्य द्रोण नहीं कर सके, वही अब तुम्हें करना है। आज या तो तुम युधिष्ठिर को बन्दी बना लो, या अर्जुन का वध कर डालो।"

"आज मैं ये दोनों ही कार्य करके दिखाऊँगा, युवराज!" कर्ण ने दृढ़तापूर्वक कहा, "निश्चिन्त हो जाओ मित्र, अब तुम्हें विजयी होने से कोई नहीं रोक सकता।"

"यह बड़बोलापन किसी काम नहीं आएगा, कर्ण!" शल्य ने उपहास एवं व्यंग्य भरे स्वर में कहा, "पाण्डवों का पराक्रम अभी ज्ञात नहीं है तुम्हें..."

कर्ण को शल्य का व्यवहार नितान्त अनुचित लगा... किन्तु वह अपने तथा शल्य के बीच कटुता नहीं लाना चाहता था। अतः मन मारकर रह गया। उसने शान्त स्वर में कहा, "अच्छा मद्रराज! रथ बढ़ाइए।"

किन्तु रथ बढ़ते ही उन दोनों के बीच कटु-संवाद पुनः प्रारम्भ हो गया। शल्य ने अनेक पुरानी घटनाओं का उल्लेख करते हुए कर्ण का उसके अहंकार के लिए उपहास किया, और कर्ण ने भी क्रोधित होकर शल्य को खरी खोटी सुनायी।

कर्ण तथा शल्य को परस्पर अप्रिय विवाद में ग्रस्त देख, दुर्योधन ने उन दोनों को समझाने का प्रयास किया... कर्ण को मित्र-भाव से, और शल्य को हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए। रह-रहकर उसके मन में यह शंका पिर उठाती थी कि क्या कर्ण ने शल्य को सारथि बनाकर अच्छा किया! उसके अनुरोध पर शल्य ने भले ही कर्ण का सारथ्य स्वीकार कर लिया हो, किन्तु उनके मन में कहीं अपने राजपद का अभिमान है जो कर्ण को सूत-पुत्र के रूप में स्मरण करके बारम्बार भड़काता रहता है। और कर्ण...! कर्ण के लिए तो वह प्रसंग ही उसकी दुःखती रग है। चाहे कोई कहे, अथवा न कहे, अपने प्रति किसी भी प्रकार की अवमानना, उसी प्रसंग को लेकर, उसे उग्र बना देती है।

जो भी हो... दुर्योधन का एकमात्र लक्ष्य था युद्ध में विजय प्राप्त करना।

सूर्य उदय हो रहा था... और कर्ण के सारथि में परिवर्तन करने का न तो समय था और न कोई विकल्प।

युद्ध-भूमि में पहुँचकर कर्ण ने युधिष्ठिर को दाहिने रखते हुए अपना रथ बढ़वाया।

कौरव-सेना का विशाल व्यूह देखकर, युधिष्ठिर ने आदेश दिया कि अर्जुन, कर्ण के साथ युद्ध करें... भीमसेन दुर्योधन पर, नकुल वृषसेन पर तथा सहदेव शकुनि पर

आक्रमण करें। इसी प्रकार शतानीक को दु:शासन से, सात्यकि को कृतवर्मा से और धृष्टद्युम्न को अश्वत्थामा से युद्ध करने का आदेश देकर, युधिष्ठिर ने स्वयं कृपाचार्य पर आक्रमण किया।

दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध छिड़ गया। रथी-महारथी अपनी-अपनी टक्कर के योद्धाओं से भिड़ते हुए, आवश्यकता पड़ने पर, उन्हें छोड़कर, अन्य योद्धाओं से भी युद्ध करने लगते थे। दोनों पक्ष के योद्धाओं के लिए प्रमुख लक्ष्य कर्ण तथा अर्जुन थे। वे दोनों भी एक-दूसरे को ढूँढ़ते हुए बढ़ते थे, किन्तु शत्रु पक्ष के योद्धा अपने नायक की रक्षा में तत्पर रहकर उनकी ओर से प्रहार करने लगते थे।

अर्जुन को संशप्तकों की सेना निरन्तर घेरकर मारने का प्रयास करती रही। दूसरी ओर कर्ण को सात्यकि ने, अर्जुन की ओर बढ़ने से बाधा देकर, अपने बाणों से बींधना प्रारम्भ किया। किन्तु कर्ण, हर बाधा को पार करके, मात्र अर्जुन को ही अपना लक्ष्य बनाने के लिए व्याकुल था। शल्य को अपना सारथि बनाने के साथ ही उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र वृषसेन को अपने रथ के पृष्ठ-भाग की रक्षा के लिए और अन्य दो पुत्रों – सुषेण तथा सत्यसेन – को, रथ के चक्रों की रक्षा के लिए नियुक्त कर रखा था।

कर्ण अपने बाणों से पाण्डवों की विशाल सेना को हताहत करता हुआ अर्जुन की ओर बढ़ रहा था। तभी धृष्टद्युम्न, भीमसेन, जनमेजय, शिखण्डी, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी-पुत्रों ने सात्यकि के साथ पहुँचकर कर्ण पर बाणों की झड़ी लगा दी। उधर कर्ण ने भीमसेन को लक्ष्य बनाया और उनका धनुष काट गिराया। तब भीमसेन ने दूसरा धनुष लेकर सुषेण का धनुष काटा और कर्ण के सहायकों पर बाण-वर्षा करते हुए, कर्ण-पुत्र भानुसेन का वध कर दिया। उन्होंने कृपाचार्य तथा कृतवर्मा के धनुष काटकर उन्हें भी बहुत आहत किया, और दु:शासन तथा शकुनि को बाणों से बींधकर, उलूक तथा पतित्र के रथों को तोड़ दिया।

नकुल तथा सुषेण एक-दूसरे पर बाण-वर्षा करने लगे। वृषसेन भी, पिता कर्ण की रक्षा करता हुआ, सात्यकि पर बाण बरसाने लगा। सात्यकि ने वृषसेन का रथ तोड़कर उसके वक्ष:स्थल पर भी ऐसा प्रहार किया कि वह धनुष पकड़ने के योग्य भी नहीं रहा। तभी उसे विपत्ति में घिरा देख, दु:शासन ने अपने रथ पर बिठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया।

कर्ण का मार्ग अनेक पाण्डव-पक्षीय योद्धाओं ने घेर रखा था, किन्तु उन सबको अपने बाणों से रौंदकर अपना मार्ग बनाता हुआ वह, हाथियों की सेना से घिरे हुए, युधिष्ठिर के पास पहुँचकर उन पर बाण-वर्षा करने लगा। दोनों में भयंकर युद्ध होने लगा। अवसर पाते ही युधिष्ठिर ने एक तीखा बाण चलाया, जो कर्ण की नाभि की बायीं ओर धँस गया। कर्ण कुछ समय के लिए मूर्च्छित हो गया... और यह देखकर

कौरव-सेना में हाहाकार मच गया। किन्तु, कुछ ही क्षणों में, चेत होते ही उसने, युधिष्ठिर पर बाणों की झड़ी लगाते हुए, उनके रथ के चक्रों की रक्षा में तत्पर चन्द्रदेव तथा दण्डधार नामक दो पांचालकुमारों को मार डाला। युधिष्ठिर तथा अनेक पाण्डव रथी-महारथियों ने उसे कड़ी टक्कर दी, किन्तु कुछ ही देर में उसने बाण तथा भल्ल-प्रहार से युधिष्ठिर का रथ तोड़ गिराया। युधिष्ठिर रथहीन होकर वहाँ से भाग गये। कर्ण ने उन्हें पकड़ने का प्रयास किया... व्यंग्य करके रोकना भी चाहा, किन्तु उन्हें पकड़ने में असफल होकर वह पाण्डव-सेना के संहार में जुट गया।

दूसरी ओर, भीमसेन अनेक योद्धाओं के साथ मिलकर कौरव-सेना का संहार कर रहे थे। कर्ण ने अपना रथ उधर ही बढ़ाया। उसे देखते ही, भीमसेन प्राणों का मोह त्यागकर उस पर टूट पड़े। भयंकर युद्ध के बाद उन्होंने एक वज्र-तुल्य बाण से कर्ण को ऐसा घायल किया कि वह अचेत होकर रथ की बैठक में गिर पड़ा। उसे मूर्च्छित देख शल्य उसे रणभूमि से दूर हटा ले गये।

कर्ण को आहत देख दुर्योधन ने तुरन्त अपने अनुजों को उसकी रक्षा के लिए भेजा। आदेश पाते ही, श्रुतश्रवा, दुर्धर, क्रथ, विवित्सु, विकट, सम, निषंगी, कवची, पाशी, नन्द, उपनन्द, दुष्प्रधर्ष, सुबाहु, वातवेग, सुवर्चा, धनुर्ग्राह, दुर्मद, जलसन्ध, शल और सह ने, अनेक रथियों को साथ लेकर, भीमसेन को घेर लिया। उनके प्रहारों को झेलते हुए भी भीमसेन ने, एक-एक करके, विवित्सु, विकट, सह, क्रथ, नन्द तथा उपनन्द को मौत के घाट उतार दिया। अन्य सभी आहत होकर भाग खड़े हुए।

इतने धृतराष्ट्र-पुत्रों के वध का समाचार सुनकर कर्ण ने अपना रथ भीमसेन की ओर बढ़वाया। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ .. और कुछ ही देर में कर्ण ने भीम का रथ तोड़कर उन्हें अनेक बाणों से भी बींध दिया।

रथहीन होकर भीमसेन गदा हाथ मे लिये भूमि पर कूदे और झपटकर कौरव-सेना में घुसकर सैनिकों का संहार करने लगे। उनके गदा-प्रहार से अनेक हाथियों ने चिंघाड़कर प्राण त्याग दिये और अनेक रथ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये।

उन्हें ऐसा भयंकर कर्म करते देख शकुनि की सेना की, रथियों तथा अश्वारोहियों की, एक विशाल वाहिनी भीमसेन पर टूट पड़ी। किन्तु उनसे विचलित हुए बिना वे उसे गदा-प्रहार द्वारा छिन्न-विछिन्न करते हुए, एक अन्य रथ पर बैठकर, पुनः कर्ण से युद्ध करने के लिए उसके सम्मुख जा पहुँचे।

मध्याह्न का सूर्य तप रहा था... शकुनि, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, कर्ण और कृपाचार्य पाण्डव-सेना को त्रस्त कर रहे थे। भीमसेन ने गर्जना करते हुए वहाँ पहुँचकर युद्ध को और भी भयंकर बना दिया।

दूसरी ओर, अर्जुन का संशप्तकों से युद्ध हो रहा था। सुशर्मा अपनी विशाल सेना

के साथ उन पर टिड्डी-दल की भाँति टूट पड़ा। उसके सैनिक प्राणों का मोह छोड़कर, अर्जुन के रथ पर चढ़कर, कृष्ण तथा अर्जुन को बाँहों से पकड़-पकड़कर खींचने लगे। किन्तु अर्जुन की बाण-वर्षा से आहत होकर कुछ ही देर में उन्हें भागना पड़ा।

उन्हें भागते देख कृतवर्मा, कृपाचार्य, उलूक, शकुनि तथा अनुजों-सहित दुर्योधन ने आकर बचाया। शिखण्डी ने भी आकर उनपर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। वहाँ भयंकर युद्ध होने लगा।

इसी बीच नकुल तथा सहदेव ने दुर्योधन पर आक्रमण किया। दुर्योधन उन्हें बाणो से बींधने लगा, तो धृष्टद्युम्न ने वहाँ पहुँचकर, उन दोनों की रक्षा करते हुए, उसे टक्कर दी। दोनों में प्राणान्तक युद्ध होने लगा। दोनों ने ही एक-दूसरे के धनुष काटते हुए एक-दूसरे को बुरी तरह घायल किया। कुछ देर बाद धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन का रथ तोड़कर उसके कवच और आयुध भी नष्ट कर दिये। उसे असहाय स्थिति में देखकर दण्डधर उसे अपने रथ में बैठाकर रणभूमि से बाहर ले गया।

तब कर्ण ने धृष्टद्युम्न पर धावा किया। यह देख अनेक पांचाल योद्धा कर्ण पर टूट पड़े। उन सबसे युद्ध करते हुए कर्ण ने जिष्णु, देवापि, भद्र, दण्ड, चित्र, चित्रायुध, हरि, सिंहकेतु, रोचमान और शलभ आदि अनेक महारथियों को मौत के घाट उतार दिया। यह देख युधिष्ठिर ने नकुल, सहदेव, शिखण्डी, जनमेजय, सात्यकि, द्रौपदी पुत्रो तथा अनेक प्रभद्रक योद्धाओं के साथ मिलकर कर्ण पर आक्रमण किया।

उधर भीमसेन, उग्र रूप धारण किये हुए, वाह्लीक, केकय, वसातीय, मद्र तथा सिन्धु के योद्धाओं का संहार करते घूम रहे थे।

अर्जुन द्वारा संशप्तकों का विनाश देखकर, अश्वत्थामा उँनसे टकराने के लिए पहुँचा। उसकी उग्र बाण-वर्षा से कृष्ण तथा अर्जुन दोनों ही चमत्कृत रह गये। किन्तु कुछ ही क्षणों में, कृष्ण द्वारा ललकारे जाने पर, अर्जुन ने उस पर बाणों की ऐसी झडी लगायी कि देखते-ही-देखते उसका रथ, धनुष आदि टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गये। अर्जुन ने एक बाण मारकर उसकी हँसुली पर ऐसा प्रहार किया कि उसे मूर्च्छा आ गयी... वह ध्वज का दण्ड थामकर रथ में बैठ गया। उसे अचेत देख, उसका सारथि उसे रणभूमि से हटा ले गया।

दिन ढलने लगा था... और दुर्योधन को मन प्रसन्न करने वाला समाचार नहीं मिल रहा था। अपने पक्ष को निर्बल पड़ता देख, उसने कर्ण को प्रोत्साहित करते हुए ललकारा, "राधेय! यह अवसर हाथ से न जाने दो.. " कहते-कहते उसे लगा कि कर्ण को मनोबल की आवश्यकता है, "हर प्रकार से हमारा लाभ ही है। क्षत्रिय को ऐसा अवसर बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। बढ़कर युद्ध करो... यदि तुमने पाण्डवों को मारा तो धन-धान्य से सम्पन्न होकर राज करोगे, और यदि वीरगति मिली तो स्वर्ग-लोक प्राप्त करोगे।"

साथ ही कर्ण को यह भी लगा कि उसके मन में छिपा कोई उसे कौन्तेय कहकर पुकार रहा है। अपने मनोभाव को नियन्त्रित करते हुए उसने जैसे-तैसे दुर्योधन को उत्तर दिया, "मैं जानता हूँ मित्र!" उसका स्वर गम्भीर था, "और दोनों ही स्थितियों में मैं तुम्हारे उपकार एवं स्नेह का ऋण चुकाऊँगा... यह भी मुझे ज्ञात है।"

"तो चलो कर्ण!" पास ही खड़े अश्वत्थामा ने कहा, "हम पूरे वेग से आक्रमण करें। तुम अर्जुन को मारो, और मैं धृष्टद्युम्न से निपटता हूँ... और यह मेरी प्रतिज्ञा है कि अपने पिता के उस हत्यारे का वध किये बिना मैं अपना कवच नहीं खोलूँगा।"

'किन्तु मेरा कवच!' कर्ण ने सहसा अपने कवच की ओर विवश-दृष्टि से देखते हुए सोचा, 'वह तो न जाने कब का खुल चुका... मैंने ही खो दिया उसे। दोष दूँ भी तो किसे!'

कौरव-सेना ने एकजुट होकर पाण्डवों पर धावा किया... जहाँ उनके लक्ष्य पर अर्जुन तथा युधिष्ठिर थे और पाण्डव-सेना कर्ण को प्रमुख लक्ष्य बनाकर युद्ध कर रही थी। कर्ण तथा धृष्टद्युम्न में भयंकर युद्ध हुआ। तभी बीच में आकर अश्वत्थामा ने भी धृष्टद्युम्न पर आक्रमण किया। दोनों में भीषण युद्ध छिड़ गया, जिसमें धृष्टद्युम्न को निर्बल पड़ते देख अर्जुन ने आकर अश्वत्थामा को घायल किया और धृष्टद्युम्न को बचाया।

अर्जुन ने अपना रथ पुनः संशप्तकों की ओर बढ़वाया, जहाँ भीमसेन उनका विनाश कर रहे थे। अर्जुन ने वहाँ पहुँचकर, उनके साथ युद्ध करते हुए, कौरव-सेना में भगदड़ मचा दी। यह देख, कर्ण ने अनेक योद्धाओं को लेकर अपना रथ अर्जुन की ओर बढ़वाया, किन्तु बीच में ही उन पर भीमसेन, सात्यकि, शिखण्डी, जनमेजय, धृष्टद्युम्न, प्रभद्रक आदि टूट पड़े। कर्ण को शिखण्डी ने टक्कर दी और धृष्टद्युम्न दुःशासन से जा भिड़ा। नकुल ने वृषसेन पर, युधिष्ठिर ने चित्रसेन पर और सहदेव ने उलूक पर धावा किया। सात्यकि ने शकुनि को जा घेरा और अर्जुन ने अश्वत्थामा पर आक्रमण किया।

जहाँ कर्ण ने शिखण्डी को घायल करके भागने पर विवश कर दिया, वहीं दुःशासन ने धृष्टद्युम्न को बहुत पीड़ित किया। दूसरी ओर, नकुल ने वृषसेन को कड़ी टक्कर देकर युद्ध-विमुख कर दिया और सहदेव ने उलूक को रथ-विहीन करके भगा दिया। इसी प्रकार, सात्यकि ने शकुनि को रथ-हीन करके, भागने पर विवश कर दिया।

दूसरी ओर, जहाँ दुर्योधन तथा भीमसेन के द्वन्द्व में, दुर्योधन को रथ-हीन होकर भागना पड़ा, वहीं कृपाचार्य के सामने से युधामन्यु को सारथि मर जाने के कारण अपना रथ स्वयं ही हाँकते हुए हटना पड़ा।

भीमसेन को युद्ध में उन्मत्त होकर कौरव-सेना का विनाश करते देख, दुर्योधन

तथा शकुनि गजों की विशाल सेना लेकर उन पर टूट पड़े। किन्तु भीमसेन का पराक्रम भी अतुलनीय था। उनकी मार से उस गज-वाहिनी के साथ ही कौरव-सेना भाग खड़ी हुई।

तब दुर्योधन ने बहुत बड़ी सेना लेकर युधिष्ठिर को जा घेरा... और उन्हें पकडने का हर सम्भव प्रयास किया। किन्तु युधिष्ठिर ने भी क्रोधपूर्वक युद्ध करते हुए उसको कड़ी टक्कर दी। नकुल, सहदेव तथा धृष्टद्युम्न भी उनके पास आकर कौरव सेना का विनाश कर रहे थे। तभी कर्ण ने वहाँ पहुँचकर युधिष्ठिर पर बाणों की झड़ी लगा दी। युधिष्ठिर ने भी उसे बहुत आहत किया किन्तु कुछ देर बाद, घायल होकर वे रथ में बैठ गये और उन्होंने अपने सारथि को शिविर लौट चलने की आज्ञा दी। उन्हे नकुल तथा सहदेव के साथ शिविर की ओर जाता देख, कर्ण ने पीछा करके पुन: उन पर आक्रमण किया, जिसमें युधिष्ठिर का रथ खण्डित हो गया और नकुल तथा सहदेव को भी बहुत घाव लगे।

युधिष्ठिर अपनी इस पराजय से बड़े लज्जित थे। शिविर में चिकित्सक ने उनके बाण निकालकर उपचार किया और उन्हें विश्राम करने का परामर्श दिया। नकुल तथा सहदेव अपना उपचार कराके पुन: युद्धभूमि में जा पहुँचे।

रणभूमि में अश्वत्थामा का अर्जुन के साथ युद्ध चल रहा था। अश्वत्थामा ने उन्हे कड़ी टक्कर दी, किन्तु कुछ समय बाद अर्जुन ने क्षुरप्र मारकर अश्वत्थामा के रथ के अश्वों की बागडोर काट दी। तब बाणों की मार से पीडित होकर उसके अश्व भाग चले। यह देखकर उसकी सेना में भी भगदड मच गयी।

इसी बीच अर्जुन यह समाचार पाकर चिन्तित हो उठे कि युधिष्ठिर गम्भीर रूप से घायल होकर शिविर में पड़े हैं। भीमसेन ने भी, स्वयं शत्रु दल को सँभालने का आश्वासन देकर, उनसे युधिष्ठिर को देखने जाने का अनुरोध किया। अर्जुन, कृष्ण के साथ, शिविर की ओर चल दिये।

उन दोनों को असमय शिविर में लौटा देख युधिष्ठिर ने समझा कि वे, कर्ण का वध करके, उन्हें वह सुखद समाचार सुनाने आये हैं। किन्तु वास्तविकता जानकर वे क्रोधित हो उठे।

"कर्ण को मारे बिना तुम यहाँ चले आये?" युधिष्ठिर ने आश्चर्य में भरकर उन्हे धिक्कारते हुए कहा, "भीमसेन को वहाँ अकेले छोड़कर? यही है तुम्हारा पराक्रम! धिक्कार है तुम्हारे गाण्डीव तथा तुम्हारे पौरुष को।"

यह सुनकर अर्जुन भी क्रोधित हो उठे। यदि कृष्ण उन्हें नहीं रोकते तो पता नही अर्जुन क्या-क्या कह जाते... क्या कर बैठते... और स्थिति क्या मोड़ लेती।

किन्तु कर्ण द्वारा अपनी पराजय तथा अपने प्रति अर्जुन के क्रोध से युधिष्ठिर बहुत आहत थे। वे हाथ जोड़कर अर्जुन से बोले, "पार्थ! तुम लोगों पर सारे सकट

की जड़ तो मैं ही हूँ। मैं भीरु और दीर्घसूत्री भी हूँ... अतः मुझे संन्यास ले लेना चाहिए। मेरे जाने के बाद तुम सब भी सुख से रह सकोगे... इतना अपमान हो जाने पर, मेरे जीवित रहने का भी कोई औचित्य नहीं है।"

कृष्ण ने युधिष्ठिर को समझाया और अर्जुन ने उनसे क्षमा माँगी तो किसी प्रकार वे शान्त हुए... और कृष्ण तथा अर्जुन कर्ण के वध का दृढ़ संकल्प लेकर युद्धभूमि की ओर चल पड़े। मार्ग में कृष्ण अपने स्नेह-सिक्त सम्भाषण द्वारा अर्जुन का मनोबल बढ़ाते रहे और कर्ण के कुकर्मों का स्मरण कराते हुए उन्हें उसके अविलम्ब वध के लिए प्रेरित करते रहे।

कर्ण पर ध्यान केन्द्रित होते ही अर्जुन का मन एक विचित्र दृढ़ता एवं उत्साह से भर गया... जैसे किसी लक्ष्य-सन्धान की परीक्षा में दृष्टि पुनः पक्षी की आँख पर जा टिकी हो। उन्हें स्पष्ट दिखा कि अब कर्ण ही वह धुरी है जिस पर दुर्योधन का मनोरथ टिका है। दुर्योधन एवं शकुनि से उनके पापों के प्रतिशोध के लिए, द्रौपदी के अपमान के प्रतिशोध के लिए, अभिमन्यु तथा घटोत्कच के वध का प्रतिशोध लेने के लिए, उसे ध्वस्त करना ही होगा।

अपने तीव्रगामी रथ द्वारा रणभूमि तक पहुँचते पहुँचते अर्जुन के नेत्र क्रोध से जलने लगे थे। उन्होंने देखा कि उनके वहाँ पहुँचते ही पाण्डव-सेना में नये उत्साह का प्रवाह होने लगा है। उस समय वहाँ कृपाचार्य और शिखण्डी, सात्यकि और दुर्योधन, श्रुतश्रवा और अश्वत्थामा तथा युधामन्यु और चित्रसेन के बीच भयंकर युद्ध हो रहा था। उत्तमौजा का सुषेण से और सहदेव का शकुनि से युद्ध चल रहा था। शतानीक वृषसेन के साथ और धृष्टद्युम्न कर्ण के साथ उलझे हुए थे। दूसरी ओर दुःशासन ने संशप्तकों की विशाल सेना लेकर भीमसेन पर आक्रमण किया था।

देखते-ही-देखते, उत्तमौजा ने सुषेण का मस्तक काट गिराया। अपने पुत्र को मरते देख, कर्ण ने क्रोधपूर्वक बाण-वर्षा करते हुए उत्तमौजा का रथ टुकड़े-टुकड़े कर दिया। उत्तमौजा भी कृपाचार्य के रथ के अश्वों को मारकर शिखण्डी के रथ पर जा चढ़ा। कृपाचार्य को रथहीन देख शिखण्डी ने उन पर प्रहार नहीं किया।

कौरव-सेना का विनाश करते हुए, भीमसेन की दृष्टि अर्जुन के वानर-चिह्नित रथ ध्वज पर पड़ी... उन्हें आया देख भीमसेन का मनोबल और भी बढ़ गया। उस समय वे दुर्योधन द्वारा, शकुनि के साथ भेजी हुई विशाल सेना से जूझ रहे थे। उन्होंने, उस सेना को नष्ट करके, शकुनि को भी घायल कर दिया।

अर्जुन अपने मार्ग में आये रथियों, महारथियों, गजों, अश्वारोहियों तथा सैनिकों को भीषण बाण-वर्षा से मारते एवं भगाते हुए, कर्ण के पास जा पहुँचे। उस समय दिन का तीसरा प्रहर आ पहुँचा था और कर्ण, सोमकों का संहार करके, चेदि, पांचाल तथा करूष-क्षेत्रीय सेनाओं की ओर बढ़ रहा था। सात्यकि, शिखण्डी, सहदेव, नकुल

आदि कर्ण को बाधा पहुँचाते हुए, भीषण बाण-प्रहार द्वारा उसे आहत करने में लगे थे। फिर भी कर्ण के पराक्रम के आगे वे निर्बल पड़ रहे थे, जिसके कारण पाण्डव-सेना में भगदड़ मची थी और कौरव-सेना में उत्साह था।

"देखो कर्ण! वह रहा अर्जुन का रथ..." अर्जुन को आते देख शल्य ने कहा, "जिससे युद्ध करने के लिए तुम बहुत लालायित थे। वह इधर ही आ रहा है। अब दिखाओ अपना पराक्रम, जिस पर तुम सदैव इतराते रहे हो।"

"आने दो मद्रराज!" कर्ण ने गम्भीर स्वर में कहा, "उसे आने दो... आज मैं नहीं या वह नहीं।"

"मैं नहीं की बात भी सोचने लगे, राधानन्दन!" शल्य ने कुछ व्यंग्य भरे स्वर में कहा, "लगता है कि अर्जुन का पराक्रम कुछ तुम्हें भी समझ में आने लगा है।"

"अर्जुन के पराक्रम को कौन नहीं जानता मद्रराज!" कर्ण ने गम्भीर रहते हुए ही कहा, "किन्तु मेरे पास भी दिव्यास्त्रों की कोई कमी नहीं है... और न युद्ध-कौशल में ही मैं अर्जुन से कम हूँ।"

यह कहकर कर्ण ने सबके परामर्श से योजना बनायी कि पहले दुर्योधन, कृपाचार्य, कृतवर्मा, शकुनि, अश्वत्थामा आदि विशाल सेना-सहित अर्जुन को घेरकर भली-भाँति थकाएँ, जिसके बाद वह उन्हें सुगमता से मार सके। इस योजना के अनुसार वे सब एकजुट होकर अर्जुन पर टूट पड़े और भाँति-भाँति के अस्त्र शस्त्रो से उन पर प्रहार करने लगे। किन्तु विचलित हुए बिना, अर्जुन ने उन सबको अपने बाणों से बींधना प्रारम्भ किया... किसी का रथ तोड़ा, किसी के रथ के अश्वों को मार गिराया, किसी के सारथि का वध किया, किसी का कवच काट गिराया और किसी को बुरी तरह घायल करके भागने पर विवश कर दिया। कुछ ही देर में, वह कौरव-सेना छिन्न-भिन्न होकर बिखर गयी।

तब कर्ण ने उन सबको धैर्य बँधाते हुए पुनः युद्ध के लिए प्रेरित किया। स्वयं उसने कौरव-सेना को साथ लेकर बढ़ते हुए अनेक पाण्डव-पक्षीय योद्धाओं को हताहत किया। सुतसोम, शतानीक, धृष्टद्युम्न आदि उसकी मार से व्याकुल होकर छटपटाने लगे। केकयराजकुमार विशोक ने घायल होकर प्राण त्याग दिये और केकय-सेनापति उग्रकर्मा भी यमलोक सिधार गया। किन्तु इसी बीच कर्ण का पुत्र प्रसेन भी सात्यकि के हाथों मारा गया।

पुत्र-वध से क्रोधित होकर कर्ण ने अर्जुन से ध्यान हटाकर सात्यकि पर अनेक घातक बाण छोड़े, किन्तु शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न को उसकी रक्षा करते देख, कर्ण ने उन पर भी आक्रमण किया और धृष्टद्युम्न के पुत्र को मार गिराया।

अर्जुन तथा कर्ण एक बार फिर परस्पर द्वन्द्व से विमुख होकर विपक्षी सेनाओं में उलझ गये। युद्ध भयंकर रूप लेता चला गया। उस महासंग्राम के बीच व्यापक

विनाश करते हुए दु:शासन और भीमसेन एक-दूसरे के सम्मुख आ पड़े। देखते-ही-देखते वे दोनों जन्म-जात वैरियों की भाँति एक-दूसरे पर टूट पड़े। वे दोनों ही अपने प्राणों का मोह भुलाकर प्राण-घाती प्रहार करने लगे। कई बार उन दोनों के धनुष कटे और बारम्बार उन्होंने एक-दूसरे को तीखे बाणों से विदीर्ण किया। रथ टूटने एवं सारथि की मृत्यु से, वे दोनों ही, भूमि पर कूदकर शक्तियों तथा गदाओं द्वारा प्रहार करने लगे। कुछ देर बाद, भीमसेन ने दु:शासन को एक भरपूर गदा प्रहार द्वारा भूमि पर गिरा दिया और उसके गले पर अपना पाँव रखकर कहा, "दु:शासन! याद कर अपने सारे पाप... मुझे बैल कहकर अपमानित करता था... कर्ण तथा दुर्योधन से मिलकर हमें लाक्षागृह में जलाना चाहता था... और भरी सभा में द्रौपदी के केश पकड़ने का, उसके वस्त्र को हाथ लगाने का साहस किया था तूने..."

किन्तु मृत्यु की छाया तले, दबे पड़े, दु:शासन के मन में आत्म-ग्लानि, अथवा मुख पर पश्चात्ताप का कोई चिह्न नहीं था। वह क्रोध एवं उद्दण्डता के साथ बलपूर्वक ऊँचे स्वर में बोला, "अरे बैल! मैंने जो कहा... जो किया, सब ठीक किया। तुम सब इसी योग्य हो... मैंने इसी हाथ से द्रौपदी के केश खींचे थे और देखो, इसी से मैं तुम्हें भी मार गिराऊँगा।"

यह कहते हुए दु:शासन ने अपने हाथ से भीमसेन के पाँव पर प्रहार किया... किन्तु तब तक भीमसेन ने उसकी वह बाँह दोनों हाथों में पकड़कर मरोड़ी और झटके के साथ उखाड़ ली। दूसरे ही क्षण, उन्होंने खड्ग के एक भरपूर प्रहार से उसका वक्ष:स्थल चीर दिया और उससे फूटती रक्त की धार को अंजलि में भरकर पी लिया।

ऐसा अभूतपूर्व क्रूर कर्म देखकर पास खडे सभी लोग व्याकुल हो उठे... कुछ के हाथों से अस्त्र छूट गये, कुछ स्वयं ही पृथ्वी पर गिर गये और कितनों ने ही भय के मारे आँखें मूँद लीं।

उन्हीं में एक था कर्ण का अनुज चित्रसेन, जो "यह मनुष्य नहीं, राक्षस है..." कहता हुआ भागा। उसे भागते देख युधामन्यु ने बाण-वर्षा करते हुए उसका पीछा किया। चित्रसेन तथा उसके साथियों ने भी युधामन्यु पर बाण बरसाये... किन्तु युधामन्यु के एक बाण से चित्रसेन का मस्तक कटकर भूमि पर जा पड़ा।

अपने अनुज की मृत्यु से और भी क्रोधित होकर, कर्ण विक्षिप्त की भाँति रथ दौड़ाता हुआ पाण्डव-सेना का विनाश करने लगा... तब नकुल ने बढ़कर उसे टक्कर दी।

उधर रक्त से लथपथ हाथ एवं मुख लिए भीमसेन ने कृष्ण तथा अर्जुन के पास पहुँचकर कहा, "दु:शासन की छाती का रक्त पीकर मैंने एक प्रतिज्ञा तो पूरी कर ली... अब दुर्योधन का सिर अपने पैरों तले कुचलकर मुझे एक प्रतिज्ञा और पूरी करनी है।"

कृष्ण तथा अर्जुन, भीमसेन का ऐसा रौद्र रूप देखकर आतंकित हो उठे... उनसे कुछ कहते नहीं बना। उनके देखते-देखते ही भीमसेन पुनः अपना रथ घुमाकर, बाण बरसाते हुए, कौरवों की सेना में प्रवेश कर गये।

उधर दु:शासन की दारुण हत्या देखकर उसके दस अनुज एकजुट होकर भीमसेन पर टूट पड़े। किन्तु भीमसेन उस समय साक्षात् रुद्र का अवतार बने विनाशलीला करते घूम रहे थे। कुछ ही समय में भल्लों की मार से उन्होंने निषंगी, कवची, पाशी, दण्डधारी, धनुर्धर, अलोलुप, सह, षण्ढ, वातवेग और सुवर्चा – सभी को मार गिराया।

उन सबको निष्प्राण होकर गिरता देख, कौरव-सेना में भगदड़ मच गयी . कर्ण खड़ा देखता रह गया। उसके मन में भी भय समाने लगा। शल्य उसे देखकर उसके मन की स्थिति समझ गये।

"चिन्ता त्यागो, राधानन्दन!" शल्य ने समझाते हुए कहा, "तुम्हारे-जैसे वीर को भय शोभा नहीं देता। दुर्योधन ने सारी आशा तुम्हीं पर लगा रखी है। अब सारी कौरव-सेना के एकमात्र कर्णधार तुम्हीं हो।"

शल्य की बात सुनकर, कर्ण ने दृढ़-निश्चय के साथ युद्ध करने का संकल्प लिया और रथ आगे बढ़वाया।

उधर, नकुल ने वृषसेन पर आक्रमण करके उसे बाणों से बींधते हुए, उसका धनुष काट गिराया। वृषसेन ने भी नया धनुष उठाकर बाण वर्षा करते हुए नकुल के रथ के श्वेत अश्वो को मार डाला। रथहीन होते ही नकुल ने खड्ग एव ढाल-सहित रथ से कूदकर शत्रुओं को हताहत करना प्रारम्भ किया और, अवसर पाते ही, वे भीमसेन के रथ पर जा बैठे।

नकुल को अपने चंगुल से निकलता देख, वृषसेन ने शतानीक पर आक्रमण किया और उसे बाणों से बींधकर अर्जुन तथा कृष्ण पर बाणों की झड़ी लगा दी। वे दोनो ही वृषसेन के बाणों से घायल हो गये.. तब अर्जुन ने क्रोधपूर्वक कर्ण के पास खडे वृषसेन पर आक्रमण किया और पुकारकर कर्ण से कहा, "सूतपुत्र! मेरे पुत्र अभिमन्यु को तुम सबने अकेला और निहत्था पाकर मारा था... और मैं तुम्हारे पुत्र को तुम्हारे सामने ललकारकर मारूँगा। बचा सको तो बचाओ।"

अर्जुन की ललकार सुनते ही कर्ण ने अर्जुन की ओर रथ बढ़वाते हुए उन पर बाणों की झड़ी लगा दी। किन्तु अर्जुन, कर्ण के प्रहारों को काटते हुए भी, वृषसेन पर बाण-वर्षा करते रहे। कुछ ही क्षणों में उन्होंने वृषसेन की दोनों भुजाएँ काटकर चार क्षुरों से उसका मस्तक भी काट गिराया।

दूसरे ही क्षण, क्रोध में आँखें लाल किये, पुत्र के लिए अश्रु बहाता हुआ, कर्ण अर्जुन के सम्मुख पहुँच चुका था।

इसी बीच अश्वत्थामा, अपना रथ दौड़ाता हुआ, दुर्योधन के पास पहुँचा।

"सन्धि कर लो युवराज!" उसने मनुहारते हुए स्वर में कहा, "विरोध से कोई लाभ नहीं, अब भी समय है। बहुत विनाश हो चुका... और मत होने दो। पाण्डवों के साथ मिलकर राज्य का सुख भोगो। मैं अर्जुन को मना लूँगा... कृष्ण भी युद्ध नहीं चाहते। मान लो, मेरी विनती मान लो..."

"तुम ठीक कह रहे हो मित्र!" दुर्योधन ने रुँधे हुए गम्भीर कण्ठ से कहा, "किन्तु अब बहुत देर हो चुकी है। ऐसे भी मैं माँ को मुख दिखाने योग्य नहीं रहा... और फिर अनुज दुःशासन के साथ भीमसेन ने जो बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया, वह मैं कदापि नहीं भूल सकता। ऐसी स्थिति मे शान्ति क्या.. और सन्धि क्या! और रही बात कर्ण की... तो उसे इस समय न रोको। इस समय अर्जुन थका है... और कर्ण के लिए उसे परास्त करने का यही उत्तम अवसर है।"

देखते-ही देखते दुर्योधन, कृतवर्मा, शकुनि तथा कृपाचार्य विशाल सेना-सहित कर्ण के पास पहुँचकर, कृष्ण तथा अर्जुन पर प्राणघातक बाणों का प्रहार करने लगे। सारे पाण्डव-पक्षीय योद्धा भी वही पहुँचकर कौरव योद्धाओ से युद्ध करने लगे। कुछ ही समय में सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र में फैले हुए सारे रथी महारथी, सैनिक आदि कर्ण तथा अर्जुन के पास सिमटकर उन्हीं के पक्ष तथा विरोध में युद्ध करने लगे।

कर्ण तथा अर्जुन दोनों अपने चुने हुए अस्त्र शस्त्र निकालकर प्रहार कर रहे थे। कभी वे एक दूसरे के शस्त्रो को शान्त करते तो कभी उनको काटते हुए एक-दूसरे के रथ, सारथि अथवा अश्वो पर प्रहार करते थे। कभी उनका लक्ष्य कवच को काट गिराना होता था, तो कभी सीधे ही किसी मर्म-स्थान को वेधना।

दोनों ही पक्षों के अन्य योद्धा, परस्पर प्रहार करते हुए, अर्जुन तथा कर्ण को प्रोत्साहित करके शत्रु का वध करने के लिए प्रेरित करते थे।

सामान्य सैनिकों की भाँति, अन्य योद्धाओं से युद्ध करते हुए, भीमसेन ा निरन्तर अर्जुन को कर्ण का वध करने के लिए ललकार रहे थे। बीच-बीच में वे उन्हें यह भी याद दिलाते जाते थे कि दुयोधन के प्रत्येक धूर्ततापूर्ण कृत्य में कर्ण का निरन्तर सहयोग था... उसने भी द्रौपदी के लिए अपशब्द कहे थे और अब वही था जिस पर दुर्योधन का अहंकार टिका था।

कुछ समय में, केवल कर्ण तथा अर्जुन ही नहीं, शल्य तथा कृष्ण और उन दोनों के रथों के श्वेत अश्व भी रक्त से नहा उठे। किन्तु उन दोनों महारथियों का युद्ध क्षण-प्रतिक्षण और भी भयंकर होता जा रहा था। इसी बीच अवसर पाकर अर्जुन ने कर्ण के रथ के रक्षकों तथा चक्र-रक्षको को मार गिराया उधर, कौरव-सेना के अनेक अन्य योद्धाओं के वध के कारण, कौरव सेना में भगदड़ मची हुई थी।

अपने पक्ष को निर्बल पड़ता देखकर भी कर्ण के उत्साह मे कहीं कोई कमी नहीं

आयी। वह जानता था कि अर्जुन से युद्ध उसे ही करना है, केवल उसे... और यदि वह, किसी भी युक्ति से, अर्जुन को मारने में सफल हुआ तो, क्षणभर में ही, सारा पाँसा पलट जाएगा। उन दोनों के युद्ध में, अस्त्र-संचालन, मायाबल तथा पुरुषार्थ में, कभी कर्ण का पलड़ा भारी हो जाता था, तो कभी अर्जुन का।

कर्ण पूरे क्रोध एवं पूरी एकाग्रता के साथ अर्जुन पर भाँति-भाँति के अमोघ शस्त्रों का प्रहार कर रहा था, यद्यपि अर्जुन उन सभी को काटते जा रहे थे। इसी बीच उसे यह देखकर बड़ी निराशा हुई कि उसका एक बाण जो सीधा अर्जुन के कण्ठ में लगने वाला था, कृष्ण द्वारा रथ के अश्वों को झटके के साथ बैठा देने के कारण, अर्जुन के मुकुट को छूता हुआ निकल गया। कृष्ण की इस दूरदर्शिता एवं उनके ऐसे अभूतपूर्व सारथ्य-कौशल ने सहसा कर्ण को निराश कर दिया। उसके मन में कौंधा कि ऐसे कुशल सारथि के होते, अर्जुन का भला कोई क्या बिगाड़ पाएगा!

उधर, अर्जुन अपने प्रहारों द्वारा, कर्ण के मर्म-स्थानों को वेधते हुए, उसे निरन्तर निर्बल किये जा रहे थे। चोट पर चोट खाते हुए वह ऐसा व्यथित हुआ कि धनुष पर उसकी पकड़ ढीली होने लगी। वह अचेत होकर रथ पर लुढ़क गया।

उसे अचेत देखकर अर्जुन ने उस पर प्रहार करना बन्द कर दिया.. किन्तु कृष्ण ने उन्हें बाण-वर्षा करते रहने के लिए प्रेरित किया। कुछ सोच-विचार कर, अर्जुन ने उस पर बाण चलाने के लिए पुनः धनुष उठाया। किन्तु तब तक कर्ण को चेत हो चुका था और वह धैर्य धारण करके अर्जुन पर भयंकर बाण छोडने के लिए खडा हो चुका था। किन्तु सहसा उसे लगा कि उसकी बुद्धि... उसकी स्मृति उसका साथ नहीं दे रही है। वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि, पास ही सजाकर रखे हुए बाणों में से, वह कौन-सा बाण अथवा अन्य कौन-सा शस्त्र उठाए... किस प्रकार उसका सन्धान करे... और अर्जुन के शरीर के किस भाग पर लक्ष्य करके उसे छोड़े।

अपनी इस मानसिक स्थिति से कर्ण बहुत व्यथित हुआ... उसे लगा, उसकी सामर्थ्य उसका साथ छोड़ रही है। तभी उसके रथ को ऐसा झटका लगा कि वह गिरते-गिरते बचा। यदि झपटकर उसने ध्वज-दण्ड न पकड़ लिया होता, तो कौन जाने वह भूमि पर ही जा गिरा होता। सहसा उसने देखा कि उसके अश्व रथ खींचने के लिए छटपटा रहे हैं... किन्तु रथ है कि आगे बढ़ ही नहीं रहा है। शल्य रथ के अश्वों को बढ़ाने का प्रयास कर रहे हैं, किन्तु अश्व अशक्त हैं...

सहसा उसे चेत हुआ कि उसके रथ का पहिया किसी पाषाणी गढे में जा फँसा है, 'यह कैसा अन्याय है प्रकृति का...? यह किस जन्म का पाप है जो ऐसी विचित्र बाधाएँ खड़ी कर रहा है मेरे सम्मुख!'

उसकी आँखों के आगे अन्धकार घिरने लगा था, 'मैं तो सदैव धर्म की राह पर चला, सदैव दान दिये मैंने... मैंने अनजाने में भी कोई.. ' क्षणांश में ही उसकी स्मृति

उसे महर्षि परशुराम के आश्रम की ओर ले गयी... जहाँ स्वयं को ब्राह्मण कहकर उसने धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था, और वास्तविकता जानकर परशुराम क्रोधित हुए थे... और उस ब्राह्मण की ओर भी, जिसकी गाय का बछड़ा अनजाने में ही उसके बाण से मर गया था।

'किन्तु यह सब सोचने से क्या लाभ।' कर्ण ने तुरन्त रथ से कूदकर पृथ्वी में धँसे अपने रथ के पहिये का निरीक्षण किया। क्षणभर को, उसकी दृष्टि शल्य की ओर भी उठी... वे रथ की जड़ता के प्रति निश्चिन्त, रथ खींचने के लिए मात्र अश्वों पर प्रहार किये जा रहे थे। 'राज-मद में चूर यह सारथि...! इन्हें सारथि बनाने का निर्णय क्या ठीक था...?' किन्तु उस प्रश्न के लिए भी समय नहीं था। कर्ण ने धरती में धँसे अपने रथ के पहिये को दोनों भुजाओं मे पकड़कर उठाने एवं घुमाकर निकालने का प्रयत्न किया... किन्तु रथ भारी हो गया, अथवा उसका भुजबल विश्वासघात कर रहा है... यह निर्णय वह नहीं कर पाया।

इस बीच अर्जुन के बाण निरन्तर उसके मर्मस्थानों को वेधते हुए उसकी पीडा बढ़ा रहे थे। अपनी विवशता पर उसकी आँखें भर आयीं।

"अर्जुन!" कर्ण ने करुण स्वर में पुकारते हुए कहा, "तुम तो महान धनुर्धर हो... दैव-वश असहाय स्थिति में पडे निहत्थे योद्धा पर बाण चलाना तुम्हें शोभा नहीं देता। क्या तुम युद्ध के नियम भी भूल गये? तुम्हारा यह आचरण धर्म विरुद्ध है..."

"राधानन्दन..." उत्तर कृष्ण ने मुस्कराते हुए दिया, "बड़े आश्चर्य की बात है कि आज तुम्हें धर्म का स्मरण हो रहा है। किन्तु तुम्हारा धर्म तब कहाँ चला जाता था जब तुम पाण्डवों के विरुद्ध निरन्तर दुर्योधन का साथ देते रहते थे? क्या उस षड्यन्त्र में तुम्हारा सहयोग नहीं था, जिसमे पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाकर मार डालने की योजना बनाई गयी थी? क्या तुम उस षड्यन्त्र में भागीदार नहीं थे जिसमें कपट-द्यूत द्वारा पाण्डवों को छला गया था? क्या तुमने तेरह-वर्षीय वनवास के बाद भी पाण्डवों को राज्य न लौटाने का समर्थन नहीं किया था? और तुमने द्यूत-भवन में असहाय खड़ी द्रौपदी से क्या कहा था.. उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? और अकेले अभिमन्यु को घेरकर, छः महारथियो ने जब मारा था, उस समय कहाँ गये थे तुम्हारे युद्ध के नियम? कहाँ गया था तुम्हारा धर्म?"

शारीरिक पीड़ा से व्याकुल, कर्ण अपने मन पर आघात करने वाले ये प्रहार नहीं झेल पाया। उसका सिर लज्जा से झुक गया... उससे कोई उत्तर नहीं देते बना।

तभी सहसा उसके शरीर में न जाने कहाँ से शक्ति आ गयी... उसके नेत्र क्रोध से प्रज्ज्वलित हो उठे। झपटकर उसने अपना धनुष उठाया और वह प्रत्यंचा पर भाँति-भाँति के शरों का सन्धान करके अर्जुन पर छोड़ने लगा। कुछ बाणों से अर्जुन

आहत भी हुए, किन्तु तभी उन्होंने गाण्डीव पर एक तीक्ष्ण एवं विशाल आंजलिक का सन्धान करते हुए, प्रत्यंचा कान तक खींचकर, उसे छोड़ दिया। वह बाण कर्ण का कण्ठ वेधते हुए पार निकल गया... और कर्ण वृक्ष से कटी डाल की भाँति निश्चेष्ट होकर भूमि पर गिर पड़ा।

यह बहु-प्रतीक्षित चमत्कार देख पाण्डव-पक्षीय योद्धा उच्च स्वर में अपने शंख बजाने लगे... सैनिक जय-जयकार करने लगे। कृष्ण ने अर्जुन की ओर विजयोल्लास में मुस्कराकर देखा और उन्हें अपने हृदय से लगा लिया। युद्ध-भूमि में ही उत्सव जैसा वातावरण छा गया। दूसरी ओर, अपने शक्तिमान सेनापति को धराशायी देख, कौरव-सेना आश्चर्य एवं भय में गिरती-पड़ती भाग खड़ी हुई। शल्य भी, क्षण-भर हत्प्रभ खड़े रहकर रथ से कूदे और कर्ण के शव को रथ पर डालकर, कुछ सैनिकों की सहायता से ठेलकर रथ को गड्ढे से निकालते हुए, अपने शिविर की ओर दौड़ चले।

कर्ण की मृत्यु का समाचार पाते ही दुर्योधन के नेत्रों में अश्रु भर आये... वह दौड़ता हुआ कर्ण के शिविर की ओर गया जहाँ सहस्रों योद्धा एवं सैनिक उसके शव को घेरे, पाषाणवत् खड़े थे।

दुर्योधन ने उच्च स्वर में विलाप करते हुए दौड़कर कर्ण के शव को अपने हृदय से लगा लिया। उसे लग रहा था जैसे दु:शासन वास्तव में अब धराशायी हुआ है। दु:शासन की मृत्यु पर तो उसे क्रोध हुआ था... केवल क्रोध... जब अंगार उगलते नेत्रों से उसने पाण्डवों को धूल में मिला देने की सौगन्ध दुहरायी थी... क्योंकि तब तक उसके साथ कर्ण था। किन्तु अब, कर्ण के बाद, उसे सब कुछ अन्धकारमय प्रतीत हो रहा था।

जब कर्ण का शव भूमि पर गिरा, तब सूर्य अस्त होने में दो घड़ी का समय शेष था, किन्तु कौरव सैनिकों के भाग जाने के कारण, और पाण्डव पक्षीय सेनाओं मे हर्षोल्लास के कारण, युद्ध समाप्त हो गया। सम्भवत: अन्तर्मन में, सब योद्धाओं को लगने लगा था कि अब युद्ध समाप्त हो गया... अब दुर्योधन, अपना आग्रह त्यागकर, पाण्डवों को उनका राज्य लौटा देगा, और युधिष्ठिर भी कौरवों के प्रति द्वेष त्यागकर दुर्योधन से सन्धि कर लेंगे।

कृष्ण, अर्जुन तथा सभी पाण्डव पक्षीय योद्धाओं सहित, शीघ्रतापूर्वक युधिष्ठिर को यह सुखद समाचार सुनाने पहुँचे तो युधिष्ठिर ने उठकर, अर्जुन को हृदय से लगाते हुए, कृष्ण का हाथ जोड़कर अभिनन्दन किया और सतत मार्गदर्शन के लिए उनका आभार व्यक्त किया।

दूसरी ओर, अश्व दौड़ाते हुए संजय ने महाराज धृतराष्ट्र के सम्मुख पहुँचकर प्रणाम किया।

"तुम्हारा स्वर बुझा हुआ क्यों है, संजय?" धृतराष्ट्र ने आशंका में अपनी डगमगाती हृदय गति को थामते हुए आतुर कण्ठ से पूछा, "इतने पुत्रों की वीरगति का समाचार सुना चुके हो... अब और यह अनर्थ न करना..."

संजय का कण्ठ सूख रहा था... नेत्रों से अश्रुओं की झड़ी लगी थी। उससे कुछ कहते न बना।

"यों मौन रहकर हमें दुश्चिन्ता और आशंका से न मारो संजय!" गान्धारी ने काँपते-बिलखते स्वर में कहा, "कभी कोई सुखद समाचार भी तो लाया करो।"

दूसरे ही क्षण, संजय से रुँधे-कण्ठ में, दुःशासन तथा कर्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर, गान्धारी चीत्कार करती हुई गिर पड़ीं और धृतराष्ट्र मूर्च्छित हो गये।

युद्ध को अन्तिम परिणत तक पहुँचाने के लिए, दुर्योधन ने, अश्वत्थामा के परामर्श पर, शल्य को प्रधान-सेनापति बनाया। इस निर्णय का सभी योद्धाओं ने एकमत से, जय-जयकार करते हुए, स्वागत किया।

"वत्स दुर्योधन!" शल्य ने गम्भीरतापूर्वक सैनिकों का अभिवादन स्वीकार करके कहा, "जानते हो, कि इस युद्ध में इतना समय क्यों लग गया? सत्रह दिन कैसे व्यर्थ हो गये?"

"क्यों मामाश्री?" दुर्योधन को इस प्रश्न की आशा नहीं थी, "पाण्डवों का भाग्य हमारे मार्ग का रोड़ा बना हुआ है।"

"नहीं, वत्स... नहीं!" शल्य ने निर्णायक स्वर में अपनी ग्रीवा झटकते हुए कहा, "उनके भाग्य ने साथ दिया भी, तो मात्र हमारी दुर्व्यवस्था के कारण... स्वयं हमारी अनीति के कारण। पहले तो तुमने अपने वृद्ध पितामह को प्रधान सेनापति बनाने की भूल की... जो तुम्हारे हितैषी कम और पाण्डवों के अधिक थे। फिर आश्रय लिया तुमने अपने आचार्य का, जो निरन्तर अपनी रणनीति को भुलाकर कृष्ण तथा अर्जुन को ही महिमा-मण्डित करते रहे। इससे हमारे योद्धाओं का मनोबल निरन्तर गिरता ही रहा..."

"किन्तु मामाश्री..."

दुर्योधन की शंका को कोई महत्त्व दिये बिना ही शल्य ने अपना विश्लेषण आगे बढ़ाया, "और कर्ण को वह पद देना तो तुम्हारी भयंकर भूल थी। मैं जानता हूँ, वह तुम्हारा मित्र था... और उसी के आग्रह पर तुमने मुझे उसके सारथ्य-कर्म में लगा दिया। किन्तु वह यह युद्ध तुम्हारे लिए लड़ ही नहीं रहा था... मात्र जैसे तैसे अर्जुन को नीचा दिखाने के लिए लड़ रहा था... और यही हीन-भावना उसे ले बीती। वह अर्जुन को अपशब्द तो बहुत सुनाता था... किन्तु उसे अपने सम्मुख पाकर यह भी भूल जाता था कि उसके पास कैसे कैसे शस्त्र उपलब्ध हैं।"

"अब वह वीरगति पा चुका, मामाश्री!" दुर्योधन ने प्रसंग टालते हुए कहा, "अब सैन्य-बल आपके हाथ है। यदि मुझे कुछ दे सकते हैं, तो अर्जुन का कटा हुआ मस्तक उपहार में दे दीजिए... कि मैं पिताश्री के सम्मुख, माताश्री के सम्मुख, अपने अनुजों को मृत्यु के मुँह में ढकेलने के लिए, एक बार क्षमा माँगने तो जा सकूँ। मैं बहुत व्याकुल हूँ उनके दर्शन के लिए, किन्तु ऐसे बिना किसी उपहार के जा भी तो नहीं सकता..." कहते-कहते दुर्योधन का कण्ठ भर आया। उसका मुख अश्रुओं से भीग गया।

"धैर्य रखो गान्धारीनन्दन!" शल्य ने स्नेह भरी दृष्टि से ही अभय-दान देते हुए कहा, "मुझे बस एक दिन का समय दो। वास्तव में ये अर्जुन और कृष्ण कोई ऐसे महान योद्धा नहीं हैं... हैं तो मनुष्य ही, जो अपने दैवी मुखौटे तथा देवताओं द्वारा प्राप्त शस्त्रों की चर्चा से लोगों को डराते रहते हैं। किन्तु आज वे देख लेंगे, कि मैं उनकी कही बातों में आने वाला नहीं। मैंने शस्त्र-विद्या के वास्तविक आचार्यों से शस्त्र ज्ञान प्राप्त किया है... और सैन्य-संचालन का यथार्थ गुर पाया अपने पिता आर्तायन से, जो महान योद्धा ही नहीं, नीति-शास्त्र के महान पण्डित भी थे। मैंने सैकडों युद्ध जीते हैं और इन-जैसे सहस्त्रों योद्धाओं को आकाश दिखाया है।"

"अब कुछ विश्राम कर लें मामाश्री!" दुर्योधन को शल्य की आत्म प्रशस्ति भारी प्रतीत हो रही थी। रह-रहकर उसके मन में यह प्रश्न भी कौंध रहा था, 'क्या यह निर्णय ठीक है?... कहीं यह...' किन्तु वह अपनी आशंकाओं को तूल देने की स्थिति में भी नहीं था। बहुत देर हो चुकी थी।

उधर, पाण्डव यह सोचे बैठे थे कि कर्ण की मृत्यु से विचलित होकर दुर्योधन सन्धि का प्रस्ताव भेजेगा। किन्तु इस आशा के विपरीत पाण्डव-शिविर में जब शल्य के सेनापतित्व ग्रहण करने का समाचार पहुँचा तो, एक बार फिर, सम्बन्ध का प्रश्न उनके सम्मुख आ खड़ा हुआ। युधिष्ठिर का ध्यान नकुल तथा सहदेव की ओर गया, जिनका वध न करने का संकल्प शल्य ले चुके थे।

"इस स्थिति में..." उन्होंने चिन्तित स्वर में कृष्ण से कहा, "हम अपने अनुजो से यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वे अपने मातुल के विरुद्ध शस्त्र उठाएँ...? और फिर, मातुल तो वे हमारे भी हैं।"

कृष्ण शल्य से, और उनके पराक्रम से, भली-भाँति परिचित थे।

"इस भावुकता को बीच में न आने दें भैया!" कृष्ण ने कहा, "सम्बन्धों की भावुकता का रण-भूमि में कोई स्थान नहीं होता। रण भूमि में जो साथ खड़ा हो, वही वास्तविक सम्बन्धी है... और विरोध में शस्त्र उठाने वाला, शत्रु... केवल शत्रु। और हाँ, शल्य अत्यन्त पराक्रमी हैं... उन्हें किसी से कम समझने की भूल न करिएगा। और रही बात नकुल तथा सहदेव की, तो वे शल्य का वध करने के लिए नहीं... मात्र

उनको बन्दी बनाने तथा उनकी सेना का संहार करने के लिए युद्ध करेंगे। अर्जुन अथवा भीम भैया द्वारा उनका वध, माता माद्री का असम्मान नहीं होगा। अपनी अनुजा का अपमान तो शल्य स्वयं करते रहे हैं. रण भूमि में उनके पुत्रों के विरुद्ध युद्ध करके।"

सूर्योदय से पूर्व ही अपने योद्धाओं को एकत्रित करके शल्य ने अपनी प्रारम्भिक रणनीति सुनायी, "हमारा कोई भी योद्धा अकेले जाकर पाण्डवों से युद्ध न करे।"

इस योजना से प्रभावित होकर कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, शल्य, शकुनि आदि सभी प्रमुख योद्धाओं ने मिलकर, साथ रहते हुए, युद्ध करने का संकल्प लिया।

शल्य ने कौरव-सेना का सर्वतोभद्र-व्यूह बनाकर आक्रमण किया, जिसके शीर्ष स्थान पर कर्ण के पुत्र, भानुसेन तथा सत्यसेन थे। वाम-भाग में त्रिगर्तों की सेना के साथ कृतवर्मा और दक्षिण-भाग में शक तथा यवन सेनाओं के साथ कृपाचार्य थे। उनके पृष्ठ भाग में काम्बोज-सेना के साथ अश्वत्थामा तथा दुर्योधन थे।

कौरव-व्यूह से टक्कर लेने के लिए पाण्डवों ने अपनी सेना को धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा सात्यकि के नेतृत्व में तीन भागों में विभक्त किया। अर्जुन ने कृतवर्मा पर और भीमसेन ने कृपाचार्य पर आक्रमण किया। नकुल तथा सहदेव ने शकुनि तथा उलूक पर धावा किया।

उस अठारहवें दिन का युद्ध प्रारम्भ होते समय कौरवों के पास मात्र ग्यारह सहस्त्र रथ, सत्रह सौ गज, दो लाख अश्व तथा तीन करोड़ पैदल सैनिक बचे थे। इसके विरुद्ध, पाण्डवों के पास छः सहस्त्र रथ, छः सहस्त्र गज, दस सहस्त्र अश्व तथा एक करोड़ सैनिक थे।

जहाँ एक ओर अर्जुन तथा भीमसेन कौरव-सेना का विनाश करते घूम रहे थे, युधिष्ठिर, धृष्टद्युम्न तथा शिखण्डी ने मिलकर शल्य पर आक्रमण किय.। कौरव-सेना पहले तो मार खाकर भागने लगी किन्तु शल्य को बढ़कर उन सबसे टक्कर लेते देखकर युद्ध के लिए पुनः आ डटी।

इसी बीच नकुल ने भानुसेन पर धावा किया। भानुसेन ने कुछ ही क्षणों में नकुल के रथ के अश्वों को मारकर उसे रथहीन कर दिया। रथहीन होते ही नकुल, खड्ग तथा ढाल ले, भूमि पर कूद पड़े और उसकी बाण-वर्षा को ढाल पर झेलते रहे। फिर अवसर पाते ही वे चित्रसेन के रथ पर जा चढ़े और खड्ग-प्रहार से उसका मस्तक काट गिराया।

अपने अग्रज का वध देख कर्ण-पुत्र सत्यसेन, बाण-वर्षा करते हुए नकुल पर टूट पड़ा। उधर नकुल, उसके बाणों से बिंधकर भी, एक अन्य रथ लेकर, उनके

सम्मुख डट गये। उनका युद्ध भयंकर रूप लेता चला गया। कई बार उनके धनुष कटे और कवच टूटे, किन्तु अन्त में नकुल ने एक रथ-शक्ति द्वारा सत्यसेन को मार गिराया।

उधर शल्य कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा शकुनि के साथ, युधिष्ठिर को घेरकर उन पर बाण बरसा रहे थे। युधिष्ठिर ने, अत्यन्त घायल होते हुए भी, शल्य के रथ के चक्र-रक्षक चन्द्रसेन को मार गिराया। इससे क्रोधित होकर शल्य, युधिष्ठिर पर और भी घातक प्रहार करने लगे।

युधिष्ठिर को घिरा देख, सात्यकि, भीमसेन, नकुल तथा सहदेव ने, उनके पास पहुँचकर, शल्य को अपने बाणों से बींधना प्रारम्भ किया। किन्तु शूरवीर शल्य को विचलित न होते देख सात्यकि ने एक तोमर का प्रहार किया, भीमसेन ने नाराच चलाया और नकुल ने एक शक्ति छोड़ी, सहदेव ने गदा और युधिष्ठिर ने शतघ्नी का वार किया।

किन्तु शल्य, उन सब प्रहारों को झेलकर भी, सभी विरोधी योद्धाओं पर भारी पड़ रहे थे। यह देखकर दुर्योधन के हर्ष की सीमा न रही... उसे लगा कि अब उसका लक्ष्य दूर नहीं है।

दूसरी ओर, अश्वत्थामा ने त्रिगर्त-सेना के साथ आक्रमण करके कृष्ण तथा अर्जुन के सारे अंग अपने बाणों से विदीर्ण कर दिये। किन्तु अर्जुन ने भी भारी बाण-वर्षा द्वारा कौरव-सेना का व्यापक विनाश किया। दोनों में बड़ी देर तक भयंकर युद्ध चलता रहा। इसी बीच, पांचाल-योद्धा सुरथ ने अर्जुन के पास पहुँचकर अश्वत्थामा पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। किन्तु वह अश्वत्थामा का वेग न सह सका और कुछ ही देर में एक नाराच के आघात से बिंधकर धराशायी हो गया।

मध्याह्न का समय हो गया था... अन्य केन्द्रों पर, दुर्योधन तथा धृष्टद्युम्न के बीच युद्ध हो रहा था, शिखण्डी प्रभद्रकों की सेना लेकर कृपाचार्य तथा कृतवर्मा से युद्ध कर रहा था और शल्य बाण-वर्षा करते हुए सात्यकि तथा पाण्डवों से भिड़े हुए थे।

शल्य द्वारा अपने अनुजों तथा अन्य योद्धाओं को आहत होता देख, युधिष्ठिर ने स्वयं ही आगे बढ़कर उनसे प्राणान्तक युद्ध करने का निश्चय किया। किन्तु शल्य किसी के वश में आते नहीं दिख रहे थे। दुर्योधन भी उनके साथ खड़ा, अपने प्राणो का मोह भुलाकर बाण बरसा रहा था। यह देख भीमसेन ने दुर्योधन पर आक्रमण किया और धृष्टद्युम्न, सात्यकि, नकुल तथा सहदेव ने जाकर शकुनि को घेर लिया।

इस भीषण संग्राम में, युधिष्ठिर ने शल्य का रथ तोड़कर उन्हें अपने अत्यन्त पैने बाणों से बींध दिया। यह देख अश्वत्थामा उन्हें अपने रथ पर बैठाकर दूर हटा ले गया। कुछ ही देर में, शल्य एक नये रथ पर आरूढ़ होकर लौटे, जिसमें लक्ष्य वेधने के लिए यन्त्र भी लगे थे। आते ही उन्होंने पुनः युधिष्ठिर पर आक्रमण किया और

अपने वेग से पाण्डव-सेना में उथल-पुथल मचा दी।

उस समय शल्य का पलड़ा भारी पड़ता देख, भीमसेन ने वेगपूर्वक आक्रमण करके शल्य का धनुष काट डाला और फिर एक बाण से उनके सारथि को भी मार गिराया। शल्य ढाल एवं खड्ग लिये रथ से कूदे और नकुल के रथ का हरसा काटकर युधिष्ठिर की ओर दौड़े। यह देख, शिखण्डी तथा सात्यकि उन पर एक-साथ ही टूट पड़े। तभी भीमसेन ने बाणों से शल्य की ढाल काट गिरायी और एक भल्ल मारकर खड्ग भी तोड़ दिया। उधर युधिष्ठिर ने एक शक्ति द्वारा वेगपूर्वक प्रहार करते हुए शल्य का वक्षःस्थल विदीर्ण कर दिया। अपने प्रधान-सेनापति को गिरता देख, पाण्डव योद्धाओं से मार खाती हुई, कौरव-सेना भाग चली।

उन सबके बीच, शल्य के एक अनुज ने क्रोधपूर्वक आगे बढ़कर युधिष्ठिर पर आक्रमण किया, किन्तु कुछ ही क्षणों में प्राण गवाँकर वह भी धराशायी हो गया। कृतवर्मा तथा कृपाचार्य ने भी अपनी भागती सेना को उत्साहित करके पुनः आक्रमण करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें भी घायल होकर पीछे हटना पड़ा।

अपनी सेना की यह दुर्गति देखकर दुर्योधन का मन जर्जर हो उठा... वह भयभीत था और पूरी तरह टूट चुका था। किन्तु शल्य की सेना के योद्धा स्वामी के वध से क्रोधित थे... और दुर्योधन के मना करते-करते भी वे, प्रतिशोध लेने के लिए, एकजुट होकर युधिष्ठिर पर टूट पड़े। उधर, युधिष्ठिर पर उन सात सौ रथियों का आक्रमण देख अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी-सहित पांचाल तथा सोमक योद्धा, उनकी रक्षा करते हुए, मद्र-रथियों को मारने लगे। कुछ ही समय में घोर संग्राम करके पाण्डव-योद्धाओं ने मद्र के उन सभी रथियों को धराशायी कर दिया।

कौरव-सेना में भगदड़ मची थी। उसके योद्धा भयभीत होकर, पाण्डव-सेना की मार खाते हुए, भागे जा रहे थे।

अपने असहाय सैनिकों को सहायता के लिए पुकारते देख, दुर्योधन के मन में उनके प्रति कर्तव्य का भाव जाग उठा। उसे लगा कि जो सैनिक उसके लिए अपने प्राणों का मोह त्यागकर युद्ध कर रहे थे, उनके लिए उसे भी कुछ करना चाहिए। वैसे भी, अपने सभी सहयोगी योद्धा समाप्त हो जाने के कारण, उसे अपना जीवन व्यर्थ लग रहा था। अपनी सेना में उसे गजारोही, अश्वारोही, रथी आदि तो कहीं ढूँढ़े भी नहीं दिखाई दे रहे थे... लगभग इक्कीस सहस्र पैदल सैनिक ही बचे थे, जो भाग रहे थे। सहसा, अपने प्राण देकर भी, उनकी रक्षा करने का निर्णय लेकर दुर्योधन उन्हें खदेड़ती हुई पाण्डव-सेना के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

दुर्योधन को अपनी रक्षा के लिए, खड़ा देख, भागते हुए कौरव-सैनिक भी लौट पड़े, और दोनों सेनाओं में फिर भयंकर युद्ध छिड़ गया। दुर्योधन अपने शेष सैनिकों

के साथ भीमसेन पर टूट पड़ा।

दूसरी ओर, म्लेच्छों के राजा शाल्व ने भी आक्रमण करके पाण्डव-सेना का व्यापक विनाश किया। किन्तु कुछ देर बाद ही, सात्यकि ने एक तीक्ष्ण भल्ल से शाल्व का मस्तक विदीर्ण कर दिया। उसकी मृत्यु से बिखरते सैनिकों को कृतवर्मा ने सँभाला। कृतवर्मा का सात्यकि के साथ रोंगटे खड़े कर देने वाला युद्ध होता रहा। कुछ देर बाद, कृतवर्मा को निर्बल पड़ता देख, कृपाचार्य उसके पास पहुँचे और अपने रथ पर बिठाकर उसे रणभूमि से दूर हटा ले गये।

कृतवर्मा तथा कृपाचार्य को जाता देख, कौरव-सेना फिर बिखरने लगी... किन्तु काल का अवतार बना दुर्योधन युद्धभूमि में डटा था। यह देखे बिना, कि उसके सैनिक कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं... बचे भी हैं अथवा नहीं, और प्राणों का मोह क्या होता है... यह भुलाकर, रौद्र रूप धारण किये हुए वह युद्ध किए जा रहा था। उस समय उसका हस्त-लाघव देखते ही बनता था। शिखण्डी, भीमसेन, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी-पुत्रों आदि सभी को उसने अपने बाणों से घायल करके, समस्त पाण्डव-सेना की गति को अकेले ही रोक दिया।

इसी बीच शकुनि ने युधिष्ठिर के रथ के अश्वों को मारकर उन्हें रथहीन कर दिया। उलूक ने, नकुल को भीषण बाण-वर्षा द्वारा घायल किया और कृपाचार्य ने द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को बुरी तरह आहत किया।

दोनों सेनाओं में भयंकर संग्राम चल ही रहा था कि शकुनि ने पुत्र उलूक-सहित दुर्योधन के पास जाकर गम्भीर स्वर में कहा, "वत्स! अब निर्णायक घड़ी आ पहुँची है। अब मैं और प्रतीक्षा नहीं कर सकता... अब तो मुझे तुम्हारे लिए कोई नया दाँव खेलना होगा।"

"किन्तु यहाँ द्यूत-पट नहीं बिछा है मामाश्री!" दुर्योधन के स्वर में अधैर्य था।

"जानता हूँ वत्स..." शकुनि ने बड़े धैर्य एवं आत्म-विश्वास के साथ कहा, "किन्तु यहाँ भी मेरी चाल ही तुम्हें विजय दिलाएगी... हाँ, इस बार दाँव पर मुझे अपना जीवन ही लगाना पड़ेगा।"

"मामाश्री...!" दुर्योधन ने आश्चर्य एवं जिज्ञासा में शकुनि की आँखों में झाँका।

"चिन्ता न करो वत्स!" शकुनि के मुस्कराते नेत्रों में स्नेह का सागर हिलोरें ले रहा था, "मेरे जीवन की तो सदैव यही अभिलाषा थी, कि तुम सुखी रहो... प्रसन्न रहो। उसके सामने मेरे जीवन का भला क्या मोल!"

"कुछ भी कीजिए मामाश्री!" दुर्योधन ने वैसे ही अधीर स्वर में कहा, "जैसे भी हो मुझे संकट से उबारिए... बस प्राण उत्सर्ग करने की बात न कीजिए।"

"अब चिन्ता त्यागो वत्स!" शकुनि ने आगे बढ़कर दुर्योधन को गले लगाया, "विदा दो मुझे... मैं जा रहा हूँ, उलूक के साथ, एक निर्णायक युद्ध के लिए। मैं न

भी लौट पाया तो तुम्हारा यह सुबन्धु तुम्हें तुम्हारी विजय का समाचार सुनाएगा," कहते-कहते शकुनि का कण्ठ भर आया।

सुदीर्घ, भावुकतापूर्ण आलिंगन के पश्चात् शकुनि ने किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े दुर्योधन को अपनी भुजाओं से मुक्त करते हुए विदा ली।

"किन्तु वत्स दुर्योधन!" शकुनि ने चलते चलते मुड़कर कहा, "और यदि मैं न लौटूँ तो... तो विजय पाकर अपने इस भाई को न भूलना। यह तुम्हारे समान ही बलशाली योद्धा है, कुशल राजनीतिज्ञ है और बुद्धि तथा ज्ञान का धनी है। इन्द्रप्रस्थ पर इसका अभिषेक कर देना.."

अपनी बात पूरी करते करते शकुनि ने उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना, उलूक-सहित, रणभूमि की ओर पाँव बढ़ा दिये।

शकुनि ने अपने बचे-खुचे दस सहस्र अश्वारोहियों के साथ छिपते हुए, पाण्डव-सेना के पीछे की ओर जाकर, उन पर आक्रमण किया। सहसा पीठ पर इस आक्रमण से पाण्डव-सेना बिखर गयी। तब सहदेव ने अपनी सेना की एक टुकड़ी लेकर शकुनि को टक्कर दी, जिसमें शकुनि के अधिकांश अश्वारोही मारे गये... वह अपने बचे हुए छः हज़ार अश्वारोहियों सहित भाग गया और धृष्टद्युम्न की सेना पर पीछे से बाण बरसाने लगा। वहाँ भी अपने अधिकांश योद्धाओं को गवाँकर शेष सात सौ अश्वारोहियों-सहित लौटकर दुर्योधन की सेना मे जा मिला।

दुर्योधन की भाँति ही, शकुनि की दृष्टि भी अपने जीवन पर नहीं... अपनी सेना की सुरक्षा पर नहीं... बस युधिष्ठिर को बन्दी बना लेने अथवा उनका वध करने पर थी... कि सांकेतिक रूप में ही सही, वे विजय के अधिकारी कहलाएँ। शकुनि के लिए, वह युद्ध दुर्योधन का ही नहीं स्वय अपना युद्ध भी था। वह जानता था कि दुर्योधन जिस मार्ग पर चला, वह उसी का बनाया हुआ मार्ग था।

इसी बीच, भीषण युद्ध करते हुए, धृष्टद्युम्न ने दुर्योधन का रथ तोड़ दिया। रथहीन होकर दुर्योधन, एक अश्व पर बैठकर शकुनि के साथ अपने शिविर की ओर भाग गया। उन दोनों को युद्ध भूमि से हटते देख कौरव-सेना में खलबली मच गयी। कुछ देर तक पाण्डव सेना को टक्कर देने के बाद, अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा भी दुर्योधन तथा शकुनि से मिलने उनके शिविर की ओर चले गये। उनकी अनुपस्थिति में असहाय कौरव सेना कटती रही। तभी सात्यकि ने अनेक बचे-खुचे सेना नायकों की युद्ध सामग्री नष्ट करके उन्हें बन्दी बना लिया, जिनमें संजय भी था। वह चिन्ता किये जा रहा था कि उस पर महाराज धृतराष्ट्र को युद्ध का समाचार पहुँचाने का जो दायित्व है, वह अब कैसे पूरा होगा!

इसी बीच, धृतराष्ट्र के बारह पुत्रों ने भीमसेन पर आक्रमण किया। भीमसेन के प्रति उनके मन में विशेष आक्रोश था... क्योंकि उनके अधिकांश सहोदरों का वध

भीमसेन ने ही किया था। किन्तु भीमसेन के पराक्रम एवं अनुभव के सम्मुख वे भी नहीं टिक पाये। एक-एक करके, दुर्मर्षण, सुश्रान्त, जैत्र, भूरिबल, रवि, जयत्सेन, सुजात, दुर्विषह, दुर्विमोचन, दुष्प्रधर्ष तथा श्रुतवर्मा, सभी धराशायी हो गये।

तब तक दुर्योधन नया रथ तथा पर्याप्त युद्ध-सामग्री लेकर लौट आया था। उसके साथ, तब तक बचा हुआ, उसका अनुज सुदर्शन भी था। अन्य योद्धाओं में कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, त्रिगर्तराज सुशर्मा, उलूक, शकुनि आदि ही बचे थे।

देखते-ही-देखते सुशर्मा तथा शकुनि ने अर्जुन पर आक्रमण किया। सुदर्शन भीमसेन से जा टकराया और दुर्योधन ने सहदेव पर बाण-वर्षा प्रारम्भ की। अर्जुन के बाण-प्रहार के सम्मुख त्रिगर्त-सेना ठहर नहीं सकी। अर्जुन ने सत्यकर्मा तथा सत्येषु को मारकर, कुछ देर बाद, सुशर्मा को भी एक भयंकर बाण चलाकर मार गिराया। इसी प्रकार सुदर्शन भी भीमसेन के बाणों से पीड़ित होकर धराशायी हो गया। दुर्योधन ने पहले तो सहदेव को अपने बाणों से आहत किया, किन्तु कुछ ही देर में पाण्डव सेना से घिरकर उसे सहदेव को छोड़कर अन्य योद्धाओं से भिड़ना पड़ा।

तभी शकुनि ने सहदेव पर आक्रमण किया और... उससे लड़ते हुए ही सहदेव ने उलूक पर भी बाण-वर्षा की। भीमसेन भी सहदेव के पास पहुँचकर शकुनि तथा उलूक पर बाण बरसाने लगे। इसी बीच, सहदेव ने एक भल्ल-प्रहार से उलूक का मस्तक काट गिराया।

अपने पुत्र को मृत देख, शकुनि की आँखों से रक्त के अश्रु बह चले। वह क्रोध में भरकर सहदेव पर टूट पडा... किन्तु सहदेव ने उसके सभी प्रहारों को निरस्त्र कर दिया। हर प्रकार निराश, शकुनि भयभीत होकर भाग चला। किन्तु सहदेव ने उसका पीछा करके, बाण-वर्षा द्वारा उसके रथ के अश्वों को घायल किया और शकुनि को भी ऊपर से नीचे तक बींध डाला।

तब, अन्तिम प्रयास करते हुए, रौद्र रूप धारण करके, शकुनि ने सहदेव पर प्रहार करने के लिए एक प्रास उठाया. . किन्तु तभी, सहदेव ने भल्ल मारकर प्रास पकडने वाली उसकी भुजा को काट गिराया... और फिर एक तीखा बाण चलाकर उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

शकुनि तथा उलूक का वध देख, बची खुची कौरव-सेना, भयभीत होकर आर्तनाद करती हुई, भाग खड़ी हुई।

संजय को सहसा अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं हुआ...

हस्तिनापुर का युवराज, सौ अनुजों का प्रिय अग्रज और ग्यारह अक्षौहिणी सेना का नायक... अकेला... नितान्त अकेला... बिना किसी रथ अथवा अश्व के, कन्धे पर

एक गदा उठाये, पूर्व दिशा की ओर द्रुत-गति से बढ़ा जा रहा था... रक्त-स्नात, धूल-धूसरित।

उसने साहस करके, आगे बढ़ते हुए पूछा, "यह क्या युवराज...?" उसके नेत्र भर आये थे और कण्ठ भावातिरेक में अवरुद्ध हो गया था।

"संजय तुम...?" दुर्योधन ने उसे पहचानते हुए कहा, "तुम यहाँ कैसे?"

"मुझे तो सात्यकि ने बन्दी बना लिया था..." संजय ने कहा, "किन्तु जब धृष्टद्युम्न को ज्ञात हुआ कि मुझे प्रतिदिन महाराज को युद्ध का समाचार सुनाने का दायित्व मिला है, तो व्यंग्य करते हुए उन्होंने मुझे मुक्त कर दिया कि, 'जाओ अपने महाराज को युद्ध में प्राप्त पराजय का समाचार भी सुना आओ...'"

"पराजय...!" दुर्योधन ने भारी कण्ठ से हुंकारते हुए कहा, "अभी पराजय नहीं हुई संजय! अभी तो मैं जीवित हूँ.. हाँ, जाओ और पिताश्री से कह देना कि मैं घायल हूँ... श्रमित हूँ... और द्वैपायन सरोवर के निकट कुछ देर विश्राम करने जा रहा हूँ। यदि जीवित रहा तो उन्हें विजय का समाचार सुनाने अवश्य आऊँगा..."

कण्ठ अवरुद्ध हो जाने के कारण, वह आगे कुछ न कह सका... और अपने अश्रु छिपाने का प्रयास करता हुआ अपनी राह पर आगे बढ़ गया। किंकर्तव्यविमूढ़ संजय उसे जाते हुए देखता रहा।

कुछ ही दूर आगे जाने पर संजय ने थके-माँदे, भटकते हुए, कृपाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृतवर्मा को देखा। वे संजय को देखकर रुके... और दुर्योधन के विषय में पूछने लगे। संजय ने उन्हें दुर्योधन के साथ हुआ संवाद कह सुनाया और वह सरोवर भी बताया जिधर दुर्योधन गया था।

सूर्यास्त निकट था... शिविर के रक्षक व्याकुल थे। धृतराष्ट्र-पुत्रों की मृत्यु का समाचार पाकर राजरानियों के साथ ही वे सब भी विलाप कर रहे थे। उनका करुण क्रन्दन सुनकर राजमन्त्री ने उन्हें राजभवन लौटा ले जाने का निर्णय लिया।

यह करुणाजनक स्थिति देखकर युयुत्स का हृदय भर आया। वह सोच-विचार में पड गया... यह क्या हुआ, कैसे हुआ? उसने जो कुछ किया, क्या वह ठीक था? किसी निष्कर्ष पर न पहुँचकर उसने युधिष्ठिर से अपने मन की दुविधा कही और धृतराष्ट्र के पास जाने की अनुमति माँगी। युधिष्ठिर ने उसे हृदय से लगाते हुए, इस दुःख की वेला में, धृतराष्ट्र के पास जाकर उन्हें धैर्य बँधाने का परामर्श दिया।

युयुत्स को धृतराष्ट्र के पास जाता देख, विदुर भी उसे धर्य बँधाते हुए महाराज के पास पहुँचे। राजभवन आनन्द-शून्य तथा श्रीहीन पड़ा था। विदुर का साहस नहीं हुआ कि वह धृतराष्ट्र के सम्मुख जाएँ... युयुत्स का भी यही हाल था। उसने वह

रात्रि, धृतराष्ट्र से मिले बिना ही, राजभवन में व्यतीत की।

संजय द्वारा निर्दिष्ट दिशा में तीव्र गति से बढ़ते हुए कृपाचार्य, कृतवर्मा तथा अश्वत्थामा ने द्वैपायन सरोवर के निकट दुर्योधन को देखा।

"कहाँ जा रहे हो युवराज?" कृप ने आश्चर्य में प्रश्न किया, "युद्ध भूमि इधर है... तुम्हारे पीछे की ओर।"

"रणभूमि से पलायन तुम्हें शोभा नहीं देता, मित्र!" अश्वत्थामा ने कहा।

"अभी युद्ध समाप्त नहीं हुआ है..." कृतवर्मा ने आश्वस्त करने के प्रयास मे कहा, "पाण्डवों की सेना क्षीण हो चुकी है... वे थके हुए हैं... हम अब भी उन्हें परास्त कर सकते हैं।"

"इस समय... इस समय..." कहते-कहते दुर्योधन का कण्ठ भर आया और आँखों से अश्रु बह निकले।

"यह निराशा तुम्हें शोभा नहीं देती, वत्स!" आचार्य कृप ने उसे प्रेरित करते हुए कहा, "चलो... हमें साथ लेकर पाण्डव-सेना पर आक्रमण करो। विजयी होकर राज्य का सुख भोगो... अथवा क्षत्रियोचित वीरगति प्राप्त करके स्वर्ग मे स्थान प्राप्त करो।"

"मैं युद्ध से विमुख नहीं हूँ आचार्य!" दुर्योधन ने अपने अश्रु पोंछते हुए कहा "किन्तु इस समय मैं थका हूँ... बहुत जर्जर अवस्था में हूँ.. और थोड़ा विश्राम चाहता हूँ।"

"युद्ध के बीच, यह विश्राम..."

"बस एक दिन का विश्राम..." दुर्योधन ने अश्वत्थामा की बात काटते हुए कहा, "बस एक दिन का समय दे दो मुझे। कल हम लोग चलेंगे... निर्णायक युद्ध के लिए।"

तभी उन्हें दूर रथों एवं अश्वों के दौड़ने का कोलाहल सुनाई दिया.. और दूर उठता हुआ धूल का बादल भी दिखाई दिया। यह आहट पाकर दुर्योधन तुरन्त ही सरोवर के बीच फैले हुए वन की ओर जाकर अदृश्य हो गया। कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा को लेकर एक अन्य दिशा में भागे और एक विशाल वट-वृक्ष की छाँह में जा छिपे।

कुछ ही देर में पाण्डवों के रथ द्वैपायन सरोवर के निकट पहुँचकर रुकने लगे। उनके साथ शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, सात्यकि तथा द्रौपदी-पुत्रों-सहित अनेक अन्य योद्धा भी थे। वे अपने गुप्तचरों से यह निश्चित सूचना पाकर आये थे कि दुर्योधन वहीं कहीं जा छिपा है।

उन्होंने सरोवर के तट को दूर तक घेर लिया किन्तु दुर्योधन कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। वह सरोवर अत्यन्त विशाल था... किन्तु उसकी आकृति बड़ी विचित्र थी।

कहीं विशाल पुष्करिणी, तो कहीं नहरों-जैसी सँकरी टेढ़ी-मेढ़ी धाराएँ... जो वन-खण्डों में ऐसे गुँथी एवं उलझी थीं कि उसमें छिपे किसी प्राणी को ढूँढ़ निकालना असम्भव नहीं, तो दुष्कर तो था ही।

"दुर्योधन!" युधिष्ठिर ने उच्च स्वर में पुकारते हुए कहा, "कहाँ छिपे हो तुम... दुर्योधन?"

"अरे कायर!" भीमसेन ने ललकारते हुए पुकारा, "बड़ा अहंकार था तुझे अपने बल का। अब चूहों की भाँति छिपा बैठा है।"

"इस प्रकार भयभीत होकर छिपना तुम्हें शोभा नहीं देता, गान्धारीनन्दन!" कृष्ण ने भी पुकारा, "निकलो... और क्षत्रिय की भाँति युद्ध करो।"

पाण्डवों का वह व्यंग्य दुर्योधन से नहीं सहा गया। उसने वन में छिपकर ही, आगे बढ़कर उत्तर दिया, "मैं कायर नहीं हूँ पाण्डुनन्दन! बस थकान के कारण कुछ क्षण विश्राम करने के लिए यहाँ आया हूँ।"

"कर लो विश्राम!" भीमसेन ने उपहास करते हुए कहा, "जी भर विश्रामकर लो... किन्तु यह तो बताओ कि युद्ध कब करोगे?"

"युद्ध...!" दुर्योधन ने टूटते स्वर में कहा, "वैसे अब युद्ध करके भी मैं क्या करूँगा! सब अनुजों, बन्धु-बान्धवों तथा मित्रों के बिना मैं राज्य लेकर भी क्या करूँगा! तुम्हीं ले लो यह जीर्ण शीर्ण राज्य।"

"नहीं दुर्योधन, नहीं..." युधिष्ठिर ने तुरन्त ही स्पष्ट शब्दों में अपना निर्णय सुनाया, "हमें तुमसे दान में मिला राज्य स्वीकार नहीं... सामने आकर युद्ध करो। या तो हमें परास्त करके राज्य-सुख भोगो अथवा आत्म-समर्पण करके पराजय स्वीकार करो।"

"मैं पराजित नहीं हूँ युधिष्ठिर!" दुर्योधन ने घायल सिंह की भाँति गरजते हुए कहा, "अब भी मेरे साथ अनेक योद्धा हैं . और न भी होते, तब भी मैं अकेला ही तुम सबसे लोहा लेने में समर्थ हूँ।"

"तो व्यर्थ बातें न बनाओ दुर्योधन!" भीमसेन ने ललकारा, "सामने आकर अपना पौरुष दिखाओ... सबसे युद्ध करने की बात छोड़ो, केवल मुझसे ही लड़कर दिखाओ।"

"केवल भीमसेन से ही नहीं..." युधिष्ठिर ने अपने उत्साह में कहा, "चाहो तो मुझसे युद्ध कर लो... अथवा अर्जुन, नकुल या सहदेव को चुन लो। और यदि किसी एक को भी परास्त कर लिया तो सारा राज्य तुम्हारा।"

"यह क्या कहते हैं, भैया!" कृष्ण ने उन्हें धीमे स्वर में बरजते हुए कहा, "दुर्योधन के बल को कम न आँकिए। सुना है उसने भीमसेन की लौह-प्रतिमा पर तेरह वर्ष तक प्रहार करके गदा-युद्ध का अभ्यास किया है।"

"तब यही सही..." दुर्योधन का स्वर निकट आता गया, "सावधान! मैं आ रहा हूँ। किन्तु अपना वचन भूल न जाना..."

यह कहता हुआ दुर्योधन घने वृक्षों की ओट से निकलता दिखाई दिया, "मैं एक-एक करके तुम सबसे युद्ध करने को तैयार हूँ। किन्तु तुम्हें भी रथ तथा अन्य शस्त्र त्यागकर, मेरी ही भाँति, केवल एक अस्त्र लेकर युद्ध करना होगा।"

"अब एक का बन्धन क्यों दुर्योधन?" सात्यकि ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा, "जब अकेले अभिमन्यु को तुम सबने घेरकर मारा था, तब यह नियम कैसे भूल गये थे?"

"यही बात है..." दुर्योधन ने हुंकारते हुए कहा, "तो मैं तुम सबसे एक साथ ही लड़ लूँगा।"

"जिनमें सबसे लड़ने का बल होता है दुर्योधन!" भीमसेन ने भी व्यंग्य किया, "वे इस प्रकार आकर नहीं छिपते। वे वचन-बन्धों की बात भी नहीं उठाते। भयभीत होकर..."

"मैं भयभीत नहीं हूँ भीमसेन!" दुर्योधन ने छलाँग लगाकर सबके सम्मुख आते हुए कहा, "जैसे भी चाहो मुझसे युद्ध कर लो।"

"ऐसे नहीं, दुर्योधन!" युधिष्ठिर ने पुनः शान्त एवं गम्भीर स्वर में कहा, "हम तुम्हें बराबर का अवसर देंगे। तुम जो भी अस्त्र-शस्त्र चाहो चुन लो और जिसके भी साथ..."

"इससे तो मैं युद्ध करूँगा, भैया!" भीमसेन ने युधिष्ठिर की बात बीच ही में काटते हुए कहा... और वे दुर्योधन को सम्बोधित करते हुए बोले, "बोल दुर्योधन! है साहस? मुझसे युद्ध करेगा?"

"तू इस प्रकार मुझे घायल देखकर बोल रहा है भीमसेन?" दुर्योधन ने दाँत पीसते हुए कहा, "पर यह न भूल कि घायल सिंह भी तेरे जैसे मोटे हाथियों को चीर-फेंकने का बल रखता है।"

"तो आ जा..." भीमसेन ने अपनी गदा उठाकर ललकारते हुए कहा, "अभी निर्णय हो जाता है कि किसमें कितना बल है!"

"ठहरो भीमसेन!" युधिष्ठिर ने उन्हें रोकते हुए कहा, "दुर्योधन को अपना अस्त्र चुन लेने दो... और भी जो कुछ वह चाहे।"

"मेरे पास मेरी गदा है पाण्डुनन्दन!" दुर्योधन ने क्रोध में भरकर कहा, "मैं तुम्हारी कोई दया नहीं चाहता... किन्तु भीमसेन कवच पहने है, उसके पास शिरस्त्राण भी है। यदि चाहो तो मुझे भी बस ये दो वस्तुएँ दे दो। अन्यथा मैं इनके बिना भी समर्थ हूँ।"

"नहीं दुर्योधन..." युधिष्ठिर ने दृढ़तापूर्वक कहा, "इस समय जीवन की भिक्षा के अतिरिक्त तुम जो भी चाहो माँग लो... वह तुम्हें मिलेगा।"

उनके संकेत पर तुरन्त ही एक सुदृढ़ कवच तथा शिरस्त्राण दुर्योधन के पास

पहुँच गया। देखते-ही-देखते दुर्योधन ने उन्हें धारण करके अपनी गदा उठा ली।

... और दूसरी ओर, भीमसेन ने भी गर्जना करते हुए अपनी गदा उठायी। उन्हें दुर्योधन की ओर बढ़ते देख सात्यकि, शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न ने उन्हें प्रोत्साहित करते हुए दुर्योधन के कुकर्मों का स्मरण कराया... और कृष्ण ने बढ़कर दुर्योधन के प्रति किसी भी प्रकार का दया-भाव त्यागते हुए, उसकी जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा का स्मरण कराया।

उन दोनों का निर्णायक गदा-युद्ध प्रारम्भ होने ही वाला था कि बलराम का रथ आता दिखाई दिया। उन्हें देखकर कृष्ण तथा सभी पाण्डवों ने आगे बढ़कर उनका चरण-स्पर्श किया।

"कैसा विचित्र संयोग!" कृष्ण से भीमसेन तथा दुर्योधन के गदा-युद्ध और उसकी पृष्ठभूमि सुनकर बलराम ने कहा, "मैं बड़े ही अच्छे अवसर पर आया। यदि मुझे तनिक भी विलम्ब होता, तो मैं अपने दोनों शिष्यों का गदा-युद्ध देखने का यह अवसर ही चूक जाता। कृष्ण! आज मैं बयालीस दिन बाद लौटा हूँ... पुष्य नक्षत्र में गया था, और आज श्रवण में लौटा। शल्य के निधन का समाचार पाकर मुझे तो लगा था कि युद्ध समाप्त हो चुका होगा... किन्तु चलो, यह निर्णय इसी प्रकार होने दो।"

युधिष्ठिर ने युद्ध प्रारम्भ होने से पहले, बलराम को बैठने के लिए एक आसन दिया।

"किन्तु मेरा एक प्रस्ताव है..." बलराम ने कृष्ण तथा अर्जुन की ओर देखते हुए कहा, "यह निर्णायक युद्ध भी उसी सामन्तपंचक क्षेत्र में होने दो, जहाँ पिछले अठारह दिनों से युद्ध चल रहा था। सरस्वती के तट पर... वह स्थान अत्यन्त पावन क्षेत्र है।"

सबने उनका परामर्श स्वीकार कर लिया। और वे सब, कुरुक्षेत्र की सीमा में, सरस्वती के दक्षिण तट पर जा पहुँचे। इसमें बलराम का आशय सम्भवत: यह भी था कि दुर्योधन को युद्ध के लिए स्वस्थ-चित्त होने भर का समय मिल जाए।

वहाँ पहुँचकर, सभी योद्धाओं के समक्ष भीमसेन तथा दुर्योधन, एक-दूसरे को ललकारते हुए, भयंकर गदा-युद्ध में भिड़ गये। भीमसेन अपने प्रहारों के साथ ही दुर्योधन को अपने तथा अपने सम्बन्धियों के प्रति किये अन्याय का उल्लेख करते जाते थे... और उत्तर में दुर्योधन उन्हें प्रलाप त्यागकर बल दिखाने के लिए ललकारता था... और पेटपाल, बैल, मोटे-जैसे नामों से उपहास करता हुआ व्यंग्य करता जाता था।

पारस्परिक प्रहारों से वे दोनों ही आहत होते रहे और रक्त से नहा उठे.. और थककर बैठ भी गये... और कुछ देर बाद, पुन: उठकर एक-दूसरे पर घातक प्रहार करने लगे। दोनों पैंतरे बदलकर, आगे-पीछे हटते हुए, कभी वेग से चक्राकर घूमकर, तो कभी उछलकर गदा चलाते थे। कभी उनकी गदाएँ परस्पर टकराकर, भयंकर नाद

करके, चिनगारियाँ उत्पन्न करती थीं, तो कभी शरीर के किसी भाग पर पड़कर रक्त का नया निर्झर बनाती थीं। किन्तु उन आघातों से विचलित हुए बिना वे, आँखों से अग्नि तथा मुख से व्यंग्य बरसाते हुए, प्रहार पर प्रहार करते जाते थे। उन दोनों के लिए ही, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राणान्तक युद्ध था।

समय बीतता जा रहा था... और कृष्ण की चिन्ता बढ़ती जा रही थी, क्योंकि वे दुर्योधन की गदा-युद्ध-क्षमता से परिचित थे।

"ये जंघा क्यों नहीं तोड़ते उसकी!" कृष्ण ने अपनी व्यग्रता में अर्जुन की ओर देखकर कहा, "क्या ये अपनी प्रतिज्ञा भूल गये?"

यह संकेत पाकर अर्जुन, भीमसेन से दृष्टि मिलते ही, अपनी बायी जंघा ठोंकने लगे। शीघ्र ही, यह देखकर भीमसेन को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया. और, अवसर पाते ही, उन्होंने पूरी शक्ति से चक्राकार घूमते हुए दुर्योधन की जाँघ पर प्रहार किया। उस प्रहार से वह चीत्कार करता हुआ लड़खड़ाया ही था कि भीमसेन ने उसकी दूसरी जंघा पर भी प्रहार किया... और दुर्योधन आर्तनाद करता हुआ भूमि पर जा गिरा।

भूमि पर पड़े कराहते दुर्योधन के सिर को अपने पैर से ठुकराते हुए भीमसेन ने घृणापूर्वक कहा, "ले धूर्त... अब अपने पापों का फल भोग..."

भीमसेन का यह व्यवहार वहाँ उपस्थित अनेक योद्धाओं को अशोभनीय लगा।

"ऐसा न करो अनुज!" युधिष्ठिर ने उन्हें बरजते हुए कहा, "तुमने इसे दण्ड तो दे ही दिया... जो भी हो, यह है तो हमारा ही भाई।"

यह कहकर वे दुर्योधन के पास जाकर बोले, "अनुज! जो बीत गया, उस पर शोक न करना... हम पर क्रोध भी न करना। तुमने दुराग्रह के कारण ही कुरुवंश पर इतना बड़ा संकट खड़ा कर दिया। सब कुछ चला गया... सब कुछ लुट गया। इस स्थिति में यह राज्य प्राप्त करके भी हमें कोई हर्ष नहीं हो रहा है।"

अपने अश्रु दबाते हुए वे वापस लौट आये।

उधर भीमसेन द्वारा दुर्योधन की जंघाओं पर प्रहार से बलराम बड़े क्रोधित थे... क्योंकि गदा-युद्ध में नाभि से नीचे प्रहार सर्वथा वर्जित है। किन्तु कृष्ण उन्हे समझाकर शान्त कर रहे थे, कि दुर्योधन के दुर्व्यवहार से क्रोधित होकर भीमसेन ने द्यूत-भवन में ही दुर्योधन की जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा की थी... और यह प्रहार उस प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए ही था।

बलराम इस तर्क से सन्तुष्ट नहीं हुए... और क्रोधित-मन ही वे द्वारका चले गये। उनके क्रोध से पाण्डवों, पांचाल एवं वृष्णि योद्धाओं के मन से विजय का यत्-किंचित उल्लास भी जाता रहा।

वहाँ से चलते समय उन्होंने दुर्योधन को साथ ले जाने के लिए बड़ा अनुरोध

किया, किन्तु वह पाण्डवों के प्रति द्वेष एवं क्रोध के कारण किसी भी प्रकार उनके साथ जाने को तैयार नहीं हुआ। हारकर, वे सब उसे वहीं छोड़कर लौट पड़े।

राह में पहले वे दुर्योधन के शिविर में गये.. जहाँ उन्हें केवल कुछ वृद्ध सेवक मिले, जिन्होंने बताया कि सभी राजकुमारों की पत्नियाँ आदि दासियों सहित पहले ही हस्तिनापुर जा चुकी हैं। पाण्डवों ने शिविर में पड़े शस्त्र एवं धन के भण्डार को अपने अधिकार में लिया और वह रात, कृष्ण के परामर्श पर, शिविर के बाहर ओघवती नदी के तट पर बिताने का निश्चय किया।

इतना बडा युद्ध जीतकर भी युधिष्ठिर के मन मे शान्ति नहीं थी। अपना राज्य पुनः प्राप्त करने के लिए उन्हें जो मूल्य चुकाना पडा था, उसका लेखा-जोखा उनके मन को निरन्तर मथ रहा था। कितने मित्र और सम्बन्धी मारे गये इतने मित्रों तथा सम्बन्धियों को और पूजनीय कुल-ज्येष्ठो तथा गुरुओ को मारकर जो विजय प्राप्त हुई क्या उसे किसी भी दृष्टि से उपलब्धि माना जा सकता है? उनका ध्यान रह-रहकर ज्येष्ठ-पिता धृतराष्ट्र तथा माता गान्धारी की ओर चला जाता था, जिनका सभी कुछ लुट चुका था। वे निश्चय ही उन्हे अपनी विपत्ति का कारण माने बैठे होंगे। बारम्बार उनका मन होता था कि वे दौडकर जाएँ और उन दोनों के पाँव अपने अश्रुओ से पखारते हुए, उनसे बारम्बार क्षमा माँगे.. और बताएँ कि कैसे दुयोधन के हठ के कारण उन्हें वह सब करना पड़ा जो कुरुवंश के हित मे नहीं था। किन्तु कैसे... कैसे समझ पाएगा उनका दुःखी मन। किन शब्दों में वे समझाएँगे...?

अपनी दुविधा में उन्होंने यह उत्तरदायित्व भी कृष्ण को ही सौंपा, "माधव! अब एक उपकार और करो.."

कृष्ण उनके मन की स्थिति समझ सकते थे।

"जैसे भी हो माता गान्धारी तथा ज्येष्ठ पिताश्री को धैर्य बँधाओ..." युधिष्ठिर ने व्याकुल स्वर में, अपने अश्रु पोंछते हुए कहा, "यह कार्य मुझे नितान्त आवश्यक भी लग रहा है.. और अत्यन्त कठिन भी। मैं.. मैं तो नहीं कर पाऊँगा।"

कृष्ण इस दायित्व को भी स्वीकारते हुए हस्तिनापुर पहुँचे। उस समय वहाँ महर्षि व्यास भी विद्यमान थे।

धृतराष्ट्र तथा गान्धारी को कृशकाय, करुणा की मूर्ति के रूप में देखकर कृष्ण की आँखें भर आयीं। दोनों का चरण-स्पर्श करके उन्होंने अपनी सामर्थ्य भर समझाने का प्रयास किया...

"महाराज! यह प्रारब्ध ही रहा होगा जो महर्षि व्यास के, आप दोनों के तथा महात्मा भीष्म, विदुर आदि के समझाने पर भी युद्ध नहीं टल सका। स्वयं मैंने भी हर सम्भव प्रयास करके देख लिया। आपके अनुज-पुत्र इस युद्ध में विजय पाकर

भी अपने कुल के विनाश के कारण दु:खी हैं... और आपके चरणों में शीश नवाकर क्षमा माँगना चाहते हैं। आप दोनों अतीत की सारी कटुता भुलाकर उन्हें अपने स्नेह की छाया प्रदान करें और हस्तिनापुर को पुन: वैभव एवं प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए उनका मार्ग-दर्शन करें।"

अपने पुत्रों की दुर्गति का स्मरण कर धृतराष्ट्र तथा गान्धारी का हृदय भर आया... किन्तु जब व्यास तथा कृष्ण ने घटनाओं का विश्लेषण करते हुए, अनेक दृष्टान्त देकर, उन्हें समझाया तो किसी प्रकार धैर्य धारण करके उन्होंने पाण्डवों को आशीर्वाद देते हुए हस्तिनापुर आने का निमन्त्रण भेजा।

तब कृष्ण ने दु:खपूर्वक उन्हें दुर्योधन का समाचार भी सुनाया... कि वह जंघा टूट जाने के कारण, विकलांग होकर, सामन्तपंचक क्षेत्र में पड़ा है... और पाण्डवों के अनुरोध पर भी उपचार के लिए उनके साथ नहीं आया।

कृष्ण की आशा के विपरीत, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी पर उस समाचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। सम्भवत: महर्षि व्यास उन्हें पहले ही वह समाचार सुना चुके थे।

"अपने सभी अनुजों की रण-भूमि में आहुति देकर..." कहते हुए गान्धारी का कण्ठ भर आया... जैसे वह संवाद कम और रुदन अधिक हो, "अकेले लौट आना उसे शोभा भी नहीं देगा। और वैसे भी, रण-भूमि में प्राण त्यागना ही क्षत्रियोचित है..."

उजड़े हुए राजभवन के उस कक्ष का वातावरण सहसा और भी बोझिल हो उठा।

और तभी... कृष्ण को सहसा अश्वत्थामा का स्मरण हो आया.. कृपाचार्य की ओर भी उनका ध्यान गया। वे कहाँ हैं? क्या कर रहे होंगे? उनकी ओर से निश्चिन्त हो जाना बड़ी भारी भूल होगी।

धृतराष्ट्र से आज्ञा लेकर, उन्होंने तुरन्त अपना रथ मँगाया... और दारुक को तीव्र गति से चलने का आदेश दिया।

उधर सामन्तपंचक क्षेत्र में भूमि पर अकेला पड़ा दुर्योधन अपने दुर्भाग्य का स्मरण कर-करके छटपटा रहा था.. अन्धकार घिरने लगा था और भूमि भी ठण्डी होती जा रही थी।

'यह दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है, कि मेरे-जैसा, इतने बड़े राज्य का युवराज और ग्यारह अक्षौहिणी सेना का स्वामी, महाबली योद्धा... इस प्रकार भूमि पर अकेला पड़ा है। मेरे दान, धर्म, यज्ञ, परोपकार आदि कुछ काम नहीं आये... और अधर्मी पाण्डव विजयी हुए! मेरी अपेक्षा आधे बल वाला वह मोटा भीमसेन, अधर्मपूर्वक प्रहार द्वारा मेरी जंघाएँ तोड़कर, यश पा रहा है... और मैं अन्धकार में विलीन होता जा रहा हूँ..."

उस समय दुर्योधन को इस स्थिति में देखने के लिए, उत्सुकतावश, आस-पास

के ग्रामों से सैकड़ों व्यक्ति चले आये थे। उसका प्रलाप सुनकर और उसे इस असहाय स्थिति में देखकर उनमें से अनेक को यह लगने लगा था कि उसके साथ बड़ा अन्याय हुआ। उसकी जंघा पर प्रहार करके पाण्डवों ने अधर्म द्वारा विजय प्राप्त की है। किन्तु, उसके प्रति सहानुभूति होते हुए भी, अन्धकार घिरते-घिरते वे बिखरने लगे...

ऐसे ही कुछ लोगों से अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा को दुर्योधन का पता ज्ञात हुआ। वे तुरन्त ही उसे खोजते हुए सामन्तपंचक क्षेत्र में जा पहुँचे। अपने स्वामी को उस दयनीय स्थिति में देखकर उनका हृदय विदीर्ण हो चला... उसका सारा शरीर धूल में सना और रक्त से भीगा हुआ था, क्रोध के कारण उसकी भवें तनी थीं और नेत्र चढ़े हुए थे। उन्हें देखकर अश्वत्थामा के नेत्र भर आये और अश्रु बरस पड़े।

"मित्र!" उसने कष्ट से कुछ उठते हुए कहा, "मैं छल द्वारा मारा गया... भीमसेन ने अधर्मपूर्वक मेरी जंघा..."

"मैं उनको नहीं छोड़ूँगा..." अश्वत्थामा ने नेत्रों से अंगार उगलते हुए कहा, "किसी को भी नहीं छोड़ूँगा। बस, तुम आज्ञा दो मुझे। उन धूर्तों ने अधर्मपूर्वक ही मेरे पिता की भी हत्या की थी।"

अश्वत्थामा के नेत्रों में घृणा एवं क्रोध देख दुर्योधन के मुख पर शान्ति एवं सन्तोष की छाया उभरी, "मेरी आज्ञा नहीं मित्र, अनुरोध है मेरा..."

"पहले इन्हें यहाँ से उठाओ," कृपाचार्य ने अश्वत्थामा तथा कृतवर्मा से कहा, "इनका उपचार..."

"मुझे यहीं रहने दें आचार्य!" दुर्योधन ने उनका वाक्य काटते हुए कहा, "यदि भाग्य में मृत्यु ही लिखी है तो मैं यहाँ... युद्धभूमि में ही, इस सामन्तपंचक क्षेत्र में ही प्राण त्यागूँगा। यदि मुझे ले ही चलना है, तो मुझे एक बार पाण्डवों की मृत्यु का समाचार सुना दो... मैं सहर्ष चलूँगा.. उपचार के लिए..."

"हठ न करो युवराज!" कृतवर्मा ने भी अनुरोध किया।

"यह संकल्प तो मैं ले चुका.." दुर्योधन ने पीड़ा में कराहते हुए कहा, "अब तो पाण्डवों की मृत्यु का समाचार ही मेरा एकमेव उपचार है।"

यह कहते हुए दुर्योधन ने अपने रक्त में अँगूठा भिगोकर अश्वत्थामा के माथे पर तिलक लगाया... और उन तीनों को देखते हुए कहा, "अब हमारी इस तीन अक्षौहिणी सेना के तुम प्रधान-सेनापति हुए... जाओ, विजयी होकर आओ।"

उस भावुकता के क्षण में, तुरन्त एक निर्णय लेकर, उन तीनों ने दुर्योधन को अश्रुपूरित नयनों से हृदय से लगाकर विदा ली और त्वरित गति मे वन में जाकर वे अपनी रण-नीति पर विचार करने लगे।

परिणाम

अन्धकार घना होता जा रहा था... एक विशाल बरगद के तले, अपनी रणनीति पर मन्त्रणा करते हुए, थककर कृपाचार्य और कृतवर्मा सो गये थे। किन्तु अश्वत्थामा की आँखों में निद्रा का नाम भी नहीं था। उसके मस्तक पर लगा दुर्योधन के रक्त का तिलक उसे चिन्ता से उद्विग्न कर रहा था। उसके कानों में दुर्योधन का विनती भरा स्वर, दूर कहीं से आते पाण्डव-पक्षीय सैनिकों के विजयोल्लास भरे कोलाहल को चीरता हुआ, रह-रहकर गूँज उठता था... 'मुझे पाण्डवों का कटा हुआ सिर ला दो...'

कैसे हो यह कार्य...? सरल तो नहीं, किन्तु...! तब तक दुर्योधन, बिना उपचार तथा बिना किसी व्यवस्था के, वहीं भूमि पर पड़ा छटपटाता रहेगा। दुर्योधन की सेना के प्रधान सेनापति होने के नाते उसे यह स्थिति स्वीकार्य नहीं थी।

तभी अश्वत्थामा की दृष्टि वृक्ष की डाल पर फुदकते हुए एक उल्लू पर पड़ी... जो धीमी गति से बढ़ता हुआ एक घोंसले की ओर गया और... सोते हुए पक्षियो को मारने लगा।

'सोते हुए जीव पर प्रहार...! कैसा कायरतापूर्ण एवं घृणित व्यवहार है यह...?' सोचकर अश्वत्थामा का मन वितृष्णा से भर उठा। किन्तु तुरन्त ही, उसके निराश मन में एक कुटिल योजना कौंधी। बस, यही मार्ग है... यही मार्ग है। इसी युक्ति से उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिल सकती है...

अपने उतावलेपन में उसने तुरन्त ही कृपाचार्य तथा कृतवर्मा को झकझोरकर जगाया और उन्हें अपनी योजना सुनायी। सुनकर कृपाचार्य का मुख लज्जा से झुक गया।

"किन्तु और विकल्प भी क्या है?" अश्वत्थामा ने व्यग्रता में पूछा।

"किन्तु यह मार्ग अधर्म का ही नहीं..." कृप ने कहा, "नितान्त कायरतापूर्ण एवं घृणित भी है।"

"धर्म?" अश्वत्थामा के नेत्र अन्धकार में अंगारे की भाँति सुलग रहे थे, "उन अधर्मियों के लिए, जिन्होंने मिथ्या प्रचार द्वारा मेरे पिता का, ध्यान की अवस्था में, वध कर दिया? जिन्होंने गदा-युद्ध में, नियम-विरुद्ध जाकर जंघा पर प्रहार किया? और रही कायरता... तो युद्ध में सत्संकल्प की प्राप्ति के लिए कोई भी मार्ग निषिद्ध नहीं है। अपने इस कार्य के लिए भले ही मुझे नरक मिले, अथवा कीट-पतंगों की

योनि प्राप्त हो... मुझे सब कुछ स्वीकार्य है...''

"इस विषय में इतनी उत्तेजना में निर्णय न लो वत्स!" कृपाचार्य ने कहा, "आज की रात विश्राम कर लो। कल, जैसा भी सबका निर्णय हो।"

"युद्ध में निर्णय सबका नहीं होता..." अश्वत्थामा के फुसफुसाते स्वर में भी हुंकार स्पष्ट थी, "निर्णय केवल प्रधान-सेनापति लेता है।"

यह सुनकर कृपाचार्य तथा कृतवर्मा की दृष्टियाँ टकरायीं .. और अविलम्ब वे दोनों उठ खड़े हुए।

पाण्डवों का शिविर गहन अन्धकार एवं शान्ति में डूबा हुआ था... योद्धा एवं सैनिक ही नहीं, उनके सहायक, सेवक तथा शिविर के रक्षक भी संघर्ष एवं श्रम के बाद विजयोल्लास के उन्माद से थककर, निश्चिन्त होकर, निद्रा में मग्न थे।

अश्वत्थामा को पहले प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न का शिविर कक्ष दिखाई दिया। उसका लक्ष्य स्पष्ट था... प्राथमिकता कुछ और थी... फिर भी वह लोभ संवरण नहीं कर पाया। कृपाचार्य तथा कृतवर्मा को बाहर ही छोड़कर वह, शिविर कक्ष की भीत चीरकर, धृष्टद्युम्न की शैया के निकट जा पहुँचा। वह बड़ी सरलता से उसके वक्ष मे कृपाण भोंककर उसकी निद्रा को चिर-निद्रा का रूप दे सकता था, किन्तु अन्तर में धधकती घृणा की ज्वाला ने कुछ और ही निर्णय लिया। अपने पाँव की ठोकर से धृष्टद्युम्न को जगाते हुए, अश्वत्थामा ने उसके केश पकड़कर उसे भूमि पर पटक दिया .. और इसके पूर्व कि वह पूर्णतया जागकर कुछ समझ पाये, अश्वत्थामा ने "गुरु के हत्यारे... ले, यह तेरा दण्ड है...!" कहते हुए उसके वक्ष:स्थल में कृपाण भोंक दी।

छूटने के लिए छटपटाता हुआ धृष्टद्युम्न क्षण भर मे ही शव बनकर ढेर हो गया।

पास ही में उत्तमौजा का कक्ष था। वहाँ जाकर अश्वत्थामा ने उसका ग्रीवा दबाकर उसे मार डाला। उसकी छटपटाहट सुनकर निकटवर्ती कक्ष से आश्चर्य में दौड़ा हुआ युधामन्यु आया, तो उसे भी, पटककर गिराते हुए, अश्वत्थामा ने सिर पर प्रहार करके मार डाला।

इसी प्रकार शिविर के विभिन्न भागो मे जा जा कर, उसने निद्रा में लीन अनेक मध्यम श्रेणी के योद्धाओं तथा सैनिकों को खड्ग के निर्मम प्रहार से मारा।

शिविर में उपद्रव का संकेत पाकर द्रौपदी के पुत्र सहसा जगे.. और समस्या समझने का प्रयास करने लगे। जब तक वे अपने शस्त्र उठाएँ और उपद्रवकारी को पहचानें... तब तक अश्वत्थामा ने प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, शतानीक, श्रुतकर्मा तथा श्रुतकीर्ति... सभी को बारी-बारी मार गिराया।

कुछ ही क्षणों में शिखण्डी तथा अनेक प्रभद्रकों को मारकर उसने विराट के

बचे-खुचे सैनिकों तथा द्रुपद के पुत्र, पौत्र तथा अन्य सम्बन्धियों को मारना प्रारम्भ किया। बिना कवच अथवा शस्त्र के उन उनींदे योद्धाओं को मात्र एक बाण से मार गिराना, क्रूर अश्वत्थामा को खेल-जैसा कौतुक प्रदान कर रहा था।

फिर अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा ने, रथों पर आरूढ़ होकर, शिविर में चक्कर लगाते हुए, आश्चर्य में नींद से जागे हुए सभी योद्धाओं एवं सैनिकों पर अन्धाधुन्ध बाण-वर्षा करके उन्हें मारना प्रारम्भ किया। उनमें से न जाने कितने गम्भीर रूप से घायल हुए और अधिकांश तुरन्त ही प्राणों से हाथ धो बैठे।

यह विनाश-लीला सूर्योदय तक चलती रही। उस शिविर को मरघट का रूप देकर वे तीनों बाहर निकले। अपनी रक्त-स्नात देह देखकर वे प्रसन्न थे और इस उपलब्धि के लिए एक-दूसरे को साधुवाद दे रहे थे। उन्होंने उत्साह एवं सन्तोष में एक-दूसरे को गले लगाया। उस समय उन्हें किंचित दुःख था तो बस यह कि मरने वालों में उन्हें पाण्डव कहीं दिखाई नहीं दिये।

"उनको फिर कभी..." अश्वत्थामा ने उत्साह में भरकर मुस्कराते हुए कहा, "किन्तु यह समाचार भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। दुर्योधन को इससे अवश्य शान्ति मिलेगी।"

"हाँ चलो..." कृतवर्मा ने कहा, "उन्हें उपचार के लिए ले चलना भी आवश्यक है। यह समाचार सुनकर वे अवश्य वहाँ से हटने के लिए हमारा अनुरोध स्वीकार कर लेंगे।"

अपनी सफलता के उन्माद में रथ दौड़ाते, वे तीनों दुर्योधन के पास पहुँचे तो वहाँ का दृश्य देखकर दुःख से व्याकुल हो उठे। दुर्योधन रक्त वमन करता हुआ वहाँ पड़ा पीड़ा से कराह रहा था... और जैसे-तैसे हाथ-हिलाकर अपने ऊपर झपटते मांस-भोजी पशु-पक्षियों से अपनी रक्षा कर रहा था।

उन्होंने दौड़कर पशु-पक्षियों को भगाते हुए दुर्योधन का सिर अपनी गोद में लिया।

"तुम्हारा कार्य हो गया, मित्र!" अश्वत्थामा ने उतावले स्वर में कहा, "उठो... अब चलो यहाँ से..."

दुर्योधन के बुझते हुए नेत्रों में सहसा चमक का संचार हुआ, "पाण्डवों के... कटे सिर...!" वह कष्ट के मारे आगे कुछ नहीं बोल पाया।

"वे तो नहीं मिले किन्तु..."

"आह..." दुर्योधन के पास 'किन्तु' सुनने का धैर्य नहीं था। वह फिर पीड़ा से कराह उठा।

"किन्तु हमने द्रौपदी के पुत्रों को मार दिया..."

"पाँचों पुत्रों को..."

"और धृष्टद्युम्न, उत्त्मौजा तथा युधामन्यु को भी..."

"और उनके सहस्रों सैनिकों को..."

"नहीं, कम-से-कम दस सहस्र को..."

दुर्योधन के मुख पर सुख एवं सन्तोष प्रकट हुआ... "किन्तु पाण्डव...?"

"चिन्ता न करो वत्स!" कृपाचार्य ने कहा, "उनके पक्ष में अब केवल सात ही बचे हैं... वे पाँच भाई और कृष्ण तथा सात्यकि..."

"अब वे भी नहीं बचेंगे..." अश्वत्थामा ने दुर्योधन को विश्वास दिलाते हुए कहा, "मुझ पर विश्वास रखो... थोड़ा धैर्य रखो..."

"तुम तीनों ने..." दुर्योधन ने अध-मुँदी पलकों से उन तीनों की ओर देखते हुए धीरे-धीरे डूबती हुई वाणी में कहा, "बड़ा महान कार्य किया... किन्तु... पाण्डवों के कटे हुए सिर..."

"वह भी मिलेंगे तुम्हें..." अश्वत्थामा ने द्रवित होकर कहा, "चलो तो यहाँ से।"

"वत्स दुर्योधन!" कृपाचार्य ने उसे उठाने का प्रयास करते हुए पुकारा।

"युवराज!" कृतवर्मा ने व्याकुल स्वर में कहा, "तुम सुन रहे हो न!"

दुर्योधन के नेत्र क्षण भर के लिए खुले... और खुले ही रह गये। अन्तिम समय में उसके मुख पर एक मद्धिम मुस्कान उभरी थी, जो उन तीनों के लिए पहेली बनकर रह गयी।

वह सन्तोष की मुस्कान थी... या व्यंग्य की... अथवा मात्र भाग्य के प्रति विवशता की?

अपने शिविर में विनाश-लीला का समाचार सुनकर पाण्डवों को विश्वास ही नहीं हुआ। यह क्या हुआ?... यह कैसे हो गया? हमारी तो विजय हो चुकी थी! फिर यह पराजय कैसी?

वे तुरन्त ही शिविर की ओर दौड़े... वहाँ धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु आदि अनेक योद्धाओं के शवों के बीच अपने पाँचो पुत्रों के शव देखकर उनकी आँखों के सम्मुख अन्धकार छा गया... उनमें में कोई मूर्च्छित होकर गिरा, कोई उच्च स्वर में विलाप करने लगा, तो कोई मात्र मस्तक थामकर बैठ गया।

करुण स्वर में विलाप करते, एक-दूसरे को धैर्य बँधाते, स्वयं टूटते-बिखरते हुए, उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें... ऐसी स्थिति में क्या किया जा सकता है?

कुछ देर बाद, उन्हें यह आवश्यक लगा कि द्रौपदी को भी यह दुःखद समाचार दिया जाए... जैसे भी हो, उसे इस विपत्ति से परिचित कराया जाए। अन्तिम संस्कार भी आवश्यक था... और माता को, अन्तिम बार, पुत्रों का मुख दिखाये बिना उनका अन्तिम संस्कार असम्भव था।

द्रौपदी ने आकर यह हृदय-विदारक दृश्य देखा तो उनकी करुणाजनक स्थिति सब की चिन्ता का कारण बन गयी। उनकी करुण चीत्कार सबका हृदय हिला रही थी। बीच-बीच में वह मूर्च्छित हो जातीं तो वहाँ फैला हुआ सन्नाटा और भी घातक लगने लगता था। उन्हीं के साथ उनकी पुत्र-वधुएँ भी आयी थीं, जो वहाँ का भयावना दृश्य देखकर बारम्बार मूर्च्छित हो रही थीं।

पाण्डव अपनी विजय भूल चुके थे... उन्हें अपना जीवन व्यर्थ लग रहा था। किन्तु इस जीवन से मुक्ति मिले भी, तो भला कैसे! इसी बीच, यह दुःखद समाचार पाकर वहाँ महर्षि व्यास आ पहुँचे... किन्तु उनके पास भी निराश हृदयों को धैर्य बँधाने वाला कोई मन्त्र नहीं था।

तभी, एक बार मूर्च्छा टूटने पर, द्रौपदी ने अश्वत्थामा के वध के लिए अपने पतियों को ललकारा... तो सहसा जैसे भीमसेन को जीवन के लिए कोई उद्देश्य मिल गया। वे अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर रथ दौड़ाते हुए अश्वत्थामा की खोज में निकल पड़े।

भीमसेन को एकाकी निकलते देख कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा, "भैया! इस प्रकार मँझले भैया का अश्वत्थामा के पीछे अकेले जाना भयप्रद हो सकता है। अश्वत्थामा कोई साधारण योद्धा नहीं है... और क्रूर स्वभाव के कारण वह कुछ भी कर सकता है। आप लोगों को भी उनके साथ जाना चाहिए।"

तभी उन्होंने देखा, घातक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रथों पर आरूढ़ अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा ने शोक-मग्न बैठे पाण्डवों को घेर लिया। रथों की आहट पाते ही अर्जुन ने भी झपटकर अपना गाण्डीव उठा लिया। सात्यकि ने अपने धनुष-बाण उठाये और कृष्ण की उँगलियों में उनका चक्र आ गया।

दोनों ओर घातक शस्त्र देख महर्षि व्यास सहसा उठकर उनके बीच मे खडे हो गये, "बहुत हो चुका यह नर-संहार..." उन्होंने दोनों ओर देखकर पुकारते हुए कहा, "कहाँ अन्त होगा इस पाशविकता का?"

उनके मुख का दिव्य तेज देख कृष्ण, अर्जुन तथा सात्यकि ने अपने शस्त्र झुका दिये।

"महर्षि! मैंने तो आत्म-रक्षा में अपना धनुष उठाया था..." अर्जुन ने कहा।

"मैंने भी..." सात्यकि ने कहा।

"और मैंने अधर्मियों को उनके पाप का दण्ड देने के लिए..." दूसरी ओर से

अश्वत्थामा का उद्दण्ड स्वर सुनाई दिया। उसके हाथ में एक विस्फोटक शक्ति थी। कृपाचार्य तथा कृतवर्मा के भी धनुष तने थे।

"किसने अधिकार दिया तुम्हें..." महर्षि व्यास ने दृढ़तापूर्वक पूछा, "अधर्मियों को दण्डित करने का? किसने दिया तुम्हें ऐसा अमानवीय धर्म-ज्ञान?"

उनके स्वर में विचित्र सम्मोहन था... क्षण-भर में ही कृपाचार्य तथा कृतवर्मा ने भी अपने धनुष-बाण रथ में रख दिये। किन्तु अश्वत्थामा की उठी हुई भुजा में वह शक्ति ज्यों-की-त्यों तनी हुई थी।

"अश्वत्थामा!" व्यास ने आदेशात्मक स्वर में कहा, "त्याग दो यह शस्त्र!"

"महर्षि!" अश्वत्थामा ने उद्दण्डतापूर्वक कहा, "अश्वत्थामा का निकाला हुआ शस्त्र, कभी प्रहार किये बिना नहीं लौटता।"

"यह दुराग्रह न करो वत्स!" व्यास ने अनुनय भरे स्वर में कहा, "तुम ब्राह्मण हो, यह क्रूर-कर्म तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"यह क्रूर-कर्म नहीं महर्षि! यह ब्राह्मण का संकल्प है।"

"दूसरों के संकल्प को न ललकारो वत्स!" व्यास ने पुनः समझाते हुए कहा, "स्वधर्म को पहचानो... मानवता की रक्षा ही तुम्हारा धर्म है।"

"किन्तु यह शस्त्र!" अश्वत्थामा के मन में दुविधा उत्पन्न हो गयी थी, "मैं इसका क्या करूँ? मैं इसे लौटा भी तो नहीं सकता "

"यदि यही दुराग्रह है तुम्हारा .." व्यास ने आदेशात्मक स्वर में कहा, "तो चलाओ इसे किसी एक पर.. जिससे व्यापक विनाश के बदले केवल किसी एक व्यक्ति की ही हानि हो।"

"एक पर ..?" अपनी दुविधा में अश्वत्थामा विक्षिप्त हो रहा था, "किन्तु किस पर?"

"यदि इससे ही तुम्हारा क्रोध शान्त होता है..." व्यास ने दृढ़तापूर्वक कहा, "तो मुझ पर प्रहार करो... मुझ पर..."

सुनकर अश्वत्थामा की हताशा और बढ गयी। अपनी विक्षिप्तता में ही उसने वह शक्ति सक्रिय किये बिना ही उठाकर हाथ में तान ली... उसकी दृष्टि के साथ ही उसका तना हुआ हाथ अपना लक्ष्य ढूँढ़ने लगा। अर्जुन, कृष्ण, युधिष्ठिर, सात्यकि, भीमसेन आदि पर भटकती-अटकती उसकी दृष्टि सहसा उत्तरा पर पड़ी... और उसकी उन्नत कुक्षि पर ठहर गयी। 'वहाँ... वहाँ पाण्डवों का वंश पल रहा है... वहाँ उनकी आशाएँ पल्लवित हो रही हैं... अब भी बहुत कुछ बचा है उनके पास! जो किसी भी एक पाण्डव के जीवन से अधिक मूल्यवान है अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह मिट जाए तो दुर्योधन की आत्मा को परम शान्ति प्राप्त होगी...'

अपनी दुविधा में घुमड़ते हाँ... ना... के बीच, बिना अधिक सोचे-विचारे, उसने

वह शक्ति बल-पूर्वक उत्तरा की कुक्षि की ओर फेंकी। सहसा उस आघात से करुण चीत्कार करती हुई उत्तरा अचेत होकर भूमि पर गिरी और छटपटाने लगी...

चारों ओर कोलाहल मच गया... सारी राज-महिलाएँ अपना शोक भूलकर अचेत पड़ी उत्तरा की ओर दौड़ीं। कुछ पुरुष विस्मय एवं दुःख में जड़वत् खड़े रह गये, कि करें तो क्या करें... किन्तु अन्य सबने दौड़कर अश्वत्थामा को बल-पूर्वक पकड़ा और प्रताड़ित करना प्रारम्भ किया। अपनी दुविधा में चेतना-शून्य-सा खड़ा, प्रताड़ित होता हुआ, अश्वत्थामा आत्म-रक्षा में अपने हाथ उठाने की स्थिति में भी नहीं था।

"इसे मुक्त कर दो..." कुछ समय बाद कृष्ण ने आदेशात्मक स्वर में कहा, "इसने वह पाप किया है जो इसे ही नहीं, इसकी कीर्ति को भी नष्ट कर चुका है। इस कायर को इतिहास अब महान योद्धा के रूप में नहीं, मात्र एक सोते हुए लोगों के निर्मम हत्यारे तथा भ्रूण-हत्या के अपराधी के रूप में चित्रित करेगा। सबसे अपमानित एवं तिरस्कृत होकर, सारे संसार में अपना विकृत शरीर लिए यह ऐसा भटकेगा कि भाग्य इसे भिक्षा में मृत्यु भी नहीं देगा। जाने दो इसे, जहाँ भी यह जाना चाहे।"

आत्म-ग्लानि अश्वत्थामा को दीन एवं निर्बल बना रही थी। अपने नेत्रो से निरन्तर अश्रु की धारा प्रवाहित करते हुए उसने दौड़कर द्रौपदी के पाँव पकड लिये... किन्तु अपने दुःख में अचेत एवं व्याकुल द्रौपदी की दृष्टि उसकी ओर नही उठ पायी।

"इसे क्षमा कर दो पुत्री!" व्यास ने द्रवित स्वर में कहा, "अब यह हिंसा त्याग चुका है।"

कौन जाने द्रौपदी ने क्या सुना.. कितना सुना.. किन्तु क्षमा का कोई संकेत न पाकर, दौड़ते हुए अश्वत्थामा ने व्यास के पाँव पकड़ लिये।

"आओ अश्वत्थामा! अपने वर्ण में आओ... अपने धर्म में आओ," व्यास ने उसके सिर पर स्नेह-पूर्वक हाथ फेरते हुए कहा, "आज शस्त्र-त्याग का संकल्प लो... और जन-हित का, लोक-सेवा का संकल्प ग्रहण करो..."

"मैं आपकी शरण में हूँ महर्षि!" अश्वत्थामा की चेतना जैसे सहसा लौट आयी थी। उसने दृढ़ स्वर में कहा, "मुझे अपना दास बना लीजिए... और मेरा जो भी जीवन शेष है, उसमें मेरा मार्ग-दर्शन कीजिए।"

"तो चलो..." व्यास ने मुस्कराते हुए कहा, "सबसे क्षमा माँगकर, अपनी लौकिक शक्तियों एवं महत्त्वाकांक्षाओं को त्यागकर मेरे साथ चलो।"

अश्वत्थामा ने अपने सारे अस्त्र-शस्त्र त्यागते हुए सबको कर-बद्ध प्रणाम किया और महर्षि व्यास के साथ प्रस्थान किया। चलते चलते सहसा जैसे उसे कुछ ध्यान आया हो, उसने लौटकर अपने मस्तक पर बँधी मणि उतारी और युधिष्ठिर के चरणों में भेंट कर दी... वह मणि, जिसे भाग्य-सूचक मानकर अश्वत्थामा अहर्निश अपने

मस्तक पर धारण किये रहता था... जो अत्यन्त मूल्यवान थी... और उसे अत्यंत प्रिय भी।

कृष्ण को भी लगा कि उस मणि को त्यागकर अश्वत्थामा ने सन्देह का कोई स्थान नहीं छोड़ा। उसका हृदय-परिवर्तन निःसन्देह वास्तविक एवं स्थाई है।

नित-नूतन आघात सहते हुए धृतराष्ट्र तथा गान्धारी प्रस्तर-मूर्ति बन चुके थे... उनके आँसू सूख चुके थे और एक-दूसरे को सान्त्वना देने के लिए भी उनके पास शब्द शेष नहीं रहे थे। दृष्टि से विवश, निरन्तर राज वधुओं का आर्त-क्रन्दन सुनते-सुनते उनके कान भी सुन्न हो चले थे... जीवन क्या होता है, और चेतना क्या होती है, यह जानने-समझने का विवेक अनजाने मे ही विदा ले चुका था...

और ऐसे में महात्मा व्यास तथा विदुर ने आकर उन्हें सान्त्वना दी.. जीवन-मरण के रहस्य पर विशद उपदेश दिया... अतीत को भुलाकर दिवंगत पुत्रों-सम्बन्धियों को जलांजलि देने तथा उनकी आत्मा की शान्ति के लिए विधिवत् प्रेतकर्म करने की प्रेरणा दी।

"तात...!" व्यास द्वारा बारम्बार शोक त्यागने का उपदेश सुनकर धृतराष्ट्र ने पूछा, "शोक क्या होता है?"

"शोक?" सहसा इस प्रश्न से व्यास भी उलझन में पड़ गये। उन्होंने सोचा कि यदि वे प्रसन्नता के अभाव को शोक का नाम दें, तो सम्भवतः धृतराष्ट्र पुनः प्रश्न कर बैठेंगे कि, 'यह प्रसन्नता क्या होती है...?'

व्यास को लगा कि उन्हें पहले ही यह समझ लेना चाहिए था कि निरन्तर आघात होते रहें तो क्रमशः चेतना का ह्रास भी होता ही रहता है... और निरन्तर इतने आघात झेलने के बाद धृतराष्ट्र तथा गान्धारी के लिए उनके उपदेश निरर्थक हो चुके हैं।

उन्होंने विदुर से कहकर धृतराष्ट्र द्वारा दिवंगत राजकुमारों को पिता द्वारा जलांजलि दिये जाने की व्यवस्था करायी। राज-परिवार की समस्त विधवाओं के साथ, विदुर ने धृतराष्ट्र तथा गांधारी को भी रथ पर बैठा लिया। यन्त्रवत्, विदुर का आदेश स्वीकार करते हुए, वे रथ पर जा बैठे... और वधुओं के करुण क्रन्दन के बीच पाषाणवत् मौन बैठे हुए गंगा तट की ओर बढ़ते रहे।

दूसरी ओर पाण्डव, कुन्ती, द्रौपदी तथा सुभद्रा-सहित, अपनी पुत्र-वधुओं को लेकर गंगा तट पर पहुँचे। जल-धार में उतरकर उन्होंने अपने पुत्रों को जलांजलि दी। तभी कुन्ती ने अश्रु-पूरित नयनों से बिलखते हुए अपने पुत्रों से कहा, "वत्स! तुम सबको एक जलांजलि अपने अग्रज के लिए भी देनी है..."

"हमारा अग्रज माताश्री?" वे पाँचों लगभग एक साथ आश्चर्य-भरे स्वर में बोल उठे।

"हाँ, पुत्र!" बड़ी कठिनाई से अपने रुँधे स्वर में कुन्ती ने कहा।

"कौन अग्रज माताश्री?"

"भैया युधिष्ठिर से भी बड़ा?"

"हमारा छठा भाई?"

"यह आप क्या कह रही हैं, माताश्री?"

सहसा अनेक प्रश्नों ने कुन्ती को घेर लिया। किन्तु ये सारे प्रश्न उन दारुण प्रश्नों के सम्मुख कुछ नहीं थे जो उन्हें अनेक दशकों से निरन्तर सालते रहे थे। फिर भी, उन्हें ज्ञात नहीं था कि वे प्रश्न कभी उनके पुत्रों के मुख पर, उनके नेत्रों में, उनके स्वर में... इतनी निर्ममतापूर्वक प्रकट होकर उन्हें मर्माहत कर देंगे... और वह भी तब, जब उनका ज्येष्ठ पुत्र उन्हें अवलम्ब देने के लिए दूर-दूर तक कहीं नहीं होगा।

"वही..." अपनी विवशताओं को सारी सामर्थ्य लगाकर परे ढकेलने के प्रयास में कुन्ती ने टूटते-बिखरते स्वर में कहा, "वही, जिसे तुम सब अपना सबसे बड़ा शत्रु मानते रहे, जिसे..."

"शत्रु? अपने अग्रज को?"

"यह कैसी पहेली है माँ?"

"यह पहेली नहीं, पुत्र!" कुन्ती ने बिलखते हुए कहा, "मेरा दुर्भाग्य है. मेरा दुर्भाग्य।"

"किसकी बात कर रही हैं आप, माताश्री?"

"उसी की, पुत्र!" कुन्ती ने दृष्टि-चुराते हुए रुँधे कण्ठ से कहा, "जो दुर्भाग्यवश अर्जुन के रक्त का प्यासा बन बैठा था... जिसका वध दुर्भाग्यवश अर्जुन के ही हाथो हुआ।"

"कौन... माताश्री?" अर्जुन के स्वर का आश्चर्य उसी क्षण आँखों में भी छलक आया। "मैंने? मैंने..?"

"क्या आप कर्ण...?" युधिष्ठिर कुन्ती की आँखों में कुछ पढ़ पाने के प्रयास में अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाये।

किन्तु उस अधूरे वाक्य ने ही कुन्ती का मार्ग सरल कर दिया था।

"हाँ, पुत्र... वही अभागा..." कुन्ती ने अपनी सारी सामर्थ्य जुटाकर अपना अश्रुपूरित मुख पुत्रों की ओर उठाया।

"वह राधेय?" भीमसेन के मुख पर आश्चर्य के साथ ही कुछ घृणा भी थी।

"अब तो वह तुम्हारे मार्ग से हट चुका है...!" कुन्ती ने मनुहारते हुए कहा, "अब उसके प्रति घृणा त्याग दो वत्स!"

"किन्तु वह हमारा अग्रज...?" नकुल की समझ में नहीं आया कि अपना वाक्य कैसे पूरा करें... किन्तु कुन्ती के लिए वह पर्याप्त था।

"वह राधा का पुत्र नहीं, तुम्हारा अग्रज था... मेरा पुत्र..." परिस्थिति ने कुन्ती के मन से सारे अवरोध हटा दिये थे। "यह सच है कि राधा ने उसका पालन-पोषण करक उसे बड़ा किया था... किन्तु जन्म उसने मेरे ही गर्भ से पाया था... वह तुम्हारा ही अग्रज था, वत्स!"

"यह कैसे माताश्री..."

"यह बताने का समय नहीं है पुत्र।" कुन्ती ने दृढ़ स्वर में कहा, "अभी तो तुम आदर-सहित उसे जलांजलि दो और उसकी आत्मा की शान्ति के लिये सच्चे हृदय से प्रार्थना करो।"

पाण्डवों ने अंजलि में गंगाजल लिया और श्रद्धापूर्वक नेत्र मूँदकर कर्ण के लिए प्रार्थना की... अपने पुत्रों को भी जलांजलि दी और उनकी आत्मा की शान्ति के लिए दान दिये।

धृतराष्ट्र को जैसे ही सूचना मिली कि उनके अनुज पुत्र उनके दर्शन के लिए आये हैं, तो सहसा उनके निश्चेष्ट पड़े शरीर में चेतना का प्रवाह हो उठा। उनके ज्योतिहीन नेत्रों की मांस-पेशियों में उत्तेजना आ गयी, जैसे वे रथ के अनियन्त्रित अश्वों की भाँति उन्हें खींचकर पाण्डवों के पास ले जाएँगी।

"युधिष्ठिर का प्रणाम स्वीकार करें, ज्येष्ठ पिताश्री!" युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर उनका चरण-स्पर्श किया, तो धीरे से उठकर उन्होंने भुजाएँ फैलायीं और मौन रहते हुए ही युधिष्ठिर को अपने बाहु-पाश में बाँध लिया।

यह दृश्य देखकर कृष्ण के मन को बड़ा सन्तोष मिला। वे मौन खड़े, मुस्कराते हुए युधिष्ठिर के कन्धे पर टिका धृतराष्ट्र का मुख देख रहे थे, कि सहसा कृष्ण को उनके मुख पर एक विचित्र दृढ़ता दिखाई दी... जिसका संकेत उनकी राख के ढेर में चटकते अंगारों-जैसी नेत्र की मांस-पेशियाँ दे रही थीं। कृष्ण अपनी मुस्कान भूलकर आशंकित हो उठे। तभी अपनी भुजाओं को ढील देते हुए धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को मुक्त किया।

"भीमसेन कहाँ है ..?" तुरन्त ही शून्य में अपनी भुजाएँ फैलाते हुए व्यग्र स्वर में धृतराष्ट्र ने पुकारा, "युधिष्ठिर! तुम्हारा वह पराक्रमी अनुज कहाँ है...?"

"मैं आपके चरणों में..."

"महाराज! भीमसेन यहाँ हैं..." कृष्ण ने धृतराष्ट्र की ओर बढ़ते हुए भीमसेन को भुजा बढ़ाकर रोका और कहा। यह कहते-कहते उन्होंने अपनी दृष्टि इधर-उधर घुमायी और स्तम्भ के पास खड़ी एक मानवाकार पाषाण-प्रतिमा को देखते ही कहा, "पहले मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए ."

"तुम भी..." धृतराष्ट्र ने कृष्ण के कन्धे पर हाथ रखते हुए, पुनः व्यग्र स्वर में पूछा, "कहाँ है भीमसेन?"

"आपका भीमसेन यह रहा महाराज..." कहते-कहते कृष्ण ने धृतराष्ट्र का हाथ पकड़कर उन्हें पाषाण प्रतिमा की ओर बढ़ा दिया। "दुःख एवं लज्जा के कारण, ये स्वयं आपके सम्मुख आने में संकोच कर रहे हैं।"

उस प्रतिमा का स्पर्श पाते ही धृतराष्ट्र ने, झपटकर, उसे अपनी भुजाओं में भरा और पूरे बल के साथ ऐसे दबाया कि उस प्रतिमा के कुछ अंग दरककर टूट गिरे। उधर, इस प्रयास में बलिष्ठ धृतराष्ट्र थककर हाँफने लगे और उनकी नासिका से रक्त की एक क्षीण धारा फूट निकली।

"महाराज! यह क्या किया आपने...?" कृष्ण ने उच्च स्वर में कहते हुए धृतराष्ट्र की भुजाएँ मूर्ति से खींचकर छुड़ाईं और उन्हें बैठाया।

दूसरे ही क्षण, धृतराष्ट्र के मुख पर करुणा फैली, और वे 'हा भीमसेन...' कहकर रो पड़े। सब हत्प्रभ खड़े यह दृश्य देख रहे थे... किसी को कुछ भी समझ में नही आ रहा था। केवल कृष्ण, धृतराष्ट्र की पीठ स्नेहपूर्वक थपथपाते हुए कहे जा रहे थे, "जो हो चुका, महाराज! उसे भूल जाइए..."

"मैंने यह क्या कर दिया?" रोते-रोते धृतराष्ट्र ने कहा, "मैं अनुज पाण्डु को क्या उत्तर दूँगा?"

"आपने ऐसा कुछ नहीं किया महाराज!" कृष्ण उन्हें सान्त्वना दिये जा रहे थे, "आप तो अपने अनुज-पुत्रों को केवल आशीर्वाद दे सकते हैं।"

"अब मैं उसे कैसे आशीर्वाद दूँ?" धृतराष्ट्र का रुदन थमते-थमते भी फूट पड़ता था।

"मँझले भैया!" तभी कृष्ण ने भीमसेन को पुकारते हुए कहा, "आइए और आकर ज्येष्ठ पिताश्री का आशीर्वाद लीजिए।"

धृतराष्ट्र का रुदन सहसा थमा... और उनके मुख पर आश्चर्य पसर गया।

तभी भीमसेन ने उनका चरण स्पर्श करते हुए कहा, "प्रणाम तातश्री!"

"तुम भीमसेन हो?" धृतराष्ट्र ने उन्हें बाँहों में भरकर हृदय से लगाते हुए प्रश्न किया।

"...हाँ तातश्री..." भीमसेन ने विनम्रतापूर्वक कहा, "मैं ही हूँ आपका अपराधी ...मुझे क्षमा कर दीजिए।"

"और वह?" धृतराष्ट्र ने कुछ अविश्वास में कृष्ण की ओर मुड़कर पूछा।

"वह एक दुःस्वप्न था महाराज...!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "उसे भूल जाइए। अब आपके ये पाँच पुत्र ही आपके उत्तराधिकारी हैं, आपका भविष्य हैं। आप इन्हें अपना स्नेह दीजिए और इन्हें आशीर्वाद देकर हस्तिनापुर को पुनः सुदृढ़ एव समृद्ध बनाइए।"

तभी अर्जुन, नकुल तथा सहदेव ने भी आगे बढ़कर धृतराष्ट्र का चरण स्पर्श किया और धृतराष्ट्र ने अपनी उलझन में यन्त्रवत् खड़े रहकर उन सबको हृदय से लगाया।

तब उन सबको लेकर कृष्ण गान्धारी की ओर बढ़े। उन्हें गान्धारी के पास जाता देख, महर्षि व्यास ने कहा, "देवि गान्धारी! तुम्हारे ये पुत्र इस युद्ध में अज्ञानतावश हुए अपने अपराधों की क्षमा माँगने तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं। तुम तो सदा से ही स्नेह एवं क्षमा की मूर्ति रही हो... इन्हें अभय प्रदान करके, आशीर्वाद दो कि ये निर्भय होकर तुम्हारी तथा राज्य की सेवा करें।"

"हमें क्षमा करें ज्येष्ठ माताश्री!" युधिष्ठिर ने उनका चरण-स्पर्श करके कहा।

"पुत्र युधिष्ठिर!" गान्धारी ने कृश एवं करुण वाणी में कहा, "तुम्हें किस अपराध के लिए क्षमा करूँ? मैं जानती हूँ कि सारा दोष मेरे पुत्र दुर्योधन का था... अथवा मेरे अग्रज शकुनि का, जिसने कर्ण तथा दु:शासन का सहयोग पाकर कभी अपने शुभचिन्तकों की बात ही नहीं मानी। किन्तु वे कितने भी अपराधी क्यों न रहे हों, मेरा तो सभी कुछ लुट गया... पुत्र-शोक मुझे निरन्तर व्यथित करता रहता है।"

"अब ये ही आपके पुत्र हैं महारानी!" व्यास ने वातावरण को सहज करने के लिए स्नेहपूर्ण स्वर में कहा।

"किन्तु मैं यह कैसे भूल पाऊँगी..." गान्धारी ने, प्रयासपूर्वक अपने उमड़ते हुए अश्रुओं को रोकते हुए, रुँधे कण्ठ से कहा, "कि गदा-युद्ध में मेरे पुत्र की पराजय अधर्मपूर्वक प्रहार के कारण ही हुई..."

"यह सच है ज्येष्ठ माताश्री!" कृष्ण का संकेत पाकर भीमसेन ने आगे बढ़कर, कहते हुए, गान्धारी का चरण-स्पर्श किया। "मैं ऐसा न करता तो सम्भवत: कभी अनुज दुर्योधन को पराजित न कर पाता। मुझे यह अपराध तो मात्र अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए करना पड़ा, जो मैंने द्यूत-भवन में उसका व्यवहार देखकर की थी।"

"चलो, मैं यह भी भूल जाऊँ, किन्तु..." गान्धारी ने फिर अपने अश्रु-प्रवाह को रोककर कहा, "किन्तु दु:शासन के साथ तुमने जो अमानवीय व्यवहार किया..."

"मैं उसके लिए भी लज्जित हूँ माताश्री!" भीमसेन ने पुन: स्वर को अत्यन्त विनम्र बनाते हुए कहा, "वह भी क्रोध-वश, द्यूत-भवन में की हुई प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिए ही था, ज्येष्ठ माताश्री! किन्तु अनुज दु:शासन का रक्त नाम-मात्र को ही मेरे मुख से लगा, दाँतों की पंक्ति पार नहीं कर सका।"

"अपने इन पुत्रों को क्षमा कर दें, दीदी!" अर्जुन, नकुल तथा सहदेव के साथ बढ़ते हुए कुन्ती ने गान्धारी का चरण-स्पर्श किया।

"तुम्हारा कल्याण हो..." गान्धारी ने अपने भावावेग को कुचलते हुए क्षीण स्वर में कहा, "कुन्ती! मुझे बड़ा गर्व था, अपने सौ पुत्रों का... किन्तु आज तुम्हारे पास पाँचों

पुत्र हैं... और मैं नितान्त सन्तानहीन। तुम्हारे पुत्रों ने, वंश चलाने भर को, मेरा एक पुत्र भी जीवित छोड़ा होता... तो आज मैं ऐसी असहाय न होती।"

"ऐसा न कहें दीदी!" कुन्ती ने बिलखते हुए कहा, "एक नहीं, आपके तो पाँच पुत्र हैं दीदी... मैं आपका दु:ख समझती हूँ... मैं जानती हूँ कि पुत्र खोने का दु:ख क्या होता है। ये पाँचों अब आप ही के पुत्र हैं, दीदी!"

"पाण्डवों को अपना ही पुत्र समझें..." कृष्ण ने कहा, "इन्हें अपने स्नेह की छाया प्रदान करें..."

"यह तुम कह रहे हो कृष्ण!" स्वर पहचानते हुए, सहसा कठोर स्वर में गान्धारी ने कहा, "तुम... जिसने यह महाविनाश कराया..."

"मैंने...?" कृष्ण आश्चर्य-चकित रह गये, "मैंने तो..."

"तुम बहुत कुछ कर सकते थे..." गान्धारी ने उन्हें अपना वाक्य समाप्त करने का अवसर दिये बिना कहा, "तुम्हारे पास सामर्थ्य थी... शक्तिशाली सेना थी.. तुम्हारा प्रभाव था। तुम चाहते तो कौरवों-पाण्डवों के बीच, पक्षपात किये बिना, उन्हें समान रूप से दबा कर, युद्ध रोक सकते थे..."

"मैंने तो हर सम्भव प्रयास किया..." कृष्ण आगे कुछ नहीं कह पाये। वे क्या कहते, कैसे कहते, कि महात्मा भीष्म, विदुर, व्यास आदि ही नहीं, स्वयं धृतराष्ट्र एव गान्धारी के बारम्बर समझाने पर भी जो नहीं माना, उसे भला वे कैसे समझाते? पाण्डवों की ओर से, सम्पूर्ण राज्य को छोड़कर, मात्र पाँच गाँव माँगने का शान्ति प्रस्ताव लाने पर जिसने उन्हें बन्दी बनाने का प्रयास किया था, उसे भला वे कैसे समझाते? जो बचपन से ही, निरन्तर, पाण्डवों के प्रति द्वेष-भावना पाले रहा, उसे भला वे कैसे समझाते?

"तुमने कुछ नहीं किया केशव..." गान्धारी के स्वर में और भी कटुता उभर आयी। "वास्तव में तुम्हारे कारण ही मेरे वंश का विनाश हुआ..."

आश्चर्य में कृष्ण निरुत्तर खड़े थे।

"तुम्हारे ही कारण आज मैं निर्वंश हुई हूँ... मैं तुम्हें कभी क्षमा नहीं कर सकती। यदि विधि के विधान में कहीं न्याय है, तो तुम्हारी भी ऐसी ही गति होगी..."

"ज्येष्ठ माताश्री!"

"दीदी!"

सबके रोकते रोकते, अपने स्वर में अपने दु:खी मन की सारी कटुता उँडेलते हुए, गान्धारी ने अपना वाक्य पूरा किया, "तुम भी निर्वंशी होकर मेरे जैसा दु:ख भोगोगे... अन्तिम समय में तुम्हें कोई जलांजलि देने वाला भी नहीं बचेगा..."

गान्धारी के दु:खी मन से निकला यह कटु-वचन सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। वातावरण सहसा बोझिल हो उठा। अपने रोष में हाँफती गान्धारी के मौन होते ही राज-भवन के उस विशाल कक्ष में भयावह सन्नाटा व्याप्त हो गया।

उस समय कृष्ण को ही कुछ कहना आवश्यक लगा। उन्होंने विहँसते स्वर में कहा, "यदि यह तुम्हारा शाप है माता! यदि इससे तुम्हारा रोष शान्त होता है, तो मैं इसे सिर-माथे लगाकर स्वीकार करता हूँ।"

"यह तुमने क्या कहा वासुदेव?" आश्चर्य में कुन्ती ने कहा, "भला तुम्हारा क्या दोष था?"

"कुछ नहीं बुआ!" कृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा, "विधि के विधान में तो वैसे भी कोई अपराधी नहीं होता... और फिर माता गान्धारी ने जो कहा, उसमें इनका भी कोई दोष नहीं। यह तो होना ही था... जितना दुःख इन्होंने अपने पुत्रों को खोकर पाया वह निःसन्देह असहनीय है। किन्तु मुझे प्रसन्नता है कि वह सारा क्रोध मुझ पर उतारकर इन्होंने पाण्डवों को क्षमा कर दिया और उन्हें अपना लिया।"

कृष्ण का यह सहज, शान्त स्वरूप देखकर, स्वयं गान्धारी को भी अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप हुआ।

"तुमने यह क्या किया केशव?" गान्धारी ने सहसा द्रवित होते हुए कहा, "तुम मेरा आरोप अस्वीकार भी तो कर सकते थे। तुम मुझे शाप देने से रोक भी तो सकते थे। मैंने भी रोष में भरकर...अपनी हताशा में..."

"रोष में भरकर न!" कृष्ण ने फिर सहज स्वर में मुस्कराते हुए कहा, "माँ रोष में भरकर पुत्र को कोई अपशब्द भी कहे, तो वे कभी उसका अहित नहीं कर सकते। माँएँ तो बस स्नेह लुटाती हैं। आप अपने मन से कटुता त्याग दें ..."

ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं भयंकर संग्राम में विजय पाकर, और पुनः अपना राज्य पाकर भी पाण्डव दुःखी एवं व्यग्र थे। उन्हें यह भुलाये नहीं भूलता था कि इस उद्योग में करोड़ों क्षत्रियों का विनाश हुआ... जिनमें अनेक ऐसे महापुरुष भी थे जो उनके पूज्य एवं सम्मान-पात्र थे, अनेक सम्बन्धी एवं मित्र थे... और अनेक शस्त्रों के, शास्त्रों के, ज्ञाता थे।

इतना ही नहीं, विजय प्राप्त करने के लिए जो मूल्य उन्हें चुकाना पड़ा वह क्या कम था! घटोत्कच, अभिमन्यु, इरावान, प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, श्रुतकीर्ति, शतानीक ...कोई भी तो नहीं रहा। अश्वत्थामा के उस निर्मम प्रहार के बाद से उत्तरा भी रोग-ग्रस्त एवं कृशकाय थी। कौन जाने उसके गर्भ का क्या होगा! वह बचेगा भी, अथवा नहीं! वंश का कहीं कोई बीज ही नहीं रहा। क्या करेंगे वे यह राज्य लेकर?

और सर्वोपरि, रह-रहकर उन्हें कर्ण का स्मरण पीड़ा देता रहता था... क्यों नहीं बताया माँ ने...? पहले क्यों नहीं बताया? अनजाने में ही कितना बड़ा पाप हो गया! अपने ही हाथों अपने अग्रज का वध। यदि पहले ज्ञात हुआ होता, तो कितना सरल

हो जाता सब कुछ! कर्ण उनके साथ होते तो संसार की कौन-सी शक्ति उनकी ओर दृष्टि उठाने का साहस भी करती? दुर्योधन उनसे कभी वैर ही न ठानता... उसका सारा अहंकार कर्ण के बल पर ही तो आश्रित था। यदि उन्हें पहले ही यह ज्ञात हो गया होता तो उनसे इतना बड़ा पाप न हुआ होता... कौन जाने यह युद्ध ही न हुआ होता... क्षत्रियों का ऐसा व्यापक विनाश न होता और कर्ण के पुत्र भी जीवित रहकर वंश-बेल को बढ़ाते।

इस मनःस्थिति में, धृतराष्ट्र के पास से उन्हें राज्य की बागडोर सँभालने का निमन्त्रण मिला। यह सुनकर युधिष्ठिर और भी व्याकुल हो उठे। चिन्ता में डूबे, आत्म-ग्लानि से ग्रस्त युधिष्ठिर ने संन्यास लेने का विचार किया... इस प्रस्ताव से उनके अधिकांश अनुज भी विस्मित तथा मौन थे। किन्तु भीमसेन ने विनम्रतापूर्वक उनके इस विचार का विरोध किया।

युधिष्ठिर की व्याकुल मनःस्थिति देखकर महर्षि व्यास के साथ, महर्षि देवस्थान, आश्मा आदि ने आकर उन्हें समझाया और लोकहित में, सारा शोक त्यागकर, राज्य का उत्तरदायित्व स्वीकार करने का परामर्श दिया। कृष्ण ने भी उन्हें आत्म-ग्लानि तथा अति भावुकता से मुक्त होकर, कर्तव्य-पालन की प्रेरणा दी... अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी ने भी विनम्रतापूर्वक अनुरोध किया कि वे, राज्य तथा कुरु-वंश के हित में, हस्तिनापुर का शासन-भार ग्रहण करें।

सब के अनुरोध पर युधिष्ठिर, व्यास तथा कृष्ण के पीछे चलकर, अनुजों-सहित हस्तिनापुर पहुँचे। नगर में उनका भव्य स्वागत हुआ। फिर उन्होंने महाराज धृतराष्ट्र के साथ राज भवन के भीतरी भाग में जाकर कुल-देवताओं का दर्शन किया... और ब्राह्मणों को समुचित दान दिये।

धृतराष्ट्र के अनुरोध पर, युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की व्यवस्था हुई। पुरोहित धौम्य ने, शास्त्रोक्त विधि से वेदी बनायी और युधिष्ठिर तथा द्रौपदी को सर्वतोभद्र आसन पर बैठाकर, कृष्ण ने पांचजन्य में जल भरकर युधिष्ठिर का अभिषेक किया... फिर धृतराष्ट्र, विदुर आदि प्रमुख कुल-ज्येष्ठों ने भी उनका अभिषेक किया।

"आपके आदेश पर यह उत्तरदायित्व तो मैंने ले लिया, ज्येष्ठ पिताश्री!" युधिष्ठिर ने उठकर धृतराष्ट्र का चरण-स्पर्श करते हुए कहा, "किन्तु मेरे तथा समस्त प्रजा के वास्तविक स्वामी आप ही हैं... आप ही रहेंगे। मैं और मेरे सभी अनुज आपके ही अधीन रहेंगे और आपकी आज्ञानुसार ही सारा कार्य करेंगे। मेरा प्रमुख कर्तव्य आपकी सेवा करना ही होगा, आप मुझे आशीर्वाद दें।"

धृतराष्ट्र के ज्योति-विहीन नयनों से अश्रु बरसने लगे, "तुम तो सदैव ही धर्म के मार्ग पर चले... मैं तुम्हारा मार्ग-दर्शन क्या करूँगा, वत्स! मैं तो कभी किसी का मार्ग-दर्शन नहीं कर पाया। अब तुम्हारे मार्ग में कोई कण्टक नहीं है पुत्र! सदा सुखी रहो।"

युधिष्ठिर ने भीमसेन को हस्तिनापुर का युवराज बनाया, और विदुर को महामन्त्री। अर्जुन प्रधान सेनापति नियुक्त हुए। सेना की व्यवस्था का कार्य नकुल को देकर, उन्होंने सहदेव को अपना व्यक्तिगत सहयोगी बनाया। संजय तथा युयुत्स को लोक-कल्याण एवं लोक-हित की व्यवस्था का भार प्राप्त हुआ।

अभिषेक का उत्सव समाप्त हुआ तो युधिष्ठिर ने उठकर कृष्ण का अभिवादन किया।

"माधव!" तुम्हारे आदेश पर मैंने राज्य-संचालन का यह दायित्व ग्रहण तो कर लिया, किन्तु मेरा चित्त अब भी शान्त नहीं है... सुस्थिर नहीं हो पा रहा हैं। वैसे भी विगत तेरह वर्षों में वन-वन भटकने के बाद, यह शासन-कार्य अब मुझे चिन्तित एवं भयभीत कर रहा है... सब कुछ अपरिचित-सा लग रहा है।"

"भैया!" कृष्ण ने सहज मुस्कान के साथ कहा, "समय अतीत के सारे दुःख भुला देता है... और दायित्व धीरे-धीरे व्यक्ति को सब-कुछ वहन करने की क्षमता भी देता जाता है। जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ का राज्य प्राप्त करके आपने उसे सुशासन प्रदान करने की क्षमता स्वयं ही अर्जित कर ली थी, उसी प्रकार यह नया दायित्व भी समय के साथ ही सहज होता चला जायेगा।"

"तब .." युधिष्ठिर ने स्मृति में डूबते हुए कहा, "तब मेरे मन में उत्साह था... कोई चिन्ता नहीं थी... कोई अपराध-बोध नहीं था, और तब मुझे पितामह का मार्गदर्शन भी तो प्राप्त था..."

"वह तो आज भी प्राप्त हो सकता है, भैया!" कृष्ण ने कहा, "पितामह का वरद-हस्त अब भी आप पर है। वे कुल के विनाश से त्रस्त तो होंगे, किन्तु आपकी विजय से प्रसन्न भी होंगे..."

"मैं जानता हूँ देवकीनन्दन!" युधिष्ठिर के नेत्र भीष्म के स्मरण-मात्र से भर आये, "मैं स्वयं ही उनका आशीर्वाद लेने के लिए व्यग्र हूँ.. किन्तु निर्णय नहीं ले पा रहा हूँ कि कुटुम्ब का ऐसा भयंकर विनाश कराने के बाद किस मुख से उनके सम्मुख जाऊँ? इन रक्त-रंजित हाथों से जाकर कैसे उनका चरण-स्पर्श करूँ?"

"इस दुविधा में न पड़ें भैया!" कृष्ण ने उन्हें सान्त्वना देते स्वर में कहा, "आप न तो उन्हें आशीर्वाद देने के सुख से वंचित करना चाहेंगे और न उनके मार्ग-दर्शन से वंचित रहना चाहेंगे। मेरा प्रस्ताव है कि हमें अविलम्ब उनके दर्शन के लिए चलना चाहिए।"

"चलो वासुदेव!" युधिष्ठिर ने रुँधे कण्ठ से, अपने छलकते हुए अश्रु पोंछकर कहा, "वैसे अब समय ही कहाँ बचा... दो माह से भी कम हैं अब तो। वे तो बस

मुझे विजयी देखने का मनोरथ लिए प्राण रोके पड़े थे। उन्होंने यह भी कहा था कि सूर्य उत्तरायण होते ही वे शरीर त्यागना चाहेंगे।"

"उसमें तो अभी समय है भैया!" कृष्ण ने गम्भीर होते हुए कहा, "उनके चरणों में बैठकर तो एक दिन भी ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिले, तो वही बहुत बड़ा सौभाग्य है।"

"आओ धर्मराज!" युधिष्ठिर को अनुजों-सहित चरण-छूते देखकर भीष्म ने वात्सल्य-भरे क्षीण स्वर में कहा, "सुखी रहो हस्तिनापुरनरेश..."

"कैसे सुखी रहूँ पितामह?" युधिष्ठिर ने अश्रु बरसाते हुए कहा, "आपकी इस दशा का उत्तरदायी... अपने कुटुम्ब के भविष्य को अन्धकारमय बनाने वाला, अपने हाथों अपने अग्रज का वध करने वाला, अपने हाथों अपने पुत्रों को जलांजलि देने वाला... कैसे सुखी रहे पितामह... कैसे सुखी रहे?"

"धैर्य धरो, धर्मराज!" भीष्म ने स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "जो बीत गया उसे भुलाकर उस भविष्य की ओर देखो, जो तुमसे बडी अपेक्षाएँ लिए तुम्हें पुकार रहा है।"

"मैं कैसे कर पाऊँगा पितामह?" युधिष्ठिर ने पुनः रुँधे कण्ठ से कहा, "आपके मार्ग-दर्शन के बिना... आपका साथ पाये बिना मैं भला क्या कर पाऊँगा!"

"तुम तो सदैव धर्म के मार्ग पर चले हो, वत्स!" भीष्म ने क्षीण स्वर में सान्त्वना देते हुए कहा, "जो धर्म के मार्ग पर हो उसे अन्य किसी मार्ग दर्शक की क्या आवश्यकता! धर्म का मार्ग तो स्वयं ही विजय की ओर ले जाता है... सफलता तथा सुख की ओर ले जाता है। और तुम्हें तो निरन्तर कृष्ण का मार्ग-दर्शन भी मिलता रहता है।"

तभी कृष्ण ने आगे बढ़कर भीष्म का चरण स्पर्श किया।

"आओ माधव, आओ!" भीष्म ने किंचित सिर उठाने का प्रयास करते हुए कहा, "बहुत दिन बाद तुम्हरा मुस्कराता हुआ मुख देखने को मिला। जानते हो वासुदेव! बाणों की पीड़ा से भी अधिक दुःख मुझे यह है, कि युद्ध के लिए अयोग्य होने के कारण, मुझे तुम्हारा दर्शन मिलना ही समाप्त हो गया... यद्यपि वहाँ बहुधा तुम्हारा क्रोध-भरा रूप ही दिखाई देता था।"

"क्षमा करें पितामह!" कृष्ण ने मधुर मुस्कान के साथ कहा, "मेरा वह क्रोध भी, पाण्डवों को दिये हुए आपके आशीर्वाद को पूर्णकाम करने के लिए ही था।"

"बड़े छलिया हो यशोदानन्दन!" भीष्म ने भी मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "संवाद में भी विजयी नहीं होने देते।"

"और आप महान हैं, पितामह!" कृष्ण ने सहसा गम्भीर स्वर में कहा, "जो स्वेच्छा से ही पराजित होकर अपने अबोध पौत्रों को विजय का मार्ग दिखाते रहे।"

"मैं तो दुर्भाग्यवश इनके मार्ग में बाधा बन गया था..." भीष्म ने पीड़ा से कराहते स्वर में कहा, "इन्हें विजय के मार्ग पर तो इन्हें स्वयं इनका धर्म ले गया।"

"नहीं पितामह!" कृष्ण ने आत्मीय मुस्कान के साथ साग्रह कहा, "आप इन्हें मार्ग न दिखाते तो ये अपने उद्योग में कभी सफल न होते... और आज भी गंगानन्दन! इन्हें अपना कर्तव्य निर्वाह करने के लिए आपके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है, आपके सार-गर्भित उपदेश की आवश्यकता है।"

"अरे गोपाल..." भीष्म ने मुस्कराने के प्रयास में कहा, "मेरे पास ऐसा क्या है जो युधिष्ठिर नहीं जानते... और फिर, अब मेरे पास समय ही कहाँ बचा है... सामर्थ्य ही कहाँ बची है, जो मैं इन्हें कुछ बताऊँ।"

"ऐसा न कहें पितामह!" कृष्ण ने अपना अनुरोध दुहराते हुए कहा, "आपके पास तो अपनी आजीवन तपस्या से अर्जित किया हुआ ज्ञान का अक्षय कोष है... दीर्घ-जीवन में संचित किया हुआ, व्यावहारिक अनुभवों का विशाल भण्डार है... उसे आप अपने पौत्रों की झोली में दान स्वरूप डाल जाइए।"

"तुम ठीक कहते हो माधव." भीष्म ने गम्भीर होते हुए कहा, "अपने इन अनुभवों का भार मैं अपने साथ ढोकर ले भी तो नहीं जा सकता।"

"धर्मराज!" कुछ क्षण अपनी श्वास को विश्राम देने के पश्चात् उन्होंने युधिष्ठिर की ओर सिर घुमाते हुए कहा, "पता नहीं . वर्तमान परिस्थितियों में मेरे अनुभवों में से कितना तुम्हारे लिए उपयोगी होगा, और कितना नहीं... फिर भी जो भी तुम जानना चाहो, पूछो। मैं यथा सम्भव, जो कुछ बता पाऊँगा... अवश्य बताऊँगा।"

"पितामह!" युधिष्ठिर ने अपने भावावेग पर नियन्त्रण पाने के प्रयास में अश्रु पोंछते हुए कहा, "पितामह... पहले तो ये ही बताएँ कि हमलोग आपके बिना कैसे रह पाएँगे! आपके मार्ग-दर्शन के बिना कैसे जीवन बिताएँगे! बाल्यावस्था से अब तक, पिता के अभाव में, हमने बस आपका ही स्नेह पाया आपकी उँगली पकड़कर ही चलना सीखा... हर छोटे-बड़े संकट में आपका ही स्मरण किया। और फिर... हमने आप ही पर प्राण-घातक प्रहार किये..."

कहते-कहते युधिष्ठिर का कण्ठ पूर्णतया अवरुद्ध हो गया, और बिलखकर रोते हुए उन्होंने अपना मस्तक भीष्म के चरणों पर टिका दिया। उनका संवाद सुनकर भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव के ही नहीं, कृष्ण, सात्यकि, विदुर, युयुत्सु आदि के नेत्र भी भर आये।

"वत्स, युधिष्ठिर!" भीष्म ने भी अपने भावावेग को नियन्त्रित करते हुए कहा, "तुम स्वयं ज्ञानी हो। तुम्हें तो यह बताने की आवश्यकता नहीं कि संसार अनित्य

है... यहाँ जो कुछ भी है, वह नश्वर है। इसीलिए इस संसार को मनीषियों ने मर्त्यलोक कहा। जीवन, चाहे जितना भी दीर्घ क्यों न हो, जीवधारियों को कम ही लगता है... बहुत कम लगता है। इसी कारण ज्ञानी जन उसे क्षण-भंगुर कहते आये हैं।"

"जीवन परिवर्तनशील है... जीवन गतिशील है। शिशु, जो माता-पिता का अवलम्ब लेकर चलना सीखता है, यौवन पाकर, वह वृद्धावस्था की ओर बढ़ते हुए उन्हीं माता-पिता का अवलम्ब बनता है... उन्हें आश्रय प्रदान करता है।

"यह सब तो तुम स्वयं ही जानते हो वत्स! मैं तो बस यह तुम्हारे दुःख के क्षण में तुम्हें पुनः ध्यान दिलाने के लिए कह गया... अथवा कौन जाने, मैं यह सब स्वयं अपने विचलित एवं भ्रमित मन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के प्रयास में कह रहा था!"

भीष्म को भावातिरेक में मौन पाकर युधिष्ठिर ने पूछा - "पितामह! मैं आत्म-ग्लानि से कैसे मुक्ति पाऊँ? अपने पुत्रों की बलि देकर प्राप्त हुए इस राज्य में कैसे मन लगाऊँ?"

"यह आत्म-ग्लानि निरर्थक है पुत्र!" भीष्म ने कहा, "सब जानते हैं कि तुमने युद्ध नहीं छेड़ा... तुमने तो युद्ध के निवारण के लिए हर सम्भव प्रयास किया। तुमने तो अपने विशाल राज्य के बदले, पारिवारिक शान्ति के हित में, केवल पाँच गाँव लेने का प्रस्ताव भी रखा था... फिर आत्म-ग्लानि क्यों? मुझ पर प्रहार करने का दुःख भी न करो, वत्स! मैं तो स्वयं ही उस अधर्म युद्ध से मुक्ति पाना चाहता था.. मैंने तो स्वयं ही अपने ऊपर प्रहार करने का मार्ग तुम्हें दिखाया था। और एक मैं ही क्या, जितने भी योद्धा शस्त्र लेकर तुम्हारे सम्मुख आये थे, उन्हें मार्ग से हटाना ही तुम्हारा धर्म था।

"और इस युद्ध में जो मूल्य तुमने चुकाया... वह नियति थी, जिस पर कभी किसी का वश नहीं चलता। उसे शान्त रहकर स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई सम्मानजनक विकल्प ही नहीं है। अब राज-पद ग्रहण करके, युद्ध द्वारा नष्ट अपने पूर्वजों के इस राज्य को पुनः प्रतिष्ठा एवं सम्पन्नता के शिखर पर पहुँचाना तुम्हारा कर्तव्य है... यह भूलकर कि तुम्हारे पश्चात् इसका क्या होगा, इस पर कौन शासन करेगा और यह कि वह क्या करेगा! ये सारे प्रश्न समय पर छोड़ दो.. उनके उत्तर समय ही देगा।

"क्यों गोविन्द!" उन्होंने मुस्कराने का प्रयास करते हुए स्नेह-सहित कृष्ण की ओर देखा, "कुछ ऐसा ही तो कहा था तुमने... अर्जुन से, उसे युद्ध में प्रेरित करने के लिए! तुम युधिष्ठिर का मार्ग-दर्शन करने में भी समर्थ हो। यह जीवन भी तो परिस्थितियों से निरन्तर युद्ध ही है।"

"महात्मन्!" कृष्ण ने भी विनयपूर्वक मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "आप जितनी सरलता से समझा देंगे, वह सामर्थ्य मुझमें कहाँ! और आपका उपदेश सुनकर मुझे भी तो बहुत कुछ सीखने को मिलेगा।"

भीष्म का ज्ञान-गर्भित सम्भाषण सुनकर युधिष्ठिर का मन सहज हो चला था, उनका मन पितामह के अनुभवों का सार प्राप्त कर लेने के लिए तैयार हो चुका था... और उन्होंने जीवन, धर्म, त्याग, तपस्या, मृत्यु, राज-धर्म, दण्ड, भोग, सत्य, वर्ण, कर्तव्य, क्षमा, दान, इंद्रिय सुख एवं निग्रह, धैर्य, क्रोध, परलोक, गुण-अवगुण, अर्थनीति, हिंसा, सैन्य-संचालन, लोभ, ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य, ध्यान, यज्ञ, वैराग्य, योग, कर्म, भाग्य, पुरुषार्थ, संन्यास, आदि अनेक विषयों पर प्रश्न किये। भीष्म उदाहरण देकर, एवं पौराणिक कथाओं का उल्लेख करते हुए, विस्तार में समझाकर उन प्रश्नों का उत्तर देते रहे।

दिन के बाद दिन बीतते जाते थे... और युधिष्ठिर की जिज्ञासा का कहीं अन्त नहीं दिखाई दे रहा था। किन्तु, दूसरी ओर, समय अपनी गति से चल रहा था... और शनैः-शनैः मकर संक्रान्ति का वह दिन पास आ गया, जब भीष्म ने प्राण त्यागने का निश्चय किया था।

"वत्स युधिष्ठिर!" भीष्म ने उन पर स्नेह-दृष्टि डालते हुए कहा, "जिज्ञासा का तो कहीं अन्त नहीं... न ही उत्तर है मेरे पास सारे प्रश्नों का। ज्ञान तो अनन्त है और जीवन में अपनी शंकाओं का समाधान, आधारभूत जीवन-मूल्यों के आधार पर, स्वयं ही करना होता है। जो कुछ मैंने कहा, उसे अपनी प्रज्ञा की कसौटी पर परखकर जीवन में ढालना... यही धर्म का मार्ग है। धर्म मात्र जान लेने का विषय नहीं है, ज्ञान को आचरण में ढालकर जीवन निर्वाह करना ही वास्तविक धर्म है।

"जाओ पुत्र! श्रद्धा एवं दम से सम्पन्न होकर, क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए, देवताओं द्वारा निर्धारित मार्ग पर चलो और पितरों का सत्कर्म द्वारा मान बढ़ाओ। दक्षिणा देकर यज्ञों का अनुष्ठान करते रहो। तात! प्रजा को प्रसन्न रखना, मन्त्री, सेनापति आदि कर्मचारियों को सान्त्वना देते रहना और सुहृदों का यथोचित सम्मान करना। जैसे मन्दिर के प्रांगण में फले हुए वृक्ष पर दूर-दूर से आकर पक्षी सुख पूर्वक रहते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र एवं हितैषी, तुम्हारे आश्रय में रहकर, सुखपर्वक जीवन निर्वाह करें।"

भीष्म का चरण-स्पर्श करके, पाण्डवों ने भीगे नयनों से उनसे विदा ली और कृष्ण-सहित हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। सारे ज्ञान से समृद्ध होकर भी उन्हें सिर पर मँडराते, पितामह से वियोग के दुःख को सहने के लिए धैर्य संचित करना पड़ रहा था।

मकर संक्रान्ति का दिन था... भीष्म की इच्छानुसार कुरुवंश के सभी परिजन, राज्य के सभी ब्राह्मणों-पुरोहितों तथा विदुर आदि सभी मन्त्री-कर्मचारियों-सहित, उनकी

शर-शैया के निकट उपस्थित थे।

भीष्म ने नेत्र खोलकर क्षीण मुस्कान के साथ अपनी दृष्टि घुमायी। अपने सम्मुख धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर, कृष्ण, सात्यकि, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, युयुत्स, धौम्य आदि के साथ युद्ध में जीवित बचे अनेक शासकों एवं योद्धाओं को देखा।

"उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा के बहाने..." भीष्म ने शिथिल मुस्कान के साथ कहा, "मैंने तुम लोगों के सान्निध्य में दो माह और व्यतीत कर लिए... ये दो माह जो, इस शैया पर पड़े हुए, मुझे सौ वर्ष के समान प्रतीत हुए। वत्स युधिष्ठिर! तुम्हें राज्य पर स्थापित और धर्म में स्थित देखने का सुख भी पा लिया। मुझे विश्वास है कि तुम धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए प्रजा को सुख प्रदान करते रहोगे।

"पुत्र धृतराष्ट्र!" उन्होंने कष्ट के साथ धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा, "जो बीत गया, उसे एक दुःस्वप्न समझकर भुला दो। अपने दिवंगत पुत्रों का दुःख भूलकर अपने अनुज-पुत्रों को ही अपना स्नेह प्रदान करना। अब ये ही तुम्हारे पुत्र हैं..."

धृतराष्ट्र ने मौन, अश्रु बहाते हुए, गान्धारी-सहित आगे बढ़कर भीष्म का चरण स्पर्श किया।

"अब... अब मुझे विदा दो..." भीष्म की दृष्टि सभी उपस्थित जनों पर घूमती हुई कृष्ण के मुख पर उभरी हुई रहस्यमय मुस्कान पर टिक गयी। फिर उन्होंने दोनों हाथ जोड़ते हुए आकाश की ओर देखा और प्राण वायु को नियन्त्रित करके, सहस्रार चक्र में स्थापित करते हुए, परमगति प्राप्त की।

महान दुःख में डूबकर भी, पाण्डवों ने, धृतराष्ट्र को आगे रखकर, भीष्म का अन्तिम संस्कार किया और उन्हें जलांजलि दी। फिर भी युधिष्ठिर शोक-मग्न ही रहते थे... उनके मन को, पितामह भीष्म तथा अग्रज कर्ण के वध कराने का अपराध-बोध शान्त नहीं होने देता था। कृष्ण ने उन्हें बारम्बार समझाने का प्रयास किया, किन्तु उसका भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

"मन की शान्ति के लिए, तुम अश्वमेध यज्ञ करो..." व्यास ने उन्हें समझाते हुए कहा, "इसके द्वारा सभी विद्वानों को दान मिलेगा और प्रजा सुखी होगी, तो तुम्हारा मन भी शान्त होगा।"

किन्तु उस समय युद्ध द्वारा हुए व्यापक विध्वंस के परिणामस्वरूप राज्य की अर्थ-व्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी। न तो प्रजा के पास धन था और न राज्य के कोष में। सहयोगी मित्र राज्यों की व्यवस्था भी नष्ट प्राय थी। युधिष्ठिर उनके कुल एवं

धन का विनाश देखकर, उनसे भी आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की स्थिति में नहीं थे।

"चिन्ता न करें बड़े भैया!" कृष्ण ने उन्हें विश्वास दिलाते हुए कहा, "जिस प्रकार खाण्डवप्रस्थ-जैसी पथरीली एवं अविकसित वन-भूमि पर आप लोगों ने अपने श्रम से इन्द्रप्रस्थ जैसा वैभवशाली राज्य बना लिया था, वैसे ही कुछ ही समय में हस्तिनापुर भी पुनः शक्तिशाली एवं समृद्ध राज्य बन जाएगा। हस्तिनापुर का पुनरुद्धार किसी यज्ञ से कम नहीं होगा और आप सबको अवश्य ही मन की शान्ति प्रदान करेगा।"

पाण्डवों के पास राज्य को सुशासन प्रदान करके उसे पुनः वैभव एवं समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर करने के अतिरिक्त विकल्प भी क्या था! वे धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा कुन्ती को सम्मान देते हुए, राज-काज में व्यस्त हो गये। और कृष्ण ने हस्तिनापुर में व्यवस्था स्थापित होते ही, युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर, द्वारिका के लिए प्रस्थान किया।

"किन्तु यदुनन्दन!" युधिष्ठिर ने सानुरोध कहा, "महर्षि व्यास की आज्ञानुसार, कुछ समय पश्चात् जब हमलोग अश्वमेध यज्ञ करेंगे, तब तो आप को आना ही होगा।"

"इसमें सन्देह क्यों भैया!" कृष्ण ने मधुरिमा बिखेरते हुए कहा, "उस समय तो मैं सौ कार्य छोड़कर भी आऊँगा ..."

"वासुदेव!" युधिष्ठिर ने भावुक होते हुए कहा, "प्रार्थना करना कि उत्तरा के गर्भ से हमें पौत्र प्राप्त हो... अब तो इस आशा पर ही हमारे वंश का भविष्य टिका है।"

"उसके लिए हम सभी प्रार्थनारत हैं.." कृष्ण ने भी गम्भीर होकर उन्हें सान्त्वना दी, "मुझे विश्वास है, विधाता हमारी प्रार्थनाओं को अनदेखा नहीं करेगा। और हाँ, इस अल्प अवधि के लिए, यदि आप आज्ञा दे तो मैं बहन सुभद्रा को अपने साथ द्वारका ले जाऊँ, वहाँ पिताश्री भी अपनी पुत्री से मिलने के इच्छुक हैं।"

युधिष्ठिर ने इस कार्य के लिए उन्हें सहर्ष अनुमति प्रदान की। कृष्ण, सुभद्रा तथा सात्यकि को पहुँचाने पाण्डव बहुत दूर तक उनके रथ के पीछे गये।

कृष्ण द्वारिका की व्यवस्था में व्यस्त तो हुए, किन्तु उनका मन उत्तरा की ओर ही लगा था। रह रहकर सुभद्रा को भी लगता था कि पुत्र-वधू को इस अवस्था मे छोड़कर उन्होंने ठीक नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि हस्तिनापुर मे उत्तरा की परिचर्या के लिए हर-सम्भव व्यवस्था थी... उसे कुन्ती तथा द्रौपदी का सरक्षण भी प्राप्त था, किन्तु अपनी पुत्र वधू तथा आने वाली सन्तान के प्रति उनका दायित्व सर्वोपरि था। कृष्ण

तथा सुभद्रा, समय-असमय मिलकर, उत्तरा को लेकर चिन्तित हो उठते थे।

कुछ ही समय बाद, हस्तिनापुर से प्राप्त एक सन्देश द्वारा उन्हें पाण्डवों द्वारा अश्वमेध यज्ञ के आयोजन की सूचना प्राप्त हुई, जिससे कृष्ण का मन प्रसन्न हो उठा। उसके साथ ही... उत्तरा के सम्बन्ध में एक चिन्ताजनक समाचार भी था। वैद्यों को संकेत प्राप्त हुआ था कि उत्तरा के गर्भ में बालक है, किन्तु गर्भस्थ शिशु को पर्याप्त रक्त नहीं उपलब्ध हो रहा था... उसकी नाड़ी इतनी क्षीण थी, कि बहुधा लुप्त मिलती थी। गर्भ के प्रारम्भिक दिनों में, सम्भवत: अश्वत्थामा द्वारा उदर पर प्रहार के कारण, इतना रक्त-स्राव हुआ था कि गर्भ-पिण्ड स्वाभाविक रूप से विकसित नहीं हो पाया।

कृष्ण चिन्ता में डूब गये... उन्होंने तुरन्त ही सुभद्रा को लेकर, हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया। वे यह सोच-सोचकर और भी व्यग्र थे कि यदि उत्तरा को वैद्यराज के इस निदान की सूचना मिल गयी, तो उसका मानसिक आघात स्वस्थ प्रसव की सारी सम्भावना ही समाप्त कर देगा। चलने से पहले उन्होंने अपने राजवैद्य से भी विस्तार में चर्चा की और उनकी बतायी हुई औषधियाँ साथ रख लीं। उनके साथ उनके अग्रज बलदेव, सात्यकि तथा पुत्र प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, साम्ब, गद आदि भी थे।

किन्तु चिन्ता थी कि उन्हें घेरे ही जा रही थी .. पाण्डवों की वंश बेल का केवल एक ही बीज बचा था, जिस पर पल्लवित होने से पहले ही हिमपात हो रहा था। अपने मन में घुमड़ती चिन्ताओं के चलते उन्हें अपनी मुखाकृति सामान्य बनाये रखना भी कठिन लग रहा था।

"सुभद्रा!" मार्ग में उन्होंने, मुस्कराने का प्रयास करते हुए, गम्भीर स्वर में कहा, "शिशु के स्वास्थ्य के लिए, गर्भ की अवधि में, माँ की स्वस्थ मानसिक स्थिति परम आवश्यक है, यह तो सर्वविदित है। किन्तु दुर्भाग्यवश उत्तरा से यह आशा नही की जा सकती कि वह निश्चिन्त एवं प्रसन्न-चित्त रहे। अभिमन्यु का शोक और वंश के प्रति दायित्व, उस अभागी को भला कैसे प्रसन्न रख सकता है! बहन, तुम्हें अपनी उपस्थिति द्वारा यह असम्भव कार्य भी सम्भव कर दिखाना है।"

सुनकर सुभद्रा के नेत्रों से अश्रु की दो बड़ी-बड़ी बूँदें ढुलककर उनका मुख भिगो गयीं। उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़कर किसी परा शक्ति के ध्यान में अपना मस्तक झुका दिया।

पाण्डवों का अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने तथा अश्वमेध यज्ञ के लिए धन एवं साधन एकत्रित करने का कार्य भी निरन्तर चल रहा था।

किन्तु हस्तिनापुर के राज-प्रासाद में घोर निराशा का वातावरण था... चिन्ता एवं निराशा की स्पष्ट छाया उन्हें कुन्ती तथा द्रौपदी के मुख पर भी दिखाई दी। किन्तु

कृष्ण को यह जानकर बड़ा सन्तोष मिला कि वैद्यराज के निदान का संकेत उत्तरा को नहीं मिला है।

"बुआ!" उन्होंने कुन्ती से कहा, "हमारे मन पर चिन्ता का कितना भी बोझ क्यों न हो, उत्तरा पर उसकी छाया भी न पड़, यह उत्तरदायित्व हमारा है। और कृष्णा..." उन्होंने द्रौपदी को सम्बोधित करके अपनी बात पूरी की, "तुमको, आवश्यक हो तो मुख पर मुखौटा लगाकर भी, प्रसन्न दिखना चाहिए... आशावान दिखना चाहिए... उत्तरा को प्रसन्न एवं भविष्य के प्रति आश्वस्त बनाये रखने के लिए।"

कृष्ण ने हस्तिनापुर के राजवैद्यों से मिलकर द्वारिका मे लायी औषधियाँ की भी चर्चा की। उत्तरा के उपचार में कुछ ओषधियाँ और बढ़ा दी गयी।

उनके आते ही हस्तिनापुर के राज-प्रासाद का वातावरण बिल्कुल ही बदल गया, वहाँ सभी उस परिवर्तन का अनुभव कर रहे थे। कृष्ण जहाँ एक ओर पाण्डवों के साथ कभी गम्भीर, तो कभी आध्यात्मिक चर्चा में लगे रहते, वहीं कुन्ती तथा द्रौपदी के सम्मुख सदैव मुस्कराते रहते और वाचाल हो जाते थे। दूसरी ओर उत्तरा की उपस्थिति में कभी आशीवाद लुटाते हुए वयोवृद्ध, तो कभी हास्य की फुलझड़ियाँ छोड़ते हुए विदूषक बने दिखाई देते।

"पुत्री उत्तरा!" कृष्ण ने एक दिन प्रातःकाल, उसे देखते ही, मुस्कराकर कहा, "कल रात अभिमन्यु ने मुझसे कहा... बिल्कुल स्पष्ट स्वर में कहा, 'मातुल! मेरे पुत्र का नाम परीक्षित रखिएगा. और उसे शस्त्र विद्या भी आप ही दीजिएगा... उसे शास्त्र विद्या भी आप ही दीजिएगा..."

उत्तरा को सहसा गम्भीर होते देख उन्होंने फिर कहा, "तुम चलोगी न। चलोगी मेरे साथ... द्वारका? क्योंकि यहाँ रहकर परीक्षित को शिक्षा देना मेरे लिए कुछ कठिन होगा।"

उत्तरा चुप थीं।

"वहाँ तुम वे सब स्थान भी देखना..." कृष्ण फिर चहकते हुए बोले, "जहाँ अभिमन्यु का जन्म हुआ था। जहाँ वह बड़ी देर तक मेरी गोद में चढ़ा घूमता रहता था... उतरता ही नहीं था। रोता था... आग्रह करता था... मनुहारता था... ऐसे..."

कृष्ण ने अधखुली उल्टी मुट्ठियों से आँखें मलकर रोने का अभिनय करते हुए कहा, "मुझे गोद में लो मातुल... मुझे गोदी आना ऐ... मुझे गोदी लगी है..."

सभी हँस पड़ते थे। उत्तरा भी मुस्करा उठती थीं।

"अभिमन्यु फिर आ रहा है उत्तरा..." कृष्ण ने सहसा गम्भीर स्वर में कहा, "इस बार पुनर्जन्म लेकर... तुम्हारी कुक्षि से। हमारा अभिमन्यु कहीं नहीं गया पुत्री! वह कुछ समय विश्राम कर रहा है... तुम्हारी कुक्षि में। उसे अपने अन्तर्चक्षुओं से देख

सकती हो तुम। उसे अपने स्नेह के हिंडोले में झुलाओ... लोरी गाकर उसके विश्राम को सुखमय बनाओ... कि वह स्वस्थ होकर शीघ्र आये तुम्हारे जीवन में... मेरी गोद में... कुरु वंश की बेल पर..."

सभी सुनने वालों पर कृष्ण के स्वर का सम्मोहन छा जाता था। उत्तरा में नित नवीन आशा का संचार होता रहता था।

वैद्यराज की दृष्टि में भी रह-रहकर आशा की किरणें फूटती दिखाई देती थीं।

... और, उन सबसे हटकर, कृष्ण बहुधा एकान्त में पहुँचते तो उनके नेत्र भीग जाते। वे अपने दोनों हाथ बाँधकर मस्तक से लगाते हुए किसी परा-शक्ति के सम्मुख विनत हो जाते... "प्रभु! रक्षा करना... इस महाविनाश के बाद, एक बीज को तो पल्लवित होने का अवसर देना। मुझे मेरा अभिमन्यु लौटा दो प्रभु!"

समय के पंखों पर तीव्र गति से उड़ता हुआ, शीघ्र ही, वह दिन भी आ पहुँचा, जब उत्तरा ने प्रसव पीड़ा द्वारा सारे राज-परिवार को, एक साथ ही चिन्तित एवं उत्कण्ठित करते हुए, शिशु को जन्म दिया। कुछ ही क्षण में, प्रसूति-गृह से सूचना आयी कि पुत्र जन्मा है...

किन्तु... सुनने वालों के मुख पर सन्तोष की मुस्कान स्थिर हो पाये, उससे पहले ही प्रसूति-गृह से निकलती सुभद्रा का मुख दिखाई दिया। उसकी आँखों में निराशा थी, व्यथा थी, पीड़ा थी... और कृष्ण से दृष्टि मिलते ही उसकी आँखें बरस पड़ीं...

विस्मय में कृष्ण को न जाने क्या हुआ कि... दौड़ते हुए वे प्रसूति-गृह में, प्रवेश की सभी वर्जनाओं को लाँघते हुए, उत्तरा के निकट जा पहुँचे, जहाँ प्रमुख धात्री के हाथ में नवजात शिशु निष्प्राण मांसपिण्ड-सा झूल रहा था... उसे छीनकर अपने हाथो में ले लिया और बल-पूर्वक झकझोरते हुए कहा, "जागो परीक्षित... जागो! तुम्हें आना ही होगा... हम सबको प्रार्थना एवं परीक्षा में सफल करने के लिए... जागो, परीक्षित... जागो..."

और तभी कृष्ण के विक्षिप्त प्रलाप में एक क्षीण क्रन्दन का स्वर आ मिला... वह उस नवजात शिशु का क्रन्दन था, जिसे सुनकर आश्चर्य, सन्तोष एवं उल्लास में सबके मुख खिल उठे। कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि ने प्रेम-विह्वल हो एक दूसरे को हृदय से लगाते हुए, मुक्त अश्रुओं से नहला दिया।

"आपने तो चमत्कार कर दिया जनार्दन!" राजवैद्य चमत्कृत भी थे और गद्गद भी। "मैं तो अन्तिम क्षण तक संशय की स्थिति से उबर ही नहीं पा रहा था... और फिर इस समय क्या कर दिया आपने! कोई माया अवश्य है, आपके हाथों में ."

कृष्ण की भी विचित्र स्थिति थी... अधरों पर सन्तोष एवं चिन्ता-मुक्ति की मुस्कान और नयनों में छलकते हुए अश्रु... जैसे कई दिनों तक घुमड़ते रहने के पश्चात्

बदली सहसा फट पड़ी हो।

"मैंने तो कुछ भी नहीं किया वैद्यराज!" उन्होंने मुस्कराने के प्रयास में कहा और सोचा... 'समय ही होता होगा... युद्ध रोकने का हर सम्भव प्रयास किया मैंने, किन्तु उसे न रोकने का सारा अपयश मुझे ही मिला। और आज, अनजाने में, जो संयोग हुआ... उसका यश मुझे मिलना था, सो मिल गया।'

वंश में पौत्र के जन्म से पाण्डवों का मन प्रफुल्लित एवं उत्साहित था। उन्हें अश्वमेध यज्ञ के लिए समय हर प्रकार अनुकूल एवं उपयुक्त लगा।

महर्षि व्यास ने मुनिवर याज्ञवलक्य के साथ हस्तिनापुर आकर चैत्र मास की पूर्णिमा के दिन युधिष्ठिर को यज्ञ की दीक्षा दी.. और यज्ञ का अश्व छोड़ा। उन्हीं की आज्ञा से अर्जुन अश्व की रक्षा के लिए गये। राज्य के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व भीमसेन तथा नकुल को दिया गया और कुटुम्ब के भरण-पोषण की सारी व्यवस्था में सहदेव को नियुक्त किया गया।

"वत्स अर्जुन: महर्षि व्यास ने सेना सहित प्रस्थान करते हुए अर्जुन से कहा, "गत महासंग्राम में तुम्हारी विजय ने सारे संसार में तुम्हें महा-पराक्रमी एवं शक्तिशाली योद्धा के रूप में स्थापित कर दिया है। सम्भावना यही है कि कहीं, कोई भी, तुम्हारा विरोध नहीं करेगा। तथापि, यदि कहीं विरोध का संकेत मिले तो, यथासम्भव, युद्ध से बचना। मुझे विश्वास है, तुम्हारे जैसा शक्तिशाली व्यक्ति जब विनम्रतापूर्वक अनुरोध करेगा, तब कोई भी साम्राज्य तुम्हारे अधीन होने में किसी भी प्रकार अपमान का अनुभव नहीं करेगा। मेरा आशीर्वाद है, कि बिना किसी विरोध अथवा जन-संहार के ही तुम समस्त प्रजाओं पर विजय पाकर लौटो।"

यज्ञ का अश्व घूमता हुआ सर्वप्रथम उत्तर दिशा में गया...

अधिकांश राज्यों में अर्जुन का स्वागत हुआ, किन्तु व्यास की सदाशा पूर्णरूपेण फलीभूत नहीं हुई। अनेक राज्य ऐसे भी थे जो, कौरव-पक्ष में युद्ध करते हुए, पाण्डवों द्वारा अपने महाबली योद्धाओं को गवाँकर पराजित हुए थे... वे अर्जुन को अपना प्रबल शत्रु मानकर प्रतिशोध के लिए उन पर टूट पडे। इस प्रकार अर्जुन को अनेक स्थानों पर युद्ध भी करना पड़ा।

ऐसा ही एक राज्य था त्रिगर्त। अर्जुन के हाथों कुरुक्षेत्र में प्राण गवाँने वाले सहस्रों योद्धाओं के पुत्र, सम्बन्धियों आदि ने विशाल सेना लेकर अर्जुन पर आक्रमण किया। अर्जुन के शान्तिपूर्ण वचनों का उन पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ा। हारकर, अर्जुन को आक्रमण का उत्तर शस्त्रों से ही देना पड़ा और उन्होंने त्रिगतराज सूर्यवर्मा को पराजित करके बन्दी बना लिया। यह देख सूर्यवर्मा के अनुज केतुवर्मा तथा धृतवर्मा ने

आक्रमण किया। उस युद्ध में केतुवर्मा-सहित अठारह योद्धाओं का वध हुआ, जिससे त्रिगर्त-सेना में भगदड़ मच गयी। उन्होंने आत्म-समर्पण करके हस्तिनापुर की अधीनता स्वीकार कर ली।

इसी प्रकार, प्राग्ज्योतिषपुर में भगदत्त के पुत्र वज्रदत्त का शासन था। उसने अपने पिता के वध का स्मरण करते हुए अर्जुन पर विशाल सेना लेकर आक्रमण किया। गम्भीर रूप से घायल होकर भी, वह तीन दिन तक युद्ध करता रहा... किन्तु अन्त में घायल होकर अपने हाथी से भूमि पर जा गिरा।

"निश्चिन्त रहो वज्रदत्त!" अर्जुन ने उसे अभय-दान देते हुए कहा, "मैं तुम्हे परास्त करने अथवा तुम्हारा वध करने के लिए नहीं, प्राग्योतिषपुर के साथ स्थायी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने आया हूँ। अब तुम हस्तिनापुर को अपना मरक्षक मानकर सुखपूर्वक राज करो... और इष्ट-मित्रों-सहित हमारे अश्वमेध में भाग लेने के लिए आना।"

उत्तर-पश्चिम में, पहुँचकर अर्जुन को सिन्धु प्रदेश में भयंकर विरोध झेलना पडा। सिन्धु के योद्धा, अपने स्वामी जयद्रथ के वध का प्रतिशोध लेने के लिए कई दिन तक अर्जुन से युद्ध करते रहे। अर्जुन द्वारा अनेक योद्धा धराशायी हुए, किन्तु उन्हे पराजय स्वीकार नहीं थी। अपने योद्धाओं का विनाश देख, जयद्रथ की विधवा दुःशला अपने पौत्र को लेकर अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुई... और उसने अपनी दुःखभरी गाथा सुनाकर उनसे युद्ध रोकने की प्रार्थना की। वहीं अर्जुन को ज्ञात हुआ कि जयद्रथ का पुत्र सुरथ अत्यन्त रोग-ग्रस्त था और अर्जुन के आगमन का समाचार पाकर ऐसा उत्तेजित हुआ, कि उत्तेजना में ही अपने प्राण गवाँकर परलोकवासी हो गया।

अपनी अनुजा की दुःखगाथा से अर्जुन द्रवित हो उठे। दुःशला के आदेश पर सैन्धव योद्धाओं ने भी, अपने युद्ध एवं वैर को विराम देकर, अर्जुन का मैत्री प्रस्ताव स्वीकार किया। दुःशला एवं उसके पौत्र को प्रेम-सहित उनके राजप्रासाद में लौटाकर अर्जुन ने सेना-सहित आगे की यात्रा की।

यज्ञ का अश्व पुनः घूमता हुआ पूर्व की ओर मुड़ा और निर्विरोध विचरता हुआ सुदूरपूर्व में स्थित मणिपुर में जा पहुँचा। वहाँ के सम्राट बभ्रुवाहन को जैसे ही उस अश्व के साथ अपने पिता के आगमन की सूचना मिली, वह स्वागत की सामग्री के साथ बहुमूल्य रत्न आदि लेकर दर्शन के लिए उनके सम्मुख जा पहुँचा।

"यह क्या पुत्र?" अर्जुन ने गम्भीर स्वर में कहा, "तुम यह कैसे भूल गये कि तुम क्षत्रिय हो... और इस समय मैं तुम्हारे पिता के रूप में, स्नेह की भेंट लेकर नही, सेना के साथ अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर तुम्हारे राज्य में, बिना तुम्हें सूचना दिये और बिना तुम्हारी अनुमति के ही आया हूँ।"

"किन्तु पिताश्री!" बभ्रुवाहन ने संकोच के साथ कहा, "यह मैं कैसे भूल जाऊँ कि आप मेरे पिता हैं?"

"वत्स!" अर्जुन ने स्नेह-सहित गम्भीर रहते हुए ही कहा, "क्षत्रिय को, अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहते हुए, बहुत कुछ भूल जाना पड़ता है। इस समय तो तुम्हें मुझे मात्र इस रूप में देखना चाहिए कि कोई शस्त्रधारी, अपनी विशाल सेना-सहित, बिना तुम्हारी अनुमति के तुम्हारे राज्य में घुस आया है। ऐसे में जो अभीष्ट है वही व्यवहार तुम्हें मेरे प्रति करना चाहिए था..."

"किन्तु..."

"किन्तु का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए वत्स!" अर्जुन ने उसका वाक्य काटते हुए मुस्कराकर कहा, "और इससे मुझे भी तो यह ज्ञात हो कि मेरा पुत्र शस्त्र-विद्या में कितना पारंगत हो गया है।"

बभ्रुवाहन क्षण-भर मौन खडे रहकर, बिना कुछ कहे अर्जुन के सामने से चला गया। अर्जुन को भी उसका व्यवहार कुछ विचित्र लगा। किन्तु कुछ ही देर में अर्जुन के शिविर की ओर एक विशाल सेना दौडी चली आ रही थी... उनमें सबसे आगे, सैन्य-वेश मे, बभ्रुवाहन था। उसे देखकर अर्जुन के मुख पर स्नेहपूर्ण मुस्कान फैल गयी। उन्होंने झपटकर अपना गाण्डीव उठाया और तरकस बाँध लिया। आक्रमण होते-होते, अर्जुन की सेना भी अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर सामने आ खड़ी हुई।

बभ्रुवाहन ने अर्जुन को सावधान करते हुए जो पहला बाण चलाया वह सीधा उनके बाएँ कन्धे पर लगा। वे मन-ही-मन उसके लक्ष्य-सन्धान की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाये। साथ ही, उन्हें यह भी ध्यान आया कि, पुत्र से युद्ध को खेल मानकर, वे अपना कवच धारण करना ही भूल गये थे। उन्होंने भी गाण्डीव पर कुछ साधारण बाण चढ़ाकर ऐसे मारे कि बभ्रुवाहन अनेक बार रथ से गिरने-गिरते बचा।

अर्जुन ने सेनाओं को टकराने से रोककर, बभ्रुवाहन को द्वन्द्व के लिए ललकारा। वह ललकार सुनकर बभ्रुवाहन अपने रथ से कूदा और भूमि पर आ खड़ा हुआ, और वहीं से अर्जुन पर बाण बरसाने लगा। अर्जुन निरन्तर उसके बाण काटते हुए, बीच-बीच में प्रहार करके उसे खिझाते हुए कभी उसका धनुष काटते, तो कभी प्रत्यंचा... और कभी उसका कवच। उत्तर में बभ्रुवाहन क्रोधित होकर अर्जुन पर नये-नये बाण छोड़ता था। अर्जुन से युद्ध करते दो प्रहर बीत चुके थे.. वह थक चुका था कि तभी, क्रोध में भरकर चलाया हुआ उसका एक विषैला बाण अर्जुन का वक्षःस्थल वेध गया। अर्जुन उससे आहत होकर भूमि पर जा गिरे।

उधर अपनी थकान से व्याकुल होकर बभ्रुवाहन भी अचेत हो गया। देखते ही देखते दोनों ही सेनाओं में चिन्ता व्याप्त हो गयी। कुछ ही समय में, यह दुःखद समाचार पाकर, चित्रांगदा वहाँ विक्षिप्त की भाँति दौड़ी आयी। वह व्याकुल थी... और

समझ नहीं पा रही थी कि पहले किसके लिए अश्रु बहाये, किसके लिए प्रार्थना करे...

दोनों ही पक्षों के वैद्य उन दोनों के उपचार में व्यस्त थे। तभी मणिपुर के वैद्य ने बताया कि बभ्रुवाहन के बाण में नाग का विष था, जिसका उपचार नाग-जाति के किसी चिकित्सक के पास ही प्राप्त होगा।

नाग-जाति...! यह सुनते ही चित्रांगदा को नाग-कन्या उलूपी का स्मरण हुआ, जिसके साथ भी अर्जुन का विवाह हुआ था। वह स्वयं ही अपने कुछ मन्त्रियों के साथ दौड़ी हुई उलूपी के पास गयी।

चित्रांगदा को देखकर उलूपी को आश्चर्य तो हुआ... किन्तु जब उसने अर्जुन के विषैले बाण द्वारा आहत होने की बात सुनी तो वह अपने एक वैद्य को लेकर तुरन्त अर्जुन के पास पहुँची। वैद्य को प्रसन्नता हुई कि, यद्यपि विष आधे शरीर में फैल चुका था फिर भी, अर्जुन के प्राण शेष थे। कुछ उपचार के पश्चात्, अर्जुन की पलकें धीरे-धीरे हिलीं... और उन्होंने नेत्र खोल दिये।

दूसरी ओर, बभ्रुवाहन भी स्वस्थ हो चुका था और पिता के स्वास्थ्य के लिए व्याकुल था। चित्रांगदा तथा उलूपी को अपने सम्मुख देखकर अर्जुन को प्रसन्नता हुई... किन्तु उनका मन अपने वीर, धनुर्धर पुत्र बभ्रुवाहन को हृदय से लगाने के लिए व्यग्र था। उन्होंने प्रयास करते हुए भूमि से उठकर दृष्टि चारों ओर दौड़ायी... और अश्रु-पूरित नेत्रों से पास खड़े अपने पुत्र को देखकर भुजाएँ फैला दीं।

उन सभी का आग्रह था कि अर्जुन कुछ समय, मणिपुर में, उनके साथ रहें.. किन्तु अर्जुन अश्वमेध की यज्ञ-दीक्षा से बँधे थे। वे अश्व के साथ, जहाँ भी वह जाए, जाने के लिए ही स्वतन्त्र थे। उन्होंने बभ्रुवाहन से कहा कि वह, दोनों माताओं को साथ लेकर, यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए हस्तिनापुर आये।

यज्ञ-अश्व पुनः पश्चिम की ओर चलकर राजगृह पहुँचा, तो वहाँ के शासक सहदेवनन्दन मेघसन्धि ने उसे पकड़कर अर्जुन को चुनौती दी। अर्जुन ने उसे समझाने का बहुत प्रयास किया, किन्तु वह अपनी शक्ति के मद में उन पर आक्रमण करता ही रहा। तब अर्जुन ने उसे तथा उसके सारथि को बचाते हुए उसके रथ पर ऐसे बाणवर्षा की कि उसका रथ छिन्न-भिन्न हो गया और धनुष टूट गया। फिर भी, जब उसने गदा लेकर प्रहार किया तो अर्जुन ने उसकी गदा भी तोड़ गिरायी।

"वत्स!" उन्होंने पुनः मेघसन्धि को समझाते हुए कहा, "महाराज युधिष्ठिर का आदेश है कि इस यज्ञ में किसी का वध न किया जाए... अतः मैं तुम पर घातक प्रहार किये बिना तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम, व्यर्थ का विरोध त्यागकर,

हस्तिनापुर के संरक्षण में रहना स्वीकार कर लो।"

अर्जुन के पराक्रम तथा उनकी उदारता से प्रभावित मेघसन्धि ने उनका सत्कार किया और सहर्ष हस्तिनापुर के आश्रय में रहना स्वीकार किया।

मेघसन्धि से मुक्त होकर वह अश्व, बंग, पुण्ड्र, कोसल, काशी आदि में होता हुआ, चेदि जा पहुँचा, जहाँ शिशुपाल के पुत्र शरभ का राज्य था। इन सभी राज्यों में अर्जुन को प्रारम्भ में तो कुछ विरोध मिला, किन्तु उनका सैन्यबल तथा सद्व्यवहार देखकर उन सभी ने हस्तिनापुर का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

पहली कठिन चुनौती उन्हें दशार्ण में मिली, जहाँ उस समय चित्रांगद का शासन था। उसे भयंकर युद्ध में परास्त करके, और जीवन-दान देकर, अर्जुन निषादराज एकलव्य के राज्य में पहुँचे, जहाँ उस समय एकलव्य के पुत्र का शासन था। उसने अर्जुन को कड़ी टक्कर दी, किन्तु अन्त में परास्त होकर उसने भी हस्तिनापुर के संरक्षण में रहना स्वीकार कर लिया।

स्वेच्छा से विचरता वह अश्व तब दक्षिण दिशा की ओर मुड़ा और आन्ध्र, द्रविड़, रौद्र, माहिषक तथा कोलाचल प्रदेशों में पहुँचा जहाँ कुछ स्थानों पर अर्जुन को फिर विरोध मि ना। उन सब पर कहीं युद्ध द्वारा, तो कहीं अनुरोध एवं सद्भाव द्वारा विजय पाते हुए अर्जुन, अश्व के पीछे चलकर, प्रभास क्षेत्र होते हुए द्वारका पहुँचे। वहाँ महाराज उग्रसेन तथा वसुदेवजी का दर्शन करके, वे पश्चिम तटवर्ती प्रदेशों में होते हुए पंचनद पहुँचे... और फिर गान्धार।

उस समय गान्धार पर शकुनि के एक पुत्र का शासन था। वह, अपने पिता का स्मरण करके, क्रोध-पूर्वक अर्जुन का विरोध करने के लिए सेना लेकर निकला। किन्तु अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा उसके सारे प्रयास विफल कर दिये और एक अर्ध-चन्द्राकार बाण द्वारा उसके मस्तक पर लगा शिरस्त्राण काट गिराया। इससे भयभीत होकर वह भाग खड़ा हुआ और उसे भागते देख उसकी सेना भी छिन्न-भिन्न होकर भागने लगी।

अपने पुत्र को भयभीत देख शकुनि की पत्नी, कुछ वृद्ध मन्त्रियों को साथ लेकर अर्जुन के पास सन्धि-प्रस्ताव लेकर पहुँची। अर्जुन ने उसका सम्मान करते हुए कहा, "हमें अपना अतीत भुलाकर शान्तिमय सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। यही कारण है कि माता गान्धारी तथा ज्येष्ठ पिताश्री धृतराष्ट्र का स्मरण करके मैंने गान्धारनरेश पर प्रहार नहीं किया। हमारी इच्छा है, हम दोनों के राज्य पारस्परिक कटुता को भुलाकर सौहार्दपूर्ण वातावरण में, एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हुए, सुख से रहें।"

अपनी माँ के अनुरोध पर गान्धारनरेश ने अर्जुन के सम्मुख उपस्थित होकर हस्तिनापुर के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्वीकार किया, और अश्वमेध यज्ञ में आने का वचन दिया।

यज्ञ-अश्व के साथ अर्जुन के लौटने का समाचार पाकर युधिष्ठिर को बड़ा हर्ष हुआ और उन्होंने भीमसेन की सहायता से नगर के निकट शाल वृक्षों से घिरा एक विशाल मनोरम स्थल यज्ञ के लिए चुना। यज्ञ की गरिमा के अनुरूप सारे प्रबन्ध कराये गये और उसमें सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण लेकर सभी छोटे-बड़े शासकों के पास दूत भेजे गये।

चैत्र पूर्णिमा के दिन युधिष्ठिर का अश्वमेध सम्पूर्ण विधि-विधान के साथ सम्पन्न हुआ। उसमें दूर तथा पास के समस्त शासक तथा विद्वान सम्मिलित हुए थे... लगता था जैसे सारा जम्मू द्वीप ही वहाँ आ बसा हो। यज्ञ में भाग लेने वाले समस्त विद्वान, ब्राह्मण, पुरोहित आदि आदर-सम्मान एवं दान से तृप्त होकर लौटे। उन्होंने पाण्डवों को मुक्त कण्ठ से आशीर्वाद दिये... शुभकामनाएँ दीं।

यज्ञ समाप्त होने पर कृष्ण एवं बलराम, सात्यकि-सहित, पाण्डवों की आज्ञा लेकर, द्वारका के लिए प्रस्थित हुए। पाण्डव उन्हें पहुँचाने के लिए तीन योजन तक उनके साथ गये... तब कृष्ण ने आग्रह करके उन्हें हस्तिनापुर लौटाया।

निवर्तन

पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो गये...

धृतराष्ट्र ने सोचते हुए फिर करवट बदली... चिन्ता के मारे उनका मन व्याकुल था। 'और कितना...? और कब तक...?'

किसी भी स्थिति में शान्ति न पाकर वे उठे और अपना मस्तक हाथों में थामकर बैठ गये।

"क्या बात है स्वामी!" गान्धारी ने उनके कन्धे पर हाथ टिकाते हुए पूछा, "सोये नही आप?"

"तुम भी तो जाग रही हो..." उन्होंने थके से स्वर में कहा।

"आप व्याकुल हों तो.." गान्धारी ने अपना वाक्य बीच में ही छोड़ दिया। "कुशासन पर कष्ट होता होगा। निद्रा भला कैसे आएगी। भोजन भी तो लगभग त्याग ही दिया है आपने, इस आयु में शरीर ऐसा तप भला कैसे सह पाएगा?"

"अभ्यस्त हो जाएगा... धीरे-धीरे..." धृतराष्ट्र ने निढाल स्वर में कहा, "तुम भी तो कष्ट दे रही हो, अपने शरीर को।"

"स्वामी!" गान्धारी ने कोमल स्वर में कहा, "आप कुशासन पर लेटे हों तो मैं शैया पर कैसे शयन कर सकती हूँ? आप दिन भर में केवल एक बार अल्पाहार करें तो मुझे राजसी भोजन भला कैसे सुहाएगा?"

"सच पूछो तो..." अन्धकार मे मचलते हुए धृतराष्ट्र के ज्योतिशून्य नेत्र, वाक्य में बाधक बन गये।

"आप कुछ कह रहे थे स्वामी!"

"सच कहूँ तो... मैं इतने का भी अधिकारी नहीं हूँ," धृतराष्ट्र के स्वर में निराशा थी। "मुझे तो अपने पाप का प्रायश्चित्त बहुत पहले ही कर लेना चाहिए था... दुर्योधन की मृत्यु के, युद्ध में पराजय के, तुरन्त बाद ही।"

उनके हाथ पर सहसा गान्धारी की पकड़ में कसाव आया। वे गान्धारी के नेत्रों से प्रवाहित अश्रुओं को अनुभव कर सकते थे... देख सकते थे।

"तुम भाग्यवान हो, कल्याणी!" धृतराष्ट्र का कण्ठ भी भर आया, "तुम रो तो सकती हो। मेरे नेत्रों के कपाट तो विधाता ने बड़ी निर्दयतापूर्वक बन्द किये... न तो प्रकाश को भीतर जाने देते हैं और न मन की पीड़ा को निकलने का मार्ग ही देते हैं।"

आश्चर्य... कि पीड़ा के उन क्षणों में, उन दो नेत्र-हीनों के बीच भी अन्धकार घना होता चला गया।

गान्धारी के आग्रह पर धृतराष्ट्र कुशासन पर पुनः लेट गये... और निद्रा को मनुहारने लगे। किन्तु स्मृतियों की अपार भीड़, निद्रा को परे ठेलती हुई, आती रही और उन्हें व्यथित करके रात्रि को और भी लम्बा करती रही।

कटु स्मृतियों ने उन्हें फिर घेर लिया...

अपने एक-एक पुत्र के वध का समाचार पाकर धृतराष्ट्र व्यथित हो उठते थे, किन्तु उस क्रम में कभी कोई अन्तर आया भी तो मात्र इतना कि किसी दिन उन्हें चार पुत्रों की मृत्यु का समाचार मिला तो कभी दस का। वे जानते थे कि दुर्योधन जो कुछ भी कर रहा है, वह अनुचित है... वे यह भी जानते थे कि पाण्डु के पुत्र पराक्रमी हैं, और कृष्ण उनके साथ हैं। किन्तु वे यह भी जानते थे कि वे वीरगति पाने वाले उनके पुत्र हैं... उन्हीं के आत्मज। दुर्योधन का अपराध कितना भी अक्षम्य हो, किन्तु इतना जघन्य तो नहीं था कि उनके सभी पुत्र मार दिये जाएँ।

... और प्रतिदिन, पुत्रों की वीरगति के समाचार के साथ, एक ही नाम था जो लम्बे विषैले काँटे के समान उनके कानों में चुभता था... उनके पुत्रों के वधिक का नाम.. वही, बारम्बार वही... भीमसेन।

हर वार, उनके ज्योतिविहीन नेत्र, कल्पना में बनी, भीमसेन की काया पर अग्नि बरसाकर रह जाते थे। हर बार क्रोध में विक्षिप्त होकर वे उठ खड़े होते थे और भीमसेन को पकड़कर पीस डालने के प्रयास में किसी स्तम्भ से टकराकर रह जाते थे। किन्तु हर बार, उस घातक समाचार की पुनरावृत्ति उन्हें अधमरा कर करके भी इस क्षीण आशा में जीवित रहने के लिए विवश करती थी कि, बीच में कभी, पाण्डु के किसी बेटे के वध का समाचार भी मिलेगा... और शीघ्र ही, किसी दिन उल्लास भरे स्वर में राज-प्रासाद को अपने अट्टहास से गुँजाता दुर्योधन आएगा और अपनी विजय का समाचार सुनाएगा।

किन्तु... विधाता ने वह दिन नहीं दिखाया, तो नहीं दिखाया। उसके स्थान पर हृदय पर लगे घावों पर, नमक का लेप लगाने जैसा समाचार मिला था... दुर्योधन के उरु-भंग का, और वह भी पुनः भीमसेन द्वारा... भीमसेन के नियम-विरुद्ध गदा प्रहार द्वारा।

वे समझ नहीं पाये थे कि क्या करें! अपने पहले... नहीं, सौवें पुत्र की पराजय पर, उसके वध पर, क्या करें! अश्रु समाप्त हो चुके थे। नेत्रों की ज्वाला भी विवश थी। आश्चर्य कि वे बैठे रह गये। रण-भूमि में मरणासन्न पड़े अपने असहाय पुत्र

को देखने भी नहीं गये। गान्धारी को भी उन्होंने यह समाचार नहीं बताया, कि वही चली जाए।

किन्तु मन में प्रतिशोध की ज्वाला निरन्तर धधक रही थी। वे अपनी सीमाएँ जानते थे... और आवेश में उठकर फिर किसी स्तम्भ से नहीं टकराना चाहते थे। धधकता हुआ उनका मन प्रतिक्षण योजना बना रहा था... प्रतिशोध की योजना।

क्या करें... कैसे करें? वे रात भर जागते रहे थे... व्यग्र, व्याकुल...

और तभी समाचार मिला उन्हें, कि अश्वत्थामा ने द्रौपदी के पुत्रों का वध कर दिया। सुनकर कैसा सन्तोष मिला था उन्हें! पाशविक सन्तोष... किन्तु मात्र क्षण भर को। 'मूर्ख, पाण्डवों को क्यों नहीं मारा उसने?'

सम्भावनाओं तथा विकल्पों में डूबता-उतराता हुआ उनका मन एक योजना पर दृढ़ होता जा रहा था। किन्तु... समस्या यह थी कि वे एक ही बार प्रहार कर सकते थे... बस एक ही बार। उनकी युक्ति उन्हें दूसरा प्रहार करने का अवसर नहीं देगी। किन्तु अन्य कोई विकल्प भी तो नहीं था। तो एक ही सही .. किन्तु कौन? कौन-सा एक...? और उनके क्रूर मन ने तुरन्त ही उत्तर दे दिया था – भीमसेन।

पाण्डवों के पास निमन्त्रण भेजकर वे बड़ी व्यग्रता के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। प्रतीक्षा का प्रत्येक क्षण उनके लिए दूभर हो रहा था। अपनी योजना पर बारम्बार सोच-विचारकर उन्होंने मब कुछ विस्तार में सुनिश्चित कर लिया था। सर्वप्रथम तो यह कि उन्हें अपने मुख के भाव पर नियन्त्रण रखना है... मुख पर दु:ख का भाव, हताशा एवं निराशा का भाव ही बनाये रहना है... और उन्हें, एक-एक करके, स्नेह-सहित अश्रु बहाते हुए, पाण्डवों को बाँहो में भरकर हृदय से लगाना है... तब तक, जब तक कि वह हत्यारा... उनके पुत्रों का निर्मम हत्यारा उनकी भुजाओं में न आ जाए।

हर बार अपनी योजना पर पुनर्विचार उन्हें और भी व्यग्र कर जाता था। कैसा होगा, अब कैसा होगा भीमसेन? सम्भवत: वैसा ही, जैसा लगभग चौदह वर्ष पूर्व, द्यूत-क्रीड़ा के बाद, वन गमन के समय रहा हो। 'कैसा भी हो... मैं पीस सकता हूँ उसे अपनी भुजाओं में... कैसा भी हो, मैं पीस ही दूँगा उसे अपनी भुजाओं में।'

... और सोचते ही सोचते, वे अपने मुख पर उभरते क्रूर भाव को नियन्त्रित करने में जुट जाते थे।

बड़ी प्रतीक्षा के बाद पाण्डव आये थे... उनसे मिलने, कृष्ण के साथ। कृष्ण पाण्डवों की मन:स्थिति का वर्णन कर रहे थे... उनकी लज्जा एवं उनके दु:ख का बखान कर रहे थे, किन्तु वे व्यग्र थे। पाण्डवों को... नहीं, सभी को नहीं, भीमसेन को, केवल उस हत्यारे को भुजाओं में भर लेने के लिए। तभी युधिष्ठिर ने उनके चरण छुए... औपचारिकता के नाते युधिष्ठिर को गले से लगाते-हटाते, अपनी व्यग्रता में

उन्होंने जाने कैसे भीमसेन को पुकार लिया। सम्भवतः वही भूल हो गयी थी... और भीमसेन के स्थान पर कृष्ण ने कोई पाषाण प्रतिमा ला खड़ी की उनके सम्मुख। झपटकर उन्होंने अपनी विक्षिप्तता में उसे ही भुजाओं में भरकर, बलपूर्वक शरीर की सारी शक्ति लगाते हुए, दबाया था... ऐसे, कि उनकी अपनी ही नासिका एवं कानों से रक्त फूट निकला...

किन्तु दुर्भाग्य... छल वासुदेव का, कि भीमसेन बच गया। अपने षड्यन्त्र की विफलता पर उन्हें जो निराशा हुई, वह सौ पुत्रों की मृत्यु के दुःख से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। मन हुआ था उनका कि उसी पाषाण-प्रतिमा पर, अथवा किसी स्तम्भ पर, सिर पटक-पटककर अपनी समस्त पीड़ा का अन्त कर दें... किन्तु अपनी निराशा में, अपनी पराजय में वे फूट-फूटकर रोते ही रहे... कुछ नहीं कर पाये। विधि के विधान में उन्हें, पुत्रों का वियोग सहकर भी, जीवित रहना ही लिखा था। अथवा कौन जाने, अवचेतन में कहीं गान्धारी को असहाय छोड़ जाने का प्रश्न भी रहा हो, जिसने उन्हें आत्मघात नहीं करने दिया।

फिर सान्त्वना मिली उन्हें कृष्ण से... उपदेश मिला व्यासजी से... कि अब अनुज-पुत्र ही उनके पुत्र हैं। क्षमा-याचना मिली अनुज-पुत्रों से। फिर समय ने.. और समय से भी बढ़कर युधिष्ठिर के मृदु व्यवहार ने, लेप लगाया उनके घायल मन पर। धीरे-धीरे वे भूलने लगे अपनी पीड़ा। उनका मन रमने लगा सत्संग में, आराधना में।

सारी सुविधाएँ उन्हें उपलब्ध थीं। युधिष्ठिर नित्य-प्रति अनुजों-सहित उनके दर्शन के लिए आते थे और प्रशासन के प्रमुख निर्णय उनकी मन्त्रणा एवं अनुमति से ही लेते थे। कुन्ती, द्रौपदी तथा उत्तरा उनकी, और विशेष रूप से गान्धारी की, सेवा में व्यक्तिगत रूप से लगी रहती थीं। विदुर, संजय तथा युयुत्स विशेष रूप से उनकी सुविधाओं का प्रबन्ध करने के लिए नियुक्त थे और नन्हा परीक्षित... अपनी तोतली बोली में नित-नये प्रश्न लेकर उनके पास आ बैठता था... उनके नीरस जीवन में मधुरिमा घोलते हुए...।

इतना कुछ था... किन्तु...

यदा-कदा भीमसेन का व्यवहार उन्हें उद्वेलित कर जाता था। कभी उसका ऊँचा बोल, कभी बुलाने पर आने में विलम्ब, कभी बताये हुए कार्य की अवहेलना, तो कभी उनके तर्क पर शंका करते हुए उसका हँस देना। बार-बार उन्होंने अपने मन को समझाना चाहा कि वह सब संयोगवश भी तो हो सकता है... अकारण, बिना किसी दुर्भावना के। किन्तु ऐसा उन्हें अन्य किसी के व्यवहार में क्यों नहीं लगा! कभी उन्हें लगा कि यह उनका पूर्वाग्रह भी तो हो सकता है... भीमसेन के प्रति मन में घर किये हुए क्रोध के कारण, यद्यपि समय के साथ और, विशेषकर भीमसेन द्वारा क्षमा माँग लेने के बाद, वे अपना क्रोध भुला चुके थे। क्रोध से न तो कोई लाभ था और न उसका

कोई कारण ही बचा था।

यदा-कदा उन्हें यह भी लगा कि भीमसेन के मन में उनके प्रति यदि कोई आक्रोश अथवा अवमान है भी, तो वह स्वाभाविक ही है। क्या वह भूल सकेगा कि वे, अपनी भुजाओं में भींचकर, उसकी हत्या करना चाहते थे? क्या उसकी यह धारणा अनुचित है कि दुर्योधन के दुर्व्यवहार के पीछे बहुत कुछ स्वयं उनका ही दोष था?

और फिर यही क्या कम था कि, भले ही युधिष्ठिर के आदेश के कारण, वह अधिकांश अवसरों पर उनसे सम्मानपूर्वक व्यवहार करता था। तथापि, यदा-कदा भीमसेन की ओर से कुछ हो ही जाता था, जो उन्हें आहत कर देता था... जिससे वे व्याकुल हो उठते थे।

और उस दिन... उनके कानों मे भीमसेन का स्वर पुनः आम्ल-वर्षा को भाँति पड़ा। भीमसेन सम्भवतः किसी को अपने भुजदण्ड दिखाते हुए गर्व-सहित कह रहे थे, 'ये देखो, इन्हीं से मैंने दुर्योधन की जंघा तोड़ी थी... इन्हीं में पीसकर उसके सारे अनुजों को यमलोक पहुँचाया था।'

क्या वह संयोग था? वे सोच-सोचकर व्याकुल होते रहे, छटपटाते रहे। या जान-बूझकर उन्हें सुनाने के लिए ही किसी से कहा गया व्यंग्य-वाक्य था!

कुछ भी हो... उस पीडा के दंश ने अतीत की सारी पीड़ाओं को कुरेद-कुरेदकर उन्हे व्याकुल कर दिया। भोजन उन्हें स्वादहीन लगने लगा... शैया उन्हें पाषाण-शिला जैसी कठोर लगने लगी और अगरु-चन्दन आदि की सुगंध भी उनकी श्वास-क्रिया में बाधक बनने लगी।

किन्तु वह सब तो प्रारम्भ था... कितना कठिन होता है, मौन रहकर ही दंश की पीड़ा को निरन्तर झेलते जाना, यह उन्होंने पहले नहीं जाना था।

"वत्स युधिष्ठिर!" इसी मानसिकता में घुटते हुए, एक दिन उन्होंने निर्णय ले ही लिया।

"आज्ञा करें ज्येष्ठ पिताश्री।" युधिष्ठिर ने तुरन्त ही हाथ जोड़कर कोमल वाणी में कहा।

"वत्स!" धृतराष्ट्र का कण्ठ कुछ कहने के पूर्व ही अवरुद्ध होने लगा। नेत्र सम्भवतः पहली बार उदार होकर अश्रुओं को निष्कासन का मार्ग देने लगे।

"मुझसे कोई भूल हुई, तात!" युधिष्ठिर के स्वर में चिन्ता थी।

"तुमसे तो कोई भूल हो ही नहीं सकती, वत्स!" अपने अश्रु पोंछने के साथ ही मुस्कराने का प्रयास करते हुए उन्होने कहा, "इसी कारण तो मैं अब तक मोह में घिरा रहा, अन्यथा क्या यह मेरी आयु है राज-सुख भोगने की!"

"ऐसा न सोचें तात!" युधिष्ठिर ने विनम्र स्वर में कहा, "आपकी आयु तो हम सबको सुख प्रदान करने की है... संरक्षण तथा मार्गदर्शन प्रदान करने की है। और वही तो कर रहे हैं आप।"

"नहीं वत्स!" धृतराष्ट्र ने सुस्थिर होकर दृढ़तापूर्वक कहा, "वह वानप्रस्थ की आयु तो मैंने, तुम्हारे मोह में पड़कर, सारे सुख भोगते हुए यहीं व्यतीत कर दी। मुझे तो वर्षों पहले मन को वश में करके संन्यास ले लेना चाहिए था।"

"और क्या संन्यास होगा भ्राताश्री!" विदुर ने बीच में ही कोमल स्वर में अनुरोध किया, "बहुत समय हो गया... आप एक ही समय भोजन करते हैं... वह भी अत्यन्त अल्प मात्रा में... और कुशासन पर शयन करते हैं। नित्य मुनियों का, महात्माओं का सत्संग होता रहता है।"

"यह तो भ्रम है, विदुर! इस राजसी वातावरण में, अनुज-पुत्रों के बीच राज-तन्त्र की चिन्ताओं में लिप्त रहकर, मन कहीं संन्यास ले पाता है!"

"किन्तु ज्येष्ठ पिताश्री...!"

"अब और बन्धनों में न बाँधो वत्स!" धृतराष्ट्र ने अनुनय भरे स्वर के साथ ही हाथ जोड़ दिये। "अब तो मैं संकल्प ले चुका... मेरी प्रार्थना मानकर, मुक्ति दे दो मुझे।"

धृतराष्ट्र का वह करुण एवं दृढ़ रूप देखकर किसी से कुछ भी न कहते बना। सभी चिन्तित थे... किन्तु विवश।

कुछ ही समय में जब पाण्डवों को गान्धारी का निश्चय भा ज्ञात हुआ तो वे सब और भी विचलित हो गये। किन्तु नयन-हीन पति की जिस जीवन संगिनी ने सदा-सर्वदा के लिए अपने नेत्र स्वेच्छा से मूँद लिये थे, उससे भला कोई और आशा भी क्या करता! सहसा विचलित होकर कुन्ती तथा द्रौपदी ने उनके चरण पकड़ लिए।

"पति का अनुसरण करना तो शाश्वत धर्म है..." गान्धारी ने क्षीण स्वर मे मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "उन्होंने संकल्प लिया है, तो सोच-विचारकर ही निर्णय लिया होगा। और फिर आयु का धर्म भी तो संन्यास की प्रेरणा दे रहा है।"

"आयु तो मेरी भी लगभग वही है, दीदी!" कुन्ती ने अनुरोध भरे स्वर में तर्क किया, "तो क्या मुझे भी..."

"तुम्हारे तो पुत्र हैं... तुम्हें..."

"तो क्या वे आपके पुत्र नहीं है, दीदी!" कुन्ती ने गान्धारी का वाक्य काटते हुए कहा।

"हैं तो..." कहते-कहते गान्धारी के नेत्रों पर बँधी पट्टी को भिगोते हुए कुछ अश्रु मुख पर भी बह निकले, "किन्तु मुझे तर्कों में न बाँधो... मुझे जाने दो उनके साथ, जो मेरे बिना एक पग भी नहीं चल सकते। तुम क्या समझती हो, हम लोगों के लिए

क्या यह निर्णय सरल रहा होगा! तुम सबसे, और फिर प्रिय परीक्षित से, दूर रह पाना कितना कठिन होगा!"

"किन्तु...?" कुन्ती अपना वाक्य स्वयं ही पूरा नहीं कर पायीं।

"दो नेत्र हीन मिलकर..." गान्धारी कुन्ती के अपूर्ण प्रश्न का आशय समझ चुकी थीं। उन्होंने शुष्क मुस्कान के साथ कहा, " देख भले ही न पाएँ, एक-दूसरे की लकुटि तो बन ही सकते हैं।"

"किन्तु दीदी!" कुन्ती ने आहत स्वर में कहा... किन्तु वे स्वयं ही अपना वाक्य पूरा नहीं कर पायीं।

उधर, युधिष्ठिर के पास भी धृतराष्ट्र के आग्रह का कोई उत्तर नहीं था। पूर्णतया तर्क के आधार पर उन्हें धृतराष्ट्र का प्रस्ताव ठीक लगता था, किन्तु मात्र भावनात्मक दृष्टि से उनका मन उसे स्वीकार नहीं कर पा रहा था।

"आप पहले मेरे हाथ से भोजन स्वीकार कीजिए " धृतराष्ट्र का आग्रह टालते हुए बहुधा युधिष्ठिर ऐसा कोई हठ ले बैठते।

"मैं तृप्त होकर भोजन तो अब वन में ही करूँगा, वत्स!" धृतराष्ट्र अपना हठ त्यागने को तैयार नहीं थे, "पहले तुम मुझे वन गमन की आज्ञा दो।"

इसी बीच एक दिन महर्षि व्यास आये। दोनों की इच्छा सुनकर उन्होंने भी हँसते हुए युधिष्ठिर से कहा, "तो जाने दो न, वत्स! संन्यासी का जीवन कोई ऐसा भयप्रद नहीं होता, अन्यथा मैं भी संन्यास त्याग चुका होता। मानव जीवन की यह एक महान त्रासदी है.. कि एक दिन उसे सब कुछ त्यागना ही होता है। मानव के लिए यही हितकर है कि वह, सब कुछ एक साथ त्यागने के लिए विवश होने के स्थान पर, धीरे धीरे स्वेच्छा से समय समय पर कुछ त्यागता चले... सांसारिक मोह से मुक्त होता चले। बस यही मार्ग है कि आत्मा, शरीर त्यागकर, सुखपूर्वक परमात्मा में विलीन हो।"

पाण्डवों के पास इस ज्ञान-गर्भित तर्क का कोई उत्तर नहीं था।

ग्यारह दिनों के ऊहापोह के पश्चात् युधिष्ठिर ने दुःखी मन से धृतराष्ट्र के वन-गमन का प्रबन्ध किया। धृतराष्ट्र तथा गान्धारी ने वल्कल वसन धारण किये ही थे, कि तभी कुन्ती भी संन्यास का निर्णय लेकर उन दोनों के साथ आ खड़ी हुईं। पाण्डवों ने उन्हें बहुत रोकना चाहा, किन्तु कुन्ती का संकल्प भी दृढ़ था।

"वही सब कारण..." उन्होंने स्नेह सहित पुत्रों के सिर पर हाथ फेरते हुए, उन्हें अपने वक्ष से लगाकर कहा, "वही सब तर्क... मेरे लिए भी तो उतना ही महत्त्व रखते हैं। मुझे भी मोह से मुक्त होने का प्रयास करने दो पुत्र!"

"किन्तु माताश्री!" पाण्डव कुछ अधिक कहने में असमर्थ थे... उन सभी के कण्ठ अवरुद्ध थे।

दस भुजाओं में बँधी कुन्ती के लिए स्वयं ही मुक्त होना कठिन था। दस नेत्रों का सामूहिक अश्रुपात उनके मनोरथ को बहाये लिये जा रहा था।

"मुझे धर्म के मार्ग पर जाने से न रोको पुत्र!" स्वयं भी अश्रु बहाते, हिचकियाँ लेते, कुन्ती ने कहा, "और कर्तव्य के नाते भी, मुझे ज्येष्ठश्री तथा दीदी की सेवा के लिए जाना चाहिए। यह भी तो सोचो तात! वे दोनों क्या करेंगे... कैसे रहेंगे वहाँ? उनकी सेवा करना भी तो मेरा धर्म है।"

भावुक मन तर्क की भाषा नहीं समझता... किन्तु यथार्थ तो उसे स्वीकार करना ही होता है... चाहे जैसे भी।

वन-गमन से पूर्व, धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से धन माँगकर भीष्म, द्रोण, बाह्लीक, सोमदत्त तथा अपने दिवंगत पुत्रों का श्राद्ध किया, जिसमें युधिष्ठिर ने उन्हें जी भरकर दान देने के लिए सारी सुविधाएँ प्रदान कीं... इतनी कि धृतराष्ट्र देते-देते थक चले। अन्त में, उन्होंने स्वयं अपना तथा गान्धारी का भी श्राद्ध किया।

"आज मैं अपने मित्रों, पुत्रों तथा पौत्रों के ऋण से मुक्त हुआ..." धृतराष्ट्र ने मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "मेरे पुत्र युद्ध में क्षात्र-धर्म के अनुरूप पराक्रम दिखाते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे। आज मैंने उनका अन्तिम श्राद्ध कर दिया. उसके लिए धन देकर तुमने भी उनका श्राद्ध कर दिया। अब भविष्य में तुम्हें उनका श्राद्ध करने की आवश्यकता नहीं।"

विदा लेने की घड़ी आ पहुँची थी...

"अब विदा दो हमको..." धृतराष्ट्र ने पाण्डवों की ओर हाथ जोड़ दिये। "मुनिवर धौम्य, महात्मा कृप, बन्धु विदुर, मित्र संजय और... और पुत्र युयुत्स! तुम सब के साथ जीवन के इतने सुख-दुःख बाँटे... किन्तु विधाता ने बस इतना ही साथ लिखा था। दृष्टि के अभाव में मैंने तुम सबका जाने-अनजाने जो अपकार किया हो, उसके लिए क्षमा करना।"

विदा का यथार्थ उन सभी को विह्वल कर रहा था... सभी के नेत्र भर आये थे। द्रौपदी, सुभद्रा, चित्रांगदा, उत्तरा आदि की सिसकियाँ भी स्पष्ट सुनाई दे रही थीं।

"अब चलो कुन्ती!" धृतराष्ट्र ने डूबते हुए स्वर में कहा, "तुम्हीं हम दो नेत्र हीनो को मार्ग दिखाओ।"

कुन्ती गान्धारी का हाथ थामे हुए बढ़ीं... उनके पीछे गान्धारी का हाथ थामे हुए धृतराष्ट्र थे। उनके पीछे पाण्डव थे... और राज-परिवार के अन्य सदस्यों के साथ ही जन-समुदाय था। वे वर्धमान द्वार से नगर के बाहर निकले। वर्धमान द्वार पार करते ही धृतराष्ट्र ने हाथ जोडकर अनुरोध करते हुए सभी नगरवासियों को लौटा दिया।

"पुत्र युधिष्ठिर!" धृतराष्ट्र ने पुकारते हुए अनुमान से ही उनकी ओर मुड़कर भुजाएँ फैला दीं। "विदा की इस वेला में एक बार अपने पिता के गले नहीं लगोगे!"

युधिष्ठिर भावुकता में बिलखते हुए दौडकर उनकी भुजाओं में जा समाये, "क्या आप अपना निर्णय बदल नहीं सकते तात?"

"पुत्र! यह निर्णय तो समय ने लिया है.." धृतराष्ट्र ने दार्शनिक होते हुए कहा, "और समय एक बार निर्णय लेकर कभी नहीं बदलता। यदि बदल ही पाता तो..."

धृतराष्ट्र अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाए। उनके क्षीण होते स्वर के साथ ही वह वाक्य बीच शून्य में ही विलीन हो गया। कुछ देर युधिष्ठिर को हृदय से लगाये, उन्होंने भुजपाश में ढील दी, तो युधिष्ठिर अश्रु पोंछते हुए दो पग पीछे हटे।

"पुत्र भीमसेन!" धृतराष्ट्र की भुजाएँ फिर शून्य में फैल गयीं। अपना नाम सुनकर भीमसेन जैसे तन्द्रा से जागे। क्षणांश में ही उनकी स्मृति में धृतराष्ट्र की फैली हुई वे लौह भुजाएँ घूम गयीं, जो युद्ध के पश्चात् उन्हें पीस डालने के लिए आतुर थीं। किन्तु उनकी शंकालु दृष्टि धृतराष्ट्र की वर्तमान काया की उपेक्षा भी तो नहीं कर सकती थी। क्षण भर के ऊहापोह के बाद वे, सावधान रहते हुए ही, धृतराष्ट्र की निस्तेज आँखों मे झाँकने का प्रयास करते हुए, उनकी ओर बढे। बढ़ते-बढ़ते ही उन्होने कृष्ण की ओर देखा। उनके मुख पर मुस्कान थी.. जो भीमसेन को समर्थन की सरल मुस्कान लगी। भीमसेन ने मौन रहते हुए ही धृतराष्ट्र की भुजाओं में आत्म समर्पण कर दिया।

"सुखी रहो पुत्र!" दो क्षण बाद भीमसेन को भुजपाश से मुक्त करते हुए धृतराष्ट्र ने कहा.. और फिर क्रमशः अर्जुन, सहदेव तथा नकुल का भी आलिंगन किया... और फिर कृष्ण को भी हृदय से लगाते हुए कहा, "वासुदेव! अपने अनुज पुत्रों को तुम्हें ही अर्पित कर रहा हूँ.. अब तुम्हीं इनके योग-क्षेम का निर्वाह करना।

"वत्स परीक्षित!" धृतराष्ट्र ने फिर शून्य में भुजाएँ पसार दीं। द्रौपदी के पास सहमा-सा खडा परीक्षित अपना नाम सुनते ही दौड़ता हुआ उनकी भुजाओं में जा समाया। "वत्स! तुम्हें छोड़ पाना मेरे लिए बहुत बड़ी परीक्षा है। मैं कितना भी दूर रहूँ, मेरा मन तुम्हारे पास रहेगा। मैं विधाता से प्रार्थना करूँगा कि वह शीघ्र ही मुझे दृष्टि देकर पुनः भेजे, कि मैं अपने इस सुन्दर प्रपौत्र को जी-भर के देख सकूँ।"

अश्रुपूरित नयनों से कुन्ती तथा गान्धारी ने भी परीक्षित को वक्ष से लगाया।

फिर बड़ी दृढ़ता के साथ सभी पुत्रों, पुत्र वधुओं तथा अन्य सम्बन्धियों को पीछे छोड़कर वे चल पड़े... केवल विदुर और संजय उनके साथ जा रहे थे। कुछ पग चलकर, सहसा रुककर पीछे देखते हुए धृतराष्ट्र ने कहा, "पुत्र भीमसेन...! हो सके तो मुझे क्षमा कर देना।"

... और पुनः मुड़कर वे आगे बढ गये।

सायंकाल होते, धृतराष्ट्र ने गंगातट पर पहुँचकर एक तपोवन के निकट विश्राम किया। वहाँ के तपस्वियों के साथ ही, अग्नि प्रज्ज्वलित करके, सन्ध्योपासना की और उनके सान्निध्य में धर्म-चर्चा करते हुए रात्रि व्यतीत की। विदुर तथा संजय, उनके शयन के लिए कुशासन का प्रबन्ध करके, स्वयं भी कुछ ही दूर पर कुशासन बिछाकर ही सोये।

प्रात:काल, आश्रमवासियों से विदा लेकर, बिना भोजन किये ही, वे उत्तर दिशा की ओर चल पड़े... और सायंकाल गंगातट पर ही एक अन्य तपोवन में पहुँचकर रुके। वहाँ के तपस्वी, वनवासी आदि बड़ी संख्या में धृतराष्ट्र के दर्शन के लिए आये। धृतराष्ट्र ने उन सब का सम्मान किया और, स्वयं स्नान करके, सन्ध्योपासना की।

वह रात्रि व्यतीत हुई तो धृतराष्ट्र कुरुक्षेत्र के एक तपोवन में पहुँचे, जहाँ केकय के पूर्व-नरेश शतयूप का आश्रम था। उन्हें साथ लेकर वे महर्षि व्यास के आश्रम पर गये और, उनसे विधिवत् वनवास की दीक्षा लेकर, शतयूप के आश्रम पर ही रहने लगे। उन्हें तपस्या में रत देख, गान्धारी, कुन्ती, विदुर तथा संजय ने भी मृगछाल तथा वल्कल धारण करके तपस्या प्रारम्भ कर दी।

घोर तपस्या उनके शरीर को सुखाकर मुख मण्डल को तेज प्रदान कर रही थी।

हस्तिनापुर का विशाल राज-प्रासाद आनन्द-शून्य हो गया था.. न कहीं संगीत, न कोई मंगल-ध्वनि और न किसी भी प्रकार का हास-उल्लास।

कुन्ती के चले जाने के कारण पाण्डवों की स्थिति और भी दयनीय हो रही थी। जीवन-भर माँ की छाया में पले-बढ़े पाण्डवों के जीवन में सहसा एक ऐसी रिक्तता आ गयी थी जिसे भरने का कोई भी साधन उन्हें दूर-दूर तक नहीं दिखाई देता था। कहाँ होंगी, कैसी होंगी? तपस्या में किस प्रकार जीवन बिता रही होंगी...? अपने इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें ढूँढ़े नहीं मिलता था।

इसी दु:ख एवं चिन्ता में व्यथित होकर एक दिन उन सबने धृतराष्ट्र के पास जाने का निर्णय लिया। द्रौपदी, सुभद्रा, उलूपी, चित्रांगदा आदि उनकी सभी रानियाँ तथा धृतराष्ट्र की पुत्र-वधुएँ भी उनके साथ चलने का अनुरोध करने लगीं। राज्य के अनेक पदाधिकारी तथा विद्वान, नगर श्रेष्ठ आदि ने भी साथ चलने का अनुरोध किया... अनेक नगरवासी भी साथ हो लिए। कुछ ही समय में एक बड़ा जन समुदाय धृतराष्ट्र, कुन्ती आदि के दर्शनार्थ पाण्डवों के साथ चल पड़ा।

हस्तिनापुर की व्यवस्था युयुत्सु तथा मुनि धौम्य पर छोड़कर, पाण्डव उन समस्त दर्शनाभिलाषियों के साथ कुरुक्षेत्र की उस तप:स्थली की ओर चले। धृतराष्ट्र, गान्धारी,

कुन्ती, आदि को कृशकाय एव वल्कल वस्त्रों में देखकर वे सब व्यथित होकर उनके चरणों पर जा गिरे। उन्होंने भी प्रेमाश्रु बहाते हुए अपने पुत्रों, वधुओं आदि को हृदय से लगाया और जी भरकर आशीर्वाद दिये।

"तुम्हें साथ पाकर..." धृतराष्ट्र ने अश्रुगदगद कण्ठ से कहा, "मुझे लगा, जैसे मैं हस्तिनापुर में ही हूँ..."

पाण्डवों को धृतराष्ट्र आदि की कृश काया देखकर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपनी मनःस्थिति बताते हुए उनसे लौट चलने का आग्रह किया... द्रौपदी आदि वधुओं ने भी गान्धारी तथा कुन्ती से लौटने का अनुरोध किया किन्तु, शरीर-धर्म का उल्लेख करते हुए, उन्होंने तप में संलग्न रहने का ही निश्चय दुहराया।

"और तुम्हारा धर्म है, पुत्र!" धृतराष्ट्र ने समझाते हुए कहा, "प्रजा-पालन। मुझे विश्वास है कि तुम्हारे जैसे धर्मनिष्ठ शासक के राज्य में प्रजा सदैव सुखी रहेगी... सबको न्याय प्राप्त होगा।"

धृतराष्ट्र की दृढ़ता के पश्चात्, पाण्डवों के पास कुछ आग्रह करने को नहीं रहा था। तभी युधिष्ठिर को सहसा विदुर का स्मरण हुआ।

"वह तो उधर, पीपल के तले, अत्यन्त कठोर तपस्या में लगा है..." धृतराष्ट्र ने एक दिशा में संकेत करते हुए कहा, "अन्न का पूर्णतया त्याग करके वह अपने शरीर को सुखा चुका है। पता नहीं किस प्रतीक्षा में उसके प्राण अटके हैं। जाओ वत्स! जाकर उसका आशीर्वाद ले लो।"

पाण्डवों ने जाकर चरण-स्पर्श किया, तो कृशकाय विदुर ने धीरे से अपने नेत्र खोले। युधिष्ठिर को पहचानकर उनके अधरों पर एक क्षीण मुस्कान उभरी... नेत्रों में भी चमक आयी।

"यह क्या हो गया तात!" युधिष्ठिर ने आश्चर्य एवं क्षोभ में कहा।

"वही, वत्स!" विदुर ने स्फुट स्वर में कहा, "जो इस आयु में अवश्यम्भावी है..."

"किन्तु तात!" अपने सभी स्तम्भित अनुजों के बीच केवल युधिष्ठिर ही कुछ बोलने का साहस जुटा पाए, "हमारे लिए तो यही आवश्यक है कि आप हमारे साथ ही रहें... हमारा मार्गदर्शन करते रहे।"

"सदैव...?" विदुर के होठो पर बाल-सुलभ मुस्कान उभर आयी।

"सदैव ही तो...?" युधिष्ठिर ने साग्रह कहा।

"निर्वाह कर पाओगे?" सहसा विदुर ने गम्भीर स्वर में पूछा।

"क्यों नहीं तात!" युधिष्ठिर ने कहा, "यह तो हमारा सौभाग्य होगा..."

"तो इस शरीर को अपने धर्म का नि[illegible]ह करने दो... और धारण कर लो मुझे... सदा, सर्वदा के लिए। मैं तो जीवन भर नीति एवं धर्म-शास्त्रों का अध्ययन

ही करता रह गया, पुत्र तुम जब तक उन्हें आचरण में ढालते रहोगे, तब तक तुम मुझे अपने में विलीन ही पाओगे।"

युधिष्ठिर कुछ समझें और कहें उससे पहले ही विदुर गम्भीर स्वर में ओंकार ध्वनि करते हुए ब्रह्मलीन हो गये। उनका निष्प्राण शरीर सिद्धासन में बैठा रह गया।

दुःखी मन से, पाण्डवों ने वह समाचार धृतराष्ट्र को जा सुनाया।

"मुक्त हो गया!" धृतराष्ट्र ने विहँसते स्वर में कहा, "मैं जानता था, वह धर्मात्मा है। बिना किसी कष्ट के परमगति पा जाएगा।"

पाण्डवों के लिए कुछ भी बोल पाना दुर्लभ हो रहा था। उन्हें धृतराष्ट्र की प्रतिक्रिया पर आश्चर्य ही हो रहा था... किन्तु वे कुन्ती की आँखों से प्रवाहित अश्रुओं को भी देख सकते थे और गान्धारी की आँखों की भीगती हुई पट्टी को भी।

"एक बस मैं ही था..." धृतराष्ट्र का स्वर सहसा गम्भीर हो गया, "जो निरन्तर जानते-बूझते, कुमार्ग पर चलकर ही, अपने पुत्रों को सुख प्रदान करने का स्वप्न देखता रहा। मैं जब अपने अन्त की कल्पना करता हूँ, तो कभी-कभी भय से काँप उठता हूँ..."

पाण्डवों ने, धृतराष्ट्र के साथ, संन्यासी विदुर का अन्तिम संस्कार करके उन्हें जलांजलि दी और उनकी आत्मा की शान्ति के लिए उस तपोवन के समस्त संन्यासियों एवं तपस्वियों को मुक्त हस्त से दान दिया।

धृतराष्ट्र के लिए हर आवश्यक वस्तु का प्रबन्ध करके, युधिष्ठिर ने हाथ जोडकर कहा, "तात! और कुछ आज्ञा करें..."

"और...?" धृतराष्ट्र ने शुष्क मुस्कान के साथ कहा, "और क्या कहूँ पुत्र! जो कुछ तुम्हारे वश में था, वह तो तुमने कर ही दिया।"

"फिर भी आप कहें... जो भी इच्छा हो..."

"इच्छा तो बहुत है..." धृतराष्ट्र ने फिर निराश स्वर में कहा।

"तो संकोच न करो वत्स!" इस बार व्यास बोल उठे, "अपनी सामर्थ्य भर यह तुम्हारी हर इच्छा पूर्ण करेगा।"

"इच्छाएँ तो सम्भवतः होती ही हैं..." धृतराष्ट्र भावुक होते जा रहे थे, "अपूर्ण रहकर, निरन्तर दुःख देने के लिए।"

"अभी तुम संन्यास के मार्ग पर नए हो वत्स!" व्यास ने विहँसते स्वर में कहा, "मन को तपस्या में लगाओ... देखना, हर इच्छा पूर्ण हो जाएगी।"

"हर इच्छा...?" सहसा गान्धारी ने मौन तोड़ते हुए कहा, "तात! क्या आप सत्य कह रहे हैं?"

"यह अविश्वास क्यों?" व्यास से मुस्कराते हुए कहा, "तुम तपस्या में मन तो लगाओ।"

"एक इच्छा है तात...!" गान्धारी ने डूबते स्वर में कहा, "जो... जो तपस्या में मन रमने ही नहीं देती..."

"यही तो विडम्बना है..." व्यास का स्वर भी दार्शनिक हो गया था, "कि इच्छाएँ तपस्या में मन नहीं रमने देतीं, और जब तक तपस्या में मन न रमे, कोई इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती।"

"मैं मन लगाऊँगी तात!" गान्धारी ने व्यग्र होते हुए कहा, "मैं पूर्ण रूप से मन लगाऊँगी... क्या तब मेरी इच्छा पूर्ण होगी? बस एक इच्छा..."

"अवश्य होगी..." व्यास ने विहँसते स्वर मे ही कहकर जिज्ञासा की, "किन्तु ऐसी क्या इच्छा है तुम्हारी?"

"हमारी तो बस एक ही इच्छा है..." कहते-कहते गान्धारी का कण्ठ रुँध गया, "आज से नहीं तात! सोलह वर्षों से.. इनकी भी निरन्तर वही एक इच्छा है, जिसने कभी हमारे मन को शान्त नही रहने दिया.. कि... कि. बस एक बार अपने पुत्रों को पुनः देख सकें, उन्हें अपने हृदय से लगा सके.."

गान्धारी के करुण विलाप मे तपोवन का वातावरण क्षुब्ध हो उठा। गान्धारी के ही नहीं, धृतराष्ट्र, कुन्ती, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी आदि सभी के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो चले थे।

"तुम्हारे पुत्र तो... आज भी तुम्हारे सम्मुख खड़े हैं, देवि!" व्यास ने गम्भीर स्वर में कहा, "वे भी तुम्हारे वक्ष से लग जाने को उतने ही आतुर हैं... किन्तु उन्हें वास्तव में अपना पुत्र समझकर पुत्र-सुख प्राप्त करने के लिए तो तुम्हें, मन को वश में रखकर तपस्या ही करनी होगी।"

व्यास के कथन का भाव समझते हुए धृतराष्ट्र ने क्षण भर मौन रहकर अश्रु बहाते हुए अपनी भुजाएँ फैला दीं, "आओ पुत्रो! अपने इस अभागे पिता के हृदय से लग जाओ..."

सम्पूर्ण वातावरण सहसा भावुक हो उठा.. पाण्डव दौड़ते हुए धृतराष्ट्र के पैरों पर जा गिरे। धृतराष्ट्र ने, उच्च स्वर में विलाप करते हुए, उन्हें उठाकर अपनी भुजाओं में कस लिया, "लो गान्धारी..." उन्होंने अश्रु-गद्‌गद कण्ठ से हँसते हुए कहा, "हमारी तपस्या पूर्ण हुई, हमें हमारे पुत्र मिल गये.. इन्हें अपने हृदय से लगाकर अज्ञान का ताप दूर कर लो..."

गान्धारी ने भी पाण्डवों को प्रेम-सहित अश्रु बहाते हुए अपने हृदय से लगाया तो वहाँ उपस्थित कोई भी ऐसा नहीं था जो अपने अश्रु रोक पाया हो।

हस्तिनापुर लौटकर, राज-काज की व्यस्तता के बीच भी, पाण्डवों का मन दु:ख से मुक्त नहीं हो पाता था... वृद्ध धृतराष्ट्र तथा गान्धारी की चिन्ता के साथ ही, उन्हें अपनी माँ की चिन्ता भी सताती रहती थी... वह माँ, जिन्हें जीवन में कभी सुख नहीं मिला, जिन्हें वे कभी कोई सुख नहीं दे पाए। उनकी इच्छा के सम्मुख हारकर, पाण्डवों को उनका वनवास भी स्वीकार करना पड़ा था। फिर भी, उनकी इच्छा के विरुद्ध भी, उन्होंने संजय को उनकी सेवा में नियुक्त कर रखा था, और समय-समय पर उन सबके उपयोग के लिए वे पर्याप्त सामग्री भेजते रहते थे... यद्यपि उन्हें ज्ञात था कि वह सब वस्तुएँ पाकर वे अधिकतर अपने वन के अन्य तपस्वियों में ही वितरित कर देंगे।

इस बीच, यह सुनकर पाण्डवों की चिन्ता कुछ और बढ़ गयी थी कि स्वयं संजय ने भी संन्यास ग्रहण कर लिया है... वह स्वयं ही स्वस्थ एवं जागरूक न रहा, तो अन्य किसी की सेवा क्या करेगा... कैसे करेगा!

तभी उन्हें समाचार मिला... कि धृतराष्ट्र वह वन छोड़कर गंगाद्वार चले गये हैं। यद्यपि संजय उनके साथ थे, फिर भी पाण्डवों को अपने गुप्तचरों द्वारा सारा समाचार प्राप्त करने में लगभग छः माह का समय लग गया। युधिष्ठिर उनसे मिलने हरिद्वार जाने की योजना बना ही रहे थे, कि उन्हें एक और दु:खद समाचार मिला...

हरिद्वार में, गंगा के निकटवर्ती एक वन में, जिसमें धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती आदि रहकर तपस्या कर रहे थे, भीषण दावानल के कारण उन तीनों ने परमगति प्राप्त की। संजय ने उन्हें अग्नि से बचाने के लिए बड़ा अनुरोध किया... किन्तु वे तीनों तपस्या एवं उपवास से अत्यधिक निर्बल तो थे ही, उन्होंने उस दावाग्नि को विधाता का निमन्त्रण मानकर, योग द्वारा प्राण-वायु को आज्ञा-चक्र में स्थापित करके, अपना शरीर त्यागते हुए उसे स्वेच्छा से अग्नि में होम कर दिया।

सुनकर वे सभी अवाक् रह गये... और वर्षों तक शोक में डूबे रहे... कि वे उनका विधिवत् अन्तिम संस्कार भी नहीं कर पाये। विवश होकर एक दिन पाण्डवों ने युयुत्सु के साथ गंगाद्वार जाकर उस दग्ध वन की एक मुट्ठी राख गंगा में प्रवाहित करके दिवंगत आत्माओं को सांकेतिक जलांजलि दी... और परम्परागत विधि से उनका श्राद्ध करके, तपस्वी विद्वानों को दान दिये।

मोहभंग

पाण्डवों के सुशासन में पैंतीम वर्ष तक सर्वांगीण उत्कर्ष प्राप्त करने के पश्चात, हस्तिनापुर को सहसा प्राकृतिक विपत्तियों ने आ घेरा...

ग्रीष्म ऋतु आयी तो ऐसे जैसे आकाश से उल्कापात हो रहा हो। प्रजा ताप से झुलसती रही, किन्तु ग्रीष्म ऋतु का अन्त ही नहीं दिखाई दे रहा था। जल के बिना प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी और पशु जहाँ तहाँ गिरकर प्राण त्यागने लगे। लोग वर्षा ऋतु की प्रतीक्षा में जैसे-तैसे दिन काट रहे थे.. किन्तु समय बीतता रहा और आकाश से एक बूँद भी नहीं गिरी... जैमे मेघ राह ही भूल गये हो। प्रजा अन्न के लिए, जल के लिए व्याकुल रही, किन्तु उनकी प्रार्थनाओं का कहीं कोई उत्तर नहीं मिला। प्रशासन की ओर से दी जाने वाली महायता से उनकी आवश्यकताओं की आंशिक पूर्ति भी नहीं हो पाती थी।

उसके पश्चात् शीतकाल भी अपनी पूर्ण विभीषिका के माथ आया। अन्न-जल के अभाव में निर्बल, असहाय प्रजा शीत मे ठिठुरकर भी प्राण त्यागने लगी .. पशु-धन का भी व्यापक विनाश हुआ।

अपनी प्रजा के दुःख से पाण्डव आहत थे... हर सम्भव प्रयास करके भी, वे इस स्थिति में नहीं थे कि सूखते हुए कण्ठों को, खेतों को, जल देकर उन्हें जीवन प्रदान कर सकें। जनधन, कृषिधन और पशुधन की हानि के साथ ही प्रजा का क्रन्दन उन्हें हर क्षण व्याकुल किये रहता था।

इसी बीच उन्हे द्वारका से भी एक हृदय-विदारक समाचार मिला... वहाँ वृष्णि एवं अन्धक वंशों पर ऐसा दारुण संकट आया था कि कृष्ण एवं बलराम मिलकर भी उसे टाल नहीं पाये...

यादवों की एक गोष्ठी में, हास्य एवं विनोद के बीच मदिरा के प्रभाव में, सात्यकि ने कृतवर्मा पर सोते हुए लोगों की नृशंस हत्या का आरोप लगाकर हुए उसका उपहास किया। प्रद्युम्न ने भी उस उपहास में साथ दिया। इससे क्रुद्ध होकर कृतवर्मा ने भी सात्यकि पर उपवास पर बैठे, कटी बाँह वाले, भूरिश्रवा के वध का उल्लेख करते हुए व्यंग्य किया। बस, बातों ही बातों में खड्ग निकल आये और... देखते-ही-देखते सात्यकि ने कृतवर्मा का मस्तक काट गिराया। क्षण भर में ही भोज तथा अन्धक-वंशियों ने सात्यकि को घेर लिया। उन्हें बचाने के लिए प्रद्युम्न दौड़े... किन्तु वे दोनों ही उस विशाल क्रुद्ध समुदाय द्वारा मारे गये।

सात्यकि तथा कृष्ण के पुत्र के वध से उत्तेजित होकर समस्त वृष्णिवंशी भी, जो कुछ हाथ में मिला वही लेकर, अन्धकों पर टूट पड़े। इस पारस्परिक उन्माद में किसी को ज्ञात नहीं रहा कि कौन किस पर प्रहार कर रहा है! जो उन्हें समझाने अथवा रोकने के लिए पहुँचा, वह भी प्राणों से हाथ धो बैठा। कृष्ण के देखते-देखते उनके अन्य पुत्र, साम्ब, चारुदेष्ण, अनिरुद्ध तथा गद की भी मृत्यु हो गयी।

द्वारका में इस व्यापक विनाश से व्याकुल एवं निराश होकर बलराम तथा कृष्ण ने भी एक निकटवर्ती वन में जाकर योग द्वारा देह त्याग दी। कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी ने अग्नि-समाधि ली और सत्यभामा अनेक अन्य महिलाओं के साथ तपस्या का व्रत लेकर वन चली गयीं। देह-त्याग से पूर्व, कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को हस्तिनापुर जाकर पाण्डवों को यह समाचार सुनाने के लिए भेजा था।

इस दुःखद समाचार ने पाण्डवों को अत्यन्त व्याकुल कर दिया... सहसा उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ।

पाण्डवों ने द्वारका जाकर वहाँ की व्यवस्था देखने का उत्तरदायित्व अर्जुन को सौंपा। अर्जुन कृष्ण-विहीन द्वारका की कल्पना से भी व्यथित थे, किन्तु कर्तव्य के नाते उन्हें यह यात्रा करनी ही पड़ी।

विनाश की घनी छाया के तले करुण विलाप करती द्वारका ने अर्जुन के मन को विचलित कर दिया। सभी जगह विधवाओं का क्रन्दन था, अथवा शिशुओं एवं वृद्धो का विलाप। महाराज वसुदेव की दशा भी शब्दातीत थी... वे अपने पुत्रों एवं पौत्रों के दुःख में अन्न-जल त्यागे पड़े थे। उन्होंने अपने अन्तिम समय में, अर्जुन को राज-कोष सौंपते हुए, वहाँ के सभी असहाय बालकों, वृद्धों तथा विधवाओ की समुचित व्यवस्था करने का अनुरोध किया। साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि कुछ वर्षों से निकटवर्ती सागर का जल-स्तर निरन्तर बढ़ रहा था... और विशेषज्ञों का अनुमान था कि शीघ्र ही द्वारका जल-प्लावित होकर नष्ट हो जाएगी।

अर्जुन के अनुरोध पर भी महाराज वसुदेव ने अन्न-जल ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया... और वे परलोक-वासी हुए। उनके अन्तिम संस्कार के पश्चात्, कृष्ण के पौत्र वज्र के साथ ही समस्त बाल, वृद्ध तथा विधवाओं को साथ लेकर, अर्जुन ने हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान किया।

राह में अर्जुन पर एक और विपत्ति आयी... और उन्हें एक अत्यन्त कटु अनुभव हुआ। धन एवं महिलाओं से भरे उस विशाल समूह को देखकर, पंचनद के कुछ आभीर-जातीय लुटेरों ने आक्रमण किया। अर्जुन ने उन्हें कड़ी टक्कर दी, किन्तु अकेले वे उनके सम्मुख विवश हो गये... उनके बाण भी चुक गये थे और, उन्हें लगा,

उनकी शक्ति भी क्षीण हो चली थी। विषाद में घिरे, वे स्वयं अपने को इस बात के लिए क्षमा नहीं कर पा रहे थे कि उनके देखते-देखते कुछ साधारण लुटेरे न जाने कितनी अबलाओं को, कुछ रत्नों, आभूषणों-सहित उठा ले गये। अपने दुर्भाग्य एवं अपनी असमर्थता पर अर्जुन अत्यन्त दुःखी एवं लज्जित होते रहे।

शेष द्वारकावासियों को लेकर वे कुरुक्षेत्र पहुँचे और उन्होंने उनको वहाँ यत्र-तत्र भूमि देकर बसा दिया। कृतवर्मा के पुत्र को मार्तिकावत का राज्य देकर वहाँ बसाया और भोज की बची हुई स्त्रियों को उसकी रक्षा में छोड़ दिया। अन्य बाल, वृद्ध तथा महिलाओं को इन्द्रप्रस्थ पहुँचाकर, वहाँ बसा दिया... और वज्र को उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व दिया। सात्यकि के पुत्र को सरस्वती तट पर सारस्वत क्षेत्र का राज्य प्राप्त हुआ।

अपने तत्कालीन उत्तरदायित्व से मुक्त होकर अर्जुन चले, तो उन्हें महर्षि व्यास के आश्रम का स्मरण हुआ, जो निकट ही था। उन्होंने हस्तिनापुर लौटने के पूर्व उनके दर्शन का विचार किया।

"यह क्या, वत्स अर्जुन!" उन्हें देखते ही व्यास आश्चर्यचकित रह गये, "तुम्हारे मुख-मण्डल पर यह निराशा क्यों है? तुम्हारा मन अशान्त दिखाई देता है।"

अर्जुन उनकी चरण-रज लेने को झुके तो सहसा उठ नहीं पाये... वहीं पड़े हुए करुण स्वर में विलाप करने लगे। व्यास ने उन्हें सान्त्वना देते हुए उठाया और स्नेह-सहित हृदय से लगाकर अपने निकट आसन दिया।

"शान्त हो जाओ वत्स!" उन्होंने सहानुभूति भरे स्वर में कहा, "तुम्हारे जैसे महापराक्रमी योद्धा को यह रुदन शोभा नहीं देता।"

"शोभा तो मुझे कुछ भी नहीं देता..." अर्जुन ने पूर्ववत् बिलखते हुए कहा, "न तो यह गाण्डीव, न अपना नाम और न अपना यह जीवन... अब तो सभी कुछ व्यर्थ लग रहा है।"

"सब कुछ व्यर्थ ही होता है वत्स!" व्यास का स्वर भी दार्शनिक हो गया, "सब कुछ नश्वर ही है। जीवन के समान ही धन, सामर्थ्य, यश, सुख आदि जैसे अंकुरित होकर उद्भव पाते हैं, पल्लवित भी होते हैं... और वैसे ही, समय आने पर, काल के गर्भ में विलीन होते चले जाते हैं... यही सृष्टि का नियम है।"

"महात्मन्!" अर्जुन के रुदन में सहसा विराम आया। आश्चर्य में भरकर उन्होंने पूछा, "इतना सब! ऐसी निर्दयतापूर्वक कैसे हो जाता है मुनिवर?"

"होता है पुत्र! होता है..." व्यास ने पुनः किसी दार्शनिक व्याख्याता की भाँति अर्जुन को सान्त्वना देते हुए कहा, "बहुधा ऐसा उस समय प्रतीत होता है जब हम प्रकृति द्वारा प्रदत्त, अथवा संयोगवश प्राप्त शक्तियों को, सम्पदा अथवा बुद्धि को, अपनी उपलब्धि अथवा अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मान बैठते हैं... यह समझे बिना

कि जो कुछ हमें अनायास ही प्राप्त हुआ था... उसका अनायास चले जाना भी स्वाभाविक है।"

अर्जुन के अश्रु सहसा सूख गये थे... और उनके मुख पर सम्प्रभ उभर आया था, जैसे वे किसी दीर्घ तन्द्रा से जागे हों और समझने का प्रयास कर रहे हों कि वे कहाँ हैं... जो कुछ वे देख रहे हैं वह क्या है!

"किन्तु महर्षि!" उन्होंने अपने अनिश्चय में ही जिज्ञासा की, "प्रकृति इतनी निर्मम क्यों है? विधाता इतना क्रूर क्यों है... ऐसा हृदयहीन क्यों है?"

"यह तो वत्स..." व्यास ने अपने मृदु हास्य से वातावरण को सहज बनाने के प्रयास में कहा, "कभी विधाता अथवा प्रकृति से मिला तो अवश्य पूछूँगा... किन्तु सम्भवत: इसके पीछे स्वयं हमारा भ्रम ही हो। जब विधि के विधान में प्रकृति द्वारा हमको दु:ख प्राप्त होता है, तब हम यह भूल जाते हैं कि प्रकृति कभी उदात्त भी थी... विधाता कभी हम पर कृपालु भी था। हम प्रकृति के उस उदात्त रूप को ही अन्तिम सत्य मान बैठते हैं... उसके दूसरे रूप की कभी कल्पना ही नहीं करते।"

अर्जुन निरुत्तर तो थे... किन्तु शान्त नहीं। और होते भी कैसे! उन्हें अपना सब कुछ छिनता दिखाई दे रहा था।

"महात्मन्! यह कैसा न्याय है..." उन्होंने पुन: व्यग्र होते हुए पूछा, "अकारण हमारे राज्य की स्थिति प्रतिकूल हो गयी है, प्रजा दु:खी है... और उधर कृष्ण एवं बलराम जैसे महाज्ञानी, परमवीर... परमगति को प्राप्त हुए! सारी द्वारका नष्ट हो गयी... समस्त वृष्णि एवं अन्धक-वंशों का विनाश हो गया... और... और..."

"और क्या वत्स?" व्यास ने सहज स्वर में ही पूछा।

"और उनके परिवारों को अपने साथ लेकर आते समय हम पर कुछ लुटेरों ने आक्रमण करके अनेक महिलाओं तथा धन-रत्न आदि का अपहरण कर लिया..." अर्जुन ने व्यग्र स्वर में कहा, "और इतना ही नहीं महर्षि! अपने हाथ में गाण्डीव रहते हुए भी मैं उनसे टक्कर नहीं ले पाया। मेरे पास जो बाण थे वे उन्हें रोक नही पाये... उन्हें भयभीत भी नहीं कर पाये।"

"न्याय-अन्याय को तो मैं नहीं जानता वत्स!" व्यास ने कहा, "किन्तु यही प्रकृति का नियम है... यही विधि का विधान है, जो नियत समय पर बहुत कुछ देता भी है... और नियत समय पर लेता भी चला जाता है। कहीं ऐसा ही कोई कारण रहा होगा कि वासुदेव-जैसा समर्थ महानायक भी निष्क्रिय बैठा अपने वंश का विनाश देखता रहा... उसे बचा नहीं पाया। वैसे ही, जैसे हर सम्भव प्रयास करके भी वह विनाशकारी युद्ध नहीं टाला जा सका...। वैसे ही, जैसे तुम्हारे-जैसा पराक्रमी योद्धा भी कुछ उत्पातियों को रोकने में असमर्थ हो गया। सम्भवत: कृष्ण तथा बलराम ने काल का कोई संकेत पाकर परमगति अपनायी... और अब तुम्हें भी..."

"मुझे क्या महात्मन्?" सहसा अर्जुन ने विस्मय भरे स्वर मे पूछा।

"तुम्हें...!" व्यास कुछ रुके... जैसे उपयुक्त शब्दों की खोज में लगे हों, "अब तुम्हें भी समय के संकेत को समझना चाहिए।"

"समय का संकेत...?" व्यास का संकेत उनकी चेतना में उजागर होने लगा था। "वह क्या मुनिवर?"

"जो संकेत समय दे रहा है वत्स!" व्यास ने मुस्कराते हुए कहा, "उसकी व्याख्या करना मेरे वश में कहाँ! वह संकेत तो तुम्हें स्वयं ही समझना होगा।"

सुनकर अर्जुन गहरे सोच में डूब गये.

"किस चिन्ता में पड़ गये वत्स?" व्यास ने पुनः मृदु हास्य से वातावरण को अनुप्राणित किया, "चिन्ता तो तब आती है जब कोई समय के संकेत की अवहेलना करे... उसे अस्वीकार करने की धृष्टता करे। जो महादानी विधाता को, समय आने पर, पूर्ण गरिमा के साथ सब कुछ सहर्ष लौटा दे, उसे कैसी चिन्ता!"

अर्जुन ने जब हस्तिनापुर लौटकर युधिष्ठिर को प्रणाम किया तो उनकी दीन-हीन दशा देखकर सभी चिन्तित हो उठे। उनका शरीर ही क्लान्त नहीं था.. मुख से कान्ति पूर्ण-रूप से विदा ले चुकी थी। चिन्ता, व्यथा, पीड़ा.. क्या नहीं था जो उनके मुख-मण्डल को मलिन बना रहा था।

"अनुज!" युधिष्ठिर ने व्यथित स्वर मे पूछा, "तुमने बहुत समय लगा दिया। हम सब चिन्तित थे तुम्हारे लिए।"

"भैया!" अर्जुन ने अपने अश्रु रोकते हुए किसी प्रकार मौन तोड़ा, "और कुछ समय से, मैं भी चिन्तित रहा... स्वयं अपने लिए। जो कुछ मैंने द्वारका में देखा और सुना, वह सब तो असहनीय था ही . उसके पश्चात् जो मैंने अनुभव किया और झेला वह भी अकथनीय है.. मैं लज्जित हूँ. स्वयं अपने से लज्जित हूँ।"

"शान्त हो जाओ अनुज!" युधिष्ठिर ने आगे बढ़कर उन्हें अपनी भुजाओं में भर लिया। भीमसेन, सहदेव तथा नकुल ने भी आत्मीयता-सहित उन्हें सान्त्वना प्रदान की।

"कैसे शान्त रहूँ भैया? अब कुछ भी तो नहीं बचा जीवन में।"

"मुझे ज्ञात है अनुज.." युधिष्ठिर ने भावुक होते हुए कहा, "यह हम सबके लिए अत्यन्त दुःख की घड़ी है।"

"आप सबने तो मात्र सुना ही है " अर्जुन के धैर्य का बाँध टूट चुका था, "किन्तु मैंने तो देखी है... झेली है वह सब व्यथा.. और.. और अनुभव की है अपनी असमर्थता, अपनी व्यर्थता...।"

अपने सभी भाइयों के नेत्रों में जिज्ञासा देखकर, अर्जुन ने मातुल वसुदेव के निधन, द्वारका में जल-प्लावन, यात्रा में विधवाओं के अपहरण, अपनी असमर्थता... और फिर महर्षि व्यास के साथ होने वाली वार्ता आदि के विषय में विस्तार से कह सुनाया।

सुनकर वे सभी चिन्ता में डूबकर मौन हो गये। राजकक्ष को नीरवता ने आ घेरा। उन्हें एक-दूसरे की ओर देखने का भी साहस नहीं हो रहा था।

"हमारे लिए क्या सन्देश दिया, मुनिवर ने?" कुछ क्षण बाद नीरवता भंग करते हुए युधिष्ठिर ने गम्भीर स्वर में पूछा।

"सन्देश तो कुछ नहीं दिया, भैया!" अर्जुन ने असमंजस में कहा, "किन्तु..."

"एक संकेत तो दिया ही है..." सहदेव ने अर्जुन का वाक्य पूरा करते हुए कहा।

"वह संकेत तो बड़ा स्पष्ट है अनुज!" युधिष्ठिर जैसे अपने आप को ही सम्बोधित कर रहे थे।

"उस संकेत को ही हम उनका सन्देश मानें... उनका आदेश समझें..." भीमसेन ने युधिष्ठिर की ओर देखते हुए गम्भीर स्वर में कहा, "तो कुछ अनुचित नही होगा। मुझे भी अब अस्त्र-शस्त्रों में कोई रुचि नहीं रही... अपनी गदा भी बहुत भारी प्रतीत होती है। अवश्य ही मेरी शक्ति क्षीण होती जा रही होगी।"

"और फिर क्यों न हो।" युधिष्ठिर ने अपने अनुजों की ओर दृष्टि उठाकर कहा, "महर्षि व्यास का कथन सनातन सत्य पर ही आधारित है, कि विधाता एक समय जो कुछ हमें उदारतापूर्वक देता है... एक निश्चित समय आने पर सब कुछ लेता भी चला जाता है। हमारे पूर्वजों ने आयु हो जाने पर संन्यास ग्रहण करने की व्यवस्था व्यर्थ ही नहीं की होगी।"

"और मुझे लगता है भैया..." अर्जुन ने भूमि की ओर दृष्टि गडाए हुए ही कहा, "मेरे लिए तो वह समय आ चुका। मेरी सामर्थ्य ही नहीं, मन का सारा उत्साह भी विदा ले चुका है।"

"तुम्हारा ही नहीं अनुज!" भीमसेन ने उसी गम्भीरता से समर्थन करते हुए कहा, "मेरा मन भी अब राज-काज में नहीं लगता। यदा-कदा मुझे भी लगता है कि मैं व्यर्थ ही राजकीय उद्योग में समय नष्ट कर रहा हूँ।"

"किन्तु मैं तो तुम सबमें ज्येष्ठ हूँ..." युधिष्ठिर ने कहा, "वास्तव में सांसारिकता त्यागने का अधिकार पहले मुझे है। तुम लोग यदि अनुमति दो, तो संन्यास के मार्ग पर पहले मैं जाना चाहूँगा।"

"आप कैसे जा सकते हैं भैया?" सहदेव ने विस्मित होकर कहा, "आप पर तो इस साम्राज्य का उत्तरदायित्व है।"

"उत्तरदायित्व किसी व्यक्ति-विशेष के अधीन नहीं रहता, अनुज!" युधिष्ठिर

ने विहँसते स्वर में कहा, "समय के साथ सदैव कोई विकल्प स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। अनेक विकल्प होते हैं... और हस्तिनापुर के लिए तो तुम सबको..."

"कौन मैं...?"

"मैं नहीं भैया!"

"यह नहीं होगा, भैया!"

"मैं तो..."

युधिष्ठिर के चारो अनुजों ने व्यग्र होकर क्षण-भर एक-दूसरे की ओर देखा... और व्याकुल दृष्टि उनके मुख पर टिका दी।

"मैं तो आपके साथ ही चलूँगा भैया!" भीमसेन ने सुनिश्चित स्वर में कहा, "आप जहाँ भी चलें.."

"और मैं भी..."

"और हम दोनों भी.." नकुल ने भी सहदेव की दृष्टि मे सहमति का संकेत देखकर कहा।

"हम सब साथ ही रहे हैं." सहदेव ने कहा, "भविष्य में भी साथ ही रहेंगे.. समय तो हम सबको एक-सा ही संकेत दे रहा है।"

पाण्डवों ने मिलकर अपने निर्णय पर सोच-विचार किया। राज्य का क्या होगा? क्या होगा द्रौपदी का? सुभद्रा, उलूपी, चित्रांगदा, परीक्षित, युयुत्स आदि उनके इस निर्णय से कितना सहमत होंगे! उन सबके लिए समुचित व्यवस्था तो करनी ही होगी।

बहुत सोच विचारकर उन्होंने अपना निर्णय पुरोहित धौम्य तथा आचार्य कृप को सुनाया। पाण्डवों के इस निश्चय से वे दुःखी तो थे, किन्तु उसे धर्म-सम्मत एवं समयोचित मानते हुए, उसका विरोध करने की स्थिति में भी नहीं थे।

पाण्डवों का निर्णय सुनकर प्रजा व्याकुल हो उठी। वर्ष भर के प्राकृतिक उत्पात के पश्चात् समय कुछ अनुकूल हुआ ही था कि उनको अपने प्रजा-वत्सल महाराज के सन्यास ग्रहण करने का समाचार मिला और वह भी अपने सभी अनुजों-सहित। प्रजा की ओर से अनेक प्रतिनिधियो ने उनसे अपने निर्णय पर पुनर्विचार के लिए अनुरोध किया, किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हे प्रेम-सहित काल की अनिवार्यता एवं धर्म का मार्ग बताते हुए समझाया और राज्य त्यागने के पूर्व उसकी समुचित व्यवस्था करने का आश्वासन दिया।

सबसे विचार-विमर्श करके युधिष्ठिर ने युयुत्स को हस्तिनापुर तथा इन्द्रप्रस्थ-सहित सम्पूर्ण राज्य की देखभाल का उत्तरदायित्व देकर, हस्तिनापुर पर परीक्षित का तथा इन्द्रप्रस्थ पर वज्र का अभिषेक किया।

राज्य एवं प्रजा से भी बढ़कर, पाण्डवों को चिन्ता थी राज-परिवार की महिलाओं की, किन्तु उन्हें भी यह निर्णय तो सुनाना ही था। जब राज-महिलाओं को पाण्डवों का निर्णय ज्ञात हुआ तो वे सब भी व्याकुल हो उठीं... और जब पाण्डवों ने उन्हें समझाने का प्रयास किया, तो वे सब उनके साथ ही चलने का आग्रह ले बैठीं। किन्तु उन सबको साथ ले जाना न तो व्यावहारिक था और न धर्म-सम्मत। वैराग्य उनके मन में नहीं उपजा था... वे मात्र पाण्डवों के सान्निध्य के लिए, उनके प्रति अपना कर्तव्य समझकर, साथ चलने का हठ कर रही थीं। उन्हें समझाने में कठिनाई तो हुई किन्तु अन्ततः कुछ व्यवस्था बनती चली गयी।

सुभद्रा को इस तर्क ने बाँध लिया कि उसके पौत्र परीक्षित को अभी उसकी ममता की छाँव की आवश्यकता होगी। उसकी पुत्र-वधू उत्तरा भी अभी उसका सान्निध्य चाहेगी... और इन्द्रप्रस्थ पर उसके अग्रज के पौत्र वज्र का राज्य होगा, जो अभी छोटा है। उसे भी सुभद्रा के मार्गदर्शन की आवश्यकता होगी।

चित्रांगदा को भी अपने पुत्र बभ्रुवाहन के साथ कुछ समय रहने का लोभ था, यद्यपि अर्जुन से दूर रहने की कल्पना भी उसे असह्य थी। किन्तु उलूपी का मन दुःखी था। उसे न तो मणिपुर में स्वजनों के बीच लौटने का आकर्षण था, न ही अर्जुन के बिना हस्तिनापुर में रहने का। अन्य पाण्डवों के साथ वन-गमन की बात भी उसे नहीं रुच रही थी।

"मैं तुम्हारे बिना कैसे रह सकती हूँ?" द्रौपदी को मनाना भी असम्भव था। पाण्डवों का प्रस्ताव सुनकर उन्होंने छूटते ही कहा, "जब द्यूत क्रीड़ा में हमारा राज्य छिना था, तब भी तो मैं बारह वर्ष तक वन में साथ ही रही थी। अब, अब क्या कारण है कि मैं साथ नहीं चल सकती?"

"पांचाली...! अब वह आयु नहीं रही..." युधिष्ठिर ने समझाना चाहा, "कि तुम वन के दुःख सह सको।"

"वह आयु तो हममें से किसी की भी नहीं रही," द्रौपदी के पास उस तर्क का उत्तर था। "इस अवस्था में मुझसे अधिक तुम सबको मेरी सेवा की आवश्यकता है... जब तक वह सम्भव हो... जब तक वह मेरे भाग्य में हो।"

"किन्तु तुम्हें वन में कष्ट सहते देखकर..." अर्जुन ने समझाना चाहा, "हमारा मन चिन्ता-मुक्त नहीं हो पाएगा।"

"और तुम सब को वन में भटकने की कल्पना क्या मुझे सुखी रहने देगी?"

द्रौपदी का प्रत्येक उत्तर, पाण्डवों को निरुत्तर कर देता था।

अन्ततः उन्होंने द्रौपदी-सहित ही वनवास का निर्णय लिया। चित्रांगदा को भी वे मना नहीं पाये... अतः उसे भी साथ चलना था।

पाण्डव जब अपने कौशेय वस्त्र एवं आभूषण त्यागकर, वल्कल वस्त्रों में, वन

के लिए निकले तो अनेक वयोवृद्ध नागरिकों को लगभग अर्ध-शती पूर्व के उस अभागे दिन का स्मरण हो आया, जब पाण्डव द्यूत में अपना सर्वस्व हारकर बारह-वर्षीय वनवास के लिए नगर से निकले थे। पुरवासियों के नेत्र अश्रुपूरित थे और होठों पर उनके सुखमय भविष्य के लिए शुभकामनाएँ थीं। धीरे-धीरे समस्त पुरवासी, कृपाचार्य तथा युयुत्सु के साथ लौट गये। उलूपी अन्य नगरवासियों के साथ लौट तो गयी, किन्तु मार्ग में, अन्य सब से अलग होकर, उसने गंगा में जल-समाधि ले ली।

राज्य त्यागकर, संन्यास के लिए निकलते समय तक, पाण्डवों के मन में भविष्य के लिए कोई योजना नहीं थी। हस्तिनापुर से निकलकर उन्होंने पूर्व दिशा की ओर चलने का निर्णय लिया।

"चलो चित्रांगदा!" युधिष्ठिर ने स्नेह-सहित कहा, "तुम्हारे क्षेत्र में चलते हैं। वहाँ पुत्र बभ्रुवाहन से भी मिल लेंगे। उसे देखे हुए बहुत समय हो गया..."

चित्रांगदा को भला क्या आपत्ति हो सकती थी! उसके मन में भी पुत्र से मिलने की उत्कण्ठा जाग्रत हो उठी... तब उसे यह कहाँ पता था कि इस यात्रा के पीछे अर्जुन की कोई सोची-समझी योजना है।

कुछ ही समय में उन सब पर यह स्पष्ट होने लगा कि, लगभग पचास वर्ष पूर्व के उस वनवास से, यह वनवास नितान्त भिन्न है। तब उनके साथ धन भी था, सेवक भी थे और अनेकानेक सन्त महात्माओं का साथ भी था। और अब... अब वे सब कुछ त्यागकर आ रहे हैं... स्वेच्छा से त्यागकर आ रहे हैं। किन्तु धीरे-धीरे, मन के संकल्प ने, मार्ग के कष्टों के प्रति उन्हे निरपेक्ष बना दिया।

हस्तिनापुर से मणिपुर तक का मार्ग किसी भी दृष्टि से सुगम नहीं था, किन्तु धीरे धीरे वे सब अपनी नयी जीवन शैली के अभ्यस्त होते जा रहे थे। मणिपुर में बभ्रुवाहन ने उन सब को क्लान्त वनवासियों के रूप में देखा, तो उसका हृदय चीत्कार कर उठा। अपनी माँ को देखकर तो वह और भी भावुक हो उठा। उसने उन सबसे बहुत प्रार्थना की, बड़ा अनुरोध किया कि वे सब वहीं, उसके राज्य में ही रहकर, उसे सेवा का अवसर प्रदान करें.. किन्तु पाण्डवों के मन पर वैराग्य छा चुका था।

"मान लीजिए न!" चित्रांगदा ने भी विनम्र स्वर में बभ्रुवाहन का साथ दिया, "सच्चे मन से प्रार्थना कर रहा है।"

पाण्डवों ने देखा, चित्रांगदा के नेत्रों में वात्सल्य हिलोरें ले रहा है... उसके मन में सम्पूर्ण वैराग्य का अभाव है, जो स्वाभाविक ही था। अर्जुन की युक्ति व्यर्थ नहीं गयी।

चित्रांगदा की दुविधा उसके मुख पर स्पष्ट थी... उसका मन ममता और प्रेम

के बीच विवश होकर चीत्कार कर रहा था। पुत्र और पति के बीच किसी स्पष्ट निर्णय में असमर्थ होकर वह निरीह स्वर में अर्जुन से प्रार्थना किये जा रही थी कि वे सब बभ्रुवाहन का अनुरोध स्वीकार कर लें... मणिपुर में ही रहकर, अथवा किसी निकटस्थ वन में तपस्या करते हुए, उसे सेवा का अवसर दें। किन्तु एक बार संन्यास में प्रविष्ट होकर पाण्डव किसी भी प्रकार सांसारिक मोह में बँधना नहीं चाहते थे।

अर्जुन ने ही नहीं, युधिष्ठिर ने भी चित्रांगदा को बहुत समझाने का प्रयास किया किन्तु उसका मन समझने की स्थिति में नहीं था। लगभग तीस वर्ष, पुत्र से दूर रहकर, पति की छाया में व्यतीत करने के पश्चात् वह पुनः पति से विलग होने की कल्पना भी नहीं कर पा रही थी। ऐसे में द्रौपदी ने उसे एक विलक्षण मन्त्र दिया। स्वयं अपने पुत्रों को खोकर उन्होंने जाना था कि पुत्र क्या होता है... और पुत्र के लिए माँ क्या होती है।

"तुम अपने लिए नहीं..." द्रौपदी ने समझाते हुए कहा, "पुत्र बभ्रुवाहन को ममता की छाया प्रदान करने के लिए रुक जाओ। पुत्र का दुःख क्या होता है, यह मेरी उजड़ी हुई कोख मुझे निरन्तर स्मरण कराती रहती है... और माँ क्या होती है, यह मैं प्रतिपल इन सबकी आँखों में देखती रहती हूँ। जबसे माता कुन्ती इन्हें छोड़कर गयीं, तुमने तो स्वयं ही देखा होगा कि इनके मन को कभी वास्तविक शान्ति नहीं मिली। तुम पति का अनुरोध मानकर, पुत्र के पास रहो... मैं तुम्हें वचन देती हूँ कि जहाँ द्रौपदी बनकर अपने पतियों की सेवा करूँगी, वहीं चित्रांगदा बनकर भी अर्जुन की विशेष रूप से सेवा करती रहूँगी।"

पता नहीं द्रौपदी की बात चित्रांगदा को कितनी समझ आयी... आयी भी अथवा नहीं, किन्तु आँखों में अश्रु भरे अर्जुन को अपने अनुरोध से मुक्त करते हुए, उसने विवश होकर विदा में हाथ जोड़ दिये।

अपनी यात्रा पर पाण्डव आगे बढ़े तो उनका मन भारी था... सम्भवतः अर्जुन के मन में विशेष ही कुछ घुमड़ रहा हो। कौन जाने स्वयं अपने ही विचलित मन पर नियन्त्रण पाने के लिए वे अपने भाइयों को अपनी पिछली मणिपुर यात्रा का विवरण सुनाने लगे... कैसे वे यज्ञ-अश्व के पीछे मणिपुर पहुँचे, कैसे बभ्रुवाहन ने उनका स्वागत किया और कैसे, उनकी भर्त्सना के बाद, बभ्रुवाहन ने उन पर आक्रमण करके उन्हें अचेतकर दिया... और फिर कैसे अपनी मनमानी राह पर चलते यज्ञ-अश्व के पीछे वे चलते ही चले गये... और मणिपुर के बाद कैसे मगध, चेदि, काशी, कोसल, द्रविड़, आन्ध्र, रौद्र, माहिषक, कोलाचल, सुराष्ट्र, गोकर्ण, प्रभास, पंचनद, गान्धार आदि पहुँचे!

"हमारा संन्यास भी तो एक यज्ञ ही है अनुज!" युधिष्ठिर ने अपने स्निग्ध स्वर

से संवाद को एक नयी दिशा देते हुए कहा, "एक विश्व-विजय के मनोरथ जैसा।"

"और हमारा मन, उस यज्ञ के अश्व की भाँति हमें स्वयं अपने निर्धारित मार्ग पर लिये जा रहा है..." सहदेव ने कहा।

"तो भैया!" नकुल ने अर्जुन को सम्बोधित किया, "क्यों न हम आज पुनः उसी मार्ग पर चलें, जिस पर हमारे अश्वमेध का अश्व चला था।"

"यही ठीक है अनुज!" भीमसेन ने भी उल्लमित स्वर में कहा, "और तुम हमें विस्तार में सुनाते जाना... अपने वे सारे अनुभव, जिन्हें व्यस्त समय ने कभी हमें सुनने का अवसर ही नहीं दिया।"

वे सब निश्चिन्त एवं स्नेहपूर्ण वातावरण में इच्छानुसार चलते हुए वन्य फल मूल खाते, कभी मित्र राज्यों का तो कभी ऋषि-मुनियों का आतिथ्य ग्रहण करते, तो कहीं भिक्षा पर जीवन निर्वाह करते बढ़ते रहे। कभी मार्ग में विरोधियों का राज्य मिला तो समय एवं स्थिति के वशीभूत होकर पूर्व काल में उनके अहित करने के लिए उनसे कर-बद्ध क्षमा भी माँगी।

इसी बीच, संयोगवश, एक दिन हवन के लिए जलाई हुई अग्नि की चिनगारी से अर्जुन के धनुष की प्रत्यंचा जल गयी। अन्य सभी अपने-अस्त्र-शस्त्र पहले ही त्याग चुके थे.. केवल अर्जुन ही, मोहवश, अपना गाण्डीव नहीं त्याग पाये थे।

"अब तुम भी इसे त्याग दो अनुज।" युधिष्ठिर ने मुस्कराते हुए कहा, "इसे भी दैवी संकेत ही मानो।"

अपने मन के यज्ञ अश्व का अनुसरण करते पाण्डव, द्रौपदी सहित, लवण-सागर के उत्तरी तट पर होते हुए दक्षिण दिशा की ओर गये और उस क्षेत्र के अनेक स्थानों पर ऋषियों, महर्षियों तथा देवालयो के दर्शन करते हुए, पश्चिम तट की ओर बढ़ने लगे। कुछ समय बाद वे द्वारका के निकट पहुँचे, जो पूर्णतया सागर में डूब चुकी थी।

"काल धर्म!" युधिष्ठिर ने दीर्घ श्वास छोड़ते हुए कहा, "काल के चक्र से कुछ भी अछूता नहीं रह पाता।"

"जब स्वयं कृष्ण ही नहीं रहे.." अर्जुन ने निराश स्वर में कहा।

"तो चलिए, हम भी अपना चक्र पूरा करें..." द्रौपदी ने जैसे उनके संवाद से उपजी निराशा को टालने के उद्देश्य से कहा, "उत्तर की ओर चलें।"

वे सब कृष्ण एवं द्वारका की दुःखदायी स्मृति से उपजे अध्यात्म में डूबते-उतराते, धर्म तथा मायामयी सृष्टि की व्याख्या करते हुए, उत्तर दिशा की ओर बढ़ चले। कुछ आगे जाने पर उन्हें पूर्व दिशा की ओर जाने वाला वह मार्ग दिखा, जो हस्तिनापुर की ओर जाता था... वह मार्ग जो माया-मोह के टूटे बन्धन को पुनः जोड़ने का आकर्षण

उत्पन्न कर सकता था... किन्तु संन्यास के मार्ग पर दृढ़ पाण्डवों ने, उसके निमन्त्रण को नकारते हुए, उत्तर दिशा की ओर ही अपने पग बढ़ाये।

आगे, अपने मार्ग में उन्हें एक विशाल रेतीला क्षेत्र मिला... और उसके पश्चात् पर्वतीय भूमि प्रारम्भ हुई। मार्ग पथरीला एवं बीहड़ होता चला गया... पवन में शीतलता आती गयी और छाया प्रदान करने वाले घने वृक्षों का अभाव होता चला गया... किन्तु वे न जाने किस आन्तरिक प्रेरणा से अनुप्राणित होकर उत्तर दिशा में बढ़ते ही जा रहे थे... सम्भवतः उधर, जिधर उन्हें मन का यज्ञ-अश्व खींचे लिये जा रहा था।

अचानक, चलते-चलते द्रौपदी का पाँव फिसला और वह डगमगाकर ऐसी गिरीं कि सिर एक बड़ी पाषाण शिला से टकराकर फूट गया... क्षण भर में ही, रक्त की धारा ने उनके मुखमण्डल को ढँक दिया। जब तक पाण्डव दौड़कर उन्हें उठाएँ, द्रौपदी की असहाय दृष्टि बड़ी करुणा के साथ उनकी ओर देखती हुई जड़वत् हो गयी... और शरीर निश्चेष्ट होकर स्थिर हो गया।

पाण्डवों को सहसा लगा कि जिस काल-धर्म का उल्लेख वे यदा-कदा अपनी वार्ता में करते आ रहे थे, द्रौपदी उसी को प्राप्त हो चुकी हैं।

"यह क्या हुआ भैया!" भीमसेन ने सहसा सबके बीच घुमड़ते हुए विवश मौन को तोड़कर पूछा, "पांचाली का क्या दोष था, जो विधाता ने इसे असमय ही उठा लिया?"

युधिष्ठिर निरुत्तर थे... इस प्रश्न का उत्तर उनके पास नहीं था। और उन्हें यह भी ज्ञात था कि वह प्रश्न किसी उत्तर की अपेक्षा से नहीं, स्वयं अपने मन की व्यथा के कारण किया गया था। फिर भी, उन्होंने देखा कि उनके अनुजों की दृष्टि उनकी ओर उठी हुई है... और उनके बीच उपजा हुआ मौन और भी भयावह होता जा रहा है।

"जीवन और मृत्यु..." स्वयं अपने मन की पीड़ा से उबरने के लिए भी उन्हें कुछ बोलना आवश्यक लगा, "दो ऐसी सनातन पहेलियाँ हैं, जिन्हें मानव आज तक हल नहीं कर पाया... और सम्भवतः कभी कर भी नहीं पायेगा। और फिर यह भी कौन जाने कि कोई दोष द्रौपदी का था जो विधाता ने उसे उठा लिया, अथवा हम सबका... जिन्हें विधाता ने उसके आत्मीय सान्निध्य से वंचित कर दिया।"

इस उत्तर ने पहेली को और भी रहस्यमय बना दिया था...

दुःखी मन से उन्होंने द्रौपदी का शव पवित्र अग्नि को समर्पित कर दिया।

उस रात... जब वे सब अग्नि प्रज्ज्वलित करके ताप लेने के लिए बैठे तो सहसा उन्हें अग्नि में पड़ी द्रौपदी का स्मरण हो आया!

"भैया! द्रौपदी को अब कभी ताप लेने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

"वह तो सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा गयी..."

"उसने ऐसे क्या पुण्य किये थे भैया!" सहदेव ने संवाद को नया मोड़ दिया, "जो हम सबसे पहले मुक्ति पा गयी?"

"उसने हम सबकी बड़ी लगन से सेवा की थी.." भीमसेन ने कहा, "नहीं की क्या?"

"किन्तु कोई अपराध तो होगा ही " नकुल ने पुन: अपना प्रश्न उठाया, "जो विधाता ने उसे हम लोगों के सान्निध्य से वंचित कर दिया।"

"इस पहेली में और न उलझो अनुज।" युधिष्ठिर ने मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "तभी अच्छा है.. और यदि कोई दोष ढूँढ़ना ही चाहो तो कह लो कि उसकी सेवा में पक्षपात था... अर्जुन के प्रति पक्षपात।"

उनके उस परिहास से भी वातावरण सुलझ नहीं पाया। अर्जुन क्षण भर को यह सोचने पर विवश हुए कि हाँ, पांचाली उनकी सेवा के प्रति सचेष्ट थी... किन्तु क्या वास्तव में अन्य सबसे अधिक। वे यह तुलना नहीं कर पाये। और वहाँ द्रौपदी नहीं थीं... अन्यथा, कौन जाने, वे यह कहतीं कि वह अतिरिक्त सेवा तो उनके वचन-बद्ध मन में बसी चित्रांगदा करती थी. स्वयं उन्होंने, वास्तव में, कभी कोई पक्षपात नहीं किया।

"इतना दु:ख न करो..." युधिष्ठिर ने ही पुन: वह असहज मौन तोड़ा, "जीवन की भाँति, मृत्यु में भी विधाता का उपकार देखना ही बुद्धिमत्ता है। मृत्यु कोई भयावह अभिशाप नहीं, मुक्ति का द्वार भी होती है।"

"भैया!" अर्जुन ने सहसा गम्भीर स्वर में कहा, "क्या जब मेरा देहान्त होगा... तब भी आप ऐसे ही सहज रह पाएँगे? इसी प्रकार जीवन और मृत्यु की व्याख्या कर पाएँगे?"

सुनकर युधिष्ठिर सन्न रह गये। निरुत्तर होकर भी उन्हें लगा कि उनके अनुजों की दृष्टि उनके मुख पर ही टिकी है। उस प्रश्न से असहज हुए वातावरण को सम्भवत: उनका कोई उत्तर ही सहज बना सकता था।

"करनी ही होगी अनुज!" युधिष्ठिर ने कहा, "बस इसलिए कि उसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होगा। किन्तु विधाता वह दिन न दिखाए... क्योंकि अग्रज होने के नाते, महाप्रस्थान के पथ पर तुम सबसे पहले मुझे ही जाना चाहिए..."

वातावरण पुन: बोझिल हो उठा था... बड़ी विचित्र स्थिति थी, कि कोई कुछ कह नहीं पा रहा था।

"वह तो हमारे लिए बडा ही अभागा दिन होगा भ्राताश्री!" अर्जुन ने कहा।

"हमें तो जीवन के अन्तिम क्षण तक आप का मार्गदर्शन चाहिए..."

"किन्तु अनुज!" युधिष्ठिर ने मुस्कराने का प्रयास करते हुए कहा, "यदि मैं तुम सब का देहावसान देखने के लिए जीवित रह जाऊँ तो समझूँगा कि आचार्य द्रोण

के वध के लिए गढ़े हुए झूठ को विधाता ने भी पाप मानकर मुझे दण्ड दिया है।"

"नहीं भैया!" नकुल ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, "वह कोई पाप नहीं था... वह तो अन्याय एवं पापाचार से लड़ने का मात्र एक शस्त्र था।"

"और भैया!" सहदेव ने वातावरण को सरल बनाने के प्रयास में कहा, "मेरे किस व्यवहार को आप दोष की संज्ञा देंगे?"

"और मेरे?"

"और मेरे?"

"और मेरे?"

वातावरण अनजाने में ही सहज हो उठा था... जैसे बचपन में उनके अनुज उन्हें घेरकर कुछ-न-कुछ पूछने लगते थे...

"तुम सब इतने सरल, व्यवहारकुशल और सत्यनिष्ठ हो..." युधिष्ठिर ने स्नेह भरे स्वर में कहा, "कि तुममें दोष ढूँढ़ पाना सरल कार्य नहीं होगा।"

"फिर भी, कुछ तो होगा ही..." अनुजों का आग्रह था।

"हाँ कुछ छोटा-मोटा दोष तो सभी में ढूँढ़ा जा सकता है..."

"तो बताइए न!" फिर वही आग्रह... वही अनुरोध।

"तो सुनो..." युधिष्ठिर ने स्नेहपूर्ण मुस्कान के साथ कहा, "सहदेव! मुझे यदा-कदा लगा कि तुम्हें अपनी विद्वता का अहंकार रहा..."

"और मुझे?" नकुल ने पूछा।

"तुम्हें अपने रूप का अभिमान था... था न?"

"और मुझे भ्राताश्री?" अर्जुन ने प्रश्न किया।

"तुम्हें मेरी दृष्टि में अपनी शूरता का अहंकार था..."

"और मुझमें तो अनेक दुर्गुण थे भैया!" भीमसेन गम्भीरतापूर्वक बोले, "मैं भला क्या पूछूँ!"

द्रौपदी की चिता से कुछ दूर ही रात व्यतीत करके, सूर्योदय के पश्चात् पाण्डवो ने उन्हें जलांजलि दी... और उत्तर दिशा की ओर पुनः यात्रा प्रारम्भ की।

वे कुछ दूर बढ़े ही थे कि सहदेव लड़खड़ाकर नीचे की ओर प्रवाहित जलधार में जा गिरे। उनकी रक्षा के लिए चिन्तित शेष चारों पाण्डव ऊँची-नीची शिलाओं पर गिरते-पड़ते उस जलधारा तक जब पहुँचे, तब तक सहदेव के प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। उन्हें मृत देख दुःख तो सबको ही हुआ... किन्तु नकुल सहसा हृदयाघात के कारण पीड़ा से त्रस्त होकर वहीं गिर पड़े। उनके अग्रजों ने अपने वश भर उन्हें बहुत सान्त्वना दी, और यथासम्भव प्रयास भी किया... किन्तु कुछ ही देर में उनका शरीर भी निष्प्राण होकर काष्ठवत् हो गया।

"कैसी विचित्र बात है..." युधिष्ठिर ने दुःखी स्वर में कहा, "दोनों एक साथ

ही संसार में आये... और दोनों ने एक साथ ही प्राण त्याग दिये। इनका प्रेम-बन्धन अटूट था।"

"भ्राताश्री!" भीमसेन ने अश्रु पोंछने हुए रुँधे कण्ठ से कहा, "क्या हमारे प्रेम में कोई कमी थी?"

"नहीं अनुज!" युधिष्ठिर ने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, "हम सभी का प्रेम-बन्धन अटूट है... देख लेना, अब हम भी शीघ्र ही उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे, जिस पर द्रौपदी तथा नकुल-सहदेव गये हैं।"

"पता नहीं कौन देखेगा भ्राताश्री।" अर्जुन ने निराश स्वर में कहा, "और देखकर भी क्या होगा?"

"यह समय दुःखी होने का नहीं है अनुज।" भीमसेन ने कहा, "हमें इन दोनों का अन्तिम संस्कार भी तो करना है।"

"किन्तु मुझे तो यह दुःख रहेगा ही..." युधिष्ठिर ने टूटते हुए स्वर में कहा, "कि मेरे होते हुए मेरे अनुज महाप्रस्थान के पथ पर मुझसे पहले ही निकल पड़े।"

दुःखी मन से, उन तीनों ने नकुल तथा सहदेव का अन्तिम संस्कार किया और उनकी आत्मा की शान्ति के लिए जलांजलि दी।

आगे का पथ और भी बीहड होता चला जा रहा था.. पवन की शीतलता भी बढ़ रही थी। युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन तीनो ही न जाने क्या सोचते हुए, अथवा कौन जाने बिना कुछ सोचे-समझे ही, पाषाण खण्डों को परास्त करते हुए उस निर्जन क्षेत्र में मार्ग बनाकर बढे जा रहे थे। उनके बीच का पारस्परिक संवाद भी निरन्तर कम होता जा रहा था।

दूर हिमाच्छादित पर्वतमालाओ को यदा-कदा निहारते, वे बढ़े जा रहे थे। संवाद ही नहीं, एक दूसरे की दृष्टि से भी कतराते हुए... द्रौपदी, नकुल अथवा सहदेव की चर्चा तो कभी हुई ही नहीं... जैसे वे जान-बूझकर उससे बचना चाहते हों।

दो दिन पश्चात् सहसा अर्जुन एक शिला पर बैठ गये। उनका मुख क्लान्त था और नेत्र उलटते जा रहे थे। जब तक भीमसेन तथा युधिष्ठिर उनसे कुछ पूछें, स्थिति को समझने का प्रयास करें, अर्जुन सिद्धासन लगाकर बैठ गये और दूसरे ही क्षण उनका शरीर मूर्ति-रूप में वहीं पडा रह गया।

"यह तो मुझे पहले ही समझ लेना चाहिए था..." युधिष्ठिर ने आँख बन्द करके, अपनी पीड़ा को मन ही-मन समेटते हुए, शान्त स्वर मे कहा, "पांचाली तथा नकुल-सहदेव के देहान्त के पश्चात् ही.. कि हम तीनों का समय भी निकट आ रहा है..."

"आपको कुछ नहीं होगा भ्राताश्री!" भीमसेन ने कहा, "आप तो मूर्तिमान धर्म

हैं... आप तो सदेह ही स्वर्ग जा सकते हैं।" वे गम्भीर थे... और मौन रहते हुए ही अर्जुन के अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध करते रहे। उस निर्जन प्रदेश में जैसे-तैसे उन दोनों ने अपने अनुज का शरीर मन्त्रोच्चारपूर्वक अग्नि को समर्पित किया... और फिर नदी-तट पर जाकर उन्हें जलांजलि दी।

"भ्राताश्री!" तभी भीमसेन ने युधिष्ठिर के चरण छूते हुए कहा, "मुझे आशीर्वाद दें, मैंने अभी एक संकल्प लिया है।"

"सुखी रहो अनुज!" कहते हुए युधिष्ठिर ने पूछा, "कैसा संकल्प?"

भीमसेन बिना कुछ उत्तर दिये मुड़े और नदी में प्रवेश करके बैठ गये... और इसके पूर्व कि युधिष्ठिर कुछ समझें, उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़कर ऊपर उठाये और उच्च स्वर में ओंकार ध्वनि की। दूसरे हां क्षण उनकी विशाल काया शिथिल एवं भारहीन होकर जल-धार में प्रवाहित हो चली।

क्षणांश में, युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया तो यह हुई कि वे दौड़ें... और लहरों के भुजपाश से अपने अनुज की देह छुड़ा लाएँ... किन्तु काल की अनिवार्यता का स्मरण करके वे जड़वत् खड़े रह गये।

'दूरदर्शी अनुज!' उन्होंने मन ही मन सोचा, 'तुम्हें लगा होगा कि जीवन भर राज-सुख भोगकर अकर्मण्य बना तुम्हारा अग्रज, नितान्त अकेले, तुम्हारे दाह-संस्कार का प्रबन्ध कैसे करेगा!... तुमने तो मुझे उस दायित्व से भी मुक्त कर दिया।"

युधिष्ठिर ने चारों ओर दृष्टि घुमाकर देखा... दूर-दूर तक कहीं कोई नहीं था। दृष्टि प्रत्येक दिशा में किसी पर्वत अथवा शिला-खण्ड से टकराकर लौट आती थी।

उन्हें लगा, अब उनका समय भी आ गया है... और यदि नहीं भी आया, तो उसको बुलाना होगा... योग द्वारा। अपने समर्पित अनुजों तथा पत्नी से मिलने के लिए उन्हें शरीर त्यागना ही होगा।

वे एक शिला खण्ड पर सिद्धासन लगाकर बैठ गये।

किन्तु अनुज भीमसेन ने तो कहा था कि आप सदेह ही स्वर्ग जा सकते हैं.. व्यक्ति स्नेह-वश कैसी-कैसी मूर्खता कर बैठता है! सोचते हुए, एक शुष्क मुस्कान उनके होठों पर आ बैठी... भला कभी कोई सदेह भी स्वर्ग गया है!

युधिष्ठिर ने फिर पलकें खोलीं...

अब उन्हें जाना ही होगा... महाप्रयाण के उस पथ पर जिस पर जाना जीव के लिए अनिवार्य है, और जिस पर उनके अनुज, अर्धांगिनी-सहित पहले ही जा चुके हैं। उन्हें लगा, यदि शास्त्रों में विहित, गुरुजनों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग वास्तव में धर्म का

मार्ग है तो उन्हें अवश्य ही स्वर्ग प्राप्त होगा... उनके अनुजों को भी... पांचाली को भी। वे सब उन्हें वहीं मिलेंगे... देह-सहित... और विघ्न-बाधारहित, सुखमय वातावरण में। तो अब विलम्ब कैसा...!

उनकी पलकें स्वतः ही मुँद गयीं।

"धर्मराज!" युधिष्ठिर ने देखा, उनके सम्मुख देवराज इन्द्र एक दिव्य रथ-सहित खड़े उन्हें पुकार रहे हैं। "आओ कौन्त्येय! चलो, मेरे साथ चलो।"

"देवराज!" युधिष्ठिर ने कर-बद्ध प्रणाम करके कहा, "आप स्वयं...?"

"हाँ, कुन्तीनन्दन!" इन्द्र ने मुस्कराकर कहा, "जो सदेह स्वर्ग-गमन के अधिकारी होते हैं, उन्हें मैं स्वयं ही लेने आता हूँ... देवलोक का यही नियम है।"

"किन्तु मेरे अनुज... मेरी पत्नी?" युधिष्ठिर ने कुछ शंकित स्वर में पूछा, "वे तो अपने गन्तव्य पर पहुँच चुके... पहले ही, देह त्याग कर।"

'और मेरा धर्म?' सहसा युधिष्ठिर को यह विचित्र प्रश्न सूझा, "क्या मेरा धर्म चलेगा मेरे साथ? उसे त्यागकर तो मैं स्वर्ग में भी नहीं जाऊँगा।"

"उसकी चिन्ता न करो पाण्डुनन्दन!" इन्द्र ने रहस्यमयी मुस्कान के साथ कहा, "वह तुम्हारे साथ नहीं, अब तुम उसके साथ चलोगे। यही स्वभाव है धर्म का। धर्म-पालक का वह स्वयं ही पालनहार बन जाता है।"

आश्वस्त होकर युधिष्ठिर उस रथ पर जा बैठे... और स्वयं इन्द्र ने सारथि का स्थान ग्रहण करके रथ चला दिया।

कुछ ही क्षणों में, प्रस्तर-खण्डों के बीच कलकल निनाद करती सरिता, हिमशिखरों एवं पर्वतमालाओं से घिरे उस सुन्दर भू-खण्ड से ऊपर उठकर, वह रथ नीले आकाश की ओर उड़ चला। आकाश मार्ग में विचरते हुए अनेक देवर्षि, महात्मा, दिव्यात्मा... युधिष्ठिर का स्वागत करते हुए, परस्पर कहते सुन पड़ते थे, 'महात्मा युधिष्ठिर को ही सदेह स्वर्ग आते देखा... यह गौरव तो पहले किसी को प्राप्त करते नहीं सुना...'

"यह दृश्य तो अद्भुत है..." युधिष्ठिर ने अपने चारों ओर निहारते हुए, मन्त्र-मुग्ध स्वर में कहा।

"हाँ कुन्तीनन्दन! हम स्वर्गलोक के निकट आ पहुँचे हैं!" इन्द्र ने पीछे मुड़ते हुए मुस्कराकर युधिष्ठिर से कहा।

स्वर्ग की अनुपम छटा देखकर युधिष्ठिर चमत्कृत रह गये! श्वेत मेघों में तैरता हुआ-सा वह भव्य एवं विशाल प्रदेश, भाँति-भाँति के रंगों से प्रकाशित था। सुगन्धित पुष्पावलियों एवं दिव्य आभूषणों से सुसज्जित, पुष्पांजलि लिये द्वार पर खड़ी अप्सराएँ उनका स्वागत कर रही थीं। ऊँचे-ऊँचे, कहीं स्फटिक के तो कहीं स्वर्ण के, दीर्घाकार स्तम्भों एवं स्वर्णिम सोपानों से सजा वह क्षत्र सुखद स्वप्न जैसा लग रहा था।

अनेकानेक देवर्षियों का अभिवादन करते, उनके आशीर्वाद पाते, अप्सराओं का

स्वागत स्वीकरते हुए, चमत्कृत युधिष्ठिर बढ़ते जा रहे थे... ऐसे, जैसे बिना पंखों के ही उड़े जा रहे हों...

तभी सहसा एक दिव्य आसन पर बैठे हुए दुर्योधन पर उनकी दृष्टि पड़ी। 'दुर्योधन! और यहाँ?' उन्हें सहसा अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं हुआ। 'यह दुष्ट कुलघाती यहाँ क्या कर रहा है?'

"यह वैर-भाव त्याग दो, पाण्डुनन्दन!" साथ चलते एक देवर्षि ने कहा, "महात्मा दुर्योधन ने यह स्थान अपने पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त किया है। यहाँ के सभी देवता इनका बड़ा सम्मान करते हैं।"

"मैं इसके साथ नहीं रह सकता..." युधिष्ठिर ने व्यग्र होते हुए कहा, "मुझे वहाँ ले चालिए, जहाँ मेरे अनुज हैं... और द्रौपदी हैं। और हाँ, मैं महात्मा कर्ण से भी मिलना चाहता हूँ... और धृष्टद्युम्न से भी, और महाराज विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु और... और द्रौपदी पुत्रों-सहित अभिमन्यु से भी।"

"कुन्तीनन्दन, तुमने घोर संकट में पड़कर भी धर्म-पालन द्वारा यह लोक प्राप्त किया है.. अब अपने मर्त्यलोक के सम्बन्धों से मन हटाकर, स्वर्ग का सुख भोगो। तुम्हारे सांसारिक सम्बन्धियों के लिए यहाँ स्थान नहीं है। उन्हें अपने कर्मानुसार अलग लोक में गति प्राप्त हुई है।"

"क्या?" युधिष्ठिर को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ, "यह कैसे हो सकता है? मेरे सभी अनुज धर्मनिष्ठ थे... द्रौपदी ने भी, धर्म के मार्ग पर चलते हुए, सहर्ष सारे दु:ख झेले... वे कहाँ हैं?"

"उनकी चिन्ता छोड़ दो..." इन्द्र ने पुन: स्नेहपूर्ण स्वर में कहा, "मर्त्यलोक के सम्बन्धों का इस लोक में कोई अर्थ नहीं।"

"नहीं, देवराज नहीं..." व्यग्र स्वर में युधिष्ठिर बोले, "यह नही हो सकता। उनके बिना मुझे यहाँ नहीं रहना है... मुझे भी वहीं ले चालिए, जहाँ मेरे अनुज हैं, जहाँ मेरी प्रिय पत्नी है।"

इन्द्र निरुत्तर हो गये। कुछ क्षण मौन रहकर, वे अपने एक दूत से बोले, "जाओ, इन्हें इनके सुहृदों के दर्शन करा दो।"

देवदूत ने इन्द्र के सम्मुख शीश नवाया और वह युधिष्ठिर को साथ लेकर चल पड़ा। कुछ ही देर में वे दोनों एक ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर जा पहुँचे, जो दुर्गम भी था और अन्धकारमय भी। कहीं-कहीं दोनों ओर वीभत्स रूपवाले व्यक्ति भी कराहते, पुकारते दिख जाते थे। मार्ग में दुर्गन्ध बढ़ती जा रही थी... इधर-उधर सड़े हुए शव भी दिखाई दे रहे थे। जहाँ-तहाँ केश-गुच्छ तथा हड्डियों के ढेर भी पड़े थे... काग तथा गृद्ध मँडरा रहे थे।

... उन दृश्यों से घबराकर युधिष्ठिर सहसा पूछ बैठे, "बन्धु! ऐसे मार्ग पर

कितना... और कितना चलना होगा? मेरे अनुज कहाँ हैं?"

"आपके अनुज!" देवदूत ने आश्चर्य में उनकी ओर दृष्टि उठायी, "अरे आपने देखा नहीं उन्हें... अथवा पहचाना नहीं?"

तभी युधिष्ठिर ने सुना.. उन कराहते, चीत्कारते स्वरों में द्रौपदी, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि के स्वर भी सम्मिलित थे, जो पुकार-पुकारकर कह रहे थे... 'कुछ देर और रुक जाओ प्राणनाथ!' 'कुछ देर और ठहर जाइए, भ्राताश्री!'

युधिष्ठिर आश्चर्य में व्याकुल हो उठे... 'यह कैसा न्याय है! मेरे अनुज जो सदैव धर्म की राह पर चले, जो सत्यवादी थे, दान देते रहे, यज्ञ करते रहे... वे यहाँ नरक में? और वह दुष्ट दुर्योधन, मातुल शकुनि, दु:शासन आदि स्वर्ग में?'

उन्होंने करुण विलाप करते हुए, आहत स्वर मे देवदूत से कहा, "मैं यह स्थान त्यागकर अन्य कहीं नहीं जाऊँगा... कह देना अपने स्वामी मे कि मुझे स्वर्ग नहीं चाहिए... मैं अपनी पत्नी तथा अनुजों के साथ यहीं रहूँगा।"

और जब उन्होंने देवदूत की ओर दृष्टि घुमायी, तो देखा वहाँ इन्द्र स्वयं खड़े थे। उनके पास ही मरुद्गण, वसु, अश्विनीकुमार, रुद्र, आदित्य आदि अनेकानेक देवताओं तथा महर्षियों के साथ उपस्थित थे। सहसा उन्होंने अनुभव किया कि न कहीं अन्धकार है, न कोई दुर्गन्ध और न ही वे भयावने दृश्य तथा स्वर। सारा वातावरण दिव्य प्रकाश, सुगन्ध एवं मधुर स्वर-लहरियों से व्याप्त है।

"यह सब क्या है?" आश्चर्य भरे स्वर में युधिष्ठिर पूछ बैठे।

"यही तो माया है?"

"सब कुछ!... अर्थात्?"

"अर्थात् जो कुछ तुमने देखा, सुना अथवा किया.."

"सब कुछ?"

"सब कुछ... यह स्वर्ग भी, और नरक भी।"

सहसा युधिष्ठिर ने देखा कि इन्द्र आदि देवताओं-महात्माओं से वार्तालाप करते हुए ही वे सब उडे जा रहे हैं.. और वे स्वर्ग में उस स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ उन्होंने वैभव-सम्पन्न आसन पर विराजमान दुर्योधन को देखा था। किन्तु उस समय वहाँ उन्हें कर्ण का दर्शन हुआ... दिव्य वस्त्राभूषणों में सुसज्जित उनके अन्य अनुज भी आस-पास ही दिखाई दिये। द्रौपदी भी अपने पूर्ण यौवन तथा दीप्ति से परिपूर्ण दिखाई दीं। भीष्म, द्रोणाचार्य, द्रुपद, विराट, धृतराष्ट्र अभिमन्यु घटोत्कच, द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा अनेकानेक योद्धा, जिन्होंने उनके पक्ष में युद्ध करते हुए वीर-गति प्राप्त की थी... सभी सुखी एवं श्रीसम्पन्न दिखाई दिये। उन्हें अपने पिता पाण्डु तथा दोनों माताओं के भी दर्शन हुए...

कृष्ण को देखा तो वे चमत्कृत रह गये... वे उन्हीं की ओर देख रहे थे, और उनके

होठों पर एक रहस्यमयी मुस्कान थी... जैसे कह रहे हों, 'मैंने कहा था न! निष्काम कर्म में ही मुक्ति का मार्ग है। उसी प्रकार निःस्वार्थ धर्म-पालन ही वास्तविक धर्म है... सुख अथवा स्वर्ग प्राप्ति के लिए किया हुआ शुद्ध आचरण भी धर्म नहीं होता।'

युधिष्ठिर की आँखें खुल गयीं...

उन्होंने देखा, सामने वही परिचित-सा दृश्य... जैसा सम्भवतः भीमसेन की जल-समाधि के पश्चात् शिला पर बैठते समय, उन्हें दिखाई दिया था...

तो वह सब क्या स्वप्न था...?

अथवा यह स्वप्न है?

युधिष्ठिर कुछ भी सोचने अथवा निर्णय लेने की स्थिति में नहीं थे। उनकी पलकें स्वतः ही मुँदने लगीं और प्राण-वायु बिना किसी प्रयास के ही सहस्रार चक्र की ओर उड़ चली...

□□□